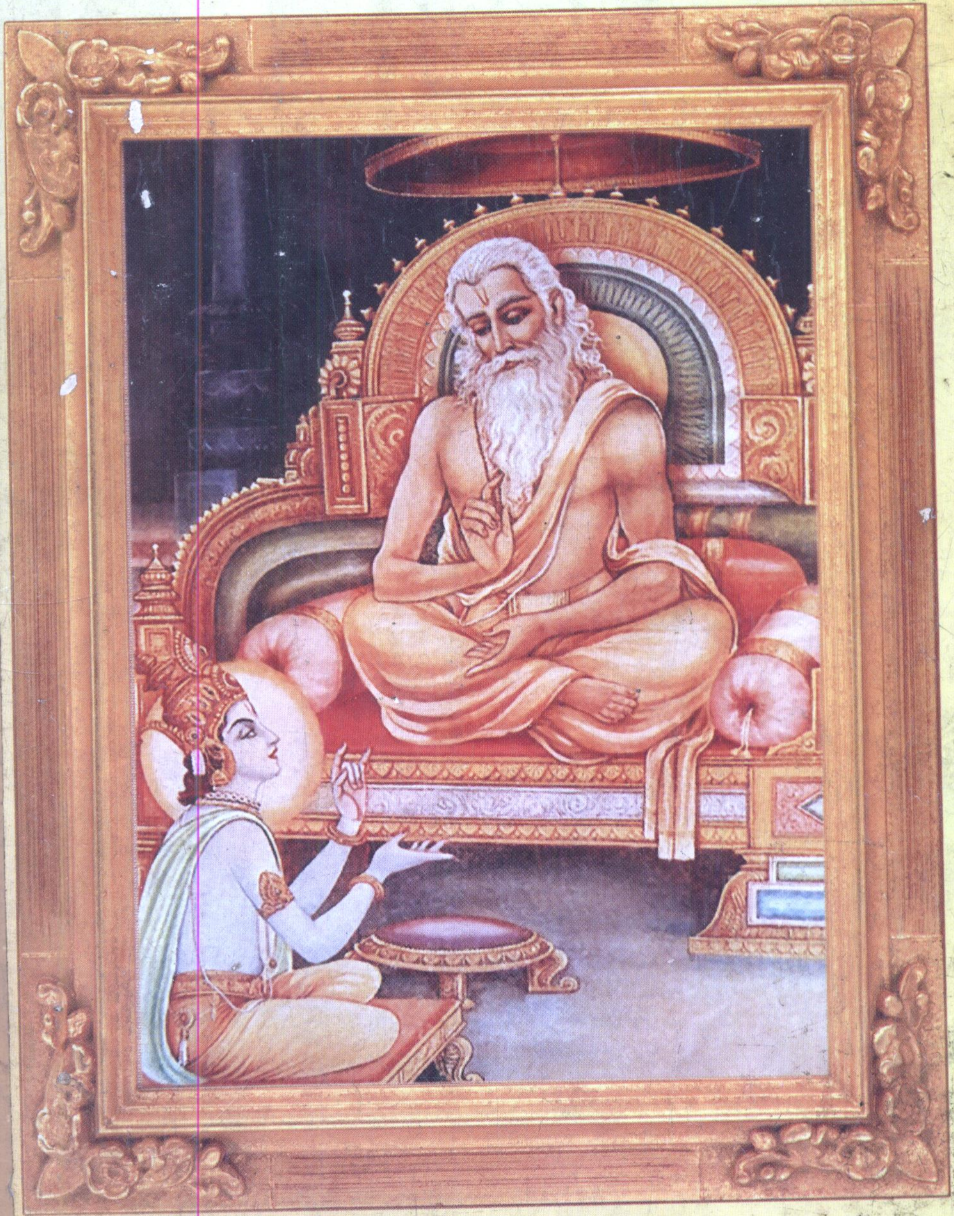
श्री योगवासिष्ठ महारामायण

भाग-१



श्री योग वेदान्त सेवा समिति, संत श्री आसारामजी आश्रम,
संत श्री आसारामजी बापू आश्रम मार्ग, अमदावाद-३८०००५.

श्री योगवासिष्ठ महारामायण विषय-सूची

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत
'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

भाग-१

वैराग्य प्रकरण

मुमुक्षु-व्यवहार प्रकरण

उत्पत्ति प्रकरण

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

आदिकवि श्रीमद्वाल्मीकिमहामुनिप्रणीत

श्री योगवासिष्ठ महारामायण

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'वासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

वैराग्य प्रकरण

पहला सर्ग

सम्प्रदाय की विशुद्धि के लिए ऋषि-देव संवाद और उपोद्घात के लिए श्रीरामचन्द्रजी के अज्ञान के निमित्त का वर्णन।

अनादि महामोहरूपी निशा में सोये हुए इस जगत् को बारबार दुःखरूपी भ्रमों से रचित; जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु, हर्ष, शोक, क्रोध आदि अनर्थों से व्याप्त; आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन तापरूपी दावानल से (वन की अग्नि से) चारों ओर घिरे हुए संसाररूपी महारण्य में मोहित, विवेकरहित और प्रबोध के उपाय के न मिलने के कारण दुःखी देखकर शास्त्ररूपी सूर्य के उदय से उसे (जगत् को) प्रबोधित करने के लिए भगवान श्रीब्रह्मदेव के आदेश से तथा अपने आप भी प्रवृत्त परमदयालु महर्षि श्रीवाल्मीकिजी रचे जानेवाले विशाल शास्त्र की, योगवासिष्ठ ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति एवं विशेषरूप से प्रचार के लिये श्रुति, स्मृति और सदाचार से प्राप्त तथा सम्पूर्ण विघ्नों के निर्मूलन में समर्थ सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा का प्रणामरूप मंगलाचरण करते हुए शास्त्र के विषय और प्रयोजन को तटस्थलक्षण और स्वरूपलक्षण द्वारा संक्षेप से दिखलाने के लिए पहले 'यतो वा' इस श्रुति से प्रतिपादित तटस्थलक्षणसिद्ध तत्पदार्थ परब्रह्म को नमस्कार करते हैं।

सृष्टि के आरम्भ में आकाश आदि महाभूत एवं घट, पट आदि भौतिक पदार्थ जिस अद्वितीय वस्तु की सत्ता से अस्तित्व को प्राप्त कर आविर्भूत होते हैं, स्थितिकाल में जिसकी सत्ता से ही स्थित रहते हैं और प्रलयकाल में जिसमें लीन होते हैं उस सत्यस्वरूप (अपने में आरोपित सम्पूर्ण पदार्थों के पारमार्थिक स्वरूप एवं सब प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मरूप) परमात्मा को नमस्कार है ॥१॥

सत्यस्वरूप के चिदेकत्वरस अनुभव द्वारा उपपादन करते हुए त्वम्पदार्थ जीव के तत्त्वभूत उसी स्वरूप को पुनः नमस्कार करते हैं।

जिस चिदेकरस परमात्मा से ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, दृष्टा, दर्शन, दृश्य, कर्ता, हेतु और क्रिया – ये सब व्यावहारिक पदार्थ आविर्भूत होते हैं। उस ज्ञाता आदि के साक्षी और परमार्थतः ज्ञानरूप से अवस्थित प्रत्यगात्मा को नमस्कार है (📖) ॥२॥

(📖) 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस जीवरूप आत्मा से प्रवेशकर जगत् की रचना करता हूँ। इस श्रुति के अनुसार बिम्बभूत कूटस्थ चैतन्य ही प्रतिबिम्बरूप से अन्तःकरणरूप

इस प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थ का शोधन करके तटस्थ लक्षण में पर्यवसित होनेवाले 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादि श्रुति से निर्दिष्ट निरतिशय आनन्दरूप परमपुरुषार्थभूत अखण्ड वाक्यार्थ को नमस्कार करते हैं।

जिस प्रत्यागात्मस्वरूप परिपूर्ण निरतिशयानन्द–महासमुद्र से स्वर्ग आदि लोकों में अर्थात् देवताओं में और भूमि में अर्थात् चेतन–अचेतन सम्पूर्ण पदार्थों में न्यूनाधिकभाव से आनन्दलेश का अनुभव होता है और वास्तव में जिसका आनन्दलेश जीवों का जीवन (आत्मा) है, उस परमपुरुषार्थभूत ब्रह्मानन्द को नमस्कार है ॥३॥

यों मंगलाचरण के साथ–साथ विषय आदि का प्रदर्शन करते हुए संक्षेपतः शास्त्रार्थ का प्रदर्शन किया। अब उसी शास्त्रार्थ का उत्पत्ति आदि से विस्तारपूर्वक निरूपण करने के लिए श्रोताओं के विश्वास की दृढ़ता के लिए ग्रन्थकार महामुनि वसिष्ठ और भगवान् रामचन्द्रजी के संवाद के आरम्भ के पहले उपोद्घातरूप आख्यायिका कहते हैं।

सुतीक्ष्ण नाम का कोई ब्राह्मण था। उसका हृदय अनेक प्रकार के सन्देहों से भरा था, अतएव उसने महामुनि अगस्त्य के आश्रम में जाकर उनसे सादर प्रश्न किया ॥४॥

सुतीक्ष्ण ने कहा : भगवन्, आप धर्म के तत्त्व को जानते हैं, सम्पूर्ण शास्त्रों का आपने भली भाँति मंथन किया है, मुझे एक बड़ा भारी संशय है, कृपा कर आप इसे दूर कीजिए ॥५॥ क्या मोक्ष का (✍) उत्पादक कर्म है ? अथवा ज्ञान ही मोक्ष का व्यंजक है ? या कर्म और ज्ञान दोनों मिलकर मोक्ष के साधन हैं ? इन तीनों पक्षों में से निश्चय करके किसी एक कारण को कहिए ॥६॥

'यत्र दुःखेन सम्भिन्नम्' इत्यादि श्रुति से स्वर्ग में नित्यत्व आदिका परिज्ञान होता है, वास्तव में अनेक श्रुतियों के साथ विरोध होने से स्वर्ग में नित्यत्व आदिका श्रवण आपेक्षिक है अर्थात् जितने

उपाधि में प्रविष्ट होकर तप्त लोहपिण्ड में अग्नि के समान तादात्म्य के अध्यास से अन्तःकरण की जड़ता को दूरकर उसे प्रकाशन–सामर्थ्य देता हुआ ज्ञाता कहलाता है। वही चिनगारियों के समान अन्तःकरण की वृत्तियों को प्रकाशन–सामर्थ्य देने से ज्ञान कहलाता है। वृत्ति के विषयाकार होने पर स्वयं भी वृत्ति द्वारा विषयाकार हुआ–सा ज्ञेय कहलाता है। वही ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा द्रष्टा कहलाता है। और इन्द्रिय–सम्प्रयोग से उत्पन्न इन्द्रियवृत्ति के द्वारा दर्शन कहलाता है। वृत्ति के फलरूप से विषयों को व्याप्त कर तद्रूप से स्वयं भी दृश्य–सा हो जाता है, अतः दृश्य कहलाता है। कर्मेन्द्रिय, प्राण और शरीर के द्वारा कर्ता कहलाता है। फल का भोक्ता होने से क्रिया की उत्पत्ति में निमित्त होने के कारण हेतु कहलाता है। क्रिया की न्यूनता और अधिकता में 'मैं ही न्यून या अधिक हूँ' ऐसा क्रिया के विषय में अभिमान करने से क्रिया कहलाता है। उक्त अर्थ में 'एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता कर्ता बोद्धा विज्ञानात्मा पुरुषः प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति' इत्यादि श्रुति प्रमाण है।

✍ परम पुरुषार्थभूत ब्रह्मानन्द ही यहाँ मोक्षशब्द का अर्थ है। उसका पर्यवसान स्वर्ग में ही होता है, क्योकिं 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतंच तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥' जो किसी प्रकार के दुःख से सम्बन्ध न रखनेवाला, निरतिशय, अविनाशी एवं अभिलाषा करते ही प्राप्त होनेवाला सुख है, उसी को स्वर्ग कहते हैं। इस श्रुति से तथा 'स स्वर्गः सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्' उस स्वर्ग को सभी लोग चाहते हैं।

अनित्य या दुःखमिश्रित पदार्थ हैं, उनसे स्वर्ग अधिक स्थायी है और उसमें दुःख का मिश्रण भी कम है, अतः असम्भव होने से प्रथम प्रश्न निरर्थक है। रह गई द्वितीय और तृतीय प्रश्न की बात, उसमें चित्तशुद्धि के द्वारा कर्म के ज्ञानांग होने पर भी श्रुति–तात्पर्य के साथ विरोध न होने के कारण ज्ञान और कर्म को अभिन्न मान कर अगस्त्य मुनि सुतीक्ष्ण ब्राह्मण के प्रश्न का उत्तर देते हैं।

अगस्त्य मुनि ने कहा : जैसे आकाश में दोनों ही पंखों से पक्षी उड़ते हैं, एक से नहीं, वैसे ही ज्ञान और कर्म दोनों से परमपद की प्राप्ति होती है । तात्पर्य यह है कि जैसे आकाश–मार्ग से जानेवाले पक्षी अपने अभीष्ट देश में जाने के लिए दो पंखों के द्वारा ही उड़ कर जा सकते हैं, एक से नहीं; वैसे ही 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्यादि श्रुति से जिस परमपदरूप कैवल्य का वर्णन किया गया है, उसको अधिकारी लोग अपने आत्मा में ही ज्ञान और कर्म दोनों से प्राप्त कर लेते हैं, अतः ज्ञान और (☃) कर्म दोनों मोक्ष के कारण हैं ॥७॥

पूर्वोक्त अर्थ को दृढ़ करने के लिए फिर कहते हैं।

केवल कर्मों से या केवल ज्ञान से मोक्ष नहीं होता, किन्तु ज्ञान और कर्म दोनों से मोक्ष होता है, अतः ब्रह्मज्ञ बड़े बड़े मुनि कर्म और ज्ञान दोनों को मोक्ष के साधन मानते हैं। इसलिए अनुभव सिद्ध विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए ॥८॥ इस विषय में एक प्राचीन इतिहास कहता हूँ : प्राचीन काल में सम्पूर्ण वेदों का ज्ञाता कारुण्य नाम का एक ब्राह्मण था, उसके पिता का नाम अग्निवेश्य था। गुरुजी से वेद और सभी वेदांग, शास्त्र आदि का पूर्णरूप से अध्ययन कर वह कारुण्य अपने घर आया ॥९–१०॥ घर आकर वह सन्ध्यावन्दन आदि कोई कर्म नहीं करता था, बल्कि उनमें अनेक तरह के सन्देह करने लगा। अपने पुत्र को यों कर्मरहित अतएव निन्द्य देखकर अग्निवेश्य ने उसके हित के

इस प्रकार के जैमिनिसूत्र से स्वर्ग ही मोक्ष है, ऐसा मालूम पड़ता है। इस प्रकार का मोक्ष ज्योतिष्टोम आदि कर्मों से ही हो सकता है, अतः मीमांसक–मत के अनुसार क्या कर्म ही मोक्ष का कारण है ? ऐसा प्रथम प्रश्न का आशय है। 'न कर्मणा न प्रजया', 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः', 'ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति' इत्यादि श्रुतियों से यह ज्ञात होता है कि मुक्ति का ज्ञान से अतिरिक्त दूसरा कोई भी कारण नहीं हो सकता, अतः उपनिषत्मत के अनुसार क्या ज्ञान ही मोक्ष का कारण है ? ऐसा द्वितीय कल्प का भाव है। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि', 'विद्यांचाविद्यांच यस्तद्वेदोभय सह' इत्यादि मन्त्रों से उसके ज्ञान और कर्म दोनों मिलकर कारण हैं, ऐसा ज्ञात होता है, अतः क्या ज्ञान–कर्म दोनों समुच्चयरूप से मुक्ति के कारण हैं ? यों तृतीय प्रश्न का आशय है।

☃ यहाँ ज्ञान और कर्म का समुच्चय मोक्ष का हेतु है, ऐसा प्रतिपादन नहीं किया गया है, किन्तु पहले कर्मानुष्ठान द्वारा चित्त की शुद्धि होने पर ज्ञान होता है, तदनन्तर मुक्ति होती है, यों ज्ञान में ही साक्षात् मुक्ति की हेतुता का प्रतिपादन किया गया है; इसलिए पक्षीका दृष्टान्त ज्ञान और कर्म के यौगपद्यांश में स्वरूपसमुच्चय में नहीं समझना चाहिए, किन्तु क्रमसमुच्चय में समझना चाहिए, क्योंकि प्रवृत्ति और निवृत्ति कर्तृत्व–अकर्तृत्व एक समय में नहीं हो सकती, इससे भी ज्ञान से पहले कर्मों की अस्तिता अर्थतः प्रतीत होती है। जैसे दर्पण में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ने के पहले दर्पण का परिमार्जन और प्रकाश दोनों अपेक्षित होते हैं, क्योंकि उनके बिना उसमें प्रतिबिम्ब ही नहीं हो सकता, वैसे ही अविद्या–मल की निवृत्ति में चित्त की शुद्धि और प्रमाण से उत्पन्न होनेवाली शुद्धवृत्ति ये दोनों अपेक्षित हैं, क्योंकि अशुद्ध चित्तवाले को हजार बार श्रवण करने पर भी आत्मज्ञानरूप फल की प्राप्ति नहीं देखी जाती।

लिए ये वचन कहे : हे वत्स, यह क्या कर रहे हो ? अपने कर्मों का पालन क्यों नहीं करते ? भला बतलाओ तो सही यदि कर्म न करोगे, तो तुम्हें सिद्धि कैसे प्राप्त होगी ? और यह भी बतलाओ कि तुम्हारी कर्मों में प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ? ॥११-१३॥ अपने पिता के यों पूछने पर कारुण्य ने कहा : श्रुति और स्मृतियों ने जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र, सन्ध्यावन्दन आदि प्रवृत्तिरूप धर्मों का विधान या प्रतिपादन किया है एवं 'धन से, कर्म से तथा प्रजाओं के उत्पादन से अमृतरूप मोक्ष प्राप्त नहीं होता, मुख्य-मुख्य यति लोग एकमात्र त्याग से मोक्ष प्राप्त करते हैं', ऐसे अर्थ का प्रतिपादन करनेवाली 'न धनेन' इत्यादि श्रुति मुक्तिप्राप्ति के लिए केवल त्याग को ही साधन बतलाती है। इसलिए पूज्यवर, इन परस्पर विरुद्ध अर्थों में से किसका मुझे अनुसरण करना चाहिए ? यों सन्देह में पड़कर मैं कर्मानुष्ठान से उदासीन हुआ हूँ ॥१४-१६॥ अगस्त्य ने कहा : भद्र, पिता से कह कर कारुण्य चुप हो गया, उस के पिता ने चुप-चाप बैठे हुए पुत्र से कहा ॥१७॥ अग्निवेश्य ने कहा : प्रिय पुत्र, मैं तुमसे एक सुन्दर कथा कहता हूँ, उसे सुनो। उसके अर्थ का मुझसे निश्चय करके तुम्हें जैसा अच्छा लगे वैसा करना ॥१८॥ अप्सराओं में अत्यन्त सुन्दरी सुरुचि नामकी एक अप्सरा थी। वह मयूरों से आवृत्त हिमालय के शिखर पर बैठी थी, जहाँ पर कामसंतप्त किन्नरियाँ किन्नरों के साथ क्रीडा करती हैं और पापों का नाश करनेवाला श्रीगंगाजी का प्रवाह किलोंले मारता है। उसने आकाश-मार्ग से जा रहे इन्द्र के दूत को देखा। सुरुचि ने दूत से कहा : महाभाग, आप कहाँ से आ रहे हैं, अब कहाँ जाते हैं ? वह सब कृपापूर्वक मुझसे कहिये। दूत ने कहा : सुन्दरी, आपने बड़ा अच्छा प्रश्न किया। मैं आपके प्रश्न का यथावत् उत्तर देता हूँ। धर्मात्मा राजर्षि अरिष्टनेमि अपने पुत्र को राज्य देकर तप करने के लिए वन में गया। वह राजा गन्धमादन पर्वत पर तपस्या कर रहा है। वही कार्य करके मैं आ रहा हूँ और अब वहाँ का वृतान्त कहने के लिए इन्द्र के पास जाता हूँ ॥१९-२५॥ अप्सरा ने कहा : भगवन्, वहाँ पर कौन घटना हुई, उसे मुझसे कहिये मैं आपसे विनयपूर्वक पूछती हूँ। मेरी अवहेलना न कीजिये ॥२६॥ देवदूत ने कहा : हे सुन्दरी, सुनो, मैं विस्तार से तुम्हें वहाँ की घटना सुनाता हूँ। राजा अरिष्टनेमि गन्धमादन पर्वत में कठिन तपस्या कर रहा है, यह जानकर देवराज इन्द्र ने मुझे आज्ञा दी कि 'हे दूत, तुम अप्सराओं और विविध बाजों से सुशोभित, गन्धर्व, सिद्ध, किन्नर आदिसे विभूषित विमान को एवं ताल आदि से सज्जित सेना को लेकर अनेक प्रकार के वृक्षों से शोभित गन्धमादन पर्वत पर जाओ और राजा अरिष्टनेमि को विमान पर बैठा कर स्वर्गसुख भोगने के लिए अमरावती पुरी में ले आओ ॥२७-३१॥ देवराज इन्द्र की वैसी आज्ञा पाकर सम्पूर्ण सामग्रियों से युक्त उस विमान को लेकर मैं उक्त पर्वत गया। वहाँ पहुँच कर राजा के आश्रम में जाकर मैंने उनको देवराज इन्द्र की सब आज्ञा कह सुनाई। हे सुन्दरी, मेरे वचनों को सुनने के बाद संदेह में पड़कर राजा ने कहा : हे दूत, मैं आपसे पूछना चाहता हूँ, मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिये। स्वर्ग में कौन गुण और दोष हैं ? उनका मेरे सामने वर्णन कीजिये। मैं उन्हें जानकर जैसी इच्छा होगी वैसा करूँगा ॥३२-३५॥ देवदूत ने कहा : राजन्, पुण्य की सामग्री के अनुसार मनुष्य स्वर्ग में उत्तम फल भोगता है। उत्कृष्ट पुण्य से उत्कृष्ट स्वर्ग मिलता है, मध्यम पुण्य से मध्यम स्वर्ग मिलता है एवं कनिष्ठ पुण्य से तद्नुरूप कनिष्ठ ही फलभोग मिलता है। इसमें हेरफेर नहीं होता। महाशय, पुण्य के तारतम्य के अनुसार स्वर्ग-स्थान और वहाँ के सुख का तारतम्य (उत्कर्ष और अपकर्ष) होता है।

जिन्हें उत्तम स्वर्ग प्राप्त नहीं है, उनको उत्तम स्वर्गवालों की उत्कृष्टता असह्य प्रतीत होती है, समान स्वर्गवाले एक दूसरे के साथ ईर्ष्या, स्पर्धा, विद्वेष आदि करते हैं और उत्तम स्वर्गवाले अपनी अपेक्षा हीन स्वर्गवालों की हीनता अर्थात् अल्प सुख देखकर सन्तोष करते हैं। जब तक पुण्य-क्षय नहीं होता, तब तक स्वर्गवासी यों उत्तम, मध्यम और अधम सुख का अनुभव करते काल-यापन करते हैं। तदनन्तर पुण्यों के क्षीण होने पर इसी मनुष्य-लोक में आकर जन्म ग्रहण करते हैं। महाराज स्वर्ग में ये ही गुण और दोष विद्यमान हैं ॥३६-३९॥ स्वर्ग के ये ही गुण और दोषों को सुनकर महाराज बोले : देवदूत, मैं ऐसे स्वर्ग-भोग की इच्छा नहीं करता। जैसे साँप पुरानी केंचुली को छोड़ देता है, वैसे ही मैं आज से महाउग्र तप करके इस घृणास्पद शरीर को छोड़ दूँगा। हे देवदूत, आप इस विमान को लेकर देवराज इन्द्र के समीप जैसे आये थे वैसे वापिस चले जाइये, आपको नमस्कार है ॥४०-४२॥ देवदूत ने कहा : सुन्दरी, राजा के यों कहने पर मैं वह निवेदन करने के लिए इन्द्र के पास गया। वहाँ जो वृत्तान्त हुआ था वह सब मैंने देवराज इन्द्र को कह सुनाया। राजा अरिष्टनेमि की स्वर्ग के प्रति विरक्ति, देखकर इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। फिर महेन्द्र ने मधुर वाणी से मुझसे कहा : हे दूत, तुम फिर वहाँ जाओ और उस विरक्त, राजा को ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति के लिए तत्त्वज्ञ महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में ले जाओ और महर्षि वाल्मीकि से मेरा यह सन्देशा कहो कि महर्षिजी, इस विरक्त, विनीत और स्वर्ग के प्रति निस्पृह राजा को तत्त्वज्ञान का उपदेश दीजिये तत्त्वज्ञान के उपदेश से संसार-दुःख से पीड़ित वह क्रमशः मुक्ति को प्राप्त होगा। यह कह कर देवराज ने मुझे राजा के पास भेजा। मैंने वहाँ जाकर इन्द्र के सन्देश के साथ राजा को वाल्मीकिजी के समीप उपस्थित किया और राजा ने महर्षि से मोक्ष के साधन के विषय में जिज्ञासा की। तदनन्तर वाल्मीकिजी ने राजा से प्रीतिपूर्वक देश, धन, पुत्र, तप आदि के प्रश्न द्वारा आरोग्य-कुशल पूछा ॥४३-४९॥ राजा ने कहा : भगवन् आप सब धर्मों के तत्त्वों को जानते हैं और जितने ज्ञातव्य विषय हैं उन सबके आप ज्ञाता हैं, मैं आपके दर्शन से कृतार्थ हूँ, यही मेरी कुशल है। भगवन्! इस समय मैं जिज्ञासु और संसारदुःख से कातर हूँ। जिस भाँति विघ्न न आवे वैसे मुझे तत्त्व का उपदेश दीजिये। जिससे मैं संसार-बन्धनरूप पीडा से मुक्त हो जाऊँ ॥५०-५१॥ वाल्मीकिजी ने कहा : राजन्, सुनिए, मैं अखण्डतत्त्व-प्रतिपादक रामायण की कथा कहूँगा, यत्नपूर्वक उसे सुनकर एवं हृदय में धारण कर आप जीवन्मुक्त हो जायेंगे ॥५२॥ उक्त रामायण वसिष्ठ-राम संवादस्वरूप है। (卐) वह मुक्ति का अद्वितीय उपाय और अत्यन्त कल्याणकारी है। हे राजेन्द्र, आप उसे समझने में समर्थ हैं और मैं भी उसे जानता हूँ, इसलिए मैं आपको उसे सुनाता हूँ। आप सावधान होकर सुनें ॥५३॥ राजा ने कहा : हे तत्त्वज्ञानियों में श्रेष्ठ, राम कौन हैं ? उनका कैसा स्वरूप है ? वे किस वंश में उत्पन्न हुए थे ? वे बद्ध थे अथवा मुक्त ? पहले आप मुझसे यही निश्चयकर कहने की कृपा करें ॥५४॥

(卐) वसिष्ठ और राम के संवाद से यह सूचित होता है कि वसिष्ठ ने रामचन्द्रजी को उपदेश दिया था। वसिष्ठ गुरु थे और राम उनके शिष्य। इस कथा ने राजर्षि के मन में सन्देह उत्पन्न कर दिया कि अज्ञ जीव ही ज्ञान-प्राप्ति के लिए शिष्य होता है, किन्तु राम स्वयं सनातन ब्रह्म थे, वे क्यों शिष्य होंगे ? वे कौन राम थे, क्या वे राम नाम के कोई जीव थे ? या भगवान् के अवतार प्रसिद्ध राम थे, ऐसा सन्देह होने पर राजर्षि ने महर्षि से जिज्ञासा की कि आप किस राम की कथा कहेंगे उसे मुझसे कहिये।

वाल्मीकिजी ने कहा : निग्रहानुग्रहसमर्थ भगवान् श्रीहरिने शाप पालन के बहाने राजा के वेश में अवतार लिया था। वे सर्वज्ञ होने पर भी अपने भक्तों के वाक्यों को सत्य करने की इच्छा से साधारण मनुष्यों की भाँति अज्ञ हो गये थे ॥५५॥ राजा ने कहा : भगवन्, अपराधी व्यक्ति ही शाप का भाजन होता है एवं अपराध भी अपूर्णकाम और अल्पज्ञ व्यक्ति ही करते हैं, जो सच्चिदानन्दस्वरूप और चिद्घनमूर्ति परमेश्वर थे, उन्हें अभिशाप कैसे ? अतएव उनके प्रति अभिशाप होने का कारण क्या था और उनको किसने अभिशाप दिया ? यह आप मुझे बतलाइए ॥५६॥ वाल्मीकिजी ने कहा : राजन् ! कामक्रोध रहित और परम ज्ञानी ब्रह्मा के मानसपुत्र सनत्कुमार एक समय ब्रह्मलोक में बैठे थे। उसी समय त्रैलोक्याधिपति भगवान् विष्णु वैकुण्ठ से वहाँ पधारे। सत्यलोक में निवास करेवाले अन्यान्य देवताओं के साथ ब्रह्मा ने अभ्युत्थान आदि से उनका सत्कार किया। केवल सनत्कुमार ने, अपने को निष्काम समझकर, उनका अभ्युत्थान आदि नहीं किया। यह देखकर भगवान् विष्णु ने कहा : सनत्कुमार, तुम अहंकारी हो, तुम्हारी चेष्टा गर्वसूचक है, इस कारण तुम कार्तिकेय नाम से विख्यात और कामासक्त होओगे ॥५७-५९॥ यह सुनकर सनत्कुमार ने भी अत्यन्त दुःखी होकर विष्णु को यह शाप दिया कि आपको भी सर्वज्ञता का परित्याग कर कुछ काल तक अज्ञ जीव की भाँति रहना पड़ेगा। महर्षि भृगु ने भी विष्णु द्वारा अपनी भार्या का विनाश देखकर क्रोधवश उन्हें यह शाप दिया था कि 'हे विष्णु, जैसे तुमने मुझे स्त्रीवियोगजनित दुःख से दुःखित किया, वैसे ही तुम्हें भी स्त्रीवियोगजनित दुःख का अनुभव करना पड़ेगा(📖) ॥६०-६१॥ पहले विष्णु ने जलंधर का रूप (🔔) धारण कर उसकी प्राणप्रिया भार्या

📖 यहाँ पर यह पौराणिक कथा है कि पूर्व कल्प में ख्याति नाम की भृगुपत्नी ने विष्णु-शरीर में लीन होने के लिए भगवान् विष्णु की प्रार्थना की थी। भगवान् ने उसकी प्रार्थना पूर्ण की, परन्तु भृगु के मन में आया कि विष्णु ने हमारी स्त्री का विनाश किया, इसी से उन्होंने क्षुब्ध होकर विष्णु को उक्त शाप दिया।

🔔 ब्रह्मवैवर्तपुराण में लिखा है कि गोलोकस्थ सुदामा नामक गोपाल राधा के शाप से जलंधर नाम से उत्पन्न हुआ और तुलसी नामकी गोपी धर्मध्वज राजा की पत्नी से उत्पन्न हुई थी। जलंधर ब्रह्मा के वरसे अवध्य हो गया था। ब्रह्मा किसी को भी नित्य अमर नहीं करते। मरने का एक न एक निमित्त रख छोड़ते हैं। यही बात उन्होंने जलंधर से भी कही थी कि तुम्हारी पत्नी के सतीत्व का नाश होने पर, तुम्हारा मरण होगा, अन्यथा तुमको कोई न मार सकेगा। बल से गर्वित जलंधर ने बलपूर्वक स्वर्ग का राज्य छीन लिया। ब्रह्मा, शिव आदि देवगण उसकी हरकतों को कहने के लिए वैकुण्ठ गये। भगवान् विष्णु ने शिव से उसके साथ युद्ध करने के लिए कहा। जलंधर के शिवजी के साथ युद्ध करने पर भगवान् विष्णु जलंधर के रूप में उसके घर गये और उसकी पत्नी का सतीत्व नष्ट कर दिया। इस प्रकार जलंधर की मृत्यु हो गई। वृन्दा को जब जलंधर की मृत्यु के बाद यह वृत्तान्त विदित हुआ, तो उसने विष्णु को पूर्वोक्त शाप दिया। किसी किसी पुस्तक में जलंघर के बदले शंखचूड़ नाम देखा जाता है। पद्मपुराण में जलंधर का उपाख्यान दूसरे प्रकार से लिखा गया है, यह ठीक है, परन्तु उसमें भी उसकी पत्नी का विष्णु द्वारा मोहित होना वर्णित है। दोनों पुराणों की कथाओं की आलोचना करने से प्रतीत होता है कि विष्णु ने वृन्दा को मोहित किया था और उससे वृन्दा का पातिव्रत्य नष्ट हुआ था। सर्वव्यापी और सर्वश्रेष्ठ विष्णु पुण्य और पाप से अलिप्त हैं, अतः उनका यह कार्य दोषयुक्त नहीं है।

वृन्दा को विमोहित कर उसका पतिव्रत्य भंग किया, इसलिए वृन्दा ने भी उन्हें शाप दिया कि 'हे विष्णु, तुमने छल करके मेरा पातिव्रत्यभंग किया और मुझे संतापित किया, अतः मेरे वाक्य से तुमको भी स्त्रीवियोगजनित दुःख का अनुभव करना पड़ेगा ॥६२॥ भगवान ने जब नृसिंहरूप धारण किया था तब गर्भवती देवदत्त की भार्या ने उनका विकरालस्वरूप देखकर पयोष्णी नदी के किनारे प्राण छोड़ दिये थे। इसलिए उसके स्वामी देवदत्त ने भार्या के वियोग से दुःखी होकर यह शाप दिया कि आपने जैसे मुझे स्त्रीवियोग से दुःखी किया वैसे ही आप भी कुछ काल के लिए अपने स्वरूप को भूलकर स्त्रीवियोग से दुःखी होंगे। ॥६३-६४॥ भक्तवत्सल भगवान ने इस प्रकार भृगु, सनत्कुमार, वृन्दा एवं देवदत्त द्वारा अभिशप्त होकर मनुष्यजन्म धारण किया और उनके शापानुसार तत्-तत् कार्य स्वीकार किये। अभिशापरूपी छल का कारण मैंने आपसे कहा। अब मैं प्रस्तावित कथा कहता हूँ, सावधान होकर सुनिये। भगवान् ने अपनी शक्ति के द्वारा शापमोचन में समर्थ होकर भी भक्तवत्सलता के कारण भक्तों की मर्यादा की रक्षा के लिए तत्-तत् कार्य किये। भृगु और वृन्दा के शाप से उनका स्त्रीवियोग और देवदत्त के शाप से गर्भवती सीता से वियोग हुआ। महाराज, जिस जिस कारण से भूतभावन भगवान् अभिशप्त हुए थे, वह सब आपसे मैं कह चुका हूँ। अब मोक्ष के उपायभूत साधनों के विषय में आपने मुझसे जो जिज्ञासा की है, उसके लिए बत्तीस हजार श्लोकों का योगवासिष्ठनामक महारामायण आपके निकट कहता हूँ ॥६५-६६॥

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

अधिकारी, षट्काण्डात्मक पूर्वरामायण के साथ इस ग्रन्थ का सम्बन्ध ब्रह्मा के आदेश से इस ग्रन्थ का निर्माण तथा मुक्तों की चर्या का वर्णन।

'मंगलादीनि मंगलमध्यानि' इत्यादि पातंजल महाभाष्य में दर्शित श्रुति के अनुसार रचे जानेवाले महाशास्त्र की निर्विघ्न परिसमाप्ति और प्रचार आदि के लिए मध्य में भी सर्वावभासक चिद्घनमूर्ति प्रत्यगभिन्न परब्रह्म का नमस्काररूप मंगलाचरण करते हुए ग्रन्थकार इस शास्त्र के विषय और प्रयोजन को भी अर्थतः कहते हैं।

जो स्वर्ग में, भूमि में, आकाश में, हमारे अन्दर और बाहर निरन्तर विराजमान है, अर्थात् जिसकी सत्ता और प्रकाश से यह सम्पूर्ण प्रपंच सत्तावान् और प्रकाशित होता है, उस सर्वात्मा और सर्वावभासक परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है। (✍)॥१॥ वाल्मीकिजी ने कहा : मैं इस संसाररूप कारागार में बद्ध

(✍) इस श्लोक के और भी अनेक अर्थ टीकाकारों ने किये हैं- जैसे 'पृथिवी पूर्वरूपं द्यौरुत्तररूपम्' इस श्रुति में दर्शाया गया है, वैसे ही इस श्लोक में दिवि-ब्रह्माण्ड के सुवर्ण मय ऊपर के कपाल में, भूमौ - ब्रह्माण्ड के रजतमय नीचे के कपाल में, आकाश - उन दोनों के सन्धिभूत सूक्ष्म आकाश में और भीतर सूर्य, चन्द्र और अग्नि से भी जो अधिक प्रकाशित होता है, उस सब वस्तुओं के परमार्थस्वरूप अवभासात्मा परमात्मा को नमस्कार है। अथवा दिवि-द्योतनात्मक भूमानन्दरूप तुर्यस्वरूप में, भूमौ-दो अवस्थाओं की स्थूल-सूक्ष्म की उत्पत्तिभूमि में, आकाशे-अव्याकृत

हूँ, इससे मुझे मुक्त होना चाहिए, ऐसी जिसको मुक्ति की प्रबल इच्छा हुई है एवं जो अत्यन्त अज्ञानी नहीं है और जो अत्यन्त ज्ञानी भी नहीं है, वही इस शास्त्र के श्रवण में अधिकारी है ॥२॥

भाव यह है कि न अत्यन्त ज्ञानी और न अत्यन्त अज्ञानी इस शास्त्र का अधिकारी है, यह कहना ठीक है, किन्तु मैं कारागार में हथकड़ियों से बँधे हुए कैदी की नाईं अनादिकाल से बद्ध होकर परवशता, परिच्छिन्नता, जन्म, जरा, मरण आदि दुःख सागर में डूबा हुआ हूँ, इस दुःख की आत्यान्तिक निवृत्ति का उपाय एकमात्र आत्मज्ञान ही है, क्योंकि 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मा को जाननेवाला पुरुष ही दुःख से विमुक्त होता है।) यह श्रुति आत्मज्ञान ही मुक्ति का उपाय है, ऐसा कहती है। इसलिए मैं उस आत्मज्ञान का लाभ कर मुक्त होऊँ, इस प्रकार की उत्कट जिज्ञासा से युक्त जिसका निश्चय है, वह इस शास्त्र का अधिकारी है, ऐसे ही पुरुष को इस शास्त्र के श्रवण का फल मिलता है। निष्कर्ष यह निकला कि अनेक पुण्यों से जिसके राग आदि दोष क्षीण हो गये हैं और विवेक से जिसे आत्मा की जिज्ञासा हुई है, ऐसे विशेषरूप से आत्मा को न जाननेवाले अज्ञानी का ही इस शास्त्र में अधिकार है।

शंका – जिसके राग आदि दोष नष्ट हो गये हैं, ऐसा त्रैवर्णिक इस योगवासिष्ठरूप शास्त्र में अधिकारी है, ऐसा यदि मानो, तो यह संन्यासपूर्वक वेदान्त श्रवण में ही अधिकारी है, ऐसा अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि पूर्वकाण्ड के (कर्मकाण्ड के) अनुष्ठान से चित्त के शुद्ध होने पर ही उत्तरकाण्ड में (वेदान्त में) अधिकार प्राप्त होता है, ऐसा 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि श्रुति से सिद्ध है। और जो त्रैवर्णिक नहीं है, उसका अधिकार भी इसमें नहीं हो सकता, क्योंकि 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' इत्यादि श्रुति से उसके अधिकार का निषेध किया गया है। इस परिस्थिति में इस शास्त्र का अधिकारी कैसे सुलभ होगा ?

आकाश में, बहीः बहिःप्रज्ञ द्वारा भोग्य जाग्रत् में, अंतः अन्तःप्रज्ञ द्वारा भोग्य स्वप्न में एवं मरण, मूर्च्छा आदि अवस्थाओं में जो स्थूल सूक्ष्म कारणों के अभिमानी-रूप से, भोक्तृत्वरूप से, साक्षीरूप से और निष्प्रपंचपूर्णानन्दचिन्मात्रस्वभाव से नाना प्रकार का प्रतीत होता है, पर वस्तुतः चैतन्यस्वभाव ही है, उस सर्वात्मा परब्रह्म को नमस्कार है। अथवा कारणोपाधि में, कर्मबीज के उद्‌भवस्थान कार्योपाधि में, जीवन्मुक्तिदशा में, निरुपाधि स्वरूप में एवं माया और अन्तःकरण की वृत्तियों में जो ज्ञानस्वभाव प्रकाशित होता है, उस सर्वोपाधि शून्य परमात्मा को नमस्कार है। अथवा दिवि-प्रकाशस्वरूप तेज में, भूमौ-पृथिवी में, व्योम्नि-आकाश में, अन्त-अन्तरालस्थ जल और पवन में, बहिः बहिर्भूत अव्याकृत में तथा निरुपाधिक परमार्थरूप में जो अनुवृत्त होकर सन्मात्रस्वभाव परमात्मा भासता है, उस अवभासात्मक परमात्मा को नमस्कार है। अथवा बाहर तटस्थरूप को धारण कर पूज्य देवता आदि के रूप से देवलोक में देह के मध्य में रहकर पूजकरूप से भूलोक में और क्रिया, फल, साधन आदि के रूप से अन्तराल में स्वरूप की अज्ञानावस्था में परिच्छिन्नरूप से अन्यथा प्रतीत होकर भी तत्त्वदृष्टि के उदित होने पर जो परिच्छेद रहित प्रतीत होता है, उस सर्वात्मा त्रिविधपरिच्छेदशून्य परमात्मा को नमस्कार है। अथवा ऊपर, नीचे, मध्य में, पूर्व आदि दिशाओं में, शरीर के भीतर, भूत और भविष्यत् काल में जो अवभासात्मा मुझ तत्त्वज्ञानी को प्रतीत होता है, उस सम्पूर्ण प्रपंच के बाध के आश्रयभूत परमात्मा को नमस्कार है।

समाधान – आपका कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे त्रैवर्णिकका त्रेताग्निसाध्य (आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि– इन तीन अग्नियों से साध्य) कर्म में अधिकार होने पर भी जो अनाहिताग्नि (जिन्होंने अग्न्याधान नहीं किया है) हैं, ऐसे पुरुषों द्वारा अनुष्ठेय स्मार्त कर्म में भी अधिकार है ही, वैसे ही श्रौतज्ञान के अधिकारी का भी असंन्यासी मुमुक्षु पुरुषों के अधिकार के समान इस ग्रन्थ में भी अधिकार है। और यह अधिकार तभी तक है, जब तक अज्ञान रहता है, क्योंकि यह योगवासिष्ठ शास्त्र स्मृति के समान वेदार्थ को ही विशद करता है।

कहा भी है।

वेदवेद्यो परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना॥

अर्थात् केवल वेदों से जानने योग्य दशरथनन्दन परमपुरुष भगवान् रामचन्द्रजी के आविर्भूत होने पर वाल्मीकि महर्षि द्वारा रामायण के रूप में साक्षात् वेद का ही आविर्भाव हुआ। उसमें श्रीरामचन्द्रजी की कथा द्वारा पूर्वरामायण में उत्तरकाण्डसहित छः काण्डों से कर्मकाण्ड का निरूपण किया है और इस उत्तररामायण में याने योगवासिष्ठ में छः प्रकरणों द्वारा ज्ञानकाण्ड का निरूपण किया है। इस परिस्थिति में यह निष्कर्ष निकला कि जैसे कुछ स्मार्त कर्मों में – त्रैवर्णिकों के साथ स्त्री शूद्र आदि का भी अधिकार देखा जाता है, वैसे ही इस ग्रन्थ के श्रवण में भी पुराणश्रवण के समान त्रैवर्णिक और अत्रैवर्णिकसाधारण मुमुक्षुओं का अधिकार है। इस अर्थ में प्रमाणभूत 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः' (ब्राह्मण को मुख्य श्रोता बनाकर चारों वर्णों को (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र–इन चारों वर्णों को) पुराण सुनावे), 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (वेद को न जाननेवाला उस बड़ी वस्तु को परमात्मा को– नहीं पा सकता), 'तंव त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (उस उपनिषदेकगम्य पुरुष के विषय में पूछता हूँ) इत्यादि वचनों का 'वेद को न जाननेवाले का श्रौत ज्ञान में अधिकार नहीं है, इसी अर्थ में तात्पर्य है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि 'वेद को न जाननेवाले को अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होता' इस अर्थ में उनका तात्पर्य है। कुछ लोगों का अभिप्राय यह है कि वेदपूर्वक प्राप्त हुआ आत्मज्ञान प्रशस्त होता है, यही उन वाक्यों से प्राप्त होता है। जो भी हो, परन्तु 'स हि सर्वैर्विजिज्ञास्य आत्म वर्णैस्तथाऽऽश्रमैः' इत्यादि अनेक वचनों से ज्ञात होता है कि पुराण श्रवण से उत्पन्न साधारण ज्ञान में औरों का भी (त्रैवर्णिकेतरों का भी) अधिकार है। अधिकार के सिद्ध होने पर श्रौत आत्मज्ञान में जैसे कर्मकाण्ड में प्रतिपादित कर्मों के अनुष्ठान से उत्पन्न चित्त की शुद्धि हेतु है, वैसे ही यहाँ पर भी पूर्वरामायण में प्रदर्शित स्व–स्व वर्ण और आश्रम के कर्मों के अनुष्ठान से होनेवाली चित्त की शुद्धि जिज्ञासा के उत्पादन द्वारा हेतु है, यों पूर्व और उत्तररामायण में हेतु हेतुमद्भावसंगति का प्रदर्शन करते हुए सम्पूर्ण अनर्थ की निवृत्तिरूप अन्य प्रयोजन दिखलाते हैं।

पहले जिसमें कथारूप उपाय है उस रामचरितवर्णनात्मक पूर्वरामायण का विचार कर जो मोक्ष के उपायभूत इन छः प्रकरणों का विचार करता है, वह बुद्धिमान् इस संसार में पुनः जन्म आदि दुःख को प्राप्त नहीं होता॥३॥

तात्पर्य यह है कि पूर्वरामायण में जिस मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीरामचन्द्रजी की कथा का वर्णन किया गया है, वह कथा ही ज्ञानाधिकार को प्राप्त करानेवाले धर्म–तत्त्वज्ञान, धर्म का अनुष्ठान और

ईश्वर में विश्वास के उपाय हेतु है अर्थात् सारी रामायण की कथा सुनने के बाद मनुष्य को धर्म का यथार्थ ज्ञान होता है, फिर वह उसका अनुष्ठान करता है और अनुष्ठान से निर्मल चित्त होने पर ईश्वर में उसे विश्वास होता है, इन तीनों के होने पर वह ब्रह्मज्ञान का अधिकारी होता है। अतः जिससे भगवान् की कथा का सविस्तर वर्णन किया है, उस पूर्वरामायण का पहले खूब अभ्यास और परिशीलन करने के बाद जो पुरुष इस योगवासिष्ठ में मोक्ष के लिए बतलाये गये छः प्रकरणों का विचार करेगा उसका फिर इस अनेकविध दुःखों से भरे हुए संसार में आगमन नहीं होगा अर्थात् वह मुक्त हो जायेगा। (🔔)

हे शत्रुनाशक, पहले छप्पन हजार श्लोकपरिमित पूर्व और उत्तर दो खण्डों से युक्त इस रामायण के अनादिकाल से अभ्यस्त राग, द्वेष आदि दोषों को दूर करनेवाले उत्तम-उत्तम उपदेशों से पूर्ण होने के कारण महाबलवान् (महासामर्थ्य से युक्त) रामकथारूप (रामचरितवर्णनरूप) पूर्वखण्ड की (चौबीस हजार श्लोक परिमित उत्तरकाण्ड सहित छः काण्डों की) रचना कर मैंने उसे अनुग्रह और प्रेम से एकाग्रचित्त होकर जैसे सागर रत्नार्थी को रत्न देता है, वैसे ही विनीत और मेघावी अपने प्रिय शिष्य भरद्वाज को दिया ॥४,५॥ मेघावी भरद्वाज ने मुझसे पूर्वरामायण को प्राप्त कर सुमेरू पर्वतस्थ किसी वन में उसे ब्रह्मा को सुनाया ॥६॥ उसे सुनकर सबके पितामह भगवान् ब्रह्मा भरद्वाज के ऊपर बड़े प्रसन्न हुए और वरदान के बहाने जगत् के उद्धार के साधन मोक्षशास्त्र की रचना करनी चाहिये, यों उत्तम आशयवाले ब्रह्मा ने भरद्वाज से कहा : हे पुत्र, वर माँगो ॥७॥ भरद्वाज ने कहा : हे भगवन् हे भूत, भविष्यत् और वर्तमान के स्वामी, जिससे यह जनता दुःख से मुक्त हो जाय, वह उपाय मुझसे कहिये। इसी वर में मेरी अभिरुचि है ॥८॥ श्री ब्रह्माजी ने कहा : वत्स भरद्वाज, जो तुमने मुझसे पूछा है इस विषय में अपने गुरु श्रीवाल्मीकिजी के निकट जाकर उनसे प्रयत्न से विनयपूर्वक प्रार्थना करो। उन्होंने जिस अनिन्दित (निर्दोष) रामायण का आरम्भ किया है, उसी का श्रवण करने पर अधिकारी मनुष्य सम्पूर्ण मोह को (अनादि अविद्याजन्य अज्ञान को) पार कर जायेंगे। जैसे लोग महागुणशाली रामसेतु (🔥) द्वारा महापापसागर को पार कर जाते हैं वैसे ही महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित उत्तररामायण के श्रवण से ही दुस्तर मोहसागर अर्थात् इस संसारमहासागर को अनायास तर जायेंगे ॥९,१०॥ वाल्मीकिजी ने कहा : भगवन् ब्रह्मा भरद्वाज से यह कहकर उसके साथ मेरे आश्रम में आये। मैंने शीघ्र ही देवाधिदेव

(🔔) मूल में जो कथोपायशब्द आया है, उसका अर्थ सप्तकाण्डयुक्त पूर्वरामायण (बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड इत्यादि क्रम से सात काण्डों से युक्त रामायण) है। यह अर्थ 'जिस ग्रन्थ की कथा में महर्षि वाल्मीकिजी ने धर्मतत्त्वज्ञान, धर्मानुष्ठान और ईश्वरप्रपत्ति का निर्वाणज्ञान के उपायरूप से वर्णन किया है यह कथोपाय है इस व्युत्पत्ति के द्वारा लब्ध होता है। पहले सात काण्डों से युक्त पूर्वरामायण का श्रवण और उसके अर्थ या उसके उद्देश्य का विचार किया जाता है। उससे शम, दम आदि सिद्धि और सगुण ब्रह्म का आपाततः ज्ञान होता है तदनन्तर मनुष्य निर्गुण तत्त्व का अधिकारी होता है। वैसे अधिकारी के लिए ही वेदान्तवेद्य परब्रह्मप्रतिपादक इस ग्रन्थ का उपदेश है।

(🔥) श्रीरामचन्द्रनिर्मित सेतु, जो सेतुबन्ध रामेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है। शास्त्र में लिखा है कि रामसेतु का दर्शन करके जीव के ब्रह्महत्या आदि सब पाप छूट जाते हैं। 'सेतुं दृष्ट्वा समुद्रस्य ब्रह्महत्यां व्यपोहति।' चूँकि रामसेतु सब पापों को छुड़ाता है, इसलिए वह महागुणशाली कहा गया है।

ब्रह्माजी की अभ्युत्थान, अर्घ्य, पाद्य आदि द्वारा पूजा की। तदनन्तर सब प्राणियों के हितैषी अतः सत्त्वगुणसम्पन्न (📖) ब्रह्माजी मुझसे कहने लगे ॥११,१२॥ हे मुनिश्रेष्ठ, पवित्र निर्दोष रामचरितवर्णनरूप रामायण का आरम्भ करके (यद्यपि आपको विस्तृत ग्रन्थ की रचना में बड़ा क्लेश होगा तथापि) जब तक उसकी समाप्ति न हो तब तक उसे न छोड़ दीजिए, उसे अवश्य ही पूरा कर डालिए ॥१३॥ हे महर्षे जैसे शीघ्रगामी जहाज द्वारा दुर्लंघ्य महासागर अनायास उत्तीर्ण हो जाता है वैसे ही सब लोग इस उत्तररामायण द्वारा इस संसाररूप संकट (卐) से छुटकारा पा जायेंगे ॥१४॥ इसीलिए हमारा अनुरोध है, आप लोगों के हित के लिए इस रामायण महाशास्त्र को शीघ्र प्रकाशित कीजिए। यह कहने के लिए (🕯) ही मैं (🔔) आपके पास आया हूँ ॥१५॥ जैसे क्षणभर के लिए जलराशि से उठी ऊँची लहर उसी क्षण में जल में लीन हो जाती है वैसे ही भगवान् ब्रह्मा यह कह कर उसी क्षण में मेरे उस पवित्र आश्रम से अन्तर्हित हो गये ॥१६॥ ब्रह्माजी के आने पर मुझे अत्यन्त विस्मय हो गया था, इसलिए उस समय मैं उनके वाक्य का मर्म नहीं समझ सका। उनके चले जानेपर मैंने चित्त में स्वस्थता प्राप्त कर स्वस्थ बुद्धि से वहाँ पर स्थित भरद्वाज से पूछा ॥१७॥ वत्स भरद्वाज, ब्रह्माजी ने यह क्या कहा ? उसे मुझसे शीघ्र कहो। मेरे यों पूछने पर भरद्वाज ने मुझसे फिर कहा : महर्षे, भगवान् ब्रह्मा ने कहा कि आपने जैसे पहले चित्त को विशुद्ध करनेवाले रामायण की रचना की, इस समय भी वैसे ही सब लोगों के हित के लिए संसाररूपी समुद्र से तारने के लिए नौकारूप उत्तर रामायण की रचना कीजिए ॥१८,१९॥

(पूर्वरामायण चित्तशुद्धिजनक होने के कारण लोकहितकारी है, उत्तररामायण मुक्तिप्रद होने के कारण लोकहितकारी है, इसलिए लोक हितार्थत्व दोनों में समान है।)

भगवन् ! इस विषय में मेरी भी एक प्रार्थना है कि महामना रामचन्द्रजी, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, यशस्विनी सीता, महाबुद्धि रामानुयायी मन्त्रिपुत्र आदि अन्यान्य परिवार के लोगों ने इस संसारसंकट में किस प्रकार व्यवहार किया ? उसको कहिये। उन लोगों ने अज्ञानी जीव की तरह शोकयुक्त होकर कालयापन किया था या वे मुक्त जीव की तरह असंग रहे थे ?॥२०,२१॥ भगवन्, किस प्रकार उन्होंने दुःखमार्ग का अतिक्रमण किया था, मुझे उसका विशदरूप से उपदेश दीजिए। मैं और संसार के अन्य मानव (आपके उपदेशश्रवण से कृतार्थ जनता) हम सभी वैसे ही आचरण करेंगे और वैसे आचरण कर संसारसंकट से मुक्ति प्राप्त करेंगे ॥२२॥ महाराज, भरद्वाज ने बड़े आदर के साथ मुझसे कहने के लिए अनुरोध किया तब मैं भगवान् ब्रह्मा की आज्ञानुसार उससे कहने के लिए प्रवृत्त हुआ। मैंने

(📖) यद्यपि सृष्टि के समय ब्रह्मा में रजोगुण की अधिकता रहती है तथापि उस समय जगत् के उद्धार के लिए करुणायुक्त होने के कारण उनमें सत्त्वगुण की प्रचुरता हो गई, इसीलिए उन्हें 'महासत्त्व' कहा।

(卐) 'संसारसंकटात्' इस अपादान पंचमी से, जिसने इसे पार कर लिया, उसके संसार का अत्यन्त विच्छेद हो जाता है, उसे फिर संसारप्राप्ति नहीं होती, यह सूचित होता है।

(🕯) भाव यह है कि भरद्वाज के द्वारा आदेश या सन्देश भेजा जा सकता था, पर यह मैंने उचित नहीं समझा। कार्य की गुरुताका ध्यान रखते हुए मैं स्वयं ही आपके पास आया हूँ।

(🔔) जगत्पूज्य ब्रह्मा।

कहा : वत्स भरद्वाज, जो तुमने मुझसे पूछा है, उसे मैं विस्तार से तुमसे कहता हूँ, सावधान होकर सुनो। उसे सुनने से तुम्हारा आत्मतत्त्व का अज्ञानरूप मल दूर हो जायेगा और मन की वृत्ति निर्मल हो जायेगी ॥२३,२४॥ महामते भरद्वाज, कमलनयन राम सम्पूर्ण विषयों को मिथ्या समझ कर उनमें आसक्ति का त्यागकर जैसे लोकयात्रा का निर्वाह करने से सुखी हुए थे, तुम भी वैसे ही व्यवहार करो, वैसा करने से सुखी हो सकोगे ॥२५॥

महामना लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, कौशल्या, सुमित्रा, सीता, दशरथ एवं राम के मित्र कृतास्त्र और अविरोध, पुरोहित वसिष्ठ, वामदेव, ये सभी परमज्ञानी थे। रामचन्द्रजी के धृष्टि, जयन्त, भास, सत्य अर्थात् सत्यवक्ता विजय, विभीषण, सुषेण, हनुमान् और सुग्रीव का अमात्य इन्द्रजित् ये आठ मन्त्री भी महामना, जितेन्द्रिय, समदर्शी, विषयों में आसक्ति से रहित, प्राप्त प्रारब्ध कर्मो के नाश की प्रतीक्षा करनेवाले एवं जीवन्मुक्त थे। हे वत्स भरद्वाज, ये लोग जिस प्रकार और जिस भाव से श्रुति और स्मृति में कहे गये होम, दान आदि श्रौत-स्मार्त कर्म, आदान, प्रदान आदि लौकिक सब व्यवहार और इष्टचिन्तन आदि विहित कर्म का अनुष्ठान करते थे, तुम भी यदि वैसे ही कर सको, तो तुम भी अनायास संसाररूपी संकट से मुक्त हो जाओगे ॥२६-३०॥ अधिक क्या कहूँ, उत्कृष्ट ज्ञानबल से युक्त व्यक्ति अपार संसारसागर में गिरने पर भी इस परम योग को प्राप्त कर इष्टवियोग से उत्पन्न शोक, दुःख, दीनता आदि संकटों से मुक्त हो कर नित्य तृप्त हो जाता है ॥३१॥

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

दृश्य के मार्जन के उपाय, वासनाभेद-निरूपण पूर्वक उनके लक्षण तथा श्रीरामचन्द्रजी की तीर्थ यात्रा का विस्तार से वर्णन।

जैसे जीवन्मुक्त श्रीरामचन्द्र आदि ने व्यवहार किया था वैसे ही तुम भी व्यवहार करो, ऐसा पूर्व सर्ग में कहा। भरद्वाज जीवन्मुक्तस्थिति की प्राप्ति के क्रम के वर्णन के श्रवण द्वारा ही श्रीरामजी की जीवन्मुक्तस्थिति-प्राप्ति के उपाय की जिज्ञासा करते हुए पूछते हैं।

भरद्वाज ने कहा : हे ब्रह्मन्, आप रामचन्द्रजी की कथा का अवलम्बन कर जीवन्मुक्त की स्थिति का अर्थात् लक्षण और लौकिक-वैदिक व्यवहार का वर्णन कीजिए, उसका श्रवण करके मैं परम सुखी होऊँगा (📖) ॥१॥

(📖) टीकाकारों ने इस श्लोक के और प्रकार से भी अर्थ किये हैं। जैसे हे ब्रह्मन्, श्रीरामचन्द्रजी क्रम से जीवन्मुक्त हुए थे, ऐसी कल्पना कर मुझसे पहले से कहिये, जिस क्रम से मैं नित्य सुखी होऊँ। अथवा संवाद-कथा में श्रीरामचन्द्रजी को पहले से प्रश्नकर्ता और श्रीवसिष्ठजी को वक्ता बनाकर जैसे श्रुति जनक और याज्ञवल्क्य की कल्पना करके स्वयं ही संवादरूप से तत्त्व का बोध कराती है वैसे ही आप भी मुझे तत्त्वज्ञान कराइए। इस प्रकार तत्त्वज्ञरूप से कल्पित दशरथ आदि की पूर्वरामायण में मूढचर्या और मुक्ति का अभाव देखने एवं नित्यमुक्त श्रीरामचन्द्रजी के 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते' इत्यादि श्रुति से विरुद्ध शापमूलक अज्ञत्व आदि के वर्णन से भी कोई क्षति नहीं है, क्योंकि जैसे

भरद्वाज के यों पूछने पर महर्षि वाल्मीकिजी जीवन्मुक्ति का लक्षण, स्वरूप, साधन और फल द्वारा जीवन्मुक्तस्थिति का विस्तार करने की इच्छा से सुखपूर्वक ज्ञान होने के लिए पहले संक्षेप से मुक्ति का लक्षण और स्वरूप दिखलाते हैं।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : वत्स भरद्वाज, जैसे भ्रमवश रुपरहित आकाश में नीले, पीले आदि रंगों का भान होता है वैसे ही अज्ञानवश ब्रह्म में जगत् का भ्रम होता है। इसलिए प्रमाण और अनुभव से मैंने निश्चय किया है कि नीरूप आकाश में नीले, पीले आदि रंगों की भाँति ब्रह्म में कल्पित अत्यन्त असम्भावित जगत् का समूल अविद्या और उसके संस्कार के नाश द्वारा जैसे फिर स्मरण ही न हो उस प्रकार विस्मरण होना ही सबसे उत्कृष्ट मुक्ति का लक्षण और स्वरूप है (卐) ॥२॥

पूर्व श्लोक में मुक्ति के लक्षण और स्वरूप स्वानुभवसिद्ध दिखलाये, उनका अनुभव हमें क्यों नहीं होता ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

भरद्वाज, जब तक दृश्य के अत्यन्त अभाव का ज्ञान नहीं होता अर्थात् सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच भ्रान्तिकल्पित है, अतएव अत्यन्त असत् है, यह ज्ञान जब तक दृढ़तापूर्वक नहीं होता तब तक कोई भी किसी प्रकार मुक्ति के लक्षण और स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकता। सम्पूर्ण जगत् के अधिष्ठान प्रत्यगभिन्न आत्मतत्त्वके साक्षात् से ही दृश्य का अत्यन्त बाध हो सकता है। इसलिए अविसंवादी आत्मज्ञान को उपाय से प्राप्त करो ॥३॥

उसकी प्राप्ति का क्या उपाय है ? इस पर कहते हैं।

वत्स, इस योगवासिष्ठरूप शास्त्र के ज्ञात होने पर उक्त ज्ञान असम्भव नहीं है, बल्कि संभव ही

अनादि जीव को ब्रह्म अभेद बोध कराने के लिए श्रुति में ब्रह्म में कार्योपाधिप्रवेश द्वारा आगन्तुक जीवभाव की कल्पना की गई है वैसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिये, इसलिए कोई विरोध नहीं है।

(卐) यद्यपि परोक्षज्ञानी को भी सुषुप्ति में और निर्विकल्प समाधि में दृश्य का विस्मरण होता है तथापि वह विस्मरण पुनःस्मरण नहीं है अर्थात् उसे सुषुप्ति और समाधि के अनन्तर फिर ब्रह्म में जगत् का भ्रम होता है। अथवा पुनःस्मरण का अर्थ 'पुनः स्मर्यतेऽनेन – फिर जिससे स्मरण किया जाय' इस व्युत्पत्ति से अन्तःकरण है। उक्त अन्तःकरण जिसमें नहीं है ऐसा विस्मरण–स्मरण का अभाव। यह द्वैत के प्रतिभासमात्र के अभाव का उपलक्षण है। अथवा विस्मरण के समान विस्मरण यह अर्थ है। जैसे विस्मृत विषय की अनुभवकर्ता के रहने पर भी प्रतीति नहीं होती वैसे ही चैतन्य के रहते हुए ही दृश्य की अप्रतीति विस्मरण है।

शंका : क्या परमार्थ सत्य दृश्य की ही जैसे सांख्यों की अभिमत मुक्ति में अप्रतीति होती है वैसे ही आपके अभिमत मुक्ति में भी अप्रतीति होती है ? **समाधान** : नहीं, हमारे मत में जगत् परमार्थ सत्य नहीं है, वह ब्रह्म में अध्यस्त है। **शंका** : वह भ्रम कैसे है, क्योंकि वह संस्कार से जन्य नहीं है। **समाधान** : वह पूर्व पूर्व जगत् के व्यवहार से उत्पन्न संस्कार से जन्य है। **शंका** : दोष से उत्पन्न न होने और अधिष्ठानशून्य होने से वह भ्रम नहीं है। **समाधान** : जैसे दूरत्व और अविचाररूप दोष से आकाश में नीले रंग का भ्रम होता है वैसे ही अविद्यारूप दोष से ब्रह्म में जगत् का भ्रम होता है। दृश्य का आत्यन्तिक उच्छेद मुक्ति का लक्षण है और आत्यन्तिक दृश्यविनाश से उपलक्षित चिन्मात्र में अवस्थान मुक्ति का स्वरूप है, यह निष्कर्ष निकला।

है। इस उद्देश्य से ही इस ग्रन्थ का निर्माण आरम्भ किया है। यदि तुम जब तक तत्त्व का निर्णय न हो, तब तक भक्ति और श्रद्धा के साथ इसका श्रवण करो, तो अवश्य ही तुम्हें तत्त्वज्ञान प्राप्त होगा, अन्यथा कदापि भ्रम का संशोधन नहीं होगा। भ्रमसंशोधन हुए बिना तत्त्वज्ञान हो ही नहीं सकता ॥४॥

उक्त अर्थ को ही अधिक विशद करते हुए कहते हैं।

हे अनघ, यह जगत् वस्तुतः मिथ्या है, यह आकाश में नीले, पीले आदि रंगों की भाँति आपाततः सत्य-सा प्रतीत होता है, किन्तु इस ग्रन्थ में दर्शित विचार से सहज में ही यह असत् (मिथ्या) है, यह प्रतीत हो जाता है ॥५॥

'अनुभूयते' इससे उक्त अनुभव क्या आत्मचैतन्य ही है या अन्य है ? अन्य तो हो नहीं सकता, क्योंकि चित् से अन्य, जड़ और विषय होने से, अनुभव के योग्य नहीं है। यदि आत्मा ही अनुभव है, तो वह पहले ही विद्यमान है, फिर शास्त्र की क्या आवश्यकता ? ऐसी शंका पर कहते हैं।

यद्यपि आत्मा ही अनुभव है तथापि वह दृश्य के साथ सम्मिलित है, अतः उसका अनुभव नहीं होता, किन्तु मन की वृत्तिरूप आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूप बोध द्वारा अविद्या का नाश होने से अविद्याजन्य दृश्य तीनों कालों में भी नहीं है, अर्थात् वह मायावी की माया के समान तीनों कालों में मिथ्या है। जो उसका द्रष्टा है वही सत्य है। यह सत् आत्मा ही सर्वत्र विराजमान और प्रकाशमान है ॥६॥

चैतन्यस्वरूप आत्मा के सिवा जो कुछ दिखाई देता है, वह सब जड़ अतएव आत्मा में कल्पित और मिथ्या है, इस प्रकार दृश्य वस्तु का मार्जन अर्थात् अस्तित्वपरिहार हो जाय, तो नित्यसिद्ध आत्मरूप भी परमनिर्वृत्ति (निर्वाण नामक मोक्ष) उस ज्ञान से उत्पन्न-सी होती है। उक्त वृत्ति से हुआ केवल स्वरूपभूत अनुभव शास्त्र का फल है, यह भाव है।

अन्य शास्त्रों में दर्शित उपायों से ही मुक्ति क्यों न हो ?

अन्यथा पूर्वोक्त उपाय का ग्रहण न करने पर अनादि अज्ञान से अन्धे अनात्मा का प्रतिपादन करनेवाले शास्त्ररूपी गढ्ढों में ठोकर खा रहे-रागान्ध जनों के पतन के कारणभूत गर्ततुल्य तत् तत् शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट उपायों से ऐहिक और पारलौकिक विषयों में आसक्त होकर आचरण कर रहे अतएव विषयों के उपभोग के लिए बार बार जन्म ग्रहण कर रहे मूर्खों को अनन्त ब्रह्मकल्पों से भी निर्वृत्ति (निर्वाण मोक्ष) नहीं मिल सकती। भाव यह है कि अनादि अज्ञान की ज्ञान से अतिरिक्त हजारों साधनों से भी निवृत्ति नहीं हो सकती ॥७॥

उपासना आदि अन्य उपायों से प्राप्त होनेवाले सालोक्य आदि और भी मोक्ष हैं, उनसे निर्वृत्ति क्यों नहीं होगी ?

हे ब्रह्मन्, निःशेषरूप से वासनाओं का (जन्म के बीजों का) जो परित्याग (मूलोच्छेद) है, वह उत्तम (मुख्य) (📖) मोक्ष कहा जाता है। उक्त मुख्य मोक्ष को अविद्यारूप मल से रहित ज्ञानी ही प्राप्त कर सकते हैं, अन्य नहीं ॥८॥

वासनाओं के नष्ट होने पर वासनाओं के कारण रूप मन के अस्तित्व से फिर वासनाएँ पैदा हो

(📖) 'मच्' धातु बन्धन की निवृत्तिरूप अर्थ में रूढ़ है। वासनाएँ ही मुख्य बन्धन है। सालोक्य आदि मुक्तियों में वासनाओं का नाश नहीं होता, इसलिए उनमें मोक्षशब्द गौण है।

जायेगी, उनसे बन्धन भी होगा ?

हे ब्रह्मन्, जैसे शीत के नष्ट होने पर हिमकण तुरन्त गल जाते हैं, वैसे ही वासनाओं के नष्ट होने पर वासनापुंजरूप चित्त शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥९॥

मन के नष्ट होने पर भी स्थूल देहरूप बन्ध बना ही रहेगा ?

जैसे पिरोये हुए सूक्ष्म सूत्र से (धागे से) मोतियों का समूह स्थित रहता है वैसे ही पंचमहाभूतों से बना हुआ यह शरीर वासना से खड़ा है ॥१०॥

इस प्रकार उपोद्घात से उत्कृष्ट मुक्ति का वर्णन कर प्रस्तुत जीवन्मुक्ति को कहने की इच्छा से उसके वर्णन में अपेक्षित वासनाद्वैविध्य (वासना दो प्रकार की है, ऐसा) कहते हैं।

वासना दो प्रकार की कही गई है शुद्ध और मलिन। मलिन वासना जन्म की कारण है और शुद्ध वासना जन्म का नाश करती है और मोक्ष का साधन है ॥११॥

मलिन वासना का लक्षण कहते हैं।

वासना बीजों के अंकुरित होने में अज्ञान ही सुक्षेत्र है। अज्ञानरूप सुक्षेत्र में जिसका कलेवर खूब विशाल हुआ है अर्थात् विषयों के अनुसन्धान के अभ्यास से खूब बढ़ी हुई, राग-द्वेष आदि से वृद्धि को प्राप्त होने के कारण घन (निविड़) अहंकाररूप क्षेत्र के स्वामी द्वारा भली भाँति पाली-पोषी गई अतएव शोभित इसी पुनर्जन्मकारिणी (बार-बार जन्म करानेवाली) वासना को पण्डित लोगों ने मलिन कहा है ॥१२॥

शुद्ध वासना का लक्षण कहते हैं।

जो भूने हुए बीज के समान अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति से शून्य होकर रहती है अर्थात् पुनर्जन्म की उत्पादक कारण न होकर केवल मात्र प्रारब्धवश देह आदि का अवलम्बन करके रहती है अर्थात् देहधारणमात्र से पर्यवसित होती है, वह शुद्ध वासना कही जाती है ॥१३॥

जैसे बीज के अन्दर पहले से ही विद्यमान और सूक्ष्म अंकुर समय, जल, मिट्टी आदि के सम्बन्ध से आविर्भूत हो जाते हैं वैसे ही वासनाओं के अन्दर पहले से ही विद्यमान आगामी जन्मपरम्परा काम, कर्म आदि निमित्त से आविर्भूत होती है, क्योंकि अत्यन्त असत् का जन्म ही नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में तत्त्वज्ञान द्वारा अविद्यारूपी क्षेत्र के जल जाने से उसके अन्तर्गत जन्मांकुर का नाश होने पर भी अपने प्रारब्ध से प्रतिबद्ध भूने हुए बीजों के समान केवल देहधारणमात्र ही जिसका प्रयोजन है ऐसी जो वासना अवशिष्ट रहती है, वह शुद्ध वासना है, यह भाव है।

उक्त अर्थ को ही स्फुट करते हैं।

पुनर्जन्म का निवारण करनेवाली शुद्ध वासना जीवन्मुक्त पुरुषों के शरीर में, चक्र में भ्रमण के समान, मृत संस्काररूप से रहती है अर्थात् देहधारणरूप कार्य से उनमें भी वासना के अस्तित्व का अनुमान होता है ॥१४॥ जो लोग शुद्ध वासना से युक्त हैं, वे ही ज्ञातज्ञेय (जिन्होंने ज्ञातव्य पदार्थ को, ब्रह्म को जान लिया है) होते हैं, ज्ञातज्ञेय होकर वे फिर जन्मरूप अनर्थ के भाजन नहीं होते अर्थात् दुःखभाजन पुनर्जन्मपर विजय पाकर जीवन्मुक्त पद प्राप्त करते हैं वे ही वास्तव में बुद्धिमान् कहे जाते हैं। (जीवन्मुक्त का यह लक्षण फलित हुआ कि जिस वासना की तत्त्वज्ञान से पुनर्जन्मांकुर की उत्पादि

शक्ति जल गई है ऐसी वासनामात्र से जिनका शरीरधारण किया गया है, वे जीवन्मुक्त पुरुष है।) (🕮) ॥१५॥ हे महामति भरद्वाज, महाबुद्धि श्रीरामचन्द्रजी जिस प्रकार जीवन्मुक्ति पद को प्राप्त हुए, उसे मैं जीव के जरा और मरण की शांति के लिए तुमसे कहूँगा, सुनो। श्रीरामचन्द्रजी की परममंगलदायिनी इस कथा का श्रवण करो, इसके श्रवण से ही तुम सम्पूर्ण तत्त्व को जान जाओगे ॥१६,१७॥ वत्स भरद्वाज ! राजीवलोचन श्रीरामचन्द्रजी ने गुरुकुल से लौटकर कुछ दिन भाँति-भाँति की लीलाओं द्वारा निर्भय होकर अपने घर में ही बिताये ॥१८॥ तदनन्तर कुछ समय बीतने पर जब कि महाराज दशरथ पृथिवी का पालन करते थे, शोकरहित प्रजा बड़े आनन्द में थी। राज्य की सुव्यवस्था से प्रजाओं में ज्वरादि पीड़ा भी नहीं थी, भय, अकालमरण आदि अन्य पीड़ाओं की तो बात ही क्या थी ? ॥१९॥

यह सूचित करने के लिए 'विगतज्वरम्' पद दिया है।

उस समय महागुणशाली श्रीरामचन्द्रजी का मन तीर्थ और पुण्याश्रम देखने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हुआ। (🔔) ॥२०॥ श्रीरामचन्द्रजी ने पुण्य तीर्थों के दर्शन का यों विचार कर श्रीपितृचरणों के (श्रीमहाराज दशरथ के) निकट जाकर जैसे हंस नवीन कमलों का आश्रय लेता है वैसे ही पिताजी के नखरूपी केसर से सुशोभित चरणकमलों को ग्रहण किया ॥२१॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : पिताजी ! तीर्थ, देवमन्दिर, वन और आश्रमों के दर्शन के लिए मेरा मन अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा है ॥२२॥ महाराज, मेरी इस प्रथम प्रार्थना को सफल (पूर्ण) करने की कृपा कीजिये इस संसार में कोई ऐसा नहीं है, जो प्रार्थी होकर आपके पास आया हो और उसकी अभिलाषा आपने पूर्ण न की हो ॥२३॥ श्रीरामचन्द्रजी द्वारा यों प्रार्थित महाराज दशरथ ने कुलगुरु वसिष्ठजी के साथ परामर्श कर श्रीरामचन्द्रजी को, जिनकी यह प्रथम

🕮 जीवन्मुक्त पुरुषों द्वारा किये गये कर्म का फल उत्तर काल में भोग पैदा नहीं करता। इसी लिए उनके सम्पूर्ण कर्मों का भोग द्वारा क्षय हो जाता है।

🔔 शंका : इस अध्यात्मशास्त्र में तीर्थयात्रा के वर्णन एवं आगे किये जानेवाले मृगयावर्णन का क्या सम्बन्ध है ? यदि कहिये कि ये श्रीरामचन्द्रजी के ही चरित हैं, इसलिए इनका यहाँ पर वर्णन किया गया है, तो ऐसी अवस्था में रामचन्द्रजी के जन्म आदि का भी यहीं पर वर्णन प्राप्त होगा और श्रीरामायण व्यर्थ हो जायेगा ? समाधान : 'कथोपायान् विचार्य' (२१३) इस श्लोक में अपने अपने वर्ण और आश्रमों के योग्य यज्ञादि कर्मों से उत्पन्न चित्तशुद्धि का ब्रह्मविद्याधिकार में उपयोग है, ऐसा कहा है। जो अवस्था, विद्या आदि सामग्री के न होने के कारण यज्ञ आदि का अनुष्ठान करने में समर्थ नहीं है, उसका आदि से भी यज्ञ से होनेवाली चित्तशुद्धि होने पर ब्रह्मविद्या में अधिकार सिद्ध होता है, क्योंकि 'एते भोमाम्मया यज्ञास्तीर्थरूपेण निर्मिताः' (ये स्थलमय और जलमय यज्ञ तीर्थरूप से बनाये गये हैं) इत्यादि वाक्य हैं। इस बात को सूचित करने के लिए तीर्थयात्रा का वर्णन किया। अतएव श्रीरामचन्द्रजी में वृद्धावस्था की कल्पना किये बिना आत्मजिज्ञासा का वर्णन किया उक्त अर्थ की सूचना में कोई आपत्ति नहीं है। मृगया का वर्णन पूर्वदृष्ट कौतूहलपूर्ण स्थानों को पुनः देखने की उत्कण्ठा भी आत्मजिज्ञासा में बाधक है, यदि उक्त कौतुक के अनुभव के बिना वह उत्कण्ठा दूर नहीं होती हो, तो उसका अनुभव करके ही या उसकी असारता के निश्चय द्वारा उस उत्कण्ठा को दूर कर जीव निर्विघ्न श्रवण आदि में संलग्न हो, यह विशेषबोधन के लिए है। इसलिए उसका वर्णन उचित है।

प्रार्थना थी, तीर्थदर्शन के लिए बड़े असमंजस में पड़कर अनुज्ञा दे ही दी ॥२४॥ शुभ नक्षत्र और शुभ दिन में ब्राह्मणों द्वारा मंगलपाठ कराकर एवं मंगलमय वेश-भूषा से शरीर को अलंकृत कर, आशीर्वाद दे रहीं माताओं द्वारा पुनः पुनः आलिंगन कर खूब विभूषित किये गये श्रीरामचन्द्रजी भाइयों, वसिष्ठ द्वारा प्रेषित शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों, कतिपय अपने प्रेमी श्रेष्ठ राजकुमारों के साथ तीर्थयात्रा के लिए अपने घर से निकले ॥२५-२७॥ नगरललनाओं से भँवरों की पंक्ति के समान चंचल नेत्रों द्वारा बड़े आदर के साथ देखे जा रहे श्रीरामचन्द्रजी जब नगर से निकले तो नगरवासियों ने उनकी यात्रा के उपलक्ष में मंगल के लिए तूरीघोष से उनका अभिनन्दन किया ॥२८॥ जैसे बर्फ की झड़ियों से हिमालय आच्छादित हो जाता है वैसे ही ग्रामीण महिलाओं के चंचल हाथों से बरसाई गई लाजा (धान आदि) की वृष्टि से उनका शरीर व्याप्त हो गया ॥२९॥ श्रीरामचन्द्रजी ब्राह्मणों को दान, सम्मान आदि से अपने वश में करते, प्रजाओं के आशीर्वाद सुनते और दिशाओं के अन्त भागों को देखते हुए गहन वनों में खूब घूमे ॥३०॥ तदुपरान्त अति श्रेष्ठ अपनी राजधानी कोशल से आरम्भ कर श्रीरामचन्द्रजी ने स्नान, दान, तप, ध्यान करते हुए पवित्रतम नदीतट, पुण्य वन, आश्रम, जंगल, देशों की सीमाओं में स्थित समुद्र और पर्वतों के तट, चाँदनी के समान स्वच्छ श्रीभागीरथी, नील कमल के तुल्य निर्मल श्रीयमुना, सरस्वती, सतलज, चिनाब, इरावती, केवल वेणी नदी, कृष्णा से मिली हुई वेणी, निर्विन्ध्या, सरयू, चर्मण्वती, वितस्ता, व्यास, बाहुदा, प्रयाग, नैमिषारण्य, धर्मारण्य, गया, काशी, श्रीशैल, केदारनाथ, पुष्कर, क्रमप्राप्त मानस सरोवर, उत्तर मानस, हयग्रीवतीर्थ, अग्नितीर्थ (ज्वालामुखी), महातीर्थ इन्द्रद्युम्नसर आदि पुण्य तीर्थ, सर, पुण्यतम नदियाँ, नद, तालाब आदि के सादर दर्शन किये। स्वामी कार्तिकेय, शालग्रामरूपी हरि, श्रीहरि के तथा महादेवजी के चौसठ स्थान, आश्चर्यमय विविध विचित्रताओं से पूर्ण चारों समुद्रों के तट, विन्ध्याचल और मन्दराचल के लतागृह (झाड़ियाँ), हिमालय आदि सात कुल पर्वत, बड़े बड़े महर्षियों, राजर्षियों, देवताओं और ब्राह्मणों के पवित्रतम और मंगलमय आश्रमों के बड़े आदर से दर्शन किये। दूसरों का सम्मान करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी ने अपने भाइयों के साथ चारों दिशाओं के प्रान्तभागों (सीमाओं) एवं सम्पूर्ण पृथ्वी में पुनः पुनः (पहले दर्शन करने पर भी लौटते समय निकट में आये हुए स्थानों में कौतूहल से या उनकी अधिक महिमा प्रकट करने के लिए फिर फिर) भ्रमण किया ॥३१-४१॥ जैसे सम्पूर्ण दिशाओं में विहार कर श्रीशिवजी शिवलोक में (कैलास में) जाते हैं, वैसे ही तत् तत् स्थानों में स्थित देवता, किन्नर और मनुष्यों द्वारा सत्कृत श्रीरामचन्द्रजी इस सम्पूर्ण भूमण्डलको (जम्बूद्वीपरूप पृथिवी को) भली भाँति देखकर अपने घर अयोध्या लौट आये ॥४२॥

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी के तीर्थयात्रा से लौटने पर घर में मित्रों का आनन्द-समारोह तथा श्रीरामचन्द्रजी की आखेटचर्या आदि का वर्णन।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, नगरवासियों ने श्रीरामचन्द्र के ऊपर पुष्पांजलियों पर पुष्पांजलियाँ बरसाई। यों नगरवासियों द्वारा सत्कृत श्रीरामचन्द्रजी जैसे श्रीमान् जयन्त (इन्द्र का

पुत्र) स्वर्ग में (अमरावती में) प्रवेश करता है वैसे ही अपने घर में प्रविष्ट हुए। तदुपरान्त प्रथम प्रवास से लौटे हुए रामजी ने पिताजी को, कुलगुरु वशिष्ठजी को, भाई–बन्धुओं को, ब्राह्मणों को, कुल के बड़े–बूढ़ों को यथायोग्य प्रणाम किया ॥१,२॥ मित्रों ने भाइयों ने, पिता ने और ब्राह्मणों ने श्रीरामचन्द्रजी को बार बार आलिंगन किया। आलिंगन करनेवालों के प्रति यथायोग्य अभिवादन, प्रिय भाषण आदि सुन्दर व्यवहार करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी हर्ष से फूले नहीं समाते थे ॥३॥ महाराज दशरथ के घर में श्रीरामचन्द्रजी के बाँसुरी की कोमल ध्वनि के समान मधुर प्रियवचनों से आह्लादित हुए लोग परस्पर दिशा–दिशा में घूमने लगे। या हर्ष से उत्पन्न व्यामोह से उन्हें दिग्भ्रम हो गया, यह अर्थ है ॥४॥ श्रीरामचन्द्र के शुभागमन के उपलक्ष में आठ दिन तक बराबर आनन्दपूर्वक उत्सव होता रहा। उक्त उत्सव हर्ष से खूब प्रसन्न लोगों द्वारा किये गये गम्भीर कोलाहल से पूर्ण रहा ॥५॥ तबसे श्रीरामचन्द्रजी भाँति–भाँति के देशाचारों का इधर उधर वर्णन करते हुए घर में ही सुखपूर्वक रहे ॥६॥ श्रीरामचन्द्रजी नित्य प्रातःकाल शय्या का त्याग कर, विधिपूर्वक स्नान, सन्ध्या आदि कर्म करके सभा में बैठे हुए इन्द्रतुल्य अपने पिताजी का दर्शन करते थे और एक पहर तक श्रीवसिष्ठ आदि के साथ बैठकर ज्ञानपूर्ण विविध विचित्र कथाओं द्वारा बड़े आदर के साथ सत्संग कर तदनन्तर शिकार खेलने की इच्छा से, पिताजी की आज्ञा लेकर, बड़ी भारी सेना के साथ वनवराह, वनमहिष आदि से भरे हुए वन में जाते थे ॥७–९॥ वहाँ से घर लौटकर स्नान आदि कर्म कर तथा मित्र और बन्धुओं के साथ भोजन कर मित्रों के साथ रात्रि बिताते थे ॥१०॥

श्रीरामचन्द्रजी तीर्थयात्रा से लौटकर लक्ष्मण और शत्रुघ्न के साथ प्रायः इस प्रकार की दिनचर्या करते हुए पिताजी के घर में सुखपूर्वक रहते थे। हे भरद्वाज, श्रीरामचन्द्रजी राजाओं के योग्य व्यवहार से मनोहर, सज्जनों के चित्त को चाँदनी के समान आनन्द देनेवाली, श्लाघनीय एवं अमृतद्रव के समान सुन्दर चेष्टा से कालयापन करते थे ॥११,१२॥

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवा सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी केशरीर में कृशता आदि, वैराग्य आदि और राजा द्वारा उसके कारण की जिज्ञासा तथा श्री वसिष्ठजी के उत्तर का उपक्रम।

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी की चित्तशुद्धि के लिए साधनभूत दिनचर्या का वर्णन कर उसके फलरूप वैराग्य की साधनसामग्री को कहने की इच्छा से उपक्रम करते हैं।

वाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, तदनन्तर किसी समय जब कि रामचन्द्रजी एवं रामानुयायी लक्ष्मण और शत्रुघ्न के पूरे सोलह वर्ष के होने में कुछ महीनों की कसर थी, भरत सदा अपने नाना के घर में आनन्दपूर्वक रहते थे और महाराज दशरथ सुचारुरूप से इस सम्पूर्ण पृथिवीमण्डल का पालन करते थे और महाप्राज्ञ एवं परामर्श करने में कुशलराजा राजपुत्रों के विवाह के लिए भी प्रतिदिन मन्त्रियों के साथ परामर्श करते थे। तीर्थयात्रा कर चुकने पर अपने घर में ही स्थित श्रीरामचन्द्रजी जैसे शरद्ऋतु में निर्मल तालाब दिन–पर दिन सूखता जाता है वैसे ही दिन–पर दिन कृश होने लगे। जैसे भ्रमरपंक्ति

से युक्त पाकावस्था में अधिक खिला हुआ सफेद कमल पीला हो जाता है, वैसे ही राजकुमार का विशाल नेत्रों से युक्त मुख पीला पड़ गया। कपोल में हाथ रक्खे हुए और पद्मासन से बैठे श्रीरामजी सदा चिन्ता से ग्रस्त चुपचाप और निश्चेष्ट रहते थे। उनका शरीर कृश हो गया था, चिन्ता उन्हें नहीं छोड़ती थी, वे सदा दुःखी और उदास रहते थे। चित्रलिखित के समान वे किसी से कुछ बोलते भी न थे ॥१–७॥ परिजनों के बार बार प्रार्थना करने पर कष्ट से स्नान, सन्ध्यावन्दन आदि अवश्य कर्तव्य दैनिक कर्म करते थे, उनका मुखकमल म्लान हो गया था ॥८॥

विविध गुणों के आगार श्रीरामचन्द्रजी को पूर्वोक्त चिन्ता आदि से युक्त देखकर उनके भाई लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी उसी अवस्था को प्राप्त हुए ॥९॥ सभी पुत्रों को दुःखी और कृश देखकर रानियों के साथ महाराज दशरथ को बड़ी चिन्ता हुई ॥१०॥ हे भरद्वाज, महाराज 'पुत्र, तुम्हें कौन–सी बड़ी चिन्ता है' इस प्रकार बड़ी मधुर वाणी से बार बार पूछते थे, परन्तु रामचन्द्रजी उनको कुछ भी नहीं बताते थे ॥११॥ पिताजी, मुझे कुछ भी दुःख नहीं है, – यह कहकर कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी पिताजी की गोद में जाकर चुपचाप बैठ जाते थे ॥१२॥ तदनन्तर महाराज दशरथ ने 'राम किसलिए खिन्न हैं' यह वक्ताओं में श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण कार्यों के ज्ञाता श्रीवसिष्ठजी से पूछा ॥१३॥ दशरथजी के यों पूछने पर विचार कर महर्षि वसिष्ठजी ने राजा से कहा : राजन्, इसमें कुछ कारण है, पर श्रीमन्, आप दुःखी न हों ॥१४॥

(यहाँ पर रामचन्द्रजी की चिन्ता का फल शुभ होगा, यह दर्शाने के लिए 'श्रीमन्' सम्बोधन है।)

जैसे संसार में पृथिवी, जल आदि महाभूत सृष्टि और प्रलय के बिना छोटे–मोटे कारणों से वृद्धि और क्षयरूप विकार को प्राप्त नहीं होते, वैसे ही सत्पुरुष भी छोटे–मोटे कारणों से क्रोध, विषाद और हर्ष के वशीभूत नहीं होते ॥१५॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

छठवाँ सर्ग

विश्वामित्रजी का आगमन, राजा द्वारा उनका विधिवत् पूजन तथा ऋषि के आगमनजनित हर्षोद्रेक से 'जो आप आज्ञा करेंगे उसका मैं विधिवत् पालन करूँगा' – यों प्रतिज्ञा।

वाल्मीकिजी ने कहा : भरद्वाज, जब मुनिवर वशिष्ठजी के यों कहने पर खेदयुक्त, सन्देहनिमग्न अतएव सन्देह के निर्णय के लिए कुछ काल की प्रतीक्षा करनेवाले महाराज दशरथ मौन हो गये थे और राजमहल में स्थित सभी महारानियाँ उदास होकर श्रीरामचन्द्रजी की चेष्टाओं पर (चेष्टाओं द्वारा उनके वैराग्य का कारण जानने के लिए) विशेषरूप से सावधान (सतर्क) थी। उसी समय लोकविख्यात महर्षि विश्वामित्र अयोध्याधिपति महाराज दशरथ को देखने के लिए गये। महामति महर्षि विश्वामित्र सदा यज्ञ, याग आदि धर्म कार्य ही किया करते थे। माया, वीर्य और बल से उन्मत्त राक्षसों ने उनके यज्ञ को सर्वथा विध्वस्त कर डाला। जब वे अविघ्नपूर्वक यज्ञ समाप्त करने में समर्थ नहीं हुए तब यज्ञ की रक्षा के लिए उनको राजा के पास जानेकी इच्छा हुई और राक्षसों के विनाश के लिए कटिबद्ध महातेजस्वी महर्षि विश्वामित्र अयोध्या नगरी में पहुँचे। वहाँ पहुँचकर राजा के दर्शन पाने की इच्छा से उन्होंने

द्वारपालों से कहा : महाराज से शीघ्र जाकर कहो कि गाधिपुत्र विश्वामित्र आये हुए हैं ॥१-७॥ उनके वचन सुनकर द्वारपाल राजमहल में गये। पूर्वोक्त वाक्य से प्रेरित द्वारपालों ने विलम्ब होने पर कहीं महर्षि शाप न दे डालें, इस भय से शीघ्र सभागृह में जाकर विश्वामित्रजी के आने का समाचार प्रधान यष्टिधारी से कहा। उसने त्वरा से सभामण्डप में राजाओं के मध्य में विराजमान महाराज को श्रीविश्वामित्रजी के आने का समाचार कह सुनाया ॥८,९॥ महाराज, ड्योढ़ी पर प्रातःकाल के सूर्य के समान तेजस्वी, बड़े प्रभावशाली अग्नि की ज्वाला के तुल्य जटाजूट से सुशोभित, एक तपस्वी पुरुष खड़े हैं, जिन्होंने अपने तेज से उस प्रदेश को- ऊपर दैदीप्यमान पताका तक और आसपास हाथी, घोड़े, पुरुष और आयुधों तक को-सुवर्णमय बना दिया है। महर्षि विश्वामित्रजी आये हैं। – ऐसा विनम्र वाणी से महाराज से कह रहे प्रधान यष्टिधारी के देखते ही उसके वचन सुनकर मन्त्रियों और सामन्तों के साथ महाराज सुवर्ण के सिंहासन से उठ खड़े हुए ॥१०-१४॥ अनेक राजाओं द्वारा परिवृत्त वसिष्ठ और वामदेवजी के साथ महाराज पैदल ही जहाँ पर विश्वामित्रजी थे, वहाँ को चल दिये। उन्होंने ड्योढ़ी पर खड़े हुए मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजी के दर्शन किये ॥१५॥ विश्वामित्रजी ब्रह्मवर्चस् से और क्षात्र तेज से सुसंपन्न थे। उनके दर्शन से ज्ञात होता था कि किसी निमित्त से मानों सूर्यदेव ही पृथिवी पर आ गये हों। बुढ़ापे के कारण सफेद और अधिक तप करने से रूक्ष जटाओं से उनके कन्धे ढके थे। अतएव वे सन्ध्याकाल के अरुण प्रभा से रंजित सफेद मेघ से आच्छादित पर्वत के समान प्रतीत होते थे। उनका शरीर सौम्य, सुन्दर, दैदीप्यमान (अधिक तेजस्वी होने के कारण जिस पर दृष्टि सहसा नहीं ठहर सकती), प्रभावशाली, विनय से सम्पन्न, हृष्टपुष्ट हाथ, पैर आदि अवयवों से युक्त और कान्तिमान् था। उनके तेज से नेत्र और मन प्रसन्न होते थे, उससे भय का भी संचार होता था, वह प्रसाद गुण से युक्त था, अधिक होने के कारण शरीर से छलक रहा था और गम्भीर तथा अपरिच्छिन्न था। उक्त प्रसन्न-गम्भीर तेज से ऋषि की कान्ति अनुरंजित थी। उनके हाथ में चिरकाल से परिगृहित एक सुन्दर और चिकना कमण्डलु था। उनका चित्त स्निग्ध और प्रसन्न था। उनका हृदय दया से परिपूर्ण था, इसलिए भाषण आदि भी सुमधुर था और प्रसन्न दृष्टिपात अमृततुल्य था। वे जिधर दृष्टि डालते थे, उस तरफ के लोगों को मानों अमृत के रस से सींचते थे। उनके कन्धे में अवस्था के अनुरूप यज्ञोपवीत थे। उनकी भौंहें सफेद और ऊँची थीं। दर्शकों के हृदय में अत्यन्त आश्चर्य का संचार कर रहे मुनिवर को देखकर राजा ने दूर से ही नम्र होकर उन्हें प्रणाम किया। नमने से राजा के मुकुट से मणियाँ पृथिवी पर बिखर गई। जैसे सूर्य इन्द्र का प्रत्यभिवादन करते हैं, वैसे ही विश्वामित्रजी ने भी मधुर और उदार वाणी द्वारा आशीर्वाद देकर राजा का प्रत्यभिवादन किया ॥१६-२५॥ तदनन्तर वसिष्ठ आदि सभी ब्राह्मणों ने स्वागत आदि के क्रम से आदरपूर्वक उनकी पूजा की ॥२६॥ महाराज दशरथ ने कहा : भगवन्, जैसे सूर्य अपने तेजोमय दर्शन द्वारा कमल के तालाबों पर अनुग्रह करते हैं, वैसे ही अनायास प्राप्त आपके अद्भूत तेजोमय दर्शनों से हम लोग अत्यन्त अनुगृहीत हुए हैं ॥२७॥ महर्षे, जो अनादि (कारणरहित), क्षय रहित और अविनाशी परम पुरुषार्थरूप सुख है, आपके दर्शनों से वह सुख मुझे प्राप्त हुआ है ॥२८॥ निस्सन्देह आज हमने पुण्य से धन्य पुरुषों के आगे स्थान प्राप्त कर लिया है, क्योंकि हम लोगों के उद्देश्य से आपका शुभागमन हुआ है ॥२९॥ यों महाराज दशरथ के समान ही कह

रहे महर्षि और अन्य राजा सभाभवन में आकर आसनों पर बैठ गये ॥३०॥ महर्षि के शुभागमन से प्रसन्नवदन महाराज दशरथ ने महर्षि की तपस्यासम्पत्ति (विपुल तप) से भयभीत होकर दूसरे के द्वारा अर्घ्य के लिए जल मंगाने में भी अपराध की सम्भावना देखकर स्वयं जल लाकर उन्हें अर्घ्य दिया ॥३१॥ महर्षि विश्वामित्र ने राजा के अर्घ्य को स्वीकार कर शास्त्र में वर्णित विधि से प्रदक्षिणा कर रहे राजा की भूरि भूरि प्रशंसा की ॥३२॥ राजा दशरथ द्वारा पूजित विश्वामित्र बड़े प्रसन्न हुए। उनका मुखकमल खिल उठा। उन्होंने राजा से उनकी तथा राज्य के विभिन्न अंगो की कुशल पूछी और पूछा : आपका राजकोष तो परिपूर्ण है ? ॥३३॥

तदन्तर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजी ने प्रसन्नतापूर्वक महर्षि वसिष्ठजी से मिलकर वसिष्ठजी की पूजा की और उनसे यथायोग्य उनके शिष्य, आश्रम के मृग, पक्षी आदि की कुशल पूछी ॥३४॥ क्षण भर के लिए परस्पर मिलकर और यथायोग्य पूजा–सत्कार कर सभीको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे राजमहल में अपने अपने आसनों पर बैठ गये। आमने सामने बैठने से उनका तेज परस्पर बढ़ गया। वे सब आपस में एक दूसरे से कुशल प्रश्न करने लगे। महामति विश्वामित्रजी के आसन पर बैठने के उपरान्त महाराज दशरथ ने उनके चरण पखारे, उन्हें दूसरी बार अर्घ्य दिया, गाय दी एवं चन्दन, पुष्प, वस्त्र अलंकार, दक्षिणा, फल और ताम्बूल से उनकी पुनः–पुनः पूजा की ॥३५–३७॥ विधिपूर्वक पूजकर प्रसन्नचित्त पुण्यात्मा राजा ने हाथ जोड़ कर विश्वामित्रजी से ये वाक्य कहे : भगवन्, मरणधर्मा जीव को अमृत लाभ से जैसा सुख होता है, दीर्घकाल की अनावृष्टि के अनन्तर वृष्टि के लाभ से किसान को जैसा आनन्द होता है एवं अन्धे को नयनप्राप्ति से जैसा हर्ष होता है हमारे लिए आपका शुभागमन वैसा ही, उससे भी बढ़कर आनन्दप्रद है। पुत्रविहीन व्यक्ति को धर्मपत्नी से पुत्रोत्पत्ति होने पर जैसा आह्लाद होता है, दरिद्र पुरुष को स्वप्न में दृष्ट धन का लाभ होने पर जैसा आनन्द होता है, वैसे ही आपका आगमन हमारे लिए सुखकारक है। मनुष्य चिरकाल से इच्छित मणि, मन्त्र, अभ्युदय आदि की प्राप्ति, प्रियतम भाई, पुत्र आदि के समागम और खोई गई वस्तु के लाभ से जैसे अनिर्वचनीय आह्लाद का अनुभव करते हैं, वैसे ही आपके आगमन से हमें आह्लाद हो रहा है ॥३८–४१॥

ब्रह्मन्, स्थलचर मनुष्य आदिको आकाश में उड़ने से जैसा आनन्द होता है, और मृत पुरुष के पुनः वापिस आ जाने से उसके बान्धवों को जैसा आनन्द होता है वैसे ही आपके आगमन से हमें आनन्द हो रहा है, आपका स्वागत हो ॥४२॥ मुनिवर, ब्रह्मलोक में रहना किसको प्रीतिकर न होगा ? वैसे ही प्रीतिकर आपका आगमन है अर्थात् जैसे ब्रह्मलोक में निवास करने की सबको स्पृहा रहती है, वैसे ही आपके आगमन की सभी को स्पृहा रहती है, मैं यह निश्छल सत्य आपसे कहता हूँ॥४३॥ भगवन्, आप परम धार्मिक हैं, आपकी क्या अभिलाषा है ? मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ब्रह्मन् आप सत्पात्र हैं मेरे भाग्य से यहाँ आये हैं। भगवन्, आप पहले राजर्षि शब्द से अभिहित होते थे, इस समय तपस्या से ब्रह्मर्षित्व को प्राप्त हुए परमवर्चस्वी आप मेरे परम पूज्य हैं ॥४४,४५॥ जैसे गंगाजल के स्नान से मुझे प्रसन्नता होती है, वैसे ही आपके दर्शन से प्रसन्नता हुई है। उक्त प्रसन्नता मेरे हृदय को शीतल कर रही है ॥४६॥ भगवन्, आपको न किसी वस्तु की अभिलाषा है, न किसी से भय है और न क्रोध ही है। आपमें राग (विषय–वासना) भी नहीं है। आधि–व्याधि आदि विपत्तियाँ भी नहीं है, फिर भी आप मेरे

पास आये हैं, यह बड़ी आश्चर्य की बात है ॥४७॥ हे तत्त्वज्ञशिरोमणे, आपके शुभागमन से मैं निष्पाप हो गया हूँ। अपने को पुण्यक्षेत्र में स्थित समझ रहा हूँ अर्थात् आपके आगमन से मेरा गृह भी पवित्र हो गया है। अधिक क्या कहूँ, मैं अपने को अमृतमय चन्द्रमण्डल में निमग्न समझ रहा हूँ॥४८॥ मुने, मुझे प्रतीत हो रहा है कि आपका शुभागमन साक्षात् ब्रह्म का शुभागमन है। आपके आगमन से उत्पन्न पुण्य से मैं पवित्र हुआ हूँ, यश और अभ्युदय से अनुगृहित हूँ। आज आपके आगमन से उत्पन्न पुण्य से अनुरंजित मेरा जन्म सफल हो गया है और मेरा जीवन सार्थक हो गया है ॥४९,५०॥ यहाँ आये हुए आपके दर्शन कर, पूजा कर और प्रणाम कर, जैसे चन्द्रमा को देखकर समुद्र अपने में नहीं समाता, तटसीमा को लाँघकर उछल पड़ता है, वैसे ही मैं भी अपने में फूला नहीं समा रहा हूँ ॥५१॥ मुनिवर, आपका जो कार्य हो, जिस प्रयोजन से आप आये हैं, उसे आप किया ही समझिए, क्योंकि आप सर्वदा मेरे माननीय है ॥५२॥ गाधिनन्दन, अपने कार्य के विषय में आप विचार न कीजिए। भगवन्, पात्रभूत आपके लिए मुझे कुछ भी अदेय नहीं है। मेरा कार्य सिद्ध होगा या नहीं, इसका विचार आप मत कीजिए। मैं आपका कार्य सम्पूर्णरूप से धर्मतः करूँगा। आप मेरे परम देव है ॥५३,५४॥ आत्मवित् महाराज दशरथ द्वारा विनयपूर्वक कहे गये श्रुतिमधुर सुमिष्ट वचनों को सुनकर प्रख्यातकीर्ति और विख्यात गुणवाले मुनिपुंगव विश्वामित्र परम प्रसन्नता को प्राप्त हुए ॥५५॥

छठवाँ सर्ग समाप्त

सातवाँ सर्ग

राजा की प्रशंसा कर श्रीविश्वामित्रजी का अपने आगमन का प्रयोजन कहना तथा राक्षसों के विनाश के लिए श्रीरामचन्द्रजी को माँगना।

वाल्मीकिजी ने कहा : भरद्वाज, महाराज के आश्चर्यपूर्ण उक्त विस्तृत वाक्य को सुनकर महामुनि विश्वामित्रजी के शरीर में रोमांच छा गये। उन्होंने पुलकित होकर राजा से कहा : महाराज, भूलोक में ऐसा वाक्य आपके ही योग्य है, क्योंकि आप महावंश में उत्पन्न हुए हैं और गुरु वसिष्ठजी के आज्ञाकारी हैं ॥१,२॥ महाराज, मैं जो कहना चाहता हूँ, उसके विषय में आप कर्तव्य का निश्चय कीजिए और धर्म का परिपालन कीजिए ॥३॥ पुरुषश्रेष्ठ, मैं सिद्धिलाभ के लिए यज्ञ आरम्भ करता हूँ। भीषण राक्षस मेरे यज्ञ में विघ्न करने के लिए आ जाते हैं ॥४॥ जब-जब मैं यज्ञ द्वारा देवताओं का भजन पूजन करता हूँ तब तब राक्षस मेरे यज्ञ को छिन्न भिन्न कर देते हैं। मेरे बहुत बार यज्ञ आरम्भ करने पर राक्षस नायकों ने यज्ञभूमि को मांस और रक्त से पाट दिया। मेरे यज्ञों के यों विघ्नों द्वारा छिन्न भिन्न होने पर मेरा उत्साह जाता रहा। इस बार फिर मैंने यज्ञ का आरम्भ किया है, उसके प्रतीकार के लिए आपके पास आया हूँ॥५-७॥ राजन्, क्रोध करके अर्थात् शापदान द्वारा उसका प्रतीकार करने की मेरी इच्छा नहीं होती, कारण कि क्रोधरहित होकर ही यज्ञानुष्ठान किया जाता है और क्रुद्ध हुए बिना शाप देना नहीं बनता ॥८॥ राजन्, उक्त महायज्ञ समारम्भ में ऐसी मेरी यज्ञदीक्षा है। आपके अनुग्रह से निर्विघ्न यज्ञ समाप्त कर महाफल प्राप्त करूँगा, ऐसी आशा से मैं आपके समीप आया हूँ। राजन्, मैं अत्यन्त आर्त (दुःखी) और शरणार्थी हूँ, आप मेरी रक्षा कीजिए। प्रार्थियों को निराश करना सज्जनों का तिरस्कार है अर्थात् तिरस्कार

के समान ग्लानिकर है।।९,१०।। राजन् आपके पुत्र श्रीरामचन्द्रजी मत्तसिंह के समान पराक्रमशाली अत्यन्त शोभासम्पन्न, महेन्द्र के समान शौर्य सम्पन्न और राक्षसों के विनाश में दक्ष हैं। अमोघ पराक्रमवाले काकपक्षधारी शूर–वीर अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्रजी को आप मुझे दीजिए। मैं अपने दिव्य तेज से इनकी रक्षा करूँगा। यों मेरे तेज से सुरक्षित वे यज्ञ के विघ्वंसक राक्षसों के शिर काटने के लिए समर्थ हैं।।१२,१३।। मैं भी निःसीम प्रभाव से युक्त और विविध अस्त्र, शस्त्र और विद्या देकर श्रीरामचन्द्र का कल्याण करूँगा। जिससे वे तीनों लोकों में पूज्य हो जायेंगे ।।१४।। जैसे क्रुद्ध सिंह को देखकर मृग वन में पैदा हुए इरिण की (तृणविशेष की) ओट में खड़े नहीं हो सकते, वैसे ही वे राक्षस श्रीराम के सामने खड़े नहीं हो सकते ।।१५।। जैसे क्रुद्ध सिंह के सिवा दूसरा कोई जीव मत्त हाथियों से नहीं लड़ सकता, वैसे ही श्रीरामजी के सिवा दूसरा पुरुष उनसे नहीं लड़ सकता। एक तो राक्षस ही बल से गर्वित, अत्यन्त पापी, युद्ध में कालकूटसे भी अधिक तीव्र, कुपित यम के समान अति दारुण हैं, उस पर फिर वे हैं खर दूषण के सेवक ।।१६,१७।। महाराज, जैसे मेघ की मुसलाधार वृष्टि को धूलि कण नहीं सह सकते, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी की बाणवृष्टि को राक्षस नहीं सह सकेंगे ।।१८।। महाराज, आप यह मेरा पुत्र है ऐसा प्राकृत स्नेह न कीजिए, क्योंकि संसार में महात्मा पुरुषों के लिए कोई वस्तु अदेय नहीं है। महाराज, तपोबल से निस्सन्देह जानता हूँ और आप भी मेरे वचन से जानिये कि विघ्नकारी सम्पूर्ण राक्षस मरे हुए ही हैं, क्योंकि मेरे सदृश महामति पुरुषों की संदिग्ध विषय में प्रवृत्ति ही नहीं होती ।।१९,२०।। मैं जानता हूँ, महातेजस्वी वसिष्ठजी जानते हैं और अन्यान्य महात्मा भी जानते हैं कि कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी महात्मा (जीवोपाधि से अपरिच्छिन्न आत्मा ईश्वर) हैं, सामान्य पुरुष नहीं हैं।।२१।। यदि धर्म, महत्ता और यश की रक्षा करनी चाहिए, ऐसी आपकी वासना हो, तो मेरे इच्छित की सिद्धि के लिए श्रीरामचन्द्रजी को मुझे दीजिए। रामचन्द्रजी जिस यज्ञ में मेरे यज्ञ के विघ्वंसक और सर्वविघ्नकारी राक्षसों को मारेंगे, मेरा यह यज्ञ दस दिन में पूरा होगा ।।२२,२३।। अतएव हे महाराज, इस विषय में आपके वशिष्ठ आदि मन्त्री अनुमति प्रदान करें। उनकी अनुज्ञा से आप रामचन्द्रजी को मेरे साथ भेजिए ।।२४।। हे राघव, आप अवसरज्ञ हैं, जैसे मेरा यह यज्ञ का अवसर बीत न जाय वैसा कीजिए आपका कल्याण होगा, आप मन में शोक को जगह न दीजिए।।२५।। समय पर थोड़ा भी कार्य किया जाय, तो वह बहुत उपकारक होता है। असमय में बहुत भी उपकार किया जाय, तो वह निष्फल जाता है ।।२६।। धर्मात्मा महातेजस्वी मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजी यों धर्म–अर्थ से युक्त वाक्य कहकर चुप हो गये ।।२७।। महानुभाव राजा दशरथ महर्षि के उक्त वचन सुनकर युक्तियुक्त उत्तर देने के लिए कुछ काल तक चुपचाप बैठे रहे, क्योंकि जिसका मनोरथ पूर्ण न किया जाय ऐसा धीमान् पुरुष युक्तियुक्त कथन के बिना संतोष को प्राप्त नहीं होता ।।२८।।

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

राजा का श्रीरामचन्द्रजी में अधिक स्नेह होने के कारण उनमें युद्ध की अयोग्यता का वर्णन तथा रावण आदि के बल को जानकर राजा के विषाद का वर्णन।

वाल्मीकिजी ने कहा : भरद्वाज, राजश्रेष्ठ दशरथ विश्वामित्रजी के उक्त वचन सुनकर एक क्षण के

लिए चित्रलिखित की नाईं निश्चेष्ट हो गये और तदनन्तर दीन वचन कहने लगे ॥१॥ मुनिवर, कमलनयन श्रीराम अभी पूरे सोलह वर्ष का भी नहीं हुआ। मैं इसमें राक्षसों के साथ युद्ध करने की योग्यता नहीं देखता हूँ ॥२॥ प्रभो, यह मेरी पूर्ण एक अक्षौहिणी सेना है, जिसका मैं अधीश्वर हूँ। उसको लेकर मैं ही राक्षसों के साथ युद्ध करूँगा ॥३॥ ये सभी सैनिक शूर, वीर, पराक्रमशाली और परामर्श देने में दक्ष हैं। मैं समरभूमि में धनुष, बाण लेकर समस्त सैनिकों की रक्षा करूँगा। जैसे सिंह मत्त हाथियों के साथ युद्ध करता है, वैसे ही इन शूर-वीर सैनिकों के साथ मैं महेन्द्र से बलिष्ट वीरों से भी युद्ध कर सकता हूँ ॥४,५॥ श्रीराम बालक है, युद्ध से नितान्त अनभिज्ञ है और सेना का बलाबल नहीं जानता। इसने अन्तःपुर में क्रीड़ा के लिए कल्पित संग्राम छोड़कर अन्य रणभूमि नहीं देखी है। न यह उत्तम शस्त्रों से युक्त है, न उत्तम अस्त्रों से युक्त है और न युद्धविद्या में निपुण ही है। समरभूमि में असंख्य शूर-वीरों से कैसे युद्ध करना चाहिए, यह भी इसे ज्ञात नहीं है, युद्धनिपुणता तो दूर रही। केवल यह राजकुमारों के साथ पुष्पों से सुशोभित नगरोपवनों में, उद्यान के कुंजों में परिभ्रमण करना तथा भाँति-भाँति के पुष्पों से व्याप्त अपने महल के आँगन में क्रीड़ा करना जानता है। आजकल तो मेरे दुर्भाग्य से हिमसे कमल के समान कमलवदन श्रीराम अत्यन्त कृश और पीला हो गया है। वह न अन्न खा सकता है, न घर में घूम-फिर सकता है। हृदयगत दुःख से व्याकुल होकर चुपचाप बैठा रहता है। मुनिश्रेष्ठ, उसके कारण मैं, मेरी रानियाँ, मेरे सेवकवर्ग सबके सब शरत्काल के मेघ के समान निःसार हो गये हैं ॥६-१२॥ शरीर से इतना सुकुमार, अवस्था से बालक मेरा बच्चा है। उस पर उसे मानसिक पीड़ा ने जकड़ रखा है। ऐसी परिस्थिति में उसे मैं निशाचरों के साथ लड़ने के लिए आपको कैसे दूँ ॥१३॥

यदि कहें कि आप तो धर्मलिप्सु हैं, आपको धर्मविरोधी पुत्रस्नेह से क्या प्रयोजन है ? इस पर कहते हैं।

मुनीश्वर, बालांगना के अंग का संग, सुधारस का सेवन, राज्य का आधिपत्य आदि जितने प्रकार के सुख हैं, उन सबकी अपेक्षा मैं पुत्रस्नेहजनित सुख को अधिक महत्त्व देता हूँ अर्थात् पूर्वोक्त सुख धर्म के फल हैं, पर वे पुत्रस्नेहजनित सुख से बढ़कर नहीं हैं। तीनों लोकों में धार्मिकक लोग भी दीर्घकाल में सिद्ध होनेवाले परिश्रमसाध्य क्लेशकारी तपस्या आदि महारम्भों को पुत्रस्नेह से ही निःसन्देह करते हैं ॥१४,१५॥ मुनिश्रेष्ठ, मनुष्य प्राण, धन-सम्पत्ति और स्त्रियों को छोड़ सकते हैं, मगर पुत्र को नहीं छोड़ सकते, यह प्राणियों का स्वभाव है ॥१६॥ राक्षस बड़े क्रूर कार्य करनेवाले और कूट युद्ध में दक्ष हैं। श्रीरामचन्द्र उनके साथ युद्ध करें, यह कल्पना ही मेरे लिए अति असहनीय है ॥१७॥

मुनिवर, मैं जीने की इच्छा करता हूँ, लेकिन रामचन्द्र से क्षणभर के लिए भी वियुक्त होकर मैं जी नहीं सकता ॥१८॥ भगवन्, मुझे उत्पन्न हुए नौ हजार वर्षों तक पुत्र की कामना सताती रही, तदुपरान्त बड़े कष्ट से मैंने इन चार बेटों को उत्पन्न किया है ॥१९॥ इन चारों में कमलनयन राम सर्वप्रधान है, उसके बिना उसके तीन भाई भी नहीं जी सकेंगे। जिसको ले जाने से अवशिष्ट तीनों का भी मरण अवश्यम्भावी है, उस श्रीराम को आप मृत्युरूप राक्षसों के समीप ले जा रहे हैं, तो चारों पुत्रों से हीन मुझे आप मरा ही जानिये ॥२०,२१॥ चार पुत्रों में से रामचन्द्र के ऊपर ही मेरा सर्वाधिक प्रेम है, क्योंकि वह सर्वज्येष्ठ और धर्मात्मा है। इसलिए राम को आप मत ले जाइये ॥२२॥ मुने, यदि आपको राक्षसों की

सेना का संहार करने की इच्छा हो, तो मेरे साथ मेरी चतुरंगिणी सेना को ले जाइये ॥२३॥

उक्त राक्षसों में कितना बल है, वे किसके पुत्र हैं, कैसे रहते हैं, कितने हैं और उनके नाम क्या है ? यह सब स्पष्टरूप से मुझे सुनाइये।

हे ब्रह्मन्, मुझे या शिशु राम को अथवा मेरे चारों बालकों को कूटयुद्ध में विशारद उन राक्षसों का प्रतीकार कैसे करना चाहिये और उन दुरात्मा राक्षसों के साथ महारण में कैसे रहना चाहिए, यह भी मुझसे कहिये। ये राक्षस बड़े बलगर्वित हैं ॥२५,२६॥ साक्षात् कुबेर का भाई मुनि विश्रवा का पुत्र महाबलशाली रावणनामक राक्षस सुना जाता है। वह दुर्बुद्धि यदि आपके यज्ञ में विघ्न करता है, तो हम उस दुष्टात्मा के साथ युद्ध करने में समर्थ नहीं है ॥२७,२८॥ ब्रह्मन्, किसी समय किसी समुदाय में विपुल बल और सम्पत्ति से सम्पन्न पुरुष भूतों में उदय को प्राप्त होते हैं और काल पाकर विनाश को प्राप्त होते हैं ॥२९॥ इस समय तो हम लोग रावण आदि शत्रुओं के सामने खड़े होने में सर्वथा असमर्थ हैं, यह ईश्वरीय नियम ही है ॥३०॥ इसलिए हे धर्मज्ञ, अनुकम्पनीय मेरे पुत्र पर अनुग्रह किजिये और प्रार्थी के मनोरथ को पूर्ण न कर सकने के कारण अल्प भाग्यवाले मुझपर भी अनुग्रह कीजिये। आप हमारे परम देव हैं ॥३१॥

आपको ऐसा अधैर्य कैसे हुआ ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

देवता, दैत्य, गन्धर्व, यक्ष, पक्षी, नाग ये सब रावण से लड़ने के लिए असमर्थ हैं, मनुष्यों की तो बात ही क्या है ? रावण बड़े बलशालियों के बल को भी युद्ध में हर लेता है, उसके साथ संग्राम में लड़ने के लिए हम समर्थ नहीं हैं। उसके पुत्र इन्द्रजित् आदि के साथ भी हम नहीं लड़ सकते अथवा ऐसे बलशाली रावण का मेरे बच्चे क्या कर सकेंगे ?॥३२,३३॥ जिस समय मान्धाता आदि राजाओं ने जन्म लिया था, यह काल वैसा नहीं है। इस समय में सज्जन ही निर्बल हैं। इस समय यह रघुवंशीय बालक (मैं) बुढ़ापे से शिथिल हो गया है अथवा श्रीरामचन्द्र बूढ़ों की भाँति शिथिल है ॥३४॥ अथवा यदि आपके यज्ञ में विघ्न करनेवाला असुरश्रेष्ठ मधुपुत्र लवण है, तो भी मैं अपने बेटे को नहीं जाने दूँगा ॥३५॥ अथवा यदि यम के सदृश सुन्द और उपसुन्द के पुत्र (मारीच और सुबाहु) आपके यज्ञ के विध्वंसक हैं, तो भी मैं अपने पुत्र को आपके साथ नहीं भेजूँगा ॥३६॥

तुम्हारे न देने पर भी तपोबल से श्रीराम को अवश्य ही ले जाऊँगा, ऐसा यदि विश्वामित्र कहें, तो इस पर कहते हैं।

ब्रह्मन्, यदि श्रीराम को जबर्दस्ती ले जाओगे, तो उस कल्प में आपसे मैं ही मारा जाऊँगा, मरे बिना मैं अपनी निश्चित विजय नहीं देखता हूँ॥३७॥ इत्यादि मधुर वचन कहकर, महाराज दशरथ मुनि के अभिमत (रामचन्द्रजी को भेजने) के विषय में और राक्षसवध के विषय में क्रमशः श्रीराम को भेजना चाहिए अथवा नहीं और राक्षसों का वध हो सकेगा या नहीं इत्यादि सन्देहरूप सागर की बड़ी तरंगों में निमग्न हो क्षणभर के लिए भी निश्चय नहीं कर सके। अतएव उस समय उनकी दशा उन्नत तरंगों से युक्त सागर में डूब रहे पुरुष की सी हो रही थी ॥३८॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नौवाँ सर्ग

राजा के निषेध करने पर श्रीविश्वामित्रजी का क्रुद्ध होना और श्रीवसिष्ठजी का श्रीविश्वामित्रजी के तपोबल और अस्त्र-बल के कथन द्वारा धीरे-धीरे राजा दशरथ को समझाना।

वाल्मीकि ने कहा : हे भरद्वाज, अपने प्रिय पुत्र रामचन्द्रजी में अधिक स्नेह होने के कारण जिन वचनों को कहते समय दशरथ के नेत्र आँसुओं से भर गये थे, उनके ऐसे बचनों को सुनने के बाद क्रोधित होकर विश्वामित्र ने राजा से निम्ननिर्दिष्ट वाक्य कहा : मैं आपके आदेश का अवश्य पालन करूँगा' इस प्रकार पहले प्रतिज्ञा कर उसको छोड़ना चाहते हो, इसका मतलब यह होता है कि आप सिंह होकर मानों अब मृग बनने की इच्छा कर रहे हो ॥१,२॥ राघवों के कुल की यह मर्यादा नहीं है अर्थात् इस प्रकार की झूठी प्रतिज्ञा करना या मिथ्या बोलना रघुवंशियों के लिए अनुचित (निन्दनीय) है। क्या शीतांशु चन्द्रमा की कभी उष्ण किरणें होती है ? हे राजन्, अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति करने में अपने को यदि असमर्थ पा रहे हो, तो मैं जैसे आया था वैसे ही वापस जाऊँगा। अपनी प्रतिज्ञा से च्युत होनेवाले हे दशरथ, तुम्हारा, अपने आत्मीयों के साथ, कल्याण हो ॥३,४॥ वाल्मीकि ने कहा : उस महान् तपस्वी विश्वामित्र के क्रोधित होने पर सारी पृथ्वी काँपने लगी। सम्पूर्ण देवताओं को भय होने लगा ॥५॥

(पृथिवी अपने मन में यह सोचकर भय के मारे काँपने लगी कि दशरथ मेरे स्वामी हैं, उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा का पालन न कर विश्वामित्र का बड़ा भारी अपराध किया है और अपराधी दशरथ को मैंने धारण किया है, अतः इस प्रकार के सम्बन्ध का विचार कर, मुझे भी अपनी अपराधिनी समझ कर कदाचित् शाप न दें। देवताओं को इस विचार से भय हुआ कि विश्वामित्र क्रोध में आकर अपने तप के प्रभाव से दूसरे रामचंद्र को उत्पन्न कर रावणवध के लिए उसीको यदि प्रेरित कर देंगे, तो बड़ा भारी अनर्थ होगा, क्योंकि नवीन रामचन्द्र के साथ हम लोगों का कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः अन्त में वह हमारे ऊपर भी आक्रमण कर सकता है।)

जगत् के मित्र महामुनि विश्वामित्र को क्रोध से अभिभूत याने क्रोधपूर्ण देखकर धैर्य आदि गुणों से सम्पन्न, उत्तम व्रतों का अनुष्ठान करनेवाले बुद्धिमान् महर्षि वसिष्ठ निम्ननिर्दिष्ट वाक्य बोले ॥६॥ वसिष्ठजी ने कहा : हे राजन्, तुम इक्ष्वाकु वंश में साक्षात् दूसरे धर्म के सदृश उत्पन्न हुए हो। अनेक प्रकार की लक्ष्मी से सम्पन्न हो, तीनों लोकों में सज्जनों के जो उत्तमोत्तम गुण हैं उनसे परिपूर्ण हो, धीर और प्रतिज्ञापालन आदि अच्छे व्रतों का अनुष्ठान करते हो, इसलिए तुम्हें धर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि स्वर्ग, मृत्यु और पाताल-इन तीनों लोको में तुम अपने धर्माचरण से और यश से विख्यात हो ॥७,८॥ तुम्हारे कुल में उत्पन्न हुए पहले के राजाओं ने प्रतिज्ञापालन आदि धर्मों का कितनी दृढ़ता के साथ परिपालन किया था, उसे स्मरण करो और तीनों लोकों में अभीष्ट प्राप्त करने में समर्थ महर्षि विश्वामित्र के वाक्य का आदरपूर्वक पालन करो। 'आपकी आज्ञा का पालन करूँगा' यों प्रतिज्ञा करके उससे अपना मुँह मोड़ लोगे, तो तुम्हारे सम्पूर्ण इष्ट, पूर्त (बावली, कूप, तालाब आदि) आदि धर्म नष्ट हो जायेंगे, इसलिए महामुनि विश्वामित्र के साथ श्रीरामचन्द्र को भेजो ॥९,१०॥

लोक में यह प्रसिद्ध है कि जैसे राजा भले-बुरे आचरण करते हैं, वैसे ही उनकी प्रजा भी आचरण

करती है, इसलिए अपनी प्रजा को अच्छी शिक्षा देने के लिए तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। यों महर्षि वसिष्ठ दशरथ को उपदेश देते हैं।

इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न होकर और स्वयं दशरथ जैसे राजा होकर भी यदि तुम अपने वचनों का पालन नहीं करते हो तो भला बतलाओ कि इस संसार में दूसरा कौन प्रतिज्ञा का पालन करेगा ? ॥११॥ तुम्हारे जैसे विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा चलाये गये व्यवहार से (नियम से) साधारण अज्ञानी भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते, अतः अपनी प्रतिज्ञा का पालन न करना तुम्हारे लिए अत्यन्त अनुचित है ॥१२॥ इन्द्र के साथ में रक्खा हुआ अमृत अग्नि द्वारा चारों ओर रक्षित होने के कारण जैसे उसकी राक्षस लोग कुछ भी हानि नहीं कर सकते, वैसे ही पुरुषों में सिंह के समान अर्थात् पुरुषों में श्रेष्ठ श्रीविश्वामित्र द्वारा रक्षित होने पर, फिर चाहे अस्त्रविद्या में निपुण हों, चाहे न हो, श्रीरामचन्द्रजी को राक्षस लोग कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकेंगे ॥१३॥

राजा के प्रति स्वयं कथित अर्थ की पुष्टि करने के लिए विश्वामित्र के लोकोत्तर प्रभाव का महर्षि वसिष्ठ वर्णन करते हैं।

ये विश्वामित्र मुनि मूर्तिमान् साक्षात् धर्म, बड़े बड़े शक्तिशालियों में सबसे अधिक शक्तिशाली, संसार में सबसे अधिक बुद्धिमान् और तप के सर्वोच्च गृह हैं ॥१४॥ चराचर तीनों लोकों में यह प्रसिद्धि है कि विविध अस्त्रविद्या में ये इतने निपुण हैं कि इस समय इनकी बराबरी करनेवाला दूसरा कोई नहीं है और न भविष्य में भी कोई होगा। महर्षि विश्वामित्र की समानता न सम्पूर्ण देवता कर सकते हैं, न अन्य ऋषि कर सकते हैं और न असुर, राक्षस, नाग, यक्ष और गन्धर्व ही कर सकते हैं ॥१५,१६॥ विश्वामित्र जब राज्य करते थे, तब उनकी उग्र तपश्चर्या से सन्तुष्ट होकर रुद्र ने कृशाश्व द्वारा प्रसूत अस्त्र उन्हें दिये। प्रजापति के पुत्र रुद्र के समान संहार करने में वीर, दीप्तिमान् और शत्रुओं का निर्दलन करने में समर्थ वे कृशाश्व द्वारा प्रसूत अस्त्र (अस्त्ररूपी देव) विश्वामित्र को प्राप्त होकर अनुचर के समान उनकी सेवा करते हैं ॥१७,१८॥

उनमें प्रधान अस्त्रों को कहते हैं।

दक्ष प्रजापति की जया और सुप्रभा नामकी दो अत्यन्त सुन्दर कन्याएँ थीं। उनके गर्भ से बड़े पराक्रमी और शत्रुओं द्वारा दुर्जय सौ पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें जया ने पतिसेवा से वर पाकर देवसेना असुरों का वध करने में समर्थ हो, इसलिए यथेष्ट विहार करनेवाले पचास पुत्र अपने गर्भ से उत्पन्न किये और सुप्रभा ने शत्रुओं का दिल दहलानेवाले दुर्घर्ष और भयंकर आकारवाले अत्यन्त बली संघर्षनाम के अन्य पचास पुत्र उत्पन्न किये। राजन्, इस प्रकार के पराक्रमवाले महातेजस्वी और सारे जगत् को अपने योग के प्रभाव से हस्तामलकवत् देखनेवाले ये महानुभाव महर्षि विश्वामित्र हैं, अतः रामचन्द्रजी के इनके साथ जाने में तुम्हें मन में किसी प्रकार की व्याकुलता नहीं करनी चाहिए। क्योंकि हे साधो, महाप्रभावशाली ये मुनीन्द्र जिस पुरुष की सन्निधि में हो उसकी यदि मृत्यु भी प्राप्त हो, तो भी वह अमरभाव को प्राप्त हो जाता है, इसलिए तुम मूर्ख मनुष्य की नाईं दीन मत बनो ॥१९-२३॥

नौवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

श्रीवसिष्ठजी के समझाने पर राजा दशरथ द्वारा श्रीरामचन्द्रजी को अन्तःपुर से बुलवाने के लिए प्रतिहार को भेजना, श्रीरामचन्द्रजी को उदास देखकर प्रतिहार का वापस आना, रामचन्द्रजी की अवस्था पूछने पर अनुचर का श्रीरामचन्द्रजी की विरागावस्था कहना।

वाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, महर्षि वसिष्ठजी के यों कहने पर राजा दशरथ ने प्रसन्नमन होकर अपने पुत्र श्रीरामचन्द्रजी को लक्ष्मण के साथ बुलाने के लिए प्रतीहार से कहा ॥१॥ दशरथ ने कहा : हे प्रतीहार, अमोघ (सफल) पराक्रमवाले आजानुबाहु श्रीरामचन्द्र को महर्षि विश्वामित्र के यज्ञ की निर्विघ्न सिद्धि के लिए लक्ष्मण के साथ यहाँ शीघ्र ले आओ ॥२॥ इस प्रकार राजा दशरथ द्वारा भेजा गया द्वारपाल अन्तःपुर में स्थित श्रीरामचन्द्रजी के निवासस्थान में जाकर और मुहूर्तमात्र में वापस आकर राजा से कहने लगा : अपनी भुजाओं से शत्रुसमूह का मर्दन करनेवाले हे देव, रात्रि होने पर भ्रमर जैसे कमल में उदास होकर बैठा रहता है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी अपने निवासस्थान में अत्यन्त उदास होकर बैठे हुए हैं। थोड़ी देर में आता हूँ, ऐसा कहकर फिर किसी वस्तु का ध्यान करने लग जाते हैं, उनको इतनी ग्लानि हो गई है कि वे किसी के निकट ठहरना भी नहीं चाहते ॥३-५॥ श्रीरामचन्द्रजी के विषय में द्वारपाल द्वारा ऐसा समाचार पाकर राजा दशरथ प्रतीहार के साथ आये हुए श्रीरामचन्द्रजी के खास अनुचर से आश्वासन पूर्वक क्रमशः सब वृत्तान्त पूछने लगे : श्रीरामचन्द्रजी कैसे हैं और क्या कर रहे हैं ? यों पूछे जाने पर उस सेवक ने अत्यन्त उदास होकर राजा से ये वाक्य कहे : महाराज, आपके पुत्र श्रीरामचन्द्रजी को अत्यन्त कृश और खिन्न देखकर उनके विषय में हम लोग भी इतने दुःखी हो गये हैं कि हम लोगों का शरीर लकड़ी के समान हो गया है। अर्थात् हम लोगों का शरीर केवल अस्थिपंजर मात्र रह गया है ॥६-८॥ कमलपत्र के समान नेत्रवाले श्रीरामचन्द्रजी ब्राह्मणों के साथ जबसे तीर्थयात्रा कर घर वापस लौटे हैं, तब से वे अत्यन्त खिन्न रहते हैं। आम्लान (कुम्हलाये) शरीरवाले श्रीरामचन्द्रजी हम लोगों की बारबार प्रार्थना से अपने सन्ध्यावन्दन भोजन आदि कार्य कभी करते हैं और कभी नहीं भी करते हैं। स्नान, देवपूजन, दान, भोजन आदि में सदा उदास रहते हैं और प्रार्थना करने पर भी तृप्तिपर्यन्त भोजन नहीं करते ॥९-११॥

जैसे मेघ की धाराओं के साथ चातक खेलकूद (क्रीड़ा) करता है, वैसे आँगन में झूला झुलानेवाली अन्तःपुर की चपल अंगनाओं के साथ श्रीरामचन्द्रजी कभी क्रीड़ा भी नहीं करते। जैसे थोड़े समय में स्वर्ग से गिरनेवाले पुरुष को स्वर्गीय भोग-सामग्री आनन्द नहीं देती, वैसे ही मुकुल के सदृश आकारवाले माणिकों से जड़ित सुन्दर केयूर और कटक भी उन्हें आनन्द नहीं देते। क्रीडा करनेवाली सुन्दर रमणियों के कटाक्षरूपी बाणों के समान बहनेवाले सुगन्ध पूर्ण पुष्प की वायु से युक्त लताओं के निकुंजों में भी सदा उदासीन विषण्ण रहते हैं। जो पदार्थ उपभोग में लोक और शास्त्र से अविरुद्ध, मनोहर, स्वादिष्ट और कोमल हैं, उनसे भी अश्रुपूर्णनेत्र के समान खिन्न हो जाते हैं ॥१२-१५॥ हाव-भाव, लावण्य, विलास आदि से शोभित नृत्य करनेवाली अन्तःपुर की अंगनाओं को देखकर 'दुःखदायिनी ये सब क्या कर रही हैं' इस प्रकार उनके नृत्य आदि विलासों की ओर कटाक्ष करके श्रीरामजी उन कामिनियों की

निन्दा करते हैं। भोजन, शयन, यान (सवारी), विलास, स्नान, आसन आदि के निर्दोष होने पर भी उन्मत्त की तरह उनकी अवहेलना करते हैं। 'सम्पत्ति से, विपत्ति से, घर से और अन्यान्य व्यापारों से क्या होनेवाला है, क्योंकि ये सब असत् हैं, अधिक दिन तक रहनेवाले नहीं हैं, नश्वर हैं।' – ऐसा कह कर फिर चुप हो जाते हैं और एकाकी रहते हैं। परिहास से प्रसन्न नहीं होते, भोगों में आसक्त नहीं होते, कार्यो में सहयोग नहीं करते और किसी प्रकार के कार्यारम्भ में आस्था नहीं रखते, किन्तु मौन ही रहते हैं। जैसे चपल नेत्रवाली हरिणियाँ वृक्ष को आनन्द नहीं देती, वैसे ही जिनके केशों में पुष्प और रत्नों की मंजरियाँ लगी हैं, श्रृंगार की हाव–भाव आदि चेष्टाओं और कटाक्ष से जिनके नेत्र तिरछे हैं, ऐसी ललनाएँ उन्हें आनन्द नहीं देती ॥१६–२०॥ किसी उच्चवंशी पुरुष को, नीच जाति के पुरुषों में क्रीतदास होने पर जैसे एकान्त निर्जन प्रदेश और अरण्य आदि में रहना अच्छा लगता है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी को एकान्त में, नदी के तीर में, दिगन्त में और निर्जन अरण्य प्रदेश में रहना अच्छा लगता है ॥२१॥ राजन्, वस्त्र, पान, भोजन, दान आदि से विमुख होकर श्रीरामचन्द्रजी संन्यास धर्म से दीक्षित संन्यासी का अनुकरण कर रहे हैं अर्थात् संन्यासी जिस तरह किसी वस्तु का परिग्रह आदि नहीं करता, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी भी किसी वस्तु का परिग्रह आदि नहीं करते हैं विरक्त से रहा करते हैं ॥२२॥ महाराज, रामचन्द्रजी जनशून्य देश में एकाकी होकर रहते हैं और वहाँ मन लगाकर न हँसते हैं, न रोते हैं और न गाते हैं, किन्तु पद्मासन लगाकर और अपने बांये हाथ में कपोल रखकर किसी ऊँची वस्तु का ध्यान लगाये बैठे रहते हैं। इष्ट और अनिष्ट पदार्थों के मिलने पर न हर्ष और विषाद करते हैं, न अभिमान करते हैं और न राज्य की इच्छा ही करते हैं ॥२३–२५॥ हम लोग यह नहीं जानते कि वे कहाँ जाते हैं, क्या करते हैं, क्या चाहते हैं, किसका अनुसरण करते हैं। जैसे शरत् ऋतु की समाप्ति में वृक्ष की अवस्था होती है, वैसे ही श्रीरामचन्द्र प्रतिदिन दुबले–पतले और पीले होते चले जा रहे हैं और उत्तरोत्तर उनका वैराग्य बढ़ता ही चला जा रहा है ॥२६,२७॥

राजन्, सर्वदा श्रीरामचन्द्र का अनुसरण करनेवाले शत्रुघ्न और लक्ष्मण भी श्रीरामचन्द्रजी के समान दुर्बल हो रहे हैं, अर्थात् रामचन्द्रजी के ठीक प्रतिबिम्ब के समान हो रहे हैं ॥२८॥ नौकरों के, राजाओं के और माताओं के बार बार पूछने पर भी 'कुछ नहीं' ऐसा प्रत्युत्तर देकर और अपने अभिप्राय की सूचक चेष्टाओं को न कर चुप हो जाते हैं। ॥२९॥ अपने समीप के विवेकी मित्रों को यह उपदेश देते हैं कि इन ऊपर–ऊपर से सुन्दर दीखनेवाले क्षणिकसुखजनक विषयों से तुम अपना मन हटा लो अर्थात् क्षणिक असत् विषयों में अपना मन कभी मत लगाओ ॥३०॥ अनेक प्रकार के आभूषणों से सुन्दर, विलासस्थान में अवस्थित रमणियों को अपने सामने खड़ी देखकर उनके प्रति स्नेहरहित श्रीरामचन्द्रजी विनाश की ही धारणा करते हैं। हम लोगों ने अपनी आयु परम पद की प्राप्ति के बिना यों ही निरर्थक अनेक तरह की चेष्टाओं के द्वारा व्यतीत कर दी, इस प्रकार मधुर और स्पष्ट वाणी से श्रीरामचन्द्रजी बार बार गान करते हैं। यदि कोई समीपस्थ अनुचर उन्हें यह कहे कि आप सम्राट हो, तो उसके कथन को उन्मत्तप्रलाप की नाईं समझकर दूसरी ओर चित्त करके हँसते हैं। किसी के वाक्य को न सुनते हैं और न सामने की वस्तु को देखते हैं। गुणादि से युक्त विस्मयोत्पादक उत्तम वस्तु के प्राप्त होने पर भी उसकी अवज्ञा करते हैं ॥३१–३४॥

यदि शंका हो कि गुणादि के उत्कर्ष से विस्मययोग्य वस्तु में विस्मय करना ही उचित है, अतः उसकी अवज्ञा करना ठीक नहीं है, तो इस पर कहते हैं।

आकाशरूप महारण्य में जैसे आकाशकमलिनी असम्भव और विस्मयोत्पादक है, वैसे ही यह मन भी है, इसलिए श्रीरामचन्द्रजी को विस्मय नहीं होता है। (तात्पर्य यह है कि जिस मन में बाह्य विषय द्वारा विस्मय होता है, वह मन ही आकाशरूप महारण्य में या आकाशस्थित अरण्य में कमलिनीकी तरह स्वयं असम्भव और विस्मयजनक है। जैसे विवेकी पुरुष के मन में आकाशकमलिनी से विस्मय नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि आकाश में पहले अरण्य का होना ही असम्भव है फिर उसमें कमलिनी होगी कैसे ? वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी यह जानते हैं कि कूटस्थ असंग आत्मा में मन का संसर्ग ही असंम्भव है और उसमें विस्मयादिका होना भी असम्भव है, अतः उनको किसी बाह्य पदार्थ से विस्मय नहीं होता ॥३५॥

श्लोकस्थ दो अपि शब्द आकाशअरण्य और आकाशकमलिनी की असंभावना सूचित करने के लिए हैं।

जैसे मेघ की धाराएँ बड़े भारी पत्थर का भेदन नहीं कर सकती, वैसे ही कामदेव अनेक सुन्दर स्त्रियों के बीच में रहने पर भी श्रीरामचन्द्रजी के मन का अपने बाणों से भेदन नहीं कर सकता ॥३६॥ 'आपत्तियों के प्रधान निवासस्थानरूप धन को क्यों चाहता है ?' – ऐसी शिक्षा देकर श्रीरामचन्द्रजी अपना सम्पूर्ण धन याचकों को दे देते हैं। और यह आपत्ति है, यह सम्पत्ति है, यह सब केवल कल्पनाओं से भरा हुआ, मन से उठा हुआ भ्रम है, ऐसे श्लोकों को खूब गाते हैं। 'हा मैं मर गया और मैं अनाथ हो गया, इस प्रकार लोक क्रन्दन तो करते हैं, पर वैराग्य को प्राप्त नहीं होते, यह बड़ा आश्चर्य है।' – ऐसा ही कहते हैं ॥३७-३९॥ रघुवंशरूप महाअरण्य में शाल वृक्ष के समान, शत्रुओं का मर्दन करने में समर्थ श्रीरामचन्द्रजी की ऐसी अवस्था देखकर हम लोगों को अत्यन्त खेद हो रहा है ॥४०॥ हे महाबाहो, इस प्रकार शोक से परिपूर्ण अन्तःकरणवाले श्रीरामचन्द्रजी के विषय में हमें क्या करना चाहिए, जिससे कि उनका शोक निवृत्त हो, यह हम नहीं जानते, अतः हे कमलनयन, हम लोगों को उपाय बतलाने के लिए आप ही हमारे दिग्दर्शक हों ॥४१॥

यदि यहाँ पर यह शंका हो कि राजनीति आदि व्यवहारों को जाननेवाले बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा रामचन्द्रजी को उपदेश दिलाओ, जिससे उनका सारा मोह नष्ट हो जाय, तो इस शंका का अनुचर समाधान करता है।

प्रभो, राजनीति आदि व्यवहारों के उपदेशक राजा और अच्छे ब्राह्मण पण्डितों को अपने आगे देखकर रामचन्द्रजी अव्यग्र होकर उनकी हँसी उड़ाते हैं अर्थात् उनका किसी प्रकार का सम्मान न कर तिरस्कार करते हैं। बाह्य दृष्टियों से अनेक प्रकार का दीखनेवाला यह विस्तृत जगत् विनाशी ही है। यह अहमाकार वृत्ति से गम्य परमार्थ (परमात्मरूप) वस्तु नहीं है, किन्तु उससे भिन्न असत् वस्तु है, ऐसा निर्णय करके उसके जिज्ञासु होकर चुपचाप अवस्थित रहते हैं ॥४२,४३॥ महाराज, बाह्य जगत् में अर्थात् शत्रु, आत्मीय, मित्र, राज्य और माता आदि में सम्पत्ति या विपत्ति में रामचन्द्र किसी प्रकार की आस्था (विश्वास) नहीं करते। आस्था से, आशा से, इच्छा से और आत्मविश्रान्ति की प्राप्ति से शून्य ये रामचन्द्रजी न मूढ़

हैं और न मुक्त ही हैं, उन्हें ऐसा देखकर हम लोग बड़े दुःखी या अत्यन्त परितप्त होते हैं ॥४४–४६॥

(आशा पराधीन विषयों में होती है और स्वाधीन विषयों में आस्था होती है, यों आस्था और आशा का भेद समझना चाहिए। रामचन्द्रजी में विवेक है, अतः वे मूढ नहीं कहे जा सकते और आत्मविश्रान्ति उनमें नहीं है, अतः मुक्त नहीं कहे जा सकते, इसलिए वे न मूढ हैं और न मुक्त हैं, ऐसा इस श्लोक से कहा गया है। धर्म से क्या होगा ? माताओं से क्या होगा, इस विस्तृत राज्य से कौन प्रयोजन सिद्ध होगा, किसी झूठी वस्तु की इच्छा से क्या ? इस प्रकार का निश्चय करके प्राण त्याग करने की इच्छा कर रहे हैं अर्थात् राग आदि दोष ही जन्म और मरणरूप दुःख के कारण हैं, अतः मरने से ही मेरी मुक्ति होगी, यों निश्चय करके प्राण–त्याग करने के लिए उत्सुक हो रहे हैं, यह भाव है।)

जैसे वृष्टि का प्रतिबन्ध होने पर चातक पक्षी अत्यन्त उद्विग्न हो जाता है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी भोग, आयुष्य, राज्य, मित्र, पिता और माता के विषय में अत्यन्त उद्विग्न हो गये हैं ॥४७॥ महाराज, यों आपके पुत्र श्रीरामचन्द्रजी के ऊपर अनेक प्रकार की चिन्ता, कृशता आदि विविध शाखा–प्रशाखा के रूप से विस्तारपूर्वक आई हुई विपत्तिरूप लताका समूल उच्छेद करने में परम दयालु आप ही उद्योग करें ॥४८॥ हे प्रभो, उस प्रकार के स्वभाववाले श्रीरामचन्द्रजी को समग्र वैभवों से परिपूर्ण यह संसाररूपी जाल कृत्रिम और प्रतिकूल विष के समान प्रतीत हो रहा है ऐसे महामोह से मोहित श्रीरामचन्द्रजी को संसार–व्यवहार में प्रवृत्त कराने के लिए इस भूमण्डल में कोई भी महाशक्तिशाली नहीं है ॥४९,५०॥ जैसे भास्कर (सूर्य) अपने भास्करपनको इस पृथ्वी पर गिरनेवाले अन्धकारका नाशकर सफल बनाता है, वैसे इस भूखण्ड में ऐसा कोई भी महामना समर्थ साधु पुरुष नहीं है, जो कि रामचन्द्रजी के मन में रहनेवाले अनेकविध दुःखदायी मोहरूप अन्धकारका विनाश कर अपने साधुपनको सफल बनावे ॥५१॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

अनुचर के मुँह से श्रीरामजी की अवस्था सुनने पर विश्वामित्रजी का उनसे उदास होने का कारण पूछना।

श्रीरामचन्द्रजी का वृत्तान्त सुनकर विश्वामित्रजी ने कहा : हे महाप्राज्ञ लोगों, श्रीरामचन्द्रजी यदि सचमुच ही ऐसी अवस्था को प्राप्त हुए हैं अर्थात् विरक्त, दुःखी और मोहित हुए हैं, तो जैसे मृगों का झुण्ड अपने यूथपति को लाता है वैसे ही आप लोग भी उन्हें शीघ्र मेरे पास ले आइये ॥१॥ वैराग्य और विवेक से युक्त श्रीरामचन्द्रजी का यह मोह किन्ही आपत्तियों से अथवा रागवश नहीं है, किन्तु यह महाफलदायक बोध ही है ॥२॥ श्रीरामचन्द्रजी शीघ्र यहाँ आयें और यहीं पर जैसे वायु पर्वत में स्थित मेघ को उड़ा देता है, वैसे ही हम उनके मोह को तुरन्त दूर कर देंगे ॥३॥ उपाय द्वारा उक्त मोह के दूर कर देने पर श्रीरामचन्द्रजी हम लोगों की भाँति 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्यादि श्रुति में प्रसिद्ध परम पद अर्थात् अपनी आत्मा में विश्रान्ति को प्राप्त होंगे अर्थात् आत्माराम हो जायेंगे ॥४॥ मोह के हट जाने पर श्रीरामजी अमृत पिये हुए पुरुष की नाईं ब्रह्मरूप, परमानन्दसम्पन्न, अपरिच्छिन्नज्ञानस्वरूप, विश्रान्तिसुखसम्पन्न और सन्तापशून्य हो जायेंगे उनका शरीर हृष्ट–पुष्ट बलिष्ठ और कान्तिमान् हो जायेगा ॥५॥ माननीय श्रीरामचन्द्रजी तदनन्तर स्वस्थचित्त होकर अपने वर्ण और आश्रम के अनुरूप

सम्पूर्ण व्यवहारों को निर्बाधरूप से करेंगे ॥६॥ मनन आदि से उत्पन्न ज्ञान की दृढ़तारूप बल से युक्त श्रीरामचन्द्रजी को लोक में कार्यतत्त्व और कारणतत्त्व का ज्ञान हो जायेगा अथवा लोगों के परम पुरुषार्थ और संसार-भ्रमण का भी विवेक से ज्ञान हो जायेगा अथवा लोकात्मक विराट्, अव्याकृत और हिरण्यगर्भ – ये परमार्थतः ब्रह्म ही हैं, उससे पृथक् नहीं हैं, यह ज्ञान हो जायेगा। तदुपरान्त उन्हें सुख, दुःख आदि नहीं होंगे और सुवर्ण और मिट्टी के ढेले में कुछ भी अन्तर प्रतीत नहीं होगा ॥७॥ मुनिश्रेष्ठ श्रीविश्वामित्रजी के यों कहने पर राजा दशरथ का चित्त आह्लादित हो गया, उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी को लाने के लिए फिर अन्य दूत भेजे ॥८॥ द्वारपालों के गमन के अनन्तर श्रीरामचन्द्रजी पिताजी के निकट जाने के लिए, जैसे सूर्य पर्वत से उदित होता है वैसे ही अपने घर के आसन से उठकर थोड़े से अनुचरों और दो भाइयों (लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न) के साथ जितने समय में राजा और मुनि का संवाद हुआ उतने ही समय में इन्द्र की स्वर्गभूमि के समान रमणीय पिताजी के पवित्रतम निवासस्थान में गये ॥९,१०॥ श्रीरामचन्द्रजी ने देववृन्द से परिवृत इन्द्र के सदृश राजाओं के मण्डल के मध्य में विराजमान महाराज दशरथ के दूर से ही दर्शन किये। उनके अगल-बगल में बैठे श्रीवसिष्ठजी और विश्वामित्रजी उनसे प्रिय, हित और मधुर वार्तालाप कर रहे थे एवं चारों ओर, शास्त्रों के अर्थ का विस्तार करनेवाले नीतिज्ञ मन्त्री, मालाकार पंक्ति बाँधकर बैठे थे। यथायोग्य स्थान पर खड़ी हुई अतएव मूर्तिमती दिशाओं के सदृश, हाथ में सुन्दर चँवर ली हुईं ललनाएँ महाराज पर चँवर डुला रही थीं ॥११-१३॥ इधर वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषिवृन्द तथा महाराज दशरथ आदि राजवृन्द ने दूर से अपने निकट आ रहे साक्षात् कार्तिकेयके तुल्य रूपवान् और बलवान् श्रीरामचन्द्रजी को देखा ॥१४॥ शान्ति और विवेक के हेतु सत्त्वगुण से सम्पन्न, सकलजनसेवनीय, असीम और व्यक्त आह्लादकता से युक्त श्रीरामचन्द्रजी विविध प्राणियों से व्याप्त, कलायुक्त चन्द्र द्वारा सेवनीय, अपरिमित और स्फुट हिमसे युक्त हिमालय के तुल्य दिखाई देते थे। उनका दर्शन बड़ा प्रिय लगता था, उनके शरीर के अवयव समविभक्त थे, आकृति बड़ी भव्य थी, उनका शान्त और सर्वमनोहर शरीर पुरुषार्थलाभ के (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्ति के) नितान्त योग्य था। वे बड़े विनीत और उदार थे। यौवन का आरम्भ होने पर भी उनके शरीर में यौवनोचित चंचलता नहीं थी किन्तु वृद्धोचित शान्ति (गम्भीरता) शोभा दे रही थी, अविवेक के नष्ट होने के कारण उनमें किसी प्रकार का उद्वेग नहीं था फिर भी उन्हें परमान्द प्राप्त नहीं हुआ था। देखते ही प्रतीत होता था कि उनकी अभीष्ट प्राप्ति प्रायः सन्निहित ही है ॥१५-१७॥ उन्होंने संसार की गतिविधि का विचार कर लिया था, वे पवित्रगुणवाले लोगों के आश्रय थे और गुणों ने मानों सत्त्वगुण के लोभ से उनका आश्रय लिया हुआ था। श्रीरामजी उदारस्वभाव शिष्ट और दर्शनीय थे। वे क्षोभरहित स्थिति से सम्पूर्ण साधनसम्पत्ति होने पर भी तत्त्वज्ञानरूप परमानन्द प्राप्त न होने के कारण अपने अन्तःकरणकोटर को (मनोरथ को) अपूर्ण-सा दिखा रहे थे ॥१८,१९॥ इस प्रकार अनेक गुणों से परिपूर्ण और अत्यन्त निर्मल परिमित हार और वस्त्रों से सुशोभित श्रीरामचन्द्रजी ने दूर से ही चंचल और सुन्दर चूड़ामणि की (सिर के रत्न की) किरणों से दैदीप्यमान अतएव भूकम्प से चंचल सुमेरु के सदृश सुन्दर मस्तक से प्रणाम किया ॥२०,२१॥ जबकि विश्वामित्रजी 'रामचन्द्रजी को लाओ' यों रामचन्द्रजी के विषय में राजा से कह रहे थे, उसी समय कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी श्रीपिताजी के चरणों में प्रणाम करने के लिए

समीप में आये ॥२२॥ श्रीरामचन्द्रजी ने पहले–पहले पिताजी को प्रणाम किया। तदुपरान्त माननीय पुरुषों द्वारा भी प्रधानरूप से सम्मानित वसिष्ठ और विश्वामित्रजी को प्रणाम किया ॥२३॥ तदनन्तर ब्राह्मणों को, बन्धुओं को और अपने बड़े–बूढ़ों को प्रणाम किया। तदनन्तर राजाओं द्वारा किये गये प्रणामों को तनिक झुकाये गये मस्तक से, प्रसन्न दृष्टि से और मधुर वाणी से ग्रहण किया ॥२४॥ समचित्त और देवतुल्य दर्शनीय श्रीरामचन्द्रजी मुनियों का आशीर्वाद ग्रहणकर पिताजी की पवित्र सन्निधि में पहुँचे ॥२५॥ स्नेहमय राजा ने प्रणामशील रामचन्द्रजी का सिर सूँघकर आलिंगन किया और जैसे राजहंस कमल को चूमता है वैसे ही बार बार उनका मुँह चूमा ॥२६॥ शत्रुतापन राजा ने श्रीरामचन्द्रजी की ही नाईं लक्ष्मण और शत्रुघ्न का भी आलिंगन और चुम्बन किया ॥२७॥ आलिंगन करने के पश्चात् राजा के 'वत्स, मेरी गोद में बैठो' यह कहने पर श्रीरामचन्द्रजी भूमि पर अनुचरों द्वारा बिछाये गये वस्त्र पर बैठ गये ॥२८॥ राजा दशरथ ने कहा : पुत्र तुम विवेकसम्पन्न हो एवं विविध कल्याणों के भाजन हो, तुम अविवेकियों की नाईं शिथिल बुद्धि से अपनी आत्मा को खिन्न मत करो। वत्स, वृद्धों की, ब्राह्मणों की और गुरुजनों की आज्ञा का पालन कर रहे तुम्हारे जैसे जनों को ही पवित्र पद प्राप्त होता है, किन्तु जो लोग मोह का अनुसरण करते हैं, उन्हें वह पद नहीं मिल सकता ॥२९,३०॥ पुत्र, तभी तक आपत्तियाँ निर्बल होकर दूर रहती हैं, जब तक मोह को अवकाश नहीं दिया जाता। मोह को अवकाश मिलने पर तो वे बड़ी बलवती हो जाती हैं ॥३१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे राजपुत्र, हे महाभूज, तुम बड़े शूरवीर हो, तुमने दुःख की परम्परा के जनक और कठिनाई से नष्ट होनेवाले इन विषयरूप शत्रुओं पर विजय पा ली है ॥३२॥ ऐसे प्रभावशाली होने पर भी मूढ लोगों के योग्य विक्षेपरूप बड़ी तरंगों से महान् आवरणरूप शैत्य से युक्त मोहरूप समुद्र में अनात्मज्ञ (आत्मतत्त्व को न जाननेवाले) की भाँति क्यों निमग्न होते हो ? ॥३३॥ श्रीविश्वामित्रजी ने कहा : राजकुमार, चित्त द्वारा की गई चंचल नीलकमलों के तुल्य नेत्रोंकी चंचलताको छोड़कर कहिये कि आपके मोहका क्या कारण है ?॥३४॥ जैसे घर को चूहे खोद डालते हैं, वैसे ही जो मन की व्यथाएँ आपके चित्तको दुःखी कर रही हैं। वे किसलिए हुई हैं, कितनी हैं, और कौनसी अभिलाषा के प्राप्त होने पर शान्त होगी ?॥३५॥

मानसिक व्यथाओं के कारण जगत् में प्रसिद्ध ही हैं, उनके लिए प्रश्न क्यों करते हैं ? इस शंका पर कहते हैं।

ठीक है मन की व्यथाओं के कारण प्रसिद्ध है, पर आप उन अनुचित व्यथाओंके उचित पात्र नहीं हैं। आपन्न (आपत्तियुक्त) अथवा दरिद्र ही उनका पात्र हो सकता है। आपकी सभी आपत्तियाँ आपके पिताजी के प्रताप से ही नष्ट हैं, अतः आपके द्वारा आपत्तियों में निरसनीय कुछ है ही नहीं और फिर आपकी आपत्तियाँ तो स्वतः ही निरस्त हैं ॥३६॥ हे अनघ ! जिस पदार्थकी आपको अभिलाषा हो उसे शीघ्र कहिये, वह आपको अवश्य मिलेगा, जिसकी प्राप्ति से फिर मानसिक व्यथाएँ आपको कष्ट नहीं पहुँचायेगी ॥३७॥ श्रीरामचन्द्रजी ने महामुनि श्रीविश्वामित्रजी के उक्त वाक्य को, जिसके गर्भ में अपनी अभिलाषाओं के अनुकूल प्रकाश निहित है, सुनकर खेद त्याग दिया, जैसे कि मेघ के गर्जने पर अपने अभिमत पदार्थों की सिद्धि का अनुमान करनेवाला मयूर खेद को छोड़ देता है ॥३८॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

भोगों की दुःखरूपता, विषय आदि की असत्यता तथा सम्पत्ति की अनर्थहेतुता का वर्णन।

वाल्मीकीजी ने कहा : हे भरद्वाज, मुनीन्द्र विश्वामित्रजी के यों पूछने पर रामचन्द्रजी धैर्य धारण कर उत्तम अर्थसे परिपूर्ण सुन्दर वचन बोले ॥१॥ रामजी ने कहा : भगवन् यद्यपि मैं अज्ञानी हूँ, तथापि इस समय आपके पूछने पर सब कुछ कहूँगा, क्योंकि सत्पुरुषों के वचनों का कौन उल्लंघन कर सकता है ? ॥२॥

यों अपनी विनीत वाणी से मुनि को अपने वश में करके रामचन्द्रजी अपने वृत्तान्त के अनुवाद के बहाने से धर्मानुष्ठानजनित चित्त की शुद्धि से विवेक और वैराग्य होने पर मुझमें विचार का उदय हुआ, ऐसा कहते हैं।

मैं यहाँ अपने पिताजी के घर में उत्पन्न हुआ, क्रम से बढ़ा और विद्या भी प्राप्त की। उसके बाद हे मुनिनायक, सत् आचरणों के अनुष्ठान में तत्पर होकर तीर्थयात्रा के लिए समुद्रपर्यन्त पृथ्वी के चारों ओर विचरा ॥३,४॥ इस बीच में इस संसार पर आस्था को हरनेवाला यह विचार मेरे मन में उत्पन्न हुआ, जिसे मैं आपके सामने उपस्थित करता हूँ ॥५॥ तीर्थयात्रा करने के अनन्तर मेरा मन उक्त विवेक से पूर्ण हो गया। उससे सब विषय परिणाम में नीरस हैं, ऐसी बुद्धि हुई और उस बुद्धि से मैंने विचार किया कि यह जो संसार का प्रवाह है, यह क्या सुख का हेतु हो सकता है ? अर्थात् इस विस्तृत संसार से कभी सुख नहीं मिल सकता, क्योंकि इसमें जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे मरने के लिए ही उत्पन्न होते हैं और जो मरते हैं, वे जन्म के लिए ही मरते हैं, उनको कुछ भी सुख नहीं मिलता ॥६,७॥

(शास्त्रकारों ने भी 'मृतिबीजं भवेज्जन्म जन्म बीजं भवेन्मृतिः' यानी मरण में जन्म कारण है और जन्म में मरण कारण है, ऐसा कहा है।)

इस विषय में यदि शंका हो कि भले ही जन्म और मरण दुःखरूप हों, परन्तु उनके बीच में जीवनदशा में सुख मिलता ही है, तो इस पर कहते है।

चर और अचरों की चेष्टाओं से युक्त वैभवकाल में रहनेवाले ये जितने भोग के साधन पदार्थ हैं, ये सबके-सब अस्थिर याने क्षणिक हैं, ये आपत्तियों के ही स्वामी यानी मूल हैं और पाप के हेतु हैं पापस्वरूप हैं ॥८॥

(तात्पर्यार्थ यह है कि इस जगत् में दो प्रकार के प्राणी होते हैं एक चर यानी चलने फिरनेवाले और दूसरे अचर यानी जो चल-फिर नहीं सकते -वृक्षादि। उनमें चलने फिरनेवालों की भोग में प्रवृत्ति अपनी ही प्रवृत्ति और निवृत्ति से प्राप्त साधनों द्वारा होती है। और अचरों की भोग में प्रवृत्ति दैव (प्रारब्ध) से प्राप्त साधनों द्वारा होती है। इस भोगप्रवृत्तिरूप चेष्टा से युक्त होने पर भी स्त्रक् (पुष्पमाला), चन्दन, अन्न, पान आदि जितने विषय हैं, वे सब शाश्वत सुख नहीं दे सकते, क्योंकि वे खुद ही अस्थिर हैं, अर्थात् जिस समय उनकी प्राप्ति होगी, उस समय सुख देते हैं और जिस समय उनसे वियोग होता है, उस समय दुःख देते हैं, इसलिए उनसे एक प्रकार के सुख की आशा ही नहीं की जा सकती, अधिक क्या कहें, ये विषय आपत्तियों के स्वामी हैं अर्थात् राग-द्वेष आदि बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ उन्हीं से प्राप्त

होती हैं और शास्त्रों में जो निषिद्ध विषय हैं, वे तो स्वयं पापरूप ही हैं, अतः इन अस्थिर विषयों से सुख की अभिलाषा करना सर्वथा मूर्खता ही है।)

लोहे की शलाकाओं के समान ये विषय परस्पर एक दूसरे से मिले जुले नहीं हैं, किन्तु केवल मन की कल्पना से उनका सम्बन्ध जबर्दस्ती माना जाता है अर्थात् यह मेरे उपभोग का साधन है, इससे मैं यह काम करूँगा, इस प्रकार की मन की कल्पना से उन विषयों का परस्पर क्रिया–कारणभाव से सम्बन्ध माना जाता है, इसलिए लोगों को सुखकारकरूप से उनका जो भान होता है, वह केवल अज्ञानमूलक मन से कल्पित ही है, इसलिए विषय दुःखरूप ही हैं, सुखरूप नहीं हैं ॥९॥

केवल विषयों का सम्बन्ध ही मन के द्वारा कल्पित नहीं है, किन्तु जीव के जन्म आदि भी मन के द्वारा ही कल्पित हैं, इसलिए दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् मन से कल्पित ही है, यह कहते हैं।

कृत्रिम वेष के समान दीखनेवाला यह सारा जगत् मन की कल्पनामात्र है और वह मन भी विवेकज्ञान होने पर शून्य–सा ही प्रतीत होता है, अतः मन से भी हम सुख की आशा नहीं कर सकते, फिर हम लोगों को इतने समय तक 'सुख होगा' इस प्रकार मोह में किसने डाल रक्खा है ?॥१०॥ जैसे मरीचिका को जल समझकर मुग्ध मृग वन में बड़ी दूर तक इधर–उधर भटकते रहते हैं, फिर भी कुछ नहीं मिलता, वैसे ही मूढ़बुद्धि हम लोग इस संसार में असत् पदार्थों को सुख के साधन समझकर इधर–उधर खूब भटकते रहते हैं, पर हाथ कुछ नहीं लगता। यद्यपि हम लोग किसी के द्वारा बेचे नहीं गये हैं, तथापि बेचे गये प्राणियों के समान परवश होकर बैठे हुए हैं, अत्यन्त खेद है कि माया को जानते हुए भी हम मूढ़ ही हैं, क्योंकि उसकी कुछ चिन्ता नहीं करते ॥११,१२॥ इस संसाररूप प्रपंच में ये जो अभागे भोग हैं, वे कौन चीज हैं कि हम लोग उनके व्यर्थ मोह से या भ्रान्ति से बद्ध होकर अवस्थित हैं ?॥१३॥ जैसे अरण्य में किसी गड्ढ़े में गिरे हुए मूढ़ मृग बहुत काल के बाद यह जानते हैं कि हम गड्ढ़े के अन्दर गिर गये हैं, वैसे ही हम लोगों ने बहुत काल के बाद यह जाना कि हम व्यर्थ मोह में गिरे हुए हैं ॥१४॥ मुझे राज्य से क्या ? इन भोगों से क्या ? मैं कौन हूँ और किसलिए आया हूँ ? जो मिथ्या है, वह मिथ्या ही रहे, क्योंकि उसके मिथ्या होने से किसका क्या बिगड़नेवाला है ? ॥१५॥ हे ब्रह्मन्, जैसे यत्रतत्र भ्रमण करनेवाले पथिक की मरुभूमि से आस्था हट जाती है, वैसे ही मेरे इन सब विचारों से सभी भोग–साधन पदार्थों से मेरा चित्त हट गया है। इसलिए भगवन्, आप यह बतलाइये कि यह दिखनेवाला जगत् सर्वात्मना नष्ट अर्थात् असत् इसलिए हो जाता है कि सत् और असत् का विरोध है ? यदि जगत् असत् है, तो वह फिर कभी सत् होता है ? उसकी क्या वृद्धि होती है ? क्या जरा, मरण, आपत्ति, जन्म और सम्पत्ति ये सब आविर्भाव और तिरोभाव से पुनः पुनः बढ़ते रहते हैं ? मुनिवर ! देखिये, हम लोग उन तुच्छ भोगों से ऐसे जर्जर हो गये हैं, जैसे कि पर्वत के ऊपर के वृक्ष आँधी से जर्जर हो जाते हैं। जो बुद्धिमान् लोग हैं, वे भी कुछ नहीं कर रहे हैं, इसलिए विवेकी और अविवेकी सभी प्राणी जैसे अचेतन बाँस की वेणु पवन के द्वारा शब्द करती है, वैसे प्राण नामक वायु से प्रेरित होकर व्यर्थ ही शब्द करते हैं, उनसे कुछ भी नहीं होता। जैसे पुराना वृक्ष अपने खोखले में रहनेवाली उग्र अग्नि से जल जाता है, वैसे ही हे मुनिश्रेष्ठ मेरा इस दुःख से छुटकारा कैसे होगा, ऐसी चिन्तारूप अग्नि से मैं सदा जलता रहता हूँ ॥१६–२१॥ संसार के विविध दुःखरूप पाषाण से मेरा अन्तःकरण जर्जर हो गया है, मैं अपने मित्रों और लोक से डरकर

अश्रुपूर्ण नेत्रों से नहीं रो रहा हूँ, क्योंकि यदि मैं रोना आरम्भ करूँ, तो वे भी रोने लगेंगे ॥२२॥ अश्रुरहित शुष्क रोदन से प्रीतिशून्य अतएव हर्षादिशून्य मेरे मुख के कृत्रिम स्मित, अभिलाप आदि वृत्तियों को एकान्त में मेरा अन्तःकरणस्थ विवेक ही देखता है ॥२३॥ जैसे कोई पूर्व अवस्था में अनेक प्रकार की सम्पत्तियों से सम्पन्न भाग्यवान् पुरुष दैव से आई हुई दरिद्रावस्था में अपनी पूर्वीय समृद्धि का स्मरण कर मुग्ध होता है। वैसे ही मैं भी प्रियतम विषयों की विनाशप्राय अवस्था का या सब प्रकार के दुःखों के उपशमरूप परमानन्द के अज्ञान की विकारभूत अवस्था का विचार कर इस सांसारिक चेष्टा से अत्यन्त मुग्ध हो रहा हूँ ॥२४॥ वंचना से भरपूर यह लक्ष्मी अन्तःकरण की वृत्तियों को मुग्ध करती है, गुणों को नष्ट करती है और अनेक तरह के दुःखों को देती है ॥२५॥ धनियों को चिन्तारूप धार से खण्डशः काटने के लिए प्रवृत्त चक्ररूपी ये विविध धन मुझे आनन्द नहीं देते और स्त्री, पुत्रादि परिवार से परिपूर्ण घर उग्र आपत्तियों के घरों के समान मुझे आनन्द नहीं दे रहे हैं ॥२६॥ जैसे भंगुर काष्ठ आदि से आच्छादित छोटे गर्त में गिरने के कारण प्राप्त क्षुधा, पिपासा आदि दोषों के और गिरना, बाँधा जाना आदि दुर्दशाओं के विचार से बन्धन में पड़े हुए हाथी को सुख नहीं होता, वैसे ही देह आदि पदार्थों के भंगुरत्वरूप हेतु से जनित अनेक प्रकार के दोषों और दुर्दशाओं का स्मरणकर मुझे सुख नहीं होता ॥२७॥ अज्ञानरूपी रात्रि में अविचाररूपी निविड़ कुहरे से लोगों की ज्ञानरूपी ज्योति के नष्ट होने पर दूसरों को दुःख देनेवाले बड़े चतुर सैकड़ों विषयरूपी चोर सदा चारों ओर विवेकरूपी मुख्य रत्न को चुराने के लिए जीजान से लगे हुए हैं। युद्ध में उन्हें विनष्ट करने के लिए विद्वानों को (तत्त्वज्ञानियों को) छोड़कर कौन से योद्धा समर्थ हो सकते हैं ? तत्त्वज्ञानी ही उनका विनाश करने में समर्थ हैं, दूसरे नहीं, क्योंकि तम (अज्ञान और अन्धकार) का विनाश हुए बिना उनका वध होना असंभव है, यह भाव है ॥२८॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

सब मूढ़ों को प्रिय और सदा भोगरूपी अनर्थ को देनेवाली लक्ष्मी की विविध दोषों द्वारा निन्दा।

इस प्रकार विषयों की असारता का प्रतिपादन कर विषय-सम्पादन में हेतुभूत श्री-धनसम्पत्ति-भी असार ही है, ऐसे प्रतिपादन करने के लिए इस सर्ग का आरम्भ करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, इस संसार में धनसम्पत्ति स्थिर और विविध सुखों की हेतु होने के कारण उत्कृष्ट है, ऐसा मूढ व्यक्तियों ने ही मान रक्खा है, वस्तुतः वह न स्थिर है, और न उत्कृष्ट ही है। वह नितान्त अनर्थ देनेवाली और मोह की हेतु है अर्थात वध, बन्धन, नरक आदि विविध क्लेश देती है, तनिक भी सुख नहीं देती अथवा प्राप्त होने पर मोह में डालती है, नष्ट होने पर क्लेश देती है या गर्हित धन ही देती है, विवेक नहीं देती ॥१॥ जैसे वर्षाकाल में नदी ऊपर को उछलने-कूदनेवाली बड़ी बड़ी अनेक मलिन तरंगों को धारण करती है, वैसे ही उक्त सम्पत्ति उत्साह से बढ़े हुए अनन्त मनोरथों से युक्त अतएव अत्यन्त आकुल अनेक मूढ लोगों को अपने वशमें कर अपनी ओर खींचती है। हे मुनिवर, चिन्ताएँ श्री की पुत्रियाँ हैं। जैसे नदीसे असंख्य तरंगे उत्पन्न होती हैं, फिर वे वायु की सहायता से बढ़ती हैं, वैसे ही श्री से असंख्य चिन्तारूप पुत्रियों की उत्पत्ति होती है, तदुपरान्त

विविध दुश्चेष्टाओं द्वारा उनकी वृद्धि होती है ॥२,३॥ जैसे अज्ञान से आग को पैर से कुचल कर जली हुई कोई अभागिन एक जगह चरण नहीं रख सकती, किन्तु हाथ–पैर पटकती हुई इधर–उधर घूमती है, उसकी चेष्टा एक सी नहीं रहती, वैसे ही श्री भी शास्त्रप्रतिपादित सदाचार से रहित पुरुष को प्राप्तकर इधर–उधर घूमती–फिरती है, कभी एक जगह स्थिर नहीं रहती ॥४॥ जैसे दिये की लौ छूने से दाह उत्पन्न करती है और काजल को धारण करती है, वैसे ही यह श्री भी जुआ, चोरी आदि से इसके कुछ हिस्से का क्षय होने पर श्रीमानों को सन्तप्त करती है और बीच में ही (अनवसर में ही) अपना या अपने उपभोक्ता का नाश कर डालती है ॥५॥ दुःख से उपार्जित भी यह मूढ़ श्री राजाओं की प्रकृति के समान गुण और अवगुणों के विचार के बिना ही जो कोई उसके समीप में रहता है, उसीका अवलम्बन कर लेती है अर्थात् जैसे प्रायः मूढ राजा लोग धार्मिक गुणवानों के साथ प्रीति नहीं करते, जिस किसी समीपस्थ के साथ प्रीति कर लेते हैं, वैसे ही दुःख से उपार्जित भी यह श्री गुणवान् धार्मिकों के ही उपभोग के लिए नहीं होती, किन्तु गुण और अवगुणों के विचार के बिना जिसको समीप में पाती है उसी से लिपट जाती है ॥६॥ जिन कर्मों का फल धन, राज्यलाभ आदि और लोभ, हिंसा, मिथ्याभाषण आदि दोषरूप सर्पविष के वेगोंके विस्तार के लिए होता है उन्ही युद्ध, जुआ, व्यापार आदि कर्मों से यह बढ़ती है; यज्ञ, दान आदि से नहीं, उनसे तो बढ़ने के बदले घटती है, क्योंकि उनमें इसका व्यय होता है ॥७॥ तभी तक लोग अपने और पराये लोगों पर दया, दक्षिण्य, स्नेह आदि करते हैं, जब तक कि जैसै वायु से बर्फ कड़ा हो जाता है, वैसे ही श्री द्वारा वे कठोर नहीं हो जाते। सम्पत्ति प्राप्त होते ही लोग अपने और पराये जनों पर दया और स्नेह का भाव छोड़कर कठोर बन जाते हैं, यह भाव है ॥८॥ जैसे धूलि की मुट्ठी मणियों को मलिन कर देती है, वैसे ही बड़े–बड़े विद्वान् शूरवीर, दूसरे के उपकार न भूलनेवाले, दक्ष और मृदुभाषी पुरुषों को भी धन–सम्पत्ति मलिन कर देती है ॥९॥ भगवन् सम्पत्ति की वृद्धि से दुःख ही होता है सुख नहीं होता अर्थात् जैसै विषलता केवल मृत्यु की ही कारण होती है, वैसे ही श्री भी सुख की कारण न होकर दुःख की ही कारण होती है। रक्षा करने पर भी वह मृत्यु के साधनों को जुटाती है। अर्थात् जैसे विषलता के समीप रक्षण, अवेक्षण आदि करने के लिए जानेपर भी मृत्यु लाभ की संभावना रहती है, वैसे ही सम्पत्ति की रक्षा करने पर भी अपने विनाश की पूरी सम्भावना है ॥१०॥

कोई–कोई श्रीमान् लोग भी बड़े धार्मिक और यशस्वी देखे जाते हैं ऐसी परिस्थिति में श्री की प्राप्ति होने तक ही गुणियों में गुण रहते हैं, यह कैसे कहा ? इस पर कहते हैं।

हे मुने, इस लोक में लोग जिसकी निन्दा नहीं करते ऐसा श्रीमान्, आत्मश्लाघा न करनेवाला शूरवीर पुरुष और सब पर समानभाव से दृष्टि रखनेवाला स्वामी ये तीन पुरुष दुर्लभ हैं, अर्थात् श्रीमान् की किसी न किसी तरह लोग अवश्य निन्दा करते है शूर अवश्य ही अपनी प्रशंसा करता है, निग्रह और अनुग्रह में समर्थ स्वामी सब पर समदृष्टि नहीं हो सकता ॥११॥ हे मुनिवर, अज्ञ लोगों ने जिस श्री को सुख की हेतु समझ रक्खा है, वह दुःखरूप सर्पों की दुर्गम और भीषण गुफा है एवं महामोहरूपी हाथियों का आवास रूप विन्ध्याचल का मैदान है अर्थात् यह श्री महादुःखदायिनी और महामोह से आवृत्त करनेवाली है ॥१२॥ सत्कर्मरूपी कमल के लिए रात्रि है। (जैसे रात्रि में कमल संकुचित हो जाते हैं, वैसे ही श्री प्राप्त होने पर सत्कर्मों का ह्रास हो जाता है), दुःख रूपी कुँई (कमलिनी) के लिए चन्द्रिका

(चाँदनी) अर्थात् जैसे चाँदनी में कमलिनी (नीलोत्पल) विकसित होती है, वैसे ही श्री के प्राप्त होने पर दुःखों का खूब विकास होता है और दयादृष्टिरूपी या परमार्थदृष्टिरूपी दीपक के लिए झकझोर वायु और बड़ी–बड़ी तरंगों से युक्त नदी हैं। (जैसै झंझावात और तरंगों से युक्त नदी के झोकों से दीपक बुझ जाता है, वैसे ही श्री की प्राप्ति होने पर दयादृष्टि या परमार्थदृष्टि बन्द हो जाती है।) ॥१३॥ यह भय और भ्रान्तिरूपी मेघ के लिए पुरोवात (पूर्वी हवा) है, (जैसै पूर्वी हवा मेघ की वृद्धि की हेतु है, वैसे ही श्री भी भय और भ्रान्ति की जननी है) विषादरूपी (खेदरूपी) विष को बढ़ानेवाली है, संशय और संक्षोभ आदि की क्षेत्र है और दुःखदायक भय को पैदा करने में सर्पिणी है या यह खेद के लिए भयरूपी भोग से (सर्पशरीर से) युक्त सर्पिणी है ॥१४॥ वैराग्यरूपी लताओं के लिए तुषार है, काम आदि चित्तविकाररूपी उल्लुओं के लिए अँधेरी रात है, विवेकरूपी चन्द्रमा के लिए राहू की दाढ़ है और सौजन्यरूपी कमल के लिए चाँदनी है अर्थात् जैसे तुषार से लताएँ सूख जाती हैं वैसे ही श्री प्राप्ति होने पर विवेक नष्ट हो जाता है एवं जैसे चाँदनी में कमल सिकुड़ जाते हैं खिलते नहीं वैसे ही सम्पत्ति प्राप्त होने पर सौजन्य का संकोच हो जाता है ॥१५॥ यह श्री इन्द्रधनुष के समान चंचल (अचिरस्थायी) रंगों से मनोहर एवं बिजली के समान चपल और उत्पन्न होते ही नष्ट होनेवाली है और प्रायः जड़ (मूर्ख) ही इसके आश्रय है ॥१६॥ यह चपलता में जंगली नेवलियों से भी बढ़–चढ़कर है, दुष्कुल में सत्पन्न हुई है, अच्छे कुल में सत्पन्न नहीं है। वंचना में उग्र मृगतृष्णिका को जीतनेवाली है अर्थात् यह वंचना में इतनी दक्ष है कि वंचकतम मृगतष्णा को भी इसके सामने हार खानी पड़ी है ॥१७॥ अतिचपल होने के कारण क्षण भर भी एक स्थान पर न रहनेवाली यह जलतरंग और दीपशिखा से (दिये की लौ से) भी बढ़कर भंगुर है और अनगिनत दुर्दशाओं की जननी है ॥१८॥ यह युद्ध के लिए उत्सुक मनुष्यरूपी गजेन्द्रों का विनाश करनेवाली सिंहनी के समान है। बड़ी शीतल तथा स्वयं तीक्ष्ण और तीक्ष्णहृदयवाले (क्रूर हृदयवाले) लोगों के पास रहनेवाली तलवार के समान है ॥१९॥ मृत्यु द्वारा हरे गये लोगों को चाहनेवाली, अनेक मानसिक व्यथाओं से व्याप्त (अनेक मानसिक व्यथाएँ जिसमें चोर के समान छिपी रहती है) अभव्य लक्ष्मी से दुःख को छोड़कर कुछ भी सुख मैं नहीं देखता ॥२०॥ जिस पुरुष की अलक्ष्मी द्वारा (सपत्नीरूप दरिद्रता द्वारा) स्वयं दूर निकाली गई चिरकाल तक सपत्नी द्वारा उपभुक्त उसी को फिर आदर से आलिंगन सा करती है, यह बड़े खेद की बात है, यह मानवती नहीं है, किन्तु निर्लज्ज है और इसकी दुष्टता कभी जाती नहीं ॥२१॥ यह लक्ष्मी मनोहर है, अतएव चित्तवृत्ति को अपनी ओर खींचती है, मरण, पतन आदि के कारण साहसिक कर्मों से प्राप्त होती है और बिजली के समान क्षण भर में नष्ट हो जाती है, अतः यह सर्पों से लिपटी हुई गड्ढे में उत्पन्न हुई पुष्पलता के समान है ॥२२॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चौदहवाँ सर्ग

काम आदि दोषों से दूषित तथा व्याधि, रोग और जरावस्था से पीड़ित मूर्ख के जीवन, यौवन और आयु की निन्दा ।

श्री के समान आयु भी सुखकर नहीं है, यह कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, जीव की आयु पत्ते के सिरे पर लटक रहे जलबिन्दु के (ओस के)

सदृश अस्थिर है, वह उन्मत्त के समान असमय में ही इस कुत्सित शरीर को छोड़कर चली जाती है, अर्थात् जैसे उन्मत्त पुरुष अपने अत्यन्त उपयोगी उपकरणों को, जब मन में आये, छोड़ कर चला जाता है, वैसे ही आयु भी शरीर को छोड़कर चली जाती है ॥१॥ जिन लोगों के चित्त विषयरूपी सर्पों के संसर्ग से सर्वथा जर्जर (शिथिल) है और जिनमें दृढ़ आत्मविवेक नहीं है, उनकी आयु वृथा और क्लेशकर ही है ॥२॥

क्या ब्रह्मवेत्ताओं की आयु भी व्यर्थ और क्लेशजनक है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

जो लोग ज्ञातव्य वस्तु को (ब्रह्म को) जान चुके हैं, असीम ब्रह्म में विश्रान्त हैं और जिनके जीवन में लाभ, हानि और सुख–दुःख में चित्तवृत्ति समान रहती है, उन महापुरुषों की आयु ही सुखदायक है ॥३॥ हे महामुने, हम लोग देह आदि को ही 'यह आत्मा है', ऐसा निश्चय कर बैठे हैं, हमें संसाररूपी मेघ में स्थित बिजली के समान चंचल आयु में सुख प्राप्त नहीं हुआ। वायु का घेरा हो सकता है, आकाश के टुकड़े टुकड़े किये जा सकते हैं और लहरें एक दूसरे में माला की नाईं गूँथी जा सकती है पर आयु में विश्वास नहीं किया जा सकता। शरत् ऋतु के बादल के समान स्वल्प, तेल रहित दीपक और तरंग के समान चंचल आयु गई हुई ही देखी जाती है ॥४–६॥ तरंग को, जल आदि में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को, बिजली को और आकाशकमल को हाथ से पकड़ने का मुझे विश्वास है, पर अस्थिर आयु में मेरा विश्वास नहीं है। तरंग, प्रतिबिम्बित चन्द्र आदि का ग्रहण असंभव है फिर भी उक्त असंभव बातें भले ही हो जायें, पर अस्थिर आयु में मेरा विश्वास नहीं होता यह भाव है ॥७॥ जैसे खच्चरी दुःख के लिए ही गर्भ धारण करती है, (क्योंकि उसका पेट फाड़कर ही गर्भ निकलता है, ऐसी बात प्रसिद्ध है) वैसे ही जिसके मन की तृष्णाओं का विनाश नहीं हुआ है, ऐसे मूर्ख पुरुष व्यर्थ आयु को दुःख के लिए ही विस्तृत चाहता है। व्यर्थ आयु को विस्तृत चाहना खच्चरी के गर्भधारण के समान दुःखहेतु ही है, यह भाव है ॥८॥ इस संसार से संभ्रमण में वल्लीरूप शरीर सृष्टिरूपी सागर में जल का विकार फेन रूप है, जैसे सागर में जल का विकार फेन अस्थिर है, वैसे ही इस सृष्टि में यह शरीर अत्यंत अस्थिर है, इसलिए इसमें मुझे जीवन अच्छा नहीं लगता ॥९॥ जिससे अवश्य प्राप्तव्य वस्तु की (परम पुरुषार्थ रूप मुक्ति की) प्राप्ति की जाती है, जिससे पीछे शोक प्राप्त नहीं होता और जो परम निर्वृत्ति (जीवन्मुक्ति) का स्थान है, वही उत्तम जीवन कहा जाता है ॥१०॥ वृक्ष भी जीते हैं और मृग–पक्षी भी जीते ही हैं, पर उसी पुरुष का जीना जीना है जिसका मन मनन के फलस्वरूप तत्त्वज्ञान से या वासना के क्षय से तुच्छ हो जाता है। जगत् में उनका ही उत्पन्न होना सफल है और वे ही प्रशंसनीय जीवन वाले हैं, जो फिर इस जगत् में जन्म नहीं लेते, शेष जीव तो चिरकाल तक जीने वाले गदहे के समान हैं अर्थात् गदहे के जीवन के समान उनका जीवन गर्हित है ॥११,१२॥ अपवित्र देह में आत्मबुद्धि करनेवाले अविवेकी के लिए शास्त्र भाररूप है अर्थात् भार के समान व्यर्थ श्रम का ही कारण है। विषयानुरागी पुरुष के लिए तत्त्वज्ञान भार है, अशान्त पुरुष के लिए मन भार है और अनात्मवान् के लिए शरीर भार है ॥१३॥ दुर्बुद्धि पुरुष के लिए आयु, मन, बुद्धि, अहंकार तथा चेष्टा ये सब भारवाहक के भार के समान दुःखदायक हैं। यह आयु श्रमनिवृत्तिसे रहित, पूर्णकामता से शून्य, आपत्तियों के घर और रोगरूपी पक्षियों का घोंसला है, इससे केवल सदा परिश्रम ही प्राप्त होता है ॥१४,१५॥ जैसे चूहा प्रतिदिन आलस्य का

त्यागकर लगातार धीरे–धीरे पुराने टीले को खोदकर नष्ट कर देता है। वैसे ही काल प्रतिदिन आलस्य का त्यागकर धीरे–धीरे आयु को क्षीण कर रहा है। जैसे बिल में आराम कर रहे, विष द्वारा सन्ताप देनेवाले भीषण सर्प वन की वायु का पान करतें हैं, वैसे ही शरीररूपी बिल में आरामसे बैठे हुए विष के समान दाह (सन्ताप) देनेवाले भीषण सर्पों के सदृश घोर रोग जीव की आयु का पान करते हैं ॥१६,१७॥ सदा लकड़ी का बुरादा गिरा रहे वृक्ष के भीतर रहनेवाले छोटे–छोटे दुष्ट दीमकों द्वारा पुराना पेड़ काटा जाता है, वैसे ही सदा पीब–रक्त और मल बहा रहे शरीर में रहनेवाले तुच्छ और दुष्ट रोग आदि दुःखों द्वारा चारों ओर से आयु काटी जा रही है ॥१८॥ जैसे बिल्ली शीघ्र निगलने के लिए उत्कट अभिलाषापूर्वक चूहे को देखती है वैसे ही मृत्यु शीघ्र निगलने के लिए उत्कट अभिलाषापूर्वक सदा जीव की आयु की ताक में बैठी रहती है। जैसे बहुत भोजन करनेवाले पुरुष भक्षित अन्न को पचा डालता है, वैसे ही तुच्छ और गन्ध आदि गुण से युक्त वैश्यारूपी वृद्धावस्था जीव की शक्ति को क्षीण कर उसे जीर्ण कर देती है ॥१९,२०॥ जैसे कुछ ही दिनों में यह दुर्जन है, ऐसा जानकर सज्जन दुर्जन को अनादर पूर्वक छोड़ देता है, वैसे ही यौवनावस्था कुछ काल तक इस देह में वास कर थोड़े ही दिनों मे प्राणी को निरादर के साथ छोड़ देती है ॥२१॥ जैसे लम्पट लोग (महाविषयी पुरुष) सौन्दर्य के अभिलाषी होते हैं वैसे ही विनाश का मित्र और वृद्धावस्था तथा मृत्यु का सहायक काल भी पुरुष और पुरुषकी आयु का सदा ग्राहक रहता है ॥२२॥ हे मुनिवर, अधिक क्या कहें, जीवन्मुक्त पुरुषों द्वारा अनुभूत नित्य सुख और स्थिरता से सर्वदा के लिए त्यक्त, अति तुच्छ और गुणों से रहित संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जैसी कि मृत्यु की ग्रास यह आयु है ॥२३॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

सब अनर्थ और ममता के मूल स्तम्भ अहंकार की निन्दा।

इसी प्रकार अहंकार भी सुखकर नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण दोष अभिमान से ही होते हैं, ऐसा कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, अज्ञानरूप निमित्त कारण से व्यर्थ ही अहंकार की उत्पत्ति हुई है और व्यर्थ ही वह चारों तरफ से बढ़ता है, उससे किसी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती। 'मिथ्यामयेन' से यह दर्शाते हैं कि उसका उपादान कारण भी अज्ञान ही है अर्थात् वह अज्ञानमय है या 'मिथ्यामयेन' ऐसे छेद करना चाहिए। दुष्ट अहंकार नामक शत्रु (काटनेवाले) रोग से मैं भयभीत हूँ ॥१॥ संसार एक आकारवाला नहीं है। उसके विविध प्रकार हैं। साध्य, साधन, फल, प्रवृत्ति–ये सभी संसार के आकार हैं। उक्त विविध आकारवाला संसार अनादिकाल से लेकर जन्म, मरण, नरक आदि अनन्त दुःखपरम्पराका अनुभव करके भी फिर फिर उक्त दुःख परम्परा के हेतु तुच्छ सुखों को अनेक कष्टों से चाहनेवाले इसीलिए दीनों से भी दीन विषयलम्पट लोगों को निरन्तर राग–द्वेष आदि दोषों में विक्षिप्त और कलंकित करता है। यह सब अहंकार का ही प्रसाद है, दूसरे का नहीं ॥२॥ अहंकार से ही विविध आपत्तियाँ– (शारीरिक कष्ट) होती हैं, अहंकार से ही अनेक भीषण मानसिक क्लेश होते हैं और अहंकार से ही विषयानुराग अथवा दुश्चेष्टाएँ होती है। मेरा रोग अहंकार ही है ॥३॥ मुनिवर, चिरकालिक परम

वैरी उक्त अहंकार का अवलम्बन करके न तो मैं भोजन करता हूँ और न जल पीता हूँ। विविध भोगों के भोग का तो कहना ही क्या है ? ॥४॥ जैसे बहेलिया वागुरा को (मृगों को बाँधने का फन्दा अर्थात् जाल को) बिछाकर मृगों को पकड़ता है, वैसे ही अहंकाररूपी दोष ने संसाररूपी अँधेरी रात्रि में फैलाकर मन को मोहित करनेवाली यह माया बिछा रखी है ॥५॥ जैसे पर्वत से खैर के वृक्षों की उत्पत्ति होती है, वैसे ही संसार में जितने चिरकाल स्थायी भीषण महादुःख हैं, उनकी उत्पत्ति अहंकार से ही हुई है ॥६॥ अहंकार शमरूपी चन्द्रमा को निगलने के लिए राहूका मुँह है, गुणरूपी कमलों का विनाश करने के लिए तुषाररूप वज्र है और सब भूतों में समदर्शितारूपी मेघ के लिए शरद्ऋतु है अर्थात् जैसे चन्द्रमा को राहू निगल जाता है जैसे कमलों को हिमवर्षा नष्ट कर देती है और शरद्–ऋतु मेघों का विध्वंस कर डालती है, वैसे ही अहंकार शम, दया, दाक्षिण्य आदि गुण और सब पर समदृष्टि को नष्ट कर देता है, इसलिए मैं इस अहंकार का त्याग करता हूँ ॥७॥

अहंकार का त्याग करने पर देहाभिमान, ममता आदि दोष स्वयं ही शान्त हो जाते हैं, ऐसा दर्शाते हैं ।

न मैं रामचन्द्र हूँ, न मुझे विषयों की अभिलाषा है और न मेरा मन ही है । मैं निर्वैर होकर बुद्ध के समान अपनी आत्मा में स्थित रहना चाहता हूँ। जैसे बुद्ध किसीको किसी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचाते थे वैसे ही में भी किसी को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचा कर आत्माराम होना चाहता हूँ ॥८॥

'निन्द्येष्यपि गुणो ग्रह्यः' इस न्याय से बुद्ध का उदाहरण दिया है या 'जितः' ऐसा पाठ समझना चाहिए ।

अहंकार के वशीभूत होकर मैंने जो कुछ खाया–पिया, यज्ञ–याग आदि किया तथा इसके अतिरिक्त और जो कुछ कर्म किया, वह सब तुच्छ (असार) है, अहंकार से रहित होना ही सार वस्तु है ॥९॥ ब्रह्मन्, यदि अहंकार रहता है, तो आपत्ति में मुझे दुःख होता है और अहंकार नहीं रहता, तो मैं सुखी रहता हूँ, इसलिए अहंकार रहित होना श्रेष्ठ है ॥१०॥

भोगसम्पत्ति से ही उद्वेगहीनता आदि क्यों नहीं होते इस शंका पर कहते हैं ।

मुनिवर, मैं अहंकार को त्याग कर शान्तचित्त होकर, उद्वेग को छोड़कर बैठा हूँ। भोग–समूह, भंगुर देह, इन्द्रिय, विषय आदि के अधीन हैं, इसलिए इनमें किसी एक के भी नष्ट होने पर उद्वेग की प्राप्ति दुर्वार होती है ॥११॥ ब्रह्मन्, जब तक अहंकाररूपी मेघ उमड़ता रहता है तब तक तृष्णारूपी कुटज के फूल खूब खिलते रहते हैं और अहंकार रूपी मेघ के शान्त होने पर तृष्णा बिजली की लकीर के तुल्य, बुझी हुई दीपशिखा (दीपक की लौ) की तरह, बड़ी शीघ्रता से कहीं विलीन हो जाती है। जैसे मेघ गड़गड़ाहट के साथ गर्जता है वैसे ही अहंकाररूपी विशाल विन्ध्याचल में मन रूपी मत्त गजेन्द्र युद्धोत्साह के साथ या निविड़ शिलाओं के टूटने की ध्वनि के साथ गर्जता है ॥१२–१४॥ इस देहरूपी महाअरण्यमें उन–उन हेतुओंसे वृद्धि को प्राप्त यह निविड़ अहंकाररूपी मत्त सिंह निरन्तर भ्रमण करता है, उसीने इस जगत् समुदाय को बनाया है उसी ने पुण्य–पापादिरूपी बीज की वृद्धि से इस जगत् के विस्तार को प्राप्त किया है ॥१५॥ जैसे लम्पट पुरुष मोतियों की माला गूंथ कर गले में पहने रहते हैं, वैसे ही अहंकार ने भी तृष्णारूपी तागे में जन्म परम्परारूप मोतियों की माला, गूँथ कर गले में धारण कर

रक्खी है ॥१६॥ महामुने, इस अहंकाररूपी परम शत्रु ने ही इस संसार में मन्त्र–तन्त्र से शून्य पुत्र, मित्र, कलत्र आदि वशीकरण, उन्मादन आदि के उपाय फैला रक्खे हैं ॥१७॥ प्रबल शत्रु अहंकार का मूलोच्छेदपूर्वक निरास करने पर ये सभी मानसिक कष्ट बड़ी जल्दी अपने आप विलीन हो जाते हैं, थोड़ी–थोड़ी करके हो या तीव्र वेग से हो, हृदयाकाश में स्थित अहंकार रूपी मेघ के शान्त होने पर शान्ति का विनाश करनेवाला महामोह रूपी कुहरा न मालुम कहाँ विलीन हो जाता है ॥१८,१९॥ हे ब्रह्मन्, मैं निरहंकार होकर भी मूर्खतावश शोक से दुःखी हो रहा हूँ इसलिए मेरी प्रार्थना है कि मेरे लिए जो विहित और हित हो, उसका मुझे उपदेश दीजिये ॥२०॥

इस प्रकार अहंकार, उससे होनेवाले अनर्थ और उसके उच्छेद के फल का वर्णन कर अहंकार के त्याग से उत्पन्न हुई अपनी श्रवणाधिकार–सम्पत्ति को कह रहे श्रीरामचन्द्रजी मुनि से उपदेश की प्रार्थना करते हैं।

हे महानुभाव, सम्पूर्ण आपत्तियों के घर, शान्ति आदि गुणों से रहित हृदयस्थ अहंकार को में आश्रय देना नहीं चाहता। मैं विवेककी दृढ़ता से अहंकार रूपी लांछन को चारों ओर से दुःख से पूर्ण समझता हूँ। महामुने, जो कुछ मेरे सम्पादन के योग्य अवशिष्ट रह गया है, उसके साथ मुझे आत्मतत्त्व का उपदेश दीजिए ॥२१॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

श्रीरामचन्द्र द्वारा चित्त और मन के विविध दोषों का युक्तियों और दृष्टान्तों से विस्तारपूर्वक वर्णन।

अहंकार के समान चित्त और मन भी सुखहेतु नहीं हैं, किन्तु दुःख हेतु ही हैं, ऐसा कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : 'हे मुनिवर, महापुरुषों की सेवा मुक्ति का द्वार है' ऐसा वचन है, इसलिए सज्जनों (मुमुक्षुओं) द्वारा अवश्य करणीय महात्माओं की सेवा के बिना काम आदि दोषों से चित्त शिथिलता को (चंचलता को अर्थात् पुरुषार्थ साधन में अपटुता को) प्राप्त होता है। चंचल चित्त वायुप्रवाह में पतित मयूर की पूँछ के अग्रभाग की नाईं स्थिर नहीं रहता, इधर–उधर घूमता रहता है। मन भी प्राणवायु के अधीन और चंचल है, ऐसा आगे कहेंगे ॥१॥

उपर्युक्त कथन को ही दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते हैं।

अत्यन्त व्याकुल चित्त युक्त और अयुक्त विचार के बिना इधर–उधर दूर से भी दूर प्रदेश तक, ग्राम में कुत्ते की नाईं, घूमता है कहीं पर भी अपनी पूर्ति के उपाय को न पाकर दीन–हीन बना रहता है अर्थात् जैसे कुत्ते अपने उदर की पूर्ति के लिए व्यग्रचित्त होकर ग्राम में दूर से भी दूरतर प्रदेश में घूमते हैं, वैसे ही दोषों से तुष्ट चित्तवाले व्यक्ति भी वृथा ही इधर–उधर घूमते हैं, अभीष्ट वस्तु न पाकर दीन–हीन बने रहते हैं ॥२॥ पहले तो उसे कहीं पर कुछ मिलता ही नहीं। कदाचित् दैवयोग से प्रचूर धन प्राप्त होने पर भी न पाये हुए के समान वह अतृप्त ही रहता है जैसे करण्डक (बांस या बेंत से बना हुआ पात्र) जल से नहीं भरता, वैसे ही अन्तःकरण भी पूर्ण नहीं होता अर्थात् जैसे बांस की शलाका और बेंत की सींकों से बनी हुई टोकरी आदि पात्र जल से भरने पर भी पूर्ण नहीं होता, छिद्रों से जल के निकल जाने

से उसमें कुछ भी जल नहीं रहता, वैसे ही व्यग्रचित्तवाले अशान्त लोगों का अन्तःकरण भी पूर्ण नहीं होता ॥३॥ जैसे अपने सजातीयों के झुण्ड से बिछुड़ा हुआ एवं बन्धन में पड़ा हुआ मृग सुख को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही सब प्रकार से शून्य (मिथ्या) नित्य दुराशारूप रज्जु से वेष्टित मन कभी सुख को प्राप्त नहीं होता ॥४॥ हे मुने, तरंगों के समान चंचल वृत्ति को धारण कर रहा मेरा मन स्थूल और सूक्ष्म अवयवों के छेद के सिवा एक क्षण के लिए भी अपने स्थान पर स्थिरता को प्राप्त नहीं होता। विषयों के अनुसन्धान से विविध क्षोभ को प्राप्त हुआ मेरा मन मथनकाल में मन्दराचल के आघात से उच्चलित क्षीरसागर के जल के समान दसों दिशाओं में दौड़ता है, किन्तु सुख कहीं पर भी नहीं पाता ॥५,६॥ भोगों की प्राप्ति के हेतुभूत उत्साहरूप कल्लोलों से जिसने डूबने लायक आवर्त बना रक्खे हैं, मायारूप (परवंचनारूप) मगरों से परिवेष्टित मनरूप महासमुद्र को अपने वश में करने के लिए मैं असमर्थ हूँ ॥७॥ ब्रह्मन्, मनरूपी हरिण नरक की परवाह न कर भोगरूपी दूब के तिनकों की अभिलाषा से युक्त होकर तीव्र वेग से बहुत दूर तक दौड़ता है, अर्थात् जैसे मृग गर्त में गिरने की चिन्ता न कर दूबके तिनकों के लोभ से वेग के साथ बहुत दूर तक दौड़ते हैं, वैसे ही मेरा मन नरकपतन का भय छोड़कर भोगलाभ की आशा से बहुत दूर तक दौड़ता है ॥८॥ जैसे समुद्र अपनी चंचलता का त्याग नहीं करता, वैसे ही चिन्तासक्त और चंचलस्वभाव मेरा मन भी स्थूल और सूक्ष्म अवयवों के विनाश का त्याग नहीं करता ॥९॥ जैसे पिंजड़े में बँधा हुआ सिंह विविध चिन्ताओं से पूर्ण होकर चंचल चित्तवृत्ति से एक जगह स्थिर नहीं रह सकता, वैसे ही विविध चिन्ताओं से अतिचपल और चंचल वृत्ति से युक्त मेरा मन भी एक जगह धैर्य को नहीं प्राप्त हो रहा है ॥१०॥

चित्त स्वतः ही चपलस्वभाव है, विविध चिन्ताओं द्वारा और भी विचलित किया जाता है, इसलिए हठपूर्वक उसका विरोध करने पर भी वह धैर्य को प्राप्त नहीं होता, यह भाव है।

जैसे हंस जल से दूध को निकाल लेता है, वैसे ही मेरा मोह रूपी रथ पर सवार मन भी इस शरीर से उद्वेगरहित समतारूप सुख को हर लेता है। अर्थात् उत्कर्ष और अपकर्ष औपाधिक हैं (उपाधिकल्पित हैं) अतएव परमार्थरूप से सब प्राणियों में आत्मा एकरूप से (📖) विद्यमान है। जीवन्मुक्तों द्वारा उक्त प्रकार से अनुभूत आत्मा की एकरूपता ही समतासुख कही जाती है। मन के मोहाक्रान्त होने पर इस शरीर में पहले से प्राप्त भी उस समतासुख को मन ग्रस लेता है। और असार (तुच्छ) देहमात्र में आत्मभाव बच जाता है, यह भाव है ॥११॥

हे मुनिनायक, चित्त की आत्माभिमुखी वृत्तियाँ (स्वभाव) विविध द्वैत विषयों में आसक्तिकल्पनारूप शय्या पर सोई हुई हैं, वे बोध देनेवाले शास्त्र और आचार्य के उपदेश के बिना केवल अपनी बुद्धि से किये गये हजार बार के विचार से भी नहीं जागती। उन वृत्तियों के न जागने से व्याकुल हुआ मैं सन्तप्त हूँ ॥१२॥ जिसमें 'यह मैं हूँ' और 'यह मेरा है' इस प्रकार अन्योन्यतादात्म्याध्यास और अन्योन्य–

📖 एकात्मविज्ञान ही अभय पद और समतासुख है। साम्यसुख ही नित्य और निरतिशय है। उससे अतिरिक्त जो कुछ है वह सभी असार और दुःखप्रद है। देहात्मविज्ञान सबसे बढ़कर असार है। इस शरीर में सार और असार दोनों विद्यमान हैं, परन्तु मोहग्रस्त मन असार का ही ग्रहण करता है, सार का ग्रहण नहीं करता।

संसर्गाध्यासरूप दृढ़ ग्रन्थियाँ पड़ी हैं, ऐसे भोगस्पृहारूपी जाल में स्थित मैं अपने-आप चित्त द्वारा बाँधा गया हूँ, जैसे कि अनाज के दानों के लोभ से पक्षी बहेलिए द्वारा जाल से बाँधा जाता है ॥१३॥ मुने, जैसे दुःसह धूम और ज्वाला से युक्त अग्नि सूखे तृण को जला डालती है, वैसे ही विस्तारित कोपरूपी धूम से युक्त चिन्तारूपी ज्वाला से व्याप्त चित्त से मैं जलाया गया हूँ ॥१४॥ जैसे क्रूर और तृष्णा के समान सदा भूखी कुत्ती के पीछे चलनेवाला कुत्ता शव को खा जाता है, वैसे ही निष्ठुर और तृष्णारूपी भार्या के पीछे-पीछे चलनेवाला चित्त अज्ञता को प्राप्त हुए मुझको खा गया है ॥१५॥

मुनिवर, जैसे तरंगों से चंचलवृत्तिवाला जल का वेग तट के वृक्ष को उखाड़ कर फेंक देता है, वैसे ही तरंग के समान चंचल वृत्तिवाले जड़ चित्तने मेरी भी दशा कर रखी है। धर्मकर्मों से स्वर्ग के प्राप्त होने पर अनवसर में ही स्वर्ग से गिरने के लिए अथवा स्वर्गप्राप्ति के हेतु धर्मकर्म के न होने पर सुखलेश से शून्य इसी लोक में कीट, पतंग आदि योनियोंमें भ्रमण करने के लिए चित्तने मेरी वह दशा कर रक्खी है, जैसे कि आँधी तृण की दशा करती है। आँधी भी आकाश में उड़ रहे तृण को भूमि पर पटक देती है और भूमि पर स्थित तृण को इधर-उधर उड़ा देती है ॥१६,१७॥ इस संसाररूपी सागर से पार होने के लिए नित्य उद्योग कर रहे मुझ को यह कुत्सित चित्त इस भाँति रोकता है, जैसे कि जल के प्रवाह को बाँध रोकता है ॥१८॥ पृथिवी से (उर्ध्व प्रदेश से) पाताल को (अधः प्रदेश को) और पाताल से (अधः प्रदेश से) पृथिवी को (उर्ध्व प्रदेश को) जा रही रस्सी से लपेटे हुए घटीयन्त्र (रस्सी से जल आदि भार को खींचने के लिए एक ओर जिसमें रस्सी बँधी रहती है, दूसरी ओर पत्थर आदि भारी वस्तु बँधी रहती है, जिसे अरहट कहते हैं, कुएँ से जल निकालने का यन्त्र) के समान मैं इस कुत्सित चित्तरूप रस्सी से वेष्टित होकर कभी ऊपर जाता हूँ कभी नीचे गिरता हूँ ॥१९॥ जैसे बालकों को डराने के लिए कल्पित वेताल (विकरालस्वरूप) बालक को सत्य प्रतीत होता है, किन्तु बाल्यावस्था के बीतनेपर उसके लिए वह असत्य हो जाता है, वैसे ही अज्ञान से मुझे दुर्जय प्रतीत होनेवाला और विचार करने पर असत्यस्वरूप मन से मैं गृहीत हूँ जैसे कि बालक वेताल से गृहीत होता है ॥२०॥ ब्रह्मन्, मन अग्नि से भी अधिक उष्ण, पर्वत से भी दुरारोह, वज्र से भी बढ़कर कठोर है, इसलिए मनरूपी ग्रह दुःख से भी गृहीत (वश में) नहीं हो सकता ॥२१॥ जैसे मांसभक्षी चील, कौए आदि पक्षी मांस को देखते ही उसे खाने के लिए दौड़ पड़ते हैं हित और अहित का विचार नहीं करते, वैसे ही मन भी इन्द्रिय द्वारा देखे गये विषयों में टूट पड़ता है हित और अहित का विचार नहीं करता और क्षणभर में उससे विरत हो जाता है। जैसे बालक खिलौने को देखते ही उस पर टूट पड़ता है और थोड़ी देर के बाद उसे छोड़कर दूसरा खेल खेलने लगता है ॥२२॥ हे तात, जैसे समुद्र जड़स्वभाव (जलरूप), चंचल, बड़े बड़े आवर्तों से (भौंरियों से) भरा और अनेक सर्प आदि हिंस्र जन्तुओं से पूर्ण है वैसे ही यह मन भी जड़, चंचल, विस्तीर्ण आवर्तरूपी वृत्तियों से युक्त और काम आदि छः शत्रुरूपी साँपों से व्याप्त है। जैसे समुद्र हाथी को दूर फेंक देता है वैसे ही मन भी मुझे दूर फेंक रहा है ॥२३॥ हे साधो, समुद्र को पीने, सुमेरू पर्वत को लाँघने और अग्निभक्षण से भी चित्त को अपने वश में करना कठिन है अर्थात् समुद्रपान आदि महान कार्य हैं, पर उनके होने की सम्भावना हो सकती है, परन्तु मनका निग्रह करना उससे भी कठिन है ॥२४॥ सम्पूर्ण पदार्थों का कारण चित्त ही है उसके अस्तित्व में तीनों लोकों का अस्तित्व है, उसके क्षीण होने पर तीनों

लोक नष्ट हो जाते हैं। हे मुने, इसलिए प्रयत्नपूर्वक मन की चिकित्सा करनी चाहिए अर्थात् रोग की तरह चित्त का अवश्य परित्याग करना चाहिए। हे मुनिवर, जैसे विन्ध्याचल आदि श्रेष्ठ पर्वत से अनेक वनों की उत्पत्ति होती है, वैसे ही मन से ही ये सैकड़ों सुख–दुःख उत्पन्न हुए हैं। ज्ञान से चित्त के क्षीण होने पर वे अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं, ऐसा मेरा निश्चय है ॥२५,२६॥ मुमुक्षु पुरुषों ने जिस चित्त के जीतने पर शम, दम आदि गुणों के स्वाधीन होने की, काम, कर्म और वासनारूप कलाओं से युक्त सत्त्व, रज और तम–इन तीन गुणों से सम्पन्न अविद्या के नाश की और निरतिशयानन्दरूप ब्रह्म की प्राप्ति की आशा की थी, उस शत्रुरूप चित्त को जीतने के लिए मैं तत्पर हुआ हूँ, अतएव वैराग्यसम्पत्ति से युक्त होने के कारण मैं जैसे चन्द्रमा मेघपंक्ति का अभिनन्दन नहीं करता वैसे ही जड़–मलिन–विलासवाली लक्ष्मीका अभिनन्दन नहीं करता हूँ ॥२७॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

दीनता, कृपणता और मृत्यु देनेवाली, सम्पूर्ण जगत् को मोह में डालनेवाली तथा अनेकविध पापों की जननी तृष्णा की निन्दा।

रामचन्द्रजी ने कहा : परमप्रेमास्पद आत्मतत्त्व का तिरोधान होने के कारण अंधकारपूर्ण रात्रिरूपी दुरन्त तृष्णा से इस चेतनात्मक गगन में जीव में अनेक तरह की राग आदि दोष स्वरूप उल्लूओं की पंक्तियाँ स्फुरने लगती हैं ॥१॥ जैसे ताप पहुँचानेवाली सूर्य की किरणें कीचड़ के रस और मृदुता का अपहरण करके कीचड़ को सूखा देती हैं, वैसे ही अन्तःकरण को सन्तप्त करनेवाली चिन्ताने मेरे रस और मृदुता का हरण कर या मुझे विनय और दाक्षिण्य से शून्य कर सूखा दिया है अर्थात् उक्त चिन्ताने मेरे विनयादि को नष्ट कर मुझे नीरस और कठोर बना दिया है ॥२॥ व्यामोहरूप अन्धकार से व्याप्त विचारशून्य मेरे चित्तरूपी बड़े जंगल में ताण्डव–नृत्य करनेवाली आशारूपी पिशाचिकाका जोर–शोर से उदय हुआ है ॥३॥ तत्–तत् आर्त वचनों द्वारा रचित अश्रुरूप नीहार (ओस) कणों से युक्त और समीपस्थ सुवर्ण आदि की अभिलाषा द्वारा पाण्डुता का सम्पादन करने से उज्जवल चिन्तारूप चने की मंजरी अर्थात् तृष्णा पूर्णरूप से विकसित हो रही है। तात्पर्य यह है कि नीहार से ही (तुषार से ही) चने के पौधे बढ़ते हैं, ऐसी प्रसिद्धि है, इसलिए जैसे रात्रिरचित नीहार के कणों से युक्त चने के पौधे की मंजरियाँ समीपस्थ धतूरे के बन से उज्जवल (शोभित) होकर विकसित होती हैं, वैसे ही अनेक तरह के दुःख–विलापों से जनित अश्रुबिन्दुओं से युक्त और समीपस्थ सुवर्ण आदि की अभिलाषा द्वारा उज्जवल मेरी तृष्णा मानों विकसित हो रही है ॥४॥ जैसे मध्य भाग को चंचल करनेवाली तरंग समुद्र में केवल भ्रमण करने के लिए ही विषम ऊर्ध्व नाट्य को प्राप्त होती है, वैसे ही चित्त को क्षुब्ध करनेवाली तृष्णा ने केवल अंतःकरण में निविड़ भ्रम पैदा करने के लिए ही अनेक कष्टों से पूर्ण धनोपार्जन के लिए उत्साह प्राप्त कराया है ॥५॥ बढ़े हुए अधिक्षेप, अनूप भाषण आदिरूप प्रचण्ड कल्लोल शब्दों से युक्त अतएव उक्त तरंगों से तरल आकारवाली और एक विषय से दूसरे विषय की ओर जानेवाली तृष्णारूपी नदी मेरे शरीररूपी पर्वत में बह रही है ॥६॥ यद्यपि मैं अपनी चपलता को रोकने के लिए धर्ममेघा

समाधि आदि में तत्पर हूँ, तथापि जैसे आँधी जीर्ण तृण को कहीं अन्यत्र ले जाती है, वैसे ही कलुषित तृष्णा ने मेरे चित्तरूपी चातक को कहीं अन्यत्र–अयोग्य विषय – में ही प्राप्त करा दिया है ॥७॥ मैं विवेक, वैराग्य आदि गुणों से युक्त पदार्थों के विषय में जिस जिस आस्था का (उत्साह का) आश्रय करता हूँ, उस उस आस्था को मेरी तृष्णा इस तरह काट देती है, जिस तरह चूहा वीणा के चर्मसूत्र को काट देता हैं। जैसे जल के आवर्त में (भौंरी में) पुराना पत्ता, वायु में लघु तृण और आकाश में शरत्कालीन मेघ यत्र–तत्र घूमते रहते हैं, वैसे ही मैं चिन्तारूपी चक्र में घूम रहा हूँ। जैसे जाल में फँसे हुए पक्षी अपने घोंसले में जाने के लिए असमर्थ होने से जाल में ही पड़े रहते हैं, वैसे ही अपने पारमार्थिक स्वरूप को प्राप्त करने में असमर्थ हुए हम लोग चिन्तारूपी जाल में मुग्ध हो रहे हैं ॥८–१०॥ हे मुनिवर, तृष्णारूपी ज्वाला से मैं इस प्रकार दग्ध हो गया हूँ कि मुझे अमृत से भी अपने दाह की शान्ति की सम्भावना नहीं है। तृष्णारूपी उन्मत्त घोड़ी यहाँ से अतिदूर जाकर और फिर फिर वापस आकर बड़ी शीघ्रता से चारों ओर घूम रही है ॥११,१२॥ धर्म और अधर्म के अनुसार नित्य स्वर्ग और नरक में गमन और आगमन करानेवाली, भोक्ता और भोग्य के तादात्म्याध्यास एवं संसर्गाध्यास से युक्त, जड़ पदार्थों से सम्बद्ध एवं विक्षुब्ध तृष्णा घटीयन्त्र के ऊपर लगी हुई रज्जु के समान है। उक्त रज्जु भी सदा ऊपर नीचे आती जाती रहती है, जल से सम्बन्ध रखती है, गाँठवाली है एवं चंचल रहती है। देह के भीतर मन में गूँथी गई तथा किसी प्रकार किसीसे विच्छिन्न न की जानेवाली इस तृष्णारूपी रज्जु से बैल के समान ये मनुष्य अत्यन्त शीघ्रता से ऐहिक और आमुष्मिक (परलोक के) फल के हजारों साधनरूपी भार को वहन करते हैं ॥१३,१४॥ जैसे बहेलिये की स्त्री पक्षियों को फँसाने के लिए जाल बनाती है वैसे ही सदा आकर्षण–स्वभाववाली तृष्णारूपी किराती ने लोगों को फँसाने के लिए यह पुत्र, मित्र, कलत्र आदिरूप जाल बनाया है ॥१५॥ यद्यपि मैं धीर हूँ, तथापि भयंकर काली रात्रि की नाईं तृष्णा मुझे डरा रही है, विवेकरूपी चक्षु से सम्पन्न हूँ फिर भी अन्धा बना रही है और आनन्दस्वभाव हूँ तो भी दुःख दे रही है। हजारों कुटिलताओं से पूर्ण, अंशतः सुख देनेवाले विषयों के लाभ से युक्त और परिणाम में वैर बन्धन आदिरूप विषय देनेवाली यह तृष्णा तनिक स्पर्श होने पर ही काली नागिन की नाईं डँस लेती है अर्थात् मोह में डाल देती है ॥१६,१७॥ पुरुषों के हृदय को भेदन करनेवाली, बन्धन, रोग आदि की या सारे प्रपंच की उत्पादक, दुर्भाग्य देनेवाली और दीनता से पूर्ण यह तृष्णा काली राक्षसी के सदृश है ॥१८॥ हे ब्रह्मन्, अनेक तन्त्रियों (तारों) और नाड़ियों से वेष्टित शरीर को धारण करनेवाली तृष्णा निरतिशय परमानन्द के लिए उपयुक्त नहीं है, अतः यह जीर्ण तुम्बीसे युक्त वीणा है। तात्पर्य यह है कि जैसे आलस्यवश अन्य तुम्बीका सम्पादन न करने के कारण विच्छिन्न तन्त्रियों से सम्पन्न वीणा उत्सव आदि मांगलिक कार्यों के लिए उपयुक्त नहीं होती, वैसे ही यह तृष्णा भी परमानन्द के लिए उपयुक्त नहीं है ॥१९॥ नित्य अतिमलिन, परिणाम में दुःखप्रद उन्माद को देनेवाली, दीर्घ तन्त्रियों से युक्त तथा विषयों में घनीभूत स्नेह करनेवाली तृष्णा पर्वत की गुफा में उत्पन्न लतारूप ही है अर्थात् पर्वत गुफा में एक प्रकार की लता होती है, वह सूर्य के किरणों के न मिलने से अत्यन्त मलिन रहती है, उसका सेवन करने से परिणाम में उन्माद आदि दुःखप्रद व्याधियाँ होती है और वह अत्यन्त विस्तृत होती है। इसीलिए तृष्णा और उसकी समानता है। जैसे आम्र आदि उन्नत वृक्षों की शाखापर स्थित, सूख जाने के कारण अनेक

कण्टकों से आकीर्ण, पुष्पशून्य और फलरहित क्षीण मंजरी आनन्दप्रद नहीं होती, वैसे ही यह तृष्णा न आनन्दप्रद है, न सुखप्रद है और न फलप्रद है, किन्तु व्यर्थ–विस्तृत है, अमंगलकारिणी है और क्रूर है ॥२०,२१॥ चित्त को अपने वश में करने में असमर्थ वृद्ध वेश्या के समान तृष्णा प्रत्येक पुरुष के पीछे दौड़ती है, पर उसे फल कुछ नहीं मिलता ॥२२॥ अनेक प्रकार के शोक, मोह आदि रसों से परिपूर्ण इस महान् संसारसमूह में भुवनरूपी विस्तृत नाट्यशाला में तृष्णा वृद्ध नर्तकी है अर्थात् करुण, हास्य और बीभत्स आदि रसों से युक्त नृत्यशाला में स्थित वृद्ध वेश्या के समान तृष्णा है ॥२३॥ संसाररूप विशाल जंगल में जरा, मरण आदि विकसित कुसुमों से युक्त एवं विनिपात और उत्पात आदि फलों की जननी तृष्णा विस्तृत विष लता है ॥२४॥ तृष्णा जीर्ण नर्तकी के समान जिस कार्य के साधन में अशक्त है, (नर्तकी के पक्ष में) जहाँ जाने में असमर्थ है, वहाँ भी ताण्डवगति धारण करती है और उत्साह न होने के, निर्बल होने के कारण आनन्दरहित नृत्य करती है ॥२५॥ चिन्तारूपी चपल मयूरी निहार में निहारसदृश मोहावरण में–नृत्य करती है, आलोक के आनेपर–विवेकरूप प्रकाश होने पर–शान्त हो जाती है, और असाध्य वस्तुओं में अपना कदम रखती है। मयूरी भी वर्षा में नृत्य करती हैं, शरत् में शान्त हो जाती है और दुर्गम स्थानों में गमन करती है। जैसे अन्यकाल में बहुत दिनों तक शून्य रहनेवाली और वर्षा में भी बीच–बीच में शून्य रहनेवाली नदी वर्षाकाल में जलकल्लोलों से प्रचुर होकर क्षण में ही उल्लास को प्राप्त होती है, वैसे ही चिरकाल तक शून्य, फल पानेपर भी मध्य–मध्य में शून्य यह तृष्णा जड़ पदार्थों में अनेक प्रकार के कल्लोलों से–आनन्दों से – पूर्ण होकर क्षण में ही उल्लसित हो जाती है ॥२६,२७॥ जैसे क्षुधा और तृषा से व्याकुल चिड़िया फलशून्य वृक्ष को छोड़कर फलवाले अन्य वृक्षपर चली जाती है, वैसे ही यह तृष्णा एक पुरुष को छोड़कर अन्य पुरुष के पास चली जाती है ॥२८॥ चंचल बन्दरीरूपी तृष्णा दुष्प्राप्य स्थान में भी अपना कदम रखती है, तृप्त होने पर भी फल की आशा करती है, एक स्थान पर अधिक कालतक नहीं ठहरती, अतः वह चपल बन्दरी है ॥२९॥ जैसे प्राणियों के कर्मों के अनुसार विधाता सदा चेष्टा करते हैं, वैसे ही यह तृष्णा भी शुभ कर्म का आरम्भ करके उसकी समाप्ति न करके अशुभ, अनुचित, असमंजस या प्रक्रमविरुद्ध सभी कार्यों का अनुसरण करती है, उपरत नहीं होती, किन्तु शुभाशुभ के लिए सर्वदा चेष्टा करती रहती है ॥३०॥ क्षण में पाताल में जाती है, क्षण में आकाश की ओर उड़ती है, क्षण में दिशारूप निकुंजों में घूमती है, इसलिए यह तृष्णा हृदयरूपी कमल में रहनेवाली भँवरी है ॥३१॥ संसार में जितने दोष हैं उनमें एक तृष्णा ही दीर्घ काल तक दुःख देनेवाला दोष है, जो अन्तःपुर में रहनेवाले को भी भीषण संकट में डाल देती है ॥३२॥ परम–आत्मतत्त्वप्रकाश के साथ विरोध करनेवाली मोहरूप निहार से निविड़ मेघमालारूपी तृष्णा केवल जड़ता ही प्रदान करती है। मेघमाला भी सूर्यप्रकाश की विरोधिनी है, निहार से पूर्ण होती है और शैत्यरूप (शीतलतारूपी) जड़ता की दात्री है। अतः तृष्णा और मेघमालिका का साम्य उचित ही है ॥३३॥ जैसे अनेक पशुओं के बाँधने के लिए गले में लगी हुई रस्सियों से ग्रथित मालासदृश तिरछी विस्तृत रज्जु होती है वैसे ही सांसारिक व्यवहार में फँसे हुए प्राणियों के समूहों में मनों को चारों ओर से बाँधने के लिए यह तृष्णारूप रज्जु है ॥३४॥ जैसे इन्द्रधनुष विस्मयोत्पादक अनेक प्रकार के रूपों से युक्त, विगुण–ज्या से रहित, लम्बा–चौड़ा, मेघाश्रित, शून्यात्मक आकाश में स्थित और स्वतः शून्य–

अवस्तु है, वैसे ही यह तृष्णा भी विचित्र विषयों से अनुरंजित, असत् गुणों से युक्त, दीर्घ, मलिन पुरुष में आश्रित और शून्यात्मक मन में स्थित है ॥३५॥ तृष्णा गुणरूपी धान्यों के लिए वज्र है, फलरूप आपत्तियों के लिए शरद्‌ऋतु है, संवित्‌रूप–तत्त्वज्ञानरूप–कमलों के लिए हिम है–विघातिका है एवं अज्ञान के लिए दीर्घ हेमन्त की रात्रि है ॥३६॥ तृष्णा संसाररूप नाटक में नटी है, प्रवृत्तिरूप घोंसले में रहनेवाली चिड़िया है, मनोरथरूप अरण्यों में रहनेवाली हरिणी है और स्मरको–कामदेव को बढ़ाने के लिए संगीतवीणा है ॥३७॥ तृष्णा व्यवहाररूपी समुद्र की लहरी है, मोहरूप मत्त हाथियों की श्रृंखला है, सृष्टिरूप वटवृक्ष की सुन्दर लता है, दुःखरूप कमलीनियों की चन्द्रिका है, जरा, मरणरूप दुःखों की एक रत्नपेटिका है और सदा आधि,व्याधिरूप विलासों की मदमत्त विलासिनी है। तृष्णा को आकाशरूपी मार्ग की उपमा दी जा सकती है, क्योंकि जैसे आकाश कभी सूर्यप्रकाश से निर्मल हो जाता है, कभी मेघाच्छन्न होने पर कुछ–कुछ अँधियारी छा जाती है और कभी कुहरे से आवृत्त हो जाता है, वैसे ही तृष्णा भी कभी तनिक विवेकरूपी प्रकाश से निर्मल हो जाती है, विवेक न होने पर अज्ञान से मलिन और कभी कुहरे के तुल्य व्यामोह से व्याप्त हो जाती है ॥३८–४०॥

यों तृष्णा का वर्णन कर अब तृष्णा की शान्ति का फल कहते हैं।

जैसे गाढ़ अन्धकार से अँधेरी कृष्णपक्ष की रात्रि निशाचरों (राक्षसों) के प्रचार के अभाव के लिए विनष्ट हो जाती है अर्थात् राक्षसों का इतस्ततः गमन न हो, इसलिए बीत जाती है, वैसे ही तृष्णा भी देहप्रयुक्त परिश्रम की शान्ति के लिए (मुक्ति के लिए) नष्ट हो जाती है। अर्थात् तृष्णा की शान्ति होने से मुक्ति हो जाती है ॥४१॥ वेदान्त आदि अध्यात्मशास्त्रों के विचार से शून्य अतएव व्याकुलचित्त के संसारी लोग तभी तक मोह को प्राप्त होते हैं जब तक विषप्रयुक्त विसूचिका रोग के समान मृत्यु की हेतु तृष्णा पीछा करती रहती है अर्थात् लोग उसका त्याग नहीं करते ॥४२॥

उसके त्याग का क्या उपाय है ? इस पर कहते हैं।

यहाँ पर चिन्ता का अर्थ विषयों का स्मरण है। उक्त चिन्ता के त्याग से संसारी जनों का दुःख नष्ट हो जाता है। विद्वानों ने चिन्तात्याग को ही तृष्णारूपी विसूचिका (हैजा) का मन्त्र (प्रतीकारक उपाय) कहा है ॥४३॥ जैसे तालाब में रहनेवाली मछली घास–पत्ती, पत्थर–लकड़ी आदि सभी मेरा भक्ष्य है, ऐसा समझकर अन्त में भक्ष्ययुक्त बंशीको (मछली को फँसाने के काँटे को) भी मुँह में डालकर मछुवे द्वारा मारी जाती हुई फड़फड़ाती है वैसे ही तृष्णा भी तृण, पत्थर, काष्ठ आदि निखिल वस्तुओं को अपना भक्ष्य समझकर ग्रहण करती हुई अन्त में स्फूर्ति को प्राप्त होती है ॥४४॥ जैसे सूर्य की किरणें मुकुलित कमल को विकसित करा देती हैं, वैसे ही रोग, पीडा, स्त्री और तृष्णा भी धीर पुरुष को भी शीघ्र अधीरता को प्राप्त कर देती हैं। अर्थात् जैसे सूर्यकिरणें मुकुलितावस्था में गम्भीर (गहरे) कमल को खूब विकसित कर उत्तान (छिछला) कर देती है, वैसे ही तृष्णा भी धीर–अयाचित–व्रत–पुरुष को शीघ्र अधीर–याचना द्वारा लघु–बना देती है ॥४५॥ तृष्णा बाँस की लता के समान सदा अन्तःसारशून्य (भीतर से खोखली), ग्रन्थियों से युक्त (तृष्णाओं के पक्ष में दुराग्रहरूपी ग्रन्थियों से युक्त और बाँस के पक्ष में पोररूपी ग्रन्थियों से युक्त), बड़ी बड़ी चिन्ताओं और दुःखों से पूर्ण (बाँस के पक्ष में बड़े बड़े कोंपलों के काँटों से युक्त), मोती और मणियों पर प्रेम करनेवाली (बाँस के पक्ष में सर्वजनप्रिय मोतीरूपी

मणियों की उपलब्धि के स्थान) है अर्थात् जैसे बाँस की लताएँ सदा भीतर से खोखली रहती हैं, उनके बीच में बहुत सी गाँठें होती हैं, उनमें बड़े बड़े कोंपलों के काँटे होते हैं और सर्वजन मनोहर मोती उनमें उपलब्ध होते हैं, वैसे ही तृष्णाएँ भी खोखली, दुराग्रह से भरी, बड़ी चिन्ताओं और कष्टों से पूर्ण और मोती, मणि आदि धन सम्पत्ति में अति प्रेम करनेवाली होती हैं ॥४६॥

विवेक भी तृष्णा के नाश में हेतु हैं, ऐसा दर्शाते हैं।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि ऐसी दुश्छेद्य विषयतृष्णा को भी ज्ञान सम्पन्न महानुभाव लोग विवेकरूपी निर्मल (तीक्ष्ण) तलवार से अनायास काट डालते हैं ॥४७॥ हे ब्रह्मन् जीवों के हृदय में स्थित तृष्णा जैसी तीक्ष्ण न तो तेज तलवार की धार है, न वज्राग्नि की चिनगारियाँ हैं और न बन्दूक की गोलियाँ (छर्रे) ही हैं ॥४८॥

अर्थात् तलवार की धार आदि बाह्य होने के कारण प्राणी के लिए कदाचित् ही अनर्थकारी होते हैं, पर हृदय में रहने के कारण तृष्णा सदा ही अनर्थकारिणी होती है, इसलिए वह तलवार की धार आदि से भी बढ़कर है, यह आशय है।

जैसे दीये की लौ मध्य में उज्जवल और अन्त में कृष्णवर्ण, अग्रभाग से तीक्ष्ण, स्नेह से युक्त, दीर्घदशायुक्त, प्रकाशमान और दुःस्पर्श होती है, विषयतृष्णा भी ठीक वैसे ही है अर्थात् जैसे दीये की लौ पहले उज्जवल होती है, अन्त में उसका अग्रभाग काला और तीखा हो जाता है, उसमें तेल रहता है, बड़ी बत्ती रहती है और सन्ताप इतना अधिक रहता है कि उसे कोई छू नहीं सकता, वैसे ही विषयतृष्णा भी पहले भोग और वैभव से उज्जवल रहती है, अन्त में तमोगुण और मृत्यु का कारण होती है, माता, स्त्री और पुत्र के स्नेह से दीर्घ और उत्कृष्ट बाल्य, यौवन और वार्धक्य अवस्थाओं से युक्त, प्रत्यक्ष और इष्टवियोग से उत्पन्न हार्दिक क्लेश से असह्य है ॥४९॥ हे महर्षि, एकमात्र विषयतृष्णा ही मेरु के सदृश अति उन्नत, गौरवशाली, पराक्रमी, अयाचित व्रत से अटल एवं विद्वान् नरश्रेष्ठ को भी एक क्षण में याचना द्वारा दीन–हीन बनाकर तिनके के समान उपेक्षणीय और चंचल बना देती है ॥५०॥

किसी ने कहा भी है :

तृणाल्लघुतरस्तूलस्तूलादपि च याचकः। वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं याचयिष्यति ॥

अर्थात् तृण से रुई हलकी होती है और रुई से भी याचक हलका है। रुई को हवा उड़ा ले जाती है, पर याचक मुझसे भी कोई याचना करेगा, यह समझकर हवा उसे नहीं उड़ाती।

जैसे विन्ध्याचल अनेक बड़े बड़े अरण्यों से पूर्ण निबिडतारूपी जाल और घूलिपटल से आच्छन्न एवं भीषण अन्धकार और घने कुहरे से व्याप्त होता है, वैसे ही विषयपिपासारूपिणी तृष्णा भी अरण्यतुल्य अनेक बड़े बड़े साहस के कार्यों से युक्त, पतन हेतु होने से भयंकर, निबिड जाल की नाईं बन्ध में हेतुभूत आशारूपी रस्सी से और रजोगुण से बनी हुई एवं अज्ञानरूपी कुहरे से व्याप्त है अथवा 'संस्तीर्णगहना' पदका – एक ही विषयतृष्णा आशा, काम, लोभ, लम्पटता आदि के रूप से चौदहों भुवनों में व्याप्त और दुर्लक्ष्य है – ऐसा अर्थ है ॥५१॥

तृष्णा कैसे विस्तीर्ण है, कैसे दुर्लक्ष्य है और कैसे एक है ? क्योंकि आश्रय, विषय और वाचक शब्द के भेद से आशा, काम, लोभ आदिरूप से तृष्णा भिन्न भिन्न है, ऐसी आशंका कर उक्त अर्थ का

दृष्टान्तपूर्वक प्रतिपादन करते हैं।

जैसे 'रसन' इन्द्रिय के रूप से शरीर में विद्यमान सब जलों के मध्य में (जल सामान्यमें) रहनेवाली एक ही माधुर्यशक्ति (नदी, समुद्र आदि में गिरने से) क्षीर, (गलाने से) उदक, (शब्द करने से) अम्बु, इस प्रकार क्रिया और वाचक शब्दों के भेद से विभिन्न चंचल तरंगों से संकुल जल में स्थित होकर दुर्लक्ष्य होती है, अर्थात् एक ही है ऐसा उसका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही शरीर में विद्यमान तृष्णा एक होती हुई भी सम्पूर्ण भुवनों के भोग्य पदार्थों में व्याप्त होकर व्यवहार में दुर्लक्ष्य-सी प्रतीत होती है- देहस्थित तृष्णा ने ही आशा, काम और लोभ का वेश धारण किया है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत नहीं होता ॥५२॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अठारहवाँ सर्ग

आधि, व्याधि आदि अनेक क्लेशों तथा जरा-मृत्यु से ग्रस्त अभिमान और
तृष्णा के मूलकारण शरीर की निन्दा।

तृष्णा भले ही दुःख की कारण हो, पर 'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्' (जीवित पुरुष अनेक मंगलों को देखता है) इस न्याय से भी शरीर सुख-भोग का स्थान है, ऐसी प्रसिद्धि है और शरीर पर सबका अतिशय प्रेम भी देखा जाता है, इसलिए शरीर सुख का कारण है, ऐसी शंका करके शरीर भी दुःख का ही कारण है, ऐसा उपपादन करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : महर्षिजी, गीली आँतों (पेट में स्थित मल, मूत्र आदि की थैलियों) और नाड़ियों से व्याप्त परिणामशील और मरणधर्म जो शरीर संसार में सबके सामने प्रकाशित हो रहा है, वह भी केवल दुःखभोग के लिए ही है। अर्थात् मल, मूत्र, शुक्र और शोणित से आर्द्र नाड़ियों से परिव्याप्त, विविध प्रकार के विकारों से युक्त और पतनशील यह जीवदेह केवल दुःखभोग के लिए प्रकाशित हो रही है ॥१॥ युक्तिमार्ग का अवलम्बन करने पर स्पष्टरूप से ज्ञात होता है कि यह जीव शरीर दो रूपवाला है। प्राण आदि चार कोशों का आधार होने के कारण जिसमें आत्मचमत्कृति (अध्यस्त-चैतन्यतादात्म्य) लिपटी-सी है, ऐसा यह शरीर अज्ञ होने पर भी अभिज्ञ के समान और अभव्य होने पर भी भव्य के समान प्रतीत होता है। यह न तो जड़ है और न चेतन ही है (📖) ॥२॥ चित् और जड़ दृष्टियों के मध्य में क्या यह शरीर आत्मकोटि में है (चेतन है) या अनात्मकोटि में है (जड़ है) ऐसा सन्देह होने पर निर्णय न होने से दुष्ट चित्त से युक्त एवं विवेक रहित होने से ही विमूढ आत्मावाला यह शरीर मोह ही पैदा करता है। अथवा 'प्रपश्यति' ऐसा पाठ होने पर अज्ञानी और विवेकी में से अज्ञानी इस देह में आत्मबुद्धि करने के कारण संसार को ही देखता है, पुरुषार्थ को नहीं देख पाता, क्योंकि वह

(📖) इस चित्-जड़संयुक्त देह का देहभाग अज्ञ है अर्थात् जड़ है। आत्मा इसका ज्ञाता है और वह अभिज्ञ है। अभिज्ञ के संयोग से यह जड़ देह अभिज्ञ के समान प्रतीत होता है। इसके ही अवलम्बन से मुक्ति प्राप्त होती है, इसलिए यह अभव्य-अमंगल-होने पर भी भव्य है। इसी कारण यह अन्यान्य जड़ों से विलक्षण एवं शुद्ध चेतनरूप आत्मा भी नहीं है।

चंचल एवं अशुद्ध चित्तवाला है ॥३॥ यह शरीर अल्प खाने–पीने से आनन्द को प्राप्त होता है और अल्प शीत–उष्ण आदि के क्लेशको प्राप्त होता है, इसलिए शरीर के समान गुणहीन, शोचनीय (शोक करने योग्य) और अधम दूसरा कोई नहीं है ॥४॥

यह शरीर उपेक्षणीय है, यह दर्शाने के लिए वृक्ष के रूपक से उसका वर्णन करते हैं।

यह शरीर वृक्ष के तुल्य है। दो भुजाएँ इसकी शाखाएँ हैं उन्नत कन्धा इसका तना है, दो नेत्र इसके खोखले हैं, मस्तक इसका बड़ा भारी फल है, यह दाँतरूपी पक्षियों के बैठने के स्तम्भ के समान उत्तम रीति से खड़ा है, यह दो कर्णरूपी कठफोड़वा पक्षियों की चोंच के आघात से जर्जरित (छिद्रयुक्त–सा) है, हाथ और पैर इसके सुन्दर पत्ते हैं, रोग आदि इसमें लता स्थानीय हैं। जैसे कुल्हाड़े आदि से वृक्ष काटा जाता है, वैसे ही शस्त्र आदि से इस शरीर का भी उच्छेद, किया जा सकता है, 'द्वा सुपर्णा' इस श्रुति में प्रसिद्ध (जीव और ईश्वररूप) पक्षियों ने जिसके हृदय में अपने निवास के लिए घोंसला बना रक्खा है, यह उत्पन्न और विनष्ट होनेवाले दाँतरूपी केसर से शोभित हासरूप पुष्पों से हर घड़ी अलंकृत रहता है अर्थात् जैसे वसन्त आदि फूल की ऋतु आने पर वृक्ष उत्पन्न हो हो कर मुरझानेवाले एवं केसर से शोभित होनेवाले फूलों से अलंकृत होता है, वैसे ही यह शरीर भी हर्ष के समय में उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाले एवं दाँतरूपी केसरों से सुशोभित होनेवाले मन्दहाससे शोभित होता है। सुन्दर कान्तिरूपी छायावाला यह देहरूपी वृक्ष जीवरूपी यात्रियों का विश्राम–स्थान है। यह किसका आत्मीय (मित्र) और किसका शत्रु है ? इस देहरूपी वृक्ष में प्रेम और द्वेष करना व्यर्थ है अर्थात् देह के साथ जीव का कोई भी वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, इसलिए यह किसी का आत्मीय नहीं है, अतः इसके प्रति आस्था और अनास्था ही क्या ? ॥५–८॥

यह शरीर सब लोगों में आत्मरूप से प्रसिद्ध है, इसको उपेक्षणीय कैसे कहते हैं ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

पूज्यवर, संसार–सागर को पार करने के लिए पुनः पुनः गृहीत नौकारूपी देह में किसकी आत्मबुद्धि होगी ? अर्थात् जैसे सागर को पार करने के लिए गृहीत नौका में किसी की आत्मसंभावना का संभव नहीं है, वैसे ही संसार को पार करने के लिए अर्थात् संसार से मुक्त होने के लिए बार बार गृहीत देह में किसकी आत्मभावना हो सकती है ? ॥९॥ रोमरूपी असंख्य वृक्ष और इन्द्रियरूपी अनेक गड्ढों से युक्त देहनामक निर्जन वन में कौन पुरुष विश्वास को (यह चिरकाल तक निःशंक होकर रहने योग्य है, ऐसी प्रतीति को) प्राप्त होगा ? ॥१०॥ पूज्य मुनिजी, साररहित तथा छिद्रयुक्त, मांस, नसें (स्नायु) और हड्डियों से वेष्टित और बाहर निकलने (मुक्त होने) के उपायभूत उपदेश (शब्द) से विरहित इस शरीररूपी नगाड़े में मैं बिल्ली की तरह रहता हूँ ॥११॥

छः श्लोकों से देह का पाकड़ के वृक्ष के रूपक से निरूपण करते हैं।

शरीररूपी पाकड़ का वृक्ष मुझे सुखकारक प्रतीत नहीं होता। यह संसाररूपी अरण्य में पैदा हुआ है, चित्तरूपी चपल बन्दर इसमें इधर उधर कूदता फाँदता है, चिन्तारूपी मंजरी से यह फूला हुआ है, महादुःखरूपी घुनों ने इसके चारों ओर छेद कर रक्खे हैं, तृष्णारूपी सर्पिणी का यह घर है, कोपरूपी कौए ने इसमें घोंसला बना रक्खा है, मन्द हासरूप प्रस्फुटित पुष्पों से यह शोभायमान है, शुभ और

अशुभ (पुण्य और पाप) ये दो इसके महाफल हैं, भुजाएँ ही इसमें लताएँ हैं, हाथ ही पुष्पों के गुच्छे हैं, यह बड़ा भला लगता है, प्राणवायुरूप वायु से इसके सम्पूर्ण अवयवरूपी पत्ते हिल रहे हैं, सम्पूर्ण इन्द्रियरूपी चिड़ियाँ इसमें बसेरा करती हैं, सुन्दर घुटनों से युक्त अधोभाग इसका तना है, यह उन्नत है और यौवनकान्तिरूपी शीतल छाया से युक्त है। कामदेवरूपी यात्री इस पर बास करता है, सिर में उगे हुए खूब लम्बे सिर के केश उसके बरोह हैं। अहंकाररूपी गीध इसमें घोंसला बनाकर डटा है, यह भीतर से खोखला (छिद्रयुक्त) है। विविध वासनारूपी जटाओं से चारों ओर वेष्टित होने के कारण दुश्छेद्य है, व्यायामरूपी विस्तार से कोमलतारहित और रूक्ष भी है ॥१२-१७॥

महामुने, अहंकाररूपी गृहस्थ का महान् गृह यह कलेवर चाहे भूमि में गिरकर बदल जाय, चाहे चिरकाल तक स्थिर रहे, इससे मेरा क्या प्रयोजन ? ॥१८॥ इस देहरूपी अहंकार के घर में इन्द्रियरूपी पशु कतार बाँधकर खड़े हैं, तृष्णारूपी गृहस्वामिनी (घर की मालकिन) बार बार इधर उधर घूम रही है, कामदेवरूपी गेरु आदि रंगने के पदार्थों से सब अवयव रंगे गये हैं, इसलिए यह देह मुझे अभीष्ट नहीं है। पीठ की हड्डीरूपी (रीढ़रूपी) सहतीरों के परस्पर मिलने से जिसके भीतर बहुत थोड़ा स्थान रह गया है, आँतरूपी रज्जुओं से बँधा हुआ देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है ॥१९,२०॥ स्नायु (नस) रूपी रस्सियाँ जिसमें चारों ओर तनी हैं, रस, रक्तरूप जल से रचित गारे से लिपा गया, वृद्धावस्था (केश रोम आदि को सफेद करनेवाला बुढ़ापा) रूपी चूने से सफेद यह देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है ॥२१॥ चित्तरूपी नौकर ने विविध चेष्टाओं द्वारा इसकी स्थिति इतनी मजबूत कर रक्खी है कि यह गिर नहीं सकता, मिथ्या और अज्ञान इसके अधारस्तम्भ हैं, दुःखरूपी बाल-बच्चों ने इसमें रो रोकर कुहराम मचाया है, सुख-शय्या (सुषुप्ति) से यह मनोहर है, दुश्चेष्टारूपी दाह-व्रण से पीड़ित दासी इसमें रहती है, ऐसा देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है ॥२२,२३॥

हे मुने, यह देहरूपी गृह दोषपूर्ण विषयसमूहरूपी बर्तनों और अन्यान्य सामग्रियों से ठसाठस भरा हुआ है और अज्ञानरूपी क्षार से जर्जर है, भला बतलाइए तो सही, यह हमारा अभीप्सित कैसे हो सकता है ? टखने (एड़ी के ऊपर की गाँठ) रूपी आधारकाष्ठ स्थित पिण्डलीका घुटनारूप मस्तक जिसके स्तम्भका मस्तक है, लम्बी लम्बी दो भुजाएँरूपी आड़ी लकड़ियों से अत्यन्त दृढ़ यह देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है। ब्रह्मन्, जिसमें ज्ञानेन्द्रियरूपी झरोखों के भीतर प्रज्ञारूपिणी गृहस्वामिनी क्रीड़ा कर रही है, चिन्तारूपी अनेक पुत्रियाँ जिसमें विद्यमान हैं, ऐसा देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है। सिर के केशरूपी छादन (छाजन-छाने की घास-फूस) से आच्छादित, कर्णरूपी शोभाशाली चन्द्रशालाओं से (घूर ऊपर के कमरों से) युक्त तथा लम्बी लम्बी अँगुलीरूपी काठ के चित्रों से सुसज्जित देहरूपी घर मुझे पसन्द नहीं है ॥२४-२७॥ जिसमें सम्पूर्ण अंगरूपी दीवारों में रोमरूपी निबिड़ (खूब घने) जौके अंकुर उगे हैं और पेटरूपी छिद्र है, ऐसा देहरूपी घर मुझे नहीं चाहिए ॥२८॥ जिसमें नखरूपी मकड़ियों के जाले तने हैं, कुत्ती की नाईं भ्रमण, दीनता, कलह आदि करानेवाली क्षुधा जिसके अन्दर शोर मचाती है, जिसमें भीषण शब्द करनेवाला वायु सदा चलता रहता है, वायु का वेग भीतर प्रवेश करने और बाहर निकलने में सदा व्यग्र रहता है और इन्द्रियरूपी झरोखे सदा खुले हैं, इस प्रकार का देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है। उक्त देहरूपी घर के मुँहरूपी दरवाजे पर जिह्वारूप वानरी सदा

डटी रहती है, इससे उसकी भीषणता और बढ़ जाती है, दाँतरूप हड्डी के टुकड़े स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, अतः यह देहगृह मुझे अभीष्ट नहीं है ॥२९–३१॥ त्वचारूपी चूने के लेप से (पलस्तर से) चिकना है, सम्पूर्ण सन्धियाँ इस घर के यन्त्र हैं, उनके संचार से (भ्रमण आदि से) यह चंचल है, मनरूपी सदा रहनेवाले चूहे ने इसे चारों ओर से खोदकर शिथिल और कूड़ा आदि से पूर्ण कर रक्खा है, अतः यह देहगृह मुझे नहीं जँचता ॥३२॥ क्षणभर में मन्दहासरूपी दीपों की प्रभा से उज्ज्वल एवं आह्लाद से दैदीप्यमान और क्षणभर में अज्ञानरूपी अन्धकार से व्याप्त यह देहरूपी गृह मुझे भला नहीं लगता। यह देह सम्पूर्ण रोगों का घर, बुढापे के कारण पड़नेवाली झुर्रियों और केशों की सफेदी का नगर है। इसमें मानसिक क्लेशों का ही प्रधानरूप से साम्राज्य है, अतः उनसे इसकी गहनता का कोई ठिकाना नहीं है, इसलिए यह देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है। घोर अन्धकार से आच्छन्न दिशारूपी झाड़ियों से युक्त भीतर से शून्य अनेक गुहाओं से पूर्ण यह देहरूपी महाअरण्य है, इसमें इन्द्रियरूपी भालू भयप्रदर्शन करते हुए इधर उधर घूमते रहते हैं, अतः यह देहरूप अरण्य मुझे इष्ट नहीं है ॥३३–३५॥

हे मुनीश्वर, जैसे कोई निर्बल जीव कीचड़ में फँसे हुए हाथी को नहीं निकाल सकता, वैसे ही मैं भी इस देहरूपी गृह को धारण करने में असमर्थ हूँ ॥३६॥ क्या राजलक्ष्मी, क्या शरीर और क्या राज्य, क्या मनोरथ– इनमें से किसी से भी मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है, क्योंकि थोड़े ही दिनों में काल उन सबका नाश कर डालता है अर्थात् नाशवान वस्तु से किसका क्या लाभ हो सकता है ? ॥३७॥ मुनिवर, रक्त और मांस से विरचित विनाशशील इस देह के बाहर और भीतर भली भाँति देखकर कहिए कि इसमें कौन–सी रमणीयता है ? ॥३८॥ पूज्यवर, भला आप ही कहिये जो शरीर मरने के समय जीव के पीछे नहीं जाते जीव का त्याग कर देते हैं, उन कृतघ्न शरीरों पर ज्ञानवान् पुरुषों का क्या आदर हो सकता है ? मदोन्मत्त हाथी के कानों के अग्रभाग की तरह चंचल और हाथी के कान के अग्रभाग में लटक रहे जलबिन्दु के समान विनाशशील यह शरीर मुझे छोड़े, उससे पहले ही मैं इसका त्याग कर देता हूँ। वायु के वेग से परिचालित कोमल पत्ते के समान चंचल यह शरीर आधि–व्याधिरूपी सैकड़ों काँटों से क्षत–विक्षत होने के कारण जर्जर हो जाता है। इस क्षुद्र स्वभाव, कटु और नीरस देह से हमारा किंचित्मात्र भी उपकार नहीं है। चिरकाल तक भाँति–भाँति के सुन्दर खाद्य और पेय पदार्थों को खा–पीकर नवीन पत्ते के समान कोमल कृशता को प्राप्त होकर स्वतः विनाश की ओर अग्रसर होता है। यह पामर शरीर पूर्व जन्मों में बारबार उपयुक्त ही भाव और अभावरूप सुख–दुःखों का पुनः पुनः अनुभव करता हुआ लज्जित नहीं होता। जब यह दीर्घकालतक लोगों पर अपना आधिपत्य जमाकर और विविध विभवों को पाकर न तो वृद्धि या उत्कर्ष को प्राप्त होता है और न स्थिरता को प्राप्त होता है, तब इसके परिपालन या परिक्षण से क्या लाभ ? यह शरीर बुढ़ापे के समय में बुढ़ापे को अवश्य प्राप्त होता है और मरने के समय मृत्यु को अवश्य प्राप्त होता है, यह नियम भाग्यवान् और दरिद्र दोनों के लिए समान है, उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है, किन्तु यह बात इस अधम देह को ज्ञात नहीं है। यह शरीर मूक कच्छप के (कच्छपों द्वारा–दुष्ट इन्द्रियों द्वारा–दुर्विषयरूपी कीचड़ का पान करनेवाले कछुए के) समान संसाररूप समुद्र के उदर में तृष्णारूपी छोटे बिल के अन्दर रहता है। अपनी आत्मा के उद्धार के अनुकूल इच्छा और चेष्टा भी इसमें नहीं है और गुरु के समीप में जाकर आत्मा के विषय में प्रश्न आदिरूप वाणी भी

इसमें नहीं है। इस संसाररूपी महासागर में केवल जलना ही जिनका मुख्य प्रयोजन है, ऐसे हजारों देहरूपी काष्ठ भासित होते हैं, पर धीमान् जन उनमें से किसी को ही 'नर' कहते हैं, अर्थात् जो ज्ञानाग्नि द्वारा जलाया जा सकता है, वह देह ही नरदेह है ॥३९-४७॥ दुष्टतारूपी बड़े बड़े बंधनों से युक्त और दुश्चरितों से जिसका पतन अवश्यम्भावी है, ऐसी देहरूपी लता से विवेकी पुरुष का कुछ भी काम नहीं है ॥४८॥ यह शरीर कीचड़ से भरे हुए पल्वलों में (तलैयों में) निमग्न मेंढक के समान विषय-भोग में अत्यन्त निमग्न होकर वृद्धावस्था से आक्रान्त हो जाता है, किन्तु यह शीघ्र ही कहाँ जायेगा और किस प्रकार की दुर्दशाओं से ग्रस्त होगा, यह ज्ञात नहीं होता ॥४९॥ जैसे धूलिपटलयुक्त आकाशमार्ग से जा रही आँधी को कोई देख नहीं सकता, क्योंकि धूलि के कारण नेत्र बन्द हो जाते हैं, कुछ भी नहीं दिखाई देता, इस देहसमुदायकी चेष्टाएँ भी ठीक आँधी के ही अनुरूप हैं अर्थात् इसकी सब चेष्टाएँ नीरस (अनर्थकारिणी), और दर्शनशक्ति का नाश करनेवाली हैं। यह शरीर ही आँधीरूपी चपलता का मूल है, यही राजसी प्रवृत्ति का उत्पादन कर आत्मदर्शन में बाधक होता है ॥५०॥ वायु की, दीपक की और मन की गति-उत्पत्ति और विनाश-जैसे अज्ञात है वैसे ही इस शरीर की उत्पत्ति, विनाश आदि अज्ञात हैं। यह क्या है, किस प्रकार से और कहाँ से आता है और कहाँ जाता है, इस बात को कोई नहीं जानता ॥५१॥ जो लोग अनित्य शरीरों में नित्यत्व का आदर करते हैं और जो लोग संसार स्थिति के विषय में नित्यत्व का अभिमान करते हैं अर्थात् जो लोग शरीरों को तथा संसार को आशायुक्त, चिरस्थायी और सत्य मानते हैं वे मोह (अज्ञान) रूपी मदिरा से उन्मत्त हैं, उन्हें बार-बार धिक्कार है ॥५२॥

न मैं देह का सम्बन्धी हूँ, न देह मैं हूँ, न मेरी देह है और न मैं ही देह हूँ, ऐसा विचारकर अर्थात् इदंतासे विशिष्ट घट आदि के समान जड़ देह यह मैं नहीं हूँ, ऐसा विचार कर परमात्मा में जिनका चित्त विश्रान्त है, वे लोग ही पुरुषोत्तम हैं ॥५३॥ मान और अपमान से वृद्धि को प्राप्त हुई एवं प्रचुर लाभ से सुन्दर लगनेवाली दुष्ट दृष्टियाँ केवल शरीर में ही परमादर करनेवाले पुरुष को मृत्यु के वशीभूत कर देती है। शरीररूपी गड्ढे में रहनेवाली मनोहर भोगतृष्णारूपिणी पिशाचीने कपट से हमें संसार में पटककर हमारा सर्वस्व हर लिया- हमें ठग लिया है ॥५४,५५॥ शरीर को ही सब कुछ समझनेवाली इस मिथ्याज्ञानरूपिणी राक्षसीने अकेली अतएव दीन-हीन प्रज्ञा (सुबुद्धि) को पूर्णरूप से ठग लिया, यह बड़े कष्ट की बात है ॥५६॥ जब इस दृश्य प्रपंच में कोई भी वस्तु सत्य नहीं है, तब उसके मध्यवर्ती होने से यह शरीर भी सत्य नहीं है। अपने आप जले हुए (असत्य) शरीर से जनता ठगी जाती है, यह महान् आश्चर्य है ॥५७॥

यदि जनता को ठगने से इस शरीर का कोई प्रयोजन सिद्ध होता, तो किसी अंश में वह क्षन्तव्य भी होता, पर वह भी तो कुछ नहीं है, ऐसा कहते हैं।

कुछ ही दिनों में वृद्धता को प्राप्त हुआ यह शरीररूपी पत्ते झरने के जलकणों (सीकरों) के समान अपने आप गिर पड़ता है- मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ॥५८॥ समुद्र में उत्पन्न हुए जल के बुद्बुदों की नाईं इस शरीर का विनाश बहुत शीघ्र हो जाता है, यह संसार में परिभ्रमणरूपी जलभँवर में व्यर्थ ही प्रकाश को प्राप्त होता है। न तो संसार में परिभ्रमण से इसका कोई प्रयोजन सिद्ध होता है और न इससे किसी दूसरे का ही प्रयोजन सिद्ध होता है ॥५९॥ मुनिश्रेष्ठ, यह शरीर मिथ्याभूत अज्ञान का विकार है-

अज्ञानजनित है, स्वप्नरूपी भ्रान्तियों का आधार है और इसका विनाश सर्वथा स्पष्ट है, इसलिए इस शरीर के प्रति मेरा क्षणभर के लिए आदर भी नहीं है ॥६०॥ जिस पुरुष ने बिजली में, शरत् ऋतु के मेघों में और गन्धर्वनगर में ये चिरस्थायी हैं, ऐसा निर्णय कर रक्खा है, वह इस क्षणभंगुर शरीर को भले ही चिरस्थायी माने ॥६१॥ किसका शीघ्र विनाश होता है, इस विषय में अपना अपना उत्कर्ष जताने के लिए हठ से प्रवृत्त हुए सम्पूर्ण पदार्थों में से सदा विनाशशील कार्यों में विजयी होनेवाले बिजली, शरत् ऋतु के मेघ आदि से भी, नाशक सामग्री के अधिक होने से, उत्कृष्ट इस शरीर को तृण से भी तुच्छ समझकर मैं परम सुखी हुआ हूँ ॥६२॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

अज्ञान, क्षुधा, पिपासा, रोग, अशौच और
चपलता से दूषित जानवरों की-सी अवस्थावाली बाल्यावस्था की निन्दा।

देह की सभी अवस्थाएँ दुःखरूप नहीं हैं, क्योंकि उसकी बाल्यावस्था की सब लोग स्पृहा करते हैं, इससे प्रतीत होता है कि वह सुखमय है। 'तद्यथा महाराजो वा महाब्राह्मणो वा महाकुमारो वा अतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीत' यह श्रुति भी बाल्यावस्था में अतिशय आनन्द का प्रतिपादन करती है, ऐसी शंका करके विस्तारपूर्वक बाल्यावस्था की अनर्थकारिता का प्रतिपादन करने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : महर्षे, चंचल आकारवाले जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज– इन चार शरीरों से पूर्ण और नानाप्रकार के कर्तव्यभाररूपी तरंगों से युक्त संसारसागर में मनुष्य जन्म पाकर भी बाल्यावस्था में केवल दुःख ही मिलता है। पहले मनुष्यजन्म ही दुर्लभ है, वह किसी प्रकार पुण्य परिपाक से यदि प्राप्त भी हो गया, तो उसमें बाल्यावस्था अतिक्लेशकारक है ॥१॥

जिसकी पहले प्रतिज्ञा की थी, उसी अर्थ का विस्तार से वर्णन करते हैं।

अशक्ति (असामर्थ्य), आपत्तियाँ, खाने–पीने आदि की तृष्णा, मूकता, (बोल न सकना), मूढ़बुद्धिता (जान न सकना), क्रीड़ा, कौतुक आदि के विषय में अभिलाषा करना, न मिलने पर दीन–हीन बन जाना और चंचलता– ये सब बाल्यावस्था में ही होते हैं ॥२॥ हाथियों के बन्धन–स्तम्भ के समान बाल्यावस्था अकारण क्रोध और रोदन से भीषण और दीनता से जर्जरित दशाओं में बन्धन है अर्थात् जैसे अकारण क्रोध, रोदन आदि से भीषण और दीनता से जर्जरित अवस्थाओं में हाथी का बन्धनस्तम्भ (आलान) बन्धन होता है, वैसे ही अकारण क्रोध, रोदन आदि से भीषण और दैन्य से जर्जरित अवस्थाओं में प्राणियों का बाल्यकाल भी बन्धन ही है ॥३॥ जैसी पराधीनताप्रयुक्त चिन्ताएँ बाल्यावस्था में जीव के हृदय को पीड़ित करती हैं, वैसी मरण में, बुढ़ापे में, रोगावस्था में, आपत्ति में एवं यौवनावस्था में नहीं करती ॥४॥ बाल्यावस्था में पशुपक्षियों की–सी चेष्टाएँ होती हैं, सभी लोग बालकों की भर्त्सना करते हैं, सचमुच चंचल बाल्यावस्था मरण से भी बढ़कर दुःखदायिनी है ॥५॥ सामने स्थित प्रतिबिम्ब के समान बाल्यावस्था में स्फुट और निबिड़ अज्ञान रहता है अथवा प्रत्येक

क्षण में चित्त में तत् तत् विषयों का प्रतिबिम्ब पड़ने से अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ होती हैं, अतएव यह नाना प्रकार के संकल्पों से तुच्छ है। तत्-तत् संकल्पित विषयों के न मिलने से बाल्यावस्था में मन चारों ओर से कटा हुआ-सा और जीर्णशीर्ण-सा दुःखित रहता है, भला ऐसी बाल्यावस्था किसको सुखप्रद होगी ? ॥६॥ बाल्यावस्था में अज्ञानवश जल, अग्नि और वायु से सदा उत्पन्न होनेवाले भय से पद-पद में जैसा दुःख होता है, वैसा आपत्ति में भी किसीको न होगा अर्थात् बाल्यावस्था में आपत्ति से भी बढ़कर दुःख होता है ॥७॥ बालक बाल्यावस्था में निरन्तर विविध दुश्चेष्टाओं में-दुर्लीलाओं में, दुराशाओं में, दुरभिसन्धानों में और दुर्विलासों में सहसा पड़कर ये सार वस्तुएँ हैं, ऐसे महाभ्रम को प्राप्त होता है ॥८॥ बाल्यावस्था में बालक तुच्छ कार्य को भी नन्हे बच्चे या निपट पागल के कहने-मात्र से बड़ा महत्त्व दे डालते हैं, अनेक दुश्चेष्टाएँ करते हैं और किसी प्रकार की भी प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते, इसलिए पुरुष की बाल्यावस्था, गुरु द्वारा किये गये ताड़न आदि से उत्पन्न दुःख भोगने के लिए ही है, सुख के लिए नहीं है। अर्थात् निष्फल कार्यप्रवृत्ति और सम्पूर्ण दुष्कर्मों का आवासरूप बाल्यकाल किसी प्रकार की भी शान्ति प्रदान नहीं करता, उक्त काल में प्रायः प्रतिक्षण गुरुजनों के समीप दण्डित होकर दुःखित होना पड़ता है और किसी प्रकार की भी प्रशंसा प्राप्त नहीं होती ॥९॥ जैसे उल्लू दिन में अन्धकारमय गड्ढों में छिपे रहते हैं, वैसे ही जितने दोष, जितने दुराचार, जितने दुष्कर्म और जितनी मानसिक चिन्ताएँ हैं, वे सब बाल्यावस्था में जीव के हृदय में छिपकर बैठे रहते हैं ॥१०॥ ब्रह्मन्, बाल्यावस्था रमणीय (सुखमय) है, ऐसी जो लोग कल्पना करते हैं, वे सब दुर्बुद्धि हैं, उन हतचित्त मूढ़बुद्धि लोगों को बार बार धिक्कार है ॥११॥ जिसमें हिंडोले के समान चंचल मन विविध विषयों के आकार को प्राप्त होता है, तीनों लोकों में अत्यन्त अमंगल वह बाल्यावस्था किस प्रकार सुखकर हो सकती है ? मुनिवर, सम्पूर्ण प्राणियों की सभी अवस्थाओं की अपेक्षा बाल्यावस्था में मन दसगुना चंचल होता है। मन की चंचलता का अधिक होना अधिक दुःख का हेतु है अर्थात् जितना ही मन चंचल होगा, उतना ही अधिक कष्ट होगा, यह भाव है ॥१२,१३॥ मन स्वभावतः चंचल है ही और बाल्यावस्था सम्पूर्ण चंचल पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ है। उन दोनों का सम्बन्ध होने पर चंचलताप्रयुक्त अनर्थ से बचानेवाला कौन है ? अर्थात् कोई नहीं है। ब्रह्मन्, बाल्यावस्था से आक्रान्त चित्त से युवतियों के लोचनों ने, बिजलीने, अग्निकी ज्वालाओंने और तरंगों ने चंचलता सीखी है अर्थात् मन सम्पूर्ण चंचल पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ है। सभी व्यवहारों में बाल्यावस्था और मन- ये दोनों सदा सहोदर भाई-से प्रतीत होते हैं, ये दोनों चंचल हैं- दोनों की स्थिति क्षणिक है। दुःखपूर्ण सम्पूर्ण दुर्व्यसन, सम्पूर्ण दोष और सम्पूर्ण मानसिक चिन्ताएँ बाल्यावस्था में ही निवास करती हैं, जैसे कि मनुष्य धनवान् पुरुष के आश्रय में रहते हैं ॥१४-१७॥ यदि बालक को प्रतिदिन मन को प्रसन्न करनेवाली नई-नई वस्तुएँ न मिले, तो वह विष के समान असह्य चित्तविकृति से मूर्च्छा को प्राप्त हो जाता है। बालक कुत्ते के समान थोड़े से खाने पीने की वस्तु देने आदि से वश में आ जाता है, थोड़े से घुड़कने आदि से विकृत हो जाता है और अपवित्र में (विष्ठा आदि में) क्रीड़ा करता है अर्थात् जैसे कुत्ता थोड़ा-सा खाना देने या पुचकारने से वश में हो जाता है, थोड़ा-सा घुड़कने या छड़ी आदि दिखाने से बिगड़ जाता है और विष्ठा आदि से अपवित्र स्थानों में खेलता है, ठीक वैसे ही बालक भी है ॥१८,१९॥ जैसे वर्षा से भीगी हुई और धूप से

तपी हुई भूमि के ऊपर सदा भाप निकलती है, इधर उधर कीचड़ व्याप्त होता है और भीतर जल रहता है, वैसे ही बालक भी सदा आँसुओं से युक्त मुखवाला, कीचड़ से सना एवं मूढ़बुद्धि और अचेतन रहता है ॥२०॥ मनुष्य सदा दूसरों से डरने और भोजन करनेवाले, दीन–हीन, दृष्ट और अदृष्ट सब वस्तुओं की इच्छा करनेवाले एवं चंचल बुद्धि और शरीर से युक्त बाल्यकाल को केवल दुःख भोग के लिए धारण करता है। विवश बालक जब अपने संकल्प से इच्छित पदार्थों को नहीं पाता, तब अत्यन्त सन्तप्त होकर ऐसे दुःख को प्राप्त होता है कि मानों किसी ने उसके हृदय को काट डाला हो ॥२१,२२॥ मुनिवर, बालक को दुष्ट चेष्टाओं या दुष्ट मनोरथों से उत्पन्न और भाँति भाँति के वंचना के उपायों से भीषण जो दुःख होते हैं, वे दूसरे किसी को नहीं होते ॥२३॥

बाल्यावस्था से बढ़कर दुःख और किसी अवस्था या योनि में नहीं होते, यह आशय है।

जैसे प्रखर ग्रीष्म ऋतु से वनभूमि सन्ताप को प्राप्त होती है, वैसे ही बालक भी मनोरथों के विलास से युक्त बलवान् अपने मन से नित्य सन्ताप को प्राप्त होता है। बालक जब विद्यालय में पढ़ने जाता है, तब उसे बन्धनस्तम्भ में बँधे हुए हाथी के समान पराधीनता, बेंतों की मार आदि और भी बड़े बड़े भीषण कष्ट झेलने पड़ते हैं। बाल्यावस्था में असत्य पदार्थों में ही सत्यत्वबुद्धि होती है, अनेक प्रकार के मनोरथों का साम्राज्य छाया रहता है और हृदय बड़ा कोमल रहता है, अतएव बाल्यावस्था में अत्यन्त दीर्घ दुःख के सिवा सुख का लेश भी नहीं होता ॥२४–२६॥ किसी समय जब बालक भूख लगने से रोता है, तब तुम्हें खाने के लिए भुवन (लोक) दूँगी, यों माता या पिता के कहनेपर सन्तुष्ट होकर वह भुवन को ही खाने की इच्छा करता है। तुम्हें चन्द्रमारूप खिलौना देंगे, यों ठगनेपर आकाश से चन्द्रमा को हाथ में लेने की इच्छा करता है, ऐसी मूर्खता से पूर्ण बाल्यावस्था कैसे सुखकर हो सकती है ? ॥२७॥

हे महामते, बालक के मन में शीत और ताप का अनुभव तो होता है, पर वह उनका निवारण नहीं कर सकता, इसलिए बालक और वृक्ष में क्या भेद है अर्थात् बालक वृक्ष के समान जड़ है ॥२८॥ बालक सचमुच पक्षियों के सदृश हैं, जैसे भूखे पक्षी आकाश में बहुत ऊँचा उड़ने की इच्छा करते हैं, वैसे ही भूखे बालक भी आहार लेने के लिए हाथों के सहारे उठने की इच्छा करते हैं, पर सामर्थ्य न होने से उठ नहीं सकते। जैसे पक्षियों को दूसरे से भय और आहार की चिन्ता प्रधानरूप से रहती है, वैसे बालक भी भय और भोजन में तत्पर रहते हैं ॥२९॥ बाल्यावस्था में गुरुओं से, माता–पिता से, अन्यान्य जनों से एवं अपने से बड़े बालक से भय बना रहता है, इसलिए बाल्यावस्था को यदि भय का घर कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी ॥३०॥ महामुने, सम्पूर्ण दोषपूर्ण दशाओं से दूषित किसी की रोकटोक के बिना स्वच्छन्द विहार करनेवाले अविवेक का घर बाल्यकाल किसी के भी सन्तोष के लिए नहीं हो सकता ॥३१॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

बीसवाँ सर्ग

लोभ, द्वेष, मद, ईर्ष्या, अभिमान और डाह से दूषित एवं काम आदि अनर्थों के घर यौवन की निन्दा।

बाल्यावस्था अतिमूर्खता, असामर्थ्य और परतन्त्रता आदि से दुःखपूर्ण भले ही हो, पर यौवन अवस्था में ये बातें नहीं है, उसमें नानाभोग भोगने से उत्पन्न आनन्द ही आनन्द रहता है, इसलिए वह

सुख की कारण है, ऐसी शंका करके यौवन की अत्यंत अनर्थकारिता का वर्णन करने के लिए कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, बाल्यावस्था के अनन्तर पुरुष बाल्यावस्था के अनर्थों को त्यागकर भोग भोगने के उत्साह से या आनेवाले कामरूप पिशाच से दूषितचित्त होकर नरकपात के लिए ही यौवनारूढ होता है। मूर्ख पुरुष यौवनावस्था में अनन्त चेष्टावाले अतएव चंचल अपने चित्त की राग, द्वेष आदि वृत्तियों का अनुभव करता हुआ एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता है अर्थात् दुःख परम्परा का भोग करता है ॥१,२॥

माण्डव्य ऋषि ने व्यवस्था कर रक्खी है कि चौदह वर्ष तक किये गये दुष्कर्मों से नरकप्राप्ति नहीं होती, इसलिए बाल्यावस्था से नरकपतन नहीं होता, लेकिन यौवनावस्था तो नरकपतन की ही हेतु है, यह भाव है।

चित्तरूपी बिल में वास करनेवाला तथा अनेक प्रकार के भ्रमों को पैदा करनेवाला कामरूपी पिशाच विवश पुरुष के विवेक का तिरस्कार कर उसे अपने वश में कर लेता है ॥३॥ जैसे निधि आदि को देखने के लिए बालकों के हाथ में रक्खा हुआ सिद्धांजन चंचल वृत्तिवाली नेत्रप्रभाओं के अनावरण को –भूमि, शिला आदि के व्यवधान को हटाकर निधि देखने की सामर्थ्य देता है, वैसे ही यौवनावस्था में अवश चित्त युवतियों के चित्त से भी चंचल नाना प्रकार की चिन्ताओं के कपाट खोल देता है अर्थात् यौवनावस्था में पुरुष को विविध चिन्ताओं का सामना करना पड़ता है ॥४॥ मुनिवर, यौवनावस्था में स्त्री, जुआ, कलह आदि व्यसनों को उत्पन्न करनेवाले राग, लोभ आदि दोष– काम, चिन्ता आदि के वशीभूत चित्तवाला होने से काममय और चिन्तामय पुरुष को नष्ट कर डालते हैं और वे दोष यौवन द्वारा ही प्राप्त होते हैं। महानरक की हेतुभूत और सदा भ्रान्ति पैदा करनेवाली यौवनावस्था से जिन लोगों का विनाश नहीं हुआ, उनका दूसरे किसीसे विनाश नहीं हो सकता। श्रृंगार आदि नौ रसों से और कटु, तिक्त आदि छः रसों से पूर्ण आश्चर्यजनक अनेक वृत्तान्तों से परिपूर्ण भीषण यौवनभूमिको जिसने पार कर लिया, वही पुरुष धीर कहा जाता है ॥५–७॥ क्षणभर के लिए दैदीप्यमान, चंचल मेघों के गर्जन से युक्त बिजली के समान प्रकाशमान अमंगलमय यौवन मुझे पसन्द नहीं है। अर्थात् जैसे वर्षा ऋतु की रात्रि क्षण भर के लिए बिजली के प्रकाश से दैदीप्यमान हो उठती है और चंचल मेघों के गर्जन–तर्जन से गूँज उठती है, वैसे ही यौवनावस्था भी स्वल्पकाल के लिए उज्जवल है। घोर गर्जनाओं के समान अभिमानपूर्ण उक्तियों से युक्त अमंगलमय यह यौवन मुझे भला नहीं लगता। मुनिवर, भोग के समय मीठा अतएव बड़ा भला लगनेवाला, अन्त में दुःखदायी होने के कारण नीम के समान कडुवा, दोषरूप, निन्दा के हेतुभूत सम्पूर्ण दोषों का भूषण (सब दोषों में श्रेष्ठ), शराब के नशे के सदृश यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता ॥८,९॥ यौवन है तो निरा असत्य पर सत्य–सा प्रतीत होता है, शीघ्र ही लोगों को अपनी वंचना का शिकार बना डालता है–धोखा दे देता है–और स्वप्न में दृष्ट स्त्री के समान है, इसलिए यौवन मुझे नहीं रूचता ॥१०॥ यौवन एक क्षणभर के लिए सुन्दर प्रतीत होनेवाली सम्पूर्ण वस्तुओं में, गन्धर्वनगर (📖) के सदृश,

(📖) जिसे गन्धर्वनगर दिखाई देता है उसकी मृत्यु हो जाती है। इससे गन्धर्वनगर का दर्शन मरण का चिह्न है, यह सिद्ध है। इसलिए गन्धर्वनगर के पक्ष में 'सम्पूर्ण आयु के अन्त में' ऐसा अर्थ करना चाहिए।

सर्वश्रेष्ठ है और सभी लोगों को क्षणमात्र के लिए अच्छा लगता है, इसलिए यह मुझे अच्छा नहीं लगता ॥११॥ प्रत्यंचा से छोड़ा गया बाण जितने समय में लक्ष्य का वेध करता है, केवल उतने समय तक सुखदायक, शेष सम्पूर्ण काल में दुःख देनेवाला और नित्य सन्तापरूपी दोष देनेवाला यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता ॥१२॥ यौवन केवल आपाततः जब तक विचार न किया जाय तभी तक रमणीय प्रतीत होता है, इसमें शुद्धचित्तता का सर्वथा अभाव रहता है। यह वेश्या स्त्री के समागम के समान नीरस है, इसलिए मुझे अच्छा नहीं लगता ॥१३॥ जैसे प्रलयकाल में सबको दुःख देनेवाले बड़े–बड़े उत्पात चारों ओर से उमड़ पड़ते हैं वैसे ही युवावस्था में भी, सबको दुःख देनेवाले जो कोई कार्य हैं, वे सब समीप में आ जाते हैं अर्थात् युवावस्था में परदुःखदायी अनेक दुष्कर्म होते हैं ॥१४॥ हृदय में अन्धकार करनेवाली यौवनयुक्त अज्ञान–रात्रि से विशाल आकारवाले भगवान् महादेवजी भी निश्चय भयभीत रहते हैं, इसीलिए ही वे सदा विवेक ज्ञान–रूपी चन्द्रमा को धारण करते हैं। यदि नहीं डरते, तो क्यों धारण करते ? यह भाव है ॥१५॥ यह यौवनकालीन मोह शुभ आचरण को भुलानेवाली एवं बुद्धि को कुण्ठित करनेवाली (बुद्धिनाश करनेवाली) भ्रान्तिकी प्रचुरमात्रा में सृष्टि करता है ॥१६॥ जैसे वनाग्नि से वृक्ष जलाया जाता है, वैसे ही युवावस्था में प्रियतमा के वियोग से उत्पन्न दुःसह शोकाग्नि से जीव जलाया जाता है ॥१७॥ बुद्धि दोषों के निराकरण से कितनी ही निर्मल क्यों न हो, कितनी ही उदार क्यों न हो और गुणों के आधान से कितनी ही पवित्र क्यों न हो, पर जैसे वर्षा ऋतु में नदियाँ मलिन हो जाती हैं, वैसे ही यौवन में मलिन हो जाती है अर्थात् जैसे निर्मल पवित्र, शीतल और मधुर जलवाली नदी वर्षा ऋतु में मलिन हो जाती है, वैसे ही निर्मल, उदार और पवित्र बुद्धि भी युवावस्था में मलिन हो जाती है ॥१८॥ बड़ी–बड़ी लहरों से युक्त भीषण नदी लाँघी जा सकती है, पर भोगतृष्णा से चंचल इन्द्रियोंवाली यौवन से अस्थिर चित्तवृत्ति वश में नहीं की जा सकती है ॥१९॥ वह मनोहारिणी कान्ता, उसके वे विशाल स्तन, वे मनोज्ञ हावभाव और वह सुन्दर मुख युवावस्थामें ऐसी–ऐसी अनेक चिन्ताओं से मनुष्य शिथिल हो जाता है ॥२०॥ इस संसार में सज्जन लोग चंचल भोगतृष्णा से प्रपीडित युवा पुरुष का आदर–सत्कार नहीं करते, केवल यही बात नहीं है, किन्तु वे कटे हुए और सूखे तिनके के समान उसका तिरस्कार करते हैं ॥२१॥

मनस्वियों के लिए मानहानि मरण के समान क्लेशकारक है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

यौवन अभिमान से महागज के समान जड़ और दोषरूप मोतियों को धारण करनेवाले अविवेकी पुरुष के अधःपतन के लिए नित्य बन्धन का स्तम्भ है या जैसे आलान (हाथी को बाँधने का खूँटा) मोतीवाले मदोन्मत्त गजराज के दर्प को चूर्ण कर देता है, वैसे ही यौवन भी अभिमान से मत्त और विविध दोषों से पूर्ण पुरुष का अधःपतन कर देता है। मुनिवर, खेद है कि मनुष्यों का यौवन वनस्वरूप है, प्रियतम स्त्री, पुत्र आदि इष्ट पदार्थों की अप्राप्ति और वियोग–जनित सन्ताप से पैदा हुआ शोष और रोदन उसके वृक्ष हैं, मन उक्त वृक्षों की बड़ी जड़ है और दोषरूपी साँप उन वृक्षों के खोखलों में निवास करते हैं ॥२२,२३॥ मुनिवर, आप यौवन को दुष्ट चिन्तारूपी भ्रमरों का आवासभूत कमल समझिए। वह विषयसुखकणरूपी मधु–बिन्दुओं और रागादिरूपी केसरों से भरा हुआ है, और दुष्ट संकल्परूपी पंखुड़ियों से व्याप्त है। अर्थात् जैसे कमल के ऊपर भ्रमर मँडराते हैं, वह मकरन्द और केसर से खचाखच भरा रहता है और चारों ओर से पंखुड़ियों से घिरा रहता है, वैसे ही युवावस्था में मनुष्य के

चित्त में अनेक दुष्ट चिन्ताएँ मँडराती है, बुरे संकल्प घेरे रहते हैं और विषयसुखकण और राग का साम्राज्य छाया रहता है ॥२४॥ यौवन पुण्य और पाप रूपी या लौकिक कार्यरूपी, पतन के हेतु होने से, कुत्सित पंखवाले, हृदयरूपी तालाब के तीरपर विचरनेवाले आधि–व्याधिरूपी पक्षियों का निवासस्थान है। नवयौवन असंख्य एवं वृद्धि को प्रात होनेवाली तुच्छ संकल्प–विकल्परूप लहरों का अवधिरहित (असीम) या अन्त में जरा आदि दुःख देनेवाला सागर हैं। अर्थात् जैसे असीम समुद्र असंख्य और क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होनेवाली जलमय तरंगों का एकमात्र आश्रय है, वैसे ही अन्त में जरा, मरण आदि दुःख का स्थान नवयौवन भी असंख्य और लगातार बढ़नेवाली संकल्प–विकल्प–परम्परा का एकमात्र आश्रय है। जैसी संकल्प–विकल्प–परम्पराएँ यौवनकाल में होती हैं, वैसी अन्यकाल में नहीं होती, यह आशय है। यौवन आँधी के समान है। जैसे धूलि से अन्धकारपूर्ण आँधी मकड़ी के सम्पूर्ण जालों को तहस–नहस करने में सिद्धहस्त होती है, वैसे ही रजोगुण और तमोगुण से पूर्ण विषम यौवन सत्संगति, शास्त्राभ्यास आदि अनेक प्रयत्नों से उत्पन्न होनेवाले सद्‌गुणों की (प्रसाद, प्रकाश, विवेकदृष्टि की अभिवृद्धि आदि की) स्थिरता को नष्ट करने में बड़ा दक्ष है। यौवन अतिरूक्ष पांसुओं के (आँधी में उड़नेवाले धूलिकणों के) समान है। जैसे इधर–उधर उड़ रहे अपवित्र तृण–पत्तों से अधिक दुःखदायक अतिरूक्ष धूलिकण लोगों के मुँह को धूलि–धूसर कर देते हैं और आकाश में बहुत ऊँचे स्थान में चढ़ते हैं, वैसे ही विषयोन्मुख चंचल इन्द्रियों द्वारा अधिक कष्टदायक रूक्ष यौवन भी विषयवासना से उत्पन्न रोगों से लोगों के मुँह को घूसर (रक्तताशून्य सफेद) कर देता है और दोषों की परम सीमा में आरूढ होता है ॥२५–२८॥ मनुष्यों का यौवनोल्लास (यौवन की अभिवृद्धि) दोषों को जगाता है, उत्पन्न करता है और गुणों का मूलोच्छेद करता है। अतएव वह पापों की वृद्धि करने के कारण पापों का विलास है ॥२९॥ मुनिवर, मनुष्यों का नवयौवन चन्द्रमा के सदृश है। जैसे चन्द्रमा कमल के पराग में आसक्त भँवरी को कमल में बाँधकर मोहित कर देता है, वैसे ही नवयौवन शरीर में ही चंचल बुद्धि को अभिमानरूप कोश में बाँध कर विमूढ़ कर देता है ॥३०॥ शरीररूपी छोटे बन में उत्पन्न हुई बड़ी रमणीय यौवनरूपी मंजरी जब उत्कर्ष को प्राप्त होती है बढ़ती है तब अपने से संबद्ध मनरूपी भ्रमर को उन्मत्त कर डालती है। अर्थात् जैसे छोटी वाटिका या कुंज में उत्पन्न रमणीय फूलों का गुच्छा जब बढ़ता है, तब उसमें बैठे भँवरे को मोहित कर देता है, वैसे ही शरीर में उत्पन्न रमणीय प्रतीत होनेवाला यौवन मन को मोहित कर देता है ॥३१॥ मुनिवर, शरीररूपी मरुभूमि में कामरूपी सूर्य के ताप से प्रतीत हो रही यौवनरूपी मृगतृष्णिका के प्रति दौड़ रहे मनरूपी मृग विषयरूपी गड्ढे में गिर पड़ते हैं। अर्थात् जैसे मरुभूमि में सूर्य के ताप से प्रतीत हो रही मृगतृष्णा के प्रति जल की इच्छा से दौड़ रहे मृग गड्ढे में गिर पड़ते हैं, वैसे ही शरीर में कामके सन्ताप से भासित यौवन के प्रति दौड़ रहा मन विषयों में फँस जाता है ॥३२॥ शरीररूपी रात्रि की चाँदनी, मनरूपी सिंह की अयाल (गर्दन के बाल) और जीवनरूपी समुद्र की लहरी युवावस्था से मुझे सन्तोष नहीं होता ॥३३॥ जो यह युवावस्था है, यह देहरूपी जंगल में कुछ दिनों के लिए फली–फूली शरद्‌ऋतु है, यह शीघ्र ही क्षय को प्राप्त हो जायेगी। अतएव इस पर आप लोगों को विश्वास नहीं करना चाहिए। (भगवान् श्रीरामचन्द्रजी का अपने अनुचरों के प्रति यह कथन है) ॥३४॥

उक्त अर्थ का ही छः श्लोकों से विशदरूप से वर्णन करते है।

जैसे अभागे पुरुष के हाथ से चिन्तामणि (अभीष्ट पदार्थ देनेवाला रत्न) तत्काल चला जाता है, वैसे ही शरीर से युवावस्थारूपी पक्षी जल्दी भाग खड़ा होता है ॥३५॥ जब यौवन अपनी चरम सीमा में आरूढ हो जाता है, तब केवल नाश के लिए ही सन्तापयुक्त कामनाएँ वृद्धि को प्राप्त होती है ॥३६॥ तभी तक राग–द्वेषरूपी पिशाच विशेषरूप से इधर–उधर घूमते–फिरते हैं, जब तक यह यौवनरूपी रात्रि सम्पूर्णतया नष्ट नहीं हो जाती। राग–द्वेष आदि सम्पूर्ण दोषों की जननी युवावस्था ही है, यह भाव है ॥३७॥ जैसे विविध बालक्रीड़ाएँ करनेवाले, क्षणभर में नष्ट होनेवाले मरणासन्न पुत्र में लोगों की करुणा होती है, वैसे ही विविध चित्तविकारों (मनोरथों) से बढ़ी–चढ़ी, थोड़े समयतक रहकर नष्ट हो जानेवाली बेचारी युवावस्थापर भी करुणा करो। जो मनुष्य क्षणभर में विनष्ट होनेवाले यौवन से मूढ़तावश फूला नहीं समाता, वह मनुष्य होता हुआ भी निरा पशु ही है, क्योंकि वह महामूढ़ है। जो मनुष्य अभिमान युक्त अज्ञान के कारण मदोन्मत्त युवावस्था को उपादेय (सारयुक्त) वस्तु समझकर उस पर आसक्त होता है उस दुर्बुद्धि को शीघ्र ही पश्चात्ताप भोगना पड़ता है ॥३८–४०॥ मुनिवर, इस जगत में वे लोग पूजनीय हैं, वे ही महात्मा हैं और वे ही पुरुष हैं, जिन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि की हानि के बिना सुखपूर्वक यौवनरूपी संकट को पार कर दिया। बड़े–बड़े मगरों से पूर्ण सागर सुखपूर्वक तैरा जा सकता है, परन्तु रागद्वेष आदि रूप महातरंगों के कारण उमड़ा हुआ और अनेक दोषों से युक्त निन्दनीय यौवन के पार जाना कठिन है ॥४१–४२॥

बाल्यावस्था और वृद्धावस्था में अज्ञान और अशक्ति से पुरुषार्थ साधन नहीं हो सकता और युवावस्था विविध दोषों से पूर्ण होने के कारण पुरुषार्थ साधन के योग्य नहीं है, ऐसी परिस्थितिमें पुरुष को कभी भी साधनसम्पत्ति से मोक्ष की आशा नहीं है, ऐसी आशंका कर सम्पूर्ण यौवनों की निन्दा नहीं की जाती, किन्तु दुर्यौवन की ही निन्दा की जाती है। सुयौवन का तो पुरुषार्थ में ही पर्यवसान होता है, ऐसा लक्षण द्वारा दिखलाते हुए उसकी दुर्लभता को दिखलाते है।

ब्रह्मन् विनय से अलंकृत, साधुओं के आश्रम के समान शांतिप्रद, करुणापूर्ण और शम, दम आदि विविध गुणों से युक्त यौवन इस संसार में इस मनुष्य जन्म में भी वैसे ही दुर्लभ है जैसे कि आकाश में वन। अर्थात् जैसे आकाश में वन की स्थिति अतिदुर्लभ है, वैसे ही इस संसार में विनययुक्त, पूज्य मुनिजनों में रहनेवाला, दया से परिपूर्ण और शम, दम आदि गुणों से परिवृत सुयौवन मनुष्यजन्म में भी अतिदुर्लभ है, फिर अन्य योनियों में तो कहना ही क्या है ? ॥४३॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इक्कीसवाँ सर्ग

प्रत्यक्ष नरकसमूहभूत सम्पूर्ण अंगोंवाली तथा मनुष्यों के नरकपतन की हेतु स्त्रियों की निन्दा।

जिन स्त्री–शरीरों में युवकों को रमणीयता की भ्रान्ति होती है, उनके स्वरूप को विवेचनपूर्वक दर्शाने के लिए इस सर्ग का आरम्भ करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, नस और हड्डियों के ग्रथन से शोभित मांसमयी स्त्री के रथ, गाड़ी आदि के समान चंचल शरीररूप पिंजड़े में, जिसे युवक रमणीय–सा समझते हैं, वह कौन वस्तु

है ? अर्थात् कुछ नहीं है ॥१॥

उक्त अर्थ को ही विस्तार से विशद करते हुए पहले युवकों को जिन नेत्रों में हावभावरूप विलास की भ्रान्ति होती है, विवेक के होने पर उन नेत्रों की असारता (निन्दनीयता) दिखलाते हैं।

हे प्रियजन, त्वचा, मांस, रक्त और अश्रुजल को अलग करके नेत्र को देखो, यदि वह रमणीय है, तो उस पर आसक्ति करो। यदि रमणीय नहीं है, तो क्यों व्यर्थ ही उस पर मोहित होते हो, अर्थात् नेत्र त्वचा, मांस, रक्त और आँसू इनसे अतिरिक्त वस्तु नहीं है, इन्हींके समुदाय का नाम नेत्र है, भला बतलाओ तो, त्वचा आदि में गर्हितता के सिवा रमणीयता क्या है ? ॥२॥ स्त्री का शरीर क्या है, उसका कुछ अंश केश है, कुछ अंश रक्त है और कुछ अंश मांस आदि हैं, इन सबमें रम्यता कहाँ है ? ये सब नितान्त घृणास्पद और हेय हैं, इस कारण विवेकसम्पन्न प्राज्ञ पुरुष को स्त्री के शरीर से क्या काम है ? अर्थात् वह उसे निन्दनीय ही समझते हैं, रमणीयता का लेश भी उसमें नहीं देखते ॥३॥ हे बन्धुगण, बहुमूल्य वस्त्र और कस्तूरी, केसर आदि के लेप से (उबटन, तेल आदि के मर्दन से) जो सम्पूर्ण मनुष्यों के शरीर कभी बारबार सुशोभित हुए थे, उन्हें समय पाकर गीध, सियार आदि मांसाहारी जीव नोच-दबोच कर खाते हैं। यही उनका अंतिम परिणाम है ॥४॥ जिस स्तनमण्डल पर सुमेरु पर्वत के शिखर से बहनेवाले गंगाजल के प्रवाह के सदृश मोतियों के हार की शोभा देखी गई थी और देखी जाती है, वही स्त्रीस्तन समय पाकर शीघ्र श्मशान-भूमि में एवं ग्राम और नगर से दूर निर्जन स्थानों में भात के छोटे पिण्ड के समान कुत्तों का ग्रास बनता है ॥५,६॥ जैसे वन में चरनेवाले गदहे या ऊँट के अंग रक्त, मांस और हड्डियों द्वारा बने हैं, वैसे ही स्त्री के अंग भी उन्हीं उपकरणों द्वारा बने हैं, फिर उसीके लिए इतना आग्रह (अधिक आदर) क्यों ? अर्थात् गदहे का शरीर जिस सामग्री से बना है, स्त्री का शरीर भी उसी तुच्छ और घृणित सामग्री से बना है, अतः वह भी उक्त जीवों के समान ही घृणित है ॥७॥ केवल अविचार से ही लोगों ने स्त्री में रमणीयता की कल्पना कर रक्खी है, परन्तु मेरे मत से स्त्रीशरीर में अविचारजनित रमणीयता भी नहीं है, क्योंकि स्त्री में जो रमणीयता की प्रतीति होती है, उसका कारण एकमात्र मोह है। सीप में जो चाँदी की कल्पना होती है, वहाँ पर सीपरूप अधिष्ठान और अज्ञान दोनों रहते हैं, किन्तु यहाँ पर अधिष्ठान का अभाव है, अतएव यह केवल अज्ञानजनित ही है ॥८॥ हे मुनीश्वर, मद से अनेक प्रकार का आनन्द देनेवाली और पतन, दंगा, फसाद आदि विविध अनर्थ करानेवाली मदिरा में और काम से विविध आनन्द देनेवाली और स्वयं काम विकार से युक्त स्त्री में क्या अन्तर है ? यह भाव है कि स्त्री काम द्वारा विविध प्रकार के उल्लासों को देती है, और स्वयं कामविकार से युक्त रहती है और मदिरा मादकशक्ति द्वारा विविध प्रकार के उल्लासों को देती है और स्वयं जव आदि के विकार से या स्खलन, कलह आदि विकार से युक्त है, इसलिए दोनों समान हैं, अर्थात् जैसे श्रेय चाहनेवाले पुरुष के लिए मदिरा हेय है, वैसे ही स्त्री भी हेय है ॥९॥ मुनिजी, ललनारूपी आलान में (हाथी को बाँधने के स्तम्भ में) मदरूपी मोह से सोये जैसे मनुष्यरूपी हाथी परिपक्व (अंकुश के पक्ष में कठोर) शमरूपी अंकुश के प्रहारों से विवेक (हाथी के पक्ष में जागरण) को प्राप्त नहीं होते हैं। अर्थात् जैसे बन्धन-स्तम्भ में मद से सुप्तप्राय हाथी कठोर अंकुश के प्रहारों से नहीं जागता, वैसे ही स्त्री के समीप मोहवश सुप्तप्राय मनुष्य तीव्र शम, दम आदि से विवेक को प्राप्त नहीं होते ॥१०॥ जैसे काजल

को धारण करनेवाली अग्नि की ज्वाला, दाहक होने के कारण छूने के अयोग्य है और नेत्रों को प्रिय लगनेवाली अग्नि की ज्वाला तिनकों को जला डालती है, वैसे ही केश और काजल को धारण करनेवाली, छूने के अयोग्य, नेत्रों को सुखदायक (मनोहर) पापरूपी अग्नि की ज्वालारूप स्त्रियाँ मनुष्य को जला डालती हैं ॥११॥ वासनाओं से पूर्ण होने के कारण आपाततः सरस मालूम पड़नेवाली लेकिन वास्तव में तो नीरस यहाँ स्थित स्त्रियाँ अतिदूरवर्तिनी यमपुरी में भीषण रूप से धधक रहीं नरकाग्नियों की उत्तम लकड़ियाँ है ॥१२॥

स्त्री लम्बी रात्रि के समान व्यर्थ है। जैसे रात्रि के चारों और व्याप्त अन्धकार ही केशों का जूड़ा है, चंचल तारे ही नेत्र हैं, पूर्ण चन्द्रबिम्ब ही मुख है, विकसित पुष्पराशि ही मन्द हास है, श्रृंगार आदि लीला से उसमें पुरुष चंचल रहते हैं, सोये रहने के कारण धर्म, विवेक, वैराग्य आदि का विनाश होता है और वह लोगों की बुद्धि को गाढ़ मोह में डालती है, वैसे ही स्त्री के भी चारों और बिखरे हुए अन्धकार के समान श्याम केशों का जूड़ा रहता है, चंचल कनीनिकाओं से युक्त नेत्र होते हैं, पूर्ण चन्द्रमा के समान आह्लादक होने से अपनी और आकृष्ट करनेवाला मुख रहता है, पुष्पराशि के समान विशद हास रहता है, श्रृंगारादि की लीला से पुरुष उसमें विशेषरूप से आसक्त रहते हैं, वह धर्म विवेक, वैराग्य आदि कार्यों की विघातक है और बुद्धि को मोहित करने में तो वह बेजोड़ है, अतः सचमुच स्त्री लम्बी रात्रि के समान केवल आयु का ही नाश करती है, उससे किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती ॥१३,१४॥

स्त्री केवल पुरुषार्थ का ही नाश नहीं करती, किन्तु अनर्थकारिणी भी है, ऐसा कहते हैं।

स्त्री विष की लता के समान युवावस्था से रसीली (लता के पक्ष में फूलों से मनोहर) हाथरूपी पत्तों से (कल्लों से) सुशोभित, भ्रमरूपी नेत्रों के हावभाव से पूर्ण, फूलों के गुच्छे रूपी स्तनों को धारण करनेवाली फूलों के केसर के समान गौर वर्णवाली मनुष्यों की हत्याके सदृश अधःपतन में तत्पर और कामोन्माद से अपना सेवन करनेवाले लोगों को मूर्छा, मरण आदि विवशता को प्राप्त कराती है। आशय यह है कि जैसे विष की लता फूलों से मनोहर लगती है, नये नये लाल पत्तों से शुभोभित रहती है, भँवरों से व्याप्त रहती है, फूलों के गुच्छों को धारण करती है, फूलों के केसर से पीतवर्ण हो जाती है, मनुष्यों को मार डालती है और जो लोग कामजनित उन्माद से उसका सेवन करते हैं उन्हें मूर्छा या मृत्यु के वश में कर देती है, वैसे ही स्त्री भी युवावस्था से रसीली, सुन्दर हाथों से सुशोभित, भँवर की भाँति चंचल नयनों के कटाक्ष आदि से सम्पन्न, गुच्छों के समान मनोज्ञ स्तनों को धारण करनेवाली, फूलों के केसर के समान कांचनवर्णा, मनुष्यों के विनाश के लिए तत्पर है और स्वसेवियों को मूर्छा, मृत्यु आदि के वश में कर देती है। जैसे टुकड़े–टुकड़े करने की इच्छावाली रीछन (भालू की स्त्री) अपनी साँस से बिल में स्थित साँप को बिल से निकाल कर खा जाती है, वैसे ही लम्पट लोगों का धन और मन हरकर विनाश करने के लिए उत्कण्ठित स्त्री दिखावे के लिए किये गये मिथ्याभूत सत्कार द्वारा आश्वासन देकर मनुष्य को अपने वश में कर लेती है ॥१५–१७॥ हे मुनिश्रेष्ठ, कामरूपी व्याध ने मूढ़बुद्धि मनुष्यरूपी पक्षियों को फँसाने के लिए स्त्रीरूपी जाल फैला रक्खे हैं, अर्थात् जैसे व्याध दाना चरने के लिए लालायित पक्षियों को फँसाने के लिए जाल बिछाते हैं, वैसे ही कामदेवने मूढ़मति (सांसारिक असत् विषयों को सच समझनेवाले) लोगों को फँसाने के लिए स्त्रियाँ, जाल की नाईं, इधर उधर बिखेर रक्खी हैं ॥१८॥

स्त्रीरूपी विशाल आलान में (हाथी को बाँधने के खूँटे में) रतिरूपी (प्रेमरूपी) जंजीर से बँधा हुआ मनरूपी मदोन्मत्त हाथी गूँगे के समान चुपचाप बैठा रहता है, अर्थात् असमर्थ होने के कारण अपने छुटकारे के लिए किसी उपाय का अवलम्बन नहीं कर सकता ॥१९॥ दुष्ट वासनारूपी रस्सी से बँधी हुई स्त्री धनरूपी कीचड़ में विचरनेवाले संसाररूपी छोटे तालाब के मछलीरूपी पुरुषों को फँसाने के लिए बंशी में (मछलियों का पकड़ने के काँटे में) लगी हुई आटे की गोली है। अर्थात् जैसे मछुवे की बंसी में लगी गोली कीचड़ में इधर उधर चलनेवाली छोटे बरसाती तालाब की मछलियों को बन्धन में डालकर मरवा देती है, वैसे ही दुर्वासना से पूर्ण नारी धनलोलुप संसारी पुरुषों को बन्धन में डालकर नष्ट कर देती है ॥२०॥ जैसे घोड़ों के लिए अश्वशाला बन्धन है, हाथियों के लिए आलान बन्धन है और साँपों के लिए मन्त्र बन्धन है, वैसे ही पुरुषों के लिए नारी बन्धन है ॥२१॥ हे मुनिवर, विविध रसों से पूर्ण भोग की भूमि यह विचित्र पृथिवी स्त्रियों के ही सहारे दृढ़ स्थिति को प्राप्त हुई है, इस संसार की हेतु स्त्री ही है, यदि स्त्री न होती, तो संसार कभी का विलीन हो गया होता ॥२२॥ दुखःरूपी जंजीर से युक्त सम्पूर्ण दोषरूपी रत्नों की पेटी (सन्दूक) रूप स्त्री से मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। स्त्री दोषरूपी रत्नों को रखने के लिए सन्दूक है और दुःख उसमें ताला बन्द करने के लिए जंजीर है, अतएव दुःखमय और दोषमय स्त्री की भला किस विवेकी को इच्छा होगी, यह भाव है ॥२३॥ स्त्री के मांसमय स्तन, नेत्र, नितम्ब (कमर का पिछला उभरा हुआ भाग) और भौंह में मैं क्या करूँ ? वे सब अतितुच्छ हैं, केवल मांस जैसी घृणित वस्तु से बने हैं ॥२४॥ ब्रह्मन, स्त्री के किसी भाग में मांस की अधिकता है, किसी भाग में खून अधिक है और कहीं पर हड्डियाँ प्रचुरमात्रा में है, ऐसे घृणित उपादानों से उसका निर्माण हुआ है, वह भी चिर कालतक रहे सो बात नहीं है, किन्तु थोड़े ही दिनों में वह जीर्ण-शीर्ण हो जाती है। पूज्यवर, जिन्हें अदूरदर्शी पुरुषों ने बड़े लाड़-प्यार से पाला-पोसा वे प्रियतमाएँ समय पाकर श्मशान में छिन्न-भिन्न होकर सोती हैं, अर्थात् कहीं उनका सिर पड़ा है, तो कहीं हाथ पड़े हैं, कहीं पैर पड़े हैं और कहीं दूसरे अंग ॥२५,२६॥ ब्रह्मन्, प्रिया के जिस मुख में प्रियतम पति ने बड़े प्रेम से कपूर, कस्तूरी, गोरोचन, केसर, चन्दन आदि से भाँति-भाँति के तिलक आदि बनाये थे, वही मुख थोड़े दिनों में निर्जन वन में सूखता है ॥२७॥ उनके सिर के बाल राख से घूसर होने के कारण श्मशान के वृक्षों में चँवर जैसे मालूम पड़ते हैं और उनकी मांस और रक्त से शून्य सफेद हड्डियाँ पृथिवी में तारों के समान चमचमाती मालूम होती है ॥२८॥ उनके शरीर के रक्त को धूलि सुखाती है और मांसाहारी जीव भी झुण्ड के झुण्ड उनपर टूटते हैं, उनके चाम को सियार नोच-नोचकर खाते हैं और उनका प्राणवायु आकाश में चला जाता है ॥२९॥ हे संसारस्थित लोगों, स्त्री के अंगों का थोड़े ही काल में होनेवाला यह परिणाम मैंने आप लोगों से कहा, उसमें आप लोग क्यों मोह कर रहे हैं ? ऐसे नाशवान् स्त्री के शरीर की सुन्दरता और सत्यता का भ्रम निर्मूल है ॥३०॥ स्त्री क्या है ? पांच भूतों के समुदाय से बना हुआ अंगों का संगठन ही स्त्री है। तनिक भी विवेक-बुद्धिवाला पुरुष राग का वशवर्ती होकर उस पर कैसे आसक्त हो सकता है, अर्थात् जो अज्ञानी है, वे भले ही उसे सत् या उपादेय समझें पर ज्ञानी उसको कैसे उपादेय समझेगा ? ॥३१॥ जैसे शाखा-प्रशाखा से जटिल बहुत से कडुवे (कच्चे) और खट्टे (सूखे) फलों से लदी हुई सुताला लता (एक प्रकार की जंगली लता) बड़ी ऊँचाई तक फैलती है, वैसे ही मनुष्यों की

कान्तानुसारिणी (स्त्री के कारण होनेवाली) चिन्ता अनेक खट्टे (कुछ सुख से मिश्रित ऐहिक दुःख) फलों से पूर्ण होती हुई बहुत बड़े विस्तार को प्राप्त होती है। जैसे अपने यूथ से बिछुड़ा हुआ हाथी मोह को प्राप्त होता है। (किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाता है), वैसे ही उक्त चिन्ता से व्याकुल अतएव उत्कट धनाभिलाषा से अन्घ कहाँ जाऊँ, कहाँ घन मिलेगा, यों चिन्ताग्रस्त होकर मनुष्य अत्यन्त मोह को प्राप्त होता है। जैसे हथिनी को चाहनेवाला (हस्तिनी पर आसक्त) हाथी विन्ध्याचल के गड्ढे में (हाथियों को पकड़ने के लिए बनाये गये गड्ढे में) बाँधा जाता है, वैसे ही स्त्रीलम्पट पुरुष वध, बन्धनरूप बड़ी शोचनीय अवस्था को प्राप्त होता है ॥३२–३४॥ जिसकी स्त्री है, उसको भोग की इच्छा होती है, जिसकी स्त्री नहीं है, उसे भोग की संभावना ही कहाँ है, स्त्री का यदि त्याग कर दिया तो जगत् का त्याग कर दिया, जगत् का त्याग करके सुखी होवे ॥३५॥ ब्रह्मन्, आपाततः (विचार के बिना) भले प्रतीत होनेवाले, भँवरे के पंखों की जड़ के समान चंचल और जिनसे मुक्त होना बड़ा कठिन है, ऐसे भोगों की, जन्म, मरण बुढ़ापा आदि के भयसे, मुझे तनिक भी इच्छा नहीं है; मैं इनसे विरत होता हूँ और ऐसा प्रयत्न करूँगा जिससे कि मुझे परम पद प्राप्त हो जाय ॥३६॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

बाईसवाँ सर्ग

शोक, मोह, इष्टवियोग का दुःख, रोग आदि से परिपूर्ण तथा चिन्ता और तिरस्कार के घर वृद्धावस्था की निन्दा।

युवावस्था में काम आदि दोष बड़े प्रबल रहते हैं, इसलिए युवक को भले ही सुख न हो, किन्तु वृद्धावस्था में काम आदि दोषों के शान्त हो जानेपर एवं विनीत पुत्र, पौत्र आदि द्वारा घर में सेवा होने पर वृद्ध को अति आनन्द होता है, ऐसी शंका कर वृद्धावस्था में अनन्त दुःखों का विस्तार से वर्णन करने की इच्छा से पहले 'अपने बच्चों का नाश करनेवाले साँपों को दूसरे के बच्चों पर दया कैसे हो सकती है' इस न्याय से वृद्धावस्था अति कठोर है, यह कहते हैं।

खेल–कूद कौतूहल आदि की अभिलाषा के पूर्ण न होने पर ही युवावस्था आकर जबर्दस्ती बाल्यावस्था को निगल जाती है, तदुपरान्त स्त्रीसंभोग आदि की इच्छा की पूर्ति न होने पर ही वृद्धावस्था आकर युवावस्था को स्वाहा कर देती है अतः इन दोनों की (युवावस्था और वृद्धावस्था की) परस्पर कठोरता को देखिये अर्थात् उसी शरीर में होनेवाली बाल्यावस्था को यौवन निगल गया अतएव यौवन कठोरतर हुआ, उक्त कठोरतर यौवन को निगलनेवाली वृद्धावस्था कठोरतम न होगी, तो क्या होगी ? ॥१॥

पामर लोगों के परम प्रेमपात्र विषयसुख के गृहभूत शरीर को ही जो वृद्धावस्था नष्ट–भ्रष्ट कर देती है, उसमें सुख की आशा कहाँ ?

जैसे तुषाररूपी वज्र कमलों को नष्ट–भ्रष्ट कर देता है, जैसे आँधी शरदऋतु की ओस को (पत्तों के सिरे पर लटक रहे जलकण को) नष्ट कर देती है और जैसे नदी तट के वृक्ष को उखाड़ देती है, वैसे ही वृद्धावस्था शरीर को नष्ट कर डालती है ॥२॥ यदि विष का छोटा–सा टुकड़ा खा लिया जाय, तो वह

जैसे थोड़ी देर में देह को कुरूप कर देता है, वैसे ही अंग–प्रत्यंग को शिथिल करनेवाली एवं वृद्धकेसे स्वरूपवाली वृद्धावस्था देह को शीघ्र (आते ही) कुरूप कर देती है। यदि वृद्धावस्था स्वयं वृद्धरूप न होती तो अन्यों को वृद्धरूप कैसे करती, ऐसे तर्क करके लोक में जरठरूपिणी कहा है ॥३॥ जिनके सब अंग शिथिल और छिन्न–भिन्न हो गये हैं, और वृद्धावस्था से शरीर जर्जरित हो गया है, ऐसे सभी पुरुषों को स्त्रियाँ ऊँट के समान समझती है ॥४॥ अनायास दीनता को प्राप्त करानेवाली वृद्धावस्था जब मनुष्य को पकड़ती है तब सौत से तिरस्कृत (पिटी गई) स्त्री के समान बुद्धि भागकर कहीं अन्यत्र चली जाती है ॥५॥ नौकर–चाकर, पुत्र, स्त्रियाँ, बन्धु–बान्धव और सगे–सम्बन्धी सभी लोग वृद्धावस्था से काँप रहे मनुष्य का घृणित उन्मत्त पुरुष की नाईं उपहास करते हैं ॥६॥ जैसे गीध फलयुक्त शाखा और टहनियों के फैलाव के कारण अन्य पक्षियों के आक्रमण से रहित अति उन्नत पुराने वृक्षपर आता है, वैसे ही कुरूप, वृद्ध, गुण और सामर्थ्य से शून्य अतएव दीन वृद्ध पुरुष में बड़ी अभिलाषा आती है ॥७॥ दीनतारूपी दोष से परिपूर्ण, हृदय में सन्ताप पहुँचानेवाली और सम्पूर्ण आपत्तियों की एकमात्र सहचरी बड़ी भारी तृष्णा वृद्धावस्था में बढ़ती जाती है ॥८॥ खेद है, परलोक में मैं क्या करूँगा, इस प्रकार का अतिभीषण भय, जिसका कोई प्रतीकार नहीं हो सकता, वृद्धावस्था में बढ़ता जाता है ॥९॥ हे महर्षे, मैं कौन हूँ, बड़ा दुःखी–दीन हूँ, मैं क्या करूँ, कैसे करूँ, अच्छा चुपचाप मौन ही रहूँ, ऐसी दीनता वृद्धावस्था में प्राप्त होती है अर्थात् वृद्धावस्था में मैं दुःखी हूँ, मैं अकर्मण्य हूँ, मैं नितान्त हेय और तुच्छ हूँ, मैं क्या करूँ, मुझ में सामर्थ्य ही क्या है, किस प्रकार मैं अपना जीवननिर्वाह करूँ, मेरा बोलने से क्या प्रयोजन है, अच्छा, मैं मोन ही रहता हूँ, इत्यादि प्रकार की दीनता उदित होती है ॥१०॥ वृद्धावस्था में, अपने आत्मीय जनों से मुझे किस प्रकार कब कुछ स्वादिष्ट भोजन प्राप्त होगा, ऐसी चिन्तारूपी दूसरी जरा सदा चित्त को जलाती रहती है ॥११॥ वृद्धावस्था में भोजन की शक्ति होने पर पचाने की अशक्ति, पचाने की शक्ति होने पर भोजन की अशक्ति इत्यादि शक्तिह्रास से भोग की इच्छा तो बड़ी प्रबल हो उठती है, पर उपभोग नहीं किया जा सकता और हृदय सदा जलता रहता है ॥१२॥ मुनिवर, जब विविध दुःखों से शरीर का अपकार करनेवाली, रोगरूपी साँपों से व्याप्त वृद्धावस्थारूपी जीर्ण बगुली शरीररूपी वृक्ष की चोटी पर बैठकर बासती है, उसी समय निबिड़ मूर्च्छारूपी अन्धकार को चाहनेवाला मृत्युरूपी उल्लू झटपट कहाँ से आया हुआ ही दिखाई देता है ॥१३,१४॥ जैसे सायंकाल की सन्ध्या के उत्पन्न होने पर अन्धकार उसके पीछे दौड़ता है अर्थात् सायंकाल होने के बाद अन्धकार इधर–उधर व्याप्त हो जाता है, वैसे ही शरीर में वृद्धावस्था को देखकर ही काल लेने के लिए समीप में दौड़ कर आता है ॥१५॥ मुनिश्रेष्ठ वृद्धावस्था से कपास की नाईं फूले हुआ (सफेद केश और मूँछ–दाढ़ी से युक्त) देहरूपी वृक्ष को दूर से ही देखकर कालरूपी बन्दर बड़े वेग से उसकी और दौड़ता है अर्थात् जैसे फूलों से युक्त वृक्ष को दूर से ही देखकर बन्दर उसकी और दौड़ता है, वैसे ही वृद्धावस्था से सफेद हुए शरीर की ओर काल दौड़ता है ॥१६॥ निर्जन नगर की यथा कदाचित् कुछ शोभा हो भी सकती है, जिसकी सबकी सब लताएँ कट चुकी है, वह वृक्ष भी कुछ शोभित हो सकता है, अनावृष्टि से पीड़ित देश की भी कुछ न कुछ शोभा हो सकती है, मगर वृद्धावस्था से जर्जरित शरीर की कुछ भी शोभा नहीं है, अर्थात् वह इन सब दृष्टान्तों से बढ़कर अभद्र है ॥१७॥ जैसे शब्द करनेवाली गृध्री (गीध की स्त्री)

निगलने के ही लिए शीघ्र मांस के टुकड़े को पकड़ लेती है, वैसे ही खाँसीरूप शब्द करनेवाली वृद्धावस्था मनुष्य को निगलने के लिए ही वेग से पकड़ लेती है ॥१८॥ जैसे बालिका उत्सुकता के साथ देखकर और सिर पकड़कर कमल के फूल को तोड़ लेती है, वैसे ही वृद्धावस्था भी बड़ी उत्सुकता के साथ देखकर और सिर पकड़कर देह को काट देती है, नष्टकर देती है ॥१९॥ जैसे धूलि के कणों से कठोर और सी–सी कार करानेवाली (सी–सी शब्द करानेवाली) शिशिर ऋतु के तेज वायु वृक्ष के पत्तों को धूलि से ध्वस्त कर छिन्न–भिन्न कर देती है, वैसे ही शरीर में कम्प करानेवाली रूसीसे कठोर यह वृद्धावस्था शरीर को नष्ट कर देती है ॥२०॥ वृद्धावस्था से तहस–नहस और जर्जरित शरीर तुषार (हिम) के कणों से व्याप्त अतएव म्लान (मुरझाये हुए) कमल की समानता को धारण करता है अर्थात् जैसे हिम समूह से आक्रान्त कमल मुरझा जाता है वैसे ही वृद्धावस्था से आक्रान्त शरीर भी जीर्ण–शीर्ण हो जाता है ॥२१॥ यह वृद्धावस्थारूपिणी चाँदनी सिररूपी पर्वत के शिर से उदित होते ही वातरोग और खाँसीरोगरूपी कुमुदिनी को बड़े प्रयत्न से विकसित करती है अर्थात् जैसे उदयाचल से उदित होते ही चाँदनी यत्नपूर्वक कुमुदिनी को विकसित करती है वैसे ही प्रथम सिर में आविर्भूत हुई वृद्धावस्था वातरोग और खाँसी को खूब बढ़ा देती हैं ॥२२॥ भगवन्, कालरूपी स्वामी वृद्धावस्थारूपी लवणादि चूर्ण से धूसर पुरुषों के सिररूपी कूष्माण्ड (कोहड़ा) को पका हुआ जानकर खा जाता है अर्थात् जैसे स्वामी (किसान या अन्य कोई गृहस्थ, क्योंकि वही उसको पैदा करता है, अतः वह स्वामी है) क्षार चूर्ण से धूसर कोहड़े को पका हुआ जानकर खा जाता है, वैसे ही काल भी मनुष्यों के सिर को वृद्धावस्था से सफेद हुआ देखकर खा जाता है ॥२३॥ आयुरूपी प्रवाह के शीघ्र चलनेपर वृद्धावस्थारूपी गंगा लगातार प्रयत्नपूर्वक इस शरीररूपी तटवृक्ष की जड़ों को काट डालती है, अर्थात् जैसे प्रवाह तेज होने पर गंगा तीरस्थित वृक्ष की जड़ों को काटकर उसे गिरा देती है, वैसे ही आयु के पूर्ण होने पर वृद्धावस्था लगातार शरीर की जड़ों (शरीर के आधार बल आदि) को काटकर उसे गिरा देती है ॥२४॥ पहले वृद्धावस्थारूपी बिल्ली यौवनरूपी चूहे को खाती है, फिर उद्धत होकर उसे शरीर का मांस खाने की इच्छा हो जाती है, तब तो उसकी उद्दण्डता का ठिकाना नहीं रहता ॥२५॥ इस संसार में ऐसी अमंगलकारिणी कोई नहीं है, जैसे कि रोदन करनेवाली (शब्द करनेवाली) देहरूपी जंगल की सियारिन यह वृद्धावस्था है अर्थात् जैसा जंगल की सियारिन के वासनेसे अमंगल होता है वैसा किसीसे नहीं होता। यह वृद्धावस्था भी ठीक सियारिन के समान है, यह भी रोदन करनेवाली है और सबसे बढ़कर दुःखदायिनी है ॥२६॥ खाँसी और साँस के साँय–साँय शब्द से युक्त दुःखरूपी धुँआ और कालिख से पूर्ण यह वृद्धावस्थारूपी ज्वाला जलती है, जिसने इस देह को जला ही डाला अर्थात् गीली लकड़ियों के जलने पर ज्वाला सीं–सीं शब्द करती है और उसमें धुँआ और कालिख भी रहती है, अतएव जैसे सीं–सीं शब्द से युक्त और धूममय और कालिखपूर्ण ज्वाला काष्ठ को जला देती है वैसे ही कास श्वास की साँय–साँय से युक्त और दुःखमय यह (☞) वृद्धावस्था भी देह को जला देती है ॥२७॥ जैसे सफेद पत्तोंवाली और फूलों से लदी

☞ वृद्धावस्था में नेत्रों की ज्योति के कुछ कम क्षीण होने पर धूममय प्रकाश दिखाई देता है और बहुत अधिक क्षीण होने पर अन्धकार हो जाता है, अतः धूममय और अन्धकारमय विशेषण भी जरा में लग सकते हैं।

हुई छोटी लता, फूलों के बोझ को न सह सकने के कारण, टेढ़ी हो जाती है, वैसे ही सफेद सम्पूर्ण अंगों से युक्त मनुष्यों का छोटा-सा शरीर वृद्धावस्था से टेढ़ा हो जाता है ॥२८॥ वृद्धावस्थारूपी कपूर से सफेद देहरूपी केले के पेड़ को कालरूपी हाथी निःसन्देह एक क्षण में उखाड़ कर फेंक देता है अर्थात् जैसे कपूर से सफेद केले के पेड़ को हाथी अनायास उखाड़कर फेक देता है वैसे ही मृत्यु भी वृद्धावस्था से सफेद देह को निःसन्देह क्षणभर में उखाड़कर फेंक देती है ॥२९॥ पीछे से आनेवाले मृत्युरूपी राजा की वृद्धावस्थारूपी सफेद चँवरो से युक्त चिन्ता-व्याधिरूपी अपनी निजी सेना पहले निकलती है। अर्थात् जैसे कोई राजा जब कहीं जाता है, तब चँवर से युक्त उसकी सेना पहले निकलती है वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए ॥३०॥ मुनिवर, बड़े धैर्य से दुर्गम पहाड़ों की गुफाओं में बैठे हुए जिन लोगों को रण में शत्रु नहीं हरा सके, उन्हें भी वृद्धावस्थारूपी वृद्ध राक्षसी ने शीघ्र हरा दिया, यह आश्चर्य देखिये ॥३१॥ वृद्धावस्थारूपी हिम से संकुचित (चारों और हिम से पूर्ण हो जाने के कारण कम अवकाशवाले) शरीररूपी गृह के मध्य में इन्द्रियरूपी बच्चे तनिक भी हिलने-डुलने को समर्थ नहीं हो सकते अर्थात् जैसे हिम से परिपूर्ण घर के अन्दर बालक इधर-उधर चल-फिर नहीं सकते, वैसे ही वृद्धावस्था से पूर्ण शरीर में इन्द्रियाँ अपना कुछ भी व्यापार नहीं कर सकती ॥३२॥ लाठीरूपी तीसरे पैरसे युक्त, बारबार लड़खड़ा रही तथा खाँसी और अधोवायुरूपी मुरजसे (पखावज से) युक्त वृद्धावस्थारूपी स्त्री नाच कर रही है ॥३३॥ गन्ध अर्थात् रागद्वेष आदि से चित्त को (दूसरे पक्ष में सभाको) वासित करनेवाला विषयभोग (और कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थ) इस संसाररूपी राजा के व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाली और विषयभोग की कुटी आश्रय देहरूपी यष्टि के सिर पर बैठी हुई वृद्धावस्था नामक चँवरशोभा विराजमान है अर्थात् जैसे राजा के व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाली और कस्तूरी आदि सुगन्धि पदार्थों को रखने की यष्टि के ऊपर स्थित चमरश्री अपने अनुपम सौन्दर्य, सुगन्धित और मन्द मन्द वायु के प्रसारसे शोभित होती है, वैसे ही विषय भोग की आश्रयभूत इस देह में सिर पर बैठी हुई वृद्धावस्था भी शोभित होती है ॥३४॥ मुनीश्वर, वृद्धावस्थारूपी चन्द्रोदय से शुभ्र (सफेद और प्रकाशमय) शरीररूपी नगर में स्थित जीविताशारूप तालाब में मृत्युरूपी कुमुदिनी क्षणभर में विकास को प्राप्त होती है अर्थात् जैसे चन्द्रमा के उदित होने से प्रकाशमय नगर में स्थित तालाब में कुमुदिनी शीघ्र विकसित हो जाती है, वैसे ही वृद्धावस्था से सफेद हुए शरीर में स्थित जीविताशा में शीघ्र मृत्यु का आविर्भाव हो जाता है ॥३५॥ वृद्धावस्थारूपी चूने के लेप से (पुताई से) शुभ्र शरीररूपी अन्तःपुर के (रनवास के) भीतर अशक्ति (सामर्थ्य का अभाव), पीड़ा और आपत्तिरूपी महिलाएँ बड़े चैन से रहती हैं ॥३६॥ जिन जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्जरूप चार प्रकार के शरीरों में पहले वृद्धावस्था आक्रमण करती है और उसके आगे मृत्यु अवश्य आनेवाली है, उन्हीं शरीरों में से एक इस शरीर में (उन शरीरों के सजातीय इस शरीर में) मुझ अतत्त्वज्ञ का क्या विश्वास हो सकता है ? पहले वृद्धावस्था का तदन्तर मृत्यु का ग्रास होनेवाले इस शरीर में मेरी तनिक भी आस्था नहीं है, यह भाव है ॥३७॥ हे तात, जो वृद्धावस्था को प्राप्त होकर भी बना रहता है, उस दुष्ट जीवन के दुराग्रह से (दुरभिलाषा से) क्या प्रयोजन है अर्थात् कुछ भी नहीं, वह व्यर्थ ही है क्योंकि वृद्धावस्था इस पृथिवी में मनुष्यों की सम्पूर्ण एषणाओं का तिरस्कार कर देती है। अर्थात् वृद्धावस्था के आनेपर कोई भी पुरुष

अपनी किसी इच्छा को पूर्ण नहीं कर सकता, इसलिए दुःखप्रद दुष्ट जीवन की दुराग्रहपूर्वक इच्छा करना निष्फल ही है, यह भाव है ॥३८॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

प्राणियों के पुण्य और पाप के बल से उत्कृष्ट अपनी चेष्टाओं द्वारा प्राणियों से कर्म करा रहे काल का वर्णन।

इस प्रकार भोग्य श्री, भोगतृष्णा और भोगकाल के बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था के दोषों का विस्तारपूर्वक वर्णन कर और ये अन्त में केवल असीम दुःख के ही कारण होते हैं, ऐसा उपपादन कर श्रीरामचन्द्रजी ने ऐहिक और परलौकिक पदार्थ और उनके फलों में अपना वैराग्य दर्शाया। अब काल आदि के स्वभाव के वर्णन द्वारा नित्य और अनित्य पदार्थों का विवेक दर्शाने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, मेरी यह भोग्य वस्तु है, मैं इसका भोग करनेवाला हूँ, ये भोग के उपकरण हैं, इस उपकरण से (साधन से) इस वस्तु को हस्तगत कर मैं चिरकाल तक इसका भोग करूँगा, मेरा यह मनोरथ आज पूर्ण हो गया, मुझे आशा है कि इस दूसरे मनोरथ को भी मैं शीघ्र प्राप्त कर लूँगा इत्यादि असंख्य मानसिक संकल्पविकल्पों द्वारा अनन्त व्यावहारिक वचनों से पूर्ण एवं तुच्छ शरीर में आत्मबुद्धि करनेवाले या अल्प वैषयिक सुख में पुरुषार्थ–बुद्धि करनेवाले मूढ़ों ने शत्रु, मित्र, उदासीन आदि भेदों से, हेय, उपादेय और उपेक्षणीय आदि भेदों से और तत्प्रयुक्त राग–द्वेषादि भेदों से संसाररूपी छिद्र में अन्यथाग्रहरूपी भ्रम को दुश्छेद्य बना दिया है ॥१॥ जाल के समान दूर से ही आकृष्ट कर बाँधनेवाले विषयों तथा पिंजड़े के समान परिच्छिन्न स्थान में बाँधनेवाले देह के समूहरूप इस अवस्तुभूत संसार के प्रति विवेकियों को कैसे आदर हो सकता है ? दर्पण में प्रतिबिम्बित फल को बालक ही खाने की इच्छा करते हैं, विवेकी नहीं। भाव यह है कि जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित फल को खाने की इच्छा करना मूर्खता है, वैसे ही अवस्तुभूत इस संसार में आस्था करना मूर्खता ही है ॥२॥ इस प्रकार के अवस्तुभूत संसार में जिनको क्षुद्र सुख की आशा होती है, उनकी उस आशा को काल, जैसे तृण के सिरे से कुएँ में लटक रहे मकड़ी के जाले को चूहा पूर्णतया काट देता है वैसे ही, निःशेषरूप से काट देता है ॥३॥ जैसे बडवाग्नि चन्द्रोदय आदि से उमड़े हुए समुद्र को नष्ट करती है, वैसे ही इस संसार में उत्पन्न हुई ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसे यह सर्वभक्षी काल न नष्ट करता हो, अर्थात् जैसे बड़वाग्नि प्रतिदिन समुद्र को सोखती है, वैसे ही यह सर्वभक्षी काल भी प्रत्येक वस्तु को निगलता है ॥४॥ भयंकर रुद्ररूपी काल सर्वसाधारणरूप से इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच को निगलने के लिए सदा उद्यत रहता है। असंख्य ब्रह्माण्डों को अपने उदरस्थ करने के कारण सर्वात्मता को प्राप्त हुआ, यह काल बल, बुद्धि और वैभव आदि से महान् भूतों के लिए एक क्षणभर भी नहीं ठहरता अर्थात् सबको तुरन्त नष्ट कर देता है ॥५,६॥ युग, वर्ण और कल्प नामक क्रियोपाधिक (क्रिया द्वारा प्राप्त) रूपों से काल अंशतः ही प्रकट है, उसका वास्तविक रूप कोई नहीं देख सकता। वह संसार की सम्पूर्ण वस्तुओं को अपने वश में करके बैठा है ॥७॥ जैसे गरुड़ साँपों को निगल जाता है, वैसे ही काल भी जो अनुपम

रूप से सम्पन्न थे, जो पुण्यात्मा थे और जो सुमेरु पर्वत के समान गौरवान्वित थे, उन्हें हड़प कर गया। यह काल बड़ा निर्दय, पत्थर के समान कठोर, बाघ आदि के समान क्रूर आरेके तुल्य कर्कश, कृपण और अधम है। आज तक ऐसी कोई वस्तु नहीं देखी गई, जिसे इस काल ने अपने गाल में न समा लिया हो ॥८,९॥ इसका चित्त सदा निगलने में ही लगा रहता है, यह एक को निगलता हुआ दूसरे को निगलता है। असंख्य लोग इसकी उदरदरी में समा चुके हैं, पर यह ऐसा पेटू है कि इसे तृप्ति ही नहीं हुई अर्थात् अब भी यह अपने उसी स्वाभाविक वेग से जीवों को लगातार निगलता जा रहा है ॥१०॥ जैसे ऐन्द्रजालिक अपने विविध खेलों को आरम्भ करता है, उनका अन्त कर डालता है, उनको बिगाड़ देता है, कोई खाद्य पदार्थ बनाकर उसे खा जाता है और बरबाद कर देता है, वैसे ही यह काल भी अपने विविधरूपवाले संसाररूपी नृत्य को आरम्भ करता है, बन्द कर देता है, बिगाड़ देता है, खा जाता है और नष्ट कर देता है अर्थात् धन-सम्पत्ति आदि में जो कुछ भी हरण, नाश, व्यय आदि होते हैं, उन सबको हरणकर्ता, नाशकर्ता आदि के रूप से स्थित काल ही करता है, दूसरा नहीं ॥११॥ जैसे तोता दाड़िम के फल को तोड़कर उसके भीतर के बीजों को खा जाता है, वैसे ही यह काल भी इस जगत् में व्याकृतावस्था में स्थित भूतों को (जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज भेद से चार प्रकार के प्राणियों को) नाश द्वारा असत् बनाकर, तोड़-मरोड़कर खा जाता है ॥१२॥ शुभ और अशुभ (पुण्य और पाप) रूप दाँतों से मनुष्यरूपी पत्तों को छिन्न-भिन्न करनेवाला अभिमानपूर्ण जनता के जीवसमूहरूपी महाअरण्य में रहनेवाला गजरूप यह काल बड़े जोर से चिंघाड़ता है अर्थात् जेसे महाअरण्य में रहनेवाला और अपने दाँतों से वृक्षों के पत्तों को छिन्न-भिन्न करनेवाला हाथी बड़े जोर से दहाड़ मारता है, वैसे ही पुण्य-पापरूपी अपने दाँतों से प्राणियों को चबा डालनेवाला और दर्पपूर्ण जनता के जीवसमूहरूपी महाअरण्य का गज यह काल बड़े जोर से दहाड़ता है, गरजता है ॥१३॥ अपंचीकृत पंचभूतों से उत्पन्न ब्रह्माण्डरूपी महान् और देवतारूपी फलों से युक्त वृक्षों से पूर्ण (अर्थात् ब्रह्मरूपी वनमें अंपचीकृत पंचभूतों से उत्पन्न अनेक ब्रह्माण्ड ही महान् वृक्ष हैं, और देवता ही ब्रह्माण्ड रूपी महावृक्षों के फल हैं) और मायिक जगत् रूप से युक्त (सप्रपंच) ब्रह्मरूपी महावन को (दुस्तर होने के कारण ब्रह्म को महावन कहा) पूर्णरूप से आवृत्त करके (ढँककर) यह काल बैठा है, क्योंकि काल के उदर में ही सब वस्तुओं की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश देखा जाता है, यह भाव है ॥१४॥ यह काल रात्रिरूपी भँवरों से चारों ओर व्याप्त और दिनरूपी मंजरियों से शोभित वर्ष, कल्प (ब्रह्मा का दिन) और कालरूपी (📖) लताएँ बराबर बनाता रहता है पर इसे कभी कुछ भी परिश्रम नहीं होता, जिससे कि यह अपने व्यापार से विरत हो ॥१५॥ मुनिवर, यह काल धूर्तों का सिरताज है, इसे कितना ही तोड़ो पर यह टूटता नहीं, जलाने पर जलता नहीं और दृश्य होने पर भी स्वरूप से नहीं दिखाई देता इसकी धूर्तता की सीमा नहीं है ॥१६॥ सर्वव्यापक यह काल मनोराज्य के अनुरूप है। जैसे मनोराज्य एक पलक में किसी वस्तु के स्वरूप को हूबहू खड़ा कर देता है और किसीको बिलकुल विनष्ट कर डालता है, वैसे ही यह काल भी एक ही पलक

📖 १८ निमेष की १ काष्टा, ३० काष्टा की १ कला, २० कला का १ क्षण, १२ क्षण का १ मुहूर्त, ३० मुहूर्त का १ अहोरात्र (रात्रि-दिन) इस प्रकार आजकल के मानसे १ कला =२/१५ मिनट या ८ सेकण्ड है।

में किसी वस्तु को सर्वांगपूर्ण बनाकर खड़ा कर देता है और किसी वस्तु को निःशेष विनष्ट कर देता है, इसलिए इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है ॥१७॥ यह काल अपने दुर्विलासों में विलास करनेवाली प्राणियों के कष्ट से ही परिपुष्ट हुई चेष्टारूपी भार्या द्वारा भौतिक देह, इन्द्रिय आदि द्रव्यो में तादात्म्याध्यास होने के कारण अपने वास्तविक स्वरूप को न जाननेवाले जीव को स्वर्ग और नरक में घुमा रहा है। यह काल बड़ा पेटू है, इसको सदा अपने पेट भरने की ही चिन्ता रहती है, चाहे तिनका हो, चाहे धूलि हो, चाहे इन्द्र हो, चाहे सुमेरु हो, चाहे पत्ता हो, चाहे समुद्र हो, सभी को अपने आधीन करने के लिए निगलने के लिए उद्यत रहता है ॥१८,१९॥ यह काल इतना क्रूर है मानों संसारभर की सम्पूर्ण क्रूरता इसी में कूट–कूट कर भरी गई है, यह लोभी इतना है कि संसारभर की लुब्धता इसे अपना घर बनाये है, सम्पूर्ण दुर्भाग्यों का यह आगार है और दुःसह चपलता भी इसीमें है अर्थात् यह सबसे अधिक क्रूर, बेजोड़ लोभी, नितान्त अभागा और महाचपल है ॥२०॥ जैसे बालक अपने आँगनमें खेलके गेंदों को बारबार उछालता है, वैसे ही यह क्रूरतम काल खेल के (मन बहलाव के) लिए सूर्य और चन्द्रमाको आदेश देकर आकाश में मानों खेलता है ॥२१॥ प्रलयकाल में यह काल सब प्राणियों को नष्टकर और अपने शरीर को उनकी (सब प्राणियोंकी) हड्डियों की मालाओं से पैर तक ढाँककर खूब शोभित होता है ॥२२॥ प्रलय के समय निरंकुश चरित्रवाले इस काल के अंगों से निकले हुए वायुओं से विशाल सुमेरु पर्वत भूर्जपत्र के समान आकाश में फड़फड़ाता है अर्थात् चारों ओर से टूटने फूटने लगता है। बात यह है कि जैसे वायु से अतिकोमल भूर्जपत्र फटकर नष्ट हो जाता है, वैसे ही इस निरंकुशशिरोमणि के शरीर से निर्गत वायुओं से विशालतम सुमेरु पर्वत आकाश में उड़कर विशीर्ण हो जाता है ॥२३॥ यह काल रुद्र का रूप धारण कर महेन्द्र का रूप धारण करता है, फिर ब्रह्मा का रूप धारण करता है, फिर इन्द्र होता है और फिर कुबेर होता है, और अन्त में कुछ भी नहीं अर्थात् प्रलय में पर्यवसित हो जाता है ॥२४॥ जैसे सदा परिपूर्ण सागर रात–दिन अपने में अन्य तरंगों को धारण करता हुआ पहले की बड़ी–बड़ी तरंगों को नीचेकर देता है अर्थात् अपनेमें विलीन कर देता है, वैसे ही तत्परतापूर्वक रात–दिन अन्य नई–नई सृष्टियों को करता हुआ यह काल पूर्व की अति दैदीप्यमान सृष्टियों को नष्टकर देता है ॥२५॥ यह काल महाकल्परूपी वृक्षों से देवता, मनुष्य और राक्षसरूपी पके हुए फलों को गिरा रहा है ॥२६॥ यह काल प्राणिरूपी बहुत छोटे–छोटे मच्छरों से धुम्, धुम् ऐसा शब्द कर रहे और शीघ्र गिरनेवाले ब्रह्माण्डरूपी गूलर के फलों का बड़ा भारी वृक्ष है अर्थात् जैसे छोटे छोटे मच्छरों से गूँज रहे शीघ्र गिरनेवाले गूलर के फल गूलर के पेड़ में होते हैं, वैसे ही प्राणियों के शब्दों से गूँज रहे और शीघ्र गिरने वाले ब्रह्माण्डरूपी फलों का आश्रयभूत वृक्ष है, वैसे ही उक्त ब्रह्माण्डों का उत्पादक यह काल है, यह भाव है ॥२७॥ तत्–तत् प्राणियों के शुभाशुभक्रिया (पुण्य–पाप) रूप प्रियतमा से युक्त काल सब के अधिष्ठानभूत चित्रूप (चैतन्यरूप) चाँदनी के केवल सन्निधान से प्रकट हुई जगत् की सत्तारूपी कुमुदिनीयों से प्राणियों की क्रियारूप अपनी स्त्री अपने अद्वितीय स्वरूप को विनोदित करता है। विहारकौतुक से कालयापन ही विनोद है। यहाँ पर काल ही विहार करनेवाला है। विहार करनेवाला काल जिस काल का यापन करे ऐसा दूसरा काल प्रसिद्ध नहीं है, अतः स्वशरीर को ही विनोदित करता है, यह भाव है ॥२८॥ जैसे महापर्वत (हिमालय) पृथिवीमें पूर्व और उत्तर की सीमा से शून्य प्रदेश में

स्थित अपने शरीर का अवलम्बन करके खड़ा है वैसे ही यह काल भी अपरिच्छिन्न, आदि-अन्तरहित ब्रह्म में प्रतिष्ठित अपने स्वरूप का अवलम्बन करके स्थित है ॥२९॥ यह काल कहीं पर (रात्रि आदि काले पदार्थों में) काले अन्धकार के तुल्य श्यामल, कहीं पर (दिन, चाँदनी, मणि आदि प्रकाशमान पदार्थों में) कान्ति से परिपूर्ण और कहीं पर (भण्डार और भीत आदि में) अन्धकार और कान्ति से शून्य अपने कार्य को करता हुआ स्थित है। यह विलीन हुए असंख्य प्राणिपूर्ण संसारों के सारभूत और सबका आधार होने से अत्यन्त भार से युक्त अपने स्वरूप से पृथिवी के समान ऐसा स्थित है कि इसकी जड़ कभी भी हिल नहीं सकती ॥३०,३१॥ सैकड़ों महाकल्पों से न तो इसे खेद होता है, न प्रसन्नता होती है, न यह आता है, न जाता है, न अस्त को प्राप्त होता है और न उदित होता है। यह काल अत्यन्त अनादरपूर्वक जगत् की रचनारूप लीला से अहंकार से रहित और सर्वत्र व्याप्त अपनी आत्मा का पालन ही करता है, उसका विनाश कभी नहीं करता ॥३२,३३॥ यह काल लगातार रात्रिरूपी पंक से उत्पन्न हुई और मेघरूपी भँवरी से युक्त दिनरूपी लाल कमलों की श्रेणी का अपने आत्मरूपी तालाब में रोपण करता रहता है ॥३४॥ यह लोभी काल पुरानी सम्मार्जनी (बुहारी) रूपी काली रात्रि को लेकर कनकाचल के (सुमेरु के) चारों ओर उससे गिरे हुए आलोकरूपी सुवर्ण के कणों को बटोरता रहता है। एक बार झाडू से बटोरने पर बहुत-सा सुवर्ण मिलनेपर भी यह सन्तुष्ट नहीं होता और लोभी इतना बड़ा है कि नई सम्मार्जनी भी नहीं ले सकता, यह भाव है ॥३५॥ लोभी होने के कारण ही कार्यरूपी उँगली से दिशाओं के कोनों में सूर्यरूपी दीपक ले जाता हुआ यह काल जगत्रूपी घर में कहाँ पर क्या है ? यह देखता है ॥३६॥ दिनरूपी पलकों से युक्त सूर्यरूपी नेत्र से ये बहुत अच्छी तरह पक गये हैं, यह देखकर जगत्रूपी पुराने वन से यह लोकपालरूपी फलों को तोड़कर खाता है ॥३७॥ जगत्रूपी पुराने फूस के झोपड़े में प्रमाद से इधर-उधर गिरे हुए गुणवान् जनरूपी मणियों को यह काल महान् उदरवाले मृत्युरूपी सन्दूक में क्रमशः डालता है ॥३८॥ जो जनरूपी रत्नावली गुणों से (सूत्रों से) अत्यन्त पूर्ण हो जाती है, मानों अलंकार के लिए उसको अपने अवयवरूप सत्य, त्रेता आदि युगों में रखकर फिर उन्हें नष्ट कर देता है ॥३९॥ यह चंचल काल बीच-बीच में दिनरूपी हंसों से गुँथी गई तारारूपी केसर से पूर्ण रात्रिरूपी नीलकमलों की माला को पाँच ऋतुरूपी अंगुलियों से युक्त वर्षरूपी हाथ के प्रकोष्ठ में कंकण के समान नित्य धारण करता है ॥४०॥ पर्वत, समुद्र, द्युलोक और पृथिवीरूप चार श्रृंगवाले जगत्रूपी भेड़ों का हिंसक यह काल आकाशरूपी आँगनमें बिखरे हुए तारारूपी रक्त के बिन्दुओं को भी देखकर प्रतिदिन उन्हें चाटता है ॥४१॥ यह काल यौवनरूपी कमलिनी के लिए चन्द्रमारूप और आयुरूपी गज के लिए सिंहस्वरूप है। इस संसार में अत्यन्त तुच्छ या महान् ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका कि यह काल नाश न करता हो ॥४२॥ जैसे जीव सुषुप्तिकाल में सब दुःखों का संहाकर अज्ञानमात्र के अवलम्बन से स्थिति करता है, वैसे ही जिसने जन्तुओं को पीसकर मृत्यु के मुँह में गिरा दिया है, ऐसे प्रलयरूपी क्रीडा के विलाससे पदार्थों का अभाव रूप यह काल भी अज्ञानावभासक अपने अधिष्ठानभूत ब्रह्म चैतन्य का अवलम्बन कर आत्मभूत उसीमें रमण करता है उससे पृथक् नहीं होता। इस प्रकार प्रलयकाल में विश्राम लेकर यह काल ही फिर सृष्टिकाल में संसार का कर्ता, भोक्ता, संहारक, स्मर्ता आदि सब पदार्थों के स्वरूप को प्राप्त हुआ है अर्थात् यह स्वयं ही कर्ता, भोक्ता संहारक, सुभग, दुर्भग आदि बना

है ॥४३,४४॥ बुद्धिकौशल से इस काल के रहस्य का किसीने निश्चय नहीं कर पाया है, पुण्य फल के उपभोग के अनुकूल सुन्दर रूप और पाप फल के भोग के अनुरूप कुरूप को धारण करनेवाले सम्पूर्ण शरीरों की सहसा सृष्टि, रक्षा और संहार करता हुआ यह प्रदीप्त हो रहा है। इस संसार के सम्पूर्ण जीवों में काल सबसे अधिक बलवान् है ॥४५॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चौबीसवाँ सर्ग

मृगया में कौतूहल करनेवाले राजकुमार के रूपक से अपनी प्रियतमा कालरात्रि से युक्त काल का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिश्रेष्ठ, यह काल राजकुमार (卐) के अनुरूप है। संसार में इसकी लीलाएँ बड़ी विकट है, इसके समीप एक भी आपत्ति नहीं फटक सकती और इसका पराक्रम विचार शक्ति के बाहर है। इस सर्ग में उक्त काल के ही चरित्र का वर्णन किया जाता है ॥१॥ इस जीर्ण–शीर्ण जगत्‌रूपी वनराजि में दीन–हीन और अज्ञानी प्राणीरूपी मृगों का शिकार कर रहे इस राजकुमाररूपी काल के लिए प्रलयकाल का महासागर क्रीड़ार्थ बनाई गई रमणीय बावड़ी है, जिसके एक भाग में बड़वानलरूपी सुन्दर कमल लहलहा रहे हैं। दधिसागर, क्षीरसागर सहित तथा कड़ुवे, तीखे और खट्टे विविध खाद्यों से पूर्ण सदा एकरूप से रहनेवाले चिरकाल से स्थित अनेक जगत् इस राजकुमाररूपी काल के कलेवे (नाश्ते के पदार्थ) हैं (✲) ॥२–४॥ चलने में बड़ी दक्ष अर्थात् शीघ्र चलनेवाली सब मातृगणों से युक्त और बाघिन के समान प्राणियों का नाश करनेवाली इस राजकुमाररूपी काल की प्रिय पत्नी कालरात्रि संसाररूपी वन में विहार करने के लिए नियुक्त है ॥५॥ चंचल श्वेतकमल, नीलकमल और रक्तकमलों से परिवेष्ठित मधुर जल से युक्त विशाल पृथ्वी ही इसके हाथ में मधुर (🙝) मद्य से पूर्ण विशाल पानपात्री (मद्य पीने का पात्र) है। गर्जनेवाले, भीषण ताल ठोंकनेवाले और केसरों से (गर्दन के बालों से) जिनका कन्धा ढका हुआ है वे नृसिंहदेव (विष्णु के अवतार) इसके भुजारूपी पिंजड़े में हिरण्यकशिपु आदि दानवों के हिंसारूपी क्रीड़ा के लिए बाज पक्षी बनाये गये हैं ॥६,७॥ ब्रह्माण्डों की माला को धारण करने के कारण तुम्बों से बनाई गई वीणा के समान सुन्दर रूप और ध्वनि से युक्त (🔔) और शरद् ऋतु के आकाश के तुल्य स्वच्छ नीली कान्तिवाला संहार भैरव इसकी क्रीडा के लिए कोकिल का बच्चा बनाया गया है ॥८॥ सदा टंकार शब्द करनेवाला और लगातार दुःखरूपी बाणों को उगलनेवाला उसका संहार नाम का धनुष चारों ओर चमचमा रहा है ॥९॥ ब्रह्मन्, इस काल से

卐 परब्रह्म सूर्य, चन्द्र आदि को भी प्रकाशित करता हुआ प्रदीप्त होता है अतः वह राजा कहलाता है। काल उसकी पटरानीरूप अनादि माया से उत्पन्न हुआ है और जगत्–रूपी युवराज सम्पत्ति का भोक्ता है अतः यह उक्त राजारूपी परब्रह्म का पुत्र–कुमार कहलाता है।

✲ कड़वा, तीखा एवं दही से युक्त वासी कलेवा द्राविड़ों में प्रसिद्ध है।

🙝 मद्य को सुगंधित बनाने के लिए एवं उसको सुशोभित करने के लिए मद्यपात्र भी कमलों से परिवेष्ठित होता ही है।

🔔 यद्यपि उसका स्वरूप और शब्द औरों को भीषण प्रतीत होते हैं, तथापि काल उससे भी भयानक है उसकी दृष्टि में वे मधुर ही हैं, यह दर्शाने के लिए वह सुन्दर रूप और ध्वनि से युक्त कहा गया है।

बढ़कर विलास करनेमें प्रवीण कोई नहीं है, यह राजपुत्र रूपी काल स्वयं भी दौड़ता है और इसके लक्ष्यभूत प्राणी भी निरन्तर दौड़ते रहते हैं फिर भी इसका लक्ष्य (निशाना) नहीं चूकता। यह सबको ही दुःखरूपी बाणों से विदीर्ण करता रहता है। यह काल ही सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ लक्ष्यवेधी (निशानेबाज) है। यह जीर्ण जगत् में बन्दर की भाँति चंचलवृत्तिवाले विषयलोलुप जनों को व्याकुल बनाता है और स्वयं उक्त प्रकार से विराजमान रहकर मृगया का आनन्द लेता है ॥१०॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पचीसवाँ सर्ग

कर्म और कर्मफलरूप दूसरे काल के अद्‌भुत नृत्यों का वर्णन।

इस प्रकार महाकाल का राजपुत्र के रूपक द्वारा वर्णन कर उसके उपाधिभूत कर्मरूप काल का, उसके मनोविनोद के लिए, दो प्रकार के नर्तकरूप से कल्पना कर वर्णन करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, इस संसार में दुश्चरित्रों के शिरोमणि पूर्वोक्त महाकाल से अन्य एक दूसरा काल है, अन्य काल होने पर भी यह पूर्वोक्तकाल का अवस्थाभेद है, उसका यहाँ पर वर्णन किया जाता है। वह इस लोक में प्राणियों की सृष्टि और संहार करता है, लोग उसे दैव (भाग्य) और काल भी कहते हैं ॥१॥

सूचीकटाह न्याय से पहले दूसरे का वर्णन करते हैं।

मुनिश्रेष्ठ, स्वकर्मरूपी जिसका फलसिद्धि के अतिरिक्त न कोई दूसरा रूप देखा जाता है, न कर्म देखा जाता है और न कोई अभिलाषा देखी जाता है, उसीने, जैसे सूर्य का प्रखर ताप बरफ को पिघला कर नष्ट कर देता है, वैसे ही सुकुमार इन सम्पूर्ण प्राणियों को सर्वथा नष्ट कर दिया है। भाव यह है कि सभी अनर्थों की जड़ अपना कर्म ही है। जो यह विस्तीर्ण संसाररूपी मण्डल दिखाई दे रहा है, वह उस काल की नृत्यशाला है, वह इसमें खूब जी भर कर नृत्य करता है ॥२-४॥

उक्त दो कालों में से प्रथम केवल शास्त्र से ही जाना जा सकता है, उस पर विश्वास दृढ़ करने के लिए उसका विस्तार से वर्णन करते हैं।

यह दैव पूर्वोक्त महाकाल की अपेक्षा तीसरा है। यह बड़ा उन्मत्त है, कृतान्त इस अतिभीषण नाम को धारण कर नरमुण्डधारी वेष में संसार में नृत्य करता है। मुनिजी, इस संसार में नृत्य कर रहे इस कृतान्त का नियतिरूप प्रिय भार्या में अत्यन्त अनुराग है।॥५॥ किये हुए कर्मों के फल की अवश्यम्भावितारूप नियम में बड़ा अनुराग है। यह किये हुए कर्मों का फल (🔥) अवश्य देता है, यह भाव है ॥६॥ चन्द्रमा की कला के समान सफेद शेषनाग और तीन धाराओं में विभक्त गंगा का प्रवाह ये दोनों उसके संसाररूपी वक्षस्थल में उपवीत और अवीत यज्ञोपवीतरूप (卐) में विद्यमान है। सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल

🔥 दैव-प्राणियों को शुभ-अशुभ कर्म का फल देनेवाला अर्थात् फलोन्मुख भाग्य और काल-जो अवश्य फल को उत्पन्न करता है अर्थात् क्रियावस्था काल। यों एक ही काल का उत्तरावस्था और पूर्वावस्था के भेद से दो प्रकारों से वर्णन किया गया है।

卐 गंगा की एक धारा स्वर्ग में बहती है, दूसरी पृथ्वी में और तीसरी पाताल में। ये तीन धाराएँ काल के गले में उपवीत यज्ञसूत्र के सदृश प्रतीत होती हैं। बाएँ कन्धे में स्थित यज्ञोपवित को उपवित कहते हैं और दक्षिण स्कन्ध में स्थित यज्ञोपवितको अवीत कहते हैं। शेषनाग उसका अवीतरूप में स्थित यज्ञसूत्र है।

उसके हस्ताभरण हैं और सुमेरू पर्वत उसके हाथ में स्थित लीलाकमल है। प्रलयकाल के सागर में धोया गया असीम आकाश उसका एकमात्र वस्त्र है। वह तारारूपी चित्र–विचित्र बिन्दुओं से व्याप्त है और प्रलय के पुष्कर और आवर्त नाम के मेघ उसके चंचल छोर हैं। इस प्रकार के कृतान्तरूप काल के सामने उसकी भार्या नियति आलस्यरहित होकर लगातार प्राणियों के समुचित भोगानुरूप कार्यारम्भ द्वारा नाचती है। नियति की क्रियाशक्ति कभी क्षीण नहीं होती और नृत्य करने के कारण उसके अंग प्रत्यंग सदा चंचल रहते हैं। उसका नाच देखनेवाले प्राणियों के जन्म और नाश से चंचल जगत्–मण्डलरूपी कोठरी में नाच रही उस नियति के अंगों में देवलोक सहित अन्य लोकों की पंक्ति सुन्दर भूषण हैं और पातालपर्यन्त आकाश उसका लम्बमान बड़ा भारी केशों का जूड़ा है। प्राणियों के रोदन के कोलाहल से गुलजार और नरक की अग्नियों से दैदीप्यमान नरकों की पंक्ति उसके पातालरूप चरण में स्थित मंजीरमाला पाजेब है और वह पापरूपी तागे से पिरोई गई है ॥७–१३॥ चित्रगुप्त प्राणियों के कर्मरूपी सुगन्ध को प्रकट करता है, अतः वह कस्तूरीस्वरूप है। उक्त कस्तूरीभूत चित्रगुप्त से क्रियारूपी सखी द्वारा उसके यमरूप कपाल में सुन्दर तिलक बनाया गया है। भाव यह है कि यम इस नियति का ललाट (🔔) है और चित्रगुप्त उसमें स्थित कस्तूरी तिलक है, उसे क्रियारूपी सखीने तैयार किया है। प्रलयकाल में काल की प्रिय पत्नी यह नियतिदेवी अपने पति काल के इंगितपूर्ण मुख के अभिप्राय को जानकर बड़ी चंचलता के साथ फिर नाचना आरम्भ कर देती है। इसके नाचने में चट्टानों के टूटने का सा घोर शब्द होता है। वह नियतिदेवी महाप्रलयों में नाचने के समय पृष्ठ भाग में गले से सीधी लटक रही माला में चंचल कार्तिकेय के वाहनरूप मृत मयूरों से शोभित होती है। लम्बमान चंचल जटाओं में चन्द्रमासे लांछित महादेवजी के मुण्डों से, जो तीन नेत्रों के बड़े–बड़े छिद्रों से निकल रहे विपुल भाँय–भाँय शब्द से भयंकर प्रतीत होते हैं, विकसित मन्दार के पुष्पों से शोभित श्रीपार्वतीजी के केशरूपी चँवरों से, ताण्डव के समय पर्वताकार हुए संहारभैरव के उदररूपी तुम्बों से और एक हजार सात छेदों (📖) से युक्त इन्द्र की देहरूपी भिक्षापात्रों से (खप्परों से), जो नाचने के समय खनखन शब्द करते हैं, बड़ी शोभित होती है। सबका संहार करनेवाली यह नियति देवी सूखे हुए नर–कंकालरूपी खट्वांगों से (पाटियों से) आकाशमण्डल को पूर्णकर अपने को आप ही भयभीत करती है। नाचने के समय हिल रही जीवों के भाँतिभाँति के मस्तकरूपी सुन्दर कमलों की माला से इसकी शोभा की सीमा नहीं रहती। प्रलय के समय नियतिदेवी के उद्धत प्रलयकाल के मेघरूपी डमरू के भीषण शब्दों से तुम्बुरु आदि गन्धर्व भागते हैं ॥१४–२१॥

नियति देवी के नृत्य और नृत्य की सामग्री का वर्णन कर उसके पति के भी नृत्य का वर्णन करते हुए उसके भूषणों को कहते हैं।

🔔 यहाँ पर काल के ललाट और पैर–इन आदि और अन्त अंगों की भूषणकल्पना का ही वर्णन किया गया है, इसीसे उसके शरीर के अन्य अवयवों की भूषणकल्पना का भी यथायोग्य स्वयं अनुमान कर लेना चाहिये।

📖 अन्य देहियों के शरीरों में नौ छिद्र प्रसिद्ध है, परंतु इन्द्र सहस्राक्ष (हजार नेत्रवाले) हैं। उनके शरीर में एक हजार छिद्र तो नेत्रों के हैं तथा सात छिद्र और हैं, इस प्रकार नौ छिद्रवाले प्रसिद्ध अन्य शरीरों से एक हजार सात छिद्रवाला इन्द्र का शरीर विलक्षण है।

पूर्वोक्त नृत्यशाला के अन्दर नियति देवी का पति कृतान्त नृत्य करता है। कुण्डलभूत चन्द्रमण्डल से वह अति शोभित है और उसके केश तारे और चाँदनी से मनोहर आकाशरूपी पिच्छ से (मोरपंख से) अलंकृत है। उसके दाहिने कान में हिमालयरूपी हड्डी का बना अँगूठी के आकार का चमकदार कुण्डल है और बाँए कान में महान् सुमेरु पर्वत ही सोने का सुन्दर कुण्डल है। उसके चन्द्रमा और सूर्य ही उक्त दोनों ही कानों में गालों की शोभा को बढ़ानेवाले चंचल कुण्डल हैं। लोकालोकाचल पर्वत की श्रेणी उसकी कमर के चारों ओर लगी हई मेखला (करधनी) है। बिजली उसके हाथ का गोलाकार कंकण है और वह नृत्य के समय कभी इधर कभी उधर सरकता है। मेघ ही उसके रंग-बिरंग के वस्त्रों के टुकड़ों से बनी हुई कन्था है और वह वायु से सदा हिलती-डुलती हुई शोभित होती है। इसके गले में मुसल, पट्टिश, प्रास, शूल, तोमर और मुद्‌गरों से बनी हुई माला शोभा पा रही है, वे मूसल आदि ऐसे तीक्ष्ण हैं कि मानों पूर्व-पूर्व की जितनी सृष्टियाँ नष्ट हुई थी, उनसे निकले हुए मृत्यु ही इकट्ठे हो गये हों। यह माला शेषनाग के शरीररूपी महारस्सी से बँधे हुए, पूर्वोक्त राजपुत्ररूप काल के हाथ से गिरे हुए और जन्म-मरणशील जीवरूपी मृगों के बन्धन के लिए बिछाए गये जाल में गुँथी हुई है। सात समुद्रों की श्रेणी ही इसके बाहुओं के कंकण हैं, वे रत्नों की कान्ति से खूब चमकते हैं और सजीव मछलियाँ उनमें विद्यमान हैं ॥२२-२८॥

अन्य लोगों के कंकणों में निर्जीव मछलियों की आकृति बनाई जाती है, पर इसके कंकणरूपी समुद्रों में सजीव मछलियाँ विद्यमान है, यह भाव है।

शास्त्रीय और स्वाभाविक व्यवहाररूप आवर्त से (भँवर से) युक्त, रजोगुण पूर्ण तमोगुण से काली सुख-दुःखपरम्परा उसकी रोमावली के रूप में विराजमान हैं। इस प्रकार का वह कृतान्त प्रलयकाल में ताण्डव को उत्पन्न करनेवाली नृत्येच्छा (नाचने की इच्छा) का परित्याग करता है, अर्थात् उक्त नृत्यचेष्टा से विरत होकर चिरकाल तक विश्राम करता है। तदनन्तर ब्रह्मा आदि के साथ भूतों की फिर सृष्टि कर पुनः नृत्यलीला का विस्तार करता है। उसकी उक्त नृत्यलीला अंग-प्रत्यंग के अभिनय से पूर्ण है और वृद्धता, शोक, दुःख और तिरस्कार उसके आभूषण हैं। जैसे बालक गीली मिट्टी को लेकर नाना प्रकार के खिलौने आदि बनाता है और थोड़ी देर में उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, वैसे ही काल भी आलस्य रहित होकर चौदह भुवन, विविध देश, वन और असंख्य तथा विविध जीव और उनके सुन्दर श्रौतस्मार्तादिरूप आचार-विचारों की सृष्टि कर फिर उन्हें नष्ट कर देता है उक्त आचार-विचार सत्ययुग और त्रेतायुग में निश्चल रहते हैं तथा कलियुग और द्वापरयुग में चल हैं ॥२९-३२॥

पचीसवाँ सर्ग समाप्त

छब्बीसवाँ सर्ग

वैराग्य की उत्पत्ति के लिए विविध दोषों द्वारा कालाधीन संसार की अनेक दुर्दशाओं का वर्णन।

काल ऐसा करे उससे तुम्हारा क्या बिगड़ता है, ऐसी आशंका कर काल आदि सब वस्तुओं में आगे अपनी दोषदृष्टि दर्शानेवाले श्रीरामचन्द्रजी उसके फलभूत वैराग्य को दिखलाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिश्रेष्ठ, जब इस संसार में पूर्वोक्त काल आदि का इस प्रकार का चरित्र

है, तब भला बतलाइये तो सही इसमें मेरे जैसे मनुष्यों का क्या विश्वास हो सकता है ? मुनिवर, यह बड़े दुःख का विषय है कि शब्द आदि विषयों के विस्तार में दक्ष इन दैव आदि (पूर्व जन्म के कर्म आदि) से प्रपंच–रचनाओं द्वारा मोहित हुए हम लोग विक्रीत पुरुषों (गुलामों) के समान एवं वनमृगों के समान स्थित हैं अर्थात् जैसे विक्रीत पुरुष (क्रीतदास) अपनी इच्छा से कोई भी काम नहीं कर सकता और जैसे व्याधों द्वारा मधुर ध्वनि से विमोहित मृग कुछ भी चेष्टा नहीं कर सकते वैसे ही दैव आदि द्वारा मोहित हम लोगों की अवस्था है। यह काल सदा अपना पेट भरने में ही लगा है और इसका चरित्र बड़ा गर्हित है, यह जिन लोगों की भोगतृष्णा और जीविततृष्णा पूर्ण नहीं हुई है, उन्हें आपत्तियों से परिपूर्ण संसार में गिराता है। मुनिश्रेष्ठ, जैसे अग्नि उष्ण और प्रकाशपूर्ण ज्वालाओं से दाह्य पदार्थों को जला देती है, वैसे ही यह संहारकारी काल भी दुराशाओं से हृदय को जलाता है और दुष्ट चारित्र्य से बाहर भी जलाता है। कालमर्यादारूप कृतान्त की प्रिय भार्या इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति करानेवाली यह नियति, स्त्री होने के कारण, स्वभावतः चंचल है, यह समाधि में तत्पर लोगों के ऊपर भी हाथ फेर लेती है और उनके धैर्य की तो यह महाशत्रु है, उसे टिकने नहीं देती। जैसे साँप वायु को निगल जाता है, वैसे ही यह क्रूर कर्म करनेवाला कृतान्त तरूण शरीर को बुढ़ापे में पहुँचाकर सब प्राणियों को निरन्तर निगलता रहता है। यह काल निर्दयों का राजा है, किसी आर्त प्राणि के ऊपर भी दया नहीं करता। सब प्राणियों पर दया करनेवाला उदार पुरुष तो इस संसार में दुर्लभ हो गया है ॥१–६॥ मुनिवर, संसार में जितने भी प्राणी हैं, उनमें किसीका भी ऐश्वर्य पूर्ण नहीं है, सभी तुच्छ ऐश्वर्य वाले हैं। जितने भी विषय हैं, वे सभी भयानक हैं। उनसे अनन्त दुःख की ही प्राप्ति होती है। आयु अत्यन्त चंचल है, उसके जाने में कुछ भी विलम्ब नहीं होता और बाल्यावस्था मोह में ही बीत जाती है। सभी संसारी पुरुष विषयों के अनुसन्धान से ही कलंकित (मलिनचित्त) है, बन्धु–बान्धव संसाररूप बन्ध के लिए रज्जुरूप हैं। सभी भोग संसाररूपी महारोग हैं, अर्थात् जैसे अपथ्यसेवन से रोग नष्ट नहीं होता, वैसे ही भोगों के सेवन से संसाररूपी महारोग बना रहता है, अतएव उन्हें मूर्तिमान महारोग ही समझना चाहिये। सुख आदि की तृष्णाएँ मृगतृष्णिका के अनुरूप हैं। इन्द्रियाँ ही अपनी शत्रु हैं, सत्य, ज्ञान आदिरूप वस्तु (ब्रह्म) अज्ञानवश असत्यता (देहादिता) को प्राप्त हो गई है। बन्धन का हेतु होने से मन आत्मा का शत्रु है एवं मन में 'अहम्' ऐसा अभिमान करने से मनोभूत हुआ उक्त आत्मा आत्मा को आत्मभूत मन से ही दुःखी करता है। अहंकार (अभिमानप्रधान अन्तःकरण) आत्मा के कलंक का कारण है, अर्थात् स्वरूप को दूषित कर देता है, बुद्धियाँ (अध्यवसायात्मक वृत्तियाँ) बड़ी मृदु हैं, आत्मनिष्ठा की दृढ़ता से रहित हैं, क्रिया अर्थात् शारीरिक प्रवृत्तियाँ क्लेशकारिणी हैं। लीलाएँ (मानसिक चेष्टाएँ) स्त्री पर ही केन्द्रित हो गई हैं, अर्थात् उनकी विषय केवल स्त्रियाँ ही हो गई हैं। वासनाओं के विषय ही लक्ष्य हो गये हैं याने विषयों की ओर ही वासनाएँ दौड़ती हैं। आत्मस्फूर्तिरूप चमत्कार नष्ट हो गये हैं, स्त्रियाँ दोषों की पताका के सदृश हो गई हैं और सम्पूर्ण विषय नीरस हो गये हैं। मुनिवर, सत् पदार्थ ब्रह्म कार्यकारण–संघातरूपसे (देह, इन्द्रिय आदि रूप से) जाना जाता है, अर्थात् संसारी लोग देह, इन्द्रिय आदि को ही आत्मा समझते हैं, चित्त अहंकार में प्रविष्ट किया गया है अर्थात् लोगों का चित्त अहंकार से परिपूर्ण है, जितने पदार्थ हैं वे नाश से ग्रस्त हैं (विनाशी हैं)। उक्त अनित्य पदार्थों का जिसमें लय होता है, उस

आत्मा को कोई नहीं जानता। श्रेष्ठतम बुद्धि ने सभी के अन्तःकरणको व्याकुल कर रक्खा है, किसीका अन्तःकरण सुखी नहीं है, केवल दुःख ही दुःख छाया है, रागरूपी रोग दिन-दिन बढ़ रहा है, वैराग्य का कहीं पता नहीं है। आत्मदर्शनशक्ति रजोगुण से नष्ट हो गई है और तमोगुण बढ़ रहा है, सत्त्वगुण का कहीं पता नहीं है एवं तत्त्वपदार्थ अत्यन्त दूर है। जीवन अत्यन्त अस्थिर है, मृत्यु आने के लिए तत्पर ही है, धैर्य का सर्वथा विनाश हो गया है और लोगों का तुच्छ विषयों में अनुराग नित्य बढ़ता जा रहा है। मति मूर्खता से मलिन हो गई है, शरीर का अन्तिम परिणाम एकमात्र नाश ही है अर्थात् उसको अवश्य नष्ट होना है, शरीर में बुढ़ापा मानों प्रकाशित हो रहा है और पाप खूब दमदमा रहा है। दिन-प्रतिदिन जवानी प्रयत्नपूर्वक भाग रही है, सत्संगति का कहीं पता नहीं है, जिससे दुःख से छुटकारा प्राप्त हो जाय, ऐसी कोई गति नहीं है और सत्यता का उदय तो किसी में भी नहीं दिखाई देता। अन्तःकरण मोहजाल से अत्यन्त आच्छादित-सा हो गया है, दूसरे को सुखी देखकर होनेवाले सन्तोष का कहीं पता ही नहीं है, उज्ज्वल करुणा का उदय कहीं नहीं होता और नीचता न मालूम कहाँ से चली आ रही है। धीरता अधीरता में परिणत हो गई है, सम्पूर्ण जीवों का जन्म और मरण या उर्ध्वगमन और अधोगमन ही एकमात्र काम है, दुर्जन का संग पद-पद पर अतिसुलभ है, सज्जन की संगति अतिदुर्लभ है। सम्पूर्ण पदार्थ उत्पत्ति-विनाशशील हैं और वासना पदार्थों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती। वही संसार में बन्धन करनेवाली है। काल नित्य प्राणियों के झुण्ड के झुण्ड को न मालूम कहाँ ले जाता है। दिशाएँ भी, जिन्हें काल से हरे जाने का भय नहीं है, नहीं दिखाई देती, नष्ट हो जाती हैं, देश भी अदेश हो जाता है अर्थात् नष्ट हो जाता है और पर्वत भी टूट जाते हैं, फिर मेरे सदृश जन्तु की स्थिरता में क्या विश्वास है ? सन्मात्रस्वभाववाला ईश्वर आकाश को भी खा जाता है, चौदहों भुवनों को नष्ट कर देता है और पृथिवी भी उसीसे नष्ट हो जाती है, फिर मेरे जैसे जीव की स्थिरता में क्या विश्वास है ? समुद्र भी सूख जाते हैं, तारे भी टूट पड़ते हैं और सिद्ध भी नष्ट हो जाते हैं, फिर मेरे जैसे जन की स्थिरता में क्या विश्वास है ? बड़े-बड़े पराक्रमी दैत्यों को भी ईश्वर नष्ट कर देता है, ध्रुव के जीवन का भी कोई निश्चय नहीं है और अमर भी (देवता भी) मारे जाते हैं, फिर मेरे जैसे जीव की स्थिरता में क्या विश्वास हो सकता है ? वह इन्द्र को भी अपने मुँह से चबा डालता है, यम को भी अपने कार्य से विरत कर देता है याने नष्ट कर देता है और उसीसे वायु भी अभाव को प्राप्त हो जाता है, फिर मेरे जैसे प्राणी में स्थिरता की क्या आशा ? चन्द्रमा भी शून्यता को (अभाव को) प्राप्त हो जाता है, सूर्य के भी खण्ड-खण्ड हो जाते हैं, और अग्नि भी भग्न हो जाती है अर्थात् शान्त हो जाती है, फिर मेरे जैसे प्राणी की क्या आशा है ? ब्रह्मा की भी अवधि है अर्थात् ब्रह्मा की भी समाप्ति का अवसर नियत है, अजन्मा विष्णु का भी संहार होता है और शिवजी भी नहीं रहते, फिर मेरे जैसे मनुष्य की स्थिरता की आशा केवल दुराशा ही है। काल का भी जो विनाश करता है, नियति को भी नष्ट कर डालता है, और अनन्तआकाश को नष्ट कर देता है, वह भला मुझे कहाँ छोड़ेगा, इस लिए मेरे जैसे जीवों की स्थिरता का कभी भी विश्वास नहीं हो सकता। जिसका कानों से श्रवण नहीं होता, वाणी से कथन नहीं होता और नेत्रों से दर्शन नहीं होता ऐसे अज्ञातस्वरूप एवं भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाले किसी सूक्ष्म तत्त्व से चौदहों भुवन अपनी आत्मा में माया द्वारा दिखलाये जा रहे हैं। अहंकारांश को प्राप्त होकर सबके मध्य में निवास करनेवाला वह तत्त्व

तीनों लोकों में स्थित प्राणियों में से जिसे नष्ट नहीं करता, ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं ॥७–३२॥

उसकी सर्वनाशकता का उपपादन करने के लिए निरंकुश स्वतन्त्रता कहते हैं।

जैसे पर्वत शिखर से वेगपूर्वक बहता हुआ जल गोल पत्थरों को नीचे की ओर ले जाता है, वैसे ही अवश (📖) रथभूत सूर्य को ईश्वर चट्टान, पर्वत और परिखाओं में हाँकता है। जैसे पका हुआ अखरोट का फल कठिन छिलके से घिरा रहता है, वैसे ही वह मध्य में स्थित देवता, असुर आदिका निवास पृथ्वीरूप गेंद को देवताओं के निवासभूत ज्योतिश्चक्र से चारों ओर से व्याप्त किये हुए है। स्वर्ग में देवता, भूलोक में मनुष्य और पाताल में सर्पों की उसीने कल्पना कर रक्खी है, वह जब इच्छा होती है, तभी उन्हें जीर्ण–शीर्ण दशा को प्राप्त करा देता है। भाव यह कि इस जगत् का अत्यन्त पराधीन होना बड़ा भारी दोष है, ऐसे अन्याधीन जगत् में आस्था करना मूर्खता ही है। जगत् के अधिपति के साथ हुए रण में विजयी अतएव पराक्रम पूर्ण कामदेव अनुचित रूप से जगत् को अपने वश में कर अपना प्रभाव दिखा रहा है। जैसे मत्त गजराच मद से चारों ओर दिशाओं को सुगन्धित करता है, वैसे ही वसन्तऋतु पुष्पवृष्टि द्वारा चारों ओर दिशाओं को सुगन्धित कर चित्त को चंचल कर देती है। अनुरागयुक्त महिलाओं के चंचल लोचनों के कटाक्ष विक्षेप के लक्ष्य बने हुए मन को महान् विवेक भी स्वस्थ नहीं कर सकता। दूसरों का उपकार करनेवाली, दूसरों के दुःख से अति सन्तप्त और अपनी आत्मा को शान्ति देनेवाली शीतल बुद्धि से युक्त ज्ञानी पुरुष ही सुखी है, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाले कालरूपी बड़वाग्नि के मुँह में गिरनेवाले जीवनरूपी सागर के तरंग के समान पदार्थों को कौन गिन सकता है ? जैसे सागर में उत्पन्न होकर बड़वाग्नि के मुँह में गिरकर नष्ट होनेवाले अनेक कल्लोंलो को कोई गिन नहीं सकता वैसे ही संसार में उत्पन्न होकर काल के मुँह में गिरनेवाले असंख्य जीवों को गिन सकने की किसमें शक्ति है ? दोषरूपी झाड़ियों में स्थित मृगों या पक्षियों के तुल्य सभी मनुष्य अज्ञान से दुराशारूपी जाल में बँधकर जन्मरूपी जंगल में विनष्ट हो गये हैं अर्थात् जैसे झाड़ियों में बैठे हुए मृग या पक्षी स्वाद लोलुपता के कारण अज्ञान से जाल में फँस कर नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही दोषपूर्ण मनुष्य अज्ञान से दुराशाबद्ध होकर जन्मरूपी जंगल में नष्ट हो जाते हैं। इन संसारी लोगों की आयु विविध जन्मों में पूर्वोक्त दोषों से होनेवाले कुकर्मों से (काम्य और निषिद्ध कर्मों से) नष्ट हो जाती है। उनका फल जो स्वर्ग, नरक आदि है वह आकाश में वृक्ष हो और उस वृक्ष में लता भी हो, उस लता से गले में फाँसी देकर मनुष्य लटका दिया जाय, उसके समान अन्त में पतन करानेवाला ही है। उसकी निवृत्ति के लिए उपाय करना तो दूर रहा, परन्तु उसका विचार करनेवाले लोग भी हमें नहीं दिखलाई देते ॥३३–४२॥ ऋषिप्रवर, इस संसार में चंचल और मंद बुद्धि से युक्त लोग आज उत्सव है, यह सुहावनी ऋतु है, इसमें यात्रा करनी चाहिए, ये हमारे बान्धव हैं, विशिष्ट भोगों से युक्त यह सुख है, यों वृथा ही अनेक संकल्प–विकल्प कर नष्ट हो जाते हैं ॥४३॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त।

📖 'य आदित्ये तिष्ठन्' इत्यादि श्रुति से अपने में अधीष्ठित ईश्वर से प्रेरित होनेवाला एवं चट्टान, पहाड़ आदि दुर्गम स्थानों में किरणरूपी घोड़े के पैरों से चलते हुए से सूर्य में रथ की कल्पना की गई है।

सत्ताईसवाँ सर्ग

पूर्व में उक्त और अनुक्त मोक्ष के विरोधी पदार्थों में, वैराग्य के लिए, विस्तारपूर्वक दोषों का वर्णन।

पहले जो कहे जा चुके हैं और जो नहीं कहे गये, उन सम्पूर्ण पदार्थों में अन्यान्य दोषों को दर्शाते हुए अपने चित्त की शान्ति के कारणीभूत पदार्थ की अप्राप्ति को दर्शाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, और सुनिए, वस्तुतः अत्यन्त अरमणीय पर जब तक विचार नहीं किया जाता है, तब तक रमणीय सा मालूम पड़ने वाले इस जगत् में जिस पदार्थ के प्राप्त होने से चित्त में शान्ति (पूर्णकामता) प्राप्त हो वैसा कोई भी पर्दाथ मेरी समझ में नहीं आता। विचार कर देखिए, बाल्यावस्था विविध प्रकार से कल्पित क्रीड़ाकौतुक में ही बीत जाती है, उसमें चित्त की स्थिरता का लेश भी नहीं रहता। तदुपरान्त यौवन पदार्पण करता है। यौवन में चित्तरूपी मृग स्त्रीरूपी गुफाओं में ही जीर्ण हो जाता है, उसमें भी चित्त में शान्ति नहीं रहती। तदनन्तर वृद्धावस्था के प्राप्त होने पर शरीर जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, उस समय भी शान्ति नहीं रहती, यों पुरुषार्थसाधनाशून्य अतएव व्यर्थ आयु बिताने से मनुष्यों को केवल दुःख ही दुःख प्राप्त होता है, सुख-शान्ति का कहीं लेश भी नहीं है। वृद्धावस्थारूपी हिमवर्षा से नष्ट हुई शरीररूपी कमलिनी का परित्याग कर जब प्राणरूपी भ्रमर अतिदूर चला जाता है, तब मनुष्य का यह संसाररूपी सरोवर सूख जाता है ॥१-३॥ वृद्धावस्था आक्रान्त, जिसमें अनेक पलितादि नये-नये फूल खिले हैं और अत्यन्त जीर्ण मनुष्यों की शरीररूपी लता जब अत्यन्त पाक (परिणाम) को प्राप्त हो जाती है, तब यह मृत्यु को अति आनन्द देती है, अर्थात् जरा-जीर्ण शरीर को देखकर मृत्यु को बड़ा आनन्द होता है, यह भाव है ॥४॥ इस लोक में तृष्णारूपी नदी निरन्तर बहती है, वह अपने प्रबल वेग से संसार के सम्पूर्ण अनन्त पदार्थों को निगल गई है और सन्तोषरूपी तटवृक्ष की जड़ों को खोदने में बड़ी दक्ष है। भाव यह कि संसार के अखिल और अनन्त पदार्थों को निगल कर भी इसे सन्तोष नहीं हुआ है। चर्म से आच्छादित यह शरीररूपी नौका संसाररूपी समुद्र में सुख दुःखरूपी तरंगों से व्याकुल और हलकी होने के कारण स्वयं भी इधर-उधर घूम रही है और इसीलिए नीचे डूबने के लिए तैयार है, पाँच इन्द्रियरूपी मगर भी इसके डूबने में सहायक हो रहे हैं, क्योंकि इसमें बैठे हुए जीव वैराग्ययुक्त और धैर्यशाली नहीं है। ऋषिजी, जिसमें तृष्णारूपी लताएँ ही अधिक हैं, ऐसे वन में घूमनेवाले ये मनरूपी बन्दर कामरूपी वृक्षों की सैकड़ों शाखाओं में घूमकर व्यर्थ ही आयु क्षीण करते हैं, उन्हें फल कुछ भी प्राप्त नहीं होता। अर्थात् काम विशाल वृक्ष समान है, वह तृष्णारूपी लताओं से आच्छादित भी है, उसकी असंख्य शाखा-प्रशाखाएँ हैं। मनरूपी बन्दर फल की इच्छा से उनमें निरन्तर पर्यटन करते हैं, मगर उन्हें इच्छित फल की प्राप्ति नहीं होती ॥५-७॥ महर्षे, जिन्हें आपत्तियों में दुःख और मोह प्राप्त नहीं होते, सम्पत्तियों में जिनके मन में तनिक भी अहंकार नहीं आता और स्त्रियों द्वारा जिनका अन्तःकरण दूषित नहीं होता ऐसे महान् पुरुष इस समय अतिदुर्लभ हैं। जब मैं वीरता के उत्कर्ष का विचार करता हूँ तब मुझे गजघटारूपी तरंगों से पूर्ण संग्रामसागर को जो तैरते हैं वे शूर प्रतीत नहीं होते, मैं उन्हीं को शूरवीर समझता हूँ, जो लोग मनरूपी तरंगों से पूर्ण इस वर्तमान देह, इन्द्रियरूपी सागर को विवेक, वैराग्य आदि द्वारा और भावी देह, इन्द्रियरूप सागर को

मूलअज्ञान के उच्छेद द्वारा भलीभाँति तैर जाते हैं। मगर ऐसा करना बड़ा कठिन है, क्योंकि उसके उपाय ही दुर्लभ हैं ॥८,९॥

कर्म ही देह, इन्द्रियरूपी सागर को तरने का उपाय है, ऐसी शंका पर कहते हैं।

किसीकी कोई भी क्रिया संसार के आत्यन्तिक विनाशरूप फल को देनेवाली नहीं है। क्रियारूपी दुराशा पिशाची द्वारा जिसकी चित्तवृत्ति नष्ट हो गई है, ऐसा पुरुष जिस क्रिया का अवलम्बन कर विश्रान्ति को प्राप्त हो, ऐसी क्रिया कोई नहीं दिखाई देती, क्योंकि 'तद् यथेह कर्मचितो लोकः' अर्थात् जैसे इस लोक में कृषि आदि कर्म से प्राप्त उपार्जित स्वर्ग आदि लोक भी क्षीण हो जाते हैं, ऐसी श्रुति है। अतएव कर्म से जो फल उत्पन्न होता है, उसका अवश्य विनाश हो जाता है, ऐसा नियम लोक में देखा भी जाता है ॥१०॥

भाग्योदय हुए बिना कीर्ति, प्रताप, लक्ष्मी आदि छोटे-मोटे फल भी, धैर्य आदि के नाशक राग, लोभ आदि की प्रबलता के कारण, जब दुर्लभ होते हैं, तब महाफल मोक्ष तो भाग्योदय हुए बिना हो नहीं सकता, इसमें कहना ही क्या है ? इस अभिप्राय से कहते हैं।

जो महापुरुष कीर्ति से संसार को, प्रतापों से दिशाओं को, सम्पत्ति से याचकों और क्षमा, विनय, उदारता आदि सात्त्विक बल से (♨) लक्ष्मी को पूर्ण करते हैं, कभी क्षीण न होनेवाले धैर्य से परिपूर्ण ऐसे महापुरुष पृथिवी में सुलभ नहीं है ॥११॥

भाग्योदय होने पर सब जगह अभीष्ट वस्तु प्राप्त हो जाती है, इसलिए पुरुष का प्रयत्न विफल है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

पहाड़ की शिलामय चट्टान के भीतर स्थित भी एवं वज्र से बने हुए घर के भीतर बैठे हुए भी भाग्यशाली पुरुष के पास सम्पूर्ण अणिमा आदि सिद्धियाँ और सम्पत्तियाँ बड़े वेग के साथ आ जाती हैं, जैसे कि आपत्तियाँ आती हैं अर्थात् जैसे बुरे दिनों में आपत्तियाँ अनायास प्राप्त हो जाती हैं, वैसे ही भले दिनों में सम्पत्तियाँ और सिद्धियाँ भी अपने आप वेगपूर्वक आ जाती हैं ॥१२॥ पूज्यवर, भ्रान्तिवश पुत्र, स्त्रियाँ, धन आदि जो सम्पूर्ण रसायन के समान सुखसाधन समझे जाते हैं, मृत्युकाल आने पर वे पुत्र आदि अतिरमणीय भोगजनक विषय कुछ नहीं करते, परन्तु विष की मूर्च्छा के समान अत्यन्त दुःखदायी ही होते हैं। शरीर की बाल्य आदि अवस्थाओं के अवसान में अर्थात् वृद्धावस्था में दुःखमय विषमावस्था को प्राप्त हुआ अतएव दुःखी जीर्ण पुरुष इस लोक में अपने पुण्यसंचयशून्य अतीत कर्मों का स्मरण कर दुःसह अन्तर्दाह से जलता है ॥१३,१४॥ मनुष्य जीवन के आरम्भ में कमाने की और भोगतृष्णा की प्रबलता से मोक्षमार्गका परित्याग कर केवल काम और अर्थ की चिन्ता से युक्त होता है और तदनुसारी कार्यों में वह समय को बिताता है। फिर वृद्धावस्था आने पर मयूर के चंचल पंखों के समान कम्पमान पुरुष का चित्त किस कर्म से शान्ति को प्राप्त हो ? अर्थात् चित्त की शान्ति के साधनभूत कर्म तो उसने कभी किये ही नहीं, फिर उसका चित्त शान्त कैसे होगा ? ॥१५॥

जो लोग धर्मोपार्जन नहीं करते, उनके चित्त में भले ही शान्ति न हो; पर धर्मोपार्जन करनेवाले आप लोगों के मन में, धर्म के फल के लाभ से, शान्ति क्यों न विराजमान होगी ? ऐसी आशंका कर धर्म के फल स्वर्ग, पुत्र आदि भी कोई सारवान् पदार्थ नहीं है, ऐसा कहते हैं।

♨ क्षमा, विनय, उदारता आदि से लक्ष्मी पूर्ण-सी प्रतीत होती है।

अनात्मा में प्रीति करनेवाले लोग भाग्यवश प्राप्त हुए, सामने स्थित भी, नदीकी ऊँची तरंगों के समान शीघ्र नष्ट हो जानेवाले अतएव अप्राप्तप्राय क्रियाफल स्वर्ग आदि द्वारा वंचित होते हैं, ठगे जाते हैं। भाव यह कि वही लाभ सच्चा लाभ है, जो प्राप्त होकर नष्ट नहीं होता और जिससे अनर्थ नहीं होता, दूसरा लाभ तो केवल वंचनामात्र ही है, जैसे कि अल्पायु पुत्र की प्राप्ति और मछली को बंशी में लगे हुए खाद्य की प्राप्ति। उक्त लाभ से किसी प्रकार का आश्वासन नहीं हो सकता ॥१६॥

आसुरसम्पत्ति के विस्तारपूर्वक प्रदर्शन द्वारा पूर्वोक्त अर्थ को ही विशद करते हैं।

ये कार्य यहीं और अभी कर्तव्य हैं और ये अन्य प्रदेश और अन्य काल में करणीय हैं, यों जिन कार्यों की सदा चिन्ता बनी रहती है और अन्त में जिनका फल अनर्थ ही है। उन कार्यों का प्रयोजन स्त्रियों तथा अन्यान्य लोगों की प्रसन्नताका उत्पादन (मनोरंजन) ही है, पर वे देह के वृद्ध होने तक लोगों के चित्त को जबरदस्ती विवेक से भ्रष्ट कर देते हैं। जैसे वृक्षों के जीर्ण पत्ते जन्म लेकर शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही आत्म-विवेक से रहित लोग इस लोक में जन्म लेकर थोड़े ही दिनों में कहीं चले जाते हैं, अर्थात् विनष्ट हो जाते हैं। महाभाग, भला बतलाइए तो सही, मूढ़ व्यक्ति के सिवा कौन ज्ञानी जन विवेकी पुरुषों की सेवा और सत्कर्म से रहित दिन में इधर-उधर दूर तक घूम-फिरकर और सांयकाल के समय घर में आकर रात्रि में सुख की नींद सोयेगा ? दिन में विवेकियों की सेवा से रहित और सत्कर्मों से शून्य होने पर ज्ञानी को तो रात्रि में नींद ही नहीं आ सकती, पर अज्ञानी ही दिन में विवेकी जनों की सेवा और सत्कर्मों में शून्य होने पर भी इधर-उधर घूम-फिरकर सांयकाल में अपने घर में प्रवेश कर खूब सुख की नींद सोता है। सम्पूर्ण शत्रुओं के छिन्न-भिन्न होने पर और चारों ओर से धन-सम्पत्ति की वृष्टि होने पर जब पुरुष इन सांसारिक भोगों को भोगने लगता है तभी न मालूम कहाँसे आकर मृत्यु सामने खड़ी हो जाती है। इस संसार में सभी लोगों को किसी एक अनिर्देश्य अदभुत कारण से अभिवृद्धि को प्राप्त हुए, अत्यन्त तुच्छ और क्षणभर में जन्म लेकर नष्ट होनेवाले अर्थात् विनाशशील इन विषयों ने भ्रम में डाल रक्खा है, मोहित कर रक्खा है; अतएव वे लोग समीप में आई हुई मृत्यु को नहीं जानते, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। जिन लोगों ने विषयों पर आसक्ति, देह के लालन-पालन आदि द्वारा हृष्ट-पुष्ट-शरीर होना ही उचित समझा अर्थात् विवेक, वैराग्य आदि का अभ्यास नहीं किया, वे ठहरे निरे नरपशु। सब प्राणियों के परम प्रिय यजमानरूप प्राण उन्हीं नररूप पशुओं को (बकरों को) निन्दित कर्मरूपी यज्ञस्तम्भों में बाँधकर दोषरूपी कालिखसे उनका मुँह काला कर देते हैं। तदुपरान्त रोगरूपी ऋत्विजों द्वारा हनन, अंगछेदन आदि से शरीर का नाश होने के कारण वे असत्प्राय हो जाते हैं ॥१७-२२॥

भगवती श्रुति ने भी कहा है - 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' अर्थात् जो असत् देह आदि को ब्रह्म समझता है वह असत् ही हो जाता है। श्लोक में 'जनैडकाः' पद है अर्थात् जनरूपी एडक (भेड़) किसी किसी यज्ञ में भेड़ों का बलिदान प्रसिद्ध है अथवा एडक शब्द की बकरे में लक्षणाकर नररूपी बकरा अर्थ कर लेना चाहिए (🔔)।

🔔 भाव यह कि जैसे यजमान यज्ञकार्य की सिद्धि के लिए यज्ञस्तम्भ में बँधे हुए बकरे आदि का संस्कार करता है, तदुपरान्त ऋत्विक् उसका यथाविधि हनन और उसके अंग-प्रत्यांगों का छेदन करते हैं, वैसे ही परम प्रिय प्राण भी विषयभोग और देहपोषण आदि द्वारा अति परिपुष्ट लोगों को निन्दित कर्मों

इस संसार में यह चंचल जनता क्षण में नष्ट होनेवाली तरंगों की पंक्ति के समान न मालूम कहाँ से सदा बड़ी त्वरा के साथ आती है और जैसे आती है वैसे ही त्वरा के साथ न मालूम सदा कहाँ चली जाती है। 'कुतोऽपि' इस कथन से जहाँ से आती है और जहाँ चली जाती है, उस स्थान को हम जानना चाहते हैं, यह सूचित होता है ॥२३॥ जैसे चंचल भ्रमररूपी नयनों से युक्त (चंचल भ्रमरों से सेवित), लाल पत्तों से आच्छन्न विषवृक्ष पर चढ़ी हुई विषलताएँ देखनेमें अति सुन्दर होने के कारण पहले मनको हर लेती हैं बाद में प्राणनाशिनी होती हैं, वैसे ही मनुष्यों के प्राणहरण में तत्पर भ्रमर के समान चंचल नयनवाली और बिम्ब फल के समान होठोंवाली नारियाँ मनोहर होने के कारण पहले चित्त को चुरा लेती हैं फिर प्राणों को हर लेती हैं। जैसे तीर्थयात्रा या महोत्सव में बहुत से आदमियों का सम्मेलन होता है, वैसे ही मनुष्यलोक से या स्वर्ग आदि लोकों से व्यर्थ ही आये हुए और अमुक स्थानपर हम लोगों की भेंट होगी यों परस्पर संकेत और अभिप्राय से इकट्ठे हुए लोगों में परस्पर स्त्री, पुत्र, मित्र आदि व्यवहार होता है। यह व्यवहार माया नहीं है तो और क्या है ? संसार (जन्म–मरणकी परम्पराएँ) दीपकों के निर्वाण (बुझने) के अनुरूप है। जैसे दीपक रात्रिभर प्रचुर तेल और बहुत–सी बत्तियों का भक्षणकर अन्त में बुझ जाता है, वहाँ पर फिर उसका अस्तित्व प्रतीत नहीं होता अर्थात् प्रचुर तेल और बत्तियों का भक्षण करनेवाले अतिचंचल अतएव मिथ्याभूत क्षणिक दीपशिखा के निर्वाण–प्रवाह में पारमार्थिक वस्तु प्रतीत नहीं होती; वैसे ही बाल्य आदि सैकड़ों अवस्थाओं का भोग करनेवाले अत्यन्त स्नेह से (राग से) परिपूर्ण, अत्यन्त चंचल (क्षण–विध्वंसी) अतएव मिथ्याभूत संसार में कोई भी वस्तु पारमार्थिक नहीं है। यह संसार कुलालके (कुम्हार के) चाक के समान है। जैसे कुलाल के चाक के खूब जोर से घूमने पर भी असावधान आदमी को यह नहीं घूम रहा है, स्थिर है, ऐसा भ्रम होता है, वैसे ही यह संसारप्रवृत्तिरूप कुचक्र भी लोगों को भ्रम में डालता है। वास्तव में है तो यह वर्षा ऋतु के जल के बुद्बुदों के समान क्षणभंगुर पर असावधान लोगों की बुद्धि में अपनी चिरस्थायित्व की प्रतीति करा देता है। जैसे शरद्ऋतु में कमल के सौन्दर्य, सुगंध आदि गुण शोभासे देदीप्यमान रहते हैं, किन्तु हेमन्त ऋतु में वे सब नष्ट हो

में फँसाकर दोष से लांछित कर देते हैं। तदुपरान्त रोग उन पर आक्रमण कर उनका नाम–निशान मिटा देते हैं। संस्कृत टीकाकारों ने इस श्लोक के और भी अर्थ किये हैं। प्रिय प्राण, पोषण करनेवाले जिन नरपशुओं से स्वयं पुष्ट हुए, उन्हीं नरपशुओं को बलात्कार से निन्दित कर्मरूपी जाल में फँसाकर काल के (मृत्यु के) सम्मुख कर देते हैं अर्थात् काल को उपहार देते हैं, अतएव प्राण शरीर के विनाशक होने के कारण प्रिय नहीं हैं, किन्तु अप्रिय (शत्रु) ही हैं। इसमें निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को केवल प्राणों के पोषण में ही तत्पर नहीं रहना चाहिए। अथवा – यद्यपि मूढ़ जन प्राणों के पोषण में सदा तत्पर रहते हैं तथापि वे प्रियप्राण (प्राणों के प्रति प्रेम करनेवाले) नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे तो उलटे मृत्यु के मुँह में डालनेवाले उपायों के आचरण द्वारा प्राणों के नाशक ही हैं। वास्तव में तत्त्वज्ञ पुरुष ही प्राणों पर प्रेम करनेवाले हैं। क्योंकि वे तत्त्वदृष्टि से प्राणों में नित्य आत्मभाव प्राप्त कर उनके रक्षक हैं। अतएव वे प्रिय–प्राण गर्हित कर्मों में फँसे हुए मूढ़ जनरूपी पशुओं का आदर नहीं करते। उत्तरार्द्ध से मूढ़ जनों की अपेक्षा शरीर के बाध से अपरिच्छिन्नता को प्राप्त हुए हैं, उनकी मूढ़ जनों की नाईं देह में आत्मबुद्धि नहीं हो सकती। मूढ़जनों की अपेक्षा तत्त्वज्ञों में यही विशेषता है।

जाते हैं, फिर उनसे न चित्त को शांति मिलती है और न घ्राणेन्द्रिय को तृप्ति ही मिलती है, वैसे ही यौवनावस्था में मनुष्य के जो कौमार्य और सौन्दर्य आदि गुणगण शोभा से उज्जवल रहते हैं, वे वृद्धावस्था में भाग्यवश विनष्ट होकर दुर्लभ हो जाते हैं, इसलिए उनमें विश्वास करना उचित नहीं है। इस संसार में बेचारा वृक्ष पृथिवी, जल, वायु आदि तत्त्वों के कारण, न कि किसी पुरुष द्वारा किये गये उपकार के कारण, जन्म, वृद्धि और फल–मूल आदि समृद्धि को प्राप्त होकर अपने देहधारण से छाया, पत्तियाँ, फूल फल आदि द्वारा बारबार लोगों का उपकार करता है, किसी का तनिक भी अपराध नहीं करता, फिर भी वह कुल्हाड़ियों से काटा जाता है। भला बतलाइए तो सही, ऐसे कृतघ्न संसार में पद–पद में जिससे अपराध हो सकते हैं और जिससे किसीका उपकार भी नहीं हो सकता, ऐसे मनुष्य के विषय में क्या विश्वास किया जा सकता है ? भाव यह कि यदि वह अपकार न भी करे, तो भी मृत्यु उसका नाश कर डालेगी। मृत्यु के घर में उपकारी और अपकारी के प्रति कोई भेदभाव नहीं है। आत्मीय जनों का संसर्ग विषवृक्ष के संसर्ग के तुल्य है। देखिये न ! विषवृक्ष देखने में बड़ा सुन्दर लगता है और आत्मीय जन भी आपाततः (विचार के बिना) सुन्दर प्रतीत होते हैं। जिस पुरुष का विषवृक्ष से सम्बन्ध होता है, उसको दाह और मूर्च्छा आदि होते हैं और आत्मीय जनका संसर्ग भी स्नेह और भोग आदि उत्पन्न करता है। विषवृक्ष जीवननाश का कारण है और आत्मीय जन भी जीवन के समान प्रिय आत्मज्ञान के विनाश का हेतु है। जैसे विषवृक्ष के संसर्ग से मूर्च्छा होती है, वैसे ही आत्मीय जनके संसर्ग से मूढ़ता प्राप्त होती है। अर्थात् इसका यही एक बड़ा भारी दोष है ॥२४–३०॥ संसार की दृष्टियों में ऐसी कौन दृष्टियाँ हैं, जिनमें दोष का सम्बन्ध नहीं है। दिशाओं में कौन ऐसी दिशाएँ हैं, जिनमें दुःखदाह नहीं होता, कौन ऐसी प्रजाएँ (जन) हैं, जिन का नाश नहीं होता, कौन ऐसी लौकिक क्रियाएँ हैं, जिनमें छल नहीं होता अर्थात् सभी दृष्टियाँ दोषयुक्त हैं, सभी दिशाएँ दुःखदाह से पूर्ण हैं और सभी लोग विनाशी हैं और सम्पूर्ण लौकिक कार्यों में छल–कपट रहता है ॥३१॥

यदि शंका हो कि इस लोक के जनों के विनाशी होने पर भी ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए लोगों का, जो कि कल्पआयु हैं, विनाश नहीं होता, तो इस पर कहते हैं।

व्यतीत और आनेवाले अनन्त कल्पों की संख्या का परिज्ञान नहीं होता, अतएव जैसे क्षण अनन्त हैं, वैसे ही कल्प भी अनन्त ठहरे, इसलिए विष्णु, रूद्र आदि की दृष्टि से कल्प भी क्षण ही हैं। अतएव ब्रह्मलोकवासी जन भी कल्प नामक क्षणभर जीनेवाले हुए। अवयवयुक्त कालसमूह में लघुत्व और दीर्घत्व बुद्धि एवं चिरजीवन और अचिरजीवन बुद्धि भी, द्रष्टा की कल्पना के अधीन होने से, असत्य है। तुल्यन्याय से ब्रह्माण्ड भी अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों को देखनेवालों की दृष्टि में अणुरूप ही है, इसलिए अणुत्व और महत्त्वबुद्धि भी असत्य ही है ॥३२॥

इसी प्रकार प्रकृति की दृष्टि में सम्पूर्ण विकार भी असत्य ही प्रतीत होते हैं।

पर्वत वस्तुतः पाषाण ही हैं, पृथिवी मिट्टी ही है, वृक्ष काष्ठ ही हैं और मनुष्य मांस आदि ही हैं अर्थात् पर्वत पत्थर से अतिरिक्त वस्तु नहीं है, पृथिवी मिट्टी से अतिरिक्त नहीं है, वृक्षो में काष्ठ से भिन्न कुछ नहीं है और मनुष्य भी हाड़, मांस आदि के ही पुतले हैं, उनसे पृथक् उनमें कुछ नहीं है। यदि ऐसा है, तो उनमें पर्वत आदि विशेषबुद्धि क्यों होती है ? ऐसी शंका यदि हो, तो उस पर सुनिए–व्यवहार

के लिए मनुष्यों ने उनका नाम रख दिया है, वास्तव में वे पूर्वसिद्ध पाषण आदि पदार्थों से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार सब जगह तुल्य युक्ति से विकाररहित सम्पूर्ण जगत् प्रकृतिभूत एक ही वस्तु है, ऐसा युक्ति से प्रतीत होता है। अथवा यदि यह शंका हो कि पर्वत आदि विकार भले ही असत्य हों, उनके कारण पाषाण, मिट्टी आदि की असत्यता कैसे ? उस पर कहते हैं। वे भी अपने कारण महाभूतों के विकार हैं, अतः असत्य हैं। इस भोग्यवर्ग में विकार से भिन्न कुछ भी नहीं है। विकार होने से ये विषय आदि सब मिथ्या हैं, इसलिए भी इन पर विश्वास ही नहीं करना चाहिए ॥३३॥

पाषाण आदि केवल महाभूतमात्र हैं, ऐसा जो पहले कहा था, उसीको स्फुट करते हैं।

जल, वह्नि, वायु, आकाश और पृथिवी ये पाँच महाभूत ही परस्पर मिलकर गो, घट आदि विविध पदार्थों के रूप में अविवेकी पुरूषों द्वारा उनकी बुद्धि से प्रतीत होते हैं, यह बड़े खेद की बात है। विवेकदृष्टि से पृथक्–पृथक विभाग से संशोधन करने पर तो पंचभूत से अतिरिक्त कोई भी पदार्थ नहीं है अर्थात् अविवेकी पुरुष ही मोहवश पंचमहाभूतविकार जगत्को सत्य समझता है, पर जो विवेकी हैं, उनको तो इस जगत्में पंचमहाभूतसमुदाय से अतिरिक्त कोई वास्तविक पदार्थ प्रतीत नहीं होता ॥३४॥

यदि इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों को असत्य मानें, तो मनुष्योंके व्यवहार और भोग कैसे होंगे ? शुक्तिरजत से क्या कोई भी कड़ा बना सकता है ? इस शंका पर कहते हैं।

मुनिवर, इस मिथ्यारूप जगत में व्यवहारकुशल विद्वान लोगों के मन में भी भोगचमत्कार को उत्पन्न करनेवाली जो व्यवहारचमत्कृति प्रतीत होती है, वह कोई आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि कदाचित् स्वप्न में मिथ्याभूत विषयों को देखकर भी उस प्रकार की चमत्कृति लोगों को होती है ॥३५॥

यदि भोगचमत्कार होता है, तो अभी क्यों विरक्त होते हो ? भोगों को भोगकर वृद्धावस्था में विरक्त होकर विचार किया जा सकता है, ऐसी आशंका होने पर भोगों में आसक्ति होने से वैराग्य और विचार दोनों दुर्लभ हैं, ऐसा कहते हैं।

इस युवावस्था में और आनेवाली वृद्धावस्था में आकाशलता के फल के समान मिथ्यारूप भी भोगासक्तिकल्पना जब अविचार के कारण वृद्धि को प्राप्त होती है तब भोग और उसके साधनों में आसक्त पुरुषों में परमात्मा के स्वरूप का निरूपण करनेवाली कथा ही उदित नहीं होती, निरन्तर उसका विचार करना तो दूर रहा ॥३६॥

आसक्ति होने पर केवल पुरुषार्थ की हानि ही नहीं होती, प्रत्युत महान् अनर्थ भी होता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे पशु हरी–हरी लतारूप फल की प्राप्ति की इच्छा से ही पर्वतशिखर से गिर पड़ता है, वैसे ही उत्कृष्टभोगशाली पुरुषों का पद (समता या राज्य, धन आदि) प्राप्त करने की इच्छा करनेवाला पुरुष राग, लोभ आदि से मूढ़ अर्थात् प्रचुर राग और लोभ से अभिभूत अपने चित्त से आहत होकर पूर्वावस्था में ही पतनरूप गर्त में गिर जाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। हे मुने ! आजकल के मनुष्य गड्ढे के वृक्षों के समान हैं, क्योंकि जैसे गड्ढ़े के वृक्ष के छाया, लता, पत्ते, फल फूल आदि गड्ढ़े में ही रह जाते हैं, अंशतः भी प्राणी उनका भोग नहीं कर सकते, वैसे ही मनुष्य भी अपने शरीर के पोषण के लिए ही अपनी विद्या, विनय, धन, सम्पत्ति आदि को व्यर्थ नष्ट कर देते हैं उनसे किसी

दूसरे का उपकार नहीं होता ॥३७,३८॥

यद्यपि कहीं धार्मिक पुरुष हैं, तथापि विवेकी पुरुष तो अति दुर्लभ हैं, ऐसा कहने के लिए दो प्रकार के मनुष्यों को कहते हैं।

जैसे कृष्णासार मृग गहन जंगलों में इधर–उधर भ्रमण करते हैं, वैसे ही मनुष्य भी कहीं पर दया उदारता, क्षमा, सौन्दर्य, विद्या, विनय आदि से युक्त सज्जन पुरुषों के समाज में और कहीं पर क्रोध, लोभ, निष्ठुरता आदि से परिपूर्ण पापासक्त दुराचारियों के साथ विहार करते हैं ॥३९॥

लोगों की दुर्गति को देखकर दुःखित हुए श्रीरामचन्द्रजी लोगों की दुर्गति में कारणभूत दैव की निंदा करते हैं।

महर्षे यह दैव अचेतन होने के कारण मृतक–समान है। यदि यह जीवित होता तो ऐसा निर्दय न होता। यह (दैव) इस संसार में प्रतिदिन फल से भीषण (भीषण क्लेश देनेवाले) आपाततः (विचार के बिना) भले प्रतीत होनेवाले राग आदि से अत्यन्त व्याकुल चित्तवाले लोगों से पूर्ण एवं अन्त में कष्टरूपी फल देने के कारण जिनका उदय दूषित है, ऐसे नूतन–नूतन कार्य करता है। उसके ये कार्य किन विवेकशील पुरुषों के मन को आश्चर्यचकित नहीं करते ॥४०॥

संसार की अभद्रताका प्रतिपादन कर उसका उपसंहार करते हुए उससे होनेवाली अपने चित्त की उद्विग्नता दिखलाते हैं।

आजकल स्वप्न के समान मिथ्याभूत इस संसार में विविध प्रकार के छल–कपटों से व्यवहार करनेवाले, विषयासक्त मनुष्य सर्वत्र सुलभ हैं, पर विवेकशील पुरुष अतिदुर्लभ हैं, और सम्पूर्ण कर्म अत्यन्त दुःखों से रहित साधनों अथवा फलों से शून्य हैं, अर्थात् ऐसी कोई क्रिया नहीं है, जिसके साधन अथवा फल अत्यन्त दुःख से रहित हों, सभी क्रियाएँ दुःखमय ही हैं। मुनिवर, समझ में नहीं आता है कि हम लोगों की जीवनदशा कैसे बीतेगी ॥४१॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठाईसवाँ सर्ग

सम्पूर्ण भोग्य पदार्थों में विरसता की प्रतीति के लिए उनकी परिवर्तनशीलता का वर्णन।

सब पदार्थों में निरन्तर परिवर्तन देखने से भी उनमें स्थायित्व का विश्वास नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, यह जो कुछ भी स्थावर–जंगमरूप दृश्य जगत् दिखाई देता है, वह सब स्वप्न के समाज सम्मेलन के समान असत्य या अस्थिर है। मुनिजी, आज यहाँ पर सूखे समुद्र के सदृश गम्भीर जो यह विशाल गड्ढ़ा दिखाई देता है, वही कल मेघमाला से परिवेष्टित पर्वत बन जाता है और जो आज यहाँ पर विविध वनश्रेणियों से परिपूर्ण गनगनचुम्बी महापर्वत दिखाई देता है, कुछ ही दिनों में वही समतल पृथिवी के रूप में या गम्भीर कुएँ के रूप में परिणत हो जाता है। आज जो शरीर रेशमी वस्त्र, माला और कुमकुम, केसर एवं कस्तूरी के विलेपन से विभूषित है वही कल वस्त्रशून्य (नंगा) होकर ग्राम या नगर से दूरवर्ती गड्ढ़े में सड़ेगा। जहाँ पर आज अद्भूत आचार–व्यवहारवाले

मनुष्यों की चहल–पहल से परिपूर्ण नगर दिखाई देता है, कुछ ही दिनों के बाद वहीं पर सूना अरण्य बन जाता है। जो पुरुष आज तेजस्वी है, अनेक सामन्तों पर शासन करता है, वही कुछ ही दिनों के बाद भस्मराशि (राख की ढेरी) बन जाता है। आज जो महाअरण्य विस्तार और नीलता में आकाशमण्डल को मात करता है, अर्थात् आकाश के समान विशाल और गहन होने के कारण आकाश के समान काला है, वही थोड़े दिनों में पताकाओं से आकाश को पाट देनेवाला महानगर बन जाता है। आज जो लताओं से वेष्टित अतएव भयंकर वनश्रेणी दिखाई देती है, वही थोड़े ही दिनो में जल और वृक्षों से शून्य मरूभूमि (रेगिस्तान) बन जाती है। जहाँ पर अगाध जल भरा रहता है, वे बड़े–बड़े तालाब और समुद्र, स्थल बन जाते हैं और स्थल जलाशय बन जाता है, बहुत कहाँ तक कहें, काष्ठ, जल और तृणों से युक्त यह सारा–का–सारा जगत् विपरीत अवस्थाको प्राप्त होता है। युवावस्था, बाल्यावस्था, शरीर और धनसम्पत्ति ये सब–के–सब अनित्य हैं। जैसे तरंग लगातार जल से तरंगरूपता को और तरंग से जलरूपता को प्राप्त होती है वैसे ही सब पदार्थ निरन्तर अपने पूर्व स्वभाव से अन्य स्वभाव को प्राप्त होते हैं। इस संसार में जीवन प्रखर वायु से पूर्ण स्थान में रक्खे हुए दीपक की लौ के समान अत्यन्त चंचल है और तीनों लोकों के सम्पूर्ण पदार्थों की चमक–दमक बिजली की चमकके सदृश क्षणिक है। जैसे भंडार घर में पुनःपुन भरने पर भी धान, गेहूँ आदि अन्नों की राशि प्रतिदिन के व्यय से रिक्त हो जाती है या खेत में बोई गई और पानी से सींची जाती हुई धान्यराशि अंकुर और पौधे के रूप से विपरीत अवस्था को प्राप्त होती है, वैसे ही ये विविध पदार्थ विपरीत अवस्था (परिवर्तन) को प्राप्त होते हैं। अतिशय आडम्बर से शोभित होनेवाली संसाररचना अत्यन्त कौशलपूर्ण नटी के समान है। यह नर्तक के आवेश में नटी के समान अपना अतिशय नृत्य कौशल प्रकट करने के लिए अंगपरिवर्तन द्वारा पद पद में भ्रम उत्पन्न करती है। मनरूपी वायु से परिचालित जीवरूप धूलि ही इस संसाररचनारूपी नर्तकी के वस्त्र हैं और प्राणियों को नरक में गिराना, स्वर्ग में पहुँचाना और पुनः इसी लोक में वापिस लाना ही इसके उत्तम अभिनय है, उनसे यह विभूषित है ॥१–१४॥ ब्रह्मन्, कटाक्षदर्शन के समान क्षणभंगुर व्यवहारपरम्परा से मनोहर यह संसाररचना कटाक्षपात और क्षणभंगुर नई नई कारीगरियों से मनोहर नृत्तासक्त नटी के समान अद्भुत गन्धर्वनगर के सदृश अनेक भ्रम उत्पन्न करती है और यह पुनः पुनः बिजलीरूप चंचल दृष्टि को फैलाती है अर्थात् जैसे ऐन्द्रजालिक स्त्री तन्त्र और मन्त्रों के विस्तार द्वारा लोगों के नयनों की दर्शनशक्ति को आच्छादित कर अवस्तु में वस्तु ज्ञान उत्पन्न कराती है, यह संसाररचनारूपी नर्तकी की दृष्टि भी वैसे ही बिजली से भी चंचल है अतएव यह नृतासक्त संसार रचना नृतासक्त नटी के समान है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥१५,१६॥ महर्षिजी, आप विचार कर देखें वे उत्सव और वैभव से परिपूर्ण दिन, वे महापुरुष, वे प्रचुर सम्पत्तियाँ, वे यज्ञ आदि क्रियाएँ कहाँ हैं ? वे सब–के–सब हमारे दृष्टिपथ से दूर हो गये हैं, अब केवल उनकी स्मृति ही शेष रह गई है, वैसे ही हम भी थोड़े ही दिनों में चले जायेंगे, हमारी भी केवल स्मृति ही शेष रह जायेगी। यह गर्हित संसार प्रतिदिन नष्ट होता है और प्रतिदिन फिर उत्पन्न होता है। कितना काल बीत गया इसकी सीमा नहीं है, फिर भी आज तक इस निन्दत संसार का अन्त नहीं हुआ, यह बराबर चलता ही जाता है। मनुष्य पशु आदि योनि को प्राप्त होते हैं, पशु आदि मनुष्य–जन्म को प्राप्त होते हैं और देवता देवभिन्न योनियों में जन्म

लेते हैं; भला बतलाइए तो सही, इस संसार में कौन वस्तु स्थिर है ? सभी का तो विपर्यास (परिवर्तन) दिखलाई दे रहा है। कालरूप सूर्य अपनी किरणों द्वारा रात-दिन पुनःपुनः प्राणियों की सृष्टिकर अनेक रात्रि और दिनों को बिताकर स्वयं रचित भूतों के विनाश की अवधि की प्रतीक्षा करता है। और को क्या कहें, ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र आदि एवं सम्पूर्ण प्राणिवर्ग जैसे जल बड़वाग्नि का (📖) अनुसरण करता है वैसे ही विनाश का अनुसरण करते हैं। कहाँ तक कहें, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत नदियाँ, दिशाएँ ये सब के सब विनाश रूपी अग्नि के लिए सूखे काष्ठ हैं अर्थात् जैसे अग्नि को सूखे लकड़े को जलाने में कुछ भी विलम्ब नहीं होता, वैसे ही इनका विनाश होने में भी कुछ काल नहीं लगता। काल से भयभीत पुरुषों के धन-सम्पत्ति, बन्धु बान्धव, मृत्यु मित्र और ऐश्वर्य ये नीरस हो गये हैं। इस जगत् में विवेकशील पुरुषों को तभी तक ये पदार्थ अच्छे लगते हैं, जब तक कि विनाशरूपी दुष्ट राक्षस का स्मरण नहीं होता ॥१७-२४॥ मुनिवर, इस संसार में क्षण भर में मनुष्य वैभवपूर्ण हो जाता है, क्षणभर में दरिद्र बन जाता है, क्षणभर में नीरोग हो जाता है और क्षण भर में ही रोग से आक्रान्त हो जाता है। गिरगिट के समान क्षणभर में रंग बदलनेवाले नश्वर जगत्रूपी भ्रम से कौन बुद्धिमान् जन मोहित नहीं हुए अर्थात् इस गर्हित जगद्भ्रम ने सभी को मोह में डाल रक्खा है ॥२५,२६॥

इस जगत् की अनियत स्थिति को ही उदाहरण द्वारा विशद करते है।

आकाशमण्डल कभी निविड अन्धकार से आच्छन्न हो जाता है, कभी सुवर्णद्रव के समान उज्ज्वल चाँदनी आदि से उद्भासित हो उठता है, कभी मेघरूपी नीलकमल की माला से परिवृत्त हो जाता है, कभी गम्भीरतर बादलों की गर्जना से परिपूर्ण हो जाता है, कभी मृककी नाईं सुनसान हो जाता है, कभी तारों की पंक्तियों से रंजित हो जाता है, कभी सूर्य की किरणों से विभूषित हो जाता है, कभी चाँदनीरूप आभूषण से अलंकृत हो उठता है और कभी पूर्वोक्त कोई भी पदार्थ उसमें नहीं रहते। क्या ये सब आकाश के स्वरूप है ? नहीं, वह तो रंग आदि से रहित है, केवल उक्त प्रकार के आकारों को धारण करता है, आकाश दृष्टान्तय है। इसका दार्ष्टन्तिक संसार भी इसी भाँति घोर मायामय (भ्रान्तिमय) है। संसार का स्वरूप ठीक आकाश के सदृश है। हे महर्षे, आगम और अपाय के वशीभूत एवं क्षण में उत्पन्न और क्षण में नष्ट होनेवाली इस जगत्-स्थिति से कौन ऐसा पुरुष है, जो धीर होता हुआ भी इस संसार में भयभीत नहीं होता ॥२७-३०॥

मुने, क्षण में आपत्तियाँ आती है एवं क्षण में ही सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं, केवल सम्पत्तियाँ और विपत्तियाँ ही नहीं, किन्तु क्षण में ही जन्म होता है और क्षणभर में ही मृत्यु हो जाती है। इस संसार मे कौन ऐसी वस्तु है, जो क्षणिक न हो अर्थात् सुस्थिर हो। जो पुरुष पहले अन्य था, वही थोड़े दिनों में अन्य प्रकार हो गया। भगवन्, सदा एकरूप में रहनेवाली सुस्थिर वस्तु यहाँ कोई भी नहीं है। कपास के खेत में नष्ट हुआ घड़ा कपास रूप में परिणत होकर पट (वस्त्र) बन जाता है और पट भी घटरूप बन जाता है, इस संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं देखी गई जिसका विपर्यास (परिवर्तन) नहीं होता। पुरुष

📖 मूल में स्थित वाड़वशब्द भागत्यागलक्षणा द्वारा अग्नि का प्रतिपादक है, क्योंकि अन्यथा प्रसिद्ध बड़वाग्नि जल को भी जला डालती है, इसलिए उसके दाह्य इन्धनों में शुष्क विशेषण अनुपयुक्त होगा।

को परमात्मा वृद्धि को प्राप्त कराता है, विपरिणाम को प्राप्त कराता है, क्षीण करता है, नष्ट करता है और फिर जन्म को प्राप्त कराता है। क्रम से वृद्धि विपरिणाम, अपक्षय, विनाश और जन्म को प्राप्त हो रहे देहाभिमानी के समीप ये पाँच भावविकार भी चिरकाल तक नहीं रहते, रात्रि और दिन के समान निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् विपर्यय को प्राप्त हो जाते हैं। भाव यह कि रात्रि और दिन के समान उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, ह्रास और विनाश क्रम से मनुष्य को प्राप्त होते है, प्राप्त होकर स्थिर, नहीं रहते, किन्तु पुनः पुनः परिवर्तित होते रहते हैं। बलवान् दुर्बल के द्वारा मारा जाता है, एक व्यक्ति भी सैकड़ों व्यक्तियों को धराशायी बना देता है एवं सामान्य व्यक्ति भी प्रभुता को प्राप्त हो जाते हैं। बहुत क्या कहें सारा जगत् ही परिवर्तनशील है। जैसे जल का वेग क्रिया के साथ संपर्क होने से तरंगों की पंक्तियाँ लगातार परिवर्तित होती हैं, वैसे ही यह जनता (चेतनप्राणिसमूह) भी जड़ प्राण, इन्द्रिय आदि के संसर्ग से निरन्तर परिवर्तित होती है। बाल्यावस्था थोड़े ही दिनों में चली जाती है, तदन्तर यौवन पदार्पण करता है, वह भी बाल्यावस्था के अनुसार थोड़े ही दिनों में चल बसता है, तदुपरान्त वृद्धावस्था आती है। देखिए, देह में भी एकरूपता (स्थिरता) नहीं है, बाह्य पदार्थों में तो एकरूपता की क्या आशा हो सकती है ? जैसे नट हर्ष, विषाद आदि का अभिनय करता है, वैसे ही मन भी हर्ष, विषाद का अभिनय करता है, कभी वह किसी विषय को देखकर आनन्द को प्राप्त होता है, क्षणभर में ही अन्य को देखकर दुःखी बन जाता है और क्षणभर में सौम्य बन जाता है। जैसे बालक खेल क्रीड़ा में कभी कुछ, कभी कुछ वस्तु बनाता हुआ थकता नहीं, वैसे ही यह विधाता भी इधर दूसरी, उधर दूसरी और उधर दूसरी वस्तु को बनाता हुआ खेद को प्राप्त नहीं होता, कभी थकता नहीं। विधाता मनुष्यों को धान आदि के समान संचित कर बढ़ाता है, उनसे अन्य लोगों की (पुत्र–पौत्रादिरूप से) उत्पत्ति कराता है; फिर उनको मारकर खा जाता है। उनको खाने में उसे स्वाद मिल जाता है, फिर तो वह निरन्तर खाने के लिए अन्य लोगों की सृष्टि करता है। सृष्टि को प्राप्त मनुष्यों के पास हर्ष, विषाद आदि रात्रि और दिन की नाईं सदा आते जाते रहते हैं। उत्पन्न और विनष्ट होनेवाले संसारी पुरुषों की न तो आपत्तियाँ स्थिर रहती हैं और न सम्पत्तियाँ ही स्थिर रहती हैं। यह काल समर्थों को भी अनादर के साथ परिवर्तित करनेमें अति दक्ष हैं। यह प्रायः सब लोगों को आपत्ति में ढकेल कर क्रीड़ा करता है। कर्मों के एवं रसों के सम परिणाम और विषम परिणाम से विविध भाँति के तीनों लोकों के प्राणी समुदायरूप फल समयरूपी वायु द्वारा आन्दोलित होकर विस्तृत संसाररूपी वृक्षों से प्रतिदिन गिरते हैं ॥३१–४३॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

उनतीसवाँ सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी का दोषदर्शन से सम्पूर्ण पदार्थों में स्ववैराग्यवर्णन एवं
चित्त की शांति के लिए तत्त्वोपदेश की प्रार्थना।

श्रीरामचन्द्रजी इस प्रकार दोषदर्शन से अपने चित्त में तत्त्वज्ञानजनक वैराग्य दर्शाते हैं।

श्रीरामचन्दजी ने कहा : मुनिवर, इस प्रकार दोषदर्शनरूपी वनाग्नि से मेरा चित्त दग्धप्राय हो गया

है अर्थात् उसमें पहले जो जगत् के प्रति स्थायित्वबुद्धि भी थी या जगत् के प्रति प्रेम था, वह जल गया है, अतएव वह विवेक से परिपूर्ण है। जैसे जलाशयों में मृगजल का (सूर्यकिरणों में जलबुद्धि का) उदय नहीं होता (मरुभूमि में ही मृगतृष्णा की प्रतीति होती है) वैसे ही उक्तरूप मेरे चित्त में भोग की आशा का उदय नहीं होता। जैसे छोटे-छोटे नीम के पेड़ काल की अधिकता से अर्थात् उत्तरोत्तर तिक्त, तिक्ततर और तिक्ततम होते हैं वैसे ही यह संसार भी हमारे प्रति दिन-प्रति दिन अधिकाधिक कटुता को प्राप्त होता है अर्थात् जैसे जैसे काल व्यतीत होता है, वैसे वैसे यह संसार हमारे प्रति कटुप्राय होता जाता है। भगवन्, मनुष्य का चित्त करंज वृक्ष (卐) के फल के समान कठोरतम है। धर्म का अंशतः ह्रास और अधर्म की अंशतः वृद्धि होने के कारण उसमें दिन- प्रति-दिन दुर्जनता बढ़ती जाती है और सज्जनता क्षीण होती जाती है। सूखी हुई उड़द की छीमी को तोड़नेमें तो टंकार शब्द होता है पर संसार में दिन प्रतिदिन बिना टंकारशब्द के बड़ी शीघ्रता के साथ मर्यादा का भंग किया जा रहा है अर्थात् लोग संसार में उड़द की सूखी हुई छीमी के समान बड़ी शीघ्रता से मर्यादा भंग कर रहे हैं, केवल अन्तर इतना ही है कि छीमी को तोड़ने में शब्द होता है, पर मर्यादा को तोड़नेमें शब्द भी नहीं होता। मुनिश्रेष्ठ, विविध मानसिक चिन्ताओं से परिपूर्ण प्रचुर भोगों से युक्त राज्यों की अपेक्षा चिन्ताशून्य महात्माओं द्वारा स्वीकृत एकान्तसेवन कहीं अच्छा है। उद्यान के दर्शन या विहार से मुझे प्रसन्नता नहीं होती, स्त्रियों से मुझे सुख नहीं होता और धनप्राप्ति से मुझे हर्ष नहीं होता। मैं मन के साथ उपशान्त होना चाहता हूँ, यही मेरी प्रबल इच्छा है ॥१-६॥

शान्ति के सिवा दूसरा कोई भी सुखका साधन नहीं है, ऐसा कहते हैं।

पूज्यवर, यह संसार सुखरहित और विनाशी है, तृष्णा (विषयवासना) बड़ी तीव्र है और चित्त की चंचलता की कोई सीमा ही नहीं है, उससे शान्तिलाभ की आशा दुराशा ही है, मैं कैसे निवृत्तिलाभ करूँगा, यही मैं सदा विचार करता हूँ। न मैं मृत्यु का अभिनन्दन करता हूँ और न जीवन का ही अभिनन्दन करता हूँ। जिस अवस्था में स्थित होने से मैं लोकसन्ताप से निर्मुक्त हो जाऊँ, उसी अवस्था का मैं अवलम्बन करना चाहता हूँ वह चाहे जीवनावस्था में प्राप्त हो, चाहे मरने के पश्चात् जब कभी हो, उसके लिए मैं व्यग्र नहीं हूँ। राज्य से मुझे क्या करना है, भोग से मेरा कौन प्रयोजन सिद्ध होगा, धन से मुझे क्या मतलब है, किसी प्रकार की चेष्टा से भी मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। अहंकार वश इनकी उत्पत्ति होती है, मेरा वह अहंकार ही नष्ट हो गया है। इन्द्रियों का विषयों की आसक्ति से मुक्त होना बड़ा कठिन है, अतएव इन्द्रियाँ ठहरी कभी न सुलझनेवाली दृढ़ ग्रन्थियाँ। उन ग्रन्थियों द्वारा जन्म की पंक्ति रूपी चमड़े की रस्सी में बाँधे गये जीवों में से जो लोग उससे छुटकारा पाने के लिए यत्न करते हैं, वे ही श्रेष्ठ पुरुष है। जैसे हाथी अपने विशाल पैर के प्रहार से कमल को कुचल डालता है। वैसे ही कामदेव ने रमणियों द्वारा कोमल मन को मथ डाला है, नष्ट कर दिया है। मुनीश्वर यदि इस बाल्यावस्था में निर्मल बुद्धि से चित्त की चिकित्सा नहीं की गई, तो फिर चित्त की चिकित्सा का अवसर कब आयेगा ? क्योंकि जब तक भलीभाँति जड़ न जमी हो तभी तक छोटा-सा वृक्ष उखाड़ा जा सकता, जब वह बद्धमूल हो जाता है, तब तो उसे उखाड़ना बड़ा कठिन हो जाता

卐 काँटेदार जंगली पेड़ है।

है, ऐसी लोकोक्ति है। कुटिल विषय ही विष है, प्रसिद्ध विष विष नहीं है, क्योंकि विष एक ही देह का अर्थात् जिस देह से उसका सम्बन्ध होता है, उसी का विनाश करता है मगर विषय तो अन्य जन्मों में भी देह को मृत्यु के मुँह में डालते हैं ॥७–१३॥

तत्त्वज्ञ पुरुष भी तो विषयों का भोग करते हुए सुखी आदि देखे जाते हैं, फिर उनमें कौन सी विशेषता है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

सुख, दुःख, मित्र, बन्धु, बान्धव, जीवन और मरण ये सब यद्यपि बन्धन के कारण है, तथापि ये ज्ञानी के चित्त के बन्धक नहीं होते, इसका कारण यही है कि ज्ञानी इनके वश में नहीं होते ॥१४॥

अतः सम्पूर्ण दुःखों का मूलोच्छेदक होने के कारण ज्ञानी होना ही परम पुरुषार्थ है, अतः ज्ञानोपदेश की प्रार्थना करते हैं।

हे ब्रह्मन्, हे तत्त्वज्ञशिरोमणे, इसलिए जैसे में ज्ञानी होकर शोक, भय और खेद से शीघ्र मुक्त हो जाऊँ, वैसा उपदेश मुझे शीघ्र दीजिये ॥१५॥

शीघ्र उपदेश देने के लिए अपने में अतिशय दुःख की असहिष्णुता और वैराग्य में उत्कण्ठा दिखलाते हैं।

अज्ञता भीषण अरण्य के सदृश हैं, जैसे अरण्य में मृगों को फँसाने के लिए जाल बिछे रहते हैं, चारो ओर काँटे बिखरे रहते हैं, जगह–जगह ऊँची–नीची भूमि रहती है, वैसे ही अज्ञता भी विषयवासनारूपी जालों से परिवेष्टित है, दुःखरूपी कण्टकों से आकीर्ण है और सम्पत्ति–विपत्ति से या स्वर्गनरकपरम्परा से पूर्ण है, इसलिए उससे मैं शीघ्र मुक्त होना चाहता हूँ। मुनिवर, यदि कोई मुझे आरे से चीरे, तो मैं आरे के दाँतों की रगड़ सहने के लिए समर्थ हूँ, लेकिन सांसारिक व्यवहार से उत्पन्न एवं आशा और विषयों से हुए संघर्ष को मैं सहने के लिए समर्थ नहीं हूँ। यह अभीष्ट है, यह सोचकर उसके निवारण में और यह इष्ट है, यह समझकर उसके सम्पादन में प्रवृत्ति–निवृत्तिव्यवहाररूप अविद्यारूप अंजन से उत्पन्न भ्रान्ति स्वभावतः चंचल चित्त को इस प्रकार कँपा डालती है जैसे वायु दीपक की लूर को कँपाती है। जीवसमूहरूपी मोती तृष्णारूपी अत्यन्त सूक्ष्म धागे में पिरोये गये हैं, साक्षीरूप चैतन्य के सम्बन्ध से एवं तैजस होने के कारण अत्यन्त देदीप्यमान मन ही उस माला में प्रधान (नायक) मणि है। वैराग्य आदि से सम्पन्न मैं जैसे रोषपूर्ण सिंह जाल को तोड़ डालता है, वैसे ही कालरूपी किटके आभूषण इस संसाररूपी हार को आपके उपदेश से उत्पन्न ज्ञान से–क्रोध, हिंसा आदि उग्र उपायों के बिना तोड़ता हूँ। तत्त्वज्ञशिरोमणे, हृदयकमल ही दुष्प्रवेश होने के कारण अरण्य है, उसमें शीत और आवरण का हेतु होने के कारण कुहरे के तुल्य और उसमें आत्मतत्त्व के अन्वेषण के लिए प्रवृत्त हुए मन के अन्धकार की नाईं विवेकरूपी नेत्र को बन्दकर देनेवाले अज्ञान को सुखकर उपदेशरूपी सूर्य से नष्ट कर दीजिये। महात्मन्, जैसे चन्द्रमा से रात्रि का अन्धकार नष्ट होता है, वैसे ही उत्तम पुरुषों की संगति से प्राप्त उपदेश से जिनका विनाश नहीं होता, ऐसी दुष्ट मानसिक चिंताएँ इस जगतीतल में हैं ही नहीं अर्थात् जैसे चन्द्रमा रात्रि के अन्धकार को नष्ट कर देता है, वैसे ही महात्मा पुरुषों की संगति से प्राप्त उपदेश भी सम्पूर्ण क्लेशों को नष्ट कर देता है ॥१६–२२॥

अभी तुम बालक हो, इसलिए तुममें शम, दम आदि की दृढ़ता नहीं है। यदि तुम्हें हमने तत्त्वज्ञान

का उपदेश दे भी दिया, तो वह फलीभूत नहीं होगा, ऐसी शंका की निवृत्ति के लिए श्रीरामचन्द्रजी अपने में शम आदि की दृढ़ता दिखलाते हैं।

आयु वायु से टकराये हुए मेघों के समूह से टपक रहे जल के समान भंगुर है, भोग बादलों में चमक रही बिजली के समान चंचल हैं और यौवन में होनेवाले चित्तविनोद जल के वेग के समान चपल हैं, ऐसा शीघ्र विचार कर अर्थात् आयु, भोग, यौवन आदि में तृष्णा, चंचलता आदि दोषों से दुःख, नाश आदि अनर्थ जानकर उनका त्यागकर मैंने इस बाल्यावस्था में भी सम्पूर्ण दोषों से रहित शान्ति के लिए अपने हृदय के विषय में अटल अधिकार की मुहर दे रक्खी है ॥२३॥

भाव यह कि जैसे राजा अधिकार लोलुप बहुत से व्यक्तियों में से जिनसे लोभ, कायरता आदि दोषों के कारण राज्य में प्रजापीड़न, शत्रु द्वारा आक्रमण आदि की आशंका होती है, उन्हें छोड़कर किसी एक गुणवान और शक्तिशाली व्यक्ति को अधिकारमुद्रा सौंपता है, वैसे ही मैंने भी पूर्वोक्त प्रकार से समर्थ शान्ति के लिए अपने चित्त के विषय में दृढ़ अधिकार मुद्रा दे रक्खी है।

उनतीसवाँ सर्ग समाप्त

तीसवाँ सर्ग

अपने चित्त का उद्वेग दर्शा रहे श्रीरामचन्द्रजी द्वारा उसके निरास एवं शांति के लिए उपदेश की प्रार्थना।

हेतुओं द्वारा अपने चित्त की उद्विग्नता का विस्तारपूर्वक वर्णन कर रहे श्रीरामचन्द्रजी चित्तविश्रान्ति के हेतुभूत उपदेश की प्रार्थना करते हैं।

उक्त रीति से सैकड़ों अनर्थों से परिपूर्ण संसाररूपी अँधे कुँए के छिद्र में सम्पूर्ण प्राणियों को मग्न देखकर मेरा मन चिन्तारूपी कीचड़ में फँस गया है। मेरा मन घूम–सा रहा है और मुझे भय भी हो रहा है, अतएव मेरे अंग प्रत्यंग पुराने वृक्ष के पत्तों की नाईं काँप रहे हैं। जैसे निर्जन अरण्य में रहनेवाली दुर्बल भर्तृका मुग्धा नारी पद पद में भयभीत और शंकित रहती है, वैसे ही उत्कृष्ट सन्तोषदायक धैर्यरूपी माँकी गोद न मिलने के कारण व्याकुल हुई मेरी बालबुद्धि भी इस संसार में पद पद में भयभीत और सशंक हो रही है। जैसे मृगगण विषमस्थान में लटक रहे तुच्छ तृणों के लोभ से वंचित होकर गड्ढ़े में गिर पड़ते हैं, वैसे ही असार विषयों से वंचित ये अन्तःकरण वृत्तियाँ विक्षेपरूप दुखों की प्राप्ति के लिए दुःखरूप गड्ढ़ें में गिरती है। अविवेकी पुरुषों की नेत्र आदि इन्द्रियाँ चिरपरिचित होने के कारण संसार की ओर ही पूर्णरूप से आकृष्ट है (संसार में ही उनकी दृढ़ वासना है), परमार्थ वस्तु के प्रति उनका तनिक भी आकर्षण नहीं है। अतएव वे बेचारी नेत्र आदि इन्द्रियाँ आत्मा के उद्धार में समर्थ नहीं हैं और अन्धकूप में गिरे हुए जीवों की नाईं दुःखी है। जैसे पति के अधीन कान्ता न तो उपराम को प्राप्त होती है और न स्वेच्छा से कहीं मन चाहे प्रदेश को ही जाती है, किन्तु पति के घर में ही रहती है, वैसे ही जीवरूपी पति की कान्ता चिन्ता भी न तो उपराम को प्राप्त होती है और न मन चाहे विषयों को ही प्राप्त होती है, किन्तु स्वपति जीव के प्रियस्थान हृदय में ही निवास करती है। जैसे मार्गशीर्ष मास के अन्त में लताएँ तुषार गिरने के कारण जीर्ण पत्तों को गिरा देती हैं, कुछ हरे पत्तों को धारण भी करती हैं, वैसे ही

विवेक से विषयों को तुच्छ समझकर उनका त्याग कर रही और रस के (卐) (राग के) शेष रहने के कारण कुछ विषयों को धारण कर रही मेरी धृति संकट को प्राप्त हो गई है ॥१–७॥

क्लेशदायिनी अपनी उसी अन्तरालावस्था का वर्णन करते हैं।

मेरी उक्त चित्त की अस्थिरता सांसारिक और पारमार्थिक सम्पूर्ण सुखों को गँवाकर स्थित है, क्योंकि संसारस्थिति आत्मा के विवेकमात्र से अर्थ बोध होने के कारण मुझे आधा छोड़कर आधा पकड़े हुए है अर्थात् न तो मैं पूर्ण ज्ञानी ही हूँ और न पूरा अज्ञानी ही, इसलिए अन्तराल में स्थित मुझे न ऐहिक सुख ही प्राप्त है और न पारमार्थिक ही। जैसे कटे हुए वृक्ष के ठूँठ द्वारा (स्थाणु द्वारा) अन्धकार में सत्य कोटि और असत्य कोटिरूप यह ठूँठ है या चोर है, इस प्रकार स्थिरत्व और अस्थिरत्व प्रकार के संशय से लोगों की बुद्धि वंचित (भ्रमित) होती है वैसे ही आत्मतत्त्व के निश्चय से रहित (आत्मतत्त्वनिश्चय में सन्देहयुक्त) मेरी बुद्धि भी यह तत्त्व है या यह तत्त्व है, इस प्रकार के सन्देह से वंचित हो रही है। जैसे देवता विविध भोगसामग्रियों से परिपूर्ण, भुवनों में विहार करनेवाले एवं शीघ्रगामी अपने विमान का परित्याग नहीं करते वैसे ही स्वभावतः चंचल नानाभोगसामग्रियों से परिपूर्ण भुवनों में परिभ्रमण से अधिक चपलता को प्राप्त मेरा मन भी चंचलता को नहीं छोड़ता है। मैं उसे जबरदस्ती रोकना चाहता हूँ, पर तत्त्वज्ञान न होने के कारण मैं ऐसा नहीं कर सकता हूँ। इसलिए हे मुनिनायक, परमार्थ सत्य, जन्म–मरण आदि दुःखों से शून्य, देहादि उपाधि से विरहित, भ्रम से रहित वह विश्रान्ति–स्थान कौन है, जिसे प्राप्त कर शोक नहीं होता। हमारे ही समान दृष्ट और अदृष्टरूप फलदायक सम्पूर्ण कर्मों के अनुष्ठाता एवं लौकिक व्यवहार में तत्पर जनक आदि महापुरुष कैसे उत्तम पद को प्राप्त हुए ? हे परसत्कारकारिन्, इस संसार में वह कौनसा उपाय है, जिससे कि संसाररूपी पंक अर्थात् पुण्य–पापरूपी पंक का या शोकमोहरूप पंक का अनेक बार शरीर से सम्पर्क होने पर भी मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता ? महामहिमाशाली, वीतराग एवं जीवन्मुक्त आप लोग किस दृष्टि का अवलम्बन कर इस संसार में विचरते हैं ? प्राणियों को भयभीत करने के लिए लुभा रहे नश्वर (♨) विषय सर्पों के सदृश हैं, भला वे कल्याणकारी कैसे हो सकते हैं ? मोहरूपी हाथी द्वारा विलोडित, काम आदिरूपी कीचड़ और सेवाल से व्याप्त प्रज्ञारूपी तालाब किस प्रकार अत्यन्त निर्मलता को प्राप्त हो ? जैसे कमल के पत्ते से जल का सम्पर्क नहीं होता, वैसे ही संसारप्रवाह में व्यवहार करनेपर भी पुरुष बन्धन को प्राप्त न हो, इसका क्या उपाय है ? इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच को तत्त्वदृष्टि से आत्मा के समान और बाह्यदृष्टि से तृण के समान देख रहे एवं कामादि वृत्तियों का स्पर्श न कर रहे पुरुष कैसे श्रेष्ठता को प्राप्त होते हैं ? जिसने अज्ञानरूपी महासागर पार कर लिया है, ऐसे किस महापुरुष के चरित्र का स्मरणपूर्वक आचरण कर मनुष्य दुःखी नहीं होता ? अविनाशी होने के कारण प्राप्त करने के योग्य मोक्ष क्या है और कर्म उपासना आदि का उचित फल क्या है ? भला बतलाइए तो सही, इस विषम संसार में कैसे व्यवहार करना

卐 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' (परमात्मा का साक्षात्कार कर इसका रस भी निवृत्त हो जाता है) इस भगवद्वचन के अनुसार परमात्मादर्शन के बिना रस की निवृत्ति नहीं हो सकती।

♨ मूलस्थित 'भंगुराकारविभवाः' का विषयपक्ष में – विनाशशील आधार और विभववाले और सर्पपक्ष में कुटिक आकार और विषशक्ति से युक्त, यह अर्थ है।

चाहिए ? प्रभो, मुझे तत्त्व का उपदेश दीजिये, जिससे मैं अव्यवस्थित ब्रह्मा की कृति जगत् की पूर्वापर वस्तु जानूँ अर्थात् जगत् के आदि और अन्त में अवशिष्ट रहनेवाला पारमार्थिक तत्त्व जानूँ। ब्रह्मन् जैसे मेरे हृदयरूपी आकाश के चन्द्ररूप साभार अन्तःकरण का मल (अज्ञान) हट जाय वैसा प्रयत्न आप निशंक होकर कीजिये। इस संसार में कौन वस्तु उपादेय (प्राप्त करने योग्य) है, कौन वस्तु अनुपादेय है और कौन वस्तु न उपादेय है और न अनुपादेय है। यह चंचल चित्त कैसे पर्वत के समान स्थिरता (शान्ति) को प्राप्त हो ? सैकड़ों क्लेशों की सृष्टि करनेवाली यह निन्दित संसाररूपी महामारी किस पवित्रतम मन्त्र से अनायास शान्ति को प्राप्त हो ? जैसे पूर्ण चन्द्रमा अत्यन्त आनन्द देनेवाली शीतलता को प्राप्त करता है, वैसे ही मैं भी आनन्दरूपी वृक्ष की मंजरीरूप देशपरिच्छेद और कालपरिच्छेद से शून्य शीतलता को अपने हृदय में कैसे प्राप्त करूँ ? भगवन्, आप तत्त्वज्ञ और सज्जनशिरोमणि हैं, इसलिए अपने में पूर्णता को प्राप्त कर पूर्ण हुआ मैं जैसे इस लोक में फिर शोक को प्राप्त न होऊँ वैसा आप मुझे उपदेश दीजिये। महात्मन् जैसे वन में कुत्ते स्वल्प बल से युक्त जीवों की (क्षुद्र प्राणियों की) देह को अति पीड़ित करते हैं, वैसे ही विविध संशय सर्वोत्कृष्ट आनन्दमय ब्रह्मपद में आत्यन्तिक स्थिरता से रहित पुरुष को सदा अति पीड़ित करते हैं॥८–२७॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतीसवाँ सर्ग

सांसारिक जीवन वर्षाऋतु के मेघ के समान कुत्सित है,
अतः संसार निर्मुक्तिपूर्वक सुखपदप्रापक उपाय का प्रश्न।

पूछे जानेवाले प्रश्नों के उपोद्घातरूप से संसार में जीवन की वर्षाऋतु के मेघरूप से कल्पना करते हैं।

ब्रह्मन्, इस संसार में जीव की आयु ऊँचे वृक्षों के चंचल पत्तों में लटक रहे, जलकण (ओसबिन्दु) के सदृश क्षणभंगुर एवं शिवजी के आभूषणरूप चन्द्रकला के सदृश अत्यल्प है (🔔) (दुर्लक्ष्य होने के कारण यदि कहा जाय कि उसका अस्तित्व ही नहीं है, तो भी कोई अतिशयोक्ति न होगी), तुच्छ देह धानों के खेतों में बोल रहे मेढ़कों के गले के चमड़े के समान अस्थिर है, इष्ट–मित्र और बन्धु–बान्धवों का समागम सद्गति का प्रतिबन्धक होने के कारण जाल की नाईं तने हुए झाड़ियों के समूह के सदृश है, वासनारूपी पूर्वी वायु से वेष्टित, तुच्छ आशारूपी बिजली से विभूषित और मोहरूपी निविड़ कुहरे से जनित मेघों के खूब जोर से तर्जन–गर्जन, पूर्वक वज्रपात करनेपर, अति उग्र और चंचल लोभरूपी मयूर के ताण्डव नृत्य करने पर, अनर्थरूपी कुटजवृक्षों की कलियों के चटचट शब्दपूर्वक खूब विकसित होने पर, अतिक्रूरतम यमरूपी वनबिलाव के सम्पूर्ण प्राणिरूपी चूहों का अविरत संहार करने पर एवं लगातार मूसलाधार वृष्टि के किसी अनिर्दिष्ट स्थान से अपने ऊपर गिरने पर इस संसार में किस उपाय का

🔔 वर्षाऋतु में पूर्ण चन्द्रमा का भी कठिनाई से यदा कदा ही दर्शन हो जाता है फिर कलामात्र अवशिष्ट कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के चन्द्रमा की दुर्लक्ष्यता में तो कहना ही क्या है ? उसका दिखाई देना ही आश्चर्य है।

अवलम्बन करना चाहिए ? कौन गति है ? किसका स्मरण करना चाहिए और किसकी शरण में जाना चाहिए (📖) ? जिससे कि यह जीवनरूपी अरण्य भविष्य में अकल्याणकारी न हो ॥१–६॥ भगवन्, तपःशक्ति और ज्ञानशक्ति से जिनकी बुद्धि की कोई सीमा नहीं है, ऐसे आप सरीखे महात्मा अति तुच्छ वस्तु को भी दिव्य बना सकते हैं। यह सामर्थ्य पृथिवी में मनुष्यों में एवं स्वर्ग में देवताओं में कहीं भी नहीं है। देखिए न ! यह आपके ही तपोबल और ज्ञानबल का प्रभाव है कि त्रिशंकु को कुलगुरु श्रीवसिष्ठजी द्वारा दिया गया शाप आकल्पस्थायी स्वर्गरूप में परिणत हो गया एवं शुनःशेप की मृत्यु दीर्घायु में परिणत हो गई। मुनिवर, यह निन्द्य संसार निरन्तर दुःखप्राप्ति से परिपूर्ण है, अतएव इसमें कुछ भी रस (स्वाद) नहीं है, कृपया बतलाइए कि यह किस उपाय से अज्ञाननिवृत्ति द्वारा सुस्वाद (सरस) बनता है ? जैसे फूलों से अत्यन्त रमणीय वसन्त के आगमन से पृथिवी मनोहर हो जाती है वैसे ही सम्पूर्ण दुःखों की एकमात्र कारण आशा के प्रसिद्ध स्वभाव से प्रतिकूल परिणामरूपी (पूर्णकामतारूपी) दुग्धस्नान से संसार रमणीयता को कैसे प्राप्त होता है अर्थात् किस उपाय का अवलम्बन करने से सम्पूर्ण दुःखों की एकमात्र कारण आशा के पूर्णकामता में परिणत होने पर पूर्णकामतारूपी दुग्ध स्नान से संसार सुखमय हो जाता है ॥७–९॥ महर्षे, काम से कलंकित मनरूपी चन्द्रमा विद्वान जनों द्वारा अनुभूत किस धोवन से (क्षालन से) धोया जाय जिससे कि उससे निर्मल (काम आदि मल से रहित) आनन्दरूपी चाँदनी उदित हो। जिसे संसार की अनर्थकारिता का अनुभव है और जो ऐहिक और लौकिक भोगों का विवेकजनित वैराग्य और दृढ़बोध द्वारा नाश कर चुका है, ऐसे किस महापुरुष की नाईं संसाररूपी वनश्रेणी में हमें व्यवहार करना चाहिए कृपया उसका निर्देश कीजिए। भगवन्, क्या करने से रागद्वेषरूपी महाव्याधियाँ एवं प्रचुरभोगों से परिपूर्ण दुःखदायिनी सम्पत्तियाँ संसाररूपी समुद्र में विहार करनेवाले प्राणी को क्लेश नहीं देतीं, कृपया उसे हमसे कहिए। हे धीर श्रेष्ठ ब्रह्मन्, जैसे अग्नि में गिरने से भी पारद रस जलता नहीं, वैसे ही अग्नि के तुल्य सन्ताप देनेवाले संसार में पड़नेपर भी ज्ञानामृत से सुशोभित पुरुष किस उपाय का अवलम्बन करने से सन्ताप को प्राप्त नहीं होता, कृपया उसको मुझसे कहिए ॥१०–१३॥

यदि व्यवहार से दुःख होता है तो व्यवहार का त्यागकर दीजिए ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

जैसे सागर में उत्पन्न हुए मछली आदि जलजन्तुओं के प्राण जल के बिना नहीं रह सकते हैं, वैसे ही व्यवहारों के सम्पादन के बिना इस संसार में स्थिति नहीं हो सकती ॥१४॥

व्यवहार में भले ही दुःख हो, किन्तु यज्ञ–याग आदि शुभ कर्मों के अनुष्ठान में तो किसी प्रकार के दुःख की सम्भावना नहीं है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

जैसे अग्नि की ज्वाला दाहरहित नहीं हो सकती है, वैसे ही इस संसार में ऐसा कोई सत्कर्म नहीं है, जो राग–द्वेष से रहित हो तथा सुख–दुःख से वर्जित हो अर्थात् सम्पूर्ण सत्कर्मों में किसी न किसी प्रकार राग–द्वेष का सम्बन्ध और सुख–दुःख का संसर्ग है ही ॥१५॥

📖 जैसे अरण्य में प्राप्त आँधी, वृष्टि आदि से उत्पन्न क्लेश की निवृत्ति के लिए छाता, छप्पर, चट्टाई आदि उपाय हैं, पारदगुटिका, औषधिलेप आदि द्वारा शीघ्र वृष्टिरहित दूर देश में गति (गमन) होती है, संकट से बचानेवाले मन्त्र या देवता आदि का स्मरण होता है, पर्वत की गुफा का आश्रय लिया जाता है, वैसे ही सांसारिक क्लेश की निवृत्ति के लिए भी क्या कोई उपाय, गमन, स्मरण और आश्रयण आदि साधन हैं ? यह अभिप्राय है।

बाह्य व्यवहार रहे, वह हमारा क्या बिगाड़ सकता है, मनकी चंचलता ही परम दुःख है, अतएव जिससे उसकी चिकित्सा हो, वही उपाय कहिए, ऐसा कहते हैं।

मुनिश्रेष्ठ, तीनों भुवनों में मन का विषयों से संसर्ग होना ही मन की सत्ता (अस्तित्व) है और उसका विषयों से सम्पर्क न होना ही उसकी सत्ता का विनाश (मन के अस्तित्वका अभाव) है और मन की सत्ता का विनाश सम्पूर्ण विषयों के बाधक तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में कारणभूत युक्ति के उपदेश के बिना नहीं हो सकता, इसलिए जब तक मुझ में तत्त्वज्ञान का उदय न हो तब तक मुझे उक्त युक्तिका बारबार उपदेश दीजिये। अथवा जिस युक्ति से, मेरे लोकव्यवहार में रत रहने पर भी, मुझे दुःख प्राप्त न हो, व्यवहार की उस उत्तम युक्ति का आप मुझे उपदेश दीजिये। युक्ति से मोह का (अज्ञान का) निराकरण पहले किस उत्तम चित्तवालेने किया और किस प्रकार किया ? जिससे चित्त पवित्र होकर परम शान्ति को प्राप्त होता है। मोह की निवृत्ति के लिए जो कुछ आपको जानकारी हो उसे कृपाकर कहिये, जिसके अवलम्बन से अनेक साधु-सन्त पुरुष निर्वाण को प्राप्त हो गये हैं ॥१६-१९॥

यदि मुझे उक्त युक्ति प्राप्त न होगी तो मैं मरणान्त अनशन आरम्भ कर दूँगा, जीवन के उपयोगी व्यवहार कदापि न करूँगा, ऐसा कहते हैं।

ब्रह्मन्, यदि वैसी कोई युक्ति है ही नहीं अथवा उसके विद्यमान रहने पर भी कोई महात्मा पुरुष मुझको उसका स्पष्ट रीति से उपदेश नहीं करता है या मैं स्वयं ही विचार कर उस सर्वश्रेष्ठ शान्ति को नहीं पा सकता हूँ, तो सम्पूर्ण चेष्टाओं का त्यागकर निरहंकारता को प्राप्त हुआ मैं न तो भोजन करूँगा, न जल पीऊँगा, न वस्त्र पहनूँगा, न स्नान, दान, भोजन आदि कर्म ही करूँगा और न सम्पत्ति और आपत्ति की अवस्था में किसी प्रकार के कार्य का अवलम्बन करूँगा। मुनिवर, देहत्याग को छोड़कर मैं और कुछ भी नहीं चाहता हूँ। मैं सम्पूर्ण शंकाओं, मोह-ममता, डाह-द्वेष आदि से शून्य होकर भित्ति में लिखित चित्र की नाईं मौन रहता हूँ। तदुपरान्त क्रमशः श्वास-उच्छवास क्रिया का त्यागकर अवयवसंगठनरूप देहनामक इस अनर्थ का त्याग करता हूँ, इस देहरूप अनर्थ का न मुझसे कोई सम्बन्ध है, न मेरा इससे सम्बन्ध है और न मेरा और किसीसे सम्बन्ध है, मैं तेलरहित दीपक की नाईं शान्त होता हूँ। मैं सम्पूर्ण पदार्थों का परित्याग कर इस अनर्थरूप देह का त्याग करता हूँ। श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : जैसे मयूर बड़े-बड़े मेघों के सन्मुख केकावाणी (मयूर की वाणी) बोलकर, थकावट होने के कारण, चुप हो जाता है, वैसे ही निर्मल चन्द्रमा के सदृश मनोहर एवं तत्त्वविचार से उदार चित्तवाले श्रीरामचन्द्रजी यों कहकर वसिष्ठ आदि गुरुओं के सामने चुप हो गये ॥२०-२७॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी के वचनों को सुननेवाले लोगों के प्रचुर आश्चर्य का तथा देवताओं द्वारा की गई पुष्पवृष्टि का वर्णन।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : कमल के सदृश नेत्रवाले राजकुमार श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार मन के मोह को नष्ट करनेवाले वचन कहने पर वहाँ पर बैठे हुए सब लोग आश्चर्य सागर में गोता खाने लगे, श्रीरामचन्द्रजी की वाणी सुनने के लिए मानों खड़े हुए उनके रोंगटों से उनके कपड़े छिद गये, वैराग्य की

वासना से उनकी संसार की कारणभूत राग–द्वेष आदि सम्पूर्ण वासनाएँ नष्ट हो गई और वे क्षणभर के लिए अमृतसागर की तरंगों में ओत–प्रोत से हो गये। श्रीरामचन्द्रजी की वे वाणियाँ सुनने में समर्थ लोगों ने ऐसे ध्यान से सुनीं कि वे निश्चलता के कारण चित्रलिखित से प्रतीत होते थे और हार्दिक आनन्द से उनका वदन प्रसन्न था। वे सुननेवाले थे, सभा में स्थित वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि मुनि, मन्त्रणा करने में निपुण जयन्त, द्युष्टि आदि दशरथ के मन्त्री, दशरथ आदि राजा महाराज, पर्शु आदि देशों के शासक सामन्त, नगरवासी, भरत आदि राजकुमार, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण, नौकर–चाकर, अमात्य, पिंजड़े में स्थित पक्षी, निश्चल क्रीडामृग (मनोविनोद के लिए पाले गये मृग), घास–दाना न चबा रहे घोड़े, अपने महल के झरोखे पर बैठी हुई, निश्चल अतएव आभूषणओं के शब्दों से रहित कौशल्या आदि रानियाँ, बगीचे की लताओँ में और महल के अग्रभाग में (कबूतर आदि के रहने के स्थान में) रहनेवाले, पंखों को तनिक भी न हिला रहे एवं चुपचाप पक्षी, आकाशचारी सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर एवं नारद, व्यास, पुलह आदि मुनिश्रेष्ठ उक्त महानुभावों ने और उनसे अतिरिक्त देवता, दिक्पति देवराज आदि, विद्याधर तथा शेषनाग प्रभृति नागों ने श्री रामचन्द्रजीकी विचित्र अर्थों से परिपूर्ण वे उदारतम वाणियाँ सुनीं ॥१–११॥ रघुकुलरूपी आकाश के उज्ज्वल चन्द्रमा और चन्द्रमा के सदृश सुन्दर कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी जब उक्त गम्भीर वचन कहकर चुप हो गये तब चारों ओर से उनकी प्रशंसा के पुल बँध गये, वाह वाह से आकाश गूँज उठा और साथ ही साथ सिद्धों ने आकाश से ऐसी घनी पुष्पवृष्टि की कि पुष्पवृष्टि के कारण चारों ओर चँदवा–सा बँध गया। उक्त मन्दार के पुष्पों के मध्य में विश्राम ले रही भँवरों की जोड़ी की गुनगुनाहट से गुलजार थी, पुष्पवृष्टि की मधुर सुगन्ध और सुन्दरता से मनुष्यों का चित्त उनके अधीन नहीं रह गया था। वह पुष्पवृष्टि क्या थी मानों आकाशवायु से गिराये गये तारों की पंक्ति थी, पृथिवी में गिरी हुई अप्सराओं के हास की छटा थी, बरस चुके अतएव तर्जन–गर्जन से रहित और बिजली से दैदीप्यमान मेघों के छोटे–छोटे टुकड़ों की झड़ी थी, फेंके गये मक्खन के पिण्डों की परंपरा थी, मोतियों के हारों की राशि के समान विशाल हिमवृष्टि थी, चन्द्रमा के किरणों की माला थी और क्षीरसागर के लहरों की श्रेणी थी। उस पुष्पवृष्टि में प्रचुर केसर से पूर्ण कमलों की अधिकता थी और उसके चारों ओर भँवरे मंडराते थे तथा वह स्पर्शसुखसूचक लोगों की सीत्कार ध्वनि से गा रहे, अतिसुगन्धित और मन्द होने के कारण सुख स्पर्शवाले वायु से कुछ–कुछ हिल रही थी। उस पुष्पवृष्टि में कहीं पर केतकी के फूल लहलहा रहे थे, तो कहीं पर सफेद कमलों की छटा शोभित हो रही थी, तो कहीं पर कुन्द के फूल अधिक मात्रा में गिर रहे थे और कहीं पर केवल नीले कमलों की ही वृष्टि हो रही थी। फूलों की लगातार वृष्टि से आँगन, घर, छत और चौतरे सबके सब भर गये थे, नगर के सभी नर–नारी ऊपर गर्दनकर पुष्पवृष्टि की छटा को देखते थे। मेघरहित होने के कारण नीलकमल के सदृश स्वच्छ आकाश से गिरी हुई वह पुष्पवृष्टि अभूतपूर्व थी, अतएव उसने सभी के चित्त को आश्चर्यमग्न कर दिया था। आकाश में अदृश्य सिद्धों द्वारा की गई उक्त पुष्पवृष्टि आधी घड़ी तक लगातार होती रही। सभा और सभा में स्थित लोगों को आच्छन्न कर उक्त पुष्पवृष्टि के बन्द होने पर सभा में स्थित लोगों ने सिद्धों का आगे कहा गया वार्तालाप सुना : हम लोग सृष्टि के आरम्भ से लेकर स्वर्ग के इस छोर से उस छोर तक अनेकानेक सिद्धों में विचर रहे हैं, पर हमने आज ही कानों को अमृत के समान प्रिय लगनेवाले या वेदों के सारभूत ये वचन

सुने हैं। विरक्त होने के कारण रघुवंशदीपक श्रीरामचन्द्रजी ने जो उदार वचन कहे, उन्हें वाचस्पति भी नहीं कह सकते हैं। खेद है कि जिन लोगों ने ऐसे वाक्य नहीं सुने उनका जन्म वृथा है। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि हमें श्रीरामचन्द्रजी के मुखारविन्द से निर्गत एवं चित्त को अत्यन्त आह्लादित करनेवाले ये वचन सुनने को मिले। श्रीरामचन्द्रजी ने शान्तिप्रद, अमृत के समान सुन्दर एवं जाति, कुल, चरित्र, धर्माभिज्ञता आदि द्वारा प्राप्त उत्तमता के द्योतक जो वचन आदरपूर्वक कहे, उनसे हमको भी तुरन्त 'स्वर्ग आदि के सुखों में कुछ भी सार नहीं है', यह ज्ञान हो गया है ॥१२-२७॥

बतीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतीसवाँ सर्ग

सभा में सिद्ध पुरुषों का शुभागमन और अपनी अपनी योग्यता के अनुकूल स्थान में बैठे हुए सिद्धों द्वारा श्रीरामचन्द्रजी के वचनों की प्रशंसा।

सिद्धों द्वारा की गई श्रीरामचन्द्रजी के वचनों की श्लाघा को ही विश्कलित कर रहे महामुनि वाल्मीकिजी प्रश्न के उत्तर को सुनने की उनकी अभिलाषा और सभाप्रवेश आदिका वर्णन करने के लिए इस सर्ग का आरम्भ करते हैं।

सिद्धों ने कहा : रघुकुलतिलक श्रीरामचन्द्रजी द्वारा उक्त इन पवित्रतम प्रश्नवाक्यों का महर्षि लोग जो निर्णय करेंगे, उसे अवश्य सुनना चाहिए। हे नारद, व्यास, पुलह आदि मुनिश्रेष्ठों और सम्पूर्ण महर्षियों, आप लोग उसे निर्विघ्न सुनने के लिए शीघ्र पधारो ॥१-२॥

कल्याणकारी कार्यों में बहुत विघ्न उपस्थित हो जाते हैं, इसलिए विलम्ब करना उचित नहीं है, यह भाव है।

जैसे भँवरे कमलों से खचाखच भरे हुए, सुवर्ण के सदृश पीले केसर से दैदीप्यमान एवं पवित्र कमलों के तालाब में चारों ओर से जाते हैं, वैसे ही हम लोग भी पवित्रतम, धन-सम्पत्तिसे परिपूर्ण अतएव सुवर्ण से चमचमा रही महाराज दशरथ की इस सभामें चारों ओर से जायें ॥३॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : सिद्धों के यों कहनेपर विमानों पर रहनेवाले सम्पूर्ण दिव्य मुनिजन उस विशाल सभा में, जहाँ पर श्रीरामचन्द्र आदि थे, उतरे। उनके आगे-आगे वीणा बजा रहे देवर्षि श्रीनारदजी थे और जल से पूर्ण मेघ के समान श्याम वेदव्यासजी उनके पीछे थे ॥४,५॥

उन दोनों के मध्य में दिव्य मुनिजनों की परम्परा थी, यह आशय है।

उक्त दिव्य मुनिमण्डली भृगु, अंगिरा, पुलस्त्य आदि मुनीश्वरों से विभूषित थी और च्यवन, उद्दालक, उशीर, शरलोम आदि मुनिजनों से परिवेष्टित थी। परस्पर के संघर्ष से उनके मृगचर्म मुड़कर कुरूप हो गये थे, रूद्राक्ष मालाएँ हिल रहीं थीं और सुन्दर कमण्डलु उनके हाथ में सुशोभित हो रहे थे। आकाश में तेज (ब्रह्मवर्चस्) के विस्तार से सफेद और लाल मुनियों की पँक्ति चमक रही तारागणों की पँक्ति के समान शोभित हो रही थी और परस्पर के तेज से उनके मुखमण्डल खूब दमक रहे थे अतएव वे सूर्यपँक्ति के सदृश प्रतीत होते थे। मुनिमण्डली ने परस्पर एक दूसरे के अंग-प्रत्यंग विविध वर्ण के कर रक्खे थे, अतएव वे विभिन्न रत्नों की राशि से दिखाई दे रहे थे। परस्पर एक दूसरे की शोभा

बढ़ानेवाली मुनिमण्डली मुक्तावली के समान दिखाई दे रही थी, वह मुनिमण्डली क्या थी मानों दूसरी चाँदनी की छटा थी, दूसरी सूर्य- मण्डली थी और दीर्घकाल से एक स्थान में संचित पूर्णचन्द्रों की परम्परा थी। उस मुनिमण्डली में, तारागणों में सजल मेघ के समान एक और व्यासजी विराजमान थे, तारागणों में चन्द्रमा के सदृश दूसरी ओर नारदजी विराजमान थे, देवताओ में देवराज के सदृश महर्षि पुलस्त्य विराजमान थे और देवमण्डल में सूर्य के समान अंगिरा विराजमान थे। उक्त सिद्धसेना के आकाश से पृथिवी पर आने पर महाराज दशरथ की वह सम्पूर्ण सभा उनके स्वागत के लिए उठ खड़ी हुई। एकत्र हुए अतएव एक दूसरे की छवि को धारण किये हुए और दशों दिशाओं को प्रकाशमय कर रहे वे आकाशचारी और भूमिचर अतिशोभित हुए। उनमें से किन्हींके हाथ में बाँसकी लाठियाँ थी, किन्हींके हाथ में लीला–कमल थे, किन्हींके सिर में दूब के तिनके थे और किन्हींके केशो में चूड़ामणियाँ चमक रही थी, कोई जटाजूटों से कपिल हो रहे थे, किन्हीं का मस्तक, मालाओं से वेष्टित था, किन्हींकी कलाई में रुद्राक्ष की मालाएँ थी, किन्हीं के हाथ में मल्लिका की मालाएँ शोभित हो रही थी, कोई चीर वल्कलधारी थे, कोई सूक्ष्म रेशमी वस्त्र पहिरे थे किन्ही के अंग में मूंज की मेखलाएँ लटक रही थी और कोई मुक्तहारों से अलंकृत थे। वसिष्ठ और विश्वामित्र ने अर्घ्य, पाद्य और मधुरवचनों द्वारा क्रमशः सभी आकाशचारियों की पूजा की। आकाशचारी उन सिद्धों ने भी श्रीवसिष्ठ और विश्वामित्रजीकी अर्घ्य, पाद्य और मधुर वचनों द्वारा बड़े आदर के साथ पूजा की। तदुपरान्त महाराज दशरथने सिद्ध मण्डली का बड़े आदर से पूजन किया और सिद्धोंने कुशलप्रश्न द्वारा महाराज दशरथ का सत्कार किया। पूर्वोक्त प्रेमोचित दान, सम्मान आदि के वेग से परस्पर आदर–सत्कार प्राप्त कर सब आकाशचारी सिद्ध महात्मा और भूमिचर अपने–अपने आसनोंपर बैठ गये। सामयिक वार्तालाप, प्रशंसा और पुष्पवृष्टि द्वारा खूब सत्कार किया। पूर्वोक्त सिद्ध महात्माओं के मध्य में राज्यलक्ष्मी से विभूषित श्रीरामचन्द्रजी विराजमान हुए और वसिष्ठ, वामदेव, सुयज्ञ आदि मन्त्री, ब्रह्मापुत्र श्रीनारदजी, मुनिश्रेष्ठ व्यासजी, मुनिवर मरीचि, दुर्वासा, अंगिरा, क्रतु, पुलस्त्य, पुलह, मुनिराज शरलोम, वात्स्यायन, भरद्वाज, वाल्मीकि, उद्दालक, ऋचीक, शर्याति, च्यवन आदि अनेक वेद और वेदांगों के पारंगत, तत्त्वज्ञानी महात्मा विराजमान हुए। वसिष्ठ और विश्वामित्रजी के साथ देवर्षि नारद आदि ने जो कि गुरुमुख से विधिपूर्वक सांग वेदों का अध्ययन किये हुए थे, विनय से नतमस्तक श्रीरामचन्द्रजी से यह वाक्य कहा था : बड़े आश्चर्य की बात है कि राजकुमार श्रीरामचन्द्रजी ने कल्याण गुणों से (कहे जानेवाले उत्तमोत्तम सोलह गुणों से) शोभायमान, वैराग्यरससे परिपूर्ण एवं बड़ी उदार वाणी कही। उक्त वाणी में ये इस प्रकार के और ऐसे ही है, यों विचारकर वक्तव्य अर्थ व्यवस्था के साथ निहित हैं, पदार्थों का तत्त्वबोध भी है अर्थात् केवल कपोलकल्पना से पदार्थों की व्यवस्था नहीं की गई है, अतएव यह विद्वानों की सभा में स्थान पाने योग्य है, इसके वर्ण बिलकुल स्फुट हैं, यह वाणी उत्कृष्ट और विपुलभाव से गम्भीर है, हृदय को आनन्द देनेवाली है, पूज्य महात्माओं के योग्य है, चित्त की चंचलता आदि दोषों से रहित हैं, जैसे इसके वर्ण स्फुट हैं वैसे ही अर्थ भी स्फुट है, इसके सम्पूर्ण पद व्याकरण के नियमों से संस्कृत है, यह हितकारिणी है, ग्रस्त आदि दोषों से रहित है और तृष्णा के विनाश से उत्पन्न सन्तोष की सूचक है। श्रीरामचन्द्रजी द्वारा उक्त यह वाणी किसको आश्चर्यमग्न नहीं करती ? सैंकड़ों में से किसी एक–आध

की ही वाणी सम्पूर्ण वक्ताओं की अपेक्षा सर्वांश में उत्कृष्ट चमत्कार से परिपूर्ण अतएव अभीष्ट (विवक्षित) अर्थ को प्रकट करने में सर्वथा समर्थ होती है। राजकुमार, आपके बिना किस पुरुष की विवेकरूपी फल से सुशोभित, कुशाग्र के समान तीव्र प्रज्ञा विचार–वैराग्यरूपी पुष्प–पल्लवों से वृद्धिको प्राप्त होगी ? श्रीरामचन्द्रजी के समान जिसके हृदय में असाधारण रीति से पदार्थों के तत्त्व का प्रकाश करानेवाली या अध्यस्त देह, इन्द्रिय आदि के साम्य से पृथक्कृत आत्मा का प्रकाश करानेवाली प्रज्ञारूपी दीपकशिखा (दीपज्योति) प्रज्वलित होती है, वही पुरुष है। और तो पुरुषार्थ के लिए असमर्थ अतएव स्त्रीप्राय हैं। पूर्वोक्त प्रज्ञा से हीन पुरुष रक्त, मांस आदि यन्त्ररूप देहमें आत्मबुद्धि होने से रक्त, मांस, अस्थि आदि यन्त्ररूप ही शब्द, स्पर्श आदि पदार्थों का उपभोग करते हैं, उनमें 'सचेतन आत्मा नहीं है' यों उनमें चार्वाकता ही सिद्ध होती है, यह भाव है। अथवा यदि उनमें कोई सचेतन होता, तो वह अवश्य पुरुषार्थ के लिए यत्न करता। वे यत्न नहीं करते अतएव वे घट, भित्ति आदि के समान अचेतन ही हैं ऐसे होने के कारण संसार का विचार नहीं करते, वे निरे पशु हैं; वे पुनःपुनः ज्न्म, मरण, जरा आदि दुःखों को प्राप्त होते हैं। जैसे शत्रुनाशक श्रीरामचन्द्रजी विमल अन्तःकरणवाले हैं, वैसे निर्मल अन्तःकरणवाला अतएव पूर्वापर का विचार करनेवाला कहीं पर बड़ी कठिनाई से कोई विरला ही दिखाई देता है। जैसे लोक में उत्कृष्ट माधुर्यवाले फलों से लदे हुए मनोहर आकृतिवाले आमके वृक्ष विरले हैं, वैसे ही उत्कृष्ट माधुर्य से परिपूर्ण तत्त्वसाक्षात्कार से सम्पन्न एवं मनोज्ञ आकृतिवाले महापुरुष विरले ही हैं। जिससे जगत् का व्यवहार यथार्थरूप से देखा गया है ऐसा केवल स्वविवेक से ही तत्त्वदर्शनपर्यन्त चमत्कार आदरणीय बुद्धिवाले इसी राजकुमार में इसी अवस्था में देखा जाता है, यह महान् आश्चर्य है। देखने में सुन्दर, सरलता से चढ़ने के योग्य एवं फल फूल और पत्तों से सुशोभित वृक्ष सभी देशो में होते हैं, पर चन्दन के वृक्ष सर्वत्र नहीं होते। फल और पल्लवों से पूर्ण वृक्ष प्रत्येक वन में सदा मिलते हैं, पर अपूर्व चमत्कारवाला लोंग का वृक्ष सदा सर्वत्र सुलभ नहीं है। जैसे चन्द्रमा से शीतल चाँदनी उत्पन्न होती है, जैसे सुन्दर वृक्ष से बौर उत्पन्न होते हैं और जैसे फूलों से सुगन्ध परम्परा उत्पन्न होती है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी से यह चमत्कार देखा गया है। हे द्विजश्रेष्ठ, अत्यन्त दुष्टात्मा दैव (पूर्वजन्म के कर्म) या उसका अनुसरण करनेवाले विधाता की सृष्टि से रचित इस निन्दित संसार में सार पदार्थ अत्यन्त दुर्लभ है। जो यशस्वी लोग सदा तत्त्व के विचार में तत्पर होकर सार पदार्थ की प्राप्ति के लिए यत्न करते हैं, वे ही धन्य हैं, वे ही सज्जनशिरोमणि हैं और वे ही उत्तम पुरुष हैं। तीनों लोकों में श्रीरामचन्द्रजी के सदृश विवेकी एवं उदारचित्त न कोई है और न कोई होगा, ऐसा मेरा निश्चय है ॥६–४५॥

श्रीरामचन्द्रजी के मनोरथ की पूर्ति अवश्य करनी चाहिए, इस बात को उनकी प्रशंसारूप उत्तम अधिकार की प्राप्ति के प्रख्यान द्वारा कहकर उसकी उपेक्षा करने में दोष कहते हैं।

सम्पूर्ण लोगों को गुण, शील, विनय आदि द्वारा और समुचित प्रष्टव्य बातों के रहस्य के उद्‌घाटन द्वारा आनन्दित करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी के चित्त का तत्त्वजिज्ञासारूप मनोरथ यदि हमारे जैसे ज्ञानियों के उपदेश से परिपूर्ण नहीं हुआ, तो ये हम लोग ही निश्चय हतबुद्धि होंगे अर्थात् हमारी अभिज्ञता निष्फल होगी, यह आशय है ॥४६॥

तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

इति श्री योगवासिष्ठ हिन्दीभाषानुवाद में वैराग्य प्रकरण समाप्त।

मुमुक्षु-व्यवहार प्रकरण

पहला सर्ग

विचार द्वारा स्वयं ज्ञात और पिता द्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञान में विश्वास न कर रहे श्रीशुकदेवजी को जनक के उपदेश से विश्रान्तिप्राप्ति का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने जिस शम, दम आदि साधनसम्पत्तिका वर्णन किया है, वह किस प्रकार से व्यवहार कर रहे मुमुक्षुओं को प्राप्त होती है और उससे किस प्रकार तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है, इस प्रकार प्रत्येक का विवेचन कर उनके उपदेश के लिए दूसरे मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण का आरम्भ करते हुए श्रीवाल्मीकिजी बोले : इस प्रकरण में सर्वप्रथम, जिन्हें थोड़ा बहुत (अपरिपक्व) वैराग्य आदि साधन प्राप्त है, उनकी अधिकार सम्पत्ति हमें प्राप्त हो गई, इस भ्रान्ति से सहसा श्रवण आदि में प्रवृत्ति न हो, यह दर्शाने के लिए श्री शुकदेवजी की आख्यायिका द्वारा साधन सम्पत्ति की दृढ़ता का स्वरूप दर्शा रहे 'आचार्यादैव विद्या विदिता साधिष्ठं पापत्' (आचार्य से ही ज्ञात विद्या श्रेष्ठतम होती है) इस श्रुति के अनुसार कुलगुरु श्रीवसिष्ठजी को, श्रीरामचन्द्रजी को उपदेश देने के लिए, इतिहासस्मरण और तत्त्वोपदेश की भूमिका द्वारा उत्साहित कर रहे एवं स्वप्रयोजनसिद्धिरूप श्रवण के लिए शीघ्रता कर रहे श्रीविश्वामित्र ही पहले बोले, ऐसा कहते हैं।

सभा में आये हुए सिद्धों द्वारा बड़े दीर्घ स्वर से पूर्वोक्त वचन कहने पर अपने सामने स्थित एवं अधिकार की सीमा में स्थित श्रीरामचन्द्रजी से श्रीविश्वामित्रजी प्रीतिपूर्वक ([*]) बोले : हे ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ रामचन्द्र, तुम्हारे लिए और ज्ञातव्य कुछ भी नहीं है, अर्थात् जो तुम्हें ज्ञात न हो और अवश्य ज्ञातव्य हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं है। तुम सार और असार का विवेचन करने में अति दक्ष अपनी बुद्धि से सम्पूर्ण हेयोपादेयरहस्य को जान चुके हो अर्थात् उक्त बुद्धि से तुम्हें परमार्थसारभूत अखण्ड अद्वितीय चिद्घन परमात्मतत्त्व भी ज्ञात हो गया है ॥१,२॥

यदि उक्त परमात्मतत्त्व का ज्ञान हो गया है, तो विश्रान्ति क्यों नहीं प्राप्त हुई ?

स्वभावतः निर्मल तुम्हारे बुद्धिरूपी दर्पण में केवल तनिक अविश्वास और सन्देहरूपी मलिनता के निराकरण की आवश्यकता है, क्योंकि अपनी बुद्धि से परमात्मतत्त्व ज्ञात होने पर भी शास्त्र और आचार्य आदि के संवाद के बिना विश्वास नहीं होता। *कहा भी है कि 'बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः' (भलीभाँति शिक्षित लोगों का भी चित्त अपने विषय में विश्वास नहीं करता)।* **भगवान वेदव्यासजी के सुपुत्र श्री शुकदेवजी की ([**]) बुद्धि की नाईं तुम्हारी बुद्धि ने भी ज्ञातव्य वस्तु को जान लिया है। अब केवल मात्र विश्रान्ति की उसे अपेक्षा है ॥३,४॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवान् श्री व्यासजीके पुत्र श्रीशुकदेवजी की अपने ही विचार से ज्ञातव्य तत्त्व में कैसे विश्रान्ति नहीं हुई और गुरु के उपदेश द्वारा**

---

[*] मुख्य अधिकारी दुर्लभ है, इसलिए रामचन्द्रजी में श्रीविश्वामित्रजी की प्रीति हुई और वे स्वयं ब्रह्मविद्या के महान् रसज्ञ थे, इसलिए आगे कही जानेवाली ब्रह्मविद्या की चर्चा में उनकी प्रीति थी, अतएव वे प्रीति से बोले।

[**] यहाँ पर श्रीवेदव्यासजी और श्री शुकदेवजी पूर्व द्वापर के अन्त में उत्पन्न हुए लिये जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक द्वापर के अन्त में व्यासजी का अवतार होता है, यह प्रसिद्ध है।

प्राप्त संवादिनी बुद्धि से फिर कैसे उनको विश्रान्ति प्राप्त हुई ? ॥५॥ श्रीविश्वामित्रजी ने कहा : हे रामचन्द्र, मैं तुमसे श्रीव्यासजी के पुत्र शुकदेवजी का जीवनवृत्तान्त कहता हूँ, तुम इसे सुनो। यह तुम्हारे जीवनवृत्तान्त के तुल्य है और सुननेवालों के मोक्ष का कारण है। जो ये अंजन पर्वत के सदृश और सूर्य के समान तेजस्वी श्रीव्यासदेवजी तुम्हारे पिताजी के बगल में सुवर्ण के आसन पर बैठे हैं, इनका चन्द्रमा के समान सुन्दर, महाबुद्धिमान, सर्वशास्त्रज्ञ और मूर्तिमान् यज्ञ के सदृश शुकदेवनामक पुत्र हुआ। तुम्हारे समान अपने हृदय में सदा बारबार इस लोकयात्रा का (संसारस्थिति का) विचार कर रहे उनके हृदय में भी ऐसा ही विवेक उत्पन्न हुआ। वे महामनस्वी श्रीशुकदेवजी अपने उस विवेक से चिरकाल तक भलीभाँति विचारकर परमार्थसत्यरूप अद्वितीय, चिद्घन परमात्मतत्त्व को प्राप्त हो गये। स्वयं प्राप्त परमात्मतत्त्वरूप वस्तु में उनका मन विश्रान्त नहीं हुआ, उन्हें आत्मतत्त्व में, यही वस्तु है, ऐसा विश्वास नहीं हुआ। विश्वास न होने से विश्रान्ति भी नहीं मिली। विश्रान्ति न मिलने में अविश्वास ही कारण है। जैसे वर्षा की भिन्न जलधाराओं में चातक प्रीति नहीं करता, उनसे विरत रहता है, वैसे ही केवल उनका मन चंचलता का त्यागकर जन्म–मरणरूपी महान दुःख के कारण विषयभोगों से विरक्त हो गया। एक समय निर्मलमति शुकदेवजी ने मेरु पर्वतपर एकान्त स्थान में बैठे हुए अपने पिता श्रीकृष्णद्वैपायनजी से बड़े भक्ति–भाव के साथ पूछा : पूज्यतम, यह संसाररूप आडम्बर (✍) किस क्रम से उत्पन्न हुआ, कब यह उच्छिन्न होता है, यह कितना बड़ा है, कितने काल तक रहेगा और यह संसार है किसका ? क्या देह का है या इन्द्रियों का है या मन का है अथवा प्राण का है या देहेन्द्रियादिसंघात का है या उनसे अन्य विकारी का है अथवा निर्विकार चिन्मात्र का है ? ॥६–१४॥ पुत्र द्वारा यों पूछे जाने पर आत्मतत्त्वज्ञ महामुनि श्रीव्यासजी ने अपने पुत्र से सम्पूर्ण वक्तव्य आद्योपान्त भलीभाँति कहा। पिताजी के उपदेश के अनन्तर श्री शुकदेवजी ने यह सब तो मैं पहले ही जानता था, इससे कुछ अपूर्व बात नहीं ज्ञात हुई, यह सोचकर पिताजी के वाक्य का शुभबुद्धि से विशेष आदर नहीं किया। भगवान् व्यासदेवजी ने भी पुत्रका ऐसा अभिप्राय जानकर उनसे फिर कहा : मैं उक्त तत्त्व से अतिरिक्त तत्त्व को नहीं जानता। पृथिवी में जनक नाम के महाराज हैं, वे ज्ञातव्य तत्त्व को भलीभाँति जानते हैं, उनसे तुम वेद्य (जानने योग्य) आत्मतत्त्व को भलीभाँति जान जाओगे ॥१५–१८॥

पिताजी के यों कहने पर श्रीशुकदेवजी सुमेरू पर्वत से पृथिवी में आये और महाराज जनक से संरक्षित विदेहनगरीमें पहुँचे। द्वारपालों ने महात्मा जनकको सूचना दी कि राजन्, दरवाजे पर वेदव्यासजी के सुपुत्र श्रीशुकदेवजी स्थित हैं। जनकजी शुकदेवजी का चरित सुन चुके थे, अतएव सहसा उपदेश देने में श्रीव्यासजी के वाक्यों का जैसे अनादर किया वैसे ही मेरे उपदेश का अनादर होने से उनकी अकृतार्थता न हो, यह विचारकर उनके वैराग्य आदि साधनों की और विश्वास की स्थिरता की परीक्षा के लिए उपेक्षा के साथ, अच्छा, आये हैं, तो क्या हुआ ? रहें। ऐसा कहकर सात दिन तक चुपचाप रह गये। सात दिन के अनन्तर उन्होंने शुकदेवजी को घर के आँगन के अन्दर प्रवेश कराने की अनुमति दी, वहाँ पर भी वे पूरे सात दिन तक वैसे ही उन्मना अर्थात् तत्त्वजिज्ञासा की उत्कण्ठा से अनादर की ओर कुछ ध्यान न देकर बैठे रहे। तदुपरान्त जनक ने शुक को अन्तःपुर में प्रवेश कराने की आज्ञा दी। वहाँ

✍ अन्य की वंचना के लिए की गई कृत्रिम चेष्टा आडम्बर है।

पर भी जब तक तुम्हारी भोजन आदि द्वारा पूजा नहीं हो जाती तब तक राजा नहीं दिखाई देंगे, इस बहाने से राजाने चन्द्रमा के सदृश सुन्दर मुखवाले शुकदेवजी का अन्तःपुर में यौवनमदमत्त स्त्रियों द्वारा विविध भोगपूर्ण भोजनों से सात दिन तक लालन पालन किया। जैसे मन्द वायु बद्धमूल वृक्ष को नहीं उखाड़ सकता, वैसे ही वे भोग, वे दुःख व्यासदेवजी के पुत्र के मन को विकृत न कर सके। वहाँ पर पूर्ण चन्द्र के सदृश सुन्दर श्रीशुकदेवजी भोग और अनादर में समान (हर्ष-विषादरहित) अतएव स्वस्थ, वागादि इन्द्रियों को अपने वश में किये हुए एवं प्रसन्नमन रहे। इस प्रकार परीक्षा द्वारा श्रीशुकदेवजी के तत्त्वज्ञान होने तक स्थिर रहनेवाले विचार, वैराग्य आदि की दृढ़तारूपी स्वभाव को जानकर राजा जनक ने आदर से समीप में लाये गये प्रसन्नचित्त श्री शुकदेवजीको देखकर प्रणाम किया ॥१९-२७॥ राजा ने बड़ी शीघ्रता से शुकदेवजी का स्वागत कर उनसे कहा : महाभाग, आपने जगत में प्रसिद्ध परमपुरुषार्थ के साधनभूत आवश्यक सभी कार्य कर डाले हैं, अतएव आप कृतकृत्य हैं। भगवन्, सम्पूर्ण सुखलव आत्मसुख के अन्तर्गत हैं, आत्मसुख के प्राप्त हो जाने से ही आपके सभी मनोरथ सिद्ध हो गये हैं। आपकी क्या इच्छा है ?

श्रीशुकदेवजी ने कहा : गुरुदेव, यह संसाररूपी आडम्बर किस क्रम से उत्पन्न हुआ है और कैसे इसका उच्छेद होता है, यह भलीभाँति मुझसे कहिये ॥२८,२९॥ श्रीविश्वामित्रजी ने कहा : यों पूछने पर जनक ने श्रीशुकदेवजी से उसी तत्त्व का उपदेश दिया जिसका कि पहले उनके पिता महात्मा श्रीवेदव्यासजी ने दिया था। श्रीशुकदेवजी ने कहा : मैंने यह बात अपने विवेक से पहले ही जान ली थी और जब मैंने अपने पिताजी से पूछा, तो उन्होंने भी यही कहा। हे वक्ताओं में श्रेष्ठ महाराज, आपने भी यही बात कही। सम्पूर्ण उपनिषदों में स्थित महावाक्यों का भी यही अखण्ड वाक्यार्थ उपनिषद् के तात्पर्य का निर्णय करनेवाले सूत्र, भाष्य आदि शास्त्रों में दिखाई देता है। वह यह कि-यह निन्दित संसार अन्तःकरण से उत्पन्न हुआ है और अन्तःकरण का आत्यन्तिक विनाश होने से नष्ट हो जाता है, अतः यह निस्सार है; ऐसा तत्त्वज्ञानियों का निश्चय है (📖) ॥३०-३३॥

अथवा-स्वप्रकाशरूप आत्मा में तीनों कालों में बाधित होने और मिथ्या होने के कारण यह संसार

📖 उक्त श्लोक का विशद अर्थ यों है : स्व में अज्ञान से उपहित आत्मा में विविध प्रकार के प्रपंच की कल्पना करनेवाला विकल्प है अर्थात् अन्तःकरण, जो कि अनन्त काम, कर्म और वासनाओं के बीजों से परिपूर्ण है, सुषुप्ति अवस्था में केवल समष्टि तथा व्यष्टि संस्कारों से अवशिष्ट रहकर अव्याकृत में लीन हो जाता है और जीवभाव की उपाधि है। उस अन्तःकरण से प्रलय-क्रम से विपरीत क्रम से अर्थात् पहले अपंचीकृत आकाश आदि की उत्पत्ति के क्रम से समष्टिहिरण्यगर्भरूप से, तदनन्तर पंचीकरण द्वारा विराटरूप से, तदुपरान्त अन्नादि के क्रम से व्यष्टिस्थूलदेहरूप से और उसके अन्दर व्यष्टि लिंगदेहरूप से आविर्भूत हुआ यह निन्दित संसार महाअनर्थरूप है। यह केवल कर्म और उपासना के अनुष्ठान से व्यष्टिभाव की जननी वासना का विनाश होनेपर समष्टिहिरण्यगर्भरूप से अवशिष्ट रहता है तथा श्रवण आदि के परिपाक से उत्पन्न तत्त्वसाक्षात्कार से वासनासहित कार्यकारणरूप अविद्या का नाश होनेपर मूलोच्छेदपूर्वक अन्तःकरण का आत्यन्तिक विनाश होने के कारण सर्वथा नष्ट हो जाता है। मूलस्थित दग्धशब्द निन्दा का वाचक है।

प्रथमतः दग्धप्राय अतएव निस्सार है, फिर साक्षात्काररूपी प्रलयाग्नि से, चारों ओर से परिवेष्टित होने पर कैसे रह सकता है, यह भाव है।

श्री शुकदेवजी ने कहा : हे महाबाहो, जिसे मैंने स्वयं ही पहले विचार द्वारा जाना है, क्या वही सत्य तत्त्व है ? यदि वही सत्य तत्त्व है, तो वह जिस प्रकार निःसन्देरूप से मेरे हृदय में जम जाय, उस प्रकार उसका मुझे उपदेश दीजिए। यह तत्त्वपदार्थ है या यह तत्त्वपदार्थ है, यों अविश्वास से नाना विषयों में चक्कर काट रहे चित्त ने मुझे भ्रम में डाल रक्खा है। चित्त द्वारा इस जगत् में भ्रमित मैं आपसे शान्तिलाभ कर सकूँगा ॥३४॥ श्री जनकजी ने कहा : मुनिश्रेष्ठ, आपने स्वयं विचारपूर्वक जिस तत्त्व को जाना है और जिसका गुरुमुख से श्रवण किया है, उससे अतिरिक्त दूसरा कोई ज्ञातव्य तत्त्व नहीं है ॥३५॥

दृढ़ निश्चय होने के लिए पुनः उसी बात को कहते हैं।

हे शुकदेव, इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सर्वव्यापक, चिन्मय एकमात्र परम पुरुष परमात्मा ही है, उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है। वही अद्वितीय परमात्मा अपने संकल्प से संसाररूप बन्धन में पड़ा है और जब वह संकल्परहित हो जाता है तब मुक्त हो जाता है ॥३५॥ मुनिश्रेष्ठ, आपने ज्ञातव्य तत्त्व को भली–भाँति जान लिया है। आप बड़े महात्मा हैं, क्योंकि आपको तत्त्वनिश्चयदशा में भोग भोगने से पूर्व ही सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच से वैराग्य हो गया है। भगवन्, आप बालक होते हुए भी विषयों के त्याग में शूरवीर होने के कारण महावीर हैं, अतएव दीर्घरोग के तुल्य भोगों से आपकी मति विरक्त हो गई है, अब आप क्या सुनना चाहते हैं ? जिसे सुनने के लिए आप व्यग्र थे, आपके उस जिज्ञासित विषय को मैं आपसे कह चुका। इस समय क्या सुनने के लिए आप इच्छुक हैं ? उसे मुझसे कहिए। आपके पितृचरण व्यासजी सम्पूर्ण ज्ञानों के महासागर हैं और असीम तपस्या में संलग्न हैं, पर जैसे पूर्णज्ञानी आप हुए हैं वैसे पूर्ण ज्ञानी वे नहीं हुए हैं (🔔)। श्री व्यासदेवजी का शिष्य मैं श्रीव्यासजी से भी बढ़कर हूँ, क्योंकि उनके पुत्र और शिष्य आप मेरे शिष्य हुए हैं। आपमें भोगों की इच्छा इतनी अल्प मात्रा में है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उक्त भोगेच्छा की न्यूनता से आप मुझसे भी कहीं बढ़कर हैं। (🕮) ॥३७–४०॥ ब्रह्मन्, आपको जो पाना था, उसे आप पा गये हैं। इस समय आपका चित्त परिपूर्ण है आप अब दृश्य वस्तु में निमग्न नहीं हैं, दृश्य वस्तु में निमग्न होना ही संसारपतन है, क्योंकि 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' (जो तनिक भी आत्मा में भेद करता है उसे भय होता है) ऐसी श्रुति है। अतः आप मुक्त हो गये हैं, इसलिए कोई और भी ज्ञातव्य वस्तु है, ऐसी भ्रान्ति का त्याग कीजिये ॥४१॥

महात्मा जनक द्वारा आप सर्वव्यापक चिन्मय अद्वितीय परमात्मा हैं – यों उपदिष्ट श्री शुकदेवजी दृश्यरूप मल से रहित परमात्मा में चित्तसमाधानपूर्वक चुपचाप स्थित हो गये। उनके शोक, भय, खेद, सब नष्ट हो गये, इच्छा न मालूम कहाँ चली गई एवं सब सन्देह कट गये। यों निस्संशय होकर श्री शुकदेवजी सात्त्विक देवताओं से आक्रान्त होने के कारण चित्तविक्षेप के हेतुओं के न रहने से समाधि के अनुकूल मेरु के शिखर पर समाधि के लिए गये। वहाँ वे दस हजार वर्ष तक निर्विकल्प समाधि लगाकर तेलरहित दीपक के समान परमात्मा में लीन हो गये–विदेहमुक्त हो गये। विषयासक्ति और उसके हेतु

🔔 यह प्रशंसा निश्चय को दृढ़ करने के लिए है।

🕮 इस श्लोक में भी जो प्रशंसा की गई है, वह भी निश्चय की दृढ़ता के लिए ही है।

अज्ञान का विनाश होने से परम शुद्ध अतएव संचित और आगामी पुण्य और पाप के असंपर्क एवं विनाश से निर्मलस्वरूप और प्रारब्ध कर्मों का नाश होने के कारण अशुद्ध देह आदि की निवृत्ति होने से पावन हुए महात्मा श्रीशुकदेवजी निर्मल परमपावन परमात्मवस्तु में वासनारहित होकर जैसे जलबिन्दु समुद्र में मिल जाता है वैसे ही एकता को प्राप्त हो गये अर्थात् भेदक उपाधि के नष्ट होने पर वास्तव अखण्डैक्य को प्राप्त हो गये ॥४२–४५॥

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी को उपदेश देने के लिए प्रार्थित श्रीवसिष्ठजी को
श्री विश्वामित्रजीका प्रोत्साहित करना।

श्रीशुकदेवजी की आख्यायिका की प्रकृत में संगति दिखला रहे एवं श्रीरामचन्द्रजी को उपदेश देने के लिए श्रीवसिष्ठजी को उत्साहित कर रहे श्रीविश्वामित्र जी बोले : श्रीरामचन्द्र, जिस प्रकार व्यासपुत्र श्री शुकदेवजी के केवल मनोमालिन्य के मार्जन के लिए उपपत्तियुक्त उपदेश की आवश्यकता थी इसलिए उनका जनकके समीप में जाकर उपदेश ग्रहण करना आवश्यक हुआ था वैसे ही तुम्हारा भी मनोमालिन्य का मार्जन आवश्यक है ॥१॥

पूर्वोक्त बात का ही सम्पूर्ण मुनियों की सम्मति से समर्थन करने के लिए 'मुनीश्वराः' सब मुनियों का संबोधन है।

हे मुनिवरों, श्रीरामचन्द्र ने ज्ञातव्य वस्तु सम्पूर्णतया जान ली है, क्योंकि सुमति श्रीराम को भोग रोगों की नाईं रुचिकर नहीं हो रहे हैं। जिसने ज्ञातव्य वस्तु को जान लिया है, उसके मन का यही निश्चित लक्षण है कि उसको फिर सम्पूर्ण भोग भले नहीं लगते। अज्ञान से उत्पन्न संसाररूपी बन्धन भोगों की वासना से दृढ़ हो जाता है और जगत् में भोगवासना के शान्त होने पर बन्धन भी क्षीण हो जाता है॥२,३॥ हे राम, विद्वान लोग वासनाक्षय को 'मोक्ष' कहते हैं और विषयों में वासना की दृढ़ता को बन्ध कहते हैं अर्थात् जितनी ही विषयवासना क्षीण होती जायेगी, उतना ही संसार से (बन्धसे) छुटकारा मिलता जायेगा। वासना के सर्वथा क्षीण होने पर सर्वतः मुक्ति हो जाती है। मुनिवरों, मनुष्य को आत्मतत्त्व का आपात ज्ञान (सामान्य ज्ञान) प्रायः अल्प श्रवण आदि प्रयास से भी हो जाता है, (अर्थात् अपरोक्ष दृक्स्वरूप आत्मा का केवल दृश्य विवेक से भी अच्छा परिचय प्राप्त हो जाता है) पर विषयों में विराग तो क्लेश से ही होता है। जो व्यक्ति भलीभाँति (राग आदि से अप्रतिहत होकर) आत्मदर्शी होता है वही यथार्थ आत्मज्ञानी (तत्त्वज्ञान से उत्पन्न अविद्याध्वंसरूपी फलवाला) है, वही यथार्थ ज्ञातज्ञेय (ज्ञातव्य तत्त्वका ज्ञाता) है और वही पण्डित है। सामान्यरूप से आत्मदर्शी पुरुष वैसा नहीं है, कारण कि उससे मूढ़ता बिलकुल नष्ट नहीं हो जाती। उक्त महात्मा पुरुष को भोग हठात् अच्छे नहीं लगते। जिसे यश, पूजा, लाभ आदि उद्देश्यों के बिना ही भोग अच्छे नहीं लगते वह सांसारिक जीवन्मुक्त कहलाता है, भाव यह कि दम्भ से जो भोग का त्याग किया जाता है, उससे इष्टसिद्धि नहीं होती ॥४–८॥

वैराग्य, बोध और उपरति की अभिवृद्धि में वैराग्य आदि परस्पर सहायक हैं, अतः ज्ञान के अतिशय

परिपाक से ही मूलोच्छेद होने के कारण आत्यन्तिक राग का नाश होता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे मरूभूमि में लता नहीं उगती वैसे ही जब तक ज्ञातव्य तत्त्व का ज्ञान नहीं होता तब तक विषयों में वैराग्य नहीं होता ॥९॥

इस प्रकार व्यतिरेकप्रकर्ष से अन्वयप्रकर्ष लक्षित होता है, अर्थात् ज्ञातव्य तत्त्व का ज्ञान होने पर ही विषयों में वैराग्य होता है, क्योंकि 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' ऐसा भगवान् का वचन है।

मुनिवृन्द, इसलिए आप लोग श्रीरामचन्द्रजी को निश्चय ज्ञातज्ञेय (जिसने ज्ञातव्य तत्त्व को जान लिया है) जानिये, क्योंकि इन्हें ये मनोहर विषय अनुरंजित (प्रसन्न) नहीं कर रहे हैं ॥१०॥

यदि श्रीरामचन्द्रजी तत्त्वज्ञानी हैं, तो उन्हें उपदेश देने के लिए श्रीवसिष्ठजी की वक्ष्यमाण (कही जानेवाली) प्रार्थना क्यों करते हैं, इस पर कहते हैं।

हे मुनिनायकों, श्रीरामचन्द्रजी जिस तत्त्व को जानते हैं, उसे श्रीगुरुमुख से यही वस्तु है, ऐसा सुनकर श्रीरामजी का चित्त अवश्य विश्रान्ति को प्राप्त होगा ही, अन्यान्य अधिकारी पुरुष भी उपदेश सुनकर विश्रान्ति को प्राप्त होंगे। इस प्रकार सबके उपकार के लिए हम वसिष्ठजी की प्रार्थना करते हैं, यह भाव है अथवा श्रीरामचन्द्रजी ने जिस तत्त्व को स्वयं विचार से जाना है, उसमें उन्हें यही वस्तु है, ऐसा दृढ़ विश्वास न होने के कारण वह अप्राप्त सा ही है, गुरुमुख से उसे सुनकर श्रीरामचन्द्रजी उसमें विश्वास होने के कारण अवश्य चित्तविश्रान्ति (📖) को प्राप्त होंगे ॥११॥ जैसे शरत्काल की शोभा मेघरहित निर्मल आकाशमात्र की अपेक्षा करती है वैसे ही शरत्-शोभा के समान निर्मल श्रीरामचन्द्रजी की बुद्धि द्वैतनिरास में विश्वास द्वारा केवल अद्वितीय चिन्मात्र के अवशेष की अपेक्षा करती है। यहाँ पर महात्मा श्रीरामचन्द्रजी की चित्तविश्रान्ति के लिए ये श्रीमान् भगवान वसिष्ठजी युक्ति का उपदेश देने की कृपा करें ॥१२-१३॥

यदि प्रश्न हो कि आप ही उपदेश क्यों नहीं देते ? तो इस पर कहते हैं।

ये महात्मा सम्पूर्ण रघुवंशियों के नियन्ता (शिक्षक) तथा कुलगुरु, सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी एवं तीनों कालों में मोह आदि से अनभिभूत हैं। भगवन् वसिष्ठजी, आपके और मेरे वैर को शान्त करने के लिए और महामति मुनियों के कल्याण के लिए, देवदार के वृक्षों से आवृत्त निषध पर्वत के शिखरपर, भगवान् ब्रह्माजी ने स्वयं पहले जिस ज्ञान का उपदेश दिया था, उसका आपको स्मरण है ? ब्रह्मन्, जिस युक्तिपूर्वक ज्ञान से यह सांसारिक वासना जैसे सूर्य के उदय से रात्रि नष्ट हो जाती है वैसे ही निस्सन्देह नष्ट हो जाती है आप उसी उपपत्तियुक्त ज्ञातव्य वस्तु का समीप में स्थित (शिष्यभूत) श्रीरामचन्द्रजी को शीघ्र उपदेश दीजिये, जिससे ये अवश्य विश्रान्ति को प्राप्त हो जायेंगे ॥१४-१८॥ भगवन्, यह

📖 अभिप्राय यह है कि श्रीरामचन्द्रजी परमतत्त्व को जानते ही हैं लोकहित के लिए वे गुरु उपदेश के प्रार्थी हैं। उनका आशय यह है कि इसी बहाने अन्यान्य अधिकारी जन भी उपदेश सुनकर मेरी नाईं चित्तविश्रान्ति को प्राप्त हों। अथवा श्रीरामचन्द्रजी परमतत्त्व क्या है ? इस बात को मन ही मन में खूब जानकर भी दृढ़ विश्वास के न होने के कारण अनात्मज्ञ के समान असुखी हैं, उन्हें विश्वास दिलाने के लिए कि यही तत्त्व है, उपदेश की आवश्यकता है। उपदेश देने के उपरान्त अविश्वास हट जायेगा और परम विश्रान्ति प्राप्त हो जायेगी।

अल्पफल देनेवाला महान् परिश्रम नहीं है। श्रीरामचन्द्रजी निष्पाप हैं, अतः जैसे निर्मल दर्पण में प्रयत्न के बिना ही मुँह प्रतिबिम्बित हो जाता है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी को प्रयत्न के बिना तत्त्वबोध प्राप्त हो जायेगा। सज्जनशिरोमणे, वही ज्ञान है, वही शास्त्रार्थ है और वही प्रशंसनीय पाण्डित्य है, जिसका कि विरक्त सत्‌शिष्य के लिए उपदेश दिया जाता है ॥१९,२०॥

पात्र में यदि उसका दान न किया जाय, तो व्यर्थ होने के कारण वह निन्दनीय ही होगा, यह भाव है।

वैराग्यशून्य असत् शिष्य के लिए जो कुछ भी उपदेश दिया जाय, वह कुत्ते के चमड़े से बने पात्र में रक्खे हुए गाय के दूध की नाईं अपवित्रता को प्राप्त हो जाता है। हे प्रभो, वीतराग, भय तथा क्रोध से रहित, अभिमानशून्य और पापविवर्जित आप जैसे महापुरुष जिसे उपदेश देते हैं, उसकी बुद्धि नित्य अपरोक्ष परमात्मतत्त्व में विश्रान्त हो ही जाती है ॥२१,२२॥ श्रीविश्वामित्रजी के यों कहने पर व्यास, नारद आदि सम्पूर्ण मुनियोंने भी उनके कथन की साधुवादपूर्वक खूब प्रशंसा की। तदुपरान्त महाराज दशरथ की बगल में बैठे हुए ब्रह्माजी के पुत्र अतएव ब्रह्माजी के समान महातेजस्वी महामुनि भगवान् वसिष्ठजी बोले। भाव यह कि वसिष्ठ जी ब्रह्माजी के पुत्र थे, अतएव वे ब्रह्माजी के तुल्य महातेजस्विता आदि गुणगणों से विभूषित थे, इसलिए दिव्य मुनियों की मण्डली के सम्मुख ब्रह्माजी की नाईं बोले ॥२४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : मुनिवर, जिस कार्य के लिए आप मुझे आदेश देते हैं, उसे मैं निर्विघ्न करता हूँ। सामर्थ्य होते हुए भी सन्तों के वचन को टालने की किसमें शक्ति है ? जैसे लोग दीपक से रात्रि का अन्धकार दूर करते हैं, वैसे ही मैं श्रीराम आदि राजकुमारों के अन्तःकरण के अज्ञान को ज्ञान से शीघ्र दूर करता हूँ। पहले भगवान् ब्रह्मा ने संसाररूप भ्रम को दूर करने के लिए जिस ज्ञान का निषध पर्वतपर उपदेश दिया था, उसका मैं ज्यों का त्यों आद्योपान्त स्मरण करता हूँ ॥२५,२७॥ वाल्मीकिजी ने कहा : महात्मा श्रीवसिष्ठजी यों स्पष्टतया प्रतिज्ञा कर जैसे पहलवान् या नट भूषण, वस्त्र, अस्त्र–शस्त्र आदि सामग्री को लेकर उद्यत होता हुआ शोभित होता है वैसे ही प्रबोधप्राप्ति द्वारा शिष्य के अनुरंजन में उपायभूत दृष्टान्त, उपाख्यान, प्रमाण और तर्क आदि का अनुसन्धान, उत्साह आदि परिकरबन्धन से व्याख्याताओं के तेज को स्वीकार कर जगत् की अज्ञानता का विनाश करने के लिए मुख्यरूप से परमात्मा के बोधक शास्त्र को कहने लगे ॥२८॥

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी की शंका के निराकरण के बहाने स्थूल आदि जगत् के अध्यारोप और अपवाद से प्रत्यगात्मरूप विषय की सिद्धि।

इस प्रकार पूर्व वृत्तान्त का सम्पूर्णतया स्मरणकर विस्तारपूर्वक उसको कहने के लिए प्रस्तुत श्रीवसिष्ठजी सद्‌गुरुस्मरणरूप मंगल करते हुए एवं विद्या के सम्प्रदाय की शुद्धि को दर्शाते हुए शिष्य श्रीरामचन्द्रजी के ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए पुनः प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजी, पहले सृष्टि के आरम्भ में भगवान् श्री

ब्रह्माजी ने सांसारिक सकल दुःखों की निवृत्ति के लिए जिस ज्ञान का उपदेश दिया था, उसीको मैं कहता हूँ, उससे अन्य नहीं ॥१॥

इससे संप्रदायशुद्धि कही।

इस प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक अपने उपदेशश्रवण की ओर श्रीरामचन्द्रजी का ध्यान आकृष्ट किया गया, मन में अन्य जिज्ञासा के रहने पर श्रीगुरु के उपदेश पर ध्यान नहीं रहेगा, अतः सूचीकटाहन्याय से पहले उत्पन्न सन्देह की निवृत्ति के लिए प्रार्थना कर रहे श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, श्रीव्यासजी के अवशिष्ट लोगों के समान जीवभाव में दिखलाई देने से एवं शुकदेवजी की मुक्ति सुनने से उत्पन्न हुए इस सन्देह को पहले क्षणभर में दूर कर दीजिये, इस सन्देह की निवृत्ति के अनन्तर विस्तीर्ण मोक्षसंहिता को कहिएगा ॥२॥

उक्त सन्देह को ही दर्शाते हैं।

श्रीशुकदेवजी के पिता और गुरु महामति सर्वज्ञ ये व्यासजी कैसे विदेहमुक्त न हुए और इनके पुत्र श्रीशुकदेवजी कैसे मुक्त हो गये ? ॥३॥

यदि कहिए कि यह सन्देह ही नहीं बन सकता है, सो नहीं कह सकते, क्योंकि आत्यन्तिक दुःखविनाश से उपलक्षित (युक्त) निरतिशय स्वप्रकाशमात्र शेष रहना ही विदेहमुक्ति है और वही ज्ञान का फल है। वह यदि सर्वज्ञ श्रीव्यासजी को प्राप्त नहीं हुई, तो ज्ञान अनित्यफल हो जायेगा अर्थात् ज्ञान से मुक्तिरूप फल अवश्यंभावी न होगा। दूसरी बात यह भी है कि यदि ज्ञान से अज्ञान निःशेष नष्ट हो गया, तो भृगु आदि के समान जीवन नहीं रह सकेगा, क्योंकि अज्ञानरूप उपादान के नष्ट होने से कार्य नहीं रह सकता और जीवन न रहने पर ब्रह्मविद्या के उपदेश के न रहने से ब्रह्मविद्या का प्रवर्तक सम्प्रदाय ही विच्छिन्न हो जायेगा। यदि ज्ञान से अज्ञान उच्छिन्न न हुआ, तो मोक्षअभाव सिद्ध ही है। कर्म के तुल्य ज्ञान अदृष्ट के द्वारा मरण के पश्चात् फल नहीं देता, क्योंकि वह कर्म के तुल्य विधेय नहीं है, कारण कि ज्ञान तीनों कालों में अखण्डरूप से स्थित है, इस प्रकार जीवन्मुक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती, यह सारांश है। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी द्वारा पूछे गये भगवान् वसिष्ठ, जब तक श्रीरामचन्द्रजी बन्ध की अविद्याजन्यता, विद्या का स्वरूप और उसके साक्षी अपरिच्छिन्न सर्वाधार चैतन्यस्वरूप को नहीं जानते, तब तक जीवन्मुक्ति में इनका विश्वास नहीं हो सकता, इसलिए पहले उनका उपपादन कर, तदुपरान्त इनके प्रश्न का समाधान करूँगा, यों विचारकर सुबोध होने के कारण पहले साक्षी में स्थूलप्रपंचपरम्परा का अध्यारोप दिखलाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक सूर्य अर्क कहलाता है। सूर्य (📖) आदि सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक परमात्मा परमार्क हुआ। उक्त परमार्क रूपी प्रकाशके अन्दर

📖 'यैन सूर्यस्तपति तेजसिद्धः', 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्' अर्थात् जिस परमात्मारूप तेजसे दीप्त होकर सूर्य तपता है और उस तेजस्वरूप परमात्मा में न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और न तारे ही प्रकाश को प्राप्त होते हैं, इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ हैं।

त्रिजगत्‌रूपी (अनन्त कोटि ब्रह्माण्डरूपी) त्रसरेणु (卐) स्थित हो होकर लीन हो गये हैं, उनकी गिनती नहीं हो सकती ॥४॥

इससे व्यास आदि भी असंख्य उत्पन्न होते हैं, यह सूचित हुआ।

जो कोटि–कोटि त्रिजगत् इस समय विद्यमान हैं, उनमें भी कोई किन्हीं की गिनती नहीं कर सकता ॥५॥

परमात्मारूपी महासागर में जगत्सृष्टिरूपी जो तरंग होंगे, उनकी गिनती करने के लिए भी वाणी में सामर्थ्य नहीं है। इस कथन से भूत, भविष्यत् और वर्तमान जगत् का अध्यारोप दशार्या। पूछे गये विषयकी उपेक्षा कर अन्य विषय को कह रहे श्रीगुरुजीका गूढ़ आशय मैंने भली–भाँति जान लिया, यों गुरु की उत्साहवृद्धि के लिए अपनी कुशलता को सूचितकर रहे श्रीरामचन्द्रजी उक्त भूत, भविष्यत् और वर्तमान सृष्टियों में कुछ विलक्षणता कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : जो जगत्सृष्टिपरम्पराएँ अतीत हो गई हैं और जो आगामी हैं, उनका विचार करना तो ठीक है, परन्तु वर्तमान जो सृष्टियाँ हैं वे किसके सदृश हैं, अर्थात् वे न भूत के सदृश हैं और न भविष्यत् के सदृश हैं। वर्तमान सृष्टिपरम्परा में दोनों की समानता नहीं है, अतः उनकी श्रेणी में वर्तमान सृष्टि की विवेचना करना ठीक नहीं है। आशय यह कि यद्यपि वर्तमान सृष्टियाँ विशेषरूप से (तत्तद्व्यक्तित्वरूपसे) असंख्य हैं, तथापि कालतः– पूर्व और उत्तर कालरूप–दोनों तटों का भान होने से भूत और भविष्यत् सृष्टि की अपेक्षा वे न्यूनसंख्यक होने के कारण विदित ही हैं। इस प्रकार आपने यह दर्शाया कि अनन्त आगन्तुकों का उपादान आत्मतत्त्व अनन्त, अद्वितीय, अनागन्तुक और चैतन्यस्वरूप है। यह मैं जान गया हूँ ॥६,७॥

इस प्रकार अतिगूढ़ अभिप्राय के परिज्ञान द्वारा उसमें विशेष बात के कथन से श्रीराम द्वारा प्रोत्साहित पूर्वोक्त स्थूल प्रपंच के मिथ्यात्वबोधन के लिए सूक्ष्म प्रपंचमात्रता ही है, यों दर्शानेवाले वसिष्ठजी कहते हैं।

पशु–पक्षी, मनुष्य, देवता आदि प्राणियों में से जो जिस स्थान पर और जब भी नाश को प्राप्त होता है, वह प्रत्यगात्मा उसी स्थान में तभी वक्ष्यमाण (कहे जानेवाले) त्रिजगत् को देखता है। अर्थात् न तो दूसरे स्थान में देखता है और न कालान्तर में ॥८॥

वह किस सामग्री से और किस स्वरूप से युक्त होकर देखता है ? इस पर कहते हैं।

आतिवाहिक (✍) नामक चित्त, अहंकार, मन, बुद्धि, दस इन्द्रियों और प्राण से घटित वासनामय सूक्ष्मशरीर से अपने हृदयरूपी आकाश में ही वासनामय त्रिजगत् का अनुभव करता है और भ्रान्ति से वासनामय तत्–तत् शरीरों को क्रमशः प्राप्त होता है। वस्तुतः वह पूर्वोक्त

卐 त्र्यणुक। परमाणुद्वयेनाणुस्त्रसरेणुस्तु ते त्रयः (ब्र.वै.पु.),अणुर्द्वौ परमाणूस्यात्त्रसरेणुस्त्रयः (भा.३/१२/५) अर्थात् दो परमाणु = एक अणु और तीन अणु = एक त्रसरेणु।

✍ अतिवहनम्–अतिवाहः अर्थात् धूम, अर्चिरादि मार्गों के अभिमानी देवताओं द्वारा परलोक में पहुँचाना, उक्त कर्म में जो दक्ष है, वह आतिवाहिक कहलाता है।

चिदाकाशस्वरूप अतएव जन्मादिविकाररहित है ॥९॥

शंका – तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति।

(उस हृदय के अग्रभाग के प्रकाशन के साथ निकलता हुआ आत्मा चक्षु से या मस्तक से अथवा अन्यान्य शरीर–प्रदेशों से निकलता है, उसके निकलने पर प्राण भी उसका अनुसरण करता है) और 'उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि' (निकल रहे या स्थित) इत्यादि अनेक श्रुति और स्मृतियों के विरूद्ध मृत का अपने हृदय में ही परलोकदर्शन कैसे कहते हैं ?

समाधान – कर्म और उपासना से होनेवाले भावी व्यवहारदृष्टि से वे श्रुतियाँ और स्मृतियाँ हैं अर्थात् कर्म और उपासना से होनेवाले भावी फल के अनुसार बाहर निकलने के मार्ग अनेक प्रकार के हैं, यह दर्शाने के लिए उक्त श्रुति और स्मृतियाँ हैं–जिसे सूर्यलोक में जाना होता है वह चक्षुसे, जिसे ब्रह्मलोक में जाना होता है वह ब्रह्मरन्ध्र से और जिसे अन्यान्य स्थानों में जाना होता है वह अन्यान्य शरीर के अवयवों से निष्क्रान्त होता है। यहाँ पर तो परमार्थदृष्टि से 'अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (इस हृदयाकाश में द्यौ और पृथिवी भली–भाँति स्थित हैं) इस श्रुतिवाद के समान हृदय में ही परलोककी कल्पना की जाती है। आत्मा के व्यापक होने से उसका आवास हृदय भी अपरिच्छिन्न हुआ, अतः हृदय–साक्षीमें हृदयरूप परिच्छेद को दूरकर निष्क्रियत्व और प्रपंचमें केवल वासनामयत्व का ज्ञान कराने के लिए, परलोकके समान उत्क्रमण और गमन की भी वहीं पर (हृदय में ही) कल्पनामात्र से उपपत्ति हो सकती है, अतः उक्त श्रुति और स्मृति से कोई विरोध नहीं है।

एक स्थान में दर्शाई गई युक्ति को सर्वत्र दर्शाते हैं।

इसी प्रकार करोड़ों प्राणी मर चुके हैं, मरते हैं और मरेंगे, वे मृत्यु के पहले जीवन–दशा में जिस सम्पूर्ण जगत्का दर्शन करते हैं–दृश्यसमूह देखते हैं–उनमें से जिस दृश्य में उनकी वासना (संस्कार) जड़ पकड़ लेती है, मृत्युकाल में उनके हृदयाकाश में वही दृश्य उदित होता है, मरण के अनन्तर उन्हें वही दृश्य–जगत् (योनि) प्राप्त होता है (📖)। सारांश यह कि यह सम्पूर्ण जगत् वासनाविशेष के विलाससे अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥१०॥

इस प्रकार जगत् के वासनामय होने पर जो फलित हुआ अर्थात् परमार्थ दृष्टि से उसमें भ्रमरूपता प्राप्त हुई, उसका वर्णन करते हैं।

यह जगत् संकल्प से निर्मित की नाईं, मनोराज्य के विलास की नाईं, इन्द्रजाल से रचित माला की नाईं, उपन्यास के अर्थ के प्रतिभास की नाईं, वातरोग से प्रतीत होनेवाले भूकम्प की नाईं, बालक को डराने के लिए कल्पित भूत की नाईं, निर्मल आकाश में कल्पित मुक्तावली

📖 'यद् यद् भवन्ति तदाभवन्ति' (व्याघ्र, सिंह आदि जो जो पहले हुए थे वे फिर आकर वे ही होते हैं। करोड़ों युगों का व्यवधान पड़ने पर भी संसारी जीव की पहले भावित वासना नष्ट नहीं होती) 'यं यं स्मरन् भावम्' (जिस–जिस भाव का स्मरणकर अन्त में जीवन त्याग करता है उस–उस भाव को प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुति और स्मृतियाँ इस विषय में प्रमाण हैं।

की (मोतीमाला की) नाईं, नावकी गति से प्रतीत होनेवाली वृक्षों की गति की नाईं, स्वप्न में देखे गये नगर की नाईं, अन्यत्र दृष्ट के स्मरण से आकाश में कल्पित पुष्प की नाईं भ्रमकल्पित है। मृत पुरुष इसका अपने हृदय में स्वयं अनुभव करता है ॥११–१३॥

ऐसी परिस्थिति में भगवान् वेदव्यासजी का वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् (जाग्रत् और स्वप्न आदि में अबाधितविषयत्व और बाधितविषयत्वरूप विलक्षणता है, अतएव जाग्रत–ज्ञान स्वप्नादिज्ञान के समान निर्विषय नहीं है) यह सूत्र कैसे संगत होगा एवं भोक्ता के जाग्रतकाल में स्वप्न से विपरीत जो चिरकाल तक नियत व्यवहार आदि होते हैं और जो उनमें सत्यता प्रतीत होती है, उसकी क्या गति होगी ? इस पर कहते हैं।

जीव ने जीवनावस्था में जो जगत् देखा था, मृत्यु के अनन्तर उसीका उसको स्मरण होता है और फिर जन्म होने पर उसीका वह अनुभव करता है। जगत् यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार से असत् है, फिर भी अति परिचय से दृढ़ता को प्राप्त होकर जीवाकाश में प्रकाशित होता है ॥१४॥

यही 'इहलोक' कहलाता है, यह अभिप्राय है। अव्यवस्थितस्वभाव का होने के कारण भी जगत् मिथ्या है, ऐसा दर्शाने के लिए कहते हैं।

जन्म, जन्म से लेकर मरण तक की चेष्टाएँ और मरण का अनुभव करनेवाला जीव उसीमें इहलोक की कल्पना करता है, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है और मरण के अनन्तर उसीमें परलोक की कल्पना करता है। वासना के अन्दर अन्य अनेक देह और उनके मध्य में और अन्यान्य देह इस संसार में, ये केले के तने त्वचा के समान एक के पीछे एक और एक के पीछे एक इस प्रकार शोभित होते हैं ॥१५,१६॥

इस प्रकार मिथ्यात्व के सिद्ध होने पर प्रपंच के निषेध से अवशिष्ट आत्मा की सिद्धि है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

न पृथिवी आदि पंच महाभूत हैं, न जगत् और जगत् का क्रम (सृष्टिक्रम) ही है अर्थात् ये सब मिथ्या है, फिर भी मृत और जीवित जीवों को इनमें जगत्–भ्रम होता है। ज्ञान के बिना इनका उच्छेद नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रपंच के निषेध से अवशिष्य आत्मा की सिद्धि हुई ॥१७॥

मूलोच्छेद के बिना, केवल अपलापमात्रसे, उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा मन में रखकर अविद्या में उच्छेद्यत्व को बतलाने के लिए सूक्ष्मरूप से व्युत्पादित प्रपंच में कारणीभूत अविद्यामात्रता ही है, ऐसा कहते हैं।

मूढ़ों द्वारा तैरने के अयोग्य, विविध शाखा–प्रशाखाओं से युक्त अतएव अनन्त यह अविद्या लगातार हो रहे सृष्टिरूप तरंगों से युक्त विशाल नदी है ॥१८॥

अविद्या आदि सम्पूर्ण पदार्थों की कल्पना का अधिष्ठान कहते हैं।

हे राम, अतिविस्तृत परमार्थ सत्य (परमात्मा) रूपी महासागर में वे प्राचीन और नूतन सृष्टिरूपी तरंग बार–बार प्रचुरमात्रा में चक्कर काटते हैं, उत्पत्ति और लय को प्राप्त होते हैं उनमें से कुछ तो कुल, क्रम, मन और गुणों से सर्वथा समान होते हैं, कुछ आधी समानता

रखते हैं और कुछ बिलकुल निराले (अत्यन्त विलक्षण) होते हैं ॥१९,२०॥

प्रस्तुत शंका के समाधान के उपोद्घात (भूमिका) रूप से जगत् की व्यवस्था और प्रस्तुत शास्त्र के विषय को कहकर शंका के समाधान का उपक्रम करते हैं।

अठारह पुराण और महाभारत आदि के निर्माणरूप कार्यों से प्रसिद्ध यथोचित जन्म, शास्त्रविज्ञान और ब्रह्मविद्या से उपलक्षित सर्वशास्त्रविशारद ये वेदव्यासजी उक्त सृष्टिरूपी तरंगों में बत्तीसवें हैं, ऐसा मैं स्मरण करता हूँ ॥२१॥

उन बत्तीसों में भी आवान्तर भेद कहते हैं।

उन अनेक तरंगों से ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ इस प्रकार प्रसिद्ध चार भेदों में चतुर्थ स्थान में न पहुँचने के कारण अल्पबुद्धि बारह तरंग कुल, आकार, जीवन, चेष्टा आयु सर्वांश में समान हैं, दस ज्ञानादि विषय में भी समान हैं और शेष वंश में विलक्षण हैं (🔔)। पूर्वसदृश और उनसे विलक्षण व्यास तथा वाल्मीकि आगे होंगे, यही बात भृगु, अंगिरा और पुलस्त्य आदि अन्यान्य ऋषियों के विषय में दुहराई जा सकती है अर्थात् वे भी पूर्वसदृश और उनसे विलक्षण होंगे। मनुष्य, देवर्षि और देवता बार बार उत्पन्न और विलीन हुए हैं, होते हैं और होंगे। ये लोग पहले भी इस प्रकार के आकार से सम्पन्न थे, इस समय भी वैसे ही हैं इसके पश्चात् भी इस देह की अपेक्षा भिन्न–भिन्न देहों में जन्म ग्रहण करेंगे ॥२२–२४॥ हे राम, ब्रह्मकल्प का अवयवरूप यह त्रेतायुग इस समय है। पहले अनेक बार हो गया है और आगे भी होगा। जैसे इन त्रेता युगों में कितनी ही बार तुमने रामरूप धारण किया था एवं आगे आनेवाले त्रेतायुगों में कितनी बार तुम रामरूप में अवतार लोगे, इसकी कोई सीमा नहीं है। मैं भी कितनी बार वसिष्ठमूर्ति धारण कर चुका हूँ, इस समय भी वसिष्ठरूप में विद्यमान हूँ और आगे भी कितनी ही बार वसिष्ठरूप में अवतीर्ण होऊँगा। इन रूपों में कोई पूर्व के तुल्य होंगे और कोई उनसे भिन्न। यही बात अन्यान्य साधारण लोगों के विषय में कही जा सकती है। मैंने अद्भूत कर्म करनेवाले दीर्घदर्शी महामुनि इन श्रीव्यासजी का क्रमशः यह दसवाँ अवतार देखा है अर्थात् इन्हें दस बार जन्मते देखा है। हे राम, हम लोग कितनी ही बार व्यास, वाल्मीकि के साथ एकत्रित हुए और कितनी ही बार ये हम लोग पृथक्–पृथक् उत्पन्न हुए। हम लोगों ने कभी सदृशरूप में और कभी भिन्नरूप में जन्म ग्रहण किया। हम लोग आगे भी कितनी बार भिन्न आकारों में और समान अभिप्रायों में जन्म ग्रहण करेंगे। कभी हम लोगों ने अभिज्ञ होकर जन्म ग्रहण किया है और कभी अनभिज्ञ होकर। ये व्यासजी इस जगत् में और

🔔 तात्पर्य यह है कि सृष्टि के आरम्भ से श्रीरामचन्द्रजी के समय तक अनेक बार अनेक व्यास जन्मे हैं। उनमें सभी व्यास न द्वैपायन थे और न महाभारतादि के कर्ता थे। इसलिए कहा जा सकता है कि कोई–कोई वंश और कार्य में समान थे और कोई–कोई अर्धसमान थे इत्यादि। महाभारत आदि ग्रन्थों के कर्ता द्वैपायन व्यास प्रत्येक द्वापर में अवतीर्ण होते हैं। पूर्व मन्वन्तर के आरम्भ से लेकर वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर के आरम्भ तक ३२ द्वापर व्यतीत हो गये हैं, उनमें ३२ व्यासावतार हुए हैं। उन बत्तीस अवतारों में से इनके दस अवतार हमारे प्रत्यक्ष हैं और अन्यान्य अवतार परोक्ष में हुए हैं।

आठ बार उत्पन्न होकर महाभारतनामक इतिहास का प्रचार, वेदविभाग, कुलप्रथा का पालन और ब्रह्मा के अधिकार को प्राप्त कर विदेहमोक्ष को प्राप्त होंगे ॥२५–३०॥

श्रीव्यासदेवजी की वर्तमान काल में भी जीवन्मुक्तता दिखलाते हैं।

इस समय भी ये श्रीव्यासजी वीतशोक, निर्भय, सब प्रकार की कल्पनाओं से शून्य, प्रशान्तचित्त, निर्वाण सुखको प्राप्त अर्थात् बन्धनसे विनिर्मुक्त हैं, अतएव ये जीवनमुक्त कहे गये हैं। कभी जीवन्मुक्त प्राणी वित्त, बन्धु, बान्धव, अवस्था, कर्म, विद्या, विज्ञान और चेष्टाओं से तुल्य होते हैं और कभी तुल्य नहीं होते, कभी सैकड़ों बार उनका जन्म होता है और कभी बहुत कल्पों में एक बार भी उनका जन्म नहीं होता। इस माया का अन्त नहीं है। जैसे तौलने के लिए पुनः पुनः बराबर तराजू में भरी जाती हुई धान्यराशि में पहले जिस क्रम से बीज रहे थे, उस क्रम से नहीं रहते, ऊपर नीचे हो जाते हैं वैसे ही यह बहुत से प्राणियों का समूह विपर्यासको (परिवर्तन को)–पूर्व जन्म के क्रम तथा अवयवसंनिवेश की अपेक्षा विपरीत क्रम और देहसंगठन को–प्राप्त होता है। कालरूप महासागर तरंग पूर्वजन्म के अवयव संगठन अथवा क्रम से भिन्न अवयवसंगठन अथवा क्रम से सृष्टि के रूप में आविर्भूत होते हैं ॥३१–३५॥

जीवन्मुक्त पुरुष योगबल से आधिकारिक विविध शरीर धारण करनेपर भी मुक्तिस्वरूपसे च्युत नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

अविद्यारूपी आवरण से रहित विद्वान् समाहित चित्त, विकल्पविरहित स्वरूपभूत सार से ओतप्रोत अर्थात् चिन्मय एवं परम शान्तिरूपी अमृत से तृप्त रहता है। चंचलता, विकल्प, असार देहआदि रूपता, अशान्ति और अतृप्ति अविद्यारूपी आवरण से होती है उक्त आवरण के नष्ट हो जाने से चित्त समाहित हो जाता है विकल्प नष्ट हो जाते हैं, चिन्मयता प्राप्त हो जाती है और परमशान्तिरूपी सुधा से तृप्ति प्राप्त हो जाती है। निष्कर्ष यह कि जीवनमुक्ति ही ज्ञान का फल है और वह ज्ञान से ही होती है, अन्य कर्म आदि से नहीं ॥३६॥

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

मुक्तों के अनुभव से सदेह और विदेह मुक्तियों में समानता वर्णन और ज्ञान की दृढ़ता के लिए शास्त्रीय पौरुष की प्रशंसा।

नित्यमुक्तस्वभाव आत्मा का अज्ञानरूप आवरण ही बन्धन है और ज्ञान से उसका विनाश ही मुक्ति है। जैसे यह चित्रलिखित बाघ है, सचमुच नहीं है, ऐसा ज्ञान हो जाने पर बाघ का डर नहीं रहता प्रत्युत उसे देखने में आनन्द ही आता है, वैसे ही अज्ञान के नष्ट हो जाने पर यह दृश्यमान व्यवहार कौतूहल का ही कारण होता है, अनर्थ का हेतु नहीं होता, इसलिए जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति में कोई अन्तर नहीं है, इस प्रकार पूर्व शंका का समाधान करके प्रस्तुत आत्मतत्त्व का विस्तार से उपदेश देने के लिए पहले मूल की दृढ़ता के लिए पुरुषार्थ का समर्थन करते हैं।

वसिष्ठजी ने कहा : हे सौम्य, जैसे समुद्र में जलकी निश्चलावस्था में और तरंगित दशा में जलत्व एक–सा ही है, उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं है वैसे ही विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त मुनिकी स्वस्वरूप में अवस्थिति तुल्य ही हैं ॥१॥

मुक्ति चाहे सदेह हो अथवा विदेह हो, वह विषयाधीन तो कदापि नहीं है। यदि मुक्ति स्वर्ग आदि के समान विषयाधीन होगी, तो वह भी उसी प्रकार विषयों के वैषम्य से अवश्य विषम होगी, यह भाव है। यदि कोई कहे कि फिर भी उक्त दोनों मुक्तियों में भोक्तृत्व और अभोक्तृत्व से जनित अन्तर तो है ही, क्योंकि सदेह मुक्ति में देहस्थिति भोग के लिए ही है, इस पर कहते हैं।

जिसने सत्यत्वबुद्धि से भोगों का आस्वादन ही नहीं किया, उसमें भोग्य की अनुभूति कहाँ से होगी अर्थात् भोगों में सत्यत्वबुद्धि से भोक्तृत्व के अभिमान से भोग का आस्वादन करने पर भोगकृत अन्तर होगा, किन्तु असंग उदासीन आत्मैकत्वदर्शी में उक्त अभिमान ही नहीं है ॥२॥

तब ये सदेह कैसे हैं, इस पर कहते हैं।

जीवनमुक्त मुनिश्रेष्ठ श्रीवेदव्यासजी को सदेह के सदृश केवल हम अपनी कल्पना से सामने देखते हैं, इन्हें अपने विदेहत्वनिश्चय के प्रति किसी प्रकार का विघ्न नहीं है। आशय यह कि यद्यपि हम लोग अपनी कल्पना से इन्हें सदेह–सा देखते हैं तथापि ये अपने निश्चय से विदेह ही हैं, अतएव अपने अनुभव से इनमें कोई अन्तर नहीं है। ज्ञानरूपी (चिन्मय) सदेहमुक्त (जीवन्मुक्त) और विदेहमुक्त में क्या भेद है ? अर्थात् अज्ञान ही भेदक है, उसके नष्ट होने पर केवल ज्ञान के अवशिष्ट रहने पर भेदक कौन है ? कोई नहीं। जल की तरंगावस्था में जो जल है, वही सौम्यावस्था में (निश्चलावस्था में) भी है, उसमें कोई अन्तर नहीं है ॥३,४॥

जल में कदाचित् अस्वच्छता, मलिनता आदि से जनित अन्तर भी हो सकता है, ऐसी शंका से दूसरे दृष्टान्त द्वारा उक्त अर्थ का समर्थन करते हैं।

सदेह और विदेह मुक्ति में तनिक भी भेद नहीं है जैसे कि वेगवान् और वेगरहित वायु वायु ही है उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है (📖) ॥५॥

सदेहमुक्ति, विदेहमुक्ति, बन्धन, मुक्ति आदि व्यवहार भी कल्पना से ही होते हैं परमार्थ दृष्टि से नहीं होते – ऐसा कहते हैं।

हमारी और श्री व्यासजीकी दृष्टि में सदेहमुक्ति अथवा विदेहमुक्ति परमार्थ वस्तु नहीं है, किन्तु द्वैतशून्य आत्मैक्य ही परमार्थ वस्तु है। उसकी प्राप्तिरूप ज्ञान–फल में कोई भेद नहीं है, इसलिए ज्ञान में अनित्यफलतारूप दोष की आशंका का अवसर ही नहीं है, ज्ञान का उदय होने पर देहपात की आपत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि विरोधी अंश का ही ज्ञान से बाध होता

📖 इस श्लोक में अनन्तर कुछ पुस्तकों में – 'मयोक्तं केवलीभावं तत्तत्स्मरणजीवनम्। सदेहस्य विदेहस्य समतैव सदा शिवा ॥' यह श्लोक अधिक है। इसका यह अर्थ है–यदि कोई कहे कि वेगवान् वायु शीतल, वृक्ष, लहर आदि के कम्पका (चंचलता का) हेतु है और त्वचा इन्द्रिय से जाना जाता है और वेगरहित वायु उससे विपरीत है, इस प्रकार उन दोनों में भेद है ही, इसलिए भेदशून्य सदेह और विदेह मुक्ति में सस्पन्द और निःस्पन्द वायु का दृष्टान्त कैसे देते हैं ? उस पर कहते हैं।

है, प्रारब्ध कर्म का फल होने से देहधारण प्रारब्धकर्म–फल ज्ञान के सदृश है और ज्ञानका उपजीव्य है, इसलिए देहधारण का ज्ञान के साथ किसी प्रकार का विरोध नहीं है, जैसे उपादानभूत निद्रा का नाश होने पर भी स्वप्न के संस्कारों की कुछ काल तक अनुवृत्ति देखी जाती है, वैसे ही अज्ञान का ज्ञान से विनाश होने पर जब तक प्रारब्ध कर्म रहता है तब तक देह आदि की स्थिति उपपन्न होती है, यह भाव है ॥६॥

हे रामचन्द्र, आप सर्वत्र तत्–तत् द्रष्टान्तों के स्मरण का विवक्षित सारभूत अंश वस्तु की स्वरूप से अप्रच्युति हैं, ऐसा जानो, अविवक्षित कार्यभेदकृत विलक्षणता की कल्पना मत करो और कानों को अति प्रिय लगनेवाले, अज्ञानरूपी अन्धकार का विनाश करनेवाले, जिस उत्तम ज्ञान का मैं उपदेश दे रहा हूँ, उक्त प्रस्तुत ज्ञान को ही तुम सुनो ॥७॥

भाव यह कि उक्त दृष्टान्त एक अंश में है, सब अंशो में नहीं। यहाँ पर सदेहमुक्ति की और विदेहमुक्ति की एकता उपमेय है, उनके सादृश्य के लिए कथित सस्पन्द और निःस्पन्द वायु की एकता उपमान है उसका विवक्षित सारभूत अंश उपमेय के सादृश्य को उल्लसित करनेवाला केवलीभाव है, परिस्पन्द के त्याग से केवल एक अंश से – ऐक्यसादृश्यरूप से–उपमेय को उपमा का विषय समझो। ऐसी अवस्था में सदेहमुक्त और विदेहमुक्त की सदा कल्याणकारिणी समता ही है। इस प्रकार अवान्तर सन्देह के निवृत्त होने पर प्रस्तुत कथा का अवसर दर्शाते हैं। श्री शुकदेव आदि शम, दम आदि साधनों से परिपूर्ण थे, अतएव उन्हें श्रवणका फल ज्ञान तदुपरान्त विदेहमुक्ति प्राप्त हुई, आधुनिक पुरुष उक्त साधनों का सम्पादन करने में समर्थ नहीं है; अतः उन्हें श्रवण का फल कैसे प्राप्त होगा ? ऐसी शंका होने पर संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो पुरुष के प्रयत्न से साध्य न हो, यह कहते हैं।

हे रघुनन्दन, इस संसार में भली भाँति निरन्तर किये गये प्रयत्न से सबको सदा सब पदार्थ मिल सकते हैं। जहाँ कहीं प्रयत्न में विफलता देखी जाती है, वहाँ पर निरन्तर प्रयत्न का अभाव ही कारण है। शास्त्रविहित शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्मो से होनेवाली चित्तशुद्धि द्वारा जायमान ज्ञान की प्राप्ति होने पर हृदय में, चन्द्रमा के समान, काम, क्रोध आदि सन्ताप से शून्य जीवन्मुक्तिसुखमुद्रा उदित होती है। श्रुति भी कहती है–'स एको ब्रह्मणः आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।' (कामनाशून्य ब्रह्म विद्वरिष्ठ का आनन्द और ब्रह्म का आनन्द एक ही है) और स्मृति भी है – 'यच्च कामसुखं लोके' (लोक में जो वैषयिक सुख है और जो महान् स्वर्गीय सुख है, वे दोनों तृष्णाक्षय से उत्पन्न परमानंद की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं होते) उक्त सम्पूर्ण सुख पुरुषप्रयत्न से ही प्राप्त हो सकता है, अन्य से (दैव आदि से) नहीं, इसलिए पुरुष को प्रयत्न पर ही निर्भर रहना चाहिए ॥८,९॥

भाग्य के प्रतिकूल होने पर पुरुषप्रयत्न व्यर्थ देखा जाता है और 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' ऐसा लोकप्रवाद भी है, अतः पुरुषप्रयत्न से फल की आशा करना दुराशा ही है, ऐसी शंका कर दैव का (भाग्य का) पौरुष में अन्तर्भाव और दुर्बलत्व के अभिप्राय से उसका खण्डन करते हैं।

क्रिया द्वारा दूसरे देश में पहुँचाता हुआ और तृप्ति कराता हुआ, गमन, भोजन आदि

पुरुषप्रयत्न प्रत्यक्षतः क्रियारूप फलवाला देखा गया है। दैव को प्रत्यक्षतः किसीने नहीं देखा। वस्तुतः वह कुछ है ही नहीं, अज्ञानमोहित मूढ पुरुषों की वह कोरी कपोलकल्पनामात्र है ॥१०॥

वह पौरुष (पुरुषप्रयत्न) क्या है, जिसकी आप इतनी बड़ी प्रशंसा करते हैं ? इस प्रश्नपर कहते हैं।

शास्त्रज्ञ सज्जन पुरुषों द्वारा उपदिष्ट रीति से जो मानसिक, वाचिक और कायिक चेष्टा की जाती है, वही पौरुष है, वह सफल है, उससे भिन्न जो मन, वचन और शरीर की चेष्टा है वह उन्मत्त की चेष्टा है ॥११॥ जो मनुष्य जिस पदार्थ की अभिलाषा करता है, उसकी प्राप्ति के लिए यत्न भी करता है। यदि बीच में ही उसका त्याग न कर दे, तो वह क्रमशः उसको अवश्य प्राप्त करता है ॥१२॥

मूल में 'क्रमात्' पद 'कहीं पर विघ्नों द्वारा कार्य का विघात शास्त्रोक्त क्रम का त्याग करने से ही होता है' यह सूचित करने के लिए है। भाव यह कि सांगोपांग कर्म करने से अवश्य फलप्राप्ति होती है।

उक्त नियम को ही विविध दृष्टान्तों से दृढ़ करते हैं।

कोई एक प्राणी ही पुरुषप्रयत्न से तीनों लोकों के महा ऐश्वर्य से अतिरमणीय इन्द्रपदवी को प्राप्त हुआ है। कोई चिदुल्ला (चित् उत्कर्ष से उत्कृष्ट) (📖) प्राणी ही पौरुष प्रयत्न से कमलासन में स्थित होकर ब्रह्मा के पद को प्राप्त हुआ है। सारभूत अपने पुरुषार्थ से ही कोई पुरुष गरूड़ध्वज होकर पुरुषोत्तमता को प्राप्त हुआ है। अपने पुरुषार्थ से ही, कोई देही, अर्धनारीश्वर बनकर चन्द्रशेखरता को प्राप्त हुआ है। पौरुष दो प्रकार का है, एक पूर्वजन्म का और दूसरा इस जन्म का। आधुनिक पुरुषार्थ द्वारा पूर्व जन्म का पुरुषार्थ शीघ्र तिरस्कार को प्राप्त होता है ॥१३–१७॥

आधुनिक अल्प पुरुषार्थ अनेक करोड़ कल्पों से उपार्जित अनन्त प्राक्तन कर्मों पर विजय कैसे प्राप्त करता है ? इस पर कहते हैं।

निरन्तर प्रयत्न करनेवाले, दृढ़ अभ्यासवाले एवं प्रज्ञा और उत्साह से युक्त पुरुष प्रलय में अधिकार रखनेवाले देवताओं की पदवी को प्राप्त होकर महान् मेरू पर्वत तक को निगल जाते हैं, मटियामेट कर डालते हैं, प्राक्तन (पूर्व जन्म के) पौरुष की तो बात ही क्या है ? भाव यह कि यद्यपि प्राक्तन कर्म अनन्त हैं, फिर भी उनका मूल एक ही है उनके मूल का नाश करने से उन पर बड़ी आसानी से विजय प्राप्त की जा सकती है। श्रुति आदि से नियन्त्रित (श्रुत्यनुसारी) पुरुषार्थ का ही अवश्य सम्पादन करनेवाली पुरुषकी जो निरन्तर उद्योगशीलता है, वही अभीष्ट सिद्धि देनेवाली होती है। शास्त्रविधि के प्रतिकूल पुरुषार्थ का उपार्जन करनेवाली पुरुष की उद्योगशीलता अनर्थकारिणी होती है ॥१८,१९॥

📖 सत्त्वगुण की उत्कृष्टता से चैतन्य का उत्कर्ष होता है। ब्रह्माजी का सत्त्वगुण अन्यों की अपेक्षा उत्कृष्ट है, इसी कारण उनमें तन्मूलक चैतन्य भी सर्वोत्कृष्ट है। ब्रह्मा भी पूर्वकल्प में सामान्य जीव थे, तपस्या के बल से वे इस कल्प में ब्रह्मा हुए हैं।

महाधनी, प्रबल और महामति लोगों को प्राप्त होनेवाला पौरुष निर्धन, निर्बल और अल्पबुद्धिवाले लोगों को कैसे प्राप्त होगा ? ऐसी शंका कर उनको भी स्वशक्ति के अनुरूप निरन्तर पौरूष से इस जन्म में या जन्मान्तर में विपुल धन आदि सम्पत्ति से उक्त पौरुष प्राप्त हो सकता है। किसी पुरुष की निरन्तर सुदशा या दुर्दशा नहीं रह सकती, इस अभिप्राय से शास्त्रीय प्रयत्न और शास्त्रीय प्रयत्न में ढिलाई करना–इन दोनों के फल में बड़ा अन्तर दिखलाते हैं।

पुरुष जब शास्त्रीय यत्न को शिथिल करता है, तब स्वाभाविक रागादि दोषों से असन्मार्ग में आसक्ति होने के कारण दारिद्र्य, रोग, बन्धन आदि दुर्दशा में, जबकि अपने हाथ आदि भी अपने काबू में नहीं रहते, अंगुलियों को खूब तोड़ मरोड़कर बनाये गये चुल्लू के चुल्लूभर जल से मुँह में पडे हुए एक बुँद जल को भी दुर्लभ होने के कारण अधिक समझता है, वही जब शास्त्रीय प्रयत्न में दृढ़ रहता है, तब धर्म के उत्कर्ष से प्रियव्रत महाराज के समान सात द्वीपों की एक छत्र आधिपत्य दशा में अवश्य पोषणीय पुत्र आदि के लिए यथायोग्य दायभाग का विभाग करने में समुद्र, पर्वत, नगर और द्वीपों से व्याप्त विशाल पृथ्वी को भी अधिक नहीं समझता ॥२०॥

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवाँ सर्ग

पौरूष के प्रबल होने पर अवश्य फलप्राप्ति में एवं दैव की पुरुषार्थ से
अभिन्नता में युक्ति और दृष्टान्तों का प्रदर्शन।

पूर्व में जो यह कहा था कि दैव पौरुष से अतिरिक्त नहीं है, दैव से पौरुष प्रबल है और पौरुष से ही पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, उक्त सबका युक्ति से समर्थन करने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : जैसे नीला, पीला आदि रंगों की अभिव्यक्ति में प्रकाश ही मुख्य कारण है, वैसे ही शास्त्र के अनुसार कायिक, वाचिक और मानसिक व्यवहार करनेवाले अधिकारी पुरुषों के सब पुरुषार्थों की सिद्धि में प्रवृत्ति ही मुख्य कारण है ॥१॥

विद्या तृप्ति आदि के समान दृष्टफलक है, उसके साधन में शास्त्रीय नियम का क्या उपयोग है ? इस पर कहते हैं।

पुरुष जिसकी केवल मन से इच्छा करता है, शास्त्रानुसार कर्म से नहीं करता, वह उन्मत्त की चेष्टा ही करता है, वह पुरुषार्थ का साधन नहीं है, बल्कि मोह का साधन है। सारांश यह कि यद्यपि विद्या दृष्टफलक है, तथापि विद्या के साधन में अशास्त्रीय नियम कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अन्वयव्यतिरेक नहीं है। शास्त्रीय यत्न का शास्त्रीय ही फल होता है और अशास्त्रीय यत्न का अशास्त्रीय ही फल होता है, इस प्रकार औचित्य के बल से भी व्यवस्था की सिद्धि होती है। जो आदमी जैसा प्रयत्न करता है, वह वैसा ही फल पाता है। प्राक्तन (पूर्व जन्म का) स्वकर्म ही दैव कहलाता है, उससे अतिरिक्त दैव कुछ नहीं है। पौरुष दो प्रकार का

है–एक शास्त्रानुमोदित और दूसरा शास्त्रविरुद्ध। उनमें शास्त्रविरुद्ध कर्म अनर्थ का कारण है और शास्त्रानुमोदित कर्म परमार्थवस्तु की प्राप्ति का कारण है। कहीं पर सम और कहीं पर असम प्राक्तन और ऐहिक दो पुरुषार्थ भेड़ों की तरह परस्पर लड़ते हैं, उनमें जो कम बलवाला होता है, वह नष्ट हो जाता है। इसलिए पुरुष को शास्त्रीय प्रयत्न से सज्जन महात्माओं के संग के द्वारा वैसा उद्योग करना चाहिए जिससे कि इस जन्म का पौरुष पूर्व जन्म के पौरुष को शीघ्र जीत ले ॥२–६॥

'त्रिभिऋणैऋणवान् जायते' इस श्रुति से मनुष्य, देवता आदि का ऋणी, सुना जाता है और 'तस्मादेषां तन्न प्रियमेतन्मनुष्या विद्युः' (इसलिए देवताओं को यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य आत्मतत्त्वज्ञानी होवें) ऐसी भी श्रुति है, इसलिए वे देवता अवश्य विघ्न करेंगे, उनके विघ्न करने पर किया गया प्रयत्न ही विफल हो जायेगा, ऐसी आशंका कर कहते हैं।

सम और विषम अपना और दूसरे का पुरुषार्थ– ये दोनों भेड़ों की तरह लड़ते हैं उन दोनों में जो अतिबलवान् होता है, वह जीत जाता है। भाव यह है कि दोषों के रहते ही देवता विघ्न कर सकते हैं, अपने प्रयत्न से दोषोंपर विजय पाने से उनकी विघ्नशक्ति कुण्ठित हो जाती है ॥७॥

शास्त्रीय मार्ग में यत्न कर रहे लोगों को भी कभी कभी रोगादि अनर्थ क्यों प्राप्त होते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

जहाँ पर शास्त्रानुमोदित पौरुष से भी विघ्नबाधा प्राप्त होती है, वहाँ पर अनर्थकारी अपने पौरुष को बलवान् समझना चाहिए ॥८॥

उसको भी जीत लेना चाहिए यह भाव है।

अपने उत्कृष्ट पौरुष का अवलम्बन कर दाँतों से दाँतों को पीस रहे पुरुष को अपने शुभ पौरुष से विघ्न करने के लिए उद्यत पूर्व जन्म के अशुभ पौरुष को जीत लेना चाहिए। यह प्राचीन पौरुष मुझे प्रेरित करता है, इस प्रकार की बुद्धि को बलपूर्वक कुचल डालना चाहिए, क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रयत्न से अधिक बलवान् नहीं है। तब तक पौरुष पूर्वक भलीभाँति प्रयत्न करना चाहिए जब तक कि प्राक्तन (पूर्वजन्म का) अशुभ पौरुष स्वयं (卐) (निःशेष) शान्त हो जाय। इस जन्म के गुणों से (शुभ पौरुष से) पूर्वजन्म का दोष (अशुभ पौरुष) अवश्य नष्ट हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। आज के गुणों से (लंघन आदि से) कल के दोष का (अजीर्ण आदिका) क्षय इसमें दृष्टान्त है। पूर्व जन्म के दुरदृष्ट का ऐहिक शुभ कर्मों से सदा उद्योगशील बुद्धि द्वारा तिरस्कार कर अपने में संसार को तरने के लिए सम्पादनार्थ (मुक्त्यर्थ) शम, दम, श्रवण आदि सम्पत्ति के लिए यत्न करना चाहिए। आलसी पुरुष गदहे से भी निकृष्ट है, अतएव उद्योगहीन होकर गर्दभ तुल्य नहीं बनना चाहिए, किन्तु स्वर्ग और मोक्ष की सिद्धि के लिए शास्त्रानुसार सदा यत्न करना चाहिए ॥९–१४॥ जैसे विष्णु असुरों द्वारा प्रयुक्त माया

卐 'स्वयम्' विशेषण निःशेषतता का सूचक है, अन्य से शान्ति होने पर उसके (शामक अन्य के) हटने पर फिर उसका उद्भव हो सकता है वह न हो इसलिए 'स्वयम्' यह विशेषण दिया है।

रूप पिंजड़े से स्वयं बलपूर्वक निकल गये। अथवा जैसे सिंह मनुष्यों से बनाये गये बन्धरूप पिंजड़े से स्वयं बलपूर्वक निकल जाता है, वैसे ही मनुष्यों को पौरुषरूप यत्न का अवलम्बन कर इस संसाररूप गर्त से स्वयं बलपूर्वक निकल जाना चाहिए। अपने शरीर को प्रतिदिन नश्वर देखें, पशुओं के साथ समानता को छोड़ दें अर्थात् पशुता का स्वीकार न करें, किन्तु सत्पुरुषो के योग्य साधु संगम और सत्शास्त्रों का अवलम्बन करे। जैसे कीड़ा घाव में पीव आदि द्रव पदार्थ का आस्वादन करता है, वैसे ही घर में स्त्री, अन्न, पान आदि द्रव और कोमल पदार्थों का आस्वादन लेकर सम्पूर्ण पुरुषार्थों के साधनभूत यौवन को व्यर्थ नहीं कर देना चाहिए। शुभ पुरुष प्रयत्न से शीघ्र शुभ फल प्राप्त होता है और अशुभ पुरुष प्रयत्न से अशुभ फल मिलता है। पूर्वजन्म के शुभ और अशुभ पुरुष प्रयत्न के सिवा दैव नाम की कोई वस्तु नहीं है। जो मनुष्य प्रत्यक्ष प्रमाण का त्याग कर अनुमान प्रमाण का अवलम्बन करता है, वह अपनी बाहुओं को ये सर्प है, ऐसा समझकर उनसे भयभीत होकर भागता है। विश्वामित्र आदि श्रेष्ठ पुरुषों ने पुरुष प्रयत्न से ही पुरुषार्थ (परम लक्ष्य) प्राप्त किया था, इस बात को न जाननेवाले अतएव मुझे दैव प्रेरित कर रहा है, ऐसा कहनेवाले दुर्बुद्धियों का मुख देखकर लक्ष्मी लौट जाती है। इसलिए पहले पुरुष प्रयत्न से नित्यानित्यवस्तु विवेक आदि चार साधनों का अवलम्बन लेना चाहिए और आत्मज्ञानरूपी महान् अर्थवाले शास्त्रों का विचार करना चाहिए। शास्त्रानुसार श्रवण, मनन आदि चेष्टाओं द्वारा परमार्थभूत आत्मतत्त्वका विचार न कर रहे अतएव उक्त पुरुषार्थसाधन से शून्य मूढ़ पुरुषों की अनन्त नरकों की हेतु होने के कारण अतिदुष्ट भोगेच्छा के लिए धिक्कार है। अर्थात् ऐसे पुरुष शोचनीय हैं ॥१५–२२॥

'एव' पद योग्य जन्म का लाभ होने पर भी पुरुषार्थ की सिद्धि न करने पर फिर पुरुषार्थ सिद्धि की दुर्लभता का द्योतक है। श्रुति भी है– 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' अर्थात् यदि अधिकारी मनुष्य ने आत्मतत्त्व को जान लिया, तो मनुष्यजन्म की ठीक सार्थकता है, यदि आत्मतत्त्व को नहीं जाना, तो बड़ा भारी विनाश है–अविच्छिन्न जन्म, मरण, नरक आदि की परम्परा प्राप्त होती है।

इतने समय तक पुरुषार्थ करना चाहिए, इस प्रकार अवधिका ज्ञान न होने के कारण वह अनन्त है और उसमें अति परिश्रम भी है, अतः उसमें कैसे प्रवृत्ति हो ? इस पर कहते हैं।

पौरुष निरवधिक नहीं है, साक्षात्कार का उदय ही उसकी अवधि है। वह प्रयत्न की भी अपेक्षा नहीं करता ॥२३॥

क्योंकि 'प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्' (अनेक जन्मों से संचित निष्काम कर्म का फल गुरु द्वारा प्रदर्शित विचार से युक्त वेदान्तवाक्य से सुखपूर्वक प्राप्त किया जा सकता है) ऐसी स्मृति है।

यदि शंका हो कि उक्त 'प्रत्यक्षावगमम्' इत्यादि वाक्य 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति' (पूर्णाहूति से सम्पूर्ण कामों को प्राप्त करता है) इसके समान प्ररोचनामात्र है, क्योंकि अधिक श्रम होने पर ही अधिक फल प्राप्त होता है, ऐसा नियम है, तो उक्त नियम पर

अन्वयव्यभिचार दर्शाते हैं ।

बड़े भारी प्रयत्न से भी पत्थर से रत्न नहीं प्राप्त हो सकता और रत्न की परीक्षा में निपुण व्यक्तियों को परिश्रम के बिना भी प्रचुर लाभ होता दिखाई देता है । इस प्रकार व्यतिरेक व्यभिचार भी समझना चाहिए । जैसे जल से घड़ा परिमित है एवं जैसे लम्बाई चौड़ाई आदि परिमाण से वस्त्र परिमित है, वैसे ही पुरुषप्रयत्न भी परिमाणस्थ (आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूपी फल की अवधि में स्थित) एवं परिमित है, अर्थात् उसकी अवधि (सीमा) तत्त्वसाक्षात्कार है । उक्त पुरुषप्रयत्न यदि सत् शास्त्र, सत्संग और सदाचार से युक्त होता है, तो अपना फल (तत्त्वसाक्षात्कार) देता है, यह उसका स्वभाव है । यदि वह सत्शास्त्र, सत्संग और सदाचार से रहित होता है, तो उससे फल की सिद्धि नहीं होती । पौरुष का यह स्वरूप है, इस प्रकार व्यवहार कर रहे किसी भी पुरुष का प्रयत्न भी विफल नहीं होता । दीनता और दरिद्रता से उत्पन्न दुःख से पीड़ित हुए नल, हरिश्चन्द्र आदि श्रेष्ठ पुरुष भी अपने पुरुषप्रयत्न से ही देवराज के सदृश हो गये हैं ॥२५–२७॥

यदि बहुत परिश्रम की अपेक्षा नहीं है, तो पीछे पौरुष करेंगे, इसी समय उसकी क्या आवश्यकता है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं ।

बाल्यावस्था से लेकर भलीभाँति अभ्यस्त शास्त्र, सत्संग आदि गुणों द्वारा पुरुषप्रयत्न से (📖) स्वार्थ (तत्त्वसाक्षात्कार) प्राप्त होता है, सहसा किये गये शास्त्राभ्यास, सत्संग आदि से वह प्राप्त नहीं किया जा सकता । वे तो कोमल काँटे के समान हैं । भाव यह कि जैसे कोमल काँटे से पैर में चुभा हुआ काँटा नहीं निकाला जा सकता वैसे ही सहसा अभ्यस्त शास्त्र आदि से तत्त्वसाक्षात्कार नहीं किया जा सकता । हम जीवन्मुक्त लोगों ने इस बात को प्रत्यक्षतः देखा है, उसका अनुभव किया है, सुना और साधनों से उपार्जित किया है, जो लोग उसे दैवाधीन कहते हैं, वे मन्दमति हैं और विनष्ट हैं ॥२८,२९॥

यदि ऐसा है, तो सभी लोग क्यों यत्न नहीं करते, इस पर कहते हैं ।

अनर्थ (दुर्गति) का कारण होने या अर्थ (उन्नति) का विघातक होने के कारण अनर्थकारी आलस्य यदि जगत् में न होता, तो कौन पुरुष बड़ा धनी और विद्वान नहीं होता अर्थात् सभी धनी और विद्वान होते । आलस्य के कारण ही यह सागरपर्यन्त सम्पूर्ण पृथिवी निर्धनों और नरपशुओं से परिपूर्ण है । इसलिए आलस्य का परित्याग कर बाल्यावस्था से ही मनुष्य को सत्संग, शास्त्राभ्यास आदि में जुट जाना चाहिए, यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है ॥३०॥

यद्यपि अत्यन्त बाल्यावस्था से सत्संग आदि नहीं किये जा सकते फिर भी यौवनारम्भ से ही प्रयत्न करना उत्तम है, ऐसा कहते हैं ।

चपल बालकों द्वारा की गई क्रीड़ाओं से अति चंचल बाल्यावस्था के बीत जाने पर गुरुसेवा

📖 जब तक आत्मतत्त्वसाक्षात्कार नहीं होता तभी तक पुरुषप्रयत्न करना अतीव आवश्यक है । आत्मतत्त्वसाक्षात्कार होने पर पुरुष के प्रयत्न की समाप्ति हो जाती है, इसलिए पुरुषप्रयत्न असीम नहीं है, किन्तु ससीम है ।

आदि में समर्थ भुजाओं से अलंकृत अवस्था से (यौवनावस्था से) लेकर पद–पदार्थ ज्ञान में निपुण (व्युत्पन्न) पुरुष गुरु, सतीर्थ्य, अपने से अधिक ज्ञाताओं के संग से अपने गुणों का (भक्ति, दया आदि का), दोषों का (राग–द्वेष आदि का) विचार (शान्ति आदि से अन्त में कल्याण होता है और राग आदि से अनर्थ की प्राप्ति होती है, इस प्रकार का पर्यालोचनरूप विचार) करें ॥३१॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : महामुनि श्रीवसिष्ठजी के यों कहने पर दिन बीत गया और सूर्य भगवान अस्ताचल के शिखर पर गये। मुनिसभा महामुनि वसिष्ठजी को प्रणाम कर सायं सन्ध्योपासना, अग्निहोत्र आदि करने के लिए स्नानार्थ चली गई और रात्रि बीतने पर सूर्योदय होते–होते श्रीवसिष्ठजी के पास पुनः आ गई (✍) ॥३२॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

छठा सर्ग

जहाँ प्रयत्न करने पर भी कार्य विनाश होने पर प्रबल दैव कार्य विनाशक माना जाता है,
वहाँ पर विघातक अन्य पुरुष का प्रयत्न ही 'दैव' शब्द से कहा जाता है
अथवा अपना प्राक्तन बलवान् पौरुष ही दैव कहा जाता है।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्र पौरुष से अतिरिक्त दैव कोई वस्तु नहीं है, इसलिए पूर्वजन्म में किया गया पुरुषप्रयत्न ही दैव है। अतएव मैं दैव के आधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ, ऐसी बुद्धि का सज्जन संगति एवं सत्शास्त्र के अभ्यास से सर्वथा परित्याग कर अधिकारी मनुष्य को इस संसारसागर से अपना उद्धार करना चाहिए। जैसा जैसा प्रयत्न होगा वैसा वैसा शीघ्र फल होगा, इसीका नाम पौरुष है और उसीको दैव भी कहते है, दैव और पौरुष में कोई अन्तर नहीं है। जैसे दुःख के समय में दुःख से 'हा कष्ट' कहा जाता है, वैसे ही 'हा कष्ट' शब्द का ही दूसरा पर्याय 'हा दैव' भी है अर्थात् दुःखरूप से परिणत अपना प्राक्तन कर्म 'हा कष्ट' शब्द से कहा जाता है और वही 'दैव' है। दैव अपने प्राक्तन कर्म से भिन्न नहीं है। जैसे प्रबल पुरुष बालक को जीत लेता है, वैसे ही वह भी प्रबल पौरुष से जीता जा सकता है। जैसे कल का दुराचरण आज के सुन्दर सदाचरण से शुभता को प्राप्त होता है, वैसे ही प्राक्तन अशुभ कर्म की अशुभता वर्तमान शुभ कर्म से नष्ट हो जाती है। जो लोग तुच्छ विषयसुख के लोभ में पड़कर प्राक्तन कर्मरूपी दैव को जीतने के लिए प्रयत्न नहीं करते तथा सदा दैव के भरोसे बैठे

✍ इसकी व्याख्या यों भी है वाल्मीकिजी ने कहा, यह अरिष्टनेमि के प्रति देवदूत की उक्ति है, वाल्मीकिजी के उक्त प्रकार से भरद्वाज के प्रति कहने पर दिन अस्त हो गया, सूर्य भगवान् अस्ताचल के शिखर चले गये एवं मुनियों की सभा वाल्मीकिजी को नमस्कार कर सायंकालीन सन्ध्योपासना, अग्निहोत्र आदि करने के लिए स्नानार्थ चली गई और रात्रि के बीतने के अनन्तर सूर्योदय होनेपर पुनःवाल्मीकिजी के पास आ गई। टीकाकार का कहना है कि यदि इस प्रकार अर्थ न किया जायेगा तो आगे तत्–तत् स्थलों में जो दशरथ सभा के उत्थान का वर्णन, आह्निक कर्मानुष्ठान वर्णन, रात्रि में राम आदि के साथ श्रुत अर्थ के चिन्तन का वर्णन, एवं प्रातः सूर्योदय आदि का वर्णन किया गया है, वह असंगत हो जायेगा।

रहते हैं, वे बेचारे पामर और मूर्ख हैं ॥१–६॥

जहाँ कहीं दैव की प्रबलता प्रसिद्ध है, वहाँ पर भी पौरुष की ही प्रबलता है, यह कहते हैं।

यदि कहीं पर पुरुषप्रयत्न से किया गया कर्म दैव से (भाग्य से) विनष्ट हो जाय, तो वहाँ पर भी नाश करनेवाले के पौरुष को बलवत्तर समझना चाहिए ॥७॥

पुरुष के अधीन जो विषय हैं, उन्हीं में ऐसा हो सकता है, जो पुरुष के अधीन नहीं है, वे तो दैव पर ही निर्भर हैं – इस पर कहते हैं।

जहाँ एक टहनी में लगे हुए दो फलों में एक फल खोखला (रसशून्य) होता है वहाँ पर उसके रस का उपभोग करनेवाले मनुष्य या कीड़े आदिका, पूर्वजन्म का या इस जन्म का, प्रयत्न ही (पौरुष ही) उसके रस का विनाशक होता है। यहाँ पर जगत् में संसिद्ध पदार्थ भी विनाश को प्राप्त हो जाते हैं, वहाँ पर विनाश करनेवाले का प्रयत्न अधिक बलवान् है, यह समझना चाहिए। पूर्वजन्म के और इस जन्म के कर्म (पौरुष) दो भेड़ों की भाँति परस्पर लड़ते हैं, उनमें जो बलवान् होता है, वही दूसरे को क्षणभर में पछाड़ देता है। राजवंश के न रहने पर मन्त्री आदि द्वारा प्रेरित अलंकृत हाथी किसी भिक्षुक को लाकर जो बलात् राजा बना देता है, वह मन्त्री, हाथी और नगरवासियों के प्रयत्न का महान् बल है। भाव यह कि भिक्षुक का राज्यप्राप्ति के अनुकूल पूर्वजन्म का पुण्य होने पर भी मन्त्री आदि का पौरुष भी उसमें अन्यतर कारण कहा जा सकता है। यदि मन्त्री लोग हाथी को भेजना आदि उद्योग न करते, तो भिक्षुक का लड़का कदापि राजा न हो सकता। निस्सन्देह मन्त्रियों का पुरुषप्रयत्न भिक्षुक के राज्यलाभ में सहकारी कारण है और भिक्षुक का बलवान् पुण्य मुख्य कारण है। यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि पुरुषप्रयत्न ही एक ऐसी चीज है जो साधारण व्यक्ति को भी बड़ा से बड़ा पद प्रदान करा सकती है। जैसे पुरुषप्रयत्न से भक्षण करने योग्य अन्न को मुँह में दबाकर फिर दाँतों से चूर चूर किया जाता है वैसे ही बलवान् पुरुष पौरुषका अवलम्बन कर दुर्बल को पीस डालता है। अतः प्रयत्नशील महाबली पुरुषों के अल्प बलवाले पुरुष उपभोग होते हैं, इसलिए वे उनको ढेले के सदृश अपनी इच्छानुसार कर्म में नियुक्त करते हैं। असमर्थ और अल्पबुद्धि पुरुष बलवान् और बुद्धिमान् पुरुष के पौरुष को तत् तत् पुरुषप्रयत्न को, चाहे वह दृश्य हो चाहे अदृश्य, अपनी अज्ञानता के वश उसे 'दैव' या अदृष्ट समझता है। उन समर्थ प्राणियों में जो अधिक बलवान् प्राणी होता है, वह औरों का नियन्ता होता है, यह बात सभी विद्यमान प्राणियों में परस्पर स्पष्ट है; दैव कोई वस्तु नहीं है, यह निश्चित है। भाव यह कि पूर्वोक्त समर्थ पुरुषों की अपेक्षा अधिक समर्थ अन्य पुरुष भी हैं, वे उनके उपर शासन करते हैं। अतएव वर्तमान प्राणियों में इस प्रकार पुरुषप्रयत्न ही दिखाई देता है, उससे अन्य कुछ नहीं दिखाई देता। अतः दैव कोई पदार्थ नहीं है, यही समझना युक्तियुक्त है। शास्त्र, मन्त्री, हाथी और नगरवासियों की एकमत्य को प्राप्त हुई स्वाभाविक बुद्धि ही भिक्षुक को राजा बनानेवाली और प्रजा की रक्षिका है ॥८–१६॥

अन्य के पौरुष से अन्य को फल की प्राप्ति होने पर व्यभिचार की आशंका कर कहते हैं।

अथवा, जहाँ कहीं अलंकृत हाथी से भिक्षुक राजा बनाया जाता है, वहाँ पर भिक्षुक का पूर्वजन्म का प्रबल पौरुष भी कारण है। इस जन्म में किया गया प्रबल पुरुषप्रयत्न अपने बल से पूर्वजन्म के पौरुष को नष्ट कर देता है और पूर्वजन्मका प्रबल पौरुष इस जन्म के पौरुष को अपने बल से नष्ट कर देता है। वही पौरुष सदा विजयी होता है, जो उद्वेग से रहित है। इसी जन्म का ही पौरुष उद्वेगशून्य हो सकता है, पूर्वजन्म का नहीं; क्योंकि वह पहले ही विच्छिन्न हो चुका है, यह भाव है ॥१७,१८॥ दोनों (ऐहिक और प्राक्तन) पौरुषों में से ऐहिक पौरुष ही प्रत्यक्षतः बलवान् है, इसलिए जिस प्रकार युवक द्वारा बालक जीता जा सकता है, वैसे ही इस जन्म के प्रयत्नों द्वारा दैव (पूर्वजन्म का प्रयत्न) जीता जा सकता है ॥१९॥

ओले आदि गिरने से खेती के विनाश आदि में इससे विपरीत ही (पौरुष से दैव ही प्रबल) देखा जाता है, ऐसी आशंका करके उक्त दृष्टान्त भी हमारे अभीष्ट की ही सिद्धि करता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे मेघ किसानों द्वारा वर्ष भर में कमाई गई खेती को एक ही दिन में विनष्ट कर देता है, यह मेघ का ही पुरुषार्थ है, वैसे ही और जगह भी समझना चाहिए जो अधिक प्रयत्न करता है, उसकी जीत होती ही है। वस्तुतः तो वहाँ पर भी किसान का पूर्व जन्म का पुरुषप्रयत्न ही अदृष्ट द्वारा कारण है। क्रमशः उपार्जित धन का विनाश हो जाने पर भी खेद नहीं करना चाहिए जहाँ पर अपना कुछ वश नहीं चलता, वहाँ पर क्या खेद करना ? वहाँ पर पुनः उद्योग करना ही उचित है। जिस कार्य को हम लोग कर नहीं सकते, जो हमारी शक्ति के बाहर है, उसके लिए यदि हम दुःख करें, तो हमने मृत्यु का विनाश नहीं किया, वह कभी न कभी हमें मार डालेगा, यों सोच कर प्रतिदिन रोना चाहिए। इस संसार के सम्पूर्ण पदार्थ देश, काल, क्रिया और द्रव्य के अनुसार स्फूर्ति को प्राप्त होते हैं, जिस विषय में मनुष्य अधिक प्रयत्न करता है, उसमें विजयी होता है ॥२०–२३॥

जिस देश में जिस काल में प्रयत्न विफल हो जाय, उसका त्याग कर दूसरे देश में, दूसरे काल में, दूसरी क्रिया से और दूसरे द्रव्य से पुनः प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि पूर्व आदि दिशाओं में विघ्न आने पर भी श्रीविश्वामित्रजी के तप की उत्तर दिशा में सिद्धि हुई थी, यह तात्पर्य है।

इसलिए अधिकारी मनुष्य को पुरुषार्थ का अवलम्बन कर, सत् शास्त्रों के अभ्यास और सत्संगति द्वारा बुद्धि को निर्मल बना कर संसाररूप सागर से अपना उद्धार करना चाहिए। ये इस जन्म और पूर्व जन्म के दोनों पौरुष पुरुषरूपी अरण्य में उत्पन्न फल देने में समर्थ वृक्ष हैं, उनमें से जो अधिक बलवान् होता है, वह विजयी होता है। यहाँ पर जड़ का उच्छेद होने से एक के सूखने पर दूसरे का उगना जय है। जो पुरुष अपने ऐहिक शुभ कर्मों से पूर्वजन्म के तुच्छ कर्म का विनाश नहीं करता, वह अज्ञानी जीव अपने सुख और दुःख में असमर्थ है, भाव यह कि ऐसे लोग अपने दुःख के परिहार में और सुख के उत्पादन में अत्यन्त उदासीन हैं। वह पुरुष ईश्वर की प्रेरणा से पुण्य और पाप के बिना ही स्वर्ग अथवा नरक को जाता है, वह सदा

पराधीन रहता है, वह सचमुच पशु ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। जो पुरुष उदार स्वभाव से प्रयत्न करने में कुशल और सदाचारी हैं, वे पुरुष जैसे सिंह अपने उद्यम से पिंजड़े से निकल जाता है, वैसे ही जगन्मोह से निकल जाते हैं। जो पुरुष कर्म का त्यागकर कोई पुरुष (ईश्वर) मुझे प्रेरित कर रहा है, इस प्रकार अनर्थकारिणी कुकल्पना में स्थित है, उसका दूर से ही त्याग कर देना चाहिए, वह नराधम है ॥२४–२९॥

(शंका – एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते' (यही उस पुरुष से अच्छे कर्म करवाता है, जिसका इस लोक से उद्धार करने की इच्छा करता है) 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनमन्तरो यमयति' (जो अन्तर्यामी आत्मा में स्थित होकर आत्मा का नियन्त्रण करता है), ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (हे अर्जुन, ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में स्थित है) इत्यादि श्रुति और स्मृतियों से विरुद्ध ईश्वर का अपलाप कर जीव की स्वतन्त्रता कैसे कहते हैं ?

समाधान – आप भी 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति (जैसा करता है वैसा होता है, साधुकर्मकारी साधु होता है और पापकर्मकारी पापी होता है), 'यजेत् जुहुयाद् दद्यात्' (यज्ञ करें, हवन करें, दान दें) 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' (आत्मा कर्ता है, क्योंकि कर्ता को अपेक्षित उपायों का बोध करानेवाला विधिशास्त्र निरर्थक हो जायेगा), 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः' (ईश्वर जीवों के न कर्तुत्व की सृष्टि करते हैं और न कर्मों की सृष्टि करते हैं) इत्यादि श्रुति और स्मृति से विरुद्ध जीवकी परतन्त्रता का प्रतिपादन कैसे करते हैं ? अस्वतन्त्र जीव कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि यदि अस्वतन्त्र को कर्ता मानेंगे, तो 'स्वतन्त्रः कर्ता' इस शास्त्र से विरोध होगा। बलवान् ईश्वर की अधीनता में स्थित पुरुष सैकड़ों विधियों और हजारों निषेधों से न तो किसी कर्म में प्रवृत्त किया जा सकता है और न निवृत्त किया जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि ईश्वर द्वारा जबरदस्ती ब्रह्महत्या आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त कराया गया जीव कैसे अपराधी होगा और स्वयं ही लोगों को बुरे कर्मों में प्रवृत्त कराकर उन्हें नरकमें गिरा रहे भगवान् वैषम्य और नैर्घृण्य दोष के भागी क्यों न होंगे ? और अन्तर्यामी ब्राह्मण के अन्त में 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता' इत्यादि से जीवके अपलाप द्वारा ईश्वरस्वातन्त्र्यका समर्थन कैसे संगत होगा ?

यदि कहिये केवल अज्ञ पुरुष की दृष्टि का अवलम्बन कर कर्मकाण्डप्रवृत्ति में जीवस्वातन्त्र्यवाद है, उसको शिथिल कर सम्पूर्ण भूतों में एकात्म्यज्ञान के लिए प्रवृत्त विवेकदृष्टि का अवलम्बन कर ईश्वरस्वातन्त्र्यवाद है, उसके फलभूत ज्ञान से प्राप्त विवेकदृष्टि का अवलम्बन करके 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (यह ब्रह्म कारणशून्य, कार्यरहित, अनन्तर, अबाह्य, सर्वरूप से सबका अनुभव करनेवाला है), 'न कर्तृत्वं न कर्माणि' इत्यादि श्रुतिवाद और स्मृतिवाद है। जैसे स्वप्न और दर्पण आदि में काष्ठहस्ती के धावन को हस्ती की दृष्टि से देखने पर हस्ती ही दौड़ता है न कि काष्ठ, काष्ठ

की दृष्टि से देखने पर काष्ठ ही दौड़ता है न कि हस्ती, परमार्थदृष्टि से देखनेपर तो न हस्ती है, न काष्ठ है और न धावन क्रिया ही है, केवल अविकृत पुरुष, दर्पण आदि ही हैं, वैसे ही ये वाद है, तो मोक्ष के उपाय के प्रवर्तक श्रीवसिष्ठजी का प्रस्तुत उपदेश अज्ञ पुरुषों के लिए है, इसलिए यहाँ पर ईश्वरस्वातन्त्र्यवादका निराकरण उचित ही है। भगवान श्रीशंकराचार्यजी का भाष्य भी है–'तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोशास्त्राणि विधिनिषेधमोक्षपराणि' (इस अविद्यारूप आत्मा और अनात्मा के अन्योन्याध्यास का अवलम्बन कर सभी प्रमाण, प्रमेय आदि लौकिक व्यवहार और विधि, निषेध तथा मोक्षपरक सम्पूर्ण शास्त्र भी प्रवृत्त हैं)।

इस प्रकार अज्ञानी जीव की दृष्टि से सिद्ध जीवस्वातन्त्र्य–पक्ष में प्राप्त कर्मों के अनुसार नियन्त्रण करनेवाले ईश्वर में वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं हैं, यह भाव है।

संसार में हजारों जो व्यवहार हैं, उनमें लाभ और हानि हुआ करते हैं। उनमें राग और द्वेष का त्यागकर शास्त्रानुसार प्रयत्न करना चाहिए। कभी विच्छिन्न न हुई शास्त्रानुकूल अपनी मर्यादा का त्याग न कर रहे पुरुष को जैसे सागर में रत्न प्राप्त होते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण अभीष्ट प्राप्त होते हैं। जिनसे सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति होती है, उन अवश्य कर्तव्य कार्यों में प्रयत्नपूर्वक सदा तत्पर रहने को ही विद्वान लोग पौरुष कहते हैं, उक्त तत्परता यदि शास्त्रानुसार हो, तो वह परमपुरुषार्थकी साधक होती है। देहसंचालनरूप क्रिया से (गुरु सेवारूप कार्य से), सज्जनों के समागम एवं आत्मस्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले सत्शास्त्रों के अभ्यास से असंभावना, विपरीत भावना आदि दोषों के निराकरणपूर्वक तीक्ष्ण हुई बुद्धि से आत्मा का जो स्वयं उद्धार किया जाता है, वह स्वार्थसाधकता है। विद्वान लोग अन्तरहित एवं अज्ञानकृत विषमता से शून्य परमार्थ वस्तु को (ब्रह्म) जानते हैं। उक्त परमार्थ वस्तु जिनसे प्राप्त हो, उन शास्त्र और साधुओं की सदा सेवा करनी चाहिए। जो दोनों लोकों मे हित करनेवाला पुरुष प्रयत्न है, देवलोक के भोग से अवशिष्ट वही पूर्वजन्म का पौरुष देवलोक से यहाँ आये हुए पुरुष का 'दैव' कहलाता है। यह ठीक है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है और इसकी हम निन्दा भी नहीं करते हैं। जो लोग मूढ़ों द्वारा अपनी कपोलकल्पना से गढ़े हुए 'दैव' को मानते हैं, वे विनाश को प्राप्त हो गये हैं, यों हम उनकी निन्दा करते हैं। सदा अपने पुरुषप्रयत्न से ही दोनो लोकों में हित होता है, जैसे कलका दुष्कर्म आजके सत्कर्म से शोभा को प्राप्त होता है, वैसे ही वर्तमान जन्म के शुभ कर्मों से पूर्वजन्म के दुष्कर्म शोभा को प्राप्त हो जाते हैं। जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक शुभ कार्य में संलग्न होता है, उसका फल हाथ में रक्खे हुए आँवले के समान पौरुष से ही साफ देखा गया है। जो प्रत्यक्षका त्यागकर दैवरूप मोह में निमग्न होता है वह परम मूढ़ है। हे श्रीरामचन्द्र, इसलिए अपनी कोरी कपोलकल्पना से उत्पन्न अतएव मिथ्याभूत सम्पूर्ण कारण और प्रयोजनोंसे रहित 'दैव' की उपेक्षा कर अपने पौरुष का अवलम्बन करो ॥३०–३९॥

वह पौरुष क्या है, जिसके अवलम्बन के लिए आप उपदेश देते है ? इस पर कहते हैं।

वेद–शास्त्रों द्वारा और महापुरुषों के शुभ आचार से अति विस्तृत विविध देश धर्मों द्वारा

समर्थित जो चित्तशुद्धिरूप और ज्ञानरूप अति प्रसिद्ध फल है, उसकी हृदय में अति उत्कट अभिलाषा होने पर उसको प्राप्त करने की इच्छा से चित्त में क्रिया होती है, उसके अनन्तर इन्द्रिय, हाथ, पैर आदि में क्रिया होती है, तब पुरुष श्रवण, मनन आदि करता है, इसीको पौरुष कहते हैं। अधिकारी पुरुषका जन्म पुरुषार्थकी सिद्धि होने पर ही सफल होता है, अन्यथा नहीं, यह जानकर सदा आत्मप्रयत्न में संलग्न रहना चाहिए। तदुपरान्त इस प्रयत्नपरायणता को सत्शास्त्रों के अभ्यास, सन्त महात्माओं और विद्वानों की सेवा द्वारा आत्मज्ञानरूप फलप्राप्ति से सफल बनाना चाहिए। यदि पौरुष का अवलम्बन किया जाय, तो वह अवश्य दैव को जीत लेता है, इस प्रकार दैव और पौरुष के बलाबल के विचार से भव्य, शम, दम आदि साधनों से सम्पन्न एवं श्रेष्ठ पुरुषों की सेवा में नित्य संलग्न अधिकारी पुरुषों को श्रवण, मनन आदि द्वारा तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति के लिए उद्यम करना चाहिए। यह अधिकारी जीव को इस जन्म में सम्पादन करने योग्य सहज पौरुष ही परम पुरुषार्थलाभ का हेतु है, ऐसा निश्चय कर सदा आनन्दमग्न सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मवेत्ताओं की शुश्रूषारूप अमोघ मधुर उत्तम औषधि से विविध जन्ममरणपरम्परारूप भवरोग को शान्त करें ॥४०–४३॥

छठा सर्ग समाप्त

सातवाँ सर्ग

प्रचुर उदाहरण और प्रत्युदाहरणों तथा युक्तियों से पौरुष की प्रधानता का समर्थन।

दैव का निराकरण कर पहले जो पौरुषप्रधानता का समर्थन किया गया था, उसीको उदाहरण और प्रत्युदाहरण द्वारा दृढ़ करनेवाले श्रीवसिष्ठजी उपपत्तिपूर्वक हितोपदेशद्वारा अधिकारियों को पुरुषार्थ की ओर आकृष्ट करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, रोगरहित, स्वल्प मानसिक पीड़ा से युक्त देह को प्राप्त कर आत्मा में इस प्रकार चित्त की एकाग्रता करे कि जिससे फिर जन्म ही न हो। जो पुरुष पौरुष से दैव को जीतने की इच्छा करता है, उसके इस लोक में और परलोक में सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। जो लोग उद्यम का परित्याग कर दैव पर निर्भर रहते हैं, वे आत्मशत्रु अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का विनाश करते हैं। पुरुषार्थ और उसके साधनों की स्फूर्ति संवित्स्पन्द है उससे उनके साधन की इच्छा से जन्य प्रयत्न मनःस्पन्द है अर्थात् दृढ़संकल्प, उससे कर्मेन्द्रियों और अंगों के संचालन की प्रवृत्ति इन्द्रियस्पन्द है अर्थात् कार्यप्रवृत्ति या अनुष्ठान में रत होना। बुद्धि, मन और कर्मेन्द्रियोंकी उक्त चेष्टाएँ पौरुष के रूप हैं उक्त पुरुषप्रयत्नों से ही संकल्पित फल की प्राप्ति होती है। साक्षी चेतन में पहले जैसी विषयाभिव्यक्ति (विषय ज्ञान) होती है, वैसी ही मन में क्रिया होती है, मन के व्यापार के अनुसार कर्मेन्द्रियों में व्यापार होता है, कर्मेन्द्रियों के व्यापार के अनुरूप शारीरिक क्रिया के अनुसार ही फल की सिद्धि होती है। लोक में लौकिक या वैदिक फल के लिए जहाँ जैसे जैसे पुरुषप्रयत्न की आवश्यकता होती है वहाँ वैसे ही पुरुषप्रयत्न के उपयोग से फल की

सिद्धि होती है यह बात बच्चों तक को विदित है। जैसे ध्यान आदि में मानसिक प्रयत्न ही प्रधान है, आसन तथा मौन उसके अंग हैं, स्तुति करने में वाचिक प्रयत्न प्रधान हैं, एकाग्रता और ध्येय देवता की अभिमुखता उसके अंग हैं, यात्रा आदि में कायिक प्रयत्न ही प्रधान है, वाणी और मन का नियन्त्रण उसके अंग हैं। कहीं पर दो दो प्रयत्न प्रधान रहते हैं, कहीं पर तीन प्रयत्न प्रधान रहते हैं, इस प्रकार सब जगह पौरुष ही देखा जाता है, दैव तो कहीं देखा नहीं गया, इसलिए वह असत् है। हे श्रीरामजी, पुरुषप्रयत्न से ही बृहस्पति देवताओं के गुरु बने और पुरुषार्थ से ही शुक्राचार्यने दैत्यराजों का गुरुत्वपद प्राप्त किया था। दीनता, दरिद्रता आदि दुःखों से पीड़ित हुए भी अनेक महापुरुष अपने पौरुष से (प्रयत्न से) ही महेन्द्र के सदृश ऐश्वर्यशाली हो गये हैं। हरिश्चन्द्र, नल, युधिष्ठिर आदि का इतिहास इस बात का साक्षी है। महासम्पत्तियों का उपभोग करनेवाले तथा उन विपुल वैभवों के अधिपति जिनका कि स्मरण करने में आश्चर्य होता है, नहुष आदि महापुरुष अपनेही पौरुषदोष से नरकगामी हुए, उत्कट पद से भ्रष्ट हुए। सभी प्राणी हजारों सम्पत्तियों और विपत्तियों को और विविध दशाओं को अपने भले बुरे पुरुषप्रयत्न से ही पार करते हैं। हे रामचन्द्रजी, शास्त्राभ्यास, गुरुउपदेश और अपना परिश्रम इन तीनों से ही पुरुषार्थ की सिद्धि देखी जाती है, लौकिक पुरुषार्थ अपने परिश्रम से ही सिद्ध होते है, यज्ञ, याग आदि अपने परिश्रम और शास्त्र की सहायता से सिद्ध होते हैं और ज्ञान अपने परिश्रम, शास्त्र की सहायता तथा गुरु के उपदेश से सिद्ध होता है, इस प्रकार की तीन सिद्धियाँ पुरुषार्थ से ही देखी जाती हैं, दैव से सिद्धियाँ कभी नहीं देखी गई। अपना अभ्युदय चाहनेवाला पुरुष अशुभ कर्मों में संलग्न मन को प्रयत्न से शुभ कर्मों में लगाये, यह सम्पूर्ण शास्त्रों के सारांश का संग्रह है। वत्स, जो वस्तु कल्याणकारी है, तुच्छ नहीं है (सर्वोत्कृष्ट है), जो विनाश रहित (अविनाशी) है, उसीका प्रयत्न से सम्पादन करो, ऐसा उपदेश गुरुजन सदा देते हैं। जैसे–जैसे मैं प्रयत्न करूँगा, वैसे वैसे ही मुझे शीघ्र फल प्राप्त होगा, ऐसा निश्चय करके मैं प्रयत्न से शुभ फल का भाजन हुआ हूँ, दैव से मेरा कुछ भी उपकार नहीं हुआ। पौरुष से पुरुषों को अभीष्ट पदार्थ प्राप्त होते हैं और पौरुष से बुद्धिमान् जनों के पराक्रम की वृद्धि होती है। दैव तो दुःखसागर में डूबे हुए दुर्बलचित्तवाले लोगों के आँसू पोंछना मात्र है और कुछ नहीं है, भाव यह कि दुःखी लोगों को समझाने बुझाने और ढ़ाढ़स बाँधने के लिए लोग दैव–दैव पुकारते हैं। लोक में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से पुरुषप्रयत्न का फल अन्य देश में गमन आदि सब लोगों को सदा दिखाई देता है। यदि पुरुष पौरुष का अवलम्बन नहीं करे, तो उसका अन्य देश में गमन कैसे हो सकता है ? जो पुरुष भोजन करता है वही तृप्त होता है, जो भोजन नहीं करता वह कभी भी तृप्त नहीं हो सकता, जो चलता है वही अन्य देश में पहुँचता है, गमन न करनेवालों की कदापि अन्य देशमें गति नहीं हो सकती, जो वक्ता है, वही बोल सकता है, जो अवक्ता है वह क्या बोलेगा ? इससे सिद्ध है कि पुरुषों का पुरुषप्रयत्न ही सफल है, दैव नहीं। पौरुष से ही बुद्धिमान् पुरुष बड़े भीषण संकटों को बात

ही बात में पार कर जाते हैं, न कि पौरुषरहित (अकर्मण्यतारूप) दैव पर निर्भर होकर। जो पुरुष जैसा–जैसा प्रयत्न करता है, उसे वैसा–वैसा फल प्राप्त होता है, इस लोक में जो हाथ पर हाथ रखकर चुपचाप बैठा रहता है, उसे तनिक भी फल नहीं मिल सकता। हे राम, शुभ पुरुषार्थ से (पौरुष से) शुभ फल मिलता है और अशुभ पुरुषार्थ से अशुभ फल मिलता है, तुम्हें जैसे फल की अभिलाषा हो वैसे पुरुषार्थ का अवलम्बन कर उस फल के भागी बनो। पुरुषार्थी पुरुषों को देश और काल के अनुसार पुरुषप्रयत्न से कभी शीघ्र और कभी कुछ विलम्ब से जिस फल की प्राप्ति होती है, उसी को अज्ञानी उद्यमहीन व्यक्ति 'दैव' कहते हैं। न तो 'दैव' का नयनों से दर्शन होता है, न वह कहीं स्वर्ग आदि अन्य लोक में ही स्थित है। पुरुषार्थी का स्वर्गलोक में स्थित कर्मफल ही दैवनाम से पुकारा जाता है। इस लोक में पुरुष पैदा होता है, बढ़ता है, फिर वृद्ध होता है, पर उस पुरुष में जैसे वृद्धास्था, यौवन और बाल्यावस्था दिखाई देती है, वैसे दैव नहीं दिखाई देता। अपने अभीष्ट को प्राप्त करानेवाली कार्यमात्रतत्परता को विद्वान लोग पौरुष कहते हैं, उसीसे सब कुछ प्राप्त किया जाता है। एक स्थान से दूसरे स्थान की प्राप्ति पैरों के पुरुषार्थ से होती है, हाथ का किसी वस्तु को पकड़ना हाथ के पौरुष से होता है और इसी प्रकार अन्यान्य अंगों के अन्यान्य व्यापार (चेष्टाएँ) पौरुष से ही होते हैं, दैव से नहीं। अनभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति करानेवाले कार्य में जो संलग्नता है, वह उन्मत्त की चेष्टा है, उससे कोई भी शुभ फल प्राप्त नहीं होता, अशुभ (नरकपात आदि) फल ही प्राप्त होता है। देहचालनपरम्परारूप गुरुसेवा और श्रवण आदि क्रिया से तथा सज्जनसंगति और शास्त्रपरिशीलन आदि से तीक्ष्ण हुई बुद्धि से जो स्वयं अपनी आत्मा का उद्धार किया जाता है, वही स्वार्थसाधकता है। अज्ञानकृत विषमता की निवृत्ति से उपलक्षित अनन्त आनन्दरूप अपने परमार्थ को जो जानते हैं और जिनसे उक्त आनन्द प्राप्त किया जाता है, उन शास्त्र और महात्माओं की प्रणिपातपूर्वक सेवा करनी चाहिए। बार–बार सज्जनसंगति का फल उनके तुल्य शील–स्वभाव की प्राप्ति है और शास्त्राभ्यास का फल शास्त्र तात्पर्यज्ञान है। बुद्धि से सत् शास्त्राभ्यासरूप गुण होता और सत् शास्त्र के अभ्यास आदि से बुद्धि की वृद्धि होती है। जैसे वर्षाकाल में तालाब और कमल परस्पर की शोभा बढ़ाते हैं, वैसे ही चिरकाल के अभ्यास से मति और मति से शास्त्राभ्यास की वृद्धि होती है। भाव यह कि मनुष्य जैसे जैसे गुरुसेवा और शास्त्राभ्यास में तत्पर होता है वैसे वैसे उसका बोध बढ़ता है और जैसे–जैसे बोध की अभिवृद्धि होती है वैसे वैसे गुरु और शास्त्र में विश्वास बढ़ता है। उनकी वृद्धि होने पर सुख की वृद्धि होती है, तदनन्तर उत्तरोत्तर भूमिका में आरूढ़ होता है ॥१–२९॥

तत्त्वबोध की वृद्धि के लिए बहुत कालतक यत्न करना चाहिए ऐसा कहने के लिए उक्त बात को ही पुनः कहते हैं।

बाल्यावस्था से लेकर पूर्णरूप से अभ्यस्त शास्त्र एवं सत्संग आदि गुणों से पौरुष द्वारा अपना हितकारी स्वार्थ सिद्ध होता है। भगवान विष्णु ने पौरुष से ही दैत्यों के ऊपर विजय

प्राप्त की, पौरुष से ही लोकों कि क्रियाएँ नियत की और पौरुष से ही लोकों की रचना की, दैव से नहीं । हे रघुनन्दन, इस जगत् में केवल पुरुषप्रयत्न ही पुरुषार्थ का हेतु है । यहाँ आप चिरकाल तक वैसा पौरुष कीजिये जैसे कि हे सौम्य, आप वृक्ष, सर्प आदि योनियों को प्राप्त न हों ॥३०–३२॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

पूर्व सर्ग में प्रचुर उदाहरणों द्वारा वर्णित दैवमिथ्यात्वका, उपजीव्यविरोध आदि युक्तियों से भी, समर्थन।

इस प्रकार दैव का निराकरण कर पौरुष की स्वतन्त्रता का समर्थन करनेपर भी विश्वास न होने के कारण भ्रम में पड़ रहे और पहले स्वयं विस्तार से वर्णित (🔥) एवं अनेक श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहास में प्रसिद्ध दैव का अपलाप करना कठिन ही नहीं असंभव है यों समझ रहे श्रीरामचन्द्रजी को मुखाकृति आदि से ताड़कर जब तक श्रीरामचन्द्रजी को दैव की स्वतन्त्रता में उपजीव्याविरोध नहीं दिखलाया जायेगा तबतक उन्हें विश्वास नहीं होगा, इसलिए उसको दिखलाने की इच्छा से श्रीवसिष्ठजी ने कहा :

हे श्रीरामचन्द्र, जिसकी न जाति है या न अनुगत शरीर के अवयवों का संगठन ही है, न कर्म हैं, न चेष्टाएँ हैं और न किसी प्रकार का पराक्रम ही है उस दैव का कैसा स्वरूप है इस बात को निर्णयपूर्वक यथार्थरूप से कोई नहीं बतला सकता, चूँकि उसे बताना कठिन ही नहीं असम्भव है, इसलिए मिथ्याज्ञान के समान उसकी केवल लोकप्रसिद्धिमात्र है ॥१॥

किस अधिष्ठान को लेकर दैवभ्रान्ति होती है ? ऐसी शंका होने पर अधिष्ठान को दिखलाते हुए परस्पर व्यवहार का स्पष्टीकरण करते हैं।

अपने कर्मफल की प्राप्ति होने पर इस कर्म का इस क्रम से अनुष्ठान किया था, इसलिए इस प्रकार फल प्राप्त हुआ, ऐसे जो वाग्व्यवहार होते हैं, वे ही दैवनामसे लोकमें प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। उन वाग व्यवहारों में मन्दबुद्धि पुरुष यह दैव है, इस प्रकार का भ्रान्ति से निश्चय करते हैं जैसे कि भ्रान्ति से रस्सी में यह सर्प है, ऐसा निश्चय गृहीत होता है। जैसे अतीत काल के दुष्कर्म वर्तमान काल के शुभ कर्मों से शोभा को प्राप्त होते हैं, वैसे ही पूर्वजन्म के दुष्कर्म इस जन्म के शुभ कर्मों से शुभफलप्रद हो जाते हैं, इसलिए पुरुष को प्रयत्नपूर्वक उद्योगी होना चाहिए। जिस मन्दमतिका मूढ़ों द्वारा अनुमान से सिद्ध दैव है, अर्थात् जो दुर्मति मूढ़ों द्वारा

🔥 वैराग्य प्रकरण सर्ग २५ में –

अत्रैव दुर्विलासानां चूड़ामणिरिहाऽपरः। करोत्यत्तीति लोकेऽस्मिन् दैवं कालश्च कथ्यते ॥
तेनेयमखिला भूतसन्ततिः परिपेलवा । तापेन हिममालेव नीते विधुरतां मृशम् ॥
नृत्यतो हि कृतान्तस्य नितान्तमिव रागिणः । नित्यं यितिकान्तायां मुने परमकामिता ॥
(सर्ग २५)

कल्पित देवको मानता है, उस दुर्मति को मैं भाग्य से नहीं ही जलूँगा ऐसा निश्चय कर अग्निकुण्ड में कूद पड़ना चाहिए। यदि कर्ता धर्ता सब कुछ दैव ही है, तो पुरुष की चेष्टा से क्या प्रयोजन है ? स्नान, दान, उठना, बैठना, बोलना आदि सभी व्यापारों को दैव ही कर देगा। मनुष्य को शास्त्रोंका उपदेश देने से किस फलकी सिद्धि होगी, क्योंकि यह पुरुष तो बोलने के लिए भी स्वतन्त्र नहीं है दैव जैसा चाहता है वैसा उससे नाच नचाता है, फिर इस संसार में किसको क्या उपदेश दिया जाय ? इस लोक में शव को छोड़कर अन्य किसी में भी चेष्टाका अभाव नहीं देखा गया है, चेष्टा से ही फलप्राप्ति होती है, दैव से नहीं, इसलिए दैव निरर्थक है। मूर्तिरहति दैव मूर्तियुक्त पुरुष का सहकारी नहीं देखा जाता, इसलिए दैव निरर्थक है। जैसे लिखना, काटना आदि कार्यों में लेखनी, छूरा आदि और अंग परस्पर सम्बद्ध होते हैं, सम्बद्ध हुए दोनों में से एक में ही क्रियाकारिता देखी जाती है, दूसरे में नहीं, वैसे ही हस्त आदि के रहनेपर उनसे ही ग्रहण आदि क्रिया होगी दैव उनसे अन्यथा सिद्ध होने के कारण करण नहीं हो सकता और वातरोग आदि द्वारा हाथ आदि अंगों के नष्ट हो जाने पर दैव से कहीं पर कुछ नहीं किया जाता अतएव हाथ, पैर, मन, बुद्धि आदि के सदृश क्रिया के करणत्वरूप से भी दैव की कल्पना की आशा नहीं करनी चाहिए। बच्चे से लेकर विद्वानों तक को मन और बुद्धि के सदृश भी इस दैव का अनुभव नहीं होता, इसलिए भी दैव सदा असत् ही है, क्योंकि उस के अस्तित्व का किसी को भी अनुभव नहीं होता। किंच, दैव की सिद्धि में कर्ता आदि कारक बुद्धि ही प्रमाण है अथवा उससे पृथक् बुद्धि ? प्रथम पक्ष में कर्ता आदि ही दैव शब्द से कहे जायें तो दैव केवल कर्ता आदि का दूसरा नाम ही ठहरा। द्वितीय पक्ष में क्रिया में उपयोग रहित किसी दूसरे की दैव इस नाम से व्यर्थ ही कल्पना करनी होगी। यदि कहिए कि सभी पाण्डित्य आदिरूप समान फल की अभिलाषा से पढ़ते हैं उनमें से कुछ ही को अध्ययनफल पाण्डित्य आदि प्राप्त होते है सबको नहीं, इस विषमता में किसी न किसी निमित्त की अवश्य कल्पना करनी चाहिए। कार्य की जो विषमता देखी जाती है वह दैव की कल्पना में प्रमाण है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि कार्यवैषम्य को दैव की कल्पना में प्रमाण मानो, तो कार्यवैषम्य से पूर्व जन्म के पौरुष की ही कल्पना क्यों नहीं करते ? अप्रसिद्ध दैव की कल्पना की क्या आवश्यकता है ? जैसे मूर्तियुक्त हम लोगों का अमूर्त आकाश से संयोग नहीं हो सकता वैसे ही अमूर्त दैव का अन्य कारण के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः मूर्त का ही परस्पर संयोग दिखाई देता है, अतः दैव कोई पदार्थ नहीं है। यदि प्राणियों को व्यापार में लगानेवाला दैव नामक कोई होता तो तीनों लोकों में सब प्राणी दैव ही सब कुछ करेगा ऐसा निश्चय कर सो जाते। दैव से प्रेरित हुआ मैं दैव के संकल्प से सिद्ध ऐसा कार्य करता हूँ, यह वचन आश्वासनमात्र है परमार्थतः दैव कोई पदार्थ नहीं है। मूर्ख लोगों ने अपने मन से दैव की कल्पना कर रक्खी है, जो लोग दैव पर निर्भर रहे उनका सर्वनाश ही हुआ है; बुद्धिमान् पुरुष तो पौरुष का अवलम्बन कर उत्तम पद को प्राप्त हुए हैं। भला कहिए तो सही जो लोग शूरवीर हैं, जो पराक्रमशाली हैं, जो बुद्धिमान् हैं और जो विद्वान हैं क्या वे इस लोक में दैव की प्रतीक्षा करते हैं ? ॥२–१७॥

यदि कहिए ज्योतिषी जो ग्रहों का वर्णन करते हैं, वही दैव है, सो ठीक नहीं, क्योंकि ग्रह तो अपनी गतिविशेष से पौरुष और उसके फल का सूचन ही करते हैं, फल के कारण नहीं है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

ज्योतिषियों द्वारा जिसकी बहुत बड़ी आयु का निर्णय किया गया है, यदि वह सिर कटने पर भी जीवित रहे, तो दैव उत्तम कारण हो। हे रामचन्द्रजी, ज्योतिषियों ने जिसके विषय में यह बड़ा भारी विद्वान होगा ऐसा निर्णय किया है, वह यदि बिना पढ़ाये ही विद्वान् हो जाय, तब दैव को उत्तम कारण कहना चाहिए। हे राम, देखो, इन महामुनि श्रीविश्वामित्रजी ने दैव को दूर फेंककर पौरुष के अवलम्बन से ही ब्राह्मणत्व प्राप्त किया, अन्य उपाय से नहीं। हम लोगों ने एवं अन्यान्य और लोगों ने जो कि मुनि बने हैं, चिरकाल के प्रयत्न से ही आकाशगति प्राप्त की है ॥१८–२१॥

जो इन्द्र आदि देव हैं, वे भी पौरुष से पराजित हुए थे, यह बात प्रसिद्ध है।

हिरण्यकशिपु आदि दैत्यराजों ने अपने पुरुषप्रयत्न के अवलम्बन से ही देवताओं को तहस–नहस कर तीनों भुवनों में साम्राज्य किया था और इन्द्र आदि देवराजों ने पौरुष के अवलम्बन से ही शत्रुसेना को काटकर और जर्जरितकर इस विशाल जगत् को दानवों से छीना था। हे रामजी, राल एवं मधुमक्खी का छत्ता आदि के लेपन आदिरूप प्रसिद्ध पौरुषयुक्ति से बाँस की टोकरी में चिरकाल तक बड़ी खूबी के साथ पानी रक्खा जाता है, इसमें पौरुष ही कारण है, दैव नहीं। आत्मीयजनों का भरण–पोषण, जबरदस्ती दूसरे के राष्ट्र को छीन लेना, क्रोध से दूसरे को दण्ड देना, भोग–विलास एवं अन्यान्य रोगादिनिवृत्ति आदिरूप परिश्रमसाध्य पुरुषार्थों के प्रति पराक्रम, मणि, मन्त्र और औषधि में जैसी शक्ति देखी जाती है वैसी दैव में शक्ति नहीं है, वे सब पौरुष से ही सिद्ध होते हैं। हे साधुचरित श्रीरामजी, सम्पूर्ण कारणों और कार्यों से रहित अपने भ्रम से बने हुए के सदृश मिथ्यारूप असत्य दैव की उपेक्षा कर तुम उत्तम पौरुष का अवलम्बन करो ॥२२–२६॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नौवाँ सर्ग

दैव के अपलाप की सिद्धि के लिए सफल कर्मों की मनोमात्रता और मन की चिदात्मताका वर्णन।

पुरुषप्रयत्न की स्वतन्त्रता को सिद्ध करने के लिए पहले कहीं पर 'दैव असत् है' ऐसा कहा और कहीं पर प्राक्तन प्रयत्न जनित कर्म ही दैव एवं पुरुष प्रयत्न कहलाता है, ऐसा कहीं पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'दैव असत् है' इस प्रथम पक्ष को मानने से लोक और वेद में दैव की जो प्रबल प्रसिद्धि है, उसकी असंगति हो जायेगी और दुर्बल दैव के अभाव में उसकी अपेक्षा पुरुषप्रयत्न की प्रबलता का प्रतिपादन करनेवाली उक्ति के साथ विरोध होगा। प्राक्तन प्रयत्न जनित कर्म ही दैव है, इस द्वितीय पक्ष में तो 'दैव असत् है' इस प्रकार की दैव में असत्त्वप्रतिज्ञा का भंग हो जायेगा, आधुनिक प्रवृत्तियाँ भी पूर्वकर्म की फलरूपा हैं,अतः प्राक्तन कर्मों के

अनुकूल होने के कारण उनका विरोध न होने से 'आधुनिक प्रवृत्तियों से' पूर्वकर्मों का जय होता है, यह कथन भी विरुद्ध होगा एवं कर्मपरतन्त्र होने पर पुरुष की स्वतन्त्रता का भी विघात होगा, इस प्रकार के गूढ़ अभिप्रायवाले श्रीरामचन्द्रजी उसके तात्पर्य की जिज्ञासा से वसिष्ठजी से पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आप सम्पूर्ण धर्मों के ज्ञाता हैं, लोक में अत्यन्त विख्यात जो दैव है, वह क्या है ? यानी वह सत् है, या असत् ? उसे आप कृपया मुझसे कहिए ॥१॥

रामचन्द्रजी के पूछने पर उनके अभिप्राय को जानकर श्रीवसिष्ठजी भी दैव का अपलाप करनेवाली युक्तियों से ही जगत् के अपलाप द्वारा अद्वितीय आत्मतत्त्व को समझाने की इच्छा से 'पूर्वोक्त दोनों पक्षों में फलतः कोई भेद नहीं है, इस गूढ अभिप्राय से प्रथम पक्ष का अवलम्बन कर उक्त अर्थ को ही कहते हैं।

वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, सम्पूर्ण कार्यों को करनेवाला पौरुष ही है, अन्य नहीं है एवं सम्पूर्ण फलों का उपभोक्ता भी पुरुषप्रयत्न है, उसमें दैव कारण ही नहीं है। वस्तुतः आत्मा स्वयं उदासीन है, अतः उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व की किसी प्रकार भी उपपत्ति नहीं होती ॥२॥

ऐसा बोधन करने के लिए करणभूत पुरुषप्रयत्न में फलकर्तृत्वका कथन किया गया है, यह तात्पर्य है।

दैव न कुछ करता है, न भोग करता है, न उसका अस्तित्व है, न दिखाई देता है, एवं न तो विवेकी पुरुष द्वारा उसका आदर किया जाता है, पर अनादि रूढ़ भ्रान्ति से केवल मूढ़ों ने उसकी कल्पना कर रक्खी है ॥३॥

निरालम्बत्वरूप अनुपपत्तिका परिहार करते हैं।

फल को अवश्य देनेवाले पुरुषप्रयत्न से सिद्ध वनिता आदि को पति और सपत्नी आदि से जो कुछ और अशुभ फल प्राप्त होता है, उसीका अवलम्बन कर दैवशब्द का लोक में व्यवहार होता है। अथवा पुरुषप्रयत्न द्वारा प्राप्त इष्ट और अनिष्ट वस्तु की जो इष्ट और अनिष्टरूपा प्राप्ति है, वह भी सदा लोगों द्वारा दैवशब्द से कही जाती है ॥४,५॥

श्रीवसिष्ठजी चार्वाक मत का प्रदर्शन करते हैं।

पुरुषप्रयत्न से होनेवाला जो अवश्य फल का भोग है, वही इस लोक में दैवशब्द से कहा जाता है ॥६॥

अब महामुनि वसिष्ठजी सिद्धान्त बतलाते हैं।

हे रामचन्द्रजी, किसी पुरुष का कोई दैव ही भ्रान्त दृष्टि से आकाश को शून्य के सदृश या नील के सदृश बना देता है और विवेक दृष्टि से वैसा नहीं बनाता है अर्थात् दैव की सिद्धि भ्रान्ति से ही है, विवेक से नहीं। सिद्ध पुरुषार्थ से शुभ और अशुभ फल का उदय होने पर 'यह फल इस बीज के स्वरूप में पहले रहा' इस प्रकार जो कहा जाता है, वही दैव है। मेरी ऐसी बुद्धि थी और ऐसा मेरा निश्चय था यों कर्मफल के प्राप्त होने पर जो कहा जाता है, वही दैव है। इष्ट

और अनिष्ट फल के प्राप्त होने पर प्राक्तन कर्म ही इस प्रकार था। इस अभिप्राय को बतलानेवाला केवल आश्वासनमात्र ही दैव है ॥७–१०॥

दोनों कल्पों के अभेद का कथन करने से आशय को न जान रहे एवं प्रथम कल्प का उपक्रमकर द्वितीय कल्प से उपसंहार करने में विरोध को जान रहे श्रीरामचन्द्रजी अपने अभिप्राय को प्रकट करते हुए बोले।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, हे सर्वधर्मज्ञ, जो प्राक्तन कर्म है वही दैव है, ऐसा आपने बार–बार कहा, फिर दैव है ही नहीं, इस प्रकार उसका आप अपलाप कैसे करते हैं यानी उसके अपलाप करने में आपका क्या अभिप्राय है ? ॥११॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्र, ठीक है, आप उन दोनों कल्पों के विरोध को जानते हैं, सुनिए, मैं आपसे सम्पूर्ण वृत्तान्त को कहूँगा, जिससे दैव है ही नहीं, यह आपकी बुद्धि स्थिर हो जायेगी। मनुष्यों के मन में पहले जो अनेक प्रकार की वासनाएँ हुई थीं, वे ही कायिक और वाचिक कर्मरूप से परिणत हुई क्योंकि 'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' यानी जिसका मन से चिन्तन करता है उसको वाणी से बोलता है और उसको कर्म से करता है। हे रामजी, प्राणी में जिस प्रकार की वासना होती है, वह शीघ्र ही वैसा कर्म करता है। अन्य प्रकार की वासना हो और अन्य कर्म करे यह बात नहीं बन सकती। गाँव में जाने की जिसकी इच्छा होती है वह गाँव में पहुँचता है और शहर में जाने की जिसकी इच्छा होती वह शहर में पहुँचता है, जिसकी जिस विषय में अभिलाषा होती है वह उस विषय में प्रयत्न करता है। पूर्वजन्म में फल की उत्कट अभिलाषा से जो कर्म प्रबल प्रयत्न से किया जाता है वही इस जन्म में दैव शब्द से कहा जाता है अर्थात् पूर्वजन्म में फल की उत्कट अभिलाषा से किये गये कर्म का ही दूसरा नाम दैव है, अतः दैव कर्म से अतिरिक्त नहीं है ॥१२–१६॥ कर्मकर्ताओं के सभी कर्म इसी प्रकार होते हैं। अपनी प्रबल वासना ही कर्म है और वासना भी अपने कारणभूत मन से पृथक् नहीं है ॥१७॥

क्योंकि 'वाचारम्भणं विकारों नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (विकार और नाम केवल वाचारम्भणमात्र है, मृत्तिका ही (कारण ही) सत्य है) श्रुति में उक्त ऐसा न्याय है। यद्यपि वाचिक और कायिक भी कर्म देखे जाते हैं तथापि विचार करने पर वे भी केवल मनोवासनारूप ही हैं, ऐसा आगे कहा जायेगा, उसी के अनुसार सकल कर्म मनोवासनामात्र हैं, ऐसा कहा गया है।

मन पुरुष (परमात्मरूप) ही है, उससे पृथक् नहीं है, क्योंकि 'तन्मनोऽकुरुत आत्मन्वी स्याम' (मैं मनस्वी होऊँ, इस अभिप्राय से उसने मन को बनाया) इस श्रुति से मन पुरुष का विवर्तरूप ही है, यह सिद्ध है।

हे सज्जनशिरोमणि श्रीरामजी, जो दैव है, वही कर्म है, दैव कर्म से पृथक् नहीं है, कर्म मन से पृथक् नहीं है और मन पुरुषरूप है और पुरुष परमार्थरूप से निर्विकार चैतन्यमात्ररूप ही है, इससे मन असत् ठहरा, मन के असत् होने से कर्म भी असत् ठहरा और असत् कर्मरूप दैव भी असत् हुआ, अतएव दैव नहीं है, यह फलितार्थ है ॥१८॥

'प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक्, पश्यँश्चक्षुः श्रृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनः ' इस श्रुति से अध्यास से मन आदि भाव से स्थित आत्मा की ही कर्म और कर्म के फलरूप से भी स्थिति है, इसलिए वही दैव है, ऐसा यदि कहो, तो वह दैव रहे उससे पुरुष की स्वतन्त्रता का विनाश नहीं होगा, इस आशय से कहते हैं।

मन आदि भाव को प्राप्त हुआ यह प्राणी ही अपने हित के लिए जैसा प्रयत्न करता है दैवनाम से प्रसिद्ध अपने कर्म से वैसा ही फल पाता है ॥१९॥

यदि मन अत्यन्त असत् है, तो उससे व्यवहार की सिद्धि कैसे होगी ? अत्यन्त असत् वन्ध्यापुत्र आदि से किसी व्यवहार की सिद्धि नहीं देखी जाती, ऐसी आशंका कर युक्ति से उसकी अनिर्वचनीयता को दर्शा रहे 'तदेतद्धृहयं मनश्चैतात्संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानम्' (वही हृदय, मन, संज्ञान, अज्ञान, विज्ञान और प्रज्ञान है) इत्यादि श्रुति के अनुसार मन की ही दैव आदि संज्ञाएँ हैं। ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, मन, चित्त, वासना, कर्म, दैव और निश्चय ये सब सत्त्व था असत्त्व, चित्त्व या जडत्व, भेद या अभेद आदि से तत्त्वतः जिसका निश्चय नहीं हो सकता ऐसे मिथ्याभूत मन की (मनोरूपता को प्राप्त हुए पुरुष की) संज्ञाएँ कही गई हैं। यों पुरुष की स्वतन्त्रता सिद्ध हुई, ऐसा कहते हैं। हे रामचन्द्र, पूर्वोक्त नामोंवाला (मन, चित्त आदि संज्ञाओंवाला) पुरुष दृढ़ वासना से जैसा नित्य प्रयत्न करता है वैसा ही उसे पर्याप्त फल मिलता है। हे रघुकुलतिलक, इस प्रकार पौरुष से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है उससे अन्य से कुछ भी नहीं मिलता, इसलिए आपका पुरुषप्रयत्न शुभ फल देनेवाला हो ॥२०–२२॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, पूर्वजन्म की वासनाएँ जैसे मुझे कार्य में लगाती हैं, वैसे ही मैं रहता हूँ, परवश मैं कर ही क्या सकता हूँ। अर्थात् पूर्वजन्म की वासनाओं के अधीन हुए मुझे स्वतन्त्रतापूर्वक कुछ करने की शक्ति कहाँ है, वासना मुझसे जैसा नाच–नचा रही है, वैसा नाच मैं नाचता हूँ ॥२३॥

इस समय प्राप्त हो रहे फल में भले ही तुम्हारी स्वतन्त्रता न हो, पर भावी फल के अनुकूल यत्न में तो स्वतन्त्रता है ही। सद्‌विद्या से संयुक्त जन्म से अनुमित पूर्वजन्म के सत्प्रयत्न की फलभूत पूर्व वासना केवल अपने विरुद्ध फलों की अवरोधिका है, अतएव उससे युक्त जन्म में भी यदि पुरुष की सत्प्रवृत्ति में स्वतन्त्रता न हुई, तो कर्म और ब्रह्मविद्यापरक शास्त्र ही व्यर्थ हो जायेंगे। अपने मन में ऐसा अभिप्राय रखकर श्रीवसिष्ठजी ने कहा।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामजी, आप प्रस्तुत जन्म की हेतुभूत वासनाओं की अनुकूलता से ही अपने प्रयत्न से प्राप्त पौरुष द्वारा अक्षय श्रेय को प्राप्त होओगे, अन्यथा नहीं ॥२४॥

उक्त अर्थ का ही समर्थन करने के लिए वासनाओं का भेद दर्शा कर कहते हैं।

पूर्वजन्म की वासनाएँ, दो प्रकार की होती हैं, एक शुभ और दूसरी अशुभ। उनमें से आपकी पूर्वजन्म की वासनाएँ या शुभ हो सकती हैं या अशुभ हो सकती हैं ॥२५॥

प्रथम पक्ष में कहते हैं।

यदि आपकी पूर्वजन्म की वासनाएँ शुभ हों, तो पूर्वजन्म की शुभ वासनाओं द्वारा इस

समय भी आप शुभ वासनामें प्राप्त कराये जा रहे हैं, ऐसी अवस्था में शुभ वासनाओं द्वारा ही क्रमशः अविनश्वर पद को प्राप्त होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥२६॥

दूसरे पक्ष में कहते हैं।

यदि आपकी पूर्वजन्म की वासनाएँ अशुभ हैं और वे आपको संकट की ओर ले जाती हैं, तो उन प्राक्तन अशुभ वासनाओं पर आपको प्रयत्नपूर्वक दृढ़ता से विजय प्राप्त करनी चाहिए। भाव यह कि वासनाओं का उद्बोध स्वतन्त्ररूप से नहीं होता, किन्तु किसी उद्बोधक के अनुसार ही होता है। यदि असज्जन की संगति आदि से कदाचित् एक आध अशुभ वासना उठे, तो उसका, उसके विरोधी साधु संगति, सत्–शास्त्र के अभ्यास आदि से विरोधी शुभ वासना की उत्पत्ति कराकर, तिरस्कार कर देना चाहिए ॥२७॥

'यो मनसि तिष्ठन्मनोऽन्तरो यं मनो न वेद' इस श्रुति से मन को प्रेरित करनेवाला प्रज्ञानामक आत्मा दूसरा सुना जाता है उसके अधीन ही मनोवासनाएँ होती हैं, ऐसी परिस्थिति में सद्वासनाओं के उत्पादन में मेरी स्वतन्त्रता कहाँ है ? ऐसी शंका उठने पर कहते हैं।

जो चेतनमात्र प्राज्ञ श्रुति में कहा गया है, वही आप हैं। आप जड़रूप सूक्ष्म, स्थूल देह नहीं हैं जिससे उससे अपने को पृथक् समझें, इसलिए चेतनरूप आपकी अन्य चेतन से भास्यता कहाँ है ? भाव यह कि यदि प्राज्ञ आप से पृथक् हो, तो चेतन का अन्य चेतन से प्रकाश न होने के कारण आपको प्रकाशित न करता हुआ वह सर्वज्ञ न होगा, इसलिए आप ही प्राज्ञ हो, इस प्रकार प्राज्ञ और आपमें अभेद सिद्ध हुआ ॥२८॥

चेतनरूप आपको कोई दूसरा चेतन प्रकाशित करता है, ऐसा यदि मानो, तो उसको भी दूसरा चेतन प्रकाशित करेगा, यों अनवस्था भी होगी, ऐसा कहते हैं।

यदि आपको अन्य कोई प्रकाशित करता है, तो उस प्रकाशित करनेवाले को कौन प्रकाशित करेगा और उस दूसरे प्रकाशित करनेवाले को कौन प्रकाशित करेगा ? उसको भी अन्य करेगा और उसको भी अन्य प्रकाशित करेगा, ऐसा माना जय, तो अनवस्था होगी। अनवस्था किसी भी वस्तु को सिद्ध नहीं कर सकती। यों सद्वासनाओं का उद्बोध करने में आपकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण है ॥२९॥

पुरुष की स्वतन्त्रता के साधन का फल कहते हैं।

सन्मार्ग और असन्मार्ग से बह रही वासनारूपी नदी को अपने पुरुषप्रयत्न से अशुभ मार्ग से हटाकर शुभ मार्ग में लगाना चाहिए। हे बलवानों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, असत् मार्गों में उलझे हुए अपने मन को अपने पुरुषार्थ से बलपूर्वक शुभ मार्गों में लगाओ ॥३०,३१॥

चित्तरूपी नदी दो प्रकार से बहती है पाप के लिए और पुण्य के लिए उन दो स्रोतों में से एक का निरोध होने पर दूसरे स्रोत में चित्तनदी दुगुने प्रवाह से बहती है, यह बात योगशास्त्र के अनुसार कहते हैं।

अशुभ कर्म से (पापमार्ग से) निवारित मनुष्य का चित्त बालक की नाईं शुभ कर्म में (पुण्यमार्ग में) जाता है और पुण्यमार्ग से निवारित पापमार्ग में जाता है, इसलिए प्रयत्न के साथ पापमार्ग

से चित्त को हटाना चाहिए ॥३२॥ इस प्रकार पूर्वोक्त क्रम से चित्तरूपी बालक को शीघ्र रागादि दोषों के विश्लेषण से और स्वाभाविक समता में स्थापन से निर्दोष बनाकर धीरे–धीरे आत्मस्वरूप में निरोधरूप पौरुषप्रयत्न से लगावे ॥३३॥

शीघ्र हठपूर्वक उसका निरोध न करें, ऐसा करने से उद्वेग से समाधि के टूटने का भय रहता है। भगवान् ने भी श्रीमुख से कहा है : 'शनैः शनैरुपरभेद् बुद्धया धृतिगृहीतया।' (धारणा से वश में की गई बुद्धि से मन को शनैः शनैः (अभ्यासक्रम के अनुसार न कि सहसा) बाह्य विषयों से विरत करे।)

आपने पहले अभ्यास से चाहे शुभ वासनाओं को चाहे अशुभ वासनाओं को निविड़ बना रक्खा हो, किन्तु इस समय तो आप शुभ वासनाओं को ही दृढ़ कीजिए। भाव यह कि पूर्वजन्मों में यदि आपके अभ्यास से शुभ वासनाओं को ही दृढ़ किया होगा, तो इस समय भी शुभ वासनाओं को ही दृढ़ करने से शीघ्र फल प्राप्त होगा। यदि पूर्वजन्म में अशुभ वासनाओं को निविड़ बना रक्खा होगा, तो विरोधी वासनाओं के विनाश के लिए भी शुभ वासनाओं के दृढ़ीकरण की आवश्यकता है ॥३४॥

वासनाओं के अभ्यास की विफलता की शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पूर्ववासनाओं के अभ्यास का फल प्रत्यक्ष है, ऐसा कहते हैं।

हे शत्रुनाशन, जब आपकी पूर्वजन्म की वासनाएँ अभ्यासवश घनीभाव को (निविड़ता को) प्राप्त हुई हैं, तब आप अभ्यास की सफलता को जानिए। हे पुण्यचरित, पूर्व की भाँति इस समय भी अभ्यासवश आपकी वासना घनीभाव को प्राप्त हो रही है, इसलिए शुभवासनाओं का ही अभ्यास कीजिए ॥३५,३६॥

पूर्वजन्म की वासनाओं के घनीभाव में भी सन्देह कर रहे श्रीरामचन्द्रजी से कहते हैं।

हे प्रिय, यदि पूर्वजन्म में अभ्यास से आपकी वासना घनीभाव को प्राप्त नहीं हुई, तो इस समय भी वह वृद्धि को प्राप्त नहीं होगी, इसलिए आप सुखी होइए। भाव यह कि पूर्वजन्म में अभ्यासवश वासनाएँ वृद्धि को प्राप्त नहीं हुई, इस जन्म में भी वे अभ्यासवश दृढ़ नहीं होगी, ऐसी अवस्था में आप राजकुमारोचित सुख पूर्वक व्यवहार कीजिए, दुर्वासनाओं की अभिवृद्धि से जनित अनर्थ की संभावना से आपको विषाद नहीं होना चाहिए ॥३७॥

यदि ऐसा है, तो शुभ वासनाओं की अभिवृद्धि के लिए मुझे क्यों उपदेश देते हैं ?

राजकुमार, 'शुभ और अशुभ वासनाओं की सफलता में सन्देह होने पर भी आप अत्यन्त शुभ वासनाओं का ही संग्रह कीजिए। शुभ कर्मों के आचरण से शुभ वासना की अभिवृद्धि होने पर कोई दोष नहीं है ॥३८॥

जैसा कि न्याय है : शुभाशुभफलारम्भे सन्दिग्धेऽपि शुभं चरेत्। यदि न स्यात्तदा किं स्याद्यदि स्यान्नास्तिको हतः॥ शुभ और अशुभ कर्मों की फलदातृता में सन्देह होने पर भी शुभ का ही आचरण करना चाहिए। यदि फल नहीं हुआ, तो क्या बिगड़ा, यदि हुआ, तो नास्तिक के मुँह में कालिख लगी।

वस्तुतः तो इस विषय में सन्देह का अवसर ही नहीं है, क्योंकि अन्य स्थलों से भी अभ्यास में अभ्यस्यमानकी (जिसका अभ्यास किया जाता है उसकी) दृढ़ता की हेतुता देखी जाती है, ऐसा कहते है।

लोक में मनुष्य जिस–जिस विषय का अभ्यास करता है, उसी में निःसन्देह तन्मय हो जाता है, यह बात बाल कों से लेकर बड़े–बड़े विद्वानों तक में देखी गई है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इसलिए आप परम ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए परम पुरुषार्थ का अवलम्बन कर और पाँचों इन्द्रियों को अपने वश में कर शुभ वासना से युक्त होइए ॥३९,४०॥

कितने समय तक शुभ वासना का अभ्यास करना चाहिए ?

भद्र जब तक गुरु के उपदेश, शास्त्राभ्यास और युक्ति, अनुभव आदि प्रमाणों से तत्पद का निर्णय न हो जाय और जब तक अव्युत्पन्न चित्तवाले आपको तत्पद का ज्ञान न हो जाय, तबतक शुभवासनाओं का आचरण कीजिए। तदुपरान्त जब जैसे क्षार में पकाने से वस्त्र आदि में लगे हुए मल आदि शिथिल हो जाते हैं वैसे ही आपके राग आदि दोष नष्ट हो जाय, परमतत्त्व का परिज्ञान हो जाय और मानसिक व्यथाएँ नष्ट हो जाय तब आपको निश्चय इस शुभ वासनासमूह का भी परित्याग कर देना चाहिए ॥४१,४२॥

पूर्वोक्त अर्थ का ही संक्षेप से उपसंहार कर रहे महर्षि वसिष्ठजी आचरण करने के योग्य शुभ का ही निर्देश करते हैं।

महाभाग, आप श्रेष्ठतम पुरुषों द्वारा सेवित अति सुन्दर उन शुभ वासनाओं का अनुसरण कर, शुभ वासना से सम्पन्न बुद्धि से परमार्थ वस्तु का (परब्रह्म का) साक्षात्कार कीजिए और तदन्तर शुभ वासनाओं के अनुसरण का भी त्यागकर परम सत्य में स्थित होइए ॥४३॥

नौवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

ब्रह्माजी के और अपने जन्म का वर्णन एवं समस्त जनों की
मुक्ति के लिए मेरा उपदेश है इसका ज्ञान की अवतरणिका के रूप में वर्णन।

प्राक्तन पौरुष का ही नाम दैव है। उस पर आधुनिक पौरुष से भले ही विजय प्राप्त हो जाय। नियति तो, जो वैराग्य प्रकरण में कृतान्त की पत्नी कही गई है, अजेय है क्योंकि उसे श्रेष्ठ पुरुष भावी पदार्थों की अवश्यंभावरूप भवितव्यता और अप्रतिकार्य (अजेय) कहते हैं –'अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद् यदि। तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः। अर्थात् यदि अवश्य होनेवाली घटनाओं का प्रतीकार होता, तो नल, राम, युधिष्ठिर आदि दुःखी न होते। ऐसी परिस्थिति में पुरुष पर नियति का नियन्त्रण रहने के कारण पुरुष की स्वतन्त्रता कहाँ रही ?

इस शंका का निवारण करने के लिए श्रीवसिष्ठजी ने कहा।

हे रामचन्द्र, ब्रह्मतत्त्व सब जगह सच्चिदानन्दप्रकाशरूप से सबकी अनुकूलता तथा

समतारूप से स्थित है। उससे सम्बन्ध रखनेवाली सम्पूर्ण पदोर्थों की सत्ता को ही नियति कहते हैं जिसका भविष्यत् काल के सम्बन्ध से भवितव्यता शब्द से व्यवहार किया जाता है। और सत्ता सर्वत्र उक्त रूप से स्थित ब्रह्मतत्त्व है। वही कारण और कार्य में क्रमशः नियामक और नियम्यरूप से रहती है। कारण है तो अवश्य कार्य होना चाहिए और कार्य है तो कारण अवश्य होना चाहिए, इस प्रकार का नियम नियति है। वह नियन्ता कारण आदि की नियन्तृता (कार्यादिनियामकता) है और नियम्य कार्य आदि की नियम्यता है। पूर्वकाल में नियत सत्ता कारणता है और पश्चात्काल में नियत सत्ता कार्यता है ॥१॥

वे दोनों देश-काल से विशेषित सत्तारूप ही हैं, यह भाव है।

नियति सर्वानुकूल ब्रह्मसत्तारूप है, अतः पौरुष की सफलता के लिए भी नियति अनुकूल ही है, प्रतिकूल नहीं है, इस अभिप्राय से कथित चित्त को एकाग्र करने के उपाय के बोधक वचन को कहते हैं।

इसलिए पौरुष का अवलम्बन कर श्रेय के लिए नित्य बन्धुरूप चित्त को एकाग्र करो, मेरे इस कथन को सुनो। इन्द्रियों को सदा विषयों की वासना बनी रहती है और वे मुक्ति से रहित ऐहिक और स्वर्ग आदि सुख में आसक्त रहती हैं, अतः जैसे वे विषय की वासना न करें वैसे प्रयत्न से इन्द्रियों को शीघ्र अपने वश में कर मन को सम कीजिए ॥२,३॥

तदुपरान्त जो कर्तव्य है, उसका उपदेश देते हैं।

इस लोक की सिद्धि (जीवन्मुक्ति) तथा परलोक की सिद्धि के (विदेहमुक्ति के) लिए या मनुष्यलोक और स्वर्ग आदि लोकों में अधिकारियों की ज्ञानसिद्धि के लिए मैं पुरुषार्थरूप फल देनेवाली, मोक्ष के उपायों के उपदेश से परिपूर्ण तथा सारभूत जिस संहिता को कहूँगा, उसे सावधान होकर सुनिए। श्रीरामजी (🔥) अपुनर्ग्रहण के लिए (सर्वदा के लिए) संसारवासना को हृदय से विदा कर तथा उदार बुद्धि से परिपूर्ण शान्तिसुख और सन्तोषसुख का ग्रहण कर पूर्ववाक्य (कर्मकाण्ड श्रुतियों) और उत्तरवाक्यों के (उपासनापरक श्रुतियों के) अर्थ के विचार से सम्पन्न और विषयों द्वारा अविद्ध (वेध को प्राप्त न हुए) मन को आत्मानुसन्धान से युक्त और समरस (गुरु और शास्त्र द्वारा उपदिष्ट प्रकार की और अपने अनुभव की एकरसता के आस्वादन से युक्त) करके सुख और दुःख का नाश करनेवाले महान् आनन्द के एकमात्र कारणभूत इस मोक्ष के उपाय को, जिसे मैं अभी कहूँगा, आप सावधान होकर सुनिए। श्रीरामचन्द्रजी, आप सम्पूर्ण विवेकशील (🔔) पुरुषों के साथ इस मोक्षकथा को सुनकर उस दुःखरहित परमपद को प्राप्त होगे, जहाँ पर विनाश का भय नहीं है ॥४-८॥

इस प्रकार सांगोपांग श्रवण की भूमिका रचकर श्रवणीय शास्त्र की (मोक्षकथा की) सिद्धि के लिए मोक्षकथा की प्राप्ति का प्रकार कहते हैं।

🔥 उक्त संहिता के सुनने में मन्दविरक्त का भी अधिकार नहीं है, यह सूचित करने के लिए 'अपुनर्ग्रहणाय' ऐसा कहा है।

🔔 श्रवणशाला में अविवेकी प्रविष्ट भी न हो सकें, यह सूचित करने के लिए विवेकशील कहा।

श्रीरामजी, सृष्टि के आदि में भगवान् ब्रह्माजी ने सम्पूर्ण दुःखों का विनाश करनेवाली और बुद्धि को अत्यन्त शान्ति देनेवाली यह मोक्षकथा कही थी ॥९॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ब्रह्माजी ने किस लिए यह मोक्षकथा कही थी और यह कैसे आपको प्राप्त हुई, यह कृपाकर मुझसे कहिए ॥१०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, घट–घट व्यापी, सबका आधार, अखण्ड चेतन, अविनाशी, सब प्राणियों में प्रकाशकरूप से स्थित एवं असीम मायिक विलासों का एकमात्र अधिष्ठान परमात्मा है। माया और माया के कार्यों के आविर्भाव और तिरोभाव में सदा एकाकार (निर्विकार) उस परमात्मा से विष्णु (सम्पूर्ण कार्यों में व्याप्त रहनेवाले ब्रह्माण्डरूप विराट्) सूक्ष्मभूतों के क्रम से उत्पन्न हुए जैसे कि स्पन्दमान जल से परिपूर्ण निश्चलावस्था और चंचलावस्था में अप्रच्युत जल–स्वभाव सागर से तरंगें उत्पन्न होती हैं। उस विराट् पुरुष के हृदयरूपी कमल से परमेष्ठी की (चतुर्मुख ब्रह्मा की) उत्पत्ति हुई। सुवर्णाचल सुमेरु उस कमल की कर्णिका है, दिशाएँ दल हैं और तारे केसर हैं। हे श्रीरघुकुलतिलक, जैसे कि मन विविध विकल्पों की सृष्टि करता है वैसे ही वेद और वेदार्थ के महान् परिज्ञाता ब्रह्माजी ने देवताओं और मुनियों की मण्डली के साथ सम्पूर्ण प्राणियों की सृष्टि आरम्भ की। उन्होंने इस जम्बूद्वीप के एक भाग इस भारतवर्ष में लाभ और हानि से दुःखी, जन्म–मरण–शील एवं मानसिक और कायिक व्याधियों से पीड़ित विविध प्राणियों की सृष्टि की। प्राणियों की इस सृष्टि में विविध विषयभोगरूपी व्यसनों से पूर्ण लोगों का क्लेश देखकर सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि करनेवाले भगवान् ब्रह्मा को, जैसे पुत्र को दुःखी देखकर पिता को दया आती है वैसे ही, बड़ी दया आई। उन्होंने प्राणियों के कल्याण के लिए क्षणभर एकाग्रचित्त होकर विचार किया कि इन अल्पायु बेचारे जीवों के दुःख का अन्त किस उपाय से होगा ? ऐसा विचार कर भगवान् ब्रह्माजी ने स्वयं तप, धर्म, दान सत्य और तीर्थों की सृष्टि की। हे रघुवर, तप आदि की सृष्टि कर श्रीब्रह्माजी ने पुनः स्वयं विचार किया कि सृष्टिप्रवाह में पड़े हुए लोगों के दुःख का तप आदि से समूल विनाश नहीं हो सकता। निर्वाण (मोक्ष) परम सुख है, जिसके प्राप्त होने पर जीव न तो फिर जन्म लेता है और न मरता है। वह निर्वाण ज्ञान से ही प्राप्त होता है। अतः जीव के संसारसागर से पार होने का एकमात्र उपाय ज्ञान ही है ॥११–२२॥

तप, दान और तीर्थ संसारतरण के लिए 'न कर्मणा न प्रजया धनेन' (न कर्म से, न पुत्रोत्पादन से और न धनोपार्जन से ही मुक्ति हो सकती है) और 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः' (ये यज्ञ आदि कच्चे प्लव (छोटी डोंगी) हैं, इनसे संसारमुक्ति नहीं हो सकती) इत्यादि श्रुतियों में असाधन कहे गये हैं।

इसलिए मैं इन दीन–हीन लोगों के दुःख के समूल विनाश के लिए नूतन (मजबूत) संसारसागरतरण का उपाय शीघ्र प्रकट करता हूँ। यों विचार कर कमल पर बैठे हुए भगवान् ब्रह्माजी ने मन से संकल्प कर मुझे, जो तुम्हारे सामने बैठा हूँ, पैदा किया। पुण्यमय श्रीरामजी, जैसे एक तरंग से शीघ्र दूसरी तरंग होती है वैसे ही मैं भी अनिर्वचनीय मायावश ही उत्पन्न

हुआ और उत्पन्न होते ही तुरन्त पिताजी के समीप में उपस्थित हुआ। जिनके हाथ में कमण्डल एवं रुद्राक्ष माला शोभा पा रही थी, उन भगवान् ब्रह्माजी को कमण्डल और रुद्राक्षमाला से युक्त मैंने विनम्रतापूर्वक प्रणाम किया। मुझसे 'हे पुत्र, यहाँ आओ' कहकर उन्होंने अपने आसनरूप कमल की ऊपरी पँखुड़ी में सफेद बादलपर चन्द्रमा के समान मुझे अपने हाथ से बैठाया। मेरे पितृदेव ब्रह्माजी ने मृगचर्म पहन रक्खा था, उन्हींके अनुरूप मैं भी मृगचर्मधारी था। जैसे सुन्दर हंस सारस से कहे वैसे मृगचर्मधारी पितृदेव ब्रह्मा ने मृगचर्मधारी मुझसे कहा : हे पुत्र, जैसे चन्द्रमा में कलंक प्रविष्ट होता है वैसे ही वानर के समान चंचल अज्ञान एक मुहूर्त के लिए तुम्हारे चित्त में प्रवेश करे। वत्स रामचन्द्रजी, यों शीघ्र ब्रह्माजी से अभिशप्त हुआ मैं उनके संकल्प के अनन्तर ही अपना सारा निर्मल स्वरूप भूल गया। तदुपरान्त मैं जैसे किसी धनीका धन हर लेने से वह दीन–हीन हो जाता है वैसे ही दीन–हीन हो गया, तत्त्वविज्ञान से रहित और दुःख–शोकसे आक्रान्त मैं दिनपर–दिन जीर्णशीर्ण होने लगा। बड़े दुःख की बात है कि यह महाक्लेशदायक संसार नामक दोष कहाँ से मुझको प्राप्त हो गया ऐसा विचार करता था और किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करता था। तदुपरान्त पूज्य ब्रह्माजी ने मुझसे कहा : पुत्र, तुम क्यों दुःखी हो ? इस दुःख के नाशक उपाय को मुझसे पूछो। तदुपरान्त तुम अवश्य नित्यसुखी होओगे। तत्पश्चात् स्वर्णकमल की पँखुरी में बैठे हुए मैंने सम्पूर्ण लोकों के रचयिता श्रीब्रह्माजी से संसारदुःखकी औषधि पूछी। मैंने पूछा : भगवन्, यह महादुःखमय संसार जीव को कैसे प्राप्त हुआ और कैसे इसका विनाश होता है। यों मेरे द्वारा पूछे गये उन्होंने मुझको उस प्रचुर ज्ञान का उपदेश दिया, जिस परम पवित्र ज्ञान को जानकर मैं पिता के सर्वोत्कृष्ट तत्त्वज्ञान के समान परिपूर्णस्वभाव हो गया। तदुपरान्त जब कि मैंने ज्ञातव्य तत्त्व जान लिया था, अतएव मैं अपनी प्रकृति में स्थित हो गया था, तब जगत् के निर्माता, सबके कारण और उपदेशक ब्रह्माजी ने मुझसे कहा : पुत्र, मैंने शाप द्वारा तुम्हें अज्ञानी बनाकर समस्त अधिकारी लोगों की ज्ञान सिद्धि के लिए इस सारभूत ज्ञान का जिज्ञासु बनाया। वत्स, अब तुम्हारा शाप शान्त हो गया है, जैसे चिरकाल तक मल के संसर्ग से मानों सुवर्ण अभावता को प्राप्त हुआ सुवर्ण पुनः शोधन से पूर्वकालिक शुद्ध सुवर्ण रूपता को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही तुम्हारा औपाधिक अज्ञान नष्ट हो गया है, अब उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त हुए तुम मेरी नाईं अद्वितीय आत्मरूप हो गये हो॥२३–३९॥ हे सज्जनशिरोमणे, इस समय तुम लोकानुग्रह के लिए भूलोक में जम्बूद्वीप के मध्य में स्थित भारतवर्ष में जाओ। वत्स, वहाँ पर महामति तुम कर्मकाण्डपरायण लोगों को क्रम से शोभित होनेवाले कर्मकाण्डक्रम से ही उपदेश देना, क्योंकि 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्' (कर्म परायण अज्ञानियों की बुद्धि में सन्देह उत्पन्न नहीं करना चाहिए) ऐसा न्याय है, और जो लोग विचारशील विरक्त और अतीन्द्रिय तत्त्व के ग्रहण में समर्थ हों, उन्हें आनन्ददायक ज्ञानमार्ग का उपदेश देना। रघुवंशशिरोमणि, इस प्रकार पिता ब्रह्माजी द्वारा आज्ञप्त मैं इस लोक में रहता हूँ और जब तक इस लोक में अधिकारी पुरुष रहेंगे, तब तक रहूँगा। इस लोक में मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है, पर रहना चाहिए, यों विचार कर मैं अमनस्क

होकर यहाँ स्थित हूँ, अतएव अभिमानशून्य वृत्ति से रहता हुआ मैं अज्ञानियों की बुद्धि से कार्य करता हूँ, अपनी बुद्धि से तो कुछ भी नहीं करता, यह भाव है ॥४०–४४॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

ज्ञानप्राप्ति का विस्तार, श्रीरामचन्द्रजी के वैराग्य की स्तुति और वक्ता तथा प्रश्नकर्ता के लक्षण आदि का प्रधानतः वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे पुण्यचरित, ज्ञान का पृथिवी पर अवतरण, अपने जन्म, ज्ञानावरोध, पुनः ज्ञानप्राति आदि और श्री ब्रह्माजी का कार्य यह सब मैं आपसे कह चुका हूँ। अब आपका चित्त महान् पुण्य के उदय से उस ज्ञान के सुनने के लिए अति उत्कण्ठित हो रहा होगा ॥१,२॥

उक्त पुण्यपरिपाक की किन लक्षणों से पहचान करनी चाहिए एवं उस लक्ष्यभूत पदार्थ के उपदेश की प्रणालियाँ कैसी है ? इस बात को प्राचीन कथा के विस्तार के श्रवण द्वारा जानने के इच्छुक श्रीरामचन्द्रजी ने कहा :

ब्रह्मन्, सृष्टि करने के अनन्तर भगवान् ब्रह्माजी की बुद्धि इस लोक में ज्ञान के अवतारण के लिए किस प्रकार हुई ? कृपया उस प्रकार को विस्तार से कहिए ॥३॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : राजकुमार, जैसे सागर में तरंग बार बार उत्पन्न होती है वैसे ही प्रचुर क्रियाशक्ति से सम्पन्न ब्रह्मा अपने पूर्वजन्म की विद्या, कर्म और वासनाओं के प्रकर्ष से परम ब्रह्म में उत्पन्न हुए। उन्होंने विविध प्राणियों की सृष्टि करने के अनन्तर सृष्ट लोगों को इस प्रकार जन्म, मरण, नरक आदि से अपने अज्ञान के कारण दुःखी देखकर वर्तमान सृष्टि के दृष्टान्त से अतीत, वर्तमान और भविष्यकाल की सृष्टि की सम्पूर्ण अवस्थाओं का अनुमान कर लिया। विशेषरूप से स्वर्ग और मोक्ष के साधनों के अनुष्ठान के योग्य सत्ययुग आदि समय के क्षीण होने पर लोगों में सिक्का जमानेवाले अज्ञान का प्राबल्य देखकर भगवान् ब्रह्माजी को बड़ी दया आई। तदुपरान्त भगवान् ब्रह्माजी ने मेरी सृष्टि कर और बार बार उपदेश द्वारा मुझे ज्ञानसम्पन्न बनाकर लोगों के अज्ञान की शान्ति के लिए मुझे पृथिवी में भेजा। भगवान् ब्रह्मा ने इस लोक में जैसे मुझे भेजा वैसे ही सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, नारद आदि अनेक अन्यान्य महर्षियों को अधिकार के अनुसार पुण्य कर्मकाण्ड के उपदेश और ज्ञानकाण्ड के उपदेश द्वारा मन और अज्ञान रूपी महाव्याधि के वशीभूत लोगों का उद्धार करने के लिए भेजा। प्राचीन काल में सत्ययुग के बीतने पर कालक्रम से पृथ्वी पर वैदिक या राग, लोभ आदि से अनुपहत कर्मकाण्ड का ह्रास होने पर कर्मकाण्ड के संचालन और मर्यादा के रक्षण के लिए पृथक् पृथक् देशों का विभाग कर राजाओं की कल्पना की गई। पृथिवी में राजाओं की कल्पना होने पर राजाओं और प्रजाओं के धर्म का नियन्त्रण करने में समर्थ स्मृतिशास्त्र और यज्ञ की विधि के प्रतिपादक श्रोतसूत्र और गृह्यसूत्र तथा श्रौतगृह्यप्रयोगों का धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिए निर्माण किया गया। इस कालचक्र के परिवर्तित होने

पर फिर कर्मकाण्डक्रम नष्टभ्रष्ट हो गया, प्रतिदिन लोग भोजनमात्रपरायण और विषयों के अर्जन में तत्पर हो गये। ऐसी अवस्थामें राजाओं के देश या भोग्यपदार्थों के लिए परस्पर युद्ध होने लगे, इस प्रकार पृथ्वी में अनेक प्राणियों को दण्ड भोगना पड़ा (卐)। पहले युद्ध के बिना ही पृथ्वी के पालन में समर्थ होते हुए भी तदनन्तर राजा युद्ध के बिना पृथिवीपर शासन करने के लिए समर्थ नहीं हुए, इसका फल यह हुआ कि प्रजाओं के साथ राजा दीनता को प्राप्त हो गये। भाव यह कि देह में आत्मत्त्वबुद्धि से युद्ध आदि में देह का नाश होने पर आत्मा का नाश हो जायेगा, इस भय से वे दीनता को प्राप्त हो गये। तदनन्तर उन लोगों की दीनता को दूर करने के लिए और आत्मज्ञान के प्रचार के लिए हम लोगों ने ज्ञानवर्धक बड़े-बड़े दर्शनों का उपदेश किया। इस अध्यात्म विद्या का पहले राजाओं में उपदेश हुआ तदनन्तर इसका और लोगों में प्रसार हुआ, इस कारण श्रीवेदव्यास आदि ने इसको राजविद्या कहा है। हे राघव, राजा लोग राजविद्या, राजगुह्य आदि नामों से प्रसिद्ध उत्तम अध्यात्मज्ञान को जानकर अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुए, तदनन्तर उनमें किंचित् भी दुःख नहीं रहा। कालक्रम से निर्मलकीर्तिवाले अनेक राजाओं के कीर्तिशेष होने पर इन महाराज श्रीदशरथजी से आप श्रीरामचन्द्र इस पृथिवी में उत्पन्न हुए हैं ॥४-१९॥

परन्तप, आपके अतिनिर्मल मन में 'श्मशानमापदं दैन्यम्' इत्यादिसे आगे कहे जानेवाले दृष्ट निमित्तों के बिना ही पवित्रतम ज्ञानोत्पादन समर्थ वह उत्तम वैराग्य उत्पन्न हुआ है ॥२०॥

हे श्रीरामचन्द्र, सम्पूर्ण विवेकी पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ रुप से विख्यात साधु का सब विषयों में दृष्टनिमित्तपूर्वक ही राजस (🕮) वैराग्य होता है। श्रीरामजी, सत्पुरुषों को भी आश्चर्य में डालनेवाला अपने विवेक से उत्पन्न आपका यह सात्त्विक (✍) वैराग्य किसी निमित्त के बिना ही उत्पन्न हुआ है, ऐसा पहले कभी नहीं देखा गया है। बीभत्स (घृणाजनक) विषयों को देखकर किसको वैराग्य नहीं होता, किन्तु सत्पुरुषों का उत्तम वैराग्य विवेक से ही होता है। वे महापुरुष हैं, वे महाविद्वान हैं और उन्हीं का चित्त गंगाजल के समान निर्मल है, जिन्हें निमित्तके बिना ही वैराग्य होता है ॥२१-२४॥ हे परन्तप, केवल अपने विवेक से उत्पन्न तत्त्वपदार्थ के प्रति अभिमुखता से अन्य विषयों से विरक्त बुद्धि से युक्त पुरुष वैसा शोभित होता है जैसे कि वरमाला से युवा पुरुष शोभित होता है। विवेक से इस संसार रचना की दुःखरूपता का विचार कर जो लोग वैराग्य को प्राप्त होते हैं, वे ही श्रेष्ठ पुरुष हैं। अपने विलक्षण विवेकसे ही इस इन्द्रजालतुल्य प्रपंच का पुनः पुनः विचार कर हठपूर्वक इस मायिक बाह्य जगत् के साथ देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और अविद्या का परित्याग करना चाहिए। श्मशानभूमि, आपत्तियों और दीनता को देखकर किसे वैराग्य न होगा ? वही वैराग्य परम श्रेयका साधन है, जो स्वतः

卐 अथवा मूलस्थित 'द्वन्द्व' शब्द का अर्थ शीतोष्ण आदि द्वन्द्व करना चाहिए। उनके परिहार में उपायभूत विषयों के सम्पादन के लिए प्राणी राजाओं के दण्डनीय हुए, कारण कि विषयों की सिद्धि धनमूलक है और धन के लिए राजाओं ने प्रजा पर कर लगाया।

🕮 रजोगुण का कार्य दृष्ट दुःख के अनुभव से होता है अतएव राजस कहलाता है।

✍ केवल विवेकमात्र से उत्पन्न हुआ है अतएव सात्त्विक है।

उत्पन्न होता है। जैसे खूब जोता गया अतएव कोमल हुआ खेत बीज बोने के योग्य होता है वैसे ही स्वाभाविक वैराग्यरूपी अत्यन्त महत्त्व को प्राप्त हुए आप आत्मज्ञान के उपदेश के योग्य पात्र हैं ॥२५–२९॥

'तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच्च' (तप के प्रताप से और देवता की प्रसन्नता से 'यस्य देवे परा भक्तिः' (जिसकी देवता पर परम भक्ति होती है) और ईश्वरानुग्रहादेव पुसामद्वैतवासना। प्रसादादेव रुद्रस्य भवानीसहितस्य तु। अध्यात्मविषयं ज्ञानं जायते बहुजन्मभिः।' (ईश्वर की अनुकम्पा से लोगों की अद्वैतवासना होती है। श्रीभगवती पार्वती जी सहित भगवान् महादेवजी के प्रसाद से ही बहुत जन्मों के पश्चात् अध्यात्म ज्ञान होता है) इत्यादि श्रुति और स्मृतियों का अनुसरण करते हुए कहते हैं।

परम प्रभु भगवान् श्रीमहादेवजी की प्रसन्नता से आप जैसे सज्जनों की शुभ बुद्धि विवेक की ओर अग्रसर होती है ॥३०॥

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' (उस परमात्मतत्त्व को ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन, यज्ञ, दान और अविनाशी तप से जानने की इच्छा करते हैं) इत्यादि श्रुति के अनुसार कहते हैं। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, उपनयन, चार वेदव्रत, समावर्तन, विवाह, पाँच महायज्ञों का अनुष्ठान, अष्टका, पार्वण, श्राद्ध, उपाकरण, उत्सर्जन, चैत्र और आश्विन में होनेवाली नवसस्येष्टि–ये सात पाकयज्ञ; अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्श–पौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयणेष्टि, निरूढ पशुबन्ध, सौत्रामणी – ये सात हविर्यज्ञ; अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोड़सी, वाजपेय, अतिरात्र, आत्मोर्याम – ये सात सोमयज्ञ, ये चालीस संस्कार और सब भूतों में दया, क्षान्ति, अनसूया, शौच, आयासाभाव, मांगल्य, कार्पण्यका अभाव, अस्पृहा– ये आठ गुण जिसके हों वह सायुज्य को प्राप्त होता है–यों गौतमस्मृति में दर्शाये गये

कर्मकाण्ड के क्रम से, विपुल तपस्यासे, इन्द्रिय, प्राण और मन के नियमन से, दान से, तीर्थयात्राओं से और चिरकाल तक विचार करने से पापराशि के क्षीण होने के अनन्तर परमात्मचिन्तन करनेपर काकतालीयन्याय से (कौए के आने और ताल के गिरने के समान) संयोगतः सम्पन्न साधनों के संमिलन से प्राणी की बुद्धि विवेक की ओर अग्रसर होती है ॥३१,३२॥

ऐसी परिस्थिति में ब्रह्मजिज्ञासा के प्रयोजक विचार का उदय ही दुर्लभ है, यह भाव है।

जब तक परमपद का साक्षात्कार नहीं करते तब तक चक्र के समान लोगों को घुमानेवाले राग–द्वेष आदि से आवृत्त लोग कर्मकाण्डपरायण होकर इस संसार में पुनः पुनः जन्म–मरणरूप परम्परा को प्राप्त होते हैं ॥३३॥

श्रुति भी है 'मन्तरे वर्तमान स्वयं धीराः' (अविद्या में स्थित अपने को पण्डित माननेवाले मूढ जन अन्धों से ले जाये जा रहे अन्धों की नाईं पतन को प्राप्त होते हैं)।

इस संसार को असार और दुःखरूप जानकर और संसारमयी बुद्धि का परित्यागकर विद्वान्

लोग बन्धन–स्तम्भ से निर्मुक्त हाथियों की नाईं परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, वह संसारसृष्टि विषम और असीम है। देहाध्यास से युक्त महान् जीव भी कृमि, कीट आदि के सदृश ही है। ज्ञान के बिना परम पद को प्राप्त नहीं हो सकते। रघुवंशशिरोमणि, विवेकी लोग ज्ञानरूपी नौका से ही सुदुस्तर संसारसागर को एक पलकभर में पार कर गये हैं। संसाररूपी सागर से जीव को पार करानेवाले वक्ष्यमाण (आगे कहे जानेवाले) ज्ञानरूप उपाय को विचाराभ्यासपरायण तथा विवेक, वैराग्य आदि से युक्त बुद्धि से एकाग्र होकर सुनिए। इस अनिन्दित ज्ञानयुक्ति के बिना अनन्त विक्षेपों से पूर्ण ये संसारिक दुःखभीतियाँ चिरकाल तक हृदय को सन्तप्त करती हैं। हे राघव, साधुजनों में शीत, वात, धूप आदि दुःखद्वन्द्व ज्ञानयुक्ति को छोड़कर किस उपाय से सह्य होते हैं ? अर्थात् ज्ञान से अतिरिक्त किसी उपाय से सह्य नहीं होते। जैसे अग्नि की ज्वालाएँ तृण को जला डालती है, वैसे ही मूढ़ पुरुष को पदपद में (क्षण–क्षण में) दुःख–चिन्ताएँ प्राप्त होती हैं और जला डालती है। जैसे वर्षाकाल में सींचे गये वन को अग्नि जला नहीं सकती, वैसे ही जिसने ज्ञातव्य वस्तु जान ली है, ऐसे विवेकशील प्राज्ञ पुरुष को मानसिक व्यथाएँ सन्ताप नहीं पहुँचा सकती। शारीरिक और मानसिक पीड़ारूपी बवंडर से परिपूर्ण संसारूपी मरुस्थल में प्रसिद्ध वायु के तेज चलने पर भी तत्त्वज्ञानी पुरुष कल्पवृक्ष की नाईं उखाड़ा नहीं जा सकता यानी पीड़ित नहीं होता। इसलिए तत्त्वपदार्थ के ज्ञान के लिए बुद्धिमान् पुरुष को श्रुति आदि प्रमाण देने में अतिकुशल आत्मतत्त्वज्ञ बुद्धिमान् पुरुष से ही अनुगमन, साष्टांग प्रणाम, सेवा आदिरूप प्रयत्न से विनयपूर्वक प्रश्न करना चाहिए। जिज्ञासु द्वारा पूछे गये, श्रुति आदि प्रमाण देने में निपुण और विशुद्ध चित्त वाले वक्ता के वाक्य वैसे ग्रहण करने चाहिए जैसे कि रँगने के लिए घोले गये पक्के रंग में डुबाया गया वस्त्र रंग को पकड़ लेता है फिर उसे कभी नहीं छोड़ता ॥३४–४४॥

हे वक्ताओं में श्रेष्ठ श्रीरामजी, जो पुरुष तत्त्ववस्तु को नहीं जानता अतएव जिसका वचन ग्राह्य नहीं है, ऐसे पुरुष से जो प्रश्न करता है, उससे बढ़कर मूर्ख दूसरा कोई नहीं है। पूछे गये तत्त्वज्ञ प्रामाणिक वक्ता के उपदेश का जो प्रयत्न से आचरण नहीं करता, उससे बढ़कर नराधम दूसरा नहीं है। व्यवहार से वक्ता की अज्ञता और तत्त्वज्ञाता का पहले निर्णय कर जो पुरुष प्रश्न करता है, वह प्रश्नकर्ता महामति है। जो मूर्ख (परीक्षा द्वारा) प्रकृष्ट वक्ता का निर्णय किये बिना प्रश्न करता है, वह अधम प्रश्नकर्ता है और वह आत्मज्ञानरूप महान् अर्थ का पात्र नहीं हो सकता अर्थात् उसे कभी तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। प्राज्ञ पुरुष को चाहिए कि उक्त और अनुक्त का विवेचन कर निश्चय करने में जिसकी बुद्धि समर्थ हो और जो निन्दनीय न हो ऐसे पुरुष के लिए पृष्ट वस्तु का उपदेश दे पशु के जाड्य आदि धर्मों से युक्त अधम को कभी तत्त्व का उपदेश न दे ॥४५–४९॥ प्रश्नकर्ता की श्रुति आदि प्रमाणों से निर्णीत पदार्थ के ग्रहण की योग्यता का विचार किये बिना जो तत्त्व का उपदेश देता है, उसको प्राज्ञ पुरुष मूढ़तर कहते हैं ॥५०॥ हे रघुनन्दन, आप अत्यन्त श्रेष्ठ प्रश्नकर्ता है और मैं उपदेश देना जानता हूँ, इसलिए हमारा यह समागम सदृश है। हे शब्दार्थ के ज्ञाता श्रीरामजी, जिस

पदार्थ का मैं उपदेश देता हूँ उसको आप 'यह तत्त्व वस्तु है' ऐसा निश्चय कर प्रयत्नपूर्वक अपने हृदय में ज्यों–का–त्यों पूर्णरूप से धारण कीजिए। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप कुल, दया, दाक्षिण्य आदि गुणों और सदाचार आदि से महान् हैं, विरक्त हैं एवं तत्त्वज्ञ हैं, मुझसे जो कहा जायेगा वह जैसे वस्त्र में घोला हुआ रंग बैठ जाता है वैसे आपके हृदय के अन्तस्तर में बैठ जायेगा। आपकी उक्त पदार्थ के ग्रहण में निपुण मेघा है और परम तत्त्व का विचार करनेवाली प्रतिभा भी है। मेघा और प्रतिभा से सम्पन्न आपकी प्रज्ञा जैसे सूर्य की किरणें जल के अन्दर प्रवेश कर जाती हैं, वैसे ही प्रतिपाद्य अर्थ (तत्त्वज्ञान) में प्रवेश करती है। मैं जो कुछ कहूँ, उसे आप ग्रहण कीजिए और प्रयत्नपूर्वक उसे अपने हृदयमें स्थान दीजिए। यदि ऐसा आप न कर सकें, तो आपको मुझसे पूछना ही नहीं चाहिए, क्योंकि ऐसा पूछना निरर्थक है ॥५१–५५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, संसाररूपी वन का बन्दर मन बड़ा ही चपल है, उसको संस्कार द्वारा अपने वश में कर परमार्थतत्त्व का श्रवण करना चाहिए और फिर उसको प्रयत्न से हृदय में धारण करना चाहिए। विवेकशून्य, शास्त्र के अभ्यास से उत्पन्न ज्ञान से रहित एवं असाधु पुरुषों में प्रीति रखनेवाले पुरुष से अति दूर होकर चिरकालतक महात्माओं की सेवा करनी चाहिए। सदा सन्त–महात्माओं की संगति से विवेक उत्पन्न होता है। भोग और मोक्ष विवेकरूपी वृक्ष के ही फल कहे गये हैं। मोक्षद्वार के चार द्वारपाल कहे गये हैं –शम, विचार, सन्तोष और चौथा साधुसंगम। पहले तो इन चारों का ही प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिए। यदि चारों को सेवन की शक्ति न हो, तो तीनका सेवन करना चाहिए। तीनका सेवन न हो सकने पर दोका सेवन करना चाहिए। इनका भलीभाँति सेवन होने पर ये मोक्षरूपीराजगृह में मुमुक्षुका प्रवेश होने के लिए द्वार खोलते हैं। यदि दो के सेवनकी भी शक्ति न हो, तो सम्पूर्ण प्रयत्न से प्राणों की बाजी लगाकर भी इनमें से एक का अवश्य आश्रय लेना चाहिए। यदि एक वश में हो जाता है, तो शेष तीन भी वश में हो जाते हैं। जैसे अन्य तेजस्वियों में सूर्य सर्वश्रेष्ठ है वैसे ही विवेकवान् पुरुष सब लोगों में सिर के आभूषण के समान आदरणीय है। वह शास्त्र के श्रवण, मनन और निदिध्यासन का और ज्ञान का योग्य पात्र है। जैसे अधिक शीत पड़ने से जल घनीभूत होकर बर्फ बन जाता है, वैसे ही अविवेकियों की मूर्खता घनता को प्राप्त होकर अति कठिन हो जाती है ॥५६–६३॥ हे रघुकुलतिलक, आप तो जैसे सूर्य का उदय होने पर कमल विकसित होता है, वैसे ही सौजन्य आदि गुण एवं शास्त्रार्थ की दृष्टि से विकसित अन्तःकरणवाले हैं। हे सद्‌बुद्धि श्री रामजी, जैसे मृग आदि जन्तु ऊपर कान करके (कान खड़े करके) वीणा के शब्द को सुनते हैं वैसे ही आप इस ज्ञानमय वाणी को सुनने और समझने के योग्य हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप वैराग्य के अभ्यास आदि से सम्पूर्ण विनय आदि रूप सम्पत्तियों का उपार्जन कीजिये, जिनके प्राप्त होने पर नाश नहीं होता। पहले संसाररूप बन्धन से छुटकारा पाने के लिए शास्त्राभ्यास और सज्जनसंगतिपूर्वक तपस्या और इन्द्रियनिग्रह से प्रज्ञा को (विवेक के ग्रहण और धारण में निपुण बुद्धि को) ही बढ़ावें ॥५६–६७॥

प्रज्ञा की अभिवृद्धि में शास्त्राभ्यास ही उपाय है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

संस्कृत (विशुद्ध) बुद्धि से जो कुछ शास्त्र का अवलोकन, चिन्तन आदि किया जाता है, उसीको इस मूर्खता के विनाश का हेतु समझो। यह संसाररूपी विषवृक्ष आपत्तियों का एकमात्र घर है यह अज्ञानी पुरुष को सदा मोह में डालता है, इसलिए अज्ञान का यत्न से विनाश करना चाहिए। दुराशा से साँप की–सी कुटिल गति को धारण करनेवाली हृदय में हजारों विक्षेपरूप से व्याप्त मूर्खता से बुद्धि अग्नि में रक्खे हुए चमड़े की भाँति संकोच को प्राप्त होती है अर्थात् संकुचित कमल की नाईं मलिनता को प्राप्त होती है। जैसे मेघरहित और सम्पूर्ण निर्मल मण्डलवाले चन्द्रमा में दृष्टि प्रसन्नता को प्राप्त होती है वैसे ही यह पूर्वोक्त वस्तुदृष्टि (वस्तु यानी परमार्थरूप तत्त्व जिससे देखा जाता है) अर्थात् सूक्ष्मबुद्धि प्राज्ञ में, यथार्थवस्तु की एकरसता को प्राप्त होकर प्रसन्नता को प्राप्त होती है। जिसकी पूर्वापर के विचार से और अतिसूक्ष्म अर्थ के ग्रहण में अत्यन्त पटु तथा चतुरता से शोभित बुद्धि विकासयुक्त हो, इस लोक में वही 'पुरुष' कहा जाता है ॥६८–७२॥

मेरी बुद्धि विकासयुक्त है या नहीं, यों सन्देह कर रहे श्रीरामचन्द्रजी को आश्वासन देते हुए श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

हे श्रीरामजी, आपभी विकसित, अज्ञान का त्याग कर रहे अतएव विशुद्ध शान्ति आदि गुणों से शोभित एवं परमतत्त्व के विचार से शीतल बुद्धि से विराजमान है ॥७३॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

संसारप्राप्ति की अनर्थरूपता, ज्ञान का उत्तम माहात्म्य और
राम में प्रश्नकर्ता के गुणों की अधिकता का वर्णन।

अन्य लोगों के प्रति भी विवेक वैराग्य की अभिवृद्धि के लिए संसारप्राप्ति की अनर्थरूपता और ज्ञान के माहात्म्य को कहने के इच्छुक श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी को प्रवृत्त करने के लिए आप में केवल विकासयुक्त बुद्धि ही नहीं है, किन्तु और भी अनेक गुण हैं तथा प्रश्नकर्ता के सम्पूर्ण लक्षण आप में घटते हैं, इस प्रकार प्रशंसा द्वारा प्रोत्साहित करते हुए बोले :

हे रघुकुलकमलदिवाकर, आपका मन पूर्वोक्त गुणों से परिपूर्ण है और आप हमारे सामान्य हैं तथा आप प्रश्न करना जानते हैं, साधारणरूप से उक्त बात को भी विशेषरूप से आप जानते हैं, इसलिए मैं आदरपूर्वक आपको उपदेश देने के लिए उद्यत हुआ हूँ। रजोगुण और तमोगुण से रहित (रजोगुण से बुद्धि में चंचलता आती है और तमोगुण से आवरण होता है, इसलिए उक्त दोनों गुणों से शून्य होना आवश्यक है), इसीलिए शुद्ध सत्त्वगुणवाले परमात्मा की ओर प्रवृत्त होनेवाली बुद्धि को आत्मा में स्थापित कर अर्थात् स्वस्थ कर सुनने के लिए प्रवृत्त होईए। हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे समुद्र में रत्नसम्पत्ति (रत्नों से परिपूर्ण लक्ष्मी) रहती है वैसे ही प्रश्नकर्ता के सभी गुण आपमें विद्यमान हैं और वक्ता के (उपदेशक के) गुण मुझमें विद्यमान हैं ॥१–३॥ हे वत्स, जैसे चन्द्रमा के किरणों के संसर्ग से चन्द्रकान्त मणि आर्द्रता को

प्राप्त होती है, वैसे ही विवेक के संसर्ग से उत्पन्न वैराग्य को आप प्राप्त हुए हैं। जैसे कमल का चारों ओर फैले हुए एवं कभी नष्ट न होनेवाले दीर्घ तन्तुओं और सुगन्ध आदि से सम्बन्ध रहता है वैसे ही बाल्यावस्था से लेकर ही चिरकाल से शुद्ध आपका सब दिशाओं में फैले हुए एवं अविच्छिन्न शुद्ध सद्गुणों से सम्बन्ध है। इसलिए हे राघव, सुनिए, मैं आपसे यह मोक्षकथा कहूँगा, क्योंकि आप ही इस कथा के योग्य पात्र हैं अर्थात् श्रवणजनित प्रकृष्ट बोध के आधार हैं। शुद्ध (शुभ्र) कुमुदिनी चन्द्रमा के बिना विकासयुक्त नहीं हो सकती अर्थात् जैसे शुद्ध कुमुदिनी चन्द्रमामें ही (चन्द्रमा के उदित होने पर ही) विकसित होती है वैसे ही यह मोक्षकथा आप में ही विकास को प्राप्त होगी ॥४–६॥

इस कथा श्रवणरूप कार्य की अवधि कौन है ? ऐसी आशंका होने पर परम पदसाक्षात्काररूप विश्रान्ति ही उसकी विश्रान्ति है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

जो कोई कार्य हैं और जो कोई प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार हैं, वे सब कार्य और वे सब व्यवहार परब्रह्म परमात्मा के दर्शन होने पर सर्वथा शान्त हो जाते हैं ॥७॥

उक्त विश्रान्ति में अविश्वास का निराकरण करते हैं।

यदि विशुद्ध चित्तवाले पुरुष को विज्ञानरूप विश्रान्ति प्राप्त न हो, तो कौन विवेकशील पुरुष इस संसार में अनेक चिन्ताओं को सहेगा अर्थात् उनका सहन न हो सकने से आपकी नाईं देहत्याग के लिए उद्यत हो जायेगा। केवल बाह्य व्यवहार ही शान्त नहीं होते, किन्तु मानसिक व्यवहार भी शान्त हो जाते हैं। जैसे हिरण्यगर्भ की आयु की समाप्ति को प्राप्त होकर हिमालय आदि कुलपर्वतों की बड़ी–बड़ी चट्टानें कल्पान्त के सूर्यों के संसर्ग से चूर्ण–चूर्ण हो जाती हैं वैसे ही परमात्मा का साक्षात्कार होने पर सम्पूर्ण मानसिक प्रवृत्तियाँ लीन हो जाती हैं ॥८॥

भगवती श्रुति भी कहती है – 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंश्याः। क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥' (परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थियाँ (काम आदि) टूट जाती हैं, सम्पूर्ण सन्देहों की निवृत्ति हो जाती है और सब कर्म क्षीण हो जाते हैं।)

हे श्रीरामचन्द्रजी, संसाररूपी विष के आवेश से हुई विषूचिका (हैजा) बड़ी कष्टदायिनी है, वह पवित्रतम जीव और ब्रह्म के ऐक्यज्ञानरूपी गारुड़मन्त्र से शान्त होती है। विषभक्षण से भी विषूचिका होती है और वह विषसंशोधन से शान्त हो जाती है। उक्त मन्त्ररूपी परमार्थज्ञान (जीवब्रह्मैक्यज्ञान) संतों के साथ शास्त्रचिन्तन करने से प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। इस अधिकारी जन्म में विचार करने पर अवश्य ही सम्पूर्ण दुःखों का विनाश होता है, ऐसा समझना चाहिए, इसलिए विचारवान् लोगों को अनादर दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। जैसे साँप अपनी जीर्ण त्वचा का परित्याग कर सन्तापरहित और शान्त हो जाता है वैसे ही विचारवान् पुरुष मानसिक व्यथाओं की पेटी के समान इस सम्पूर्ण जगत् का त्याग कर सन्तापरहित और शान्तहृदय हो जाता है। सम्यग्दर्शनवान् पुरुष इस सम्पूर्ण जगत् को विनोद से इन्द्रजाल की नाईं देखता है, जिसे सम्यक् ज्ञान नहीं हुआ है, उसीके

लिए यह जगत् परम दुःखदायी है। यह संसारानुराग अत्यन्त विषम (क्लेशदायक) है। यह निःशंक ही संसार में आये हुए पुरुषों को साँप के समान डँसता है, तलवार के समान काटता है, भाले के समान बेधता है, रस्सी के समान जकड़ देता है–हाथ–पैर बाँध देता है, अग्नि के समान जलाता है, रात्रि के समान अन्धा बना डालता है, सिर पर गिरे हुए पत्थर के समान मूर्छित कर देता है, विचारदृष्टि को हर लेता है, मर्यादा को नष्ट कर डालता है, पुरुष को मोहरूप अन्धकूप में गिरा देता है, इस संसार में तृष्णा मनुष्य को जर्जर कर डालती है अर्थात् जैसे रस निकालने के लिए सोम रगड़कर निचोड़ा जाता है वैसे ही मनुष्यों के अंग–प्रत्यंग को शिथिल कर डालती है। बहुत क्या कहें, ऐसा कोई दुःख नहीं है, जो संसारी पुरुष को प्राप्त न हो ॥७–१४॥ मल–मूत्र आदि के नगररूप शरीरों में (पुत्र, कलत्र आदि पोष्य जनोंमें) पुरुष को अनुराग से बाँधनेवाली यह विषयविषूचिका दुरुच्छेद्य (अकाट्य) है। यदि इसकी चिकित्सा न की जाय, तो आगे कही जानेवाली हजारों नारकीय दुर्गतियों को प्राप्त कराती है। जहाँ जीवों को पत्थर खाने पड़ते हैं, तलवारों से उनके टुकड़े–टुकड़े किये जाते हैं, पर्वतों की चोटियों से वे गिराये जाते हैं, पत्थरों से मारे जाते हैं, आग से जलाये जाते हैं, बर्फ से सदा तर रक्खे जाते हैं, अंग–प्रत्यंग कुल्हाड़े, कैंची आदि से काटे जाते हैं, चन्दन की नाईं पत्थरों पर घिसे जाते हैं, तलवार के समान तीक्ष्ण पत्तेवाले वृक्षों के वन में दौड़ना पड़ता है, घुनों का–सा व्यवहार होता है अर्थात् सर्वांग में काठ के यन्त्रों से पीड़ा पहुँचाई जाती है, तपाई गई लोहे की बड़ी–बड़ी जंजीरों से शरीर को लपेटा जाता है, काँटेदार झाडुओं से शरीर बुहारा जाता है (त्वचारहित किया जाता है), जिनसे सदा आग की लपटें निकलती रहती हैं, ऐसे युद्ध में छोड़े गये बाणों की धारावाहिक वृष्टि होती है, छाया और पानी के बिना ग्रीष्मकाल बिताना पड़ता है, अतिशीत धारागृहों में लगातार झरनों की वृष्टि होती है, पहले काटे गये सिर के पुनः उगने पर फिर–फिर उसका काटना होता है, सुखपूर्वक नींद की तो वहाँ बात भी नहीं होती, मुँह को ढककर श्वास–प्रश्वास भी रोक दिया जाता है, अंगों की निम्नता और उन्नतता से विसंष्ठुल (विषम अवयव) होने के कारण व्यवहार की अयोग्यता होती है, यह सब महासम्पत्ति की अभिवृद्धि के समान सहना पड़ता है (✍) ॥१५,१६॥

✍ इस श्लोक का दूसरा अर्थ टीकाकारों ने यों किया है–पत्थर खाना, तलवार द्वारा अंगछेदन, पर्वत के शिखर से निपातन और पत्थरों की मार को हिमसेक की नाईं सहन करना पड़ता है; कुल्हाड़े और कैंची द्वारा हाथ, पैर आदि अंगों का कर्तन चन्दनलेप की भाँति सहना पड़ता है; असिपत्रवाले वृक्षों के वन में दौड़ना, घुन के समान काठ के यन्त्र में जकड़ा जाना तथा लोहे की गर्म जंजीरों से शरीर को लपेटना देहसंस्कार की नाईं सहना पड़ता है; अग्नि की ज्वाला को बरसा रहे भयानक बाणों की लगातार वृष्टि ग्रीष्मकाल में विनोद के लिए बनाये गये धारा–गृहों के फुव्वारों की वृष्टि के समान सहनी पड़ती है; शिर के कटने से हुई मृत्यु निद्रासुख के समान सहनी पड़ती है; मुँह बन्द करने से बलपूर्वक किया गया मूकीभाव स्वाभाविक मूकमुद्रा के समान सहना पड़ता है एवं अंगों की छोटाई–बड़ाई से उत्पन्न अकिंचित्करता महती सम्पत्ति की वृद्धि के समान सहनी पड़ती है।

दुःख देने के स्थान तो अनन्त हैं, उनकी तो गणना ही नहीं हो सकती, यह तो केवल दिङ्मात्र का प्रदर्शन है, यों दर्शाकर उसका उपसंहार करते हुए प्रकृत में उनके वर्णन की उपयोगिता कहते हैं।

हे राघव, नश्वर देहों, परतन्त्रतापूर्ण एवं इस प्रकार की हजारों कष्टप्रद चेष्टाओं से अतीव क्लेशकारक इस संसार में अवहेलना (अनादर) नहीं करना चाहिए, आगे कही जानेवाली रीतिसे विचार करना चाहिए और वक्ष्यमाण रीति से ही निश्चय करना चाहिए कि शास्त्र के विचार से कल्याण होता है ॥१७॥

शास्त्र के विचार से कल्याण होता है, यह निश्चय कैसे हो ? क्योंकि शास्त्रविचार में परायण माण्डव्य आदि की भी हजारों दुर्दशाएँ देखी गई हैं, इस शंका का परिहार करते हुए विद्या की दृष्टफलता का प्रतिपादन करते हैं।

हे रघुकुलनन्दन, ज्ञानरूपी कवच से गुप्त शरीरवाले अतएव दुःख के सर्वथा अयोग्य भी ये ध्यानपरायण महामुनि, मन्त्रजपनिरत ऋषि, यज्ञ–याग आदि करनेवाले ब्राह्मण एवं जनक आदि राजा अज्ञानियों के समान मनोवृत्ति से होनेवाली पूर्वोक्त अनेक प्रकार की संसारपीड़ा का अनुभव करते हुए रहते हैं, ऐसा यदि तुम्हारा ख्याल है, तो वे कैसे सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं ? ॥१८॥

उनकी स्थिति कैसी है ?

इस लोक में कौतुकरहित (कौतुक से–विषय के दर्शन और उपभोग में उत्साह से–शून्य), विविध विकल्पों से होनेवाले चित्तविक्षेपों से भी रहित, आत्मरूपी दीपक जिन्हें प्राप्त हो गया है, अतएव विशुद्ध बुद्धिवाले नरश्रेष्ठ जगत् में इस प्रकार पूर्णकामरूप से स्थित हैं, जिस प्रकार कि हरि, हर और ब्रह्मा आदि देवता स्थित हैं ॥१९॥ गुरु आदि केसाथ विचार कर पदार्थ का परिशोधन होने पर पहले स्थूल आदि शरीरों में तादात्म्याध्यास से जो आत्मसादृश्य था, वह जिसका निवृत्त हो गया है, उस अधिकारी पुरुष को 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के अर्थ के विचार से तत्त्व के ज्ञात होने पर, मनन द्वारा असंभावना और विपरीत भावना के निराकरण से अपरिच्छिन्न आत्मा के विदित होने पर, निदिध्यासन द्वारा विपरीतभावनाशून्य बुद्धि से ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर मोह के नष्ट होने एवं अति निविड़ भ्रम ज्ञान के विलीन होने पर यह जगत् का भ्रमण मनोविनोद (आनन्दसाधन) ही है, दुःखकारी नहीं है ॥२०॥ हे रामचन्द्रजी, और भी सुनिए, चैतन्यमात्रस्वभाव परमार्थ वस्तु के प्रसन्न होने और हृदय में उत्कृष्ट शान्ति का आविर्भाव होने पर सम्पूर्ण बुद्धिवृत्तियों के शान्तिरसास्वादरूप होने पर अन्तःकरण ब्रह्मरसास्वादपूर्वक विषमतारहित स्वभाव को प्राप्त होता है। तब बुद्धि से तत्त्व का साक्षात्कार होने पर यह जगत् का भ्रमण आनन्दमय हो जाता है, अतः जो आनन्दसाधनता कही, वह ठीक ही है। कटे हुए वृक्ष के समान जड़ शरीर रथ है, इन्द्रियों की विषयाभिमुख प्रवृत्ति घोड़ों की गतिचातुरी है, जिससे घोड़ों का इधर उधर परिचालन किया जाता है अर्थात् लगाम प्राणप्रधान मन है ऐसे रथ आदि के प्रापण से जिसे आनन्दरूप विषयप्राप्त होते हैं वह देही

(आत्मा) समाधि में परमात्मा ही है। व्यवहारकाल में बुद्धि आदिके परिच्छेद से भले ही रथी सूक्ष्म हो। तत्त्व का साक्षात्कार होने पर इस प्रकार का शुद्ध, बुद्ध, आनन्दघन मैं विहार कर रहा हूँ, यों विशुद्ध दृष्टि से जगत् का भ्रमण रमण ही है–क्लेशकर नहीं है ॥२१,२२॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

जीवनमुक्तिरूप फल के हेतु वैराग्य आदि गुणों का एवं शम का विशेषरूप से वर्णन।

वैराग्य, शान्ति आदि साधनों का आगे वर्णन करनेवाले श्रीवसिष्ठजी इस समय प्रस्तुत जीवन्मुक्तिस्थिति का वर्णन करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, इस दृष्टि का अवलम्बन कर सुबुद्धिमान् तत्त्वज्ञ महापुरुष इस संसार में ऐसे विचरते हैं, मानों उन्हें महान् साम्राज्य प्राप्त हो गया हो। वे लोग न तो अशुभ के लिए शोक करते हैं और न शुभ की कामना करते हैं अतएव वे उनके साधनों की भी याचना नहीं करते। वे सब कुछ करते भी हैं फिर भी कुछ नहीं करते। हेय और उपादेय के पक्षपात से रहित एवं अपनी आत्मा में स्थित वे असंग आत्मा के साक्षात्कार से निर्लेप रहते हैं, शास्त्रीय स्वच्छ कर्म करते हैं और सन्मार्ग में जाते हैं ॥१–३॥ वे अन्य लोगों की दृष्टि से आते हैं और जाते हैं पर अपनी दृष्टि से न आते हैं और न जाते हैं, अन्य की दृष्टि से करते हुए एवं बोलते हुए भी अपनी दृष्टि से न करते हैं और न बोलते हैं ॥४॥

क्योंकि 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव समना अमना इव' (तत्त्वज्ञ पुरुष अन्य की दृष्टि में चक्षुयुक्त होता हुआ भी अचक्षु के सदृश है और अन्य की दृष्टि से कर्णयुक्त होता हुआ भी कर्णरहित है, अन्य की दृष्टि से मनयुक्त होता हुआ भी मन से रहित–सा है) ऐसी श्रुति है।

हेय और उपादेय से जो कोई यज्ञ–याग आदि कार्य हैं और जो कोई प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार हैं, वे सब परमतत्त्व के ज्ञात होने पर क्षीण हो जाते हैं ॥५॥ सम्पूर्ण अभिलाषाओं से रहित शान्तिपूर्ण तथा ब्रह्माकारत्व को प्राप्त मन चन्द्रबिम्ब में बैठे हुए स्वर्गी के समान चारों ओर से सुख को प्राप्त होता है ॥६॥ विषयों का बार–बार स्मरण करना और विषयों की प्राप्ति में कुतूहल ही विक्षेप के हेतु हैं, उनके अभाव में विक्षेपरहित सुख होता है। जैसे चन्द्रमा में अमृत नहीं समाता वैसे ही विषय मननरहित और सम्पूर्ण विषयकौतुक से शून्य सुखरूपता को प्राप्त हुआ मन आत्मा में ही नहीं समाता ॥७॥ सुखरूपता को प्राप्त हुआ मन न तो मायिक विक्षेपों को करता है और न विक्षेपों की जननी वासना के प्रति दौड़ता है, किन्तु बालकों जैसी भ्रममूलक चंचलता का त्याग कर अनादिसिद्ध आत्मसुखरूप हो विराजमान होता है। इस प्रकार की स्थिति आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से ही प्राप्त होती है, अन्य उपायों से नहीं ॥८,९॥ इसलिए पुरुष को जीवनपर्यन्त विचार द्वारा आत्मा का ही पुनः पुनः श्रवण और मनन करना चाहिए, आत्मा का ही निदिध्यासन करना चाहिए एवं श्रवण और मनन तथा निदिध्यासन द्वारा

आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए, इसके सिवा पुरुष का और कुछ कर्तव्य नहीं है। जिस अधिकारी को अपने अनुभव, शास्त्रवचन और गुरु के उपदेशकी एकार्थनिष्ठता का निश्चय हो, उसे नित्य निरन्तर किये गये श्रवण, मनन आदि के अभ्यास से आत्मा का साक्षात्कार होता है। शास्त्र और उसके अर्थ की अवहेलना करनेवाले, तत्त्वज्ञानी पूज्य पुरुषों की उपेक्षा करनेवाले मूढ़ों की तुलना को कभी भी प्राप्त न हो, चाहे कितने ही बड़े क्लेश क्यों न भुगतने पड़ें। पृथ्वी में मनुष्यों को ज्वर आदि शारीरिक क्लेश से, विष से, आपत्तियों से और मानसिक चिन्ताओं से वैसा क्लेश नहीं होता जैसा कि अपने शरीर में स्थित एक मूर्खता से क्लेश होता है। जिन लोगों की बुद्धि में थोड़ी बहुत भी व्युत्पत्ति हो गई है, इस शास्त्र के सुनने से जिस प्रकार उनकी मूर्खता की निवृत्ति होती है वैसे अन्य किसी शास्त्र के श्रवण से नहीं होती। यह शास्त्र अतिसुखदायी है, यथायोग्य अनेक दृष्टान्तों से इसकी सुन्दरता कहीं अधिक बढ़ गई है और किसी भी शास्त्र से यह विरुद्ध नहीं है। जिसे आत्मा का साक्षात्कार अभीष्ट है, उस नरश्रेष्ठको अवश्य इसका श्रवण करना चाहिए ॥१०–१५॥ हे रामजी, जो दुस्तर आपत्तियाँ हैं और जो अति नीच कुत्सित योनियाँ हैं वे सब, जैसे खदिर से काँटे उत्पन्न होते हैं वैसे ही, मूर्खता से पैदा होती हैं। मिट्टी के पात्र को (सकोरे को) हाथ में लेकर चाण्डालों की टोली में भीख माँगने के लिए दर–दर घूमना अच्छा है, पर मूर्खतापूर्ण जीवन अच्छा नहीं है। निर्जन स्थान में, अति भयानक अन्ध कूप में एवं पेड़ों के खोखलों में अन्धा कीड़ा होना अच्छा है, पर अतिदुःखदायी मूर्खता अच्छी नहीं है। यह संसारी पुरुष मोक्ष के उपायभूत इस शास्त्ररूप प्रकाश को पाकर फिर मोहान्धकार में भी अन्धता को प्राप्त नहीं होता। तभी तक तृष्णा मनुष्यरूपी कमल को संकुचित करती है जब तक विवेकरूपी सूर्य की निर्मल प्रभा का उदय नहीं होता। हे राघव, संसारदुःख से छुटकारा पाने के लिए मेरे सदृश आत्मीयों के साथ गुरुपदेश और शास्त्र के प्रमाण से अपने स्वरूप को जानकर जैसे इस संसार में जीवन्मुक्त हरि, हर आदि विचरण करते हैं और जैसे अन्यान्य जीवन्मुक्त महर्षि विचरण करते हैं वैसे ही आप भी विचरण कीजिए। हे रघुकुलतिलक, इस संसार में, अनन्त दुःख हैं, सुख तिनके के टुकड़े के बराबर बिलकुल ही नगण्य हैं, इसलिए दुःखों से सराबोर (परिपूर्ण) सुखों में कभी भी आदर नहीं करना चाहिए। ज्ञानवान् पुरुष को पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए जो वस्तु असीम और क्लेशलवविरहित है, उस ज्ञानरूप वस्तु को प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना चाहिए। हे रामजी, वे ही सज्जन परम पुरुषार्थ के भाजन हैं और वे ही पुरुष श्रेष्ठ हैं, जिनका सर्वोत्कृष्ट वस्तु में (परब्रह्म में) लीन मन परमशान्त है। जो दुरात्मा राज्य आदि सुखों में उत्तम भोगों के आस्वादमात्र से सन्तुष्ट हैं, उन्हें आप अन्धे मेढक समझिए। मेढक कुएँ में रहने से बाहर नहीं देख पाता, उसमें भी यदि अन्धा हो, तो कहाँ से देखेगा, यह भाव है। जो लोग वंचक, प्रबल दुराचारियों, वैषयिक सुखों का भोग करनेवाले और मित्र जैसे दिखाई देनेवाले वास्तव में शत्रुओं पर आसक्त हैं, वे लोग संकट से संकट को , दुःख से दुःख को, भय से भय को और नरक से नरक को प्राप्त होते हैं। वे लोग मूर्ख हैं और अज्ञान से उनकी बुद्धि मन्द पड़ गई है।

'सुख के पश्चात् दुःख होता है और दुःख के पश्चात् सुख होता है, घटीयन्त्र के समान लगातार भ्रमण कर रहा पुरुष पुनः पुनः सुख और दुःख को प्राप्त होता है' इत्यादि वाक्यों से सुख और दुःख की परस्पर विनाशिता कही गई है, अतः यह संसारी पुरुष कभी विश्रान्ति को प्राप्त नहीं होता। सुख और दुःख की अवस्था बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर है। जो लोग आपके सदृश वैराग्ययुक्त, सम्यक् विवेकी और महात्मा हैं, भोग और मोक्ष के एकमात्र भाजन वे पुरुष वन्दनीय हैं। परम विवेक का अवलम्बन कर वैराग्य और अभ्यास से आपत्तिरूप यह भीषण संसार नदी पार करनी चाहिए। विष के समान तीव्र मूर्छा देनेवाले इन मिथ्याभूत वंचनोपायों में नहीं सोना चहिए। इस संसार को प्राप्त कर जो पुरुष अवहेलना से रहता है वह जल रहे तृणमय घर के विस्तार में गहरी नींद सोता है ॥१६–३३॥

संसार के सिवा कोई अन्य स्थान ही नहीं है, फिर किसका अवलम्बन करके संसार में अरति करनी चाहिए ? ऐसी आशंका कर कहते हैं।

जिसको प्राप्त कर पुनः नहीं लौटते और जिसे प्राप्त कर फिर शोक नहीं होता, वह उत्तम पद केवल बुद्धिमात्र से प्राप्य है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥३४॥

पुराणों में भी कहा है– असत्यस्मिन् जगन्नाथे अन्धीभूतमिदं भवेत् । सूर्येणेव विहीनत्वान्निरालोकं जगद् यथा। (यदि जगदधिपति परमात्मा न होते, तो सूर्य से विहीन अन्धकारपूर्ण जगत् के समान यह सब प्रपंच अन्धकारमय हो जाता।) श्रुति भी है– 'असन्नेव स भवति' (वह असत् ही हो जाता है जो ब्रह्म को असत् जानता है जो ब्रह्म है यों ब्रह्म की सत्ता को जानता है, उसे 'सत्' कहते हैं।) सन्दिग्धे परलोकेऽपि वरं श्रुतिपथाश्रयः। यदि न स्यात् तदा किं स्याद्यदि स्यान्नास्तिको हतः॥ (परलोक के सन्देहास्पद होने पर भी श्रुतिप्रतिपादित मार्ग का अवलम्बन करना उत्तम है, यदि परलोक न हो, तो उत्तम कर्म करने से अपना क्या बिगड़ा, यदि हो, तो नास्तिक के मुँह में थप्पड़ लगा।) इस न्याय से सन्देह करनेवाले के प्रति कहते हैं।

यदि थोड़ी देर के लिए मान भी लिया कि ब्रह्म नहीं है तो भी उसके विचार से आपका कौन दोष होगा, यदि है, तो उसके विचार से आप संसारसागर को पार कर जायेंगे ॥३५॥

ऐसी अवस्था में सभी लोग मोक्ष के लिए प्रवृत्त क्यों नहीं होते, ऐसी शंका कर 'यावन्नाऽनुग्रहः साक्षाज्जायते परमेशितुः। तावन्न सद्गुरुं कश्चित् सच्छास्त्रं वाऽपि विन्दति॥' (जब तक साक्षात् परमेश्वर की असीम अनुकम्पा नहीं होती तब तक वह सद्गुरु या सत् शास्त्र को नहीं पाता) इत्यादि वचन से ईश्वर के अनुग्रह से प्राप्त होनेवाली मोक्षभाजनता से शोभित महान् लोगों की ही प्रवृत्ति मोक्षसाधन में होती है, सबकी नहीं, ऐसा कहते हैं।

इस लोक में जब पुरुष की मोक्ष के उपाय के विचार में प्रवृत्ति होती है तब वह शीघ्र मोक्षभागी कहा जाता है। प्रवृत्ति का फल मोक्षाभागिता प्रवृत्तिरूप लिंग से अनुमेय है, यह भाव है ॥३६॥

देह, इन्द्रिय और विषय से शून्य केवलीभाव (अद्वैतभाव) में हेतु इस शास्त्र से क्या प्रयोजन

है, देह आदि के रहने पर ही दूसरे उपायों से भी स्वर्गादिसुख हो सकता है, ऐसी शंका कर कहते हैं।

विनाशरहित, किसी प्रकारकी अशुभ आशंका से रहित, स्वस्थतायुक्त एवं विशिष्ट भ्रम से रहित सुख केवलीभाव के बिना तीनों भुवनों में कहीं नहीं है। स्वर्ग आदि विनाशी है, उनमें पतन की शंका सदा बनी रहती है और दूसरे के उत्कर्ष में चित्त अस्वस्थ भी बना रहता है, इसलिए केवली भाव ही पुरुषार्थ है। प्रवृत्ति होने पर केवलीभावकी प्राप्ति होती है। केवलीभाव की प्राप्ति होने पर क्लेश नहीं होता। न धनसम्पत्ति उपकार करती है, न मित्र उपकार करते हैं और न बन्धुबान्धव ही उपकार करते हैं। न प्रणाम आदि, न तीर्थयात्रा आदि, न उपवास, तीर्थवास उपकार करते हैं, केवल एकमात्र श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनरूप पुरुषप्रयत्न से एवं द्वैतवासनाविरोधी ब्रह्माकार दृढ़वासना के तुल्य विषयवाले कर्म से साध्य साक्षात्कार से हुए केवल मनोमात्ररूप द्वैतके मूलोच्छेदरूप जय से वह पद प्राप्त किया जाता है। देह, इन्द्रिय आदि से आत्मा का पृथक्करणरूप विवेकमात्र से प्राप्त होनेवाला एवं श्रवण, मनन, निदिध्यासन से असम्भावनादिका निराकरणरूप विचार और एकाग्रता से निश्चय करने के योग्य वह उत्तम पद विषयों का त्याग कर रहे पुरुष द्वारा प्राप्त किया जाता है। सुखसेव्य आसन पर बैठे हुए और स्वयं उसका विचार कर रहे पुरुष को उक्त पद प्राप्त करके न तो शोक होता है और न फिर वह उत्पन्न ही होता है। उसको विद्वान् लोग संसार में साररूप से प्रसिद्ध सुखों के आसारों का (वेगवती वृष्टियों का) मेघरूप परम अवधि कहते हैं और ध्यान करनेवालों में जिससे अत्युत्तम आनन्द रस का आविर्भाव होता है। – ऐसा परम रसायन कहते हैं॥३७–४३॥ स्वर्ग और मनुष्यलोक में सम्पूर्ण भावों के विनाशशील होने से जैसे मृगतृष्णा में जल नहीं होता, वैसे इन दोनों में सुख है ही नहीं। इसलिए शान्ति और सन्तोष का एकमात्र साधन मन के विजय का विचार करना चाहिए। उससे परमात्मा में एकरसतारूप आनन्द प्राप्त होता है। राक्षस, दानव, देवता या मनुष्य को बैठते, चलते, गिरते, घूमते मन के विजय से उत्पन्न तथा प्रफुल्ल (विकसित) शमरूपी (शान्तिरूपी) पुष्पों से युक्त विवेकरूपी उत्कृष्ट वृक्ष का (कल्पवृक्ष का) फल (परम सुख) प्राप्त करना चाहिए॥४४–४७॥

उक्त सुख के प्राप्त होने पर भी फिर व्यवहार में प्रसक्ति होने पर वह नष्ट हो जायेगा, इस शंका पर कहते हैं।

व्यवहार में संलग्न होने पर भी कार्यजन्य फल को न प्राप्त हो रहे पुरुष द्वारा आकाशस्थित सूर्य के समान परिपूर्ण होने पर भी हेय न होने के कारण उक्त परम सुख न तो छोड़ा जाता है और परिपूर्ण होने के कारण न चाहा जाता है अर्थात् जैसे आकाशस्थित सूर्य द्वारा परिपूर्ण होने पर भी कल्पवृक्ष का फल हेय न होने के कारण नहीं छोड़ा जाता और परिपूर्ण होने के कारण वे उसकी अभिलाषा भी नहीं करते, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए॥४८॥

मन के रहने पर चाह क्यों न होगी ? इस पर कहते हैं।

प्रशान्त, अतिनिर्मल, विश्रान्ति–सुख से पूर्ण, भ्रमरहित, स्पृहारहित और अभीष्टशून्य

मन न तो किसी वस्तु की अभिलाषा करता है और न किसीका त्याग करता है। श्रीरामजी, पूर्व में उक्त भी इस समय विस्तारपूर्वक कहे जा रहे मोक्ष के द्वार–पर स्थित इन द्वारपालों को क्रमशः सुनिए, उनमें से एकपर भी आसक्ति होने से मोक्ष के द्वार में प्रवेश प्राप्त हो जाता है ॥४९,५०॥

सर्ग की समाप्ति तक शम का वर्णन करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

सुख की आशारूप तृषाताप के तुल्य दोषदशा से दीर्घ संसाररूपी मरुमण्डली शम से चन्द्रमा की प्रभा के समान शीतलता को प्राप्त होती है। शम से कल्याण प्राप्त होता है, शम परम पद है, शम शिव है, शम भ्रान्ति का निरास है। शम से तृप्त, शीतल और निर्मल आत्मावाले एवं शम से जिसका चित्त विभूषित है, उसका शत्रु भी मित्र बन जाता है। शमरूपी चन्द्रमा से जिनका आशय अलंकृत है, क्षीरसागरों की नाईं उनमें परमशुद्धता उत्पन्न होती है अर्थात् जैसे क्षीरसागरों में अतिशुभ्रता विराजमान रहती है वैसे ही उनमें शुद्धता का साम्राज्य रहता है। जिन सज्जनों के हृदयरूपी कमलकोषों में शमरूपी कमल विकसित है, दो हृदयकमलवाले वे लोग भगवान् श्रीविष्णु के तुल्य हैं। भाव यह कि विष्णु भगवान् का हृदयकमल ही बाहर ब्रह्मा का आसन है, अतः वह दो प्रकार का है। जिनके कलंकरहित मुखचन्द्र में शम श्री शोभित होती है, अपने सौन्दर्यरूप गुणों से जिन्होंने अन्य लोगों के नेत्र, मन आदि इन्द्रियाँ अपने वश में कर लीं हैं, वे कुलीनशिरोमणि हैं और वन्दनीय हैं। तीनों लोकों के मध्य में स्थित राज्यलक्ष्मी वैसे आनन्द के लिए नहीं होती जैसे कि (केवल आकार से ही) साम्राज्यसम्पत्ति के सदृश (न कि अन्य गुणों से) शम–सम्पत्ति आनन्द के लिए होती है। जो विविध दुःख हैं, दुःसह तृष्णाएँ हैं और दुष्ट मानसिक चिन्ताएँ हैं, वे सब शान्तचित्तवाले पुरुषों में इस प्रकार नाश को प्राप्त होते हैं, जैसे कि अनेक सूर्यों के प्रकाश में अन्धकार विनष्ट हो जाता है। शान्त (शमवान) पुरुष के दर्शन से सब प्राणियों का मन जैसी कौतुकपूर्ण प्रसन्नता को प्राप्त होता है, चन्द्रमा के दर्शन से वैसी प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती। शान्तियुक्त और सब प्राणियों में प्रेम करनेवाले सज्जनतम पुरुष में परम तत्त्व स्वयं ही (अनायास) प्रसन्नता को (निर्मलता को) प्राप्त होता है। हे रामजी, जैसे प्राणियों का अपनी माता पर विश्वास होता, वैसे ही क्रूर, कुटिल और मृदु सब प्राणियों का शमवान पुरुष पर विश्वास होता है। पुरुष को इन्द्रपद प्राप्त होने पर अमृत के पान से और भगवान् विष्णु का पद प्राप्त होने पर लक्ष्मी के आलिंगन से वैसा सुख प्राप्त नहीं हो सकता, जैसा कि शम से अन्तःकरण में सुख प्राप्त होता है ॥५१–६२॥

हे रामचन्द्रजी, सम्पूर्ण आधि और व्याधियों से ग्रस्त और तृष्णारूपी रस्सी से आक्रान्त मन को शमरूपी अमृत के सेकों से प्रकृतिस्थ कीजिए। शम से शीतल बुद्धि से जो कुछ कार्य करते हो, जो कुछ भोजन करते हो वह मन को अत्यन्त स्वादु लगता है। उक्त बुद्धि से भिन्न बुद्धि से जो कुछ कर्म किया जाता है एवं भोजन किया जाता है, वह स्वादु नहीं लगता है। हे रामचन्द्रजी, शमरूपी अमृतरस से आप्लावित मन ऐसे आनन्द को प्राप्त होता है कि उससे कटे हुए अंग भी उग जाते हैं, ऐसा मेरा निश्चय है। शमवान पुरुषका न पिशाच, न राक्षस, न

दैत्य, न शत्रु, न बाघ और साँप कोई भी द्वेष नहीं करते। जैसे बाण हीरे को नहीं छेद सकते, वैसे ही उत्कृष्ट शमरूपी अमृतकवच से जिसके सम्पूर्ण अंग–प्रत्यंग सुरक्षित है, उसे सम्पूर्ण दुःख पीड़ित नहीं कर सकते। अपने राजमहल में विराजमान राजाको भी वह शोभा प्राप्त नहीं हो सकती, जो शोभा स्वच्छ और शम से शोभायमान समबुद्धि से युक्त पुरुष को प्राप्त होती है। शान्त अन्तःकरणवाले पुरुष का दर्शन कर मनुष्य को जो अलौकिक आनन्द होता है, वह आनन्द अपने प्राणों से भी प्रियतरजन को देखकर नहीं होता। इस संसार में जो महात्मा शम से शोभित एवं सब लोगों द्वारा प्रशंसित समवृत्ति से सबके साथ सुन्दर वर्ताव करता है, उसीका जीवन सार्थक है, दूसरे का नहीं। शम से परिपूर्ण तथा उद्धतताशून्य मनवाला साधु पुरुष जो कुछ भी कर्म करता है, ये सम्पूर्ण प्राणी उसके उस कर्म की प्रशंसा करते हैं। जो पुरुष प्रिय और अप्रिय को सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर और सूँघकर क्रमशः न तो प्रसन्न होता है और न खिन्न होता है, वह शान्त कहा जाता है। जो पुरुष प्रयत्न से इन्द्रियों को जीतकर सब प्राणियों में समान वर्ताव करता है और सुख आदि की न तो इच्छा करता है और न प्राप्त प्रारब्ध का त्याग करता है, वह शान्त कहा जाता है। दूसरे लोगों की कुटिलता को जानकर भी जिसमें बाहर–भीतर एक सी निर्मल बुद्धि से मोक्ष के उपायरूप कर्तव्य कार्य देखे जाते हैं, वह शान्त कहा जाता है। चन्द्रबिम्ब के समान कान्तिवाला जिसका मन मृत्यु, उत्सव और युद्ध में क्रमशः भय, अनुराग और क्रोध से सन्तापरहित रहता है, वह शान्त कहा जाता है। हर्ष और कोप के निमित्तवाले प्रदेशों में स्थित भी जो पुरुष वहाँ स्थित न हुए के तुल्य न हर्ष को प्राप्त होता है और न कोप करता है, किन्तु सुषुप्त पुरुष के समान स्वस्थ रहता है, वह पुरुष शान्त कहा जाता है। जिसकी अमृत के झरने के समान सुखप्रद और प्रसन्न दृष्टि सब जन्तुओं के ऊपर पड़ती है, वह शान्त कहलाता है। अतिशीतल अन्तःकरणवाला जो पुरुष व्यवहार करता हुआ भी सांसारिक विषयों में आसक्त नहीं होता और मूढ़ नहीं है, वह शान्त कहा जाता है। बड़ी–से–बड़ी आपत्तियों में भी तथा दीर्घ कालतक रहनेवाले बड़े–बड़े प्रलय में भी जिसकी नश्वर देह आदि में अहंबुद्धि नहीं होती, वह पुरुष शान्त कहा जाता है। व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुष की ब्रह्म के समान समरस या आकाश के समान विकार को प्राप्त न होनेवाली बुद्धि राग द्वेष आदि के सम्पर्क को प्राप्त नहीं होती, वह पुरुष शान्त कहा जाता है ॥६३–८०॥

लोक में सम्पूर्ण गुणों में शम सर्वाधिक श्रेष्ठता से प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

तपस्वियों में, विद्वानों में, यज्ञकर्ताओं में, राजाओं में, बलवान् पुरुषों में एवं अन्यान्य प्रचुर गुणों से विभूषित लोगों में शमयुक्त (शान्त) पुरुष ही अधिक शोभित होता है। जैसे चन्द्रमा से चाँदनी उदित होती है वैसे ही जिन गुणशाली सज्जनों का चित्त शमपूर्ण है, उनके हृदय से आनन्द का स्रोत उद्‌भूत होता है। सम्पूर्ण गुणों की अवधि (सीमा), पुरुषों का मुख्य भूषण एवं सम्पूर्ण गुणों की सम्पत्ति से युक्त शम संकटों में और भयपूर्ण स्थानों में भी विराजमान रहता है –संकट और भय से पुरुष को मुक्त कर देता। हे रघुनन्दन, दूसरों के द्वारा न चुराया जा सकनेवाला तथा पूज्यजनों द्वारा बड़ी सावधानता से सुरक्षित परम साधनभूत शमरूपी

अमृत के अवलम्बन से अनेक महानुभाव जिस क्रम से परम पद को प्राप्त हुए हैं, आप भी सिद्धि के लिए उसी क्रम का अवलम्बन कीजिए ॥८१–८४॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चौदहवाँ सर्ग

साधुसंगम, सत् शास्त्र के अभ्यास और अन्तःकरण की शुद्धि से बुद्धि को प्राप्त एवं शम और सन्तोष के हेतु विचार की प्रशंसा।

पूर्वोक्त रीति से शमनामक पहले मोक्षद्वारपाल का वर्णन कर विचार नामक दूसरे द्वारपाल का वर्णन करनेवाले वसिष्ठजी बोले :

हे श्रीरामचन्द्रजी ! विषय, सन्देह, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और प्रयोजन का विभागपूर्वक ज्ञान रखनेवाले पुरुष को शास्त्रज्ञान से निर्मल परम पवित्र (विशुद्ध) बुद्धि से नित्य निरन्तर आत्मा का विचार (卐) करना चाहिए ॥१॥ बुद्धि विचार से सूक्ष्म तत्त्व के ग्रहण में निपुण होकर परम पद को देखती है, इसलिए विचार संसाररूपी महारोग की महौषधि है। अनन्त प्रवृत्तियों से चारों ओर से पल्लवित आकारवाला आपत्तिरूपी वन विचाररूपी आरों से काटे जाने पर फिर

卐 विचार पाँच प्रकार के हैं, अर्थ और अनर्थ के कारण का विचार, सार और असार का विचार, हेय और उपादेय का विचार, प्रमाण के तात्पर्य का विचार एवं आत्मतत्त्वविचार। उक्त पाँच प्रकार के विचारों में स्वाभाविक प्रवृत्ति और विषयों में अनर्थकारिता और शास्त्रीय प्रवृत्ति एवं वैराग्य में पुरुषार्थहेतुता है, इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से परीक्षणरूप प्रथम विचार है। स्त्री, पुत्र और अपनी देह में स्वभाव से, बीज से और परिणाम से अशुचिता, विषमूत्ररूपता और अमंगलता का परीक्षणरूप और ब्रह्मलोकपर्यन्त सम्पूर्ण सुखों में अनित्यत्व तथा दुःखमिश्रितत्व आदि का परीक्षणरूप दूसरा विचार है। ये दोनों वैराग्य और मुमुक्षा के हेतु हैं। मुमुक्षा के अनन्तर भी मोक्षसाधन केवल कर्म है या केवल उपासना है या वे दोनों मिलकर हैं अथवा ज्ञानसमुच्चित कर्म और उपासना मोक्षसाधन हैं अथवा केवल ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, इस प्रकार परीक्षणरूप तीसरा विचार है। ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, ऐसा मान लेने पर भी सांख्य, वैशेषिक आदि का अभिमत ज्ञान मोक्षका साधन है या केवल श्रौत ज्ञान ही। श्रौत ज्ञान के मोक्षसाधन होने पर भी श्रुतियों का द्वैत में अथवा अद्वैत में, सविशेष या निर्विशेष आत्मा में या अनात्मा में तात्पर्य है, इस प्रकार परीक्षणरूप चौथा विचार है। वह श्रवण कहलाता है। श्रुति आदि प्रमाणों का अद्वितीय सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में तात्पर्य होने पर भी अपनी आत्मा में परमार्थरूप से सच्चिदानन्दघनता हो सकती है या नहीं, इस विषय का रत्नपरीक्षान्याय से अनुभवी गुरु और सतीर्थ्य आदि के संवाद से जीव, ईश्वर और जगत्तत्त्व के परिशोधन से निश्चय होने तक परीक्षणरूप पाँचवाँ विचार है। उक्त पाँच विचारों में से आदि तीन का फल साधन चतुष्टय की सम्पत्ति है और अन्तिम दो का फल क्रमशः प्रमाण और प्रमेय में असम्भावना की निवृत्ति है। प्रथम तीन यद्यपि भाग्यवश स्वतः भी प्राप्त हो जाते हैं, तथापि अपनी प्रतीति को दृढ़ करने के लिए फिर गुरुशास्त्रपूर्वक उनकी प्राप्ति करनी चाहिए। अन्तिम दो तो गुरु और शास्त्र से ही प्राप्त होते हैं, इसीलिए ऊपर श्लोक में सर्वसाधारणरूप से 'शास्त्रावबोधामलया धिया' कहा है।

उत्पन्न नहीं होता। हे महाप्राज्ञ, बन्धुनाश आदि दुःख दूर हो और चित्त में शान्ति आये, वह मोह से व्याप्त है अर्थात् बुद्धि में स्फुरित नहीं होता। वहाँ पर विचार ही सज्जनों का परम आश्रय है अर्थात् उचित कर्तव्य के अनुसन्धान में हेतु है। दुःखसन्तरण के लिए विद्वानों के पास विचार के सिवा और कोई उपाय नहीं है, सज्जनों की मति विचार से अशुभ का त्यागकर शुभ को प्राप्त होती है। बुद्धिमानों के बल, बुद्धि, सामर्थ्य और समयोचित स्फूर्ति, क्रिया और उसका फल ये सब विचार से ही सफल होते हैं। यह युक्त है और वह अयुक्त है, इसके प्रकाशन में महादीपकरूप एवं अभीष्ट वस्तु की सिद्धि करनेवाले प्रचुर विचार का अवलम्बन कर संसाररूप सागर को पार करना चाहिए। हृदयस्थित विवेकरूप कमल को कुचल डालनेवाले महामोहरूपी हाथियों को विशुद्ध विचाररूपी सिंह मार डालता है। संसारसंतरण के उपाय से अनभिज्ञ लोग समय पाकर जो परमपद को प्राप्त हुए हैं, वह विचाररूप प्रदीप का ही उपायप्रकाशनजन्य सर्वोत्तम फल है। हे राघव, बड़े बड़े राज्य महती सम्पत्तियाँ भोग और अविनाशी मोक्ष ये सब विचाररूपी कल्पवृक्ष के फल है। इस संसार में महापुरुषों की विवेक से विकसित जो मतियाँ हैं वे जल में फेंकी गई तुम्बियों के समान विपत्ति में विषाद को प्राप्त नहीं होती। जो लोग विचार को उत्पन्न करनेवाली (विचारवती) बुद्धि से व्यवहार करते हैं, वे लोग अतिश्रेष्ठ फलों के पात्र होते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। विविध दुःख मूर्खों के हृदयरूपी वन में स्थित तथा मुमुक्षा को (मुक्ति की इच्छा के) सर्व प्रथम रोकनेवाले अविचाररूपी करंज वृक्ष की मंजरियाँ हैं अर्थात् जैसे करंज वृक्ष वन में उगते हैं और अपने बढ़ाव से दिशाओं को रोकते हैं वैसे ही अविचार मूर्खजनों के हृदय में वास करता है और मोक्ष की आशा को रोक देता है। उसी अविचार का फल दुःख है। हे रघुवंशमणे, आपकी अंजन के चूर्ण के ढ़ेर के समान काली और मदिरा (शराब) के नशे में होनेवाले चिह्नों से–भ्रम और स्खलन आदिसे–युक्त अविचाररूपी नींद नाश को प्राप्त हो। जैसे सूर्य निविड़ अन्धकारों में भी निमग्न नहीं होता, किन्तु स्वयं अन्धकार का विनाश कर सदा प्रकाशमान रहता है, वैसे ही सद्विचार में तत्पर पुरुष बड़ी–बड़ी आपत्तियों से युकत एवं अतिविस्तारयुक्त अज्ञानों में निमग्न नहीं होता। जिसके अतिनिर्मल मनरूपी तालाब में विचाररूप कमलराशि खिल जाती है, वह हिमालय की भाँति शोभा को प्राप्त होता है। अर्थात् शीलता, उन्नतता, स्थिरता आदि गुणों से हिमालय के सदृश शोभित होता है। हिमालय में भी निर्मल मानस सरोवर है और उसमें सदा कमल खिले रहते हैं। मूढ़ता को प्राप्त हुए जिस पुरुष की बुद्धि विचारशून्य है, उसके लिए चन्द्रमा से वज्र उत्पन्न होता है, जैसे मूर्खतावश बालक के लिए यक्ष (वेताल) उत्पन्न होता है। भाव यह है कि मन का देवता चन्द्रमा है और मन चन्द्रमा की नाईं प्रकाश के योग्य है, इसलिए मन में चांदनी के तुल्य ज्ञानजन्य सुख का ही आविर्भाव होना उचित है। जिस मूर्ख के मन में शोक, दुःख की उत्पत्ति होती है, उसके लिए चन्द्रमासे भी वज्र उत्पन्न होता है, जैसे कि बालक की मूर्खता से वेताल उत्पन्न होता है। विवेकशून्य अधम पुरुष निरन्तर दुःख–बीजों को रखने के लिए बनाया गया अति विशाल कुसूल (कोटिला) है एवं विपत्तिरूपी नवीन लताओं के विकास

का कारण वसन्त है, ऐसे अधम पुरुष का दूर से त्याग कर देना चाहिए। जो कोई अपने को और दूसरों को दुःख देनेवाले कार्य हैं, जो कोई निषिद्ध कार्य है और जो मानसिक पीड़ाएँ हैं, वे सब अन्धकार से वेताल की नाईं अविचार से (अविवेक से) ही उत्पन्न होते हैं। हे रघुकुलतिलक, जिस पुरुष में विवेक नहीं है, वह निर्जन स्थान में उगे हुए वनवृक्ष के सदृश है और पुरुषार्थ के उपयोगी सत्कर्म करने में असमर्थ है, उससे सदा दूर रहना चाहिए निर्जन स्थान में उत्पन्न वृक्ष भी सज्जन बटोहियों (पथिकों) को छाया में आश्रय देना आदि कार्यों में असमर्थ रहता है। विचारपूर्ण अतएव आशा की अधीनता से विमुक्त अधिकारी प्राणियों का मन पूर्णचन्द्र की नाईं आत्मा में परम विश्रामसुख को प्राप्त होता है। जैसे उदित हुई चाँदनी अत्यन्त शोभा कर देती है और जल प्यासे प्राणी को शीतल कर देता है, वैसे ही देह में जब विवेकशीलता उदित होती है, तब वह सबको अत्यन्त विभूषित कर देती है और शीतल कर देती है। जैसे रात्रि में चन्द्रमा शोभित होता है अर्थात् रात्रि का असाधारण चिह्न चन्द्रमा शोभित होता है, वैसे ही अधिकारी ब्राह्मण आदि कुल में जन्म लिए हुए पुरुष की सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थरूप (मोक्षरूप) राजत्वप्राप्ति की सूचिका होने के कारण पताकाभूत शुद्ध बुद्धि का विचार चँवर–सा (असाधारण राजचिह्न–सा) शोभित होता है। विचार से ही क्रमशः जीवन्मुक्त हुए जीव दसों दिशाओं को देदीप्यमान करते हुए सूर्य के तुल्य सुशोभित होते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, अपने प्रकाश से सूर्य अन्धकार का विनाश करते हैं और ये विचाररूपी प्रकाशसे अनेक प्राणियों के संसार–रूपी अन्धकारका विनाश करते हैं। जैसे रात्रि में बालकको बाहर न निकलने देने के लिए आकाश में कल्पित प्राणनाशक वेताल विचार से विनष्ट हो जाता है, वैसे ही अपने मन के अज्ञान से कल्पित स्वरूप का विनाशक यह संसार विचार से विलीन हो जाता है। जगत के सभी पदार्थ अविचार न करने से ही भले लगते हैं, सत्य पदार्थ की नाईं सुन्दर लगते हैं, वास्तव में उनका अस्तित्व नहीं है, इसीलिए वे विचार करने से पत्थर से तोड़े गये मिट्टी के ढेले की नाईं तहस–नहस हो जाते हैं, मिथ्या प्रतीत हो जाते हैं। यह संसाररूपी पुराना वेताल बड़ा दुःखप्रद है, पुरुषने अपने मन में स्थित अज्ञान से इसकी कल्पना कर रक्खी है, यह विचार करने से विलीन हो जाता है ॥२–२७॥

विचार का फल केवल भय की निवृत्ति ही नहीं है, किन्तु निरतिशय आनन्द की प्राप्ति भी उसका फल है, ऐसा कहते हैं।

ब्रह्मकैवल्य को उत्तम फल जानो, जो कैवल्य सुखरूप है, जिसमें जगत् की विषमता का तनिक भी सम्पर्क नहीं है, जिसका कभी बाध नहीं होता और जो दूसरे के आधीन नहीं है। जैसे चन्द्रमा के उदय से शीतता का उदय होता है, वैसे ही विचार से उत्पन्न निरतिशय आनन्द के बल से चंचलता के कारण अज्ञान का विनाश होने पर निश्चल स्थिति से उदार आनन्दपूर्णतारूप निष्कामता का उदय होता है। अचल स्थिति ही सर्वश्रेष्ठ है। उक्त अचल स्थिति को देनेवाली चित्त में स्थित आत्मविचाररूपी महौषधि से सिद्ध हुआ पुरुष न तो अप्राप्त वस्तु की इच्छा करता है और न प्राप्त का त्याग करता है, कृतकृत्य हो जाता

है, यह अर्थ है ॥२८–३०॥

यदि चित्त विचार से उत्पन्न ज्ञान से नष्ट हो गया, तो जीवन ही नहीं रहेगा, यदि नष्ट न हुआ, तो फिर नाना विक्षेपों को उत्पन्न करेगा, ऐसी परिस्थिति में कृतकृत्यता तो मृगतृष्णा ही ठहरी, इस शंका पर कहते हैं।

सच्चित् आनन्दघन परब्रह्म परमात्मा में लगे हुए अतएव अत्यन्त आभासता को प्राप्त हुए (जैसे भूँजे हुए बीज बीजाभास हो जाते हैं अर्थात् उनमें अंकुर पैदा करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती, वैसे ही आभासता को प्राप्त हुए) चित्तविक्षेपहेतु वासनाएँ आकाश की नाईं अति विस्तीर्ण ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाती हैं, अतएव वह न तो विनाश को प्राप्त होता है जिससे कि जीवन ही न रहे और न राग, द्वेष आदि वृत्तियों से फिर उदय को ही प्राप्त होता है, जिससे कि विक्षेप हों (✍)। क्योंकि ब्रह्मवेत्ता पुरुष विशाल जगत् को (जगत् में स्थित विविध विषयों को) केवल उदासीनता से देखता रहता है, उनमें आसक्त होकर मन नहीं लगाता केवल उदासीनता से देखता रहता है, उनमें आसक्त होकर मन नहीं लगाता और न सत्य या पुरुषार्थ समझ कर उनका उपभोग ही करता है और न सुषुप्ति अवस्था की तरह उपाधि की शान्ति से शान्त होता है, न स्वप्न की नाईं मनोवासनामय पदार्थों में आसक्त होता है और न मूढ़ जनों की जाग्रत् अवस्था के सदृश बाह्य विषयों के फन्दे में फँसता है तथा नैष्कर्म्यका अवलम्बन करता है और न कर्मों में ही उलझा रहता है। ब्रह्मज्ञ पुरुष पूर्ण सागर के समान शोभित होता है, वह गई हुई (नष्ट हुई) वस्तु की उपेक्षा कर देता है अर्थात् उसकी प्राप्ति के लिए यत्न नहीं करता और प्राप्त वस्तु का अनुसरण करता है, उसे क्षोभ नहीं होता और निश्चल नही होता है अर्थात् स्वाभाविक व्यवहार का त्याग करता हुआ निश्चल नहीं होता है। (समुद्र पक्ष में) समुद्र भी गये हुए लक्ष्मी, कौस्तुभमणि आदि वस्तु की उपेक्षा करता है, प्राप्त अन्यान्य रत्नों से अपना व्यवहार करता है, उसे मर्यादात्याग पर्यन्त क्षुब्धता नहीं होती और वह निश्चल भी नहीं होता। इस प्रकार पूर्ण मन से युक्त इसी शरीर में अनुभव में आ रहे जीवब्रह्मैक्यरूप योगवाले जीवन्मुक्त उदार महात्मा इस जगत् में विहार करते हैं, विचरते हैं। वे धीर महात्मा अपनी इच्छानुसार चिरकालतक इस संसार में निवास कर अन्त में देह, इन्द्रिय आदि उपाधि का त्याग कर अपिरिच्छिन्न विदेहकैवल्य को प्राप्त होते हैं। बुद्धिमान् पुरुष को आपत्ति में भी (कुटुम्ब आदि फन्दे में फँसे रहने पर भी) मैं कौन हूँ, यह संसार किसका है ? यों संसार से छुटकारा पाने के उपाय श्रवण आदि के अनुष्ठान के साथ स्वयं ही प्रयत्नपूर्वक विचार करना चाहिए। हे श्रीरामचन्द्रजी, राजा सफल चाहे निष्फल अवश्य कर्तव्य सन्धि, विग्रह आदि का निश्चय विचार से ही करता है, विचार के सिवा उसका

✍ अथवा इस श्लोक का अर्थ यों करना चाहिए। परब्रह्म परमात्मा में संलग्न अतएव ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ चित्त भूँजे हुए बीजों के समान न तो उगता है, जिससे कि विक्षेप का डर हो और न अनादि वासना से दृढ़ हुआ चित्त विषयसंस्कार से विनाश को ही प्राप्त होता है जिससे कि जीवन का असंभव हो।

निश्चायक दूसरा मार्ग नहीं है। जैसे रात्रि में घट, पट आदि पदार्थों का परिज्ञान दीपक से होता है, वैसे ही पुरुषार्थप्राप्ति के हेतु वेद और वेदान्तसिद्धान्त के सारभूत धर्म तथा ब्रह्मतत्त्व का निर्णय विचार से ही किया जाता हैं। विचाररूपी सुन्दर नेत्र अन्धकार में नष्ट–सा (व्यर्थ–सा) नहीं होता, अति तेजस्वी सूर्य आदि में कुण्ठित नहीं होता एवं जो वस्तु सामने नहीं है, व्यवहित है उसे भी देख लेता है। प्रसिद्ध नेत्र अन्धकार में नष्ट से हो जाते हैं प्रचुर तेजवाले सूर्य आदि को नहीं देख सकते, चकाचौंध होने के कारण कुण्ठित हो जाते हैं, एवं जो वस्तु व्यवहित है और दूर है उसे नहीं देख सकते। जो पुरुष विवेकान्ध (विवेकरूपी नेत्रों से हीन) है वह जन्मान्ध है, उस दुर्मति के लिए सब शोक करते हैं, जिस पुरुष को विवेक आत्मा की नाईं प्रिय है, वह दिव्यचक्षु है वह सम्पूर्ण वस्तुओं में श्रेष्ठ है, अर्थात् वह आपत्तियों पर विजय पाता है अथवा परम पुरुषार्थ (मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥३१–४१॥

विचारों में भी जो सारभूत (श्रेष्ठतम) विचार है, उसका निर्देश करते हैं।

परमात्मप्राय (सदा परमात्मा में संलग्न) महान् आनन्द की एकमात्र साधन आदरणीय विचारधारा का एक क्षण के लिए भी परित्याग नहीं करना चाहिए। जैसे परिपाक होने के कारण अत्यन्त माधुर्य से युक्त आम का फल महापुरुषों को भी अच्छा लगता है, वैसे ही विचार से रमणीय पुरुष तत्त्वज्ञोंको भी अच्छा लगता है, जिज्ञासुओं की तो बात ही क्या है ? विचार से जिनकी मति अतिनिमर्ल है और विचार से ही जिन्हें ज्ञानमार्ग में गमन ज्ञात है, वे अनेक दुःखमय गर्तों में (जन्म–मरणपरम्परा में) बार–बार नहीं गिरते। रोग, विष, शस्त्र की चोट आदि सैकड़ों दुःखों से शिथिल शरीरवाला रोगी वैसा नहीं रोता जैसा कि अविचार से जिसने अपनी आत्मा का प्रायः हनन कर दिया है, वह मूर्ख पुरुष विविध जन्म–मरण परम्पराओं में रोता है। कीचड़ में मेंढ़क बनना अच्छा है, विष्ठा का कीड़ा बनना अच्छा है और अँधेरी गुफा में साँप होना अच्छा है, पर मनुष्य का अविचारी होना अच्छा नहीं है। अविचार सम्पूर्ण क्लेशों का अपना निजी घर है, सम्पूर्ण सज्जनों द्वारा तिरस्कृत है, एवं समस्त दुर्गातियों की चरम सीमा है, इसलिए उसका परित्याग कर देना चाहिए। महात्मा पुरुष को सदा विचारशील होना चाहिए, लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि अन्धकूपरूप राग द्वेष आदि में गिर रहे लोगों का विचार अवलम्बन है। विचारपूर्वक स्वयं ही अपने आत्मा से राग, द्वेषादि प्रवाह में गिर रहे अपने आत्मा को जबरदस्ती स्थिरकर संसाररागरूपी सागर से अपने मनरूपी मृग को उतारना चाहिए ॥४२–४९॥

विचार के स्वरूप को दिखलाते हैं।

मैं कौन हूँ (क्या देह आदि ही मैं हूँ या उनसे विलक्षण हूँ यों त्वं पदार्थ का विचार) और यह संसारनाम का दोष मुझे कैसे प्राप्त हुआ (यह संसाररूप दोष अधिष्ठान–ब्रह्म–में कैसे आ गया, यों तत्पदार्थका विचार) श्रुति, मुनि आचार्य तथा साम्प्रदायिक पुरुषों द्वारा प्रदर्शित न्याय से इस प्रकार परामर्श विचार कहलाता है। ब्रह्मा ने पत्थर का और अविचारशील दुर्बुद्धि का हृदय दुःख के (क्लेश के) लिए ही बनाया है, (पत्थर के पक्ष में) घन से छेदन

आदि क्लेश से होनेवाले दुष्ट छेद के लिए ही बनाया है, अन्यत्र उसका कोई भी उपयोग नहीं है, क्योंकि वह अन्धे से भी अन्धा और मोह से अत्यन्त घना है। अन्धा देखे बिना कुएँ में गिरता है, दुर्बुद्धि का मन देखकर भी मोहवश नरक में गिरता है। (पत्थर के पक्ष में) जड़ होने से अन्धे से भी अन्धा है और कठोर होने से मोह से भी अधिक घना है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस व्यवहारभूमि में सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग को देख रहे विद्वानों को विचार के बिना उत्तम तत्त्व कुछ भी प्रतीत नहीं होता। विचार से तत्त्व का ज्ञान होता है, तत्त्वज्ञानसे विश्रान्ति (मनकी निश्चलता) होती है। विश्रान्ति से मन में जो शान्ति प्राप्त होती है, वही सम्पूर्ण दुःखों का विनाश है ॥५०–५३॥

विस्तारपूर्वक कहे गये विचार का ही संक्षेपतः उपसंहार करते हैं –

श्रीरामजी, अतः पृथिवी में सभी लोग स्फुट विचारदृष्टि से ही वैदिक और लौकिक कर्मों में सफलता प्राप्त करते हैं, आत्मतत्त्व की आगे कही जानेवाली सप्तम भूमिकारूप उत्तम प्रकटता भी विचार से ही प्राप्त करते हैं, इसलिए शम, दम आदि साधनसम्पत्ति से युक्त आपको उक्त विचारशीलता रूचिकर हो ॥५४॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

वैराग्यकल्पवृक्ष की छाया के समान सुखकर शीतल तीसरे द्वारपाल सन्तोष का वर्णन।

क्रम प्राप्त तीसरे द्वारपाल सन्तोष का वर्णन करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे शत्रुतापन श्रीरामजी, सन्तोष परम श्रेय (मोक्षसुख) कहा जाता है और सन्तोष स्वर्गसुख भी कहा जाता है, क्योंकि सन्तोषयुक्त पुरुष असीम विश्रान्तिसुख को प्राप्त होता है अर्थात् उसका विक्षेपदुःख सर्वथा निवृत्त हो जाता है। सन्तोषरूपी ऐश्वर्य से सुखी तथा चिरकाल से विश्रान्तिपूर्ण चित्तवाले शान्त पुरुषों को विशाल साम्राज्य भी पुराने तिनके का टुकड़ा–सा प्रतीत होता है, तुच्छ लगता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, सन्तोषशालिनी बुद्धि दारिद्रता,वियोग आदि से संकटपूर्ण सांसारिक जीवन में भी उद्वेगयुक्त न होकर कभी भी सुख से विरहित नहीं होती। जो शान्त पुरुष सन्तोषरूपी अमृत के पान से तृप्त हुए हैं, उनको यह अतुल विषयभोगसम्पत्ति प्रतिकूल विष–सी लगती है। प्रचुर आनन्ददायक आस्वाद से युक्त तथा आशा, दीनता आदि दोषों का विनाशक सन्तोष जैसा सुख देता है, वैसा सुख ये अमृत–रस की लहरें नहीं देती। हे राघव, अप्राप्त वस्तु की आकांक्षाका त्याग करनेवाला, वस्तु के प्राप्त होने पर भी उसके मिथ्या होने के कारण पूर्ववस्था के (अप्राप्त अवस्था के) तुल्य अवस्था को प्राप्त अथवा उसकी प्राप्ति से होनेवाले हर्ष आदि के अभाव के कारण समता को प्राप्त और जिसमें कभी खेद और हर्ष नहीं देखे गये ऐसा पुरुष इस लोक में सन्तुष्ट कहा जाता है। जब तक मन स्वतः ही (किसी अन्य निमित्त से नहीं) आत्मा में ही (अन्य विषयों में नहीं) नहीं जाता तब तक मनरूपी बिल से लता की भाँति विविध आपत्तियाँ उत्पन्न

होती हैं अर्थात् जैसे गर्त से लताएँ पैदा होती हैं, वैसे ही मन से आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे जल में स्थित कमल सूर्य की किरणों से अत्यन्त विकास को प्राप्त होता है, वैसे ही सन्तोष से शीतल चित्त शुद्ध विज्ञानदृष्टि से अत्यन्त विकास को प्राप्त होता है। जैसे म्लान (जल, धूलि और भाप से मलिन) दर्पण में मुख प्रतिबिम्बित नहीं होता, वैसे ही आशाकी परवशता से व्याकुल तथा सन्तोषशून्य चित्त में ज्ञान प्रतिबिम्बित नहीं होता। जिस मनुष्य रूपी कमल के विकास के लिए पूर्वोक्त सन्तोषरूपी सूर्य नित्य उदित है, वह मनुष्यरूपी कमल अज्ञानरूपी घनान्धकारयुक्त रात्रि से संकोच को प्राप्त नहीं होता। जिसका आधि और व्याधि से (दैहिक क्लेश और मानसिक क्लेश से) विमुक्त मन सन्तुष्ट है, वह प्राणी दरिद्र होता हुआ भी साम्राज्य सुख का भोग करता है ॥१–११॥

सन्तोष के पूर्वोक्त लक्षण का अनुवाद कर अन्य लक्षण कहते हैं।

जो पुरुष अप्राप्त विषय की अभिलाषा नहीं करता, क्रमशः प्राप्त सुख और दुःख का भोग करता है जगत् को आनन्द देनेवाले सदाचार से युक्त वह पुरुष सन्तुष्ट कहा जाता है ॥१२॥

मुखकान्ति की विशिष्टता भी उसका लक्षण है, ऐसा कहते हैं –

सन्तोष से अत्यन्त तृप्त पूर्णचित्तवाले और क्षीरसागर के समान शुद्ध महापुरुष के मुखपर लक्ष्मी सदा विराजमान रहती है। अपनी आत्मा में आत्मा से ही निरतिशयानन्दरूप पूर्णता का अवलम्बन कर पौरुष प्रयत्न से सम्पूर्ण विषयों की तृष्णा का त्याग कर देना चाहिए। क्रोध और सन्ताप के हेतु के न रहने के कारण शान्त और शीतल बुद्धि से चन्द्रमा के समान सन्तोषरूप अमृत से पूर्ण मनुष्य का मन सदा स्वयं स्थिरता को प्राप्त होता है। बड़ी बड़ी सम्पत्तियाँ, मृत्यु की तरह सन्तोष से जिसका मन परिपुष्ट है, ऐसे पुरुष के पास स्वयं प्राप्त होती हैं। यानी उसकी सेविकाएँ बन जाती है। जैसे वर्षाऋतु में धूलिकण स्वयं शीघ्र शान्त हो जाते हैं, वैसे ही अपनी आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट स्वस्थ पुरुष में सम्पूर्ण मानसिक व्यथाएँ शान्त हो जाती हैं ॥१३–१७॥

ऐसा होने पर भी आवरणरूप दुःखबीज से जो दुःख होता है, वह तो होगा ही। इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, पुरुष नित्य शीतल और कलंक से शून्य शुद्ध वृत्तिरूपी पूर्णता से चन्द्रमा के समान शोभित होता है। अर्थात् जैसे अमावस्या के दिन क्षीण चन्द्रमा कलंक से भिन्न नहीं दिखाई देता, अतः कलंक में मग्न–सा हो जाता है और सूर्य के समीप में उसकी शीतल वृत्ति नहीं रहती, वही चन्द्रमा पौर्णमासी के दिन सोलहों कलाओं से पूर्ण होने से कलंक का भी भासक होने के कारण कलंक से पृथक् हुई शुद्ध वृत्ति से शोभित होता है, वैसे ही पुरुष भी असन्तोषावस्था में अज्ञानरूपी कलंक में मग्न की नाईं आध्यात्मिक आदि तीनों तापों से जलाया–सा जाता है और सन्तोषामृतरूपी कलाओं से पूर्ण होने पर अज्ञानरूपी कलंक का साक्षी होने के कारण उससे अस्पृष्ट आत्मसुख से शीतल वृत्ति से शोभित होता है। जैसे पुरुष समता से सुन्दर पुरुष के मुख को देखकर सन्तोष को प्राप्त होता है, वैसे धन

के संचय से सन्तोष को प्राप्त नहीं होता । हे रघुनन्दन, जो पुरुषश्रेष्ठ इस लोक में गुणशाली पुरुषों द्वारा प्रशंसित समता से अलंकृत है, उसको आकाशचारी देवता और महामुनि भी बड़े भक्तिभाव से प्रणाम करते हैं ॥१८–२०॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

साधुसंगतिरूप चतुर्थ द्वारपाल का वर्णन तथा चारों में से प्रत्येक के सेवन में भी पुरुषार्थहेतुता का वर्णन।

साधुसमागमरूप चतुर्थ द्वारपाल का वर्णन कर रहे और चारों में से प्रत्येक के विषय में किया गया प्रबल पुरुषप्रयत्न पुरुषार्थपद है, ऐसा दर्शाते हुए श्रीवसिष्ठजी बोले :

हे महामते, इस लोक में श्रेष्ठ साधुसमागम मनुष्यों के संसारसागर से उत्तरण में विशेषरूप से सब जगहों में (सम्पूर्ण अवस्थाओं में) उपकार करता है। साधुसंगतिरूपी वृक्ष के उत्पन्न हुए विवेकरूपी सफेद फूल की जो महात्मा रक्षा करते हैं, वे मोक्षफलरूप सम्पत्ति के भाजन होते हैं। साधु पुरुषों का समागम होने पर आत्मीय जन और धन से शून्य दुःखपूर्ण स्थान धन और जन से परिपूर्ण हो जाता है, मृत्यु भी उत्सव में परिणत हो जाती है और आपत्तियाँ सम्पत्तियों की तरह मालूम होती है । इस संसार में आपत्तिरूपी कमलिनी के लिए हेमन्त ऋतुरूप और मोहरूपी कुहरे के लिए वायुरूप केवल श्रेष्ठ साधुसमागम ही सर्वोत्कृष्ट है। हे रामचन्द्रजी, आप साधुसमागम को बुद्धि को अत्यन्त बढ़ानेवाला, अज्ञानरूपी वृक्ष का उच्छेद करनेवाला और मानसिक व्याथाओं को दूर करनेवाला जानिए। जैसे उद्यान को सींचने से फल–फूलों के गुच्छे प्राप्त होते हैं, वैसे ही साधुसंगम से मनोहर और निर्मल विवेकरूपी परम दीप उत्पन्न होता है। साधुसंगतिरूपी विभूतियाँ नित्य बढ़नेवाले अविनाशी और बाध रहित उत्तम सुख को देती हैं। कितनी ही बड़ी आपत्ति को प्राप्त क्यों न हो और कितनी ही बड़ी पराधीनता को प्राप्त क्यों न हों फिर भी मनुष्यों को क्षणभर के लिए भी साधु संगति का त्याग नहीं करना चाहिए। साधुसंगति सन्मार्ग की दीपक है और हृदयान्धकार को दूर करनेवाली ज्ञानरूपी सूर्य की प्रभा है। जिसने शीतल और स्वच्छ साधुसंगतिरूपी गंगा में स्नान किया है, उसको दानों से, तीर्थों से, तपस्याओं से और यज्ञों से क्या प्रयोजन है ? जिनके राग नष्ट हो गये हैं, सन्देह कट चुके हैं एवं चिद्जड़ग्रन्थि नष्ट हो चुकी हैं, ऐसे साधु पुरुष यदि विद्यमान हैं, तो तप और तीर्थ करने से क्या प्रयोजन है ? जैसे दरिद्र पुरुष मणियों को बड़े प्रेम से देखते हैं, वैसे ही जिनका चित्त विश्रान्तिसुख से परिपूर्ण है, ऐसे धन्य साधु पुरुषों के बड़े प्रयत्न से दर्शन करने चाहिए। जैसे अप्सराओं के समूह में विष्णु के समागम और अपनी सर्वोत्कृष्ट सुन्दरता से युक्त लक्ष्मी शोभित होती है, वैसे ही जिन बुद्धिमानों की मति सत्समागम रूप सौन्दर्य से युक्त है, वह भी सदा विराजमान रहती है। जिस धन्य पुरुष ने साधुसंगति का परित्याग नहीं किया, ब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रहे लोगों में ब्रह्म की प्रथम प्राप्ति से वह अपनी

शिरोभूषणता (सर्वोत्कृष्टता) प्रसिद्ध कर लेता है। जिनकी अन्तःकरण और उसके धर्मों में तादात्म्यसंसर्गाध्यासरूप चिद्जड़-ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो गई है, उन ब्रह्मज्ञानी एवं सर्वसम्मत साधुओं की दान, सम्मान, सेवा आदि सब प्रयत्नों से सेवा करनी चाहिए, क्योंकि वे लोग भवसागर में डूबे हुए लोगों के तारण के उपाय हैं। जिन लोगों ने नरकरूपी अग्नि को बुझाने के लिए जल बरसानेवाले मेघरूप सन्त-महात्माओं को तिरस्कार की दृष्टि से देखा, वे लोग नरकरूपी अग्नि की सूखी लकड़ी बन गये, अर्थात् सूखी लकड़ियों की नाईं नरकाग्नि ने उन्हें जला डाला। सज्जनसंगतिरूपी औषधियों से दरिद्रता, मृत्यु, दुःख आदि विषयक सन्निपात समूल नष्ट हो जाता है ॥१-१७॥

सम्पूर्ण द्वारपालों की एक ही साथ प्रशंसा करने की इच्छा से पूर्वोक्त का अनुवाद करते हैं।

सन्तोष, सत्संगति, विचार और शान्ति ये ही चार संसारसागर में मग्न हुए लोगों के तरने के उपाय हैं। सन्तोष सम्पूर्ण लाभों में सर्वश्रेष्ठ लाभ है, सत्संगति परम गति है, विचार परम ज्ञान है और शम परम सुख है अर्थात् सन्तोष के तुल्य कोई लाभ नहीं है, सत्संग के तुल्य कोई गति नहीं है, आत्मविचार के समान ज्ञान नहीं है और शान्ति के तुल्य और सुख नहीं है। ये चार संसार के समूल विनाश के लिए निर्मल उपाय हैं, इनका जिन्होंने खूब अभ्यास किया, वे मोहरूपी जल से लबालब भरे हुए संसारसागर से तर गये ॥१८-२०॥

यदि सबका अभ्यास करने की सामर्थ्य न हो, तो एक के उत्तम अभ्यास से भी चारों का अभ्यास हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

हे मतिमानों में श्रेष्ठ, उनमें से निर्मल उदयवाले एकका अभ्यास होने पर भी शेष चारों का अभ्यास हो जाता है। एक-एक भी इन सबकी उत्पत्तिभूमि है, जनक है, अतः सबकी सिद्धि के लिए एक का प्रयत्नपूर्वक आश्रय लेना चाहिए। जैसे तरंगों से शून्य (प्रशान्त) सागर में बड़े-बड़े व्यापारिक जहाज बिना किसी धक्का-मुक्की के बड़ी सावधानी से चलते हैं, वैसे ही शान्ति से स्वच्छ पुरुष में सत्संगति, सन्तोष और विचार बड़ी सावधानी से प्रवृत्त होते हैं। जैसे कल्पवृक्ष के आश्रय में स्थित पुरुष को लौकिक सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं, वैसे ही विचार, सन्तोष, शान्ति और साधुसंगति से सुशोभित पुरुष को ज्ञानसम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। जैसे परिपूर्ण पूर्णिमा में सौन्दर्य आदि गुण प्राप्त होते हैं, वैसे ही विचार, शान्ति, सत्संगति और सन्तोष से युक्त मनुष्य में प्रसाद आदि गुण प्राप्त होते हैं। जो राजा सदा विचार के लिए मन्त्रियों को निमन्त्रित करता है या मन्त्रित सन्धि, विग्रह आदि पदार्थों को गुप्त रखता है, उस राजा को जैसे विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है, वैसे ही सत्संग, सन्तोष, शान्ति और विचार से युक्त सद्बुद्धि पुरुष को ज्ञानसम्पत्ति प्राप्त होती है। इसलिए हे रघुकुलतिलक, पुरुषप्रयत्न से मन को नित्य अपने वश में कर इनमें से एक गुण का प्रयत्नपूर्वक उपार्जन करना चाहिए। प्रयत्नपूर्वक अपने चित्तरूपी हाथी को अपने वश में कर जबतक हृदय में एक गुण की प्राप्ति नहीं की जाती तबतक उत्तम गति दुर्लभ है। हे श्रीरामजी, जबतक आपका चित्त गुणों के उपार्जन के लिए आग्रहवान् न हो, तबतक प्रयत्नपूर्वक दाँतों को दाँतों से पीसना चाहिए

अर्थात् गुणार्जन के लिए अत्यन्त उद्योग करना चाहिए ॥२१–२९॥

सात्त्विक देव आदि जन्म के लिए प्रयत्न करना चाहिए, देव आदि जन्म प्राप्त होने पर बिना परिश्रम के ज्ञान होगा , इस शंका पर कहते हैं।

हे महाबाहो, आप चाहे देवता होइए या यक्ष होइए, पुरुष होइए अथवा वृक्ष होइए पर जब तक आपका चित्त गुणों के उपार्जन के लिए आग्रहवान् न होगा तब तक उत्तम गति का कोई उपाय नहीं है। फलदायक एक ही गुण के दृढ़ होने पर दोषाधीन चित्त के सम्पूर्ण दोष शीघ्र ही क्षीण हो जाते हैं ॥३०,३१॥

परस्पर विरोधियों में एकको वृद्धि होने पर उसके सजातीय कुल की वृद्धि होने से अन्य का क्षीण होना प्रसिद्ध ही है, ऐसा कहते हैं।

गुणों की अभिवृद्धि होने पर दोषों पर विजय पानेवाले गुणों की वृद्धि होती है और दोषों के बढ़ने पर गुणविनाशक दोष बढ़ते हैं। इस मनोमोहरूपी वन में, सब प्राणियों में वेगवती वासनारूपी नदी सदा बहती है, पुण्य और पाप उसके बड़े–बड़े तट हैं। अपने प्रयत्न से दूसरे तट का निरोध कर उक्त वासनारूपी नदी जिस तट की ओर फेंकी जाती है, उसी तट से बहती है, अतएव हे रामजी, आपको जैसा अभीष्ट हो, वैसा कीजिए। हे शुभमते, आप अपनी वासनारूपी नदी को मनरूपी वन में क्रमशः पुण्य तट की ओर प्रवृत्त कीजिए, ऐसा करने से आप तनिक भी पापप्रवाह से नहीं बहाये जायेंगे ॥३२–३५॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

प्रकरणों के क्रम से ग्रन्थसंख्या का वर्णन।

इस प्रकार साधनों का वर्णन कर उक्त साधनों से सम्पन्न पुरुष को प्रस्तुत ग्रन्थ के श्रवण आदि से पुरुषार्थ–प्राप्ति दर्शा रहे श्रीवसिष्ठजी ग्रन्थप्रवृत्ति के क्रम का, प्रकरण आदि के विभाग से, वर्णन करने के लिए उपक्रम करते हैं।

पूर्वोक्त प्रकरण का विवेक (विवेक आदि गुणों की सम्पत्ति) जिसे प्राप्त हो गया है, वह पुरुष महान् है। जैसे राजा नीतिशास्त्र सुनने का अधिकारी है, वैसे ही वह भी ज्ञान की वाणी सुनने का अधिकारी है। जैसे मेघ के संसर्ग से विमुक्त आकाश शरत्काल के चन्द्रमा के योग्य होता है, वैसे ही मूर्खों के संग से मुक्त एवं निर्मल उदार पुरुष निर्दोष को (परम ब्रह्म को) प्रकाशित करनेवाले विचार का योग्य भाजन है ॥१,२॥

श्रीरामचन्द्रजी में उक्त गुणों के अभाव की शंका का निराकरण करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप इन अखण्डित गुणगणों से परिपूर्ण हैं, अतएव आप आगे कहे जानेवाले मन के अज्ञान के विनाशक इस वाक्य को सुनिए। जिसका फलों के भार से खूब लदा हुआ पुण्यरूपी कल्पवृक्ष है, उसी पुण्यात्मा जीव का मुक्ति के लिए इसे सुनने के लिए उद्यम होता है। उक्त गुणों से सम्पन्न पुरुष ही मुक्ति के लिए अति पवित्र अन्य को बोध देनेवाले

उदार वचनों का पात्र होता है, अधम पुरुष नहीं। मोक्ष के साधन का प्रतिपादन करनेवाली और सारभूत अर्थ से परिपूर्ण अतएव मोक्षदायिनी इस संहिता में बत्तीस हजार श्लोक है। जैसे गहरी नींद में सोये हुए पुरुष के सामने दिये के जलने पर यद्यपि सोये हुए पुरुष को प्रकाश की अभिलाषा नहीं रहती तथापि प्रकाश होता है, वैसे ही इस संहिता के श्रवण से, इच्छा न होने पर भी, मोक्ष का साधन ज्ञान अवश्य प्राप्त होता है। जैसे स्वयं दर्शन करके जानी गई और दूसरे के मुख से सुनी गई श्रीगंगाजी विविध योनियों में भ्रमण के हेतुभूत पाप और ताप की शान्ति द्वारा शीघ्र सुखप्रद होती है वैसे ही स्वयं परिशीलन करके जानी गई अथवा दूसरे के मुख से सुनी गई यह संहिता अज्ञान के विनाश द्वारा शीघ्र सुखप्रद होती है। जैसे रस्सी के अवलोकन से रस्सी में हुई सर्पभ्रान्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही इस संहिता के अवलोकन से (परिशीलन से) संसारदुःख नष्ट हो जाता है। इस संहिता में युक्तिसंगत अर्थवाले वाक्यों से परिपूर्ण, श्रेष्ठ–श्रेष्ठ दृष्टान्तों से भरी हुई आख्यायिकाओंसे युक्त तथा पृथक्–पृथक् रचे गये छः प्रकरण है। उनमें पहला प्रकरण वैराग्य नामक कहा गया है, जैसे निर्जल स्थान में भी जल के सेक से वृक्ष बढ़ता है, वैसे ही उक्त वैराग्यप्रकरण से वैराग्य बढ़ता है। डेढ़ हजार श्लोकों से युक्त वैराग्यप्रकरण में निरूपण किया गया है। जिसके विचार करनेपर विषयों में दोष का ज्ञान होने से हृदय में ऐसी शुद्धता उत्पन्न होती है जैसे कि मणि को सान में चढ़ानेपर प्रकाश से उसमें स्वच्छता उत्पन्न होती है ॥३–१२॥

वैराग्य–प्रकरण के अनन्तर मुमुक्षु–व्यवहार नामक प्रकरण की रचना की गई है, इसमें एक हजार श्लोक हैं। यह प्रकरण युक्तियों से बड़ा सुन्दर है। इसमें मुमुक्षु पुरुषों के स्वभाव का वर्णन है। इसके पश्चात् दृष्टान्त और आख्यायिकाओं से भरे हुए ज्ञानप्रद उत्पत्तिप्रकरण की रचना की गई है। उस सात हजार श्लोक वाले प्रकरण में जगत् की 'अहम्' 'इदम्' स्वरूपवाली दृष्टा और दृश्य के भेद की विचित्रतारूप सम्पत्ति वास्तव में उत्पन्न न हुई भी भ्रम से उत्पन्न हुई–सी प्रतीत होती है, ऐसा वर्णन किया गया है। उक्त प्रकरण के सुनने पर श्रोता युष्मत् और अस्मत् से युक्त, जिनका अर्थ भिन्न प्रतीत होता है, उन त्वंपद और अहंपद की एकार्थता के प्रतिपादक अनन्त ब्रह्माण्डों के विस्तार से युक्त तथा प्रत्येक ब्रह्माण्ड में लोकालोक पर्वत और आकाश से युक्त इस चराचर सम्पूर्ण जगत् को अपने हृदय में मूर्त द्रव्यता से रहित, भेदशून्य, अतएव पर्वत आदि पदार्थों से रहित, पृथिवी आदि भूतों से रहित, संकल्पमय (कल्पनामय) नगर के तुल्य असत्, स्वप्न में जो मनोमय पदार्थ दिखाई देते हैं, उनके तुल्य, मनोराज्य के समान स्थित, अर्थशून्य होने के कारण गन्धर्व नगर के सदृश, दो चन्द्रमाओं की भ्रान्तिके सदृश, मृगतृष्णा में जल की भ्रान्ति के समान समझता है तथा नाव आदि के चलने से पर्वत, वृक्ष आदि के चलनभ्रम के सदृश, सत्य पुरुषार्थ से शून्य, चित्त के मोह से कल्पित भूत के सदृश, निर्बीज होने पर भी (जगत् की बीज माया के मिथ्या होने से और आत्मा के निर्विकार होने से बीजरहित होने पर भी) प्रकाशमान, कथा के अर्थ के प्रतिभास के समान (कथा सुनने में आसक्ति होने से संस्कार द्वारा प्रत्यक्ष के सदृश कथा के अर्थ की प्रतीति होना लोक में

प्रसिद्ध है), आकाश में कल्पित मुक्तावली के सदृश, सुवर्ण में कंकणत्व आदि की नाईं एवं जल में तरंगत्व की नाईं (卐) और आकाश में नीलिमा के सदृश असत् ही यह सदा उत्पन्न हुआ है, भीत (जिस पर चित्र बनाया जाता है) और विविध रंगों के बिना केवल प्रतीतिमात्र से (पूर्व अनुभव के स्मरणमात्र से) मनोहर एवं कर्ता से रहित चित्र जैसे स्वप्न में या आकाश में चिरकाल तक प्रतीत होता है तथा जैसे चित्रलिखित अग्नि अग्नि न होने पर भी अग्नि सी प्रतीत होती है, वैसे ही मिथ्याभूत यह प्रपंच जगत् शब्द के अनुरूप अर्थ को जाता है। (गच्छति) यानी विचार में नहीं ठहरता इस अर्थको–धारण करता है। तरंगों में भ्रान्ति से कल्पित नील कमलों की माला के तुल्य, पहले देखे गये स्मृतिपथ में आरूढ़ हो रहे नृत्य के समान मन में उत्थित, जैसे चित होकर सोये हुए पुरुष या कविको चक्रवाक के (चकवा पक्षी के) चीत्कार से पूर्ण आकाश को देखनेपर यह तालाब है, ऐसी उत्प्रेक्षा होती है, वैसे ही यह जगत् भी उत्प्रेक्षित है। ग्रीष्म ऋतु में पत्तों से शून्य, सूखे हुए और सारहीन अतएव छाया, शोभा आदि से रहित और फल आदि की समृद्धि से शून्य वन की नाईं, मरण के समय में व्यग्र हुए लोगों के मन की नाईं (मरण के समय व्यग्र हुए लोगों का मन भ्रम और मूर्च्छा से युक्त और अस्थिर रहता है, यह प्रसिद्ध है), पर्वतों की गुफाओं की तरह (गुफाएँ अन्धकार से भरी हुई, शून्य और भयंकर होती हैं, वैसे ही यह भी है), अन्धकारपूर्ण गुफामें प्रत्येक के नृत्य के सदृश, उन्मत्त पुरुषों की चेष्टाओं के सदृश, भीतमें लिखे हुए चित्र एवं खम्भे में खोदी हुई मूर्ति के समान तथा पंक आदि से बनाई गई प्रतिमा के सदृश पृथक्सत्ता से शून्य है, ऐसा समझता है। परमार्थ दृष्टि से यह प्रशान्त और अज्ञानरूपी कुहरे से शून्य ज्ञानरूपी शरत्काल के आकाश के सिवा अन्य कुछ नहीं है, अर्थात् अज्ञान के विकार के दूर होने पर यह नित्य निर्विशेष सच्चिदानन्द परब्रह्म में पर्यवसित हो जाता है। तदुपरान्त चौथा स्थितिप्रकरण कहा गया है, तीन हजार श्लोकवाले उस प्रकरण में प्रपंच और उसके अधिष्ठान तत्त्व का वास्तविक प्रतिपादन और कथाएँ प्रचुर मात्रा में हैं। ब्रह्म ही द्रष्टा और दृश्य भाव को स्वीकार कर इस प्रकार जगत्–रूप से और अहंरूप से स्थिति को प्राप्त हुआ है, ऐसा स्थितिप्रकरण में बतलाया गया है, दस दिशाओं के मण्डल की विशालता से दैदीप्यमान यह जगद्भ्रम चिरकाल से इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त हुआ, यह बात उसमें भली–भाँति समझाई गई है। तदनन्तर पाँच हजार श्लोकों से विरचित परम पवित्र तथा विविध युक्तियों से अतिरमणीय पाँचवाँ उपशान्तिप्रकरण कहा गया है। उक्त प्रकरण में यह (जगत), मैं, तुम और वह यों उत्पन्न हुई भ्रान्ति इस प्रकार शांत होती है, यह बात अनेक श्लोकों से दर्शाई गई है। उपशान्तिप्रकरण के सुननेपर यह संसार जीवन्मुक्तिक्रम से क्षीण होता हुआ अंशतः अवशिष्ट रहता है। जैसे जीर्णशीर्ण चित्रलिखित सेना कुछ कुछ दिखाई देती है, वैसे ही जिसका भ्रमपूर्ण स्वरूप शान्त हो गया है ऐसी यह संसृति शतांश शेष रह जाती है ॥१३–३४॥

卐 कंकणता और तरंगता का सुवर्ण, जल के स्वरूप के बिना निरूपण नहीं हो सकता, अतः वे मिथ्या हैं, वैसे ही यह भी मिथ्या है।

उत्तरोत्तर भूमिका की प्राप्ति होने पर अधिक विनाश होने से दृश्य और अदृश्य संस्कारमात्र से इसकी अवशिष्टता दृष्टान्तों से कहते हैं।

यह संसार अन्य के संकल्प से विरचित होने के कारण अन्य के चित्त में स्थित अतएव मिथ्याभूत, जिसमें संकल्प करनेवाले पुरुष के पास बैठे हुए अन्य पुरुष के स्वप्न के युद्ध और वादविवाद से कुछ भी धन आदि वस्तु प्राप्त नहीं होती ऐसी, नगरश्री के समान है, मिथ्या होने के कारण संसार और उक्त नगरश्री दोनों तुल्य हैं, अतएव अन्य की क्रिया और शब्द के अविषय भी हैं, वह जैसे स्वप्न देखनेवाले की दृष्टि से कुछ स्पष्ट दृश्य है, किन्तु संकल्प करनेवाले की दृष्टि से तनिक भी दृश्य न होती हुई अपने आप शान्त हो जाती है वैसे ही यह संसार बना है, यह भाव है ॥३५॥ उससे भी अधिक शान्तिका प्रकर्ष होने पर अदृश्य अवस्था से अन्त में यह संसार शान्त हुए संकल्प से कल्पित मदोन्मत्त गजराज के समान निरंकुश मेघ की भीषण गर्जना के समान, जिस नगरका स्वप्न द्वारा निर्माण या संकल्प द्वारा निर्माण भूल गया है, उस नगर के समान भावी (बनाये जानेवाले) नगर की वाटिका में बच्चा पैदा करनेवाली बाँझ की स्त्री के समान शून्यस्वरूप से युक्त, उक्त वन्ध्या स्त्रीकी जिह्वा से कही जा रही अपने पुत्र के युद्ध आदि की वीररस पूर्ण कथा के अर्थ के अनुभव के तुल्य, जिस घर में चित्र नहीं लिखा गया उस घर की चित्रों से भरी हुई भीत की नाईं, जिसकी अर्थशून्य कल्पना विस्मृत होती जा रही है, उस कल्पित नगरी के सदृश, भावी फूलों के वन के आकाररूप वसन्त से रसरंजित तथा सम्पूर्ण ऋतुओं से युक्त होने पर भी अनुत्पन्न वन के स्पन्दन (उल्लास विकास) के सदृश अस्पष्ट आकारवाला तथा तरंगमालाओं के अपने में समा जाने से अतिनिश्चल जल से युक्त नदी के समान प्रतीत होता है ॥३६– ३९॥ तदुपरान्त निर्वाण नाम का छठा प्रकरण कहा गया है। शेष ग्रन्थ उसका परिमाण है अर्थात् बत्तीस हजार श्लोकों में से ऊपर गिने गये साढ़े सत्रह हजार श्लोकों से शेष साढ़े चौदह हजार ग्रन्थ उसका परिमाण है यानी इसकी श्लोक–संख्या साढ़े चौदह हजार है। यह प्रकरण ज्ञानरूपी महान् (दुर्लभ) पदार्थ को (परम पुरुषार्थ को) देनेवाला है। उसके ज्ञात होने पर मूलअविद्या का सर्वनाश होने से सम्पूर्ण कल्पनाएँ शान्त हो जाती हैं और मोक्षरूप कल्याण प्राप्त होता है। बहुत कल्पनाएँ सम्पूर्ण शान्त हो जाती है और मोक्षरूप कल्याण प्राप्त होता है। बहुत क्या कहें, उक्त प्रकरण के भली भाँति हृदयंगम होने पर जीव के सम्पूर्ण सांसारिक भ्रम विनष्ट हो जाते हैं और वह निर्विषय चैतन्य प्रकाशरूप अतएव सम्पूर्ण आधिव्याधियों से रहित तथा विगतस्पृह हो जाता है। उसकी सम्पूर्ण जगत्–यात्राएँ शान्त हो जाती हैं तथा कृतकृत्य होने से वह स्वस्थ हो जाता है जैसे हीरे का खम्भा अपने में किसी प्रकार के विकार के बिना ही अपने में प्रतिबिम्बित जनता और उसकी चेष्टाओं का आधार होता है वैसे ही आकाश तुल्य (सर्वव्यापक) उक्त जीव भी सबका आधार हो जाता है। मानों सम्पूर्ण जगत्–जलों के निगलने से अति तृप्ति को प्राप्त हो जाता है। उसके बाह्य इन्द्रियों के भोग और मानसिक भोग सब शान्त हो जाते हैं। वह आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक सम्पूर्ण विषयों में स्वीकार और परित्याग दृष्टि से

रहित हो जाता है अतएव देहयुक्त होने पर भी देह रहित सा संसार में रहने पर भी असंसारी हो जाता है, निविड़ पत्थर के हृदय की भाँति छिद्र रहित और वस्तुएँ भी जिसकी उपमा हों इस प्रकार का वह चैतन्यरूप सूर्य अपने अज्ञानसे कल्पित लोकों को आत्माकार वृत्ति से खूब प्रदीप्त हुए अपने प्रकाश से दीप्त करता हुआ भी (प्रकाशरूप होता हुआ भी) दृश्य पदार्थों के न होने से ही उनके प्रकाश के अविषय में निविड हुए अन्धकाररूप पत्थर के सदृश परम अन्धकारको प्राप्त हुआ–सा हो जाता है, उसकी जन्ममरणरूप संसार की दुष्ट लीलाएँ शान्त हो जाती हैं और आशारूपी हैजा नष्ट हो जाता है। उसका अहंकाररूपी पिशाच नष्ट हो जाता है तथा वह शरीर रहित होता हुआ भी देहवान् रहता है। भगवती श्रुति भी कहती है –'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्व–वस्थितम्। महान्त् विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' (शरीर रहित होता हुआ भी नश्वर शरीरों में स्थित महान् विभु आत्मा को जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता) जैसे महान् मेरु पर्वत के किसी एक प्रदेश में फूलमें भँवरी बैठी रहती है वैसे ही उसके सिरके रोम के अग्रभाग में अर्थात् रोमकोटि के तुल्य परिच्छिन्न अविद्या के भी अग्रभाग में (एकदेश में) यह जगत्सम्पत्ति स्थित है ॥४०–४८॥

विस्तारशून्य प्रदेश में अतिविस्तारयुक्त जगत् की प्रतीति कैसे होती है। ऐसी शंका होने पर छोटे से दर्पण के अन्दर मेघ, ग्रह और नक्षत्रों से युक्त आकाश का समावेश सबको दिखाई देता है, अतः अज्ञान के लिए यह कोई कठिन काम नहीं है कि विस्तारशून्य प्रदेश में अतिविस्तारयुक्त जगत् दिखलाई दे, इस अभिप्राय से कहते हैं।

चैतन्यघन परमात्मा अपने भीतर कल्पित आकाश में, परमाणु–परमाणु में हजारों जगतों को स्वयं बनाकर धारण करता है और स्वयं उन्हें देखता है। श्रीरामचन्द्रजी, महामति जीवन्मुक्त पुरुष का हृदय परमात्मा ही है, उसकी विस्तीर्णता का माप करोड़ों हरि, हर आदि भी नहीं कर सकते। उनकी ऐसा करने की सामर्थ्य नहीं है, सो बात नहीं है, किन्तु सत्ता से, अनन्तता से और आनन्दस्वरूपता से जिससे बढ़कर उत्कृष्ट कोई वस्तु ही नहीं है, उस परमात्मा की अपरिच्छिन्नता पारमार्थिक ही है, आकाश आदि की तरह द्रष्टा पुरुष की शक्ति से कल्पित नहीं है, *यह भाव है*॥४९,५०॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अठारहवाँ सर्ग

मुख्य, अमुल्य और आनुषंगिक फलों के साथ इस ग्रन्थ के गुणों का निरूपण।

इस प्रकार विषय और प्रयोजन से प्रकरणभेद का वर्णन कर सम्पूर्ण ग्रन्थ के गुणों का वर्णन कर रहे श्रीवसिष्ठजी तत् तत् दृष्टान्तों के उपन्यास में ग्राह्य अंश और तात्पर्य को, ग्रन्थ शैली के ज्ञान के लिए कहते हैं।

हे रघुवंशतिलक, जैसे जोते हुए उपजाऊ खेत में उचित समय में बोये गये उत्तम बीज से अवश्यम्भावी सत्फल प्राप्त होता है, वैसे ही पूर्वोक्त छः प्रकरणोंसे युक्त इस मोक्षसंहिता के

केवल हृदयंगम करने से ज्ञान प्राप्त होता है ।॥१॥

अनेक शाखाओं के भेद से विभिन्न अनेक श्रुतियों के विद्यमान रहते उन्हें छोड़कर पुरुषबुद्धि से विरचित इसी को आप परम उपादेय क्यों कहते हैं ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं ।

यदि पुरुषबुद्धि से विरचित शास्त्र युक्तियों द्वारा तत्त्व का निर्णायक हो, तो उसका भी ग्रहण करना चाहिए । युक्तियों द्वारा तत्त्व का निर्णय न करनेवाले आर्ष ग्रन्थ का (वेदका) भी त्याग करना चाहिए । पुरुष को सदा न्याय से युक्त (युक्ति–युक्त) का ही अनुसरण करना चाहिए । भाव यह कि यद्यपि श्रुतियाँ पुरुषबुद्धिविरचित शास्त्र की अपेक्षा अत्यन्त पूज्यतम हैं तथापि उनका अभिप्राय नितान्त गुढ़ है, अतः उनसे सहसा ज्ञान नहीं होता; इसलिए साधारण अधिकारियों को उनका ग्रहण नहीं करना चाहिए, सार के ज्ञाता सत्पुरुषों के अनुभवमूलक युक्तियों से पूर्ण इस शास्त्र का अभिप्राय अत्यन्त साफ है, अतः इससे शीघ्र ज्ञान होता है, इसका अवश्य सादर सेवन करना चाहिए । युक्तियों से पूर्ण वचन बालक का भी हो, तो उसको ले लेना चाहिए और युक्तियों से शून्य वचन ब्रह्माजी का ही क्यों न हो पर उसका तृण के समान त्याग कर देना चाहिए ॥२,३॥

यदि कोई कहे कि पुरुषबुद्धि से विरचित शास्त्र ही ग्राह्य है, तो हमारे पूर्वजों के बनाये हुए ही किन्हीं अन्य ग्रन्थों को सुनेंगे, इसको क्यों सुने ? इस पर कहते हैं ।

जो पुरुष यह कुआँ हमारे बाप–दादों का बनाया हुआ है यह सोचकर सामने का गंगाजल छोड़कर कुएँ का जल पीता है, उस अतिरागी को कौन शिक्षा दे सकता है ? ॥४॥

अन्य की अपेक्षा इसमें अतिशय दिखलाते हैं ।

जैसे प्रातःकाल होने पर अवश्य ही प्रकाश होता है, वैसे ही इसके भी केवल चित्त में स्थित करने मात्र से सुन्दर स्वच्छ विवेक होगा ॥५॥

गुड़जिह्विकान्याय से आनुषंगिक फलों को दर्शाने की इच्छा से श्रीवसिष्ठजी पहले शब्दव्युत्पत्तिरूप प्रथम फल कहते हैं ।

विद्वान पुरुष के मुँह से अन्त तक इसका श्रवण कर और स्वयं ही मोटा–मोटी इसका ज्ञान प्राप्तकर विचार से धीरे–धीरे बुद्धि में संस्कार प्राप्त होने पर पहले उन्नत लता के समान सभा को अत्यन्त विभूषित करनेवाली शुद्धवाक्यता हृदय में उत्पन्न होती है ॥६,७॥

अर्थव्युत्पत्तिरूपी चतुरता भी इसका दूसरा फल है, ऐसा कहते हैं ।

महत्त्वरूपी गुण से शोभित होनेवाली वह दूसरी चतुरता उत्पन्न होती है जिससे राजा और देवताओं के तुल्य पूजनीय विद्वान् भी बड़ा प्रेम करते हैं । जैसे सुन्दर नेत्रवाला पुरुष रात्रि के समय दीपक को हाथ में लेकर पदार्थों का ज्ञाता होता है वैसे ही उससे बुद्धिमान् पुरुष सर्वत्र पूर्वापर का ज्ञाता हो जाता है । जैसे शरद ऋतु से परिपूर्ण दिशा का कुहरा नष्ट हो जाता है, वैसे ही बुद्धि के लोभ, मोह आदि दोष शनैः शनैः अत्यन्त क्षीण हो जाते हैं । हे श्रीरामजी, आपकी बुद्धि मलरहित (निर्मल) हो गई है, अब आपको केवल विवेकाभ्यास की अपेक्षा है । अपने अभ्यास के बिना किया कुछ भी फल नहीं देता । विवेकाभ्यास से मन शरत्काल में

महान् सरोवर के तुल्य अतिप्रसाद से युक्त और मन्दर पर्वत से रहित समुद्र के समान क्षोभरहित हो जाता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस ग्रन्थ के अभ्यास से जिसमें व्यामोहरूपी काजल की गन्ध भी नहीं है ऐसी रत्नदीपककी लौ के समान जिसका अज्ञानरूप आवरण नष्ट हो गया है अतएव पदार्थों के विभाग से युक्त प्रज्ञा अत्यन्त दैदीप्यमान हो जाती है। जैसे कवच और शिरत्राण आदि से सुसज्जित योद्धा को बाण छिन्न–भिन्न नहीं कर सकते, वैसे ही दीनता, दरिद्रता आदि दोषों से भरी हुई दृष्टियाँ इस ग्रन्थ के अभ्याससे धन आदि विषयों में असारता ज्ञात होने के कारण मर्मच्छेदन नहीं कर सकती। प्रस्तुत ग्रन्थ का ज्ञाता भयहेतुओं के सामने खड़ा क्यों न हो, फिर भी जैसे बाण पत्थर की चट्टान को नहीं काट सकते वैसे ही भीषण सांसारिक भय उसके हृदय को पीड़ित नहीं कर सकते। क्रमशः दैव और पौरुष की प्रधानता के हेतु जन्म और कर्मों की आदिता कैसे होगी अर्थात् संसार में जन्म के प्रथम होने पर पौरुष की प्रधानता और कर्म के प्रथम होने पर दैव की प्रधानता कैसे होगी ? इत्यादि सन्देह दिन में अन्धकार की नाईं शान्त हो जाते हैं, कारण कि इस ग्रन्थ के सुनने से दोनों में (जन्म और कर्म में) अविद्यामूलक मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है। रात्रि की नाईं अविद्या के नष्ट होने एवं ज्ञानरूपी आलोक के प्राप्त होने पर सदा सब पदार्थों में शान्ति (राग–द्वेष आदि से क्षोभ न होना) हो जाती है। इस ग्रन्थ का विचार करनेवाले पुरुष के हृदय में समुद्र की सी गम्भीरता, मेरु पर्वत की सी निश्चलता और चन्द्रमा की सी शीतलता प्राप्त होती ॥८–१८॥

इस प्रकार आनुषंगिक (गौण) फलों को दर्शा कर मुख्य फल दर्शाते हैं।

भूमिका के क्रम से सम्पूर्ण विशेषताओं के शान्त होने पर पुरुष की वह जीवन्मुक्ति परिपुष्ट हो जाती है, जिसका वाणी से वर्णन नहीं हो सकता। जैसे सम्पूर्ण पदार्थों को शीतल करनेवाली तथा अत्यन्त प्रकाश करनेवाली शरत्कालकी चाँदनी अत्यन्त शोभा को प्राप्त होती है, वैसे ही इस ग्रन्थ का विचार करनेवाले पुरुष की सम्पूर्ण पदार्थों को शीतल करनेवाली तथा परमात्मा का दर्शन करानेवाली बुद्धि अत्यन्त प्रकाश को प्राप्त होती है। हृदयरूपी आकाश में शम से प्रकाशयुक्त विवेकरूप निर्मल सूर्य के उदित होने पर विविध अनर्थों के हेतु काम, क्रोध आदि धूमकेतु कभी उदित नहीं होते, इसमें कोई सन्देह नहीं है। जैसे शरद्ऋतु में वृष्टि करने में अनिच्छुक मेघमालाएँ उन्नत पर्वत में स्थित होती हैं, स्वच्छता को प्राप्त होती हैं और शान्त हो जाती हैं, वैसे ही इस ग्रन्थका विचार करने से विषयों में तृष्णारहित सौम्य पुरुष चंचलतारहित उन्नत स्वात्मपद में स्थित हो जाते हैं, शुद्धि को प्राप्त होते हैं और शान्त होते हैं। जैसे दिन होने पर पिशाचों की लीला समाप्त हो जाती है, वैसे ही दूसरों का द्वेष आदि करनेवाली मुख को दीन बनानेवाली कुटिल अश्लीलवचनताकी निवृत्ति हो जाती है। जैसे चित्र में लिखी गई लता को हवा नहीं कँपा सकती, वैसे ही धर्मरूपी (शम, दमरूपी अथवा (♨) परमात्मरूपी) भीत जिसमें एकाग्रता पूर्वक लीन हुई अतएव धैर्यकी पराकाष्ठा को प्राप्त हुई बुद्धि को मानसिक व्यथाएँ (चिन्ताएँ) विचलित नहीं कर सकती।

♨ विश्वरूपी चित्र का आधार होने से धर्म में (परमात्मा में) भीत्तित्त्वका आरोप किया है।

तत्त्वज्ञानी पुरुष विषयों में आसक्तिरूपी मोहगर्त में नहीं पड़ता, भला बतलाईए तो सही, जिसे मार्ग ज्ञात हो गा वह गड्ढेकी ओर क्यों दौड़ेगा ? जैसे पतिव्रता नारी अन्तःपुर के आँगन में ही प्रसन्न रहती है, इधर–उधर नहीं जाती, वैसे ही सत् शास्त्रों के परिज्ञान से उत्तम चरित्रवाले लोगों की बुद्धि शास्त्र के अनुकूल यथायोग्य प्राप्त कर्म में ही रमण करती है। असंगबुद्धिवाला पुरुष, करोड़ों लाख जगतों में जितने परमाणु हैं, उनमें से प्रत्येक ब्रह्माण्डों को अपने अन्तःकरण में देखता है, कारण कि उसे माया की अघटित घटनामें अत्यन्त पटुता का ज्ञान हो जाता है। मोक्ष के उपाय के ज्ञान से जब पुरुष शुद्ध अन्तःकरणवाला हो जाता है, तब उसे विविध भोग न तो क्लेश पहुँचाते हैं और न आनन्द ही देते हैं। प्रत्येक परमाणु में जो सम्पूर्ण सर्गवर्ग असंकीर्ण होकर जलतरंगों की नाईं आविर्भूत और तिरोभूत होते हैं, उन्हें असंगबुद्धि पुरुष देखता रहता है। वह प्राप्त हुए अनिष्ट कार्यों के लिए द्वेष नहीं करता और निवृत्त हुए इष्ट कार्यों की प्राप्ति के लिए इच्छुक नहीं होता, कार्य के फल आदि के स्वरूप का ज्ञाता होता हुआ भी वह उसे न जाननेवाले वृक्ष के समान रहता है। जो कुछ मिल गया उससे निर्वाह करनेवाला वह सर्वसाधारण लोगों की नाईं दिखाई देता है, इष्ट या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर उसके चित्त में तनिक भी विकार नहीं होता। हे श्रीरामजी, इस सम्पूर्ण शास्त्र को बँचवा कर और मोटामोटी जानकर फिर तात्पर्य के पर्यालोचनपूर्वक प्रत्येक श्लोक का विवेचन कीजिए। इसे आप केवल उक्ति ही न समझिए, किन्तु ब्रह्मा आदि देवताओं के शाप और वरदान के समान इसका फल अवश्य प्राप्त होता है। माधुर्य तथा उपमा, यमक आदि अर्थालंकार और शब्दालंकारों से विभूषित कवितामय और रसमय यह सुन्दर शास्त्र आयास के बिना ही ज्ञात हो जाता है। इसमें दृष्टान्तों द्वारा अर्थ का प्रतिपादन किया गया है, थोड़ी बहुत भी व्युत्पत्तिवाला पुरुष इसे स्वयं ही जान लेता है। जो इसे स्वयं नहीं जान सकता, उसे पण्डित के मुखसे इसको सुनना चाहिए। इसके सुनने, विचार करने और जानने पर मनुष्य को मोक्षप्राप्ति के लिए तपस्या, ध्यान, जप आदि किसीकी भी आवश्यकता नहीं रहती, कारण कि तपस्या, ध्यान, जप आदि का फल इसके फल से गतार्थ हो जाता है, यह भाव है। इस ग्रन्थ का खूब अभ्यास करने एवं पुनः पुनः इसके पर्यालोचन से चित्तसंस्कारपूर्वक अपूर्व पाण्डित्य होता है। यद्यपि अन्य ग्रन्थों के अभ्याससे भी पाण्डित्य होता है, तथापि वह चित्तसंस्कारपूर्वक नहीं होता, इसलिए इस ग्रन्थ के विचार से जनित पाण्डित्य को अपूर्व कहा है। जैसे सूर्योदय से पिशाच स्वयं नष्ट हो जाता है, वैसे ही मैं और जगत् इस प्रकार का अतिप्रौढ़ द्रष्टा और दृश्यरूप पिशाच अनायास नष्ट हो जाता है, अर्थात् द्रष्टा और दृश्य दोनों के शान्त होने से चिन्मात्र शुद्ध आत्मा अवशिष्ट रहता है। मैं और जगत् इत्याकारक भ्रम नष्ट हो जाता है, केवल अधिष्ठान ही शेष रह जाता है, जैसे स्वप्न मोह के ज्ञात होने पर वह भ्रम पैदा नहीं करता, वैसे ही यह भी भ्रम पैदा नहीं करता। जैसे संकल्प द्वारा निर्मित नगर में पुरुष को हर्ष और विषाद नहीं होते अर्थात् संकल्पनिर्मित नगर के पूर्णतया बन जाने पर हर्ष नहीं होता और उसके भंग हो जाने से विषाद नहीं होता, वैसे

ही यह जगत्भ्रम कल्पनामात्र है, ऐसा ज्ञात होने पर फिर यह क्लेशकारक नहीं होता। यह चित्र लिखित सर्प है, वास्तविक सर्प नहीं है, यों ज्ञात होने पर चित्रसर्प चित्रसर्प–दर्शनजनितभयप्रद नहीं होता, वैसे ही दृश्यरूपी सर्प का परिज्ञान होने पर यह सुखप्रद अथवा दुःखप्रद नहीं होता। जैसे यह चित्रलिखित सर्प है, ऐसा ज्ञान होने से चित्र सर्प की सर्पता नष्ट हो जाती है, वैसे ही संसार के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होने पर अधिष्ठानपरिशेषपूर्वक संसार शान्त हो जाता है ॥१९–४१॥

यह प्रपंच अति विस्तीर्ण है, इसका करोड़ों कुदालियों से भी छेदन नहीं हो सकता यह अनायास कैसे नष्ट होगा ? ऐसी शंका कर ज्ञान का प्रभाव ही वैसा है इस अभिप्राय से कहते हैं।

फूलों और पल्लवों के (नवीन पत्तों के) मलने में (नख और सुई आदि से उन्हें छेदने में) भले ही कुछ प्रयत्न करना पड़े, पर परमपदप्राप्ति में तनिक भी यत्न नहीं करना पड़ता॥४२॥

ऐसी यदि बात है तो पहले पौरुष का समर्थन क्यों किया ?

ज्ञान के प्रतिबन्धक राग, असंभावना, विपरीतभावना आदि पुरुषापराध के निराकरण के लिए पौरुष का समर्थन किया है। फूल की पांखुड़ी के मर्दन में भी अंगो में व्यापार होता है, परमार्थपदप्राप्ति में तो बुद्धि व्यापार का भी रोध हो जाता है अंग–प्रत्यंगों के व्यापार की तो कौन कहे ? सुखकर आसन में बैठे हुए, यथायोग्य भोगों का भोग कर रहे, शास्त्रविरूद्ध मार्ग से विमुख एवं देश, काल तथा यथायोग्य सत्संग के अनुसार इस शास्त्र का तथा उपनिषद् आदि का सुखपूर्वक विचार कर रहे पुरुष को संसाररूप क्लेश से मुक्त कर देनेवाला ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। जिसके प्राप्त होने पर पुरुष को फिर माता के उदर में निवास और प्रसवसमय के क्लेश नहीं भोगने पड़ते। ऐसे प्रशंसनीय और सुलभ शास्त्र के रहने पर भी जो पापात्मा नरक आदि क्लेशों से भयभीत न होकर भोगों में आसक्त है, वे अधम माता के मल के कीड़े हैं, उनका नाम लेना भी उचित नहीं है, क्योंकि वे आत्मघाती हैं ॥४३–४७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मुझसे कहे जा रहे इस शास्त्र को आप सुनिए, यह शास्त्र जिनकी बुद्धि अत्यन्त परिशुद्ध है, उनका हृदयभूत है या विवेकबुद्धि से गृहीत होनेवाले सारतर पदार्थों की चरमसीमारूप है या इस शास्त्र का विषय बुद्धि से भी बढ़कर सारतर प्रत्यगत्भूत आत्मतत्त्व है और यह ज्ञान का विस्तार करनेवाला है। जिस दृष्टान्त से यह शास्त्र सुना जाता है और जिस संकेत से इस ग्रन्थ का यथार्थरूप से विचार किया जाता है, उस अवतरणिका को आप सुनिए। जिस अर्थ का अनुभव नहीं है, वह अननुभूत अर्थ है, इस शास्त्र में अननुभूत अर्थ में जिस दृष्ट अर्थ से सादृश्य से बोध किया जाता है, बोधोपकाररूप फलको देनेवाला उसको विद्वान् लोग दृष्टान्त कहते हैं। (दृष्टान्त – दृष्टः अन्तः सादृश्य बलेन प्रकृतार्थनिर्णयो येन सः। जिससे सादृश्य के बल से प्रस्तुत अर्थ का निश्चय होता है, वह दृष्टान्त है।) हे श्रीरामचन्द्रजी जैसे रात्रि में दीपक के बिना घर में स्थित घट, पट आदि पदार्थों का परिज्ञान नहीं होता वैसे ही दृष्टान्त के बिना अपूर्व (अननुभूत) अर्थ का परिज्ञान नहीं होता ॥४८–५१॥

दृष्टान्तों में विलक्षित सादृश्य के विवेक के लिए त्याज्य अंश को दिखलाते हैं।

हे काकुत्स्थ, जिन जिन दृष्टान्तों द्वारा मैं आपको बोध करता हूँ वे सब स्मरण (जन्मवान्) अतएव मिथ्या हैं, ज्ञातव्य परमार्थ सत्य और कारण रहित (नित्य) है। मिथ्याभूत मिट्टी, सुवर्ण आदि से बने हुए दृष्टान्तों से ब्रह्म का बोध कराया जाता है। इससे जन्मत्त्व आदि दृष्टान्तधर्म हेय हैं, यह निष्कर्ष निकला ॥५२॥

परब्रह्म के दृष्टान्तों में ही यह नियम है, अन्य दृष्टान्तों में यह नियम लागू नहीं है। – ऐसा कहते हैं।

केवल एक परब्रह्म को छोड़कर सम्पूर्ण उपमान और उपमेयों का कार्यत्व, कारणत्व आदि से सदृश्य पहले कहा गया है। भाव यह है कि जैसे विचार आदि से बिम्बका ग्राहक ज्ञान उत्पन्न होता है यह कहा जाता है, वैसे ज्ञान से बिम्ब उत्पन्न होता है, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म की उत्पत्ति नहीं कह सकते हैं ॥५३॥

जो पूर्व श्लोक में 'परम ब्रह्म को छोड़ कर' कहा है, उसे विशेषरूप से स्पष्ट करते हैं।

मैं यहाँ ब्रह्मोपदेश में आपसे जो दृष्टान्त कहता हूँ, उसमें एक देश का साधर्म्य लेकर प्रस्तुत अर्थ का निर्णय किया जाता है। भाव यह कि जगद्रूप विवर्त के अधिष्ठान ब्रह्म के बोधन में सर्परूप विवर्त के अधिष्ठान का बोधक रज्जुदृष्टान्त अधिष्ठान का विवर्त होता है, केवल इसी एक अंश में दिया जाता है, दार्ष्टन्तिक ब्रह्म में रहनेवाले नित्यत्व, सुखित्व आदि सम्पूर्ण अंशों में नहीं ॥५४॥

दृष्टान्त का एक देश में ही ग्रहण क्यों होता है ? ऐसी कोई शंका न कर बैठे, इसलिए सर्वांश में सादृश्य की प्रसिद्धि ही नहीं है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

यहाँ ब्रह्मतत्त्व के ज्ञापन में जो–जो दृष्टान्त दिया जाता है वह स्वप्न में प्रतीत पदार्थ की नाईं मिथ्याभूत जगत् के अन्तर्गत ही है वास्तविक नहीं है, क्योंकि दूसरी परमार्थसत्य और चिदानन्दस्वरूप वस्तु है ही नहीं, यह आशय है ॥५५॥ ऐसा होने पर निराकार ब्रह्म में साकार दृष्टान्त कैसे ? ब्रह्म सद्वितीय है या अद्वितीय ? यदि सद्वितीय है, तो सिद्धान्त की हानि होगी। यदि अद्वितीय है, तो गुरु, शास्त्र आदि के अभाव से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी, इस प्रकार के विकल्पों से उत्पन्न मूर्खजनों की उक्तियों को अवसर नहीं मिलता ॥५६॥

इससे दृष्टान्त के अनुमान द्वारा बोधक होनेसे दृष्टान्त, हेतु, व्याप्ति आदि के मिथ्या होने पर व्याप्यत्वासिद्धि, स्वरूपासिद्धि इत्यादि और प्रपंच से सम्बन्ध रखनेवाले हेतुओं से सत्यत्व आदि के साधनमें विरूद्धत्व आदि हेत्वाभासता के प्रयोजक दोष होगे, यों तार्किकों को विवाद के लिए अवसर भी नही दिया गया, ऐसा कहते हैं।

असिद्ध, विरुद्ध आदि दूषण देने में दक्ष तार्किकों के दृष्टान्त–दोषों से, दूषणीय जगत् के स्वप्नतुल्य होने के कारण, वस्तु में कुछ भी दोष नहीं होता। साध्य की सिद्धि होने तक हेतु आदि जगत् के पदार्थों में जो बोध्यबोधक–व्यवहार होता है, वह व्यावहारिक सत्यतामात्र से भी उत्पन्न हो जाता है, यह भाव है ॥५७॥

हेतु आदि भूत जगत् की स्वप्नोपमता का साधर्म्यप्रदर्शन द्वारा उपपादन करते हैं।

उत्पत्ति के पूर्वकाल में और विनाश के उत्तरकाल में अवस्तुभूत (अभावग्रस्त) यह जगत् वर्तमानकाल में भी विचार करने पर अवस्तुभूत ही है, अतः जैसे जाग्रत् पदार्थ हैं वैसे ही स्वप्न पदार्थ भी हैं, दोनों में मिथ्यात्व का साम्य है, यह बात बालकों तक की समझ में आ सकती है ॥५८॥

यदि शंका हो कि प्रतिभासिक सत्तावाले स्वप्न से व्यावहारिक सत्तावाले की तुलना कैसे हो सकती है ? इस पर उन दोनों में परस्पर कार्यकारणता के प्रदर्शन से और लौकिक व्यवहार से तुलना है, ऐसा कहते हैं।

जाग्रत्काल में विजययात्रा करनी चाहिए अथवा नहीं, यों यात्रा के विषय में सन्देह होने पर देवताप्रार्थनापूर्वक सोये हुए पुरुष का स्वप्न में यात्रा करनी चाहिए ऐसा संकल्प होने पर चिरकाल तक पूजा, मन्त्रजप, स्तुति आदि से विजययात्रा के अनुकूल वर मिलने या शत्रुओं के प्रति मुनिशाप आदि देखने पर प्रातःकाल यात्रा करने से शत्रुओं पर विजय देखी जाती है और स्वप्न में औषधिकी प्राप्ति से जाग्रतावस्था में रोगशान्ति देखी जाती है । यों स्वप्नसादृश्य होने के कारण सम्पूर्ण जगत् की व्यवस्था स्वप्नरूप ही है, अतएव जाग्रत् में स्वप्नदृष्टान्त यथार्थ ही हैं। मोक्ष के उपायों की रचना करनेवाले महामुनि वाल्मीकि जी ने अन्य भी पूर्व रामायण आदि जिन ग्रन्थों की रचना की है, उनमें भी दृष्टान्तों की बोध्य के साम्य के बोधन में यही केवल एक व्यवस्था प्रसिद्ध है अर्थात् जिस अंश में साम्य संभव हो उसी अंश के साम्यज्ञापन में व्यवस्था प्रसिद्ध है ॥५९–६०॥

कोई कहे कि यदि ऐसा है, तो इस ग्रन्थ के श्रोता, जगत् की जो स्वप्न तुल्यता कही गई है, उसे सहसा क्यों नहीं जान लेते, इस विषय में विवाद क्यों करते हैं ? इस पर अध्यात्मशास्त्र के श्रवण से उत्पन्न संस्कार न होनेसे उन्हें जगत् में सत्यत्व–भ्रम है, अतः उन्हें शीघ्र जगत् की स्वप्नतुल्यता प्रतीत नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

सम्पूर्ण शास्त्र सुनने पर जगत् की स्वप्नतुल्यता ज्ञात होती है, उसका बोध शीघ्र नहीं कराया जाता, क्योंकि वाणी क्रमशः अपना कार्य करती है। शास्त्रश्रवण में जो लोग आलस्य करते हैं, उन्हें जगत् की स्वप्नतुल्यता प्रतीत नही होती, यह भावार्थ है। चूँकि यह जगत् स्वप्न, मनोरथ और ध्यान से कल्पित नगर के सदृश है इसलिए वे ही दृष्टान्त यहाँ पर दिये गये हैं, अन्य नहीं ॥६१,६२॥

यदि जगत् में स्वप्नादि दष्टान्त देने पर सर्वांश में साधर्म्य विवक्षित हो, तो ब्रह्म में भी कटक, कुण्डल आदि के उपादान सुवर्ण का दृष्टान्त देने पर, सुवर्ण कीसी परिणामिता क्यों न विवक्षित होगी ? इस पर कहते हैं।

बोध के लिए अपरिणामी ब्रह्म में जो परिणामी सुवर्ण आदि का दृष्टान्त दिया जाता है, वहाँ पर उपमाप्रयुक्त प्रयत्नों से सर्वांशमें सादृश्य नहीं हो सकता । भाव यह कि 'तदेतत् ब्रह्मापूर्वमनपरमबाह्यम्', 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियों से चित् शक्ति के परिणाम शून्य,

प्रतिसंक्रमरहित, शुद्ध और अनन्त होने, 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽम्' इत्यादि स्मृतियों से असंग, उदासीन ब्रह्म में परिणाम हेतु का स्पर्श न होने और चित् का जड़ के आकार में होना संभव नहीं है इत्यादि युक्तियों से ब्रह्म का परिणाम न होने के कारण अपरिणामी ब्रह्म में जो परिणामी सुवर्णादि के तुल्य कारणताकी उपमा दी जाती है वहाँ पर उपमाप्रयुक्त प्रयत्नों से भी सर्वांश में साधर्म्य का लाभ होना संभव नहीं है ॥६३॥

उक्त अर्थ को ही स्पष्ट करते हैं।

विवादरहित बुद्धिमान् पुरुष को बोध के लिए उपमान से उपमेय का एक अंश में साधर्म्य स्वीकार करना चाहिए ॥६४॥

लोक में भी 'मणि दीपक के सदृश दिखाई देती है' इत्यादि स्थल में अविवक्षित अंश का सादृश्यज्ञान नहीं देखा जाता, ऐसा कहते हैं।

पदार्थों के प्रदर्शन में प्रकाशमात्ररूप दीपक के सिवा स्थान (दिया), तेल, बत्ती आदि किसीका उपयोग नहीं होता। एकदेश में सादृश्य होने से उपमान उपमेय का ज्ञान कराता है; जैसे 'मणिर्दीप इव' (मणि दीपक के समान है) इस दृष्टान्त से उपमान दीप केवल प्रभा से (प्रकाश से) उपमेय मणि का बोध करा देता है ॥६५॥

इस शास्त्र के सम्पूर्ण दृष्टान्तों का उपयोग कहते हैं।

दृष्टान्त के अंशमात्र से बोध्य का (ज्ञेय ब्रह्म का) बोधोदय होने पर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के अर्थ के निश्चय का उपादेयरूप से ग्रहण करना चाहिए। भाव यह कि स्वप्न आदि दृष्टान्तों से जगत् का मिथ्यात्व प्रतीत होने पर जीवात्मा के आकाश, सूर्य आदि दृष्टान्तों के और ब्रह्म के मिट्टी, सुवर्ण आदि दृष्टान्तों के भी पदार्थपरिशोधन द्वारा बोध्यरूप लक्ष्य अर्थ के लिए और उसका बोध होने पर कार्यसहित अविद्या के विनाश के लिए अवश्य उपादेय होने से सम्पूर्ण श्रुति, और शास्त्रों के महातात्पर्य का विषय 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस प्रकार का महावाक्य के अर्थ का निश्चय ग्राह्य है ॥६६,६७॥

'मैं गोरा हूँ, स्थूल हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष से, औषधपान, आरोग्यलाभ आदि प्रवृत्ति के फलदर्शनरूप लिंग से, अन्य के व्यवहार के साम्यरूप उपमान से, सम्पूर्ण व्यावहारिक महाजनवाक्यों से, 'ब्राह्मणो यजेत्' (ब्राह्मण यज्ञ करे) इत्यादि श्रुति, स्मृति, धर्मशास्त्रों तथा अनेक तार्किकों की युक्तियोंसे देह और उससे भिन्न कर्तृत्व, भोक्तृत्व स्वभाववाला आत्मा जाना जाता है, ऐसी परिस्थिति में प्रत्यक्ष आदि अनेक प्रमाणों से विरुद्ध अर्थका केवल महावाक्य से कैसे ग्रहण करते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

कुतार्किकता को प्राप्त होकर विद्वानों के अनुभवका अपलाप करनेवाले अपवित्र देहात्मभावविषयक होने और अपवित्र कुत्ते, सूअर आदि की योनिप्रद होने के कारण अपवित्र विकल्पों से अर्थात् ब्रह्म प्रमाण सहित है या प्रमाण रहित ? यदि सप्रमाण है, तो अद्वैत की हानि होगी, यदि अप्रमाण है, तो प्रमेय की हानि होगी इत्यादि विकल्पों से परम पुरुषार्थ को प्राप्त करानेवाली प्रबुद्धता का विनाश नहीं करना चाहिए। देह आदि में जिस प्रकार आत्मत्व

का असंभव है, वह प्रकार आगे कहा जायेगा ॥६८॥

सभी लोग प्रतिबन्धशून्य स्वेच्छाविहारजनित सुख के प्रार्थी हैं, अतः दयालु परमहितैषी चार्वाक आदि का तथा स्त्री, पुरुष, मित्र आदि का विविध विचित्र दृष्टभोगसुखजनक स्वाभाविक स्वप्रीति के विषयों में प्रवर्तक संसार में सारता आदि का प्रतिपादक वचन कैसे हेय है ? तपस्याजनित क्लेश, संयम, धनव्यय तथा परिश्रम करानेवाले; इष्ट पुत्र, धन, स्त्री आदि का वियोग करानेवाला तथा संन्यास भिक्षाटन आदि हजारों दृष्ट अनर्थों से परिपूर्ण निर्विषय आत्ममात्रपरिशेषरूप परम दारिद्रयभूत मोक्षफल को देनेवाली जीवब्रह्म की एकता का बोधक होने से शत्रु के वाक्य से तुल्य अचेतन श्रुतिप्रतिपादित महावाक्य कैसे उपादेय है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

ठीक है, विचार न करने से ही वैसा प्रतीत होता है। आपाततः वैरिरूप से ज्ञात हुए वेद का वाक्य विचार से तो नित्य निरतिशय आनन्द आत्मरूप परमपुरुषार्थ का अनुभव करानेवाला है, अतः अनुभवनिष्ठ हम लोगो में, वह सम्पूर्ण प्रमाणों में सर्वोत्तम है, यों समादृत है। परमार्थभूत वैदिक पुरुषार्थ से विरहित वचन यदि परम प्रिय स्त्रीका भी कहा हो, तो मरण, नरक, आदि अनेक अनर्थों का हेतु होने से प्रलापमात्र ही है, वह न तो वेद है, न आप्त पुरुष का वाक्य है और न प्रमाण ही है ॥६९॥

यदि ऐसी बात है, तो कपिल, कणाद, जैमिनि आदिने वेदार्थ के ज्ञाता होने पर भी, पुरुषार्थ और उसके उपायभूत तत्त्व का निरूपण अन्यथा ही कैसे किया और आप अन्यथा ही उसका निरूपण कैसे कर रहे हैं, आपके कथन में कौन–सी विलक्षणता है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस बुद्धिसे तत्त्वसाक्षात्कारजनित जीवन्मुक्तिरूप शुभ भाग्य होता है, वैसी हमारी बुद्धि है, उस बुद्धि से पूर्वोक्त रीति से अपरोक्षानुभवयोग्य परमपुरुषार्थ जिससे प्राप्त होता है, वैसी सम्पूर्ण श्रुतियों की–आध्यात्मिक शास्त्रोंकी–एक वाक्यता (एक महावाक्य के अर्थ में पर्यवसान) फलित होती है। उससे भिन्न श्रुति के तात्पर्य का अविषय, केवल तर्क आदि से ही पुष्ट (विकसित) सांख्य, कणाद आदि का ज्ञान है। हमारा प्रमाण उससे सर्वथा विलक्षण महावाक्यार्थरूप अपरोक्षानुभव योग्य अर्थवाला है, उनका वैसा नहीं है। भाव यह कि उनकी मति कुतर्कों से कुण्ठित हो गई है, अतएव वे श्रुति के तात्पर्य का निश्चय करने योग्य बुद्धि से विरहित है ॥७०॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

दृष्टान्त के अर्थनिरूपण के सिलसिले में नित्य अपरोक्ष द्रष्टा,
दृश्य आदि के साक्षी ब्रह्मरूप प्रमाणतत्त्व का शोधन।

प्रासंगिकता समर्थन कर उससे सम्बद्ध प्रमाणतत्त्व का निर्णय करने के इच्छुक श्रीवसिष्ठजी

ने कहा : हे श्रीरामजी, जिस अंश का विशेषरूप से प्रतिपादन करने की विवक्षा हो, उसीसे सादृश्य सब उपमानों में गृहीत होता है, उपमान और उपमेय में सर्वथा सादृश्य होने पर उपमान और उपमेय में क्या अन्तर रहेगा ? भाव यह कि विशेष, अंश में ही सादृश्य गृहीत होता है, अन्यथा 'गाय के समान गाय है' इत्यादि स्थान में जाति आदि से भी सादृश्य की विवक्षा होने पर भेद न होने से उपमानमात्र का उच्छेद हो जायेगा ॥१॥

दृष्टान्त बुद्धि का फल कहते हैं।

तत् और त्वं पदार्थ के परिशोधन के उपयोगी तत्–तत् दृष्टान्तबुद्धि होने पर अद्वितीय ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वरूप शास्त्रार्थ का (सम्पूर्ण वेदान्तों के तात्पर्यका विषय होने से आत्मतत्त्व शास्त्रार्थ है) ज्ञान होने से अर्थात् अद्वितीय आत्मतत्त्वविषयक अखण्डाकार वृत्ति का उदय होनेसे उससे अभिव्यक्त महावाक्यार्थभूत ब्रह्मस्वरूप से ही भली भाँति सिद्ध अज्ञान और उसके कार्य का विनाशरूप निर्वाण होता है। वही निर्वाण दृष्टान्तबुद्धि का फल कहा जाता है। इसलिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकों के विविध विकल्पों का अर्थात् दृष्टान्तका दार्ष्टान्तिक से भेद और दृष्टान्त में दार्ष्टान्तिक के प्रचुरधर्मवत्त्वके प्रसंजक–क्या यह दृष्टान्त सर्वांश में है, या कुछ धर्मों के अंशमें इत्यादि–विकल्पों का कोई प्रयोजन नहीं है ॥२॥

तो किससे प्रयोजन है ? इस पर कहते हैं।

जिस किसी युक्ति से (पदार्थ, लक्ष्यार्थ और तात्पर्यार्थ के ज्ञान के अनुकूल युक्ति से) महावाक्यार्थ का समाश्रय करना चाहिए ॥३॥

यदि कोई कहे कि सम्पूर्ण संसार की शान्ति होने पर उसके अन्तर्गत दृष्टान्त, युक्ति आदिका भी बाध होनेसे उनमें अभासता होगी, ऐसी आशंका पर फलसिद्धि के पश्चात् साधन की क्षति होना कोई दोष नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप शान्ति को परम कल्याण समझिए, उसीकी प्राप्ति के लिए यत्न कीजिए। भोजनयोग्य भात यदि पक गया, तो उसके पाक में साधनभूत दृष्टान्त आदि के मिथ्या होने से क्या क्षति है ? ॥४॥

'औषधं पिब भ्रातुरिव ते शिखा वर्धिष्ते' (औषधि पीओ, भाई के समान तुम्हारी भी शिखा बढ़ जायेगी) इस प्रकार बालक की औषधि पीने में प्रवृत्ति के कारण और शिखा की वृद्धि में अकारण, इष्ट साधन होने से, एक अंश में सदृश उपमान और उपमेयों से बालक को औषधिपान में इष्टसाधनताज्ञान के (औषधि पीने से मेरा हित होगा इत्याकारक ज्ञान के) लिए जैसे लोक में उपमा दी जाती है, वैसे ही एक अंश से सदृश अपरिणामी और परिणामी उपमान और उपमेयों से ज्ञातव्य सत् पदार्थ के बोध के लिए उपमा दी जाती है ॥५॥

प्रकृत स्थल में उपयुक्त होने के कारण अनात्मविषयक दृष्टान्त दे रहे श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी को शान्ति आदि की प्राप्ति में प्रवृत्त करते हैं।

विवेकशून्य बुद्धि वाले पुरुष को इस संसार में, पत्थर की चट्टान के बीच में उत्पन्न अत्यन्त मोटे अन्धे मेढक के समान भोगों में आसक्त नहीं होना चाहिए, किन्तु शान्ति आदि के लाभ के

लिए प्रयत्न करना चाहिए ॥६॥ इस प्रकार के दृष्टान्तों द्वारा बोधित, पुरुष को प्रयत्नपूर्वक परम पद प्राप्त करना चाहिए और शान्तिप्रद शास्त्रों के अर्थ का परिज्ञाता तथा विचारवान् होना चाहिए। सत्–शास्त्रों के उपदेश, सज्जनता, बुद्धि, शास्त्रज्ञ और आत्मज्ञानियोंके समागम से पूर्व पूर्व अन्तरंग साधन क्रम से युक्त धर्मों (✍) गुरुसेवा आदि के उपयोगी धनों और शास्त्र के तात्पर्यविषयीभूत अर्थों के उपार्जनरूप कर्म में तत्पर बुद्धिमान् पुरुष को तबतक विचार करना चाहिए जबतक कि पुनः नष्ट न होनेवाली चतुर्थपदनामक (🔔) (सप्तमभूमिकाप्राप्तिरूप) शान्तिमय आत्मविश्रान्ति प्राप्त नहीं हो जाती। जो पुरुष सप्तमभूमिकाप्राप्तिरूप विश्रान्तिसुख से युक्त है और संसाररूपी समुद्र के पार हो चुका है, वह चाहे जीवित हो चाहे जीवनरहित हो, गृहस्थ हो या यति हो उसको ऐहिक फल और पारलौकिक फल कृत या अकृत कर्म से प्राप्त नहीं होते और श्रवण–मननरूप मनके विक्षेपों से उसका कोई प्रयोजन नहीं है, वह मन्दराचलरूप मन्थनदण्ड से रहित समुद्र के समान स्वस्थ रहता है ॥७–११॥

यह तो आप परस्पर विरुद्ध कहते हैं 'गृहस्थस्य तथा यतेः' इससे तत्–तत् आश्रम में नियत धर्मों में निष्ठ रहना चाहिए, ऐसा कहा, 'न कृतेऽकृतेनार्थः' इससे अनियतधर्मनिष्ठता कही और 'तत्र निर्मन्दर इवाऽर्णवः' इससे आत्यन्तिक विक्षेपकी निवृत्ति का प्रतिपादक दृष्टान्त दिया, ये सब कैसे संगत होंगे ? ऐसी शंका कर जो पहले आत्मतत्त्व के विषय में एक अंश से साम्य ग्रहण करना चाहिए, ऐसा कहा, उसीके अभिप्राय से इसका उदाहरण दिया गया है, ऐसा कहते हैं।

किसी एक अंश से उपमानों की उपमेयों के साथ बोध्य पदार्थ के बोधन के लिए समता होती है। बोध्य पदार्थ के बोध के उपयोगी होने के कारण इस बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि दूसरे के पक्ष का खण्डन करने के लिए ही चोंच की नाईं तनिक बोध को मुँह में लगाकर न बैठ जाना चाहिए, अपितु बोध को हृदय में प्रविष्ट करा देना चाहिए। अन्यथा स्वपुरुषार्थ का विनाश अनिवार्य हो जायेगा ॥१२॥ हे श्रीरामजी, आपको जिस किसी भी युक्ति से ज्ञातव्य पदार्थ का ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए, जो लोग बोधचंचु (अपूर्णबोध) हैं, वे परपक्ष खंडन में ही व्याकुल रहते हैं, अतएव युक्त और अयुक्तका विचार नहीं कर सकते ॥१३॥

लक्षणों द्वारा दो प्रकार के बोधचंचुओं का निर्देश करते हैं।

हृदयरूपी संविदाकाश में विश्रान्त अनुभवस्वरूप आत्मरूप वस्तु में जो अनर्थबुद्धि करता है, वह पहला बोधचंचु है, भाव यह है कि ज्ञान के फलको जो अनर्थरूप से समझे, वह पहला

✍ दिने दिने च वेदान्तश्रवणाद् भक्तिसंयुतात्। गुरुशुश्रूषया युक्तात् कृच्छ्राशीतिफलं लभेत्॥ यो यजेताऽश्वमेधेन मासि मासि शतं समाः। न यः क्रुध्येत सर्वस्य तयोरक्रोधनो वरः॥ इत्यादि स्मृति में प्रसिद्ध धर्मों का।

🔔 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इस श्रुति में चतुर्थपदनामक शान्ति सप्तमभूमिकाप्रतिष्ठा कही गई है।

बोधचंचु है। जैसे निर्मल आकाश को मेघ मलिन कर देता है, वैसे ही अभिमानमूलक कुतर्कों से ज्ञान और उसके साधनों को विकल्पित करता हुआ जो मूर्ख अपने आत्मभूत बोध को अन्तःकरण में मलिन करता है, वह द्वितीय बोधचंचु है ॥१४,१५॥

प्रासंगिक बोधचंचु के लक्षण को कहकर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के तत्त्व के परीक्षणपूर्वक जीवकी अद्वितीय कूटस्थ चिन्मात्रस्वभावता के व्युत्पादन द्वारा व्यवहार में भी जीवन्मुक्त पुरुष की मन्दराचलशून्य समुद्र के दृष्टान्त से लब्ध निष्क्रियताका समर्थन करने के लिए कहते हैं।

जैसे सम्पूर्ण जलों का आधार समुद्र है, वैसे ही सम्पूर्ण प्रमाणों के प्रामाण्य का आधारभूत प्रत्यक्ष ही मुख्य तत्त्व है, इसलिए उस प्रत्यक्षको ही तत्त्वतः आपसे कहता हूँ, उसे सुनिये। जैसे सब प्रमाणों की सार इन्द्रियाँ हैं, वैसे ही सम्पूर्ण इन्द्रियों का सार अपरोक्षज्ञान है, ऐसा श्रेष्ठ लोगों का कहना है, वही (अपरोक्षज्ञान) मुख्य प्रत्यक्ष है जो 'घटमहं जानामि' इस त्रिपुटीज्ञान से सिद्ध जो अवच्छेदभूत, आश्रयभूत और विषयभूत वस्तु है, वह भी प्रत्यक्ष कही गई है। व्यवहारभूमि में अनुभूति, वेदन और प्रतिपत्तिका नामाक्षरों के अनुसार 'प्रत्यक्ष' यह नाम किया गया है, वह साक्षी ही प्राणधारण के कारण जीव कहा जाता है। साक्षी ही वृत्तिरूप उपाधि से संवित् कहा जाता है। 'अहम्' इत्याकारक प्रतीति का विषय वही प्रमाता कहा जाता है, वही साक्षी जिस विषयाकारकी वृत्ति से (बाह्याकारवृत्ति से) आवरणभंग होने पर, आविर्भूत होता है वह पदार्थ (विषय) कहा जाता है, इस प्रकार साक्षी ही क्रम से त्रिविधता को प्राप्त होता है। जल जैसे तरंग आदि के रूप में प्रकाशित होता है, वैसे ही वही–परमात्मा नामक अद्वितीय, नित्य, सर्वव्यापक, सर्वावभासक चैतन्य ही–विविध भ्रमों को करनेवाले संकल्पविकल्पप्रधान अन्तःकरणों से जगत् के रूप में प्रकाशित होता है। सृष्टि के पूर्व में वह साक्षी एक और अकारणरूप से विराजमान था, तदुपरान्त सृष्टि आरम्भ में सृष्टिलीलावश सृष्टिभाव को प्राप्त हुए उसने अपने स्वयं ही कारणभाव का आविर्भाव किया अर्थात् आप ही अपना कारण हुआ ॥१६–२१॥ यद्यपि एक ही में वास्तविकरूप से कार्यत्व और कारणत्व नहीं बन सकते तथापि साक्षी चेतन में कारणता अविचार (अज्ञान) जनित होने से सत् नहीं है, फिर भी जीव को सत् सी प्रतीत होती है। इस अज्ञानसंवलित आत्मरूप प्रकृति में जगत् अभिव्यक्त (प्रकट) हुआ है, इस प्रकार यह जगत् आरोपित है, यह भाव है ॥२२॥ विचार (विचार से उत्पन्न आत्मसाक्षात्कार) भी अपने से उत्पन्न और परमार्थरूप से अपने से अभिन्न ही जगद्रूप शरीर को अज्ञान के विनाश द्वारा विनष्ट कर तत्त्वज्ञ पुरुषों को आत्मभूत अनावृत्त अपरिच्छिन्न परम पुरुषार्थ को प्राप्त कराता है ॥२३॥

तब तो उक्त विचार या अन्तिम साक्षात्कारवृत्ति मोक्ष में भी अवशिष्ट रहेगी, उसका अन्य से नाश मानने में अनवस्था होगी, इस पर कहते हैं।

जब विचारवान् पुरुष आत्माकार हो जाता है तब विचार भी निवृत्त हो जाता है, तब निरुल्लेख (शब्द आदि का अविषय) एकमात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। इस प्रकार प्रपंच

के बाधित होने पर अपने बुद्धि, इन्द्रिय आदि के साथ इच्छा आदि से रहित मन के शान्त (वृत्तिशून्य) होने पर कार्य, अकार्य, इच्छा आदिका कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता, क्योंकि बाधित का सत्यरूप से भान न होने के कारण प्रारब्धजनित क्रियाभास से क्रिया और उसके फल का भोग नहीं होता, यह भाव है ॥२४,२५॥ इच्छादिरहित मन के शान्त होने पर कर्मेन्द्रिय आदि कर्म में, नहीं चलाये गये यन्त्रों की नाईं, प्रवृत्त नहीं होते। मनकी शान्ति होने पर कर्मेन्द्रियों के और उनकी प्रवृत्ति के निमित्त विषयस्फूर्ति के न होने से जीवमें चलन क्रिया का अभाव है, इस अभिप्राय से 'निर्मन्दर इवाम्भोधिः' (मन्थनदण्डरूप मन्दराचल से शून्य समुद्र के समान) यह दृष्टान्त दिया है। भाव यह कि अज्ञानियों की दृष्टि से चलनक्रिया का भान होने पर भी जीवन्मुक्तों की चलनक्रिया सिद्ध नहीं हो सकती ॥२६॥ जैसे काठ की नाली के भीतर लकड़ी के बने हुए दो भेड़ों को परस्पर भिड़ाने में भीतर रक्खी हुई और भीतर से खींची जाती हुई रस्सी कारण है वैसे ही मनरूपी यन्त्र के चलने में विषयों की स्फूर्ति कारण है ॥२७॥

मन के चलने में निर्विषय संवेदन हेतु नहीं हो सकता अतएव सविषय वेदन को मन के चलन का हेतु कहना होगा। ऐसी अवस्था में मनःस्पन्दन के पहले भी विषयों का अस्तित्व मानना होगा तथा पहले आप विषयों को मनोमय कह चुके हैं, अतः विषयसिद्धि से पहले मन की सिद्धि कहनी होगी, यों अन्योन्याश्रय दोष होगा, ऐसी शंका कर सबके संस्काररूप से मायाशबल चैतन्य के भीतर अधिष्ठान की सत्ता से स्थित होने के कारण सत् ही आविर्भूत होता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्पन्दन (चलन) वायु के ही अन्तर्गत है, वैसे ही रूप अवलोक, मनस्कार तथा पदार्थ या विषय इनसे परिपूर्ण जगत् वेदन के (विषयस्फूर्ति के) अन्तर्गत है। (बाह्य इन्द्रियों के द्वारा विषयग्रहण रूप अवलोक है एवं मन के द्वारा विषयानुसन्धान मनस्कार है) इन दोनों के ही विषय पदार्थ हैं। शुद्ध सर्वात्मवेदन कर्मपरिपाक की व्यवस्था से प्राणियों के कर्मभोग के लिए जैसे आविर्भूत होता है, उन्हीं का रूप धारणकर उत्पन्न हुआ–सा विस्तृत देश, काल, बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थोंके स्वरूप से शोभित होता है। सर्वात्मरूप विचार देह आदि दृश्यताभास को देखकर ही वही मेरा स्वरूप है यों अज्ञान से समझता हुआ जीवभाव से स्थित है। अपना रूप जहाँ, जैसे और जिस प्रकारका प्रतीत होता है वैसा ही वह हो जाता है। वह सर्वात्मा जहाँ जैसे उल्लास को प्राप्त होता है वहाँ शीघ्र वैसे ही स्थित होता है और तद्रूप जैसा शोभित होता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे भ्रमवश रज्जु में सर्पज्ञान होता है वैसे ही जगत् और वह सर्वात्मा द्रष्टा मिथ्या दृश्य होकर प्रकाशित होते हैं, परन्तु जब विचार होने पर भ्रम निवृत्त हो जाता है तब सम्पूर्ण दश्य यथार्थ है, ऐसा बोध नहीं होता। चूँकि चिद्रूपी द्रष्टा सर्वात्मक है अतएव उसके दृश्य के तुल्य होना अयुक्त नहीं है प्रत्युक्त युक्तिसिद्ध ही है। द्रष्टा के स्वरूप में ही दृश्यभाव का भान होता है, अतएव दृश्यभाव वास्तविक नहीं है। इसलिए यह स्थित प्रत्यक्ष ही अकारण अद्वितीय ब्रह्म सिद्ध हुआ अनुमान आदि प्रत्यक्षपूर्वक होने से उसके अंश हैं। भाव यह कि सम्पूर्ण प्रमाणों का तत्त्व आत्मा ही है। सिंहावलोकन न्याय से दैव के निरास

का स्मरण कराते हुए पौरुष का ही यह फल है। हे सज्जनशिरोमणि श्रीरामजी, परमार्थतः जो केवल अपने पूर्वजन्म का कर्म है, उसे दैव मानकर 'मैं उसके आधीन हूँ जैसा वह मुझसे करायेगा वैसा करूँगा' यों उसकी उपासना में तत्पर जो पुरुष है उससे कल्पित दैव को दूर भगाकर इन्द्रिय आदिकी विजय में शूर अधिकारी पुरुष अपने पौरुष से ही उस परम पद को अपने हृदय में ही प्राप्त करता है। हे श्रीरामचन्द्रजी जब तक आप स्वयं ही बुद्धि से उस अनन्तरूप, विशुद्ध परब्रह्म का साक्षात्कार नहीं करते तब तक आचार्यपरम्परा के परमार्थनिष्ठ और प्रमाणशुद्ध मत से विचार कीजिए ॥२८–३५॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

बीसवाँ सर्ग

एक दूसरे को बढ़ानेवाले प्रज्ञाबुद्धि प्रकार, महापुरुषलक्षण और सदाचारक्रम का कथन।

उक्त ज्ञान महापुरुषों में ही रहता है दूसरों में नहीं, और महापुरुष बनने में वक्ष्यमाण सदाचार ही कारण है, अतः सदाचार का वर्णन करने के लिए उपक्रम कर रहे श्रीवसिष्ठजी बोले।

श्रीरामचन्द्रजी, पहले आर्यों के संसर्ग से प्राप्त उपदेश, आचरण, शिक्षण और युक्ति द्वारा बुद्धि को बढ़ाना चाहिए, तदनन्तर आगे कहे जानेवाले महापुरुष के लक्षणों से अपने में महापुरुषता का सम्पादन करना चाहिए। यदि सम्पूर्ण गुण एक पुरुष में न मिलें, तो इस संसार में जो पुरुष जिस गुण के द्वारा उन्नत प्रतीत होता है, वह उसी गुण के द्वारा दूसरे पुरुषों से विशिष्ट गिना जाता है, अतः उस पुरुष से शीघ्र उस गुण को प्राप्त कर अपनी बुद्धि को बढ़ाना चाहिए ॥१,२॥ हे श्रीरामजी, शम आदि गुणों से परिपूर्ण यह महापुरुषता यथार्थ ज्ञान के बिना किसी प्रकार की सिद्धि से प्राप्त नहीं होती। जैसे वृष्टि से नवीन अंकुर बढ़ते हैं, वैसे ही आत्मसुख के आविर्भाव से प्रशंसाके योग्य सत्पुरुषों के शम आदि आचार और अमानित्व आदि ज्ञान से वृद्धि को प्राप्त होते हैं ॥३॥ जैसे अन्नात्मक घृत आदि से युक्त यज्ञों से धान आदि अन्नों की हेतु वृष्टि की अभिवृद्धि होती है, वैसे ही शम आदि गुणों से उत्तम ज्ञान की अभिवृद्धि होती है। यज्ञों से वृष्टि होती है, इस विषय में कहा भी है 'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिवृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' अर्थात् अग्नि में भली भाँति दी गई आहुति आदित्य को प्राप्त होती है, आदित्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है और अन्न से प्राणी होते हैं ॥४,५॥

एक समय में परस्पर वृद्धि के अनुरूप दृष्टान्त को बतलाने के लिए उक्त वस्तु को ही पुनः कहते हैं।

जैसे कमल के सौन्दर्य और शोभा आदि गुणों द्वारा सरोवर की और जल के शीतलता आदि गुणों द्वारा कमल की परस्पर वृद्धि होती है, वैसे ही शम आदि गुणोंकी ज्ञान से और ज्ञान की शम आदि गुणों से परस्पर अभिवृद्धि होती है ॥६॥

इसी प्रकार ज्ञान और सदाचार भी परस्पर अभिवृद्धि के कारण हैं, ऐसा कहते हैं।

ज्ञान की सत्पुरुषों के आचार से वृद्धि होती है और सत्पुरुष के आचार की ज्ञानसे वृद्धि होती है, यों ज्ञान और सत्पुरुष का आचार परस्पर एक दूसरे से अभिवृद्धि को प्राप्त होते हैं। शम, प्रज्ञा, महापुरुषता आदि से युक्त श्रवण आदि प्रयत्न के क्रम से बुद्धिमान् पुरुष ज्ञान और सदाचार का अभ्यास करे यानी उनका पुनः पुनः आवर्तन करे ॥७,८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, यहाँ जबतक ज्ञान और सदाचार का भली भाँति अभ्यास न किया जाय, तब तक उनमें से एक की भी पुरुष को सिद्धि नहीं होती ॥९॥

उनकी अभिवृद्धि का फल भी एक ही समय में होता है, इसे दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

जैसे पके हुए धान के खेत की रक्षा करनेवाली स्त्री को, जो कि पक्षियों को उड़ाने के लिए कोई दूसरा व्यापार नहीं करती है विस्तृत करतलध्वनि से युक्त गान से आयुषंगिक पक्षियों का निरास और गान का आनन्द एक ही काल में होता है वैसे ही ज्ञानप्राप्ति में विघ्नभूत राग, मान आदि के निराकरण से इच्छारहित अतएव कर्ता न होते हुए भी किये गये ज्ञान के हेतु श्रवण और सदाचार से कर्तारूप अर्थात् केवल श्रवण और सदाचारमात्र का कर्तारूप पुरुष आनुषंगिक विघ्नों के निरास द्वारा परम पद को प्राप्त होता है ॥१०,११॥ हे रघुकुलतिलक, जैसे मैंने इस प्रकार के इस सदाचारक्रम का आपको उपदेश दिया है, वैसे ही इस समय आगे के प्रकरण में ज्ञानक्रम का आपको भलीभाँति उपदेश देता हूँ। यह शास्त्र कीर्ति देनेवाला, आयु बढ़ानेवाला और पुरुषार्थरूपी फल देनेवाला है, बुद्धिमान् पुरुष को इस शास्त्र का इसे जाननेवाले हितैषी गुरु से श्रवण करना चाहिए। जैसे निर्मली के चूर्ण का संसर्ग होने से मैला जल निर्मल हो जाता है, वैसे ही इसका श्रवण कर के बुद्धि को दर्पण की नाईं निर्मल करने के कारण आप अवश्य ही उस परम पद को प्राप्त होंगे ॥१२–१४॥

केवल साधनों के बल से ही नहीं, किन्तु ज्ञातव्य तत्त्व के स्वभाव से भी आप परम पद को प्राप्त होंगे, ऐसा कहते हैं।

मुनि का (प्रस्तुत साधनसम्पत्ति से मननशील पुरुष का) मन, जिसने ज्ञातव्य पदार्थ को जान लिया है, ऐसा होकर ज्ञातव्य पदार्थ के बलसे ही विवश हो परम पद को प्राप्त होता है। वह अज्ञान और उसके कार्य का तिरस्कार कर जागरूक हो अखण्डित उत्तम पद को नहीं छोड़ता, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥१५॥

कहा भी है।

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम्। आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते॥

अर्थात् जैसे सर्वसाधारण को देहात्मज्ञान होता है, वैसे ही जिसको आत्मा में ही देहात्मज्ञानका बाधक ज्ञान हो जाता है, वह पुरुष इच्छा न रहते भी मुक्त हो जाता है।

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इति श्री योगवासिष्ठ हिन्दीभाषानुवाद में

मुमुक्षु-व्यवहार प्रकरण समाप्त।

उत्पत्ति प्रकरण

पहला सर्ग

केवल ज्ञान से ही आत्मा की मुक्ति होती है, कर्म और समाधि से नहीं।
अज्ञात आत्मा ही स्वयं दृश्य की सृष्टि करता है इत्यादि का प्रतिपादन।

मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण के अनन्तर पूर्वोक्त साधनों से सम्पन्न अधिकारी के लिए 'तावद् विचारयेत् प्राज्ञो यावद् विश्रान्तिमात्मनि। संप्रयात्यपुनर्नाशां शान्तिं तुर्यपदामिघाम् ॥' (बुद्धिमान पुरुष को तब तक विचार करना चाहिए जब तक कभी नष्ट न होनेवाली सप्तमभूमिकाप्राप्तिरूप तथा आत्मा में विश्रान्तिरूप शान्ति नहीं प्राप्त होती।) इस प्रकार तत्त्वके साक्षात्कारपर्यन्त विचारका कर्तव्यरूप से विधान किया है। वैराग्यप्रकरण तथा मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणमें वर्णित सम्पूर्ण साधनों से सम्पन्न सर्वोत्तम अधिकारी श्रीरामचन्द्रजीके लिए उक्त विचार के प्रकार का 'अथोपदिश्यते सम्यगेवं ज्ञानक्रमोऽधुना।' यों प्रतिज्ञापूर्वक विस्तार से वर्णन करने के लिए प्रवृत्त हुए भगवान् श्रीवसिष्ठजी सृष्टिप्रकार के वर्णन द्वारा अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन करने के लिए आरब्ध (आरंभ किये गये) उत्पत्तिप्रकरणका, सुखपूर्वक बोध के लिए, पहले संक्षेपमें तात्पर्य दर्शाने की इच्छासे जैसे 'तद्वेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' इत्यादि सृष्टिप्रतिपादक श्रुतिका 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यके बोधमें पर्यवसान है वैसे ही इस प्रकरणका भी 'दृष्टान्तस्यैकदेशेन बोध्यबोधोदये सति। उपादेयतया ग्राह्यो महावाक्यर्थनिर्णयः ॥' पूर्वोक्त रीति से महावाक्य के बोधमें पर्यवसान दिखलाते हैं –

ब्रह्म ही जब 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्य से उत्पन्न अखण्डाकार वृत्ति से अत्यन्त प्रदीप्त आत्मप्रकाश द्वारा स्वतत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह अपने वास्तविक नित्य, मुक्त और पूर्णस्वरूप से प्रकाशित होता है।

भाव यह कि वह अपनी मुक्ति के लिए 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों से जन्य अखण्डाकार वृत्ति से अतिरिक्त किसी साधन की अपेक्षा नहीं करता।

शंका – सो कैसे ?

समाधान – चूंकि स्वप्न में विविध विचित्र पदार्थों की नाईं यह देह, इन्द्रिय आदि तथा आकाश आदि बन्धरूप दृश्य प्रत्यगात्मभूत ब्रह्म में ही आविर्भूत होकर प्रकाशित होता है। जैसे स्वप्न बन्ध की निवृत्ति के लिए प्रबोध से अतिरिक्त साधन की अपेक्षा नहीं होती है वैसे ही आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिए महावाक्यजन्य अखण्डाकार वृत्ति से अतिरिक्त साधन की अपेक्षा नहीं होती, यह भाव है। श्रुति भी है यद्ब्रह्मविद्यया सर्व भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मावेद् यस्मात्तत्सर्वमभवत्' (ब्रह्मविद्या से ब्रह्म श्रीपरमात्मा) जिससे ज्ञात होता है वह ब्रह्मविद्या है उससे हम 'सब' हो जायेंगे, ऐसा मनुष्य मानते हैं, ब्रह्म ने क्या जाना जिससे कि वह सर्व हुआ) ऐसा प्रश्न कर उत्तर दिया है 'ब्रह्म वा इदमग्रआसीत् तदात्मानमेवावेदहमस्मीति तस्मात्तत्वसर्वमभवत्' (यह ब्रह्म ही सृष्टि के पूर्व था, उसने 'अहं ब्रह्मास्मि' यों अपने को

जाना उससे वह सर्व हो गया) इस श्रुति में ब्रह्म स्वयं स्वतत्त्व के बोध से बन्धनशून्य और पूर्ण हो गया इस कथन से ब्रह्म ही स्वतत्त्वबोध से पहले द्वैत, प्रिय–अप्रिय दर्शन परिच्छेदरूप बन्ध का अनुभव–सा करता है। इससे बन्ध का मिथ्यात्व प्रत्यग् आत्मा का ब्रह्मत्व अतिस्पष्टरूप से ज्ञात होता है। जैसे वहाँ पर महावाक्य के अर्थ के उपपादक 'तन्नमरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (वह अव्याकृत आत्मा नाम और रूप से व्याकृत हुआ अर्थात् ऐसे व्यक्तिभाव को प्राप्त हुआ जिसमें नाम–रूप विशेष के निश्चय की मर्यादा है), 'स एष इह प्रविष्ट आनखोभ्यः' (आत्मा देह में नखाग्रपर्यन्त व्याप्त है) इत्यादि पूर्ववर्ती सृष्टि और प्रवेश के प्रतिपादक अर्थवादभूत वाक्यों का –अज्ञातब्रह्ममात्रोपादानक (केवल अज्ञात ब्रह्म ही जिनका उपादान है) जगत् और जीवकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश इन तीनों कालों में ब्रह्म से अतिरिक्त सत्ता नहीं है, अतः वे मिथ्या ही हैं– यों उपपादन द्वारा अपने प्रधानभूत महावाक्य के तात्पर्य के विषय अद्वैत ब्रह्म में पर्यवसान है वैसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिये, यह भाव है।

शंका – वैसा हो उससे हमें क्या प्रयोजन है ?

समाधान – 'तद्' इत्यादि से। 'उस ब्रह्म को इस समय का जो हमारे समान अधिकारी श्रवण आदि उपायों से जिस प्रकार यथार्थरूप से 'मैं ही ब्रह्म हूँ' यों साक्षात्कार करता है, वह पूर्वोक्त पूर्ण, नित्य, मुक्त, ब्रह्मज्योतिस्वरूप मोक्षफल का भी जीतेजी अनुभव करता है। श्रुति भी है – तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तद्यथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (देवता, ऋषि और मनुष्यों में जिस जिसने यथोक्त विधि से आत्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया वही आत्मा (ब्रह्म) हो गया। 'ब्रह्म ही मैं हूँ' यों साक्षात्कार कर रहे ऋषि वामदेवजी को यह ज्ञान हुआ कि 'मैं मनु हुआ और मैं सूर्य हुआ' (📖) ॥१॥

📖 संस्कृत टीकाकारों ने उक्त श्लोक से अनेक अर्थ किये हैं उनमें से कुछ नीचे लिखे जाते हैं।

अथवा जो अज्ञात होने के कारण मुमुक्षुओं की जिज्ञासा का विषय है, सम्पूर्ण लोगों को जिसका आत्मरूपसे प्रत्यक्ष है, वह ब्रह्म वाचक शब्दसमूह और उससे प्रकाशित होनेवाले अर्थसमूह से 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' (नाम, रूप और कर्म ये तीन) इत्यादि श्रुति में प्रदर्शित द्वैतप्रपंच से अपृथक् अपने को देखता हुआ अपने में स्वप्न की नाईं, बन्धन, शोक मोह आदि से दुःखी प्रतीत होता है। जो अधिकारी उस प्रकार से प्रतीत होते हुए भी ब्रह्म को केवल आत्मा का ही परिशेष बतलानेवाले 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य द्वारा द्वैतनिषेध से अवशिष्ट जानता है, वही ब्रह्म को यथार्थरूप से जानता है। आरोपित नाम, रूप आदि को देखनेवाला पुरुष उसे नहीं जान सकता यह भाव है।

अथवा – 'वाग्' से वचन (बोलना), गमन आदि क्रियाप्रधान कर्मेन्द्रियाँ लक्षित होती हैं और 'भाः' से प्रकाशप्रधान ज्ञानेन्द्रियाँ लक्षित होती हैं। उक्त द्वारभूत ज्ञानेन्द्रि और कर्मेन्द्रियों से जो वस्तुतः ब्रह्म को भी देखता है वह स्वयं ब्रह्म होता हुआ भी आत्मा में स्वप्न की नाईं अब्रह्मभूत अन्यथा प्रतीत होता है, कारण कि बहिर्मुख पुरुष को तत्त्वदर्शन नही हो सकता, 'पराचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्म् (परमात्मा ने इन्द्रियों को अनात्मविषयक बना कर उनकी हिंसा की, इसलिए जीव

इस प्रकार उत्पत्ति–प्रकरण के संक्षिप्त अर्थ के प्रदर्शन द्वारा अवान्तर विषय के दिखलाने पर 'प्रपंच मिथ्या है' इत्याकारक ज्ञानरूप अवान्तर प्रयोजन से संबन्ध रखनेवाले पूर्वोक्त दूषण का परिहार भी अर्थात् हो गया, ऐसा कहते हैं।

पीछे संक्षेप से प्रदर्शित और आगे विस्तार से कहे जानेवाले 'अध्यस्त पदार्थ का अधिष्ठान से पृथक् अस्तित्व नहीं है' इस न्याय से या अध्यारोपाअपवादन्याय से अध्यासक्रमसे दृश्यमान इस प्रपंचरूप सृष्टि के ब्रह्म रूप होने पर या सृष्टिके अपवादक्रम से ब्रह्ममात्र शेष रहने पर : तदेतद्भगवान् ब्रूहि किमिदं परिणश्यति। किमिदं जायते भूयः किमिदं परिवर्द्धते॥ इत्यादि से 'यह क्या है, किसका है और कहाँ पर स्थित है' यों आपने पीछे (१/१२/१७) जो सत् के नाशादि के असंभवका दूषण दिया, वह स्वतः ही निराकृत हो गया, क्योंकि सत् का नाश नहीं माना गया है, विनाशी की सत्ता नहीं मानी गई है, इसलिए आपने जो दोष दिया, उसका यह विषय ही नहीं है, यह भाव है॥२॥

इस प्रकार अवान्तर विषय और प्रयोजन दिखला कर विस्तारपूर्वक कथन की प्रतिज्ञा करते हैं।

उनसे अनात्मपदार्थों को ही देखता है) इत्यादि परमार्थपरक वाक्यों से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान से सबका अधिष्ठान सन्मात्र जानता है, बाह्य इन्द्रियों की विषयप्रवृत्ति से मुक्त तथा प्रत्यङमुख हुआ वह ब्रह्म को जानता है। बाह्य दृष्टि से देखा गया ब्रह्म भी अनर्थ ही है और प्रामाणिक प्रत्यग् दृष्टि से देखा गया जगत् भी पुरुषार्थ के लिए होता है। यों सृष्टिविस्तार के बहाने प्रत्यग् दृष्टि के विकास कराने में ही इस ग्रन्थ का तात्पर्य है, यह भाव है। अथवा आगे कही जानेवाली उपदेश वाणियों से तथा दृष्टान्त, आख्यान और युक्तिरूप प्रकाशों से यह कहा जाता है कि ब्रह्मज्ञ ही परमार्थरूप से ब्रह्म है। ब्रह्मनाम का दूसरा कोई पदार्थ व्यवहित दूर प्रदेश में आत्मा से अतिरिक्त है, ऐसी भ्रान्ति नहीं करनी चाहिए। जो यह दृश्य प्रपंच है, वह स्वप्न की नाईं परमात्मा में अध्यस्त हुआ प्रतीत होता है, वह भी परमार्थ सत्य अन्य पदार्थ है, ऐसी भ्रान्ति को स्थान नहीं देना चाहिए। पूर्वोक्त ब्रह्मभाव और जगद्भाव में जो विवेकी अथवा अविवेकी 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं देवदत्त हूँ', यों स्वाभाविक लौकिक प्रसिद्ध मिथ्या स्वशब्दों से उत्पन्न या 'ब्रह्मैवाहम्' (मैं ब्रह्म ही हूँ) 'चिदेवाहम्' (मैं चित् ही हूँ) इत्यादि शास्त्रीय सत्य अर्थवाले स्वशब्दों से उत्पन्न ज्ञान से जैसा अपना स्वरूप जानता है वैसा ही पुनः पुनः अनुभव करता है। संसारी आत्मा को देखनेवाले को संसाररूप फल प्राप्त होता है और ब्रह्मात्मदर्शी को ब्रह्मभाव प्राप्त होता है, इसलिए जीव को ब्रह्मात्मदर्शी होना चाहिए, यह भाव है। अथवा यदि किसी को शंका हो कि 'यथास्थितं ब्रह्मतत्त्वं सत्ता नियतिरूच्यते' तथा 'अस्त्यनन्तविलासानामाश्रयः सर्वसंश्रयः' (योगवासिष्ठ. १०/१ तथा ११ मुमुक्षु व्य.प्र.) इत्यादि से पूर्व में ब्रह्म का उपदेश हो ही चुका है। वहीं पर ब्रह्म का उपदेश देने पर शम, दम आदि के अभाव में चित्त की अस्थिरता होने पर चित्त की स्थिरता के साधन, शम, दम आदि और उनकी पुष्टि के लिए पौरुष का उपदेश दिया जा चुका है अब कोई भी उपदेष्टव्य वस्तु बची नहीं। यदि कहिये कि एक बार उपदिष्ट वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान से ब्रह्म का भान नहीं होता, तो सैकड़ों बार उसका उपदेश देने पर भी वह वैसाका वैसा ही रहेगा। फिर पिष्टपेषणकी नाईं उसके पुनः पुनः उपदेश से क्या फल होगा? इस पर कहते हैं। जो ब्रह्मवेत्ता श्रोता पुरुष एक बार उपदिष्ट वाक्यों के अर्थप्रकाश से 'मैं ही ब्रह्म

हे बुध (✍), मैं पीछे संक्षेप से दिखलाये गये सम्पूर्ण पदार्थों को प्रमाणों और अनुभव के अनुसार, वस्तु के अनुसार और स्वभाव के अनुसार क्रमशः विस्तारपूर्वक कहता हूँ, आप सावधान होकर सुनिए ॥३॥

'स्वप्न की नाईं आत्मा में आविर्भूत हुआ प्रतीत होता है' ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसका तात्पर्य स्पष्ट करते हैं।

जीवभाव को प्राप्त होकर जो जगत् को देखता है, वह स्वप्न की नाईं देखता है अर्थात् जैसे स्वप्नदर्शन विषय का बाध होने पर भी बाधित नहीं होता, वैसे ही जगद्दर्शन भी बाधित

✍ 'यथावस्तु' का–परीक्षा द्वारा जैसी वस्तु है उसके अनुसार, 'यथाक्रम' का साधन और युक्तियों के निरूपणपूर्वक और 'यथास्वभाव' का जैसा श्रोता का स्वभाव है अर्थात् श्रोता की बुद्धि की परिपक्वता के अनुसार, यह अर्थ करना चाहिए। अथवा 'यथावस्तु' से सृष्टि से पूर्व अवस्था का कथन है, क्योंकि उस समय सम्पूर्ण सन्मात्र ही था। 'यथाज्ञानम्' से सृष्टि के आरम्भ की उन्मुखता का कथन है, 'यथाक्रमम्' से स्थूलरूप से सृष्टि के क्रम का कथन है 'यथास्वभावम्' से जगत् के आरोप की दशा में भी वह अविकृतस्वभाव रहता है, इसका कथन है और 'सर्वम्' से ज्ञान से प्राप्त होनेवाले पूर्णभाव का कथन है, 'तस्मात्तत् सर्वमभवत्' इस श्रुति में पूर्णभाव में सर्वशब्द देखा जाता है। 'बुध' इससे उत्तम अधिकार का स्मरण कराना श्रवण में आदर उत्पन्न करने के लिए है।

हूँ', यों जानता है उसके ज्ञान का स्वप्न की नाईं प्रायः बाध हो जाता है, वह दृढ़ नहीं रहता या जैसे निद्रावशीभूत पुरुष अप्रसिद्ध अपने नक्षत्रनाम से धीरे धीरे पुकारे जा रहे वाक्य को ठीक ठीक नहीं समझ पाता वैसे ही एक बार उपदिष्ट वाक्य के अर्थप्रकाश से भी 'मैं ही ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होता। वही पुरुष हे देवदत्त ! हे यज्ञदत्त ! यों चिरकाल के व्यवहार से प्रसिद्ध अपने नामके सम्बोधन से उत्पन्न ज्ञान से जो जानता है वही जानता है वैसा असंदिग्ध आत्मबोध ही अविद्या के उच्छेद में हेतु है, यह अर्थ है। वैसे दृढ़ निश्चय से युक्त अपरोक्ष अनुभव के लिए युक्तियों से फल की प्राप्ति होने तक पुनः पुनः उपदेश का अभ्यास करना चाहिए। अथवा– जैसे ब्रह्मको न जाननेवाला पुरुष जाग्रत् काल की भय आदि की चिरकालिक वासनाओं से वासित होकर स्वप्न में अविद्यावश निन्दा करना, धमकाना आदि भीषण वाणियों से भय से काँपना, भागना, गड्ढे में गिरना आदि से युक्त होकर दुःखी प्रतीत होता है, या जैसे उपासक पुरुष जाग्रद्काल की देहभाव वासना से वासित होकर स्वप्न में देवता के तुल्य, राजा के तुल्य स्तुति, प्रशंसा आदि की वाणियों से और क्रीड़ा, विमान पर चढ़ना, आकाशविहार करना आदि प्रतिभासे युक्त प्रतीत होता है वैसे ब्रह्मवेत्ता भी चिरकाल से भली भाँति अभ्यस्त श्रवण आदि से वासित होकर स्वप्न में यह सब ब्रह्म ही है', 'यह सब आत्मा ही है', 'मैं ही यह सब हूँ' इस प्रकार परमार्थ का प्रतिपादन करनेवाली वाणियों से और वास्तविक ब्रह्मभाव की प्रतिभासे दीप्त होता है, फलावस्था में भी स्वप्न की नाईं परलोकफल भी दृढ़ अभ्यस्त वासना के अनुसार होता है, इसका आगे लीलोपाख्यान आदि में उपपादन किया जायेगा। **शंका –** इसमें क्या प्रमाण है ? **समाधान –** स्वप्न की नाईं परलोक फल भी वासना के अनुसार होता है, इस बात का 'जो स्वयं ही (न कि अन्य किसी की अपेक्षा से) ज्ञान कराते हैं, वे स्वशब्द हैं अर्थात् श्रुतियाँ उनसे उत्पन्न स्वतः प्रमाणभूत ज्ञान से निश्चय होता है। 'अख यत्रैनं ध्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाद्यति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया

नहीं होता। भाव यह कि ज्ञान की सत्यता में तात्पर्य है। 'अहम्' यों प्रत्यक् आत्मा के तादात्म्य से और 'त्वम्' यों अनात्मभाव से भासित हो रहा प्रपंचरूप भी स्वप्नसंसाररूप दृष्टान्त में भली भाँति सम्बद्ध है। भाव यह कि उसके मिथ्यात्व में तात्पर्य है। अथवा देह की स्वप्नतुल्यता भले ही हो पर बाह्य नामरूपात्मक जगन्मात्र की स्वप्नतुल्यता कैसे हो सकती है ? इस शंका पर कहते हैं। केवल बाह्यरूप आदि ही नहीं भासता है, किन्तु मैं रूप को देखता हूँ, यों त्रिपुटीभूत 'अहम्' अर्थसे संवलित त्वमर्थरूप प्रकाशित होता है वह साक्षिमात्रजन्य होने से स्वप्नसंसारदृष्टान्त में दार्ष्टान्तिक होता ही है। अध्यस्तविषयक ज्ञान में सत्य पदार्थ विषय नहीं होता है। भ्रम में अध्यस्त का ही भान होता है और कुछ भी किसी तरह भासित नहीं होता–इस सिद्धान्त के अनुसार बाह्य प्रमाणों के व्यवहारों में अर्थ के विसंवादमात्रसे भी व्यावहारिक प्रमाण्य का विघात नहीं होता है, यह भाव है ॥४॥ जिस प्रकरण में प्रायः मुमुक्षुओं के व्यवहारका वर्णन है, उसके अर्थात् मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण के अनन्तर में इस उत्पत्ति प्रकरण का वर्णन करता हूँ ॥५॥

यदि शंका हो कि मैं संसाररूप बन्धन की निवृत्ति का उपाय चाहता हूँ, मेरा दृश्य को मिथ्या सिद्ध करनेवाले इस उत्पत्ति प्रकरण को सुनने से क्या लाभ ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जब तक दृश्य है, तभी तक यह संसाररूप बन्धन है। दृश्य की निवृत्ति होने से बन्धन नहीं रह सकता। यह दृश्य जिस प्रकार उत्पन्न होता है, उसे आप क्रम से सुनिए ॥६॥

केवल दृश्य के अभावमात्र से बन्धन की निवृत्ति कही है, पर यह ठीक नहीं जँचता, क्यों कि उत्पत्ति, वृद्धि, नाश, स्वर्ग,नरक आदि बन्धन आत्मा के धर्मरूप से प्रतीत होते हैं, अतः

मन्तेऽथो यत्र देव इव राजे–वाहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः (स्वप्न में इस स्वप्नदर्शक पुरुषको शत्रु या अन्य चोर मारते–से हैं, वशीभूत–सा करते हैं, हाथी–सा इसको भगाता है, गड्ढे में गिरता–सा है, जो हाथी आदिरूप जाग्रत भय को देखता है, उसीको स्वप्न में भी देखता है, स्वप्न में भयके बिना भी मिथ्या ही उत्पन्न हुई अविद्या से भय मानता है। जिस काल में देवता के समान, राजा के समान मैं ही सब हूँ, ऐसा मानता है। जो यह सर्वात्मभाव है वही इसका परम लोक है), 'तद्य इह व्याघ्रो वा सिंहो वा यद् यद्भवन्ति तदा भवन्ति' (वे इस लोक में कर्म से प्राप्त जिस–जिस व्याघ्र आदि जाति को प्राप्त हुए थे, वे उस कर्मज्ञान की वासना से वासित होकर सत् में प्रविष्ट होकर भी फिर तद्–तद् भाव से उत्पन्न होते हैं), 'यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम्' 'मन कृतेनायात्यस्मिन् शरीरे' (जिस वस्तु का चिन्तन करता है, तन्मय हो जाता है, यह परम गुह्य है और संकल्प द्वारा ही इस शरीर में आता है) इत्यादि श्रुतियाँ तथा 'यंयं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुश्मर युद्‍ध च ॥ (जिस जिस पदार्थ का स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है, उसी भाव को प्राप्त होता है। इसलिए तुम सर्वदा मेरा स्मरण करो) इत्यादि स्मृतियाँ है। अभ्यासावस्था में जो पुरुष संसारी आत्मा को या ब्रह्मभाव को जानता है, वह फलावस्थामें भी उसको जानता है, इसलिए नित्य निरन्तर ब्रह्मानुभववासना को ही दृढ़ करना चाहिए, यह उत्पत्ति प्रकरण का तात्पर्यार्थ है इत्यादि।

उनका आत्मकोटि में अन्तर्भाव ठहरा, ऐसी स्थिति में दृश्य की निवृत्ति होने पर भी बन्ध की निवृत्ति नहीं होगी, इस शंका पर कहते हैं।

इस संसार में जो उत्पन्न होता है, वही वृद्धि, क्षय, स्वर्ग और नरक को प्राप्त होता है एवं वही बन्ध और मोक्ष को प्राप्त होता है। उत्पत्ति, वृद्धि, विनाश, आदि धर्म आत्मा के नहीं हैं। अपने स्वरूप का परिज्ञान न होने से ही उसको उत्पत्ति आदिका भ्रम होता है, यह तात्पर्य है ॥७॥ चूँकि अपने स्वरूप के अज्ञान से ही बन्ध है, अतः अपने स्वरूप के बोध के लिए आगे के ग्रन्थ से दृश्य प्रपंच का असंभव कहता हूँ। उत्पत्ति आदि का सम्बन्ध दृश्य संसार से है, आत्मा से नहीं। आत्मा तो दृश्य प्रपंच की उत्पत्ति से पहले जैसा था वैसा ही रहता है। अणुमात्र भी उसमें विकार नही आता ॥८॥

भगवती श्रुति भी कहती है :

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता ॥

(न उत्पत्ति है और न प्रलय है, उत्पत्ति और प्रलय न होने से ही न बद्ध (संसारी जीव) है, न साधक है, न मोक्षार्थी है और न मुक्त है, यह परमार्थ बात है।)

यही इस प्रकरण का प्रतिपाद्य अर्थ है, यह बात आगे कहे जानेवाले विस्तार की भूमिका के रूप में इस सर्ग में कही जाती है, ऐसा कहते हैं।

हे राघव, आप पहले प्रकरण के उपोद्घात के लिए इस सर्ग में कहे जानेवाले अर्थ को सुनिए, तदुपरान्त मैं आपसे आपकी इच्छा के अनुसार इसको विस्तारपूर्वक कहूँगा ॥९॥

'पूर्वमेव हि यो यथा' इससे उक्त अर्थ की उपपत्ति के लिए प्रलयावस्था में अवशिष्ट आत्मस्वरूप को कहने के लिए कारण में पूर्वसृष्टि के लय के प्रकार को दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

जो यह चराचर सम्पूर्ण जगत् दिखलाई देता है, वह सुषुप्ति में स्वप्न की नाईं कल्पान्त में (प्रलयकाल में) नष्ट हो जाता है ॥१०॥ तदुपरान्त अमूर्त होने से क्रियारहित परिच्छेद (माप) से शून्य होने से अथाह (असीम), निर्धर्मिक (धर्मरहित) होने से संज्ञारहित और अज्ञानसे आवृत्त होने से अभिव्यक्ति से शून्य अथवा प्रपंच के संस्कार का आधार होने से अभिव्यक्ति से रहित केवल सत् नामक ही कोई वस्तु शेष रहती है, वह रूपरहित होनेसे न तो तेज है और न प्रकाशरूप होने से तम ही है ॥११॥ विद्वानों ने व्यवहार के लिए (卐) उस सद्रूप सर्वव्यापक आत्मा के ऋत, आत्मा, पर, ब्रह्म, सत्य (🕮) इत्यादि अनेक नामों की

卐 यहाँ पर उपदेश के योग्य शिष्य आदि को उपदेश देना व्यवहार है, उस व्यवहार के लिए।

🕮 वह सर्वश्रेष्ठ प्रमाणरूप श्रुति से जाना जाता है, अतः ऋत कहलाता है – 'यच्चाऽऽप्नोति यदादत्ते यच्चाति विषयानिह। यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति शब्दते ॥' (चूँकि सम्पूर्ण पदार्थों को व्याप्त करता है, उनका ग्रहण करता है, भोग करता है और कभी नष्ट नहीं होता, इसलिए यह आत्मा कहा जाता है) वेदव्यासजी की इस उक्ति के अनुसार आत्मा, सत्यता के उत्कर्ष की अवधि होने से पर, स्वयं बृहत् होने से या जगत् के आकार को बढ़ानेवाला होने से ब्रह्म, विद्वानों को शास्त्रानुसार उसका अनुभव होता है, अतः सत्य कहलाता है।

कल्पना कर रक्खी है ॥१२॥

अब सृष्टि के आरम्भ में उसका मिथ्याभूत समष्टिजीवभाव कहते हैं।

चैतन्यस्वभाव वही आत्मा अज्ञान से अन्य-सा, जड़-सा अर्थात् आकाश आदि के क्रम से उत्पन्न लिंगसमष्टिरूप होकर उसमें प्रवेश करने से 'वही हूँ' इस अभिमान से उसकी नाईं प्रतीत होता हुआ भावी जीवनामसे गर्हित बनाई गई जीवता को भ्रान्ति से प्राप्त-सा होता है ॥१३॥

इस प्रकार केवल ज्ञानशक्ति से होनेवाली सृष्टि को कहकर अब क्रियाशक्ति से युक्त ज्ञानशक्ति से साध्य सृष्टि को कहते हैं।

तदनन्तर क्रियाशक्ति की प्रधानता से सम्पन्न प्राण के धारण से चंचलता को प्राप्त हुआ वह भौतिकलिंगात्मा संकल्प और विकल्प के मननसे जड़तावश मन्द होकर मन बन जाता है। जैसे निश्चल आकारवाला समुद्र चंचल आकारवाले तरंगभाव को प्राप्त होता है, वैसे ही वह मनरूप बन जाने से अपने महान् परमात्मभाव को भूलकर मन के संकल्प, विकल्प आदि धर्मों को अपने धर्म समझने लगता है। इस प्रकार समष्टि मनोभाव को प्राप्त हुआ हिरण्यगर्भनामक ब्रह्म स्वयं ही (दूसरे द्वारा बोध पाये बिना ही) पूर्ववासना के अनुसार विराट्-भाव को, भुवन आदि भावको और वहाँ पर स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज और जरायुज रूप चार प्रकार के जीवभावों का नित्य संकल्प करता रहता है। उस सत्यसंकल्प से इस प्रकार इन्द्रजाल की नाईं यह विशाल सृष्टि फैलाई जाती है ॥१४-१६॥

यों हजारों अध्यारोपों से भी अधिष्ठान की पारमार्थिकता का विनाश नहीं किया जा सकता, यह दर्शाने के लिए दृष्टान्त देते हैं।

जैसे सुवर्ण के बने हुए कटक (कड़ा) रूप सुवर्ण से कटक शब्द का अर्थ पृथक् नहीं किया जा सकता, वैसे ही परब्रह्म में जगत्-शब्दार्थ है, अर्थात् जगत् शब्द का अर्थ परब्रह्म से पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि दृष्टान्त की नाईं दोनों में भेद नहीं है। जैसे कटकरूपता सुवर्ण के स्वभाव के ही अन्तर्गत है कटकस्वभाव के अन्तर्गत नहीं है, वैसे ही परिच्छेद से रहित यह जगत् शब्दार्थ भी अनन्तस्वरूप ब्रह्म के स्वभाव के ही अन्तर्गत है नाशवान् अपने स्वभाव के अन्तर्गत नहीं है ॥१७-१८॥

यदि यह स्वतः नहीं है तो सत् की नाईं कैसे प्रतीत होता है ? इस शंका पर कहते हैं।

जैसे मरुस्थल में मृगतृष्णा की नदी असत् चंचल तरंगों का सत् के नाई विस्तार करती है वैसे ही मन से यह इन्द्रजाल सरीखा जगत् सत् न होता हुआ भी सत् के समान बनाया जाता है ॥१९॥

अविद्या के अनुरूप नामों से अविद्या को दर्शाते हैं।

सर्वज्ञ विद्वानों ने जिसके अविद्या, संसार, बन्धन, माया, मोह, महत्, तम (卐) इत्यादि

卐 विद्या से नाश्य होने के कारण वह अविद्या कही जाती है, ऊपर, नीचे और तिरछे गमन की

अनेक नामों की कल्पना की है। हे चन्द्रवदन, पहले मैं आपसे उस माया (बन्ध) का स्वरूप कह रहा हूँ, उसे आप सावधान होकर सुनिए। उसके श्रवण के अनन्तर आप मोक्ष के स्वरूप को समझ जायेंगे ॥२०,२१॥

ज्ञान द्वारा क्रमशः नष्ट होने और प्राप्त होने योग्य बन्ध और मोक्ष का स्वरूप बतलाते हैं।

वस्तु, दृश्य प्रपंच का अस्तित्व द्रष्टा का बन्ध कहा जाता है। दृश्य के कारण ही द्रष्टा बन्धन में पड़ा है और दृश्य के हट जाने से मुक्त हो जाता है। असत्य स्वरूप त्वम्' 'अहम्' (मैं) इत्यादि जगत् दृश्य कहलाता है जबतक यह दृश्य रहता है तब तक मोक्ष नहीं हो सकता ॥२२,२३॥

कोई शंका करे कि यदि दृश्य का अभाव ही मोक्ष है, तो तत्–तत् काल में उपस्थित हुए दृश्य के 'यह नहीं है, यह नहीं है' इत्यादि निराकरण से ही रोग के निराकरण से आरोग्य की नाईं मोक्ष सिद्ध हो जायेगा, उसके निराकरणार्थ तत्त्वज्ञानप्राप्ति के लिए कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहते हैं।

यह (दृश्य) नहीं है, यह (दृश्य) नहीं है इत्यादि व्यर्थ प्रलापों से इसका विनाश नहीं होता बल्कि संकल्प के हेतु 'यह दृश्य नहीं है' इत्यादि प्रलापों से दृश्यरूप व्याधि बढ़ती है। भाव यह है कि दृश्य रहते 'यह दृश्य नहीं है' यह प्रलाप बाधित हो जाता है, अतः वह विद्यमान दृश्य के विरोधी अन्य दृश्य के उत्पादन–संकल्प से उसके उत्पादन द्वारा पूर्व दृश्य का निराकरण करता है, ऐसा कहना होगा, ऐसी परिस्थिति में एक दृश्य के निराकरण के लिए दो दृश्यों की उत्पत्ति हो जाने से दृश्य बढ़ता ही है ॥२४॥ हे विचारशील पुरुषों, दृश्य जगत् के विद्यमान रहते सैकड़ों तर्कों से और तीर्थयात्रा तथा नियम आदि से भी दृश्यरूपी व्याधि की निवृत्ति नहीं होती, केवल इतना ही नहीं, किन्तु दूसरी दृश्य व्याधि प्राप्त हो जाती है। भाव यह कि इस दृश्यरूपी व्याधि की अनादर से उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, बल्कि विचार द्वारा इसका बाध करना चाहिए ॥२५॥

और दूसरी बात यह भी है कि यदि दृश्य स्वतः सत् माना जाय, तो सत् का बाध न होने से कभी भी मोक्ष नहीं हो सकेगा, ऐसा कहते हैं।

यदि जगत् की वास्तविक सत्ता है, तो किसी के जगत् की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि असत् पदार्थ की सत्ता नहीं होती और सत् का अभाव नहीं होता, यह अकाट्य नियम है ॥२६॥

यदि कोई कहे कि यह द्रष्टा पुरुष तप, ध्यान आदि के बल से दृश्यशून्य तथा दृश्य के समावेश के अयोग्य परमाणु के उदर आदि में जाकर रहता हुआ दृश्य से छुटकारा पा जायेगा, ऐसी अवस्था में मोक्ष का अभाव कैसे होगा ? इस पर कहते हैं।

आत्मा का तप आदि से भी परिज्ञान नहीं हो सकता। चिद्रूप आत्मा जिसको ज्ञात नहीं

हेतु होने से संसार, अस्वतन्त्रता की जननी होने से बन्धन, मिथ्या होने से माया, भ्रम की हेतु होने से मोह, दुस्तर होने से महत् और स्वरूप का आवरण करनेवाली होने से तम कही जाती है।

हुआ, वह द्रष्टा जहाँ कहीं भी (परमाणु के मध्य में भी) रहेगा वहाँ परमाणु के उदर में भी उसको दृश्य की प्रतीति होगी ही। भाव यह है कि जिसको आत्मतत्त्व का परिज्ञान नहीं है, वह जीव ही दृश्य का बीज है, परमाणु के उदर में भी भ्रान्ति से विशालता की प्रतीति में विरोध न होने से वहाँ पर भी उसके दृश्यरूप बन्धन का निवारण नहीं हो सकता ॥२७॥

उक्त का ही उपसंहार करते हैं।

इसलिए दृश्य जगत् है और उसका तप, ध्यान और जप द्वारा जहाँ पर वह रहा वहीं पर उसे मिटा दिया और अन्य देश की प्राप्ति से उसका त्याग कर दिया, वह कथन बासी भात आदि के सड़े जल से तृप्ति करने की नाईं है। हे श्रीरामचन्द्रजी, यदि दृश्यरूप जगत् है, तो उसका परमाणु के भीतर और चैतन्यरूपी आदर्श में भी वैसा ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। भाव यह कि दृश्यरूप जगत् जैसे विशाल प्रदेश में विद्यमान है, वैसे ही परमाणु में एवं चेतन आत्मा में भी, बिना संकोच के, उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है। दर्पण चाहे कहीं पर भी स्थित हो, उसमें जैसे पर्वत, समुद्र, पृथिवी, नदी के जल का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही चैतन्यरूपी आदर्श में (आत्मा में) भी पड़ता है। उसके अनन्तर उस प्रतिबिम्ब में पुनः दुःख प्राप्त होता है – जरा, मृत्यु और जन्म प्राप्त होते हैं। जैसे जाग्रत अवस्था में स्थूल तथा स्वप्न में सूक्ष्म भाव और अभाव का ग्रहण और सुषुप्ति में उनका त्याग होता है, वैसे ही यह अस्थिर संसार रहता है ॥२८–३१॥

ज्ञान की अपेक्षा न करनेवाली निर्विकल्प समाधि से दृश्य के मार्जन की शंका कर कहते हैं।

इस दृश्य जगत् का मैंने परिमार्जन कर लिया और यहाँ पर मैं समाधि में स्थित हूँ, समाधि में संसार के स्मरण का यह कभी क्षय न होनेवाला बीज है। भाव यह है कि जिसका स्मरण नहीं हुआ, उसका मार्जन नहीं हो सकता और उसका स्मरण होने पर तो समाधि का ही भंग हो जायेगा ॥३२॥

अतएव निर्विकल्प समाधि से भी दृश्य का मार्जन नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं।

इस दृश्य प्रपंच के रहते निर्विकल्प समाधि नहीं हो सकती। निर्विकल्प समाधि होने पर ही तो चित्त के रहने पर चेतनता और चित्त का बाध होने पर तुर्यपद की उपपत्ति होती है। दृश्य के रहते तो निर्विकल्प समाधि का अवसर ही कहाँ ?॥३३॥

समाधि भले ही हो फिर भी संसार की निवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

जैसे सुषुप्ति के (गाढ़ी नींद के) पश्चात् दुःखमय यह सारा जगत् प्राप्त हो जाता है, वैसे ही समाधि टूटने पर यह दुःखमय सम्पूर्ण जगत् ज्यों का त्यों भासमान प्रत्यक् आत्मा में प्राप्त हो जाता है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, फिर भी जब अनर्थ–प्राप्ति की संभावना रही तो क्षणमात्र की समाधि से क्या सुख ? इसलिए समाधि से कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता है ? यदि निर्विकल्प समाधि में कभी अव्युत्थान को प्राप्त हो, तो ज्ञान के बिना भी अक्षय सुख प्राप्त हो गया, ऐसा यदि कोई माने, तो वह निर्मल पद को कभी क्षीण न होनेवाली सुषुप्ति के तुल्य मानता है (✍) ॥३४–३६॥

✍ 'अक्षयसुषुप्ताभ' से मूढ़ता का कभी उच्छेद न होने से उसमें अपुरुषार्थता सूचित होती है।

उक्त अन्य के आशय का उत्तर देते हैं।

इस मनरूप दृश्य के रहते समाधिमें भले ही कोई कितना ही प्रयत्न क्यों न करे ? फिर भी क्या उसे दृश्य प्राप्त नहीं होता, अवश्य प्राप्त होता है, क्योंकि जहाँ–जहाँ इसका चित्त जाता है, वहाँ–वहाँ चित्त से उत्पन्न होनेवाले जगत्‌भ्रमका भी निवारण नहीं किया जा सकता ॥३७॥

दूसरी बात यह भी है कि यदि द्रष्टा अज्ञानी होनेसे आत्मभिन्न पाषाण आदि की ही समाधि में जबरदस्ती भावना (चिन्तना) करे, तो वह समाधि के अन्त में फलकाल में भी पुनः दृश्यता को प्राप्त होता है। जिसमें केवल आत्मा का ही शेष रहता है, वह समाधि उसको प्राप्त नहीं होती है, ऐसा कहते हैं।

यदि अज्ञानी द्रष्टा समाधि में समाधि के बल से लब्ध दुःखशून्य पाषाणता का चिन्तन करता रहता है तो समाधि के अन्त में उसको पुनः दृश्यता प्राप्त होती है ॥३८॥

समाधि द्वारा प्राप्त दुःखशून्य पाषाणता के प्राप्त होने पर भी स्थैर्यकी कोई आशा नहीं है, ऐसा कहते हैं।

किसी की भी समाधिबल से प्राप्त दुःखशून्य पाषाणता के तुल्य निर्विकल्प समाधियाँ स्थिरता को प्राप्त नहीं होती, यह बात सभी समाधिनिष्ठ पुरुषों द्वारा अनुभूत है ॥३९॥

यदि कोई शंका करे कि जिनकी समाधि रूढ (परिपक्व) नहीं हुई हो, उन्हें भले ही स्थिरता प्राप्त न हो, किन्तु जिनकी समाधि परमात्मभावापत्तिपर्यन्त रूढ़ है, उन्हें तो स्थिरता प्राप्त होगी, इस पर कहते हैं।

परिपक्वता को प्राप्त होने पर भी पाषाणता के तुल्य अचेतन समाधियाँ शान्त, चिद्रूप, अज तथा अक्षयरूप नहीं हो सकती यानी उक्त पाषाणतुल्य समाधियाँ सम्पूर्ण संसार की निःशेष शान्तिरूप मोक्ष नहीं हो सकती ॥४०॥

इसलिए जिस बात को हम पहले कह आये हैं, वही सिद्ध हुई, ऐसा कहते हैं।

इसलिए यदि यह दृश्य सत् है, तो यह कभी भी शान्त नहीं होगा, इसलिए तप, जप और ध्यान से दृश्य की निवृत्ति हो जायेगी, यह अज्ञानियों की केवल कल्पना ही है ॥४१॥

अविद्यायुक्त द्रष्टा में दृष्य की स्थिति का दृष्टान्त द्वारा साधन करते हैं।

जैसे कमलगट्टे के अन्दर वह बीज विद्यमान है, जिसमें होनेवाली कमलिनी का लतारूप अन्तर्हित है, वैसे ही अज्ञानी द्रष्टामें वह दृश्य–बुद्धि रहती है, जिसमें भावी संसार अन्तर्हित है। जैसे पदार्थों में रस रहता है, तिल आदि में तेल रहता है और फूलों में सुगन्ध रहती है, वैसे ही द्रष्टामें दृश्य बुद्धि रहती ही है। कपूर आदि चाहे कहीं पर क्यों न हों, फिर भी जैसे उनसे सुगन्ध निकलती है, वैसे ही द्रष्टा चाहे कहीं पर क्यों न हो, फिर भी उसमें दृश्य रहता ही है। जैसे आपके हृदय में स्थित मनोराज्यबुद्धि केवल आपके अनुभव से ही देखी जाती है और जैसे स्वप्न तथा संकल्प आपही के अनुभव से देखे जाते हैं, वैसे ही दृश्य जगत् भी स्वानुभव से ही आपके हृदय में प्रतीत होता है। इसलिए जैसे चित्त द्वारा कल्पित

पिशाच बालक को मार देता है, वैसे ही दृश्य रूपिका (🔥) (पिशाची) इस द्रष्टा को मार देती है यानी स्वरूप से भ्रष्ट कर देती है ॥४२-४६॥

यदि सम्पूर्ण दृश्य हृदय में हैं, तो अभी सबको उसका अनुभव क्यों नहीं होता इस पर कहते हैं।

जैसे बीज के भीतर स्थित अंकुर देश और काल से अपने को प्रकाशित करता है, वैसे ही दृश्यबुद्धि भी देश और काल से अपने स्वरूप को प्रकाशित करती है। जैसे अचिन्त्य कार्यवैचित्र्यशक्तिरूप चमत्कार बीज आदि के भीतर रहता ही है, वैसे ही चिन्मात्रस्वरूप आत्मा के ही उदर में चिद् और अचित् से सम्बद्ध अतीत, अनागत जगत् की सत्ता रहती है ॥४७,४८॥

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

भौतिक देह को आत्मा समझनेवाला अज्ञानी मृत्यु का भोजन है,
तत्त्वज्ञानी नहीं वह तो आकाशज द्विज की नाईं चिन्मात्रस्वरूप ही है, इसका कथन।

काम और कर्म की वासना से पूर्ण अविद्योपहित आत्मा ही जगत् का बीज और मृत्यु का कारण है, विद्या द्वारा अविद्या का विनाश होने पर मृत्यु के वश नहीं होता, इस पूर्वोक्त अर्थ में विशेष दिखलाने के लिए जगत् के आदि स्रष्टा के स्वरूप के परिशोधन द्वारा आगे कहे जानेवाले उपदेश की उपोद्घातरूप आख्यायिका को कहनेवाले वसिष्ठजी बोले : हे राघव, इस आकाशज (🔔) विप्र के आख्यान को सुनिए जो कानों को विभूषित करनेवाला है और जिससे उत्पत्ति प्रकरण का आपको बहुत सरलता से बोध हो जायेगा ॥१॥

परम धर्मात्मा (📖) आकाशज नामका एक ब्राह्मण है। वह सदा ध्यान में तत्पर और प्रजाओं के हित में रत है। जब वह बहुत काल तक जी गया, तब मृत्यु ने विचार किया – मैं अक्षय हूँ, मैं क्रम से सभी प्राणियों का संहार करता हूँ फिर मैं इस आकाशज विप्र को क्यों न खाऊँ। जैसे पत्थर पर तलवार की धार कुण्ठित हो जाती है, वैसे ही इस पर मेरी शक्ति कुण्ठित हो गई है, ऐसा विचार कर, वह मेरूपर्वत के मध्य में स्थित सत्यलोकनामक उसके

🔥 स्त्री के वेष से पुरुषों को मोहित करके मारती हुई पिशाचियाँ रूपिका कहलाती हैं।

🔔 आकाश से – अध्यस्त अविद्यारूपी नीलता का आधार होनेसे आकाश तुल्य ब्रह्म से अथवा अविद्यावृत्त होनेसे स्वल्प प्रकाशवाले ब्रह्म से जो उत्पन्न है, वह आकाशज है अर्थात् लिंगसमष्टिरूप हिरण्यगर्भ।

📖 'तद्यथा कृताथ विजितायाधरेयाः संयन्ति' (जैसे एक कृतनामक पासे के जीते जाने पर अन्य द्वापर आदि पासे जीते जाते हैं) इत्यादि श्रुति के अनुसार हिरण्यगर्भपद प्रापक संवर्गविद्योपासनरूप धर्म में सम्पूर्ण प्रजाओं के धर्मों का अन्तर्भाव होने से वह परम धर्मात्मा कहा गया है।

नगर में उसे मारने के लिए गया। कोई भी समर्थ पुरुष अपना कर्म करने के लिए उद्यमका त्याग नहीं करते। उसके अनन्तर मृत्यु आकाशज विप्र के घरमें ज्यों ही स्वयं प्रविष्ट हुआ त्यों ही समाधि में उपस्थित होनेवाले विघ्नों को हटाने के लिए ब्रह्मा द्वारा प्रकाशरूप से स्थापित प्रलयाग्नि के तुल्य अग्नि मृत्यु को जलाने लगी। मृत्यु अग्नि की ज्वालाओं की परम्परा को चीरकर भीतर गया। उसने ब्राह्मण को देखकर यत्नपूर्वक उसे हाथ से पकड़ने की इच्छा की। जैसे बलवान् पुरुष भी संकल्प से कल्पित पुरुष को छूने में समर्थ नहीं होता, वैसे ही सामने विद्यमान उस ब्राह्मण को वह अपने सैकड़ों हाथों से भी पकड़ने में समर्थ नहीं हुआ ॥२–८॥

तदुपरान्त मृत्यु ने संशय को दूर करनेवाले यमराज के पास जाकर उनसे पूछा : हे विभो, मैं आकाशज ब्राह्मण को खाने के लिए क्यों समर्थ नहीं हूँ ? ॥९॥ यमराज ने कहा : हे मृत्यो तुम अकेले अपने बल से किसी को मारने में समर्थ नहीं हो। जिसको तुम मारते हो उसके कर्म ही उसका मारण करते हैं। तुम्हारी अशक्ति में और कोई कारण नहीं है, इसलिए उसे यदि तुम मारना चाहते हो, तो यत्नपूर्वक उसके कर्मों को खोजो। उनकी सहायता से तुम उसे खा सकोगे ॥१०,११॥ तदनन्तर मृत्यु उसके कर्मों को खोजने के लिए तत्पर होकर सम्पूर्ण देशों, दिगन्तों, तालाबों, नदियों, दिशाओं, वनों, जंगलों, पर्वतों, समुद्रतटों, अन्यान्य द्वीपों, अरण्यों, नगरों, कस्बों, ग्रामों, सम्पूर्ण राष्ट्रों एवं रेगिस्तानोंमें घूमा अर्थात् किस देश में इसने पहले क्या कर्म किया, उसे ध्यानपूर्वक जानना अधिक यत्नसाध्य होने से तत्–तत् स्थानों में घूमा, केवल देश घूमने के लिए नहीं घूमा। इस प्रकार सम्पूर्ण भूमण्डल में घूमकर उद्यमी मृत्युने आकाशज विप्र के कोई भी मारक कर्म कहीं भी नहीं पाये जैसे कि वन्ध्यापुत्रको प्राज्ञ तथा कल्पित पर्वत को कल्पना करनेवाले पुरुष से अन्य पुरुष नहीं पा सकता। अनन्तर सम्पूर्ण अर्थों को जाननेवाले यमराज के पास आकर मृत्यु ने उनसे पूछा, क्योंकि सेवकों को सन्देह उपस्थित होने पर उनके प्रभु ही आश्रय होते हैं ॥१२–१६॥

मृत्यु ने कहा : प्रभो, आकाशज विप्र के कर्म कहाँ हैं, यह बात आप मुझसे कहिए। मृत्यु के यों पूछने पर धर्मराज ने चिरकालतक विचार कर उससे यह कहा ॥१७॥

धर्मराज ने कहा : हे मृत्यो, आकाशज के कोई भी (🔔) कर्म नहीं है, यह आकाशज विप्र केवल आकाश से ही उत्पन्न हुआ है। आकाश से जो उत्पन्न हुआ है, वह आकाश के समान निर्मल है। इसके मारण में मृत्यु की सहायता करनेवाले कोई कर्म (卐) ही नहीं है। जैसे वन्ध्या के पुत्र का और जैसे जिसका आकार उत्पन्न ही नहीं हुआ, उसका प्राक्तन कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही इस आकाशज विप्रका प्राक्तन कर्म से तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। अविद्या आदि कारणों का या निर्विकार तत्त्वके विकार के हेतुओं का अभाव होने से विकार का सम्बन्ध न होने के कारण वह आकाशरूप ही है। जैसे आकाश में महान् वृक्षका

🔔 प्रारब्ध से प्राप्त फलों का उपभोग से ही क्षय होने, संचितों का ज्ञान से क्षय होने तथा आगामी कर्मों का बीज के अभाव से क्षय होने से कर्म ही नहीं हैं यह भाव है।

卐 अथवा अभिमान, राग आदि अद्यतन कर्म, यह अर्थ है।

अस्तित्व नहीं है, वैसे इसके पूर्व कर्मों का भी संभव नहीं है ॥१८-२१॥

यदि शंका हो कि कायिक कर्म भले ही न हों, पर मानसिक कर्म तो उसके होंगे ही ? इस पर कहते हैं।

पूर्व कर्मों के अभाव से इसका चित्त अवश नहीं है, आज तक इसने मारण में मृत्यु के सहायक किसी मानस कर्म का संचय नहीं किया है। मन का व्यापार पूर्वदेह की व्यापारवासना के अधीन है ॥२२॥

ऐसे होने पर यह परब्रह्मस्वभाव से ही स्थित है, दृश्यस्वभाव यह नहीं है, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार आकाशकोशरूप यह आकाशज ब्राह्मण निर्मल आकाशरूपी अपने कारण में नित्य स्थित है, इसके कोई भी कर्म नहीं हैं ॥२३॥

ऐसी अवस्था के प्राप्त होने पर तो पूर्व कर्मों का प्रसंग ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

प्राक्तन कर्म इसके है नहीं, आजकल यह कुछ कर्म नहीं करता, इस प्रकार इस संसारमें यह केवल विज्ञानाकाशरूप है ॥२४॥

यदि कोई कहे कि यदि यह कुछ भी कर्म नहीं करता, तो हम लोगों को यह प्राण क्रिया से युक्त एवं कायव्यापारवान् कैसे दिखलाई देता है, इस पर कहते हैं।

इसका प्राणव्यापार या कायिक कर्म जिसको हम लोग देखते हैं, उसको हम लोग ही अपनी अज्ञानजनित भ्रान्ति से देखते हैं, लेकिन इसकी उसमें सत्यताबुद्धि नहीं है ॥२५॥

तो उसको यह मेरा देह है, इत्यादि बुद्धि कैसे होती ? इस पर कहते हैं।

चैतन्यरूप स्तम्भ में चैतन्यरूपिणी प्रतिमा 'मेरा आकार परम पद से (ब्रह्म से) भिन्न है' ऐसी वासना करती हुई-सी स्थित है। मेरा यह स्वरूप वासनामात्र ही है, वास्तविक नहीं है, ऐसी उसकी बुद्धि है, यह अर्थ है ॥२६॥ जैसे जल में द्रवत्व (तरलता) है, जैसे आकाश में शून्यता है और जैसे वायुमें स्पन्दता (गति) है, वैसे ही परमार्थरूपसे आकाशभूत यह विप्र परमपदमें स्थित है। इसके न आधुनिक कर्म हैं, न संचित कर्म हैं और न प्राक्तन कर्म हैं, इसलिए यहाँ पर यह संसारका वशीभूत नहीं है। सहकारी कारणों का अभाव होने पर जो उत्पन्न होता है, वह अपने कारण से भिन्न नहीं होता, ऐसा अनुभव है। कारण न होने के कारण यह स्वयम्भू है। हे मृत्यो, न तो इसने पहले कर्म किये थे और न यह आज कर्म करता है, भला बताओ तो सही यह तुमसे कैसे आक्रान्त होगा ?॥२७-३१॥

यदि शंका हो कि अन्य जीव भी तो इसके व्यष्टिरूप ही हैं, फिर वे कैसे मृत्यु से गृहीत होते हैं ? इस पर कहते हैं।

जिस जीव का पृथिवी आदि से रचित देह ही मैं हूँ ऐसा निश्चय है, वह मूढ़ पार्थिव देह ही होता है, यह ब्रह्मा जिस समय सत्यसंकल्पबुद्धि से मृत्यु की कल्पना करेगा, उसी समय तुम उसको पकड़ सकते हो। पृथिव्यादिमय देहका ग्रहण न करने से यह आकाशज ब्राह्मण देहवान् (आकारवान्) नहीं है, अतएव जैसे आकाश कैसी ही मजबूत रस्सी क्यों न हो नहीं बाँधा जाता, वैसे ही इसका भी ग्रहण किया ही नहीं जा सकता ॥३२,३३॥

विकाररहित शून्य का विकार, अजका जन्म एवं सत् पृथिवी आदि की असत्ता कही, उसको असंभाव्य समझता हुआ मृत्यु बोला।

भगवन्, शून्य से अज की (अजन्मा की) कैसे उत्पत्ति होती है, यह बात मुझे समझाइए तथा पृथिवी आदि कैसे हैं ? नहीं हैं तो कैसे नहीं है, यह भी आप मुझे समझाइए ॥३४॥

परब्रह्म को आकाश कहा गया है और पृथिवी आदि की जो असत्वोक्ति है, वह शून्यता के अभिप्राय से नहीं है, किन्तु कार्य की कारण से पृथक् सत्ता नहीं है, इस अभिप्राय से है और इसी प्रकार अजका जन्मकथन विवर्त के अभिप्राय से है, परिणाम के अभिप्राय से नहीं है, इस आशय को सूचित करते हुए यमराज बोले :

यह आकाशज ब्राह्मण न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी विनष्ट हुआ। चूँकि यह ब्राह्मण परमार्थरूप से केवल प्रकाशात्मक विज्ञानस्वरूप है, इसलिए यह सदा ज्यों–का–त्यों रहता है, कभी विकृत नहीं होता ॥३५॥

आदि और अन्त में तन्मात्रा का (प्रकाशात्मक विज्ञानमात्र का) परिशेष रहने से वही इसका स्वाभाविक सत्य रूप है, इस आशय से कहते हैं।

महाप्रलय होने पर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता, उस समय केवल शान्त जरारहित, अनन्तस्वरूप, शून्य, नित्य उदित, सूक्ष्म, उपाधिशून्य परब्रह्म ही स्थित रहता है। तदुपरान्त सृष्टि के आरम्भकालमें वासना और अदृष्ट से परिपूर्ण जीवकी अविद्या से, इसके विज्ञानमात्र होनेसे, इसके निकट विषयभावसे पर्वततुल्य (पर्वत के समान जिसका निवारण नहीं हो सकता) विराट्‌रूप या चतुर्मुखरूप देह इस नाम से कथन के योग्य स्थूलरूप कुछ स्फुरित होता है, उस समय उक्त अविद्या से ही हम लोग काकतालीयके समान अकस्मात् स्वप्न की नाईं मिथ्याभूत उस आकारको देखते हैं ॥३६–३८॥

ऐसी परिस्थिति में अन्य की दृष्टि से अध्यस्त देह आदि से इसकी निर्विकल्पताकी क्षति नहीं है, ऐसा जो हमने पहले कहा था, उसमें कुछ भी आंच नहीं आई, इस अभिप्राय से कहते हैं।

वही यह निर्विकल्प ब्राह्मण सृष्टि के आदि में निर्विकल्प चिदाकाशरूप अपने स्वरूप का अवलम्बन कर आकाश में स्थित है। इसका न तो शरीर है, न कर्म है, न इसमें कर्तृत्व है और न वासना है। यह शुद्ध चिदाकाश, विज्ञानघन और सर्वव्यापक है। यह केवल आकाशरूप और तेज से प्रकाशरूप–सा है। इसकी प्राक्तन वासनाएँ तनिक भी नहीं है ॥३९–४१॥

चित् की बहिर्मुख प्रवृत्ति वेदना है। वेदनामात्र की सर्वथा शान्ति होने पर प्रातिभासिकरूपवाला भी यह दिखलाई नहीं देता। वेदना की शान्ति कैसे होती है, ऐसी आशंका कर कहते हैं।

अधिष्ठान तत्त्व के ज्ञान से विषय का बोध होने पर विषयज्ञानरूप वेदनाएँ भी जैसे चिदाकाश है, वैसे ही चिदाकाशरूप से रहती हैं ॥४२॥

जहाँ पर चित्स्वभाव वेदनाओं का सहन नहीं होता, वहाँ पर पृथिवी आदि के सहन की संभावना कैसे हो सकती है, इसलिए उस पर तुम्हारे आक्रमण की आशा नहीं है, ऐसा कहते हैं।

इसमें पृथिवी आदि का संभव कैसा, कहाँ से और कैसे हो सकता है अर्थात् इसमें पृथिवी आदिका संभव नहीं है, इसलिए हे मृत्यो, तुम इसके ऊपर आक्रमण करने के लिए प्रयत्न मत करो। कोई भी पुरुष कभी भी आकाश को पकड़ नहीं सकता। श्रीयमराज के वचन सुनकर मृत्यु को बड़ा आश्चर्य हुआ और वह अपने घर लौट गया ॥४३–४४॥

आकाशज ब्राह्मण इस दूसरे नाम से उक्त ब्रह्मा ही इस आख्यायिका से दर्शाया गया है और जगत् मिथ्या है–ये दोनों बातें मैंने जान लीं, इसकी सूचना द्वारा गुरु को प्रसन्न कर रहे श्रीरामचन्द्रजी बोले :

भगवन्, आपने मुझसे आकाशज ब्राह्मण के नाम से स्वयम्भू, अज, एकात्मा, जीवसमष्टिरूप ब्रह्मा ही कहा, ऐसी मेरी धारणा है ॥४५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्र, आपका कथन सत्य है, मैंने आपसे आकाशज विप्र के नाम से ब्रह्मा का ही कथन किया है। प्राचीन समय में इन्हीं के लिए मृत्युने यम के साथ संवाद किया था। मन्वन्तरमें जब कि सम्पूर्ण प्राणियों का संहार कर रहा सर्वभक्षी मृत्यु बलवान् हुआ तब उसने स्वयं ब्रह्माजी पर आक्रमण करने का उद्योग किया। उसी समय धर्मराज यम ने मृत्यु को शिक्षा दी ॥४६॥

मृत्यु ने ऐसे विषय में, जिसमें उसकी शक्ति काम नहीं कर सकती थी, क्यों उद्योग किया ? इस शंका पर व्यसनिता के कारण ही उसने उद्योग किया, ऐसा कहते हैं।

जो पुरुष नित्य जिस कामको करता है, उसीमें उसकी प्रीति होती है। ब्रह्मा चिदाकाशस्वरूप, संकल्पशरीर और पृथ्वी आदि से रहित मूर्तिवाला है, उसका शरीर मनोमात्र है, भला उस पर आक्रमण ही कैसे हो सकता है ? ॥४७–४९॥ जो चिदाकाश के समान चमत्कारवाला और चिदाकाश के समान अनुभव स्वरूप है, वह चिदाकाश ही है, उसमें न कारणता है और न कार्यता है। आकाश में जैसे इन्द्रनीलमणि से बना औंधा रक्खा हुआ महान् कड़ाही के आकार–सा पदार्थ पृथिवी आदि से रहित प्रतीत होता है और जैसे संकल्प से निर्मित पुरुष पृथिवी आदि से रहित प्रतीत होता है, वैसे ही यह स्वयम्भू (ब्रह्मा) भी पृथिवी आदि से रहित प्रकाशित होता है। जैसे निर्मल आकाश में मोती की माला एवं संकल्प और स्वप्न में नगर पृथिव्यादि रहित ही प्रकाशित होते हैं, वैसे ही स्वयंभू पृथिव्यादि रहित ही प्रकाशित होता है। केवल परमात्मा में न दृश्य है और न द्रष्टा है, केवल चिन्मात्रस्वभावता ही है तथापि यह स्वयम्भू नाम से प्रकाशित होता है। यह संकल्पमात्र मन ही ब्रह्मा कहा जाता है, यही संकल्पाकाश पुरुष ब्रह्मा है, इसमें पृथ्वी आदि विद्यमान नहीं हैं ॥५०–५४॥

यदि कोई कहे कि निराकार संकल्प की पुरुषाकारता कैसे हो सकती है ? तो इस पर कहते हैं।

जैसे चित्रकार के अन्तःकरण में स्थित चित्र देहरहित होने पर भी प्रतिमाकार प्रतीत होता है, वैसे ही चिदाकाश के स्वच्छ प्रतिबिम्ब का ग्राहक मन ब्रह्माकार प्रतीत होता है। भाव यह कि पहले चित्रकार अपने अन्तःकरण में एक प्रकार की चित्रप्रतिमा का संकल्प द्वारा निर्माण कर लेता है। तदनन्तर वैसा ही उसका बाहर चित्रण कर रहे चित्रकार के अन्तःकरणमें स्थित

संकल्पित चित्रप्रतिमा देहरहित होती हुई भी चित्रप्रतिमा के आकार से भासित होती है, वैसे ही चिदाकाश के प्रतिबिम्ब का ग्राहक स्वच्छ मन प्रजापति के (ब्रह्मा के) रूप से भासता है ॥५५॥

मन का स्वयम्भू के आकार में परिणाम वास्तविक नहीं है, किन्तु शुद्ध ब्रह्म ही अज्ञान से उस प्रकार विवर्त को प्राप्त होता है, यह कहते हैं।

आदि, मध्य और अन्त रहित चिदाकाशरूप अद्वितीय ब्रह्म ही अपने संकल्प के कारण स्वयम्भू यों आकारवान्–सा तथा पुरुष–सा भासित होता है, वास्तवमें तो वन्ध्यापुत्र के समान उसका शरीर नहीं है ॥५६॥

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

ब्रह्मा स्वयं मनोरूप है और उसका संकल्परूप यह जगत् है,
इसलिए यह मनोराज्य के समान असत् ही है।

'मनोमात्रं च संकल्पः पृथ्व्यादिरहिताकृतिः।' इस प्रकार पीछे (यो.वा. ३–२–४९) कही गई रीति से ब्रह्मा को यदि मनोरूप मानें, तो मन के वासनासमूहरूप होने से 'प्राक्तनं वासनाजालं किंचिदस्य न विद्यते' (यो.वा.३–२–४१) यह कथन असंगत होगा, ऐसा समझ रहे श्रीरामचन्द्रजी ने कहा :

हे ब्रह्मन्, आपने जो ब्रह्माका मन शुद्ध पृथिवी आदि से रहित कहा, वह वैसा ही प्रसिद्ध है। परन्तु इस विषयमें शंका यह होती है कि यदि पृथिवी आदि से रहित मन ब्रह्मा है, यह सत्य है, तो जैसे आपके, मेरे, अन्य पुरुष के और पशु आदि के शरीर में पूर्वस्मृति कारण है वैसे ही ब्रह्मा के शरीर में पूर्वशरीर के त्याग के समय उत्पन्न स्मृति कारण क्यों नहीं है ? क्योंकि 'यं यं वाऽपि स्मरन् भावम्' इत्यादि स्मृति है। यदि ब्रह्मा के शरीर में प्राक्तन स्मृति है, तो प्राक्तन संस्कार और देह आदि का, जो उसकी उत्पत्ति के आधार हैं, वारण नहीं किया जा सकता ॥१,२॥

ठीक है, पूर्व देह आदि की सिद्धि होने पर उससे अनुभूत को विषय करनेवाली स्मृति ब्रह्मा के शरीर में कारण होगी, पर पूर्व शरीर आदि की ही सिद्धि नहीं होती, ऐसा श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, जिसका पूर्व जन्मों में उपार्जित कर्मों से युक्त पूर्व शरीर है, इस जन्म में उसी को संसारस्थिति की कारणभूत स्मृति हो सकती है। जब कि ब्रह्मा का प्राक्तन (पूर्वजन्म में उपार्जित) कर्म तनिक भी नहीं है, तो उनको पूर्वजन्म की स्मृति कहाँ से और कैसे होगी ? ॥३,४॥

शंका : 'तद्धैतल्लोकजिदेव' (वह यह प्राणदर्शन कर्मरहित यानी केवल भी लोकका साधन ही होता है) इत्यादि श्रुतियों से और 'जैसा संकल्पवाला इस लोकमें पुरुष होता है वैसा ही वह यहाँ से मरकर होता है, ऐसी व्यवस्था देखी गई है ऐसा जाननेवाला पुरुष क्रतु (अविचल अध्यवसाय) करे।' यों श्रुति में प्रदर्शित क्रतुन्याय से यह प्रसिद्ध है कि हिरण्यगर्भ का पद कर्म

और उपासना के समुच्चय का फल है, फिर हिरण्यगर्भ की प्राक्तन देह की वासनाएँ नहीं है, यह कथन तथा हिरण्यगर्भ का मनोमय देह पृथिव्यादिमय नहीं है, यह कथन कैसे घट सकता है ? क्योंकि 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' (हे सोम्य, मन अन्न का विकार है) इस सिद्धान्त से भी विरोध होता है।

समाधान : ठीक है, अज्ञानी की दृष्टि से ही पूर्व देहकी वासनाओं की एवं मनकी अन्नमयता की प्रतीति होती है। परन्तु 'यन्मदन्यन्नास्ति कस्मानु बिभेमीति' (जब मुझसे अन्य कोई नही है तब मैं किससे डरूँ), 'ज्ञानमप्रतिधं यस्य वैराग्यं च जगत्यतेः। ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम्।' (जिस प्रजापतिका अप्रतिबद्ध ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म स्वाभाविक है।) इत्यादि श्रुति और स्मृति में प्रसिद्ध उसकी तत्त्वदृष्टि से तो भूत, वर्तमान और भविष्यत् प्रपंच न था, न है और न होगा यों जगत् का त्रैकालिक बाध होने के कारण उसमें पूर्व देह की वासना नहीं है, यह कहा गया है। बाधित की अनुवृत्ति होती है, इस पक्ष में तो मनमें और मनोमय ब्रह्मा के शरीरमें, जले हुए वस्त्रमें तन्तुमयता समान पृथिव्यादिमयता पूर्व की नाईं नहीं है, इसलिए कोई विरोध नहीं है। जब अबाधित अज्ञान के संकल्प से जनित नगर आदिकी सत्यता या भौतिकता नहीं है, तब तत्त्वज्ञान से बाधित तथा अनुवृत्त ब्रह्मा के मन के संकल्प से उत्पन्न विश्वकी सत्यता तथा भौतिकता नहीं है, इसमें तो कहना ही क्या ? इस अभिप्राय से आगे कहे जानेवाले जगत् के मिथ्यात्व में उपायभूत होने के कारण तत्त्वदृष्टिका अवलम्बन कर ही प्राक्तन देह की वासनाओं का अपलाप किया गया है, यह भाव है।

इसलिए ब्रह्मा का शरीर पृथिवी आदि कारण से शून्य है अथवा जीवका चित्त ही उसका एकमात्र कारण है। वह अपने कारण चिद्घन परब्रह्म परमात्मा से अभिन्न, स्वयम्भू और स्वयं आत्मरूप है। हे श्रीरामजी, इस स्वयम्भू ब्रह्मा की आतिवाहिक देह ही (卐) है, अजन्मा की आधिभौतिक (स्थूल भूतों से उत्पन्न) देह हो ही नहीं सकती ॥५,६॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, सम्पूर्ण भूतों के (प्राणियों के) एक आतिवाहिक और दूसरा आधिभौतिक यों दो शरीर हैं, किन्तु ब्रह्मा का केवल आतिवाहिक शरीर ही क्यों है ? ॥७॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, कारणयुक्त (पंचीकृत भूतों से उत्पन्न देह आदि से युक्त) सभी प्राणियों के आतिवाहिक और आधिभौतिक ये दो शरीर हैं, कारण न होने से (पंचीकृतभूतरूप कारण न होने से) अजन्मा हिरण्यगर्भ का केवल एक आतिवाहिक ही शरीर है ॥८॥

इसी बात को दूसरे प्रकार से कहते हैं।

एक अज (हिरण्यगर्भ) सम्पूर्ण भूतों का परम कारण है। उसका कोई कारण नहीं है, इससे वह आतिवाहिकरूप एक देहवाला है, आतिवाहिक और आधिभौतिकरूप दो देहोंवाला नहीं है। प्रथम प्रजापति (ब्रह्मा) का भौतिक शरीर नहीं है। भौतिक शरीर न होने से इसका केवल आतिवाहिक ही शरीर है, अतः वह केवल चिदाकाशस्वरूप है, कारण कि आरोपित पदार्थ का

卐 अतिवहन में-अर्चिरादि तथा धूमादि मार्ग से अन्य लोक में पहुँचाने में दक्ष हम लोगों के लिंग शरीर के सदृश, शरीर आतिवाहिक है।

अधिष्ठान से अतिरिक्त स्वरूप नहीं होता ॥९,१०॥

यों उसके संकल्प से कल्पित जगत् भी उसका अधिष्ठानभूत चैतन्यमात्र ही है, यह अर्थ सिद्ध हुआ, यों कहने की इच्छा से कहते हैं।

हे रामजी, पृथिवी आदि से शून्य, संकल्पमात्रशरीर चिदाकाशरूप आदि प्रजापति ने विविध प्रजाओं की सृष्टि की। वे प्रजा ब्रह्मा के संकल्प से अतिरिक्त कारणों से उत्पन्न नहीं हुई है, अतः वे भी चिदाकाशस्वरूप हैं। जिस उपादान कारण से जो उत्पन्न हुआ है वह तद्रूप ही होता है, यह बात कनककुण्डल आदि में सभीके द्वारा अनुभूत है ॥११,१२॥

यों जगत् की ब्रह्ममात्रता सिद्ध हुई, यह भाव है। इससे जीवकी भी ब्रह्ममात्रता सिद्ध हुई, यह कहते हैं।

चूँकि चित्तोपाधि जीव चित्तभ्रान्ति से चित्तमात्र होकर भी परमार्थरूप से निर्वाणमात्र परमबोधरूप चिदाकाश ही है, इसलिए वह भौतिक पुरुषता को प्राप्त नहीं होता। संकल्प शरीर यह ब्रह्मा संसारमें व्यवहार करनेवाले सम्पूर्ण भूतों में पहला प्रतिस्पन्द है, इसीसे ही अहंभाव का उदय हुआ है। इस प्रथम प्रतिस्पन्द से अभिन्न स्वरूपवाली (इससे उत्पन्न स्थूल प्रपंच के एतद्रूप होने से अभिन्न स्वरूपवाली) यह सृष्टि वायु से स्पन्द की सृष्टि की नाईं फैली हुई है। यह दृश्यमान सृष्टि प्रातिभासिक आकारवाले ब्रह्मा से उत्पन्न है, अतः प्रातिभासिकरूप है, फिर भी लोगों की दृष्टि में सत्यरूप से प्रतीत होती है। अथवा परमार्थरूप से चिन्मात्र आकारवाले ब्रह्मा से उत्पन्न चिन्मात्र आकारको धारण करती हुई भी यह सृष्टि जड़रूप से प्रतीत होती है। असद् वस्तु जो सत्यरूप से प्रतीत होती है, उसमें दृष्टान्त है–स्वप्नके अन्दर हुए दूसरे स्वप्न में स्त्रीका समागम। जैसे स्वप्न में स्त्रीसमागम का यदि स्वप्न देखा जाय,तो उससे धातुपात होता है, वैसे ही व्यवहार और प्रयोजन की सिद्धि की दृष्टि से असत्य पदार्थमें सत्यतुल्य व्यवहार हो सकता है। अतएव स्वप्न में स्त्रीसमागम–स्वप्न के सर्वथा असत्य होने पर उससे जैसे सत्य के समान प्रयोजन निष्पन्न होता है, वैसे ही प्रतिभासमात्र आकारवाले ब्रह्मा से उत्पन्न प्रतिभासरूपी यह सृष्टि भी सत्य के तुल्य प्रयोजन को सिद्ध करती है। जिसका शरीर पृथिवी आदिमय नहीं है और जो चिदाकाशरूप एवं शरीर रहित है,वह भूतों का अधिपति ब्रह्मा भ्रान्तिवश पुरुषाकृति एवं सदेह–सा प्रतीत होता है। ब्रह्माके दोरूप हैं–एक संवित्–रूप जो कि पारमार्थिक है और दूसरा संकल्परूप जो भ्रान्ति से है। यों संवित् और संकल्परूप ब्रह्मा परमार्थरूप से उदित नहीं होता और भ्रान्ति से उदित होता है। स्वरूपस्थिति जगत् की सत्ताके समान अविद्याके अधीन नहीं है, इसलिए न तो उसका उदय होता है और न विनाश ही। संकल्पपुरुष पृथिवी से रहित आकारवाला केवल चित्तमात्रशरीर ब्रह्मा ही तीनों जगतों की स्थिति का कारण है। उक्त ब्रह्मा का यह संकल्प प्राणियों के कर्मों के अनुसार जिस जिस प्रकार से विकास को प्राप्त होता है, जैसे कि आपका मन पर्वत के आकार को प्राप्त होता है, वैसे ही यह चैतन्यात्मा उसी प्रकार से प्रतीत होता है। भाव यह कि जब मन पर्वतभाव में होता है, तब पर्वताकार प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्मा का संकल्प प्राणियों के कर्मों के अनुसार

जब जिस प्रकार से विकसित होता है तब चिदात्मा वैसा प्रतीत होता है ॥१३–२१॥

यदि ऐसा है, तो सब पदार्थों में संकल्पमय पर्वत से विलक्षण आधिभौतिकत्व, अर्थक्रियाकारित्व आदि का अनुभव कैसे होता है ? इस पर कहते हैं।

अपने स्वरूप के दृढ़ विस्मरण और आतिवाहिक भाव के विस्मरण से आतिवाहिक ही सर्वथा असत्य पिशाच की नाईं आधिभौतिकरूप से प्रतीत होता है। जैसे कि पिशाच वास्तव में सर्वथा असत् होता हुआ भी भ्रमवश आकारवान्–सा प्रतीत होता है, वैसे ही लोगों को स्वरूप की दृढ़ विस्मृति से आतिवाहिक ही आधिभौतिकरूप से प्रतीत होता है ॥२२॥

तब तो ब्रह्मा को भी, हम लोगों की नाईं, आतिवाहिकभाव विस्मृत क्यों नहीं होता ? इस पर कहते हैं।

यह ब्रह्मा का रूप मायाशबल ब्रह्म की प्रथमता (सम्पूर्ण स्थूल प्रपंच की अपेक्षा कारणभूत सूक्ष्मभूतता) है, सत्यसंकल्प होने के कारण उनमें स्वसंकल्प से वैसे ही प्रत्यक्ष आविर्भूत रहता है, अतः अन्धकार से आच्छादित न होने के कारण शुद्ध संवित्‌रूप प्रजापति को आतिवाहिक भाव की विस्मृति नहीं होती। इसलिए ब्रह्मा को आधिभौतिक से उत्पन्न हुई मृगतृष्णा के समान असत्य जड़तारूपी भ्रम देनेवाली पिशाचिका उत्पन्न नहीं होती॥२३,२४॥ जब ब्रह्मा ही मनोमात्र है, पृथिवी आदिमय नहीं है, तब उससे उत्पन्न हुआ यह विश्व भी मनोमात्र ही है, जो जिससे उत्पन्न होता है, वह तद्रूप ही होता है, यह न्याय प्रसिद्ध है ॥२५॥

इस प्रकार 'अन्नेन सोम्य शुंगेनापो मूलमन्विच्छ' (हे सौम्य, अन्नरूप कार्य से कारण जल को खोजो) इस श्रुति में प्रदर्शित न्याय से जगत् मनोमात्र है और मन ब्रह्ममात्र है, इस प्रकार अद्वैत ब्रह्म फलित हुआ, ऐसा कहते हैं।

चूँकि अज के सहकारी कारण नहीं है, इसलिए उससे उत्पन्न हुए विश्व के भी कोई सहकारी कारण नहीं है। यहाँ पर कारण से कार्य में कोई भी वैचित्र्य नहीं है, इसलिए जैसे शुद्ध कारण है, वैसे कार्य भी शुद्ध ही है, ऐसा निश्चित हुआ ॥२६–२७॥

इस प्रकार भेदक न होने के कारण कार्यकारणभाव के न होने से जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं।

इस विश्व में कार्यकारणता की तनिक भी उपपत्ति नहीं होती। जैसा परब्रह्म है, ठीक वैसे ही तीनों जगत हैं। द्रवत्व से अभिन्न स्वरूपवाले जलसे जैसे द्रवत्व का विस्तार होता है, वैसे ही मनोरूपता को प्राप्त हुए ब्रह्मा द्वारा जगत् से अभिन्न शुद्ध आत्मा से जगत् का विस्तार किया जाता है। जैसे असत् संकल्पनगर की मन से ही कल्पना होती है और जैसे असत् गन्धर्वनगर की मन से ही कल्पना होती है, वैसे ही यह असत्‌रूप समस्त विश्व केवल मन से ही कल्पित है ॥२८–३०॥

इस प्रकार जगत् के ही बाधित होने पर तत्त्वज्ञों को देह आदि में आधिभौतिकत्व की प्रतीति नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

जैसे तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में रस्सी में सर्पता नहीं है, वैसे ही इस जगत् में आधिभौतिकता

नहीं है। फिर प्रबुद्ध वे ब्रह्मा आदि आधिभौतिक देह आदि में कैसे रह सकते हैं ? अर्थात् उनके आधिभौतिक देह आदि नहीं है, इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥३१॥

कैमुतिकन्याय से भी उक्त अर्थ को दृढ़ करते हैं।

ज्ञानी का आतिवाहिक (प्रातिभासिक) शरीर भी नहीं है, फिर उसकी आधिभौतिक देह का कथन कैसे हो सकता है ? ब्रह्मा के आकार को धारण करनेवाले मन नामक मनुष्य का मनोराज्य यह जगत् सत्यरूप–सा स्थित है। मन ही ब्रह्मा है, वह संकल्पात्मक अपने शरीर को विपुल बनाकर मन से इस जगत् की रचना करता है। ब्रह्मा मनःस्वरूप है और मन ब्रह्मस्वरूप है, मनमें पृथिवी आदि नहीं है। मन से पृथिवी आदि आत्मा में अध्यस्त हैं। कमलगट्टे के अन्दर कमलकी लता के समान हृदय के अन्दर सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ विद्यमान हैं। *(यदि कोई कहे कि पहले श्लोक से मन में पृथिवी आदि नहीं है, ऐसा कहा और इस श्लोक से मन में दृश्य पदार्थ हैं, ऐसा कहा, यों परस्पर विरुद्ध कैसे कहते है, तो इस पर कहते हैं।)* चूँकि मन और दृश्य तथा इन दोनों का द्रष्टा अर्थात् साक्षीभूत आत्मा–इन दोनों का विवेक (पार्थक्य) किसीने कभी नहीं किया। जबतक उनका विवेक न किया जाय, तब तक अज्ञान का उच्छेद न होने से मनमें दृश्यवर्ग है ही, इसलिए ऐसा कहा है। अथवा मन और दृश्यदर्शन–इन दोनों का अभी उच्छेद नहीं हुआ है, इसलिए वैसा कहा गया है। निष्कर्ष यह निकला कि मनका उच्छेद ही दृश्यदर्शन का उच्छेद है। जैसे आपके हृदय में मनोराज्यबुद्धि अपने अनुभव से ही देखी गई है और जैसे स्वप्न तथा संकल्प आपके हृदयमें अपने अनुभवसे ही देखे गये हैं, वैसे ही आपके हृदय में दृश्यभू (दृश्यवर्ग) है। इसलिए जैसे चित्त द्वारा कल्पित पिशाच बालक को मार देता है, वैसे ही दृश्यरूपिणी रूपिका (पिशाची) इस द्रष्टा को मार देती है यानी स्वरूप से भ्रष्ट कर देती है ॥३२–३८॥

यदि सम्पूर्ण दृश्य हृदय में है, तो अभी सबको उसका अनुभव क्यों नहीं होता ? इस पर कहते हैं।

जैसे बीज के भीतर स्थित अंकुर देश और काल से अपने को प्रकाशित करता है, वैसे ही दृश्यबुद्धि भी देश और काल से अपने स्वरूप को प्रकाशित करती है ॥३९॥

यदि कोई कहे कि महान् प्रयास से दृश्यका मिथ्यात्व क्यों सिद्ध करते हो ? उसके सत्य होने पर क्या क्षति है ? इस पर कहते हैं।

यदि दृश्यरूप दुःख सत् हो तो उसकी कभी शान्ति नहीं होगी, दृश्य की यदि शान्ति नहीं होगी, तो बौद्धों में केवलत्व की (मोक्ष की) सिद्धि नहीं होगी। दृश्य का अभाव होने पर बौद्धों में बोद्धभाव स्थित भी हो, तो भी वह निवृत्त हो जाता है फिर मिथ्याभूत की निवृत्ति के विषय में तो कहना ही क्या है ? बौद्धों की केवलता को ही विमोक्ष कहते हैं ॥४०॥

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी के उपदेश को सुनने के उपरान्त सभा का विसर्जन,
रात्रिके कृत्य, प्रातःकाल पुनः सभा में आगमन तथा चित्त के स्वभाव का वर्णन।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : वत्स भरद्वाज, जब कि महामुनि श्रीवसिष्ठजी अपनी ज्ञानगर्भित एवं उत्कृष्ठ वाणी से यों उपदेश दे रहे थे, उनके उपदेशको सुनने के लिए सब लोग एकाग्रचित्त और मौन साधे थे। उपदेश सुनने में सब लोग ऐसे लीन हो रहे थे कि किसीका कोई अवयव हिलता–डुलता ही न था, अतएव आभूषणों में लगे हुए घुँघरूओं का शब्द शान्त था; पिंजड़े में बैठे सुग्गे, कबूतर, आदि पक्षियोंनें भी अपनी स्वाभाविक क्रीड़ा (चहकना आदि) छोड़ दी थी। विलासपरायण रमणियाँ अपने हाव, भाव आदि विलासों को भूलकर प्रस्तरप्रतिमाओंकी नाईं बैठी थीं। राजभवनमें रहनेवाले सभी प्राणी चित्रभित्ति में लिखे हुए चित्र की नाईं निश्चल होकर बैठे थे। केवल दो घड़ी दिन शेष रह गया था, उस समय का प्रकाश बड़ा भला लगता था। जैसे–जैसे सूर्य की किरणें कम होती जाती थीं वैसे–वैसे लोग भी अपना दैनिक कामकाज कम कर रहे थे। मानों महर्षि के उपदेश को सुनने के लिए आई हुई, विकसित कमलों की सुगन्धि से सराबोर, मन्द–मन्द सायंकाल की शीतल वायु बह रही थी। महर्षिजीसे जो उपदेश सुना था, मानों उसको मननपूर्वक खूब अभ्यस्त करने के लिए सूर्य दिन की रचना के लिए स्वीकृत अपने भ्रमण का परित्याग कर जनशून्य एकान्त अस्ताचल के शिखर को चले गये थे। ज्ञानगर्भित उपदेश के सुननेसे उत्पन्न हुई अन्तःकरणको शीतल करनेवाली शान्ति के समान वनभूमियों में तुषारपात से अविषमता हो गई थी। भाव यह कि तुषार गिरने से सम्पूर्ण व्यापार छोड़ दिये थे। उस समय सभी वस्तुओं की छाया लम्बी हो गई जिससे मालूम होता था कि सभी वस्तुओंकी छाया अपनी गर्दन ऊँची कर मानों श्रीवसिष्ठजी के उपदेश को सुन रही हैं॥१–९॥

इसी समय द्वारपाल सभा में आकर बड़े विनम्रभाव से महाराज दशरथ से बोला : देव स्नान, ब्राह्मण पूजा आदि का समय बहुत बीत चुका है॥१०॥

तदुपरान्त श्रीवसिष्ठजी ने अपनी मधुर वाणीका उपसंहार कर महाराज से कहा : महाराज, आज आप लोग इतना ही सुनिए; शेष कल प्रातःकाल कहूँगा। – ऐसा कहकर वे मौन हो गये। उनके वचन को सुनकर राजाने 'तथास्तु' कहकर अपने ऐश्वर्य की वृद्धि की कामना से पुष्प, अर्घ, दक्षिणादान और यथायोग्य सम्मान द्वारा आदरपूर्वक देवता, ऋषि और मुनियों के साथ सम्पूर्ण ब्राह्मणों की पूजा की। तदुपरान्त राजवृन्द और मुनिमण्डली के साथ सारी सभा उठ खड़ी हुई। निःस्पृह मुनियों ने राजा द्वारा दिये गये बहुमूल्य रत्नों की उपेक्षा कर दी थी, अतएव वे मण्डलाकार आवृत्त थे। परस्पर के अंगों की धक्काधुक्की से लोगों के बाजूबन्ध और कड़े ठनक रहे थे। सब लोगों के वक्षःस्थल और स्तनान्तर हार तथा सुवर्णजड़ित रेशमी वस्त्रोंकी कान्ति से विभूषित थे। बोल रहे केशों के सदृश शेखर (सिर में तिरछी पहनी गई माला) के

मध्य में पहले विश्रान्त और इस समय प्रबुद्ध भँवरों की मधुर ध्वनि से लोगों का सिर 'घुं घुं' शब्दवाला हो रहा था। सुवर्ण के आभूषणों की कान्ति से लोगोंने दिशाओं को सुवर्णमय बना दिया था। चित्त में स्थित महामुनि की वाणी के अर्थ से सबकी चित्तवृत्तियाँ शान्त थी। उन सभ्यों में से जो आकाशचारी थे,वे आकाशको गये और भूलोकवासी थे वे भूमि में गये। सबने अपने–अपने घरों में जाकर दैनिक कृत्य किये। इसी बीच में जैसे यौवनमध्यस्था नारी जनकोलाहल के निवृत्त होने पर धीरे–धीरे पतिगृह में गई हुई दिखलाई देती है, वैसे ही जनसम्पर्क से शून्य काली रात्रि दिखाई दी। श्रीसूर्य भगवान् अन्य देश को प्रकाशित करने के लिए चले गये, कारण कि सर्वत्र प्रकाश करना ही सत्पुरुषों का व्रत है ॥११–२०॥ फूले हुए पलाश के वनों से पूर्ण वसन्तशोभा के समान उदित हुई तारागणों को धारण करनेवाली सन्ध्या चारों ओर से उद्भूत हो गई। जैसे निर्मल चित्तवृत्तियाँ निद्रासे आवृत्त चित्त में लीन हो जाती हैं, वैसे ही पक्षी आम, कदम्ब आदि वृक्षों की चोटियोंमें तथा ग्राम के मन्दिरों में और घरों में लीन हो गये ॥२१,२२॥ कुछ–कुछ, केसर की कान्ति के समान सुनहली सूर्य की कान्ति से सुशोभित मेघखण्डरूपी पीले वस्त्रवाला तारारूपी हार तथा श्रीसे युक्त पूर्वोक्त अस्ताचल सूर्य की कान्ति से विभूषित मेघों से युक्त एवं हार और श्री से युक्त अतएव समान धर्मवाले आकाश में प्रविष्ट हो गया। जैसे पीतवस्त्रधारी हार और लक्ष्मी से युक्त श्रीविष्णु भगवान आवरणरहित तथा अपने अनुरूप ध्यान करनेवाले जनों के हृदयाकाश में प्रवेश करते हैं, वैसे ही अस्ताचल ने भी आकाशमें प्रवेश किया। समासोक्ति से यह भी प्रतीत होता है कि सन्ध्या के समय भगवान् का ध्यान करना श्रेष्ठ है। सन्ध्यादेवी के पूजा लेकर चले जाने पर मूर्तिमान् वेतालों की भाँति भीषण अन्धकार चारों ओर छा गया। तुषारकणवाही, वृक्षों के कोमल–कोमल पत्तों को अनायास हिलाता हुआ और चारों ओर आस–पास विकसित कुमुदोंको सूचित करता हुआ मन्द, सुगन्ध और शीतल पवन बहने लगा। चारों ओर व्याप्त निबिड़ अन्धकाररूपी केशों से युक्त, कुहरे से आच्छन्न होने के कारण विधवा दिशाएँ लम्बायमान और गाढ़ अन्धकारके समान काले केशवाली तथा सदा रोने के कारण जिनके नेत्रकी तारिका स्फुट नहीं है, ऐसी विधवा स्त्रियों के समान परम अन्धकार (निपट अन्धेपन) को प्राप्त हो गई। तदुपरान्त चाँदनीरूपी दूधके प्रवाह से सम्पूर्ण भुवन को लबालब भर रहा अमृतमयमूर्ति चन्द्रमारूपी क्षीरसागर आकाशमें आया। जैसे राजाओंके चित्तसे, जिसने ज्ञानगर्भित उपदेशवाणियाँ सुनी थी, अज्ञता भागकर कहीं चली गई वैसे ही चन्द्रोदय से गाढ़ अन्धकार की राशियाँ भाग कर कहीं अदृश्य हो गई। जैसे श्रीवसिष्ठजी द्वारा उपदिष्ट विचित्र अर्थों ने श्रोताओं के चित्त में विश्राम लिया वैसे ही सम्पूर्ण ऋषि, मुनि, ब्राह्मण और राजाओं ने अपने–अपने निवासस्थानों में विश्राम किया। तदुपरान्त गाढ़ अन्धकार से परिपूर्ण अतएव यमराज (काल) के शरीर के सदृश काली रात्रि चली गई और उनके निवासस्थानों में कुहरे से सराबोर प्रातःकाल ने पदार्पण किया। आकाश में दैदीप्यमान तारे प्रातःकाल के पवन से हरी गई पुष्पवृष्टियों की नाईं छिप गये और महात्माओं के मन में नूतन उत्पन्न हुई विवेकवृत्ति की नाईं अपनी कान्ति से लोगों के

नयनों को खोलनेवाले श्रीसूर्यभगवान् ने दर्शन दिये। केसर की कान्ति के सदृश कुछ कुछ विचित्र सूर्य की सुनहली किरणों से विभूषित मेघखण्डरूपी पीतवस्त्र धारण किया हुआ उदयाचल सूर्य की अरूण कान्ति से विभूषित आकाशमें प्रविष्ट हो गया। प्रातःकाल का कृत्य समाप्त कर सभी स्वर्गवासी और भूलोकवासी अतीत दिन के ही क्रम से फिर सभास्थान में आये। जिस क्रम से पूर्वदिन लोग बैठे थे उसी क्रम से सारी सभा बैठी और जैसे वायु से रहित पद्मों से पूर्ण तालाब निश्चल रहता है, वैसे ही वह सभा बातकी बात में निश्चल और नीरव हो गई। तदुपरान्त कथा के प्रसंग का अवलम्बन कर श्रीरामचन्द्रजी ने मधुर वाणी से वक्ताओं में श्रेष्ठ महामुनि श्रीवसिष्ठजी से कहा : भगवन्, मन का स्वरूप कैसा है, यह मुझको बतलाइए, क्योंकि मन से यह सम्पूर्ण लोकमंजरी बनी है ॥२३–३७॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे शून्य और जड़ आकारवाले भूताकाश का नाममात्र के सिवा कोई रूप नहीं है, वैसे ही शून्य और जड़ आकारवाले इस मन का कोई भी रूप नहीं दिखाई देता। अतएव मन के कार्य सम्पूर्ण पदार्थों में 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादि श्रुति से प्रतिपादित मिथ्यात्व की उपपत्ति होती है, यह भाव है ॥३८॥

मन की आकाशतुल्यता का ही उपपादन करते हैं।

हे रामजी, प्रस्तावित मन क्या बाहर ओर क्या हृदय में कहीं पर भी सद्रूप से विद्यमान नहीं है। किंतु, जैसे आकाश सर्वत्र विद्यमान है, वैसे ही इसको भी सर्वत्र स्थित जानो। मृगतृष्णा में (प्यासे मृगों को मरुस्थल में सूर्य की किरणों में) प्रतीत होनेवाले जलकी नाईं मिथ्या वह जगत् मन से उत्पन्न हुआ है। इसका स्वरूप क्षणभर के संकल्प से दूसरे चन्द्रमा के भ्रम की नाईं भ्रमात्मक ही है अर्थात् भ्रमज्ञान ही उसका आकार है ॥३९,४०॥

यद्यपि परमार्थरूप से मन है ही नहीं, तथापि शास्त्रीय व्यवहार के लिए कल्पित उसका रूप कहते हैं।

प्रत्यक्षस्थल में सामने विद्यमान और स्मरण आदि परोक्षस्थलमें अविद्यमान पदार्थ का जो दृश्यरूप–भान सब लोगों को होता है, वही मन है। जो पदार्थ का भान होता है, वही मन कहा जाता है, उससे अतिरिक्त मन नामक कोई भी वस्तु कदापि नहीं है ॥४१,४२॥

भाव यह कि निराकार चित् का जो पदार्थाकार अध्यास है, वही मन है।

सामान्य वृत्तियों से उसका लक्षण कहकर असाधारण वृत्ति से भी उसका लक्षण कहते हैं।

हे श्रीरामजी, संकल्प को ही आप मन जानिये। जैसे द्रवत्व से जल का और जैसे वायु से स्पन्द का भेद नहीं किया जा सकता। वैसे ही संकल्प से मन का भेद नहीं किया जा सकता ॥४३॥

उक्त बात को ही विषयभेदव्यवस्था के प्रदर्शन द्वारा दृढ़ करते हैं।

हे श्रीरामजी, जिस विषय का संकल्प होता है, उसमें मन संकल्परूप से स्थित रहता है, अर्थात् जो संकल्प है वही मन है। संकल्प और मनका कदापि किसी से भेद नहीं किया गया है ॥४४॥

यदि कोई कहे कि चित्से संवलित वृत्ति ही पदार्थभान कहा जाता है, ऐसी परिस्थिति में चित् के सत्य होने पर चिद्घटित मन कैसे मिथ्या है ? तो इस पर कहते हैं।

पदार्थभान मिथ्याविषयाकार होने से मिथ्या अथवा चित्संवलित होने से सत्य आपकी विवक्षा के अनुसार भले ही हो, इसमें हमारा कुछ भी आग्रह नहीं है। मन केवल संकल्परूप ही है। जैसे संकल्परूप मन है, वैसे ही मन की समष्टि भी संकल्पस्वभाव ही है, वही सृष्टिकर्ता ब्रह्मा है ॥४५॥

यदि सर्वपदार्थाकार मन ही ब्रह्मा की देह है,तो उसकी अन्य स्रष्टव्य वस्तु ही क्या रही, इस शंका पर कहते हैं।

आतिवाहिक देहरूपी (संकल्पमय देहरूपी) ब्रह्मा लोकमें मन कहा गया है, वही सूक्ष्म भूतों के ही मिश्रण से पंचीकरण द्वारा आधिभौतिक बुद्धिका (स्थूल देहज्ञान का) आधान करता है, यही उसका कर्तृत्व है ॥४६॥ अविद्या, संसार, चित्, मन, बन्धन, मल, तम–ये सब दृश्य के पर्यायवाची शब्द हैं, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥४७॥ दृश्य से अतिरिक्त मन का कुछ भी स्वरूप नहीं है, यदि उत्पन्न दृश्य ही अविद्या और मन है, तो उनकी अनादिता कैसी ? इस पर कहते हैं। यह दृश्य उत्पन्न ही नहीं हुआ है, ऐसा मैं आगे कहूँगा। जैसे कमलगट्टे के अन्दर कमल लता स्थित रहती है, वैसे ही महाचैतन्यरूप परमाणु के अन्दर यह जगत् स्थित है। जैसे प्रकाश का आलोक स्वभाव है, जैसे वायु का चांचल्य स्वभाव है और जैसे जल का द्रवत्व स्वभाव है, वैसे ही द्रष्टा में दृश्यत्व है। जैसे सुवर्ण में केयूरत्व है, जैसे मृगतृष्णा में जल है और जैसे स्वाप्निक नगर में भित्ति है, वैसे ही द्रष्टा में दृश्यबुद्धि है। इस प्रकार द्रष्टा में जो दृष्यत्व अभिन्न–सा स्थित है, उसको भी (उस मल को भी) तुम्हारे चित्तरूपी दर्पण से शीघ्र निवृत्त करता हूँ। दृश्य का अभाव होने पर इस द्रष्टामें जो अद्रष्टृता बलात् प्राप्त होती है, उसी को सन्मात्र चिद्रूप से अवशिष्ट आत्मा का केवली भाव जानो। चित्त के कैवल्यज्ञान द्वारा केवलीभाव को प्राप्त होने पर जैसे वायु के स्पन्दनरहित होने पर वन, जलाशय आदि में वायु–स्पन्दनप्रयुक्त चंचलता शान्त हो जाती है, वैसे ही केवलीभावापन्न मनमें राग, द्वेष आदि वासनाएँ शान्त हो जाती हैं। प्रकाश्य दिशा, भूमि, आकाश आदि सम्पूर्ण पदार्थों के न रहने पर जैसे प्रकाशका शुद्ध स्वरूप ही अवशिष्ट रहता है, वैसे ही तीनों जगत्, त्वम्, अहम्, इत्यादि दृश्यों के न रहनेपर विमलस्वरूप द्रष्टा का केवली भाव ही रहता है। जिसमें सम्पूर्ण पर्वत आदि का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ा है, ऐसे दर्पण में जैसे केवल आत्मस्वरूपभूत दर्पणता ही रहती है, वैसे ही त्वम्, अहम्, यह जगत् इत्यादि दृश्य भ्रम के शान्त होने पर दृश्योन्मुखताशून्य द्रष्टा में केवलता ही रहती है ॥४८–५८॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यह दृश्य यदि सत् है, तो इसकी निवृत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि सत् की कभी निवृत्ति नहीं हो सकती। दुःखदायी दृश्यकी असत्ता हम लोगों को प्रतीत नहीं होती, इसलिए यह दृश्यरूपी महामारी कैसे शान्त होगी ? दृश्यरूपी महामारी मन से जन्म आदि भ्रम को उत्पन्न करनेवाली और दुःखपरम्परा को देनेवाली है ॥५९,६०॥

यद्यपि जगत् असत् है, तथापि अविद्या से वह सत्-सा प्रतीत होता है। केवलीभाव का साक्षात्कार होने से अविद्या की निवृत्ति हो जानेपर वैसा भ्रम नहीं होता, यह गूढ़ अभिप्राय है। पहले जीवन्मुक्ति पानेवाले पुरुषों के अनुभवरूप प्रमाण से तथा अनिर्मोक्ष की आपत्ति से दृश्य में सत्यताविश्वास को निवृत्त कर रहे श्रीवसिष्ठजी विवर्तवाद का आश्रय कर बोले :

हे रामजी, इस दृश्यरूपी पिशाच के विनाश के लिए, इस मन्त्र को सुनो, जिससे चेतनरूप से अभिमत देहरूपी यह पिशाच सर्वथा मर जायेगा और अचेतनरूप से अभिमत अन्तःकरण आदिरूप यह नष्ट हो जायेगा ॥६१॥

परिणामवाद में दोष दिखलाते हैं।

हे राघव, जिस वस्तुका अस्तित्व है, उसका कदापि नाश नहीं हो सकता, इसलिए नष्ट हुआ भी वह बीजरूप से हृदयमें विद्यमान रहता है। भाव यह है कि परिणामवादमें उत्तर अवस्थाओं में पूर्व पूर्व अवस्थाओं का तिरोभावमात्र होता है, उच्छेद नही होता, कारण कि सत् का अभाव कभी नहीं हो सकता। ऐसी अवस्थामें नाशरूप षड् विकार से तिरोहित द्वैत के चित्त में अथवा प्रकृति में स्थित रहने से काम, कर्म, वासनारूप बीजसे पुनः उद्भव को कोई रोक नहीं सकता, अतः अनिर्मोक्ष प्रसंग होगा। दृश्यबुद्धि स्मृतिरूपी बीज से चिदाकाशमें फिर उत्पन्न होकर भुवन, पर्वत, आकाश आदि आकारवाले महान् दोषकी सृष्टि करती है। इस प्रकार अनिर्मोक्षरूप दोष होगा, पर उसका यहाँ पर सम्भव नहीं है, क्योंकि अनेक देवता, ऋषि, मुनि जीवन्मुक्त देखे जाते हैं ॥६२-६४॥

यह चिदात्मा स्वभिन्न प्रधान में स्थित दृश्य को अविवेक से अपने हृदय में स्थित देखता है, वही उसका यह संसार है। विवेकज्ञान के उदय से पूर्वोक्त अविवेकजनित अभिमान की निवृत्ति होने पर बाह्य पदार्थों के रहनेपर भी मोक्ष हो जायेगा, इस प्रकार सांख्य प्रक्रिया की आशंका कर कहते हैं।

यदि इस जगत् आदि का अस्तित्व रहेगा, तो उससे किसीका भी मोक्ष नहीं होगा, वह (दृश्य) चाहे बाहर में स्थित हो, चाहे अन्तःकरणमें स्थित हो पर वह केवल स्वरूपनाश के लिए ही होता है ॥६५॥

इसलिए अन्त में विवर्तवाद ही अवशिष्ट रहता है, ऐसा कहते हैं।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अतिभीषण इस प्रतिज्ञा को सुनिये, जिसका स्वरूप आप आगे के ग्रन्थ से भलीभाँति जान जायेंगे। सामने जो ये भौतिक आकाश आदि और अन्दर अहं आदि लक्षित होते हैं, वे सब व्यवहारदशा में जगत् हैं; किन्तु परमार्थदशा में ब्रह्म ही हैं। ब्रह्म के सिवा जगत्-शब्द का कोई दूसरा वास्तविक अर्थ नहीं है। जो कुछ भी दृश्य दिखाई देता है, वह सब अजर-अमर अव्यय परम-ब्रह्म ही है। प्रत्यगात्मा जो ब्रह्मैक्य है, वह पूर्ण में पूर्ण का प्रवेश है। चूँकि स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति - इन तीन अवस्थाओं से रहित ब्रह्म में आकाशादि जगत् स्थित है और आकाश में घट आदि उपाधियों के त्याग से आकाश ही उदित होता है, इसलिए ब्रह्म में ही ब्रह्म रहता है, अणुमात्र भी

उसका विकार नहीं होता है (✍)। वास्तव में न यह दृश्य सद्रूप है, न द्रष्टा और न दर्शन ही सद्रूप है एवं न शून्य सद्रूप है न जड़ ही सद्रूप है और न बुद्धिप्रतिबिम्ब चैतन्य ही है किन्तु सर्वत्र व्याप्त यह ब्रह्म ही सद्रूप है।

उक्त विवर्तवाद में पामर पुरुषों की असंभावना दिखलाते हुए श्रीरामचन्द्रजी ने कहा।

भगवन्, आपका उक्त वचन 'वन्ध्या के पुत्र ने पर्वत को पीस दिया, खरगोश का सींग गाता है, शिला भुजाओं को फैलाकर ताण्डव नृत्य करती है, बालू से तेल निकलता है, पत्थर की प्रतिमाएँ वेद पढ़ती हैं और चित्र में लिखित मेघ गरजते हैं' – इन वचनों के सदृश प्रतीत होता है। सम्पूर्ण प्रामाणिक पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ होते हुए भी आप जरा, मृत्यु आदि विविध दुःखों से परिपूर्ण पर्वत, आकाश आदिमय जगत् नहीं है, ऐसा अश्रद्धेय वचन विवेकशाली तथा अवंचनीय मुझसे कैसे कहते हैं ? भगवन्, जैसे यह जगत् न तो अनादिकाल से स्थित है, न उत्पन्न हुआ और न इस समय विद्यमान है, वैसे मुझसे कहिए, जिससे इसका निश्चय हो जाय ॥६६–७४॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स राघव, मेरा वचन पूर्वपरसमन्वय से रहित नहीं है तथा शब्द करनेवाले वन्ध्यापुत्र के समान जैसे यह असत् प्रतीत होता है, वैसा में तुमसे कहता हूँ, सुनो। यह जगत् सृष्टि के आदि में उत्पन्न नहीं था, इसलिए उस समय इसका अस्तित्व सर्वथा नहीं था। जैसे स्वप्न आदि में नगर आदि की प्रतीति होती है, वैसे यह भी मन से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। सृष्टि के आदि में अनुत्पन्न अतएव असत्–शरीर मनरूप यह जगत् जैसे अनुभूत होता है, वैसा मैं कहूँगा, आप सुनिये। मन क्षीण होनेवाले दृश्यरूप इस दोष का विस्तार करता है, जैसे कि स्वप्न असत् दृश्यरूप होता हुए भी सत्–सा प्रतीत होनेवाले अन्य स्वप्न का विस्तार करता है। मन ही अपनी इच्छानुसार स्वयं देहकी कल्पना करता है, उसीने चिरकाल की भावना से विपुल होकर इस इन्द्रजालरूप दृश्य की रचना कर रक्खी है। केवल चंचलशक्तिमान् मन ही प्रकाशित होता है, भ्रमण करता है, गमनागमन करता है, प्रार्थना करता है, निमग्न होता है, संहार करता है, सांसारिक दशाप्रयुक्त अपकर्ष को प्राप्त होता है तथा कैवल्यरूप उत्कर्ष को प्राप्त होता है। यह सब मन की ही क्रीड़ा है। मन ही सम्पूर्ण संसार है। उससे पृथक् जगत् कुछ नहीं है ॥७४–८०॥

चौथा सर्ग समाप्त

✍ पूर्ण पदार्थ का प्रवेश और निर्गम कहना संभव नहीं है। ब्रह्म और आत्मा की एकता ज्ञात होनेपर ही पूर्ण में पूर्ण का प्रकाश (प्रवेश) हुआ कहा जा सकता है। जब तक ब्रह्मतत्त्व अज्ञात रहता है, तब तक उसमें रस्सीमें सर्पदर्शन के समान जगत्-दर्शन होता है। रस्सी में जैसी सर्पकी स्थिति है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् की स्थिति है। जगत् नहीं है, यह ज्ञान ही जगत् की शान्तता है। शान्त में शान्त की स्थिति कहना उचित ही है। श्लोक में प्रथम शान्त शब्द ब्रह्म के लिए और द्वितीय शान्तशब्द जगत् के लिए उपात्त है। घटादि उपाधि के नष्ट होनेपर जैसे आकाश में आकाश का उदय हुआ कहा जाता है, वैसे ही जगत्-दर्शन के निवृत्त होनेपर ब्रह्म में ब्रह्म का उदय हुआ कहा जा सकता है। ब्रह्म में ही ब्रह्म का अवस्थान, इसका तात्पर्य यह है कि जगत् ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है।

पाँचवाँ सर्ग

विश्व का मूल मन है, मन का मूल परमात्मा है,
परमात्मा ही मन और समस्त जगत का मूल तत्त्व है, इस विषय का वर्णन।

पूर्वोक्त प्रकार से मन के मिथ्यात्व वर्णन करने से प्रकरणार्थ के स्पष्ट होने पर मन के अधिष्ठान के तत्त्व की, उसके आरोप के प्रकार की और उसके मिथ्यात्व में हेतु की जिज्ञासा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी बोले।

हे मुनिश्रेष्ठ, इस मन के भ्रम में परमार्थभूत मूल क्या है, भगवन्, मायामय यह मन कहाँ से कैसे उत्पन्न हुआ ? ॥१॥

सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति के मूलभूत हेतु को छोड़कर मन के मूलभूत हेतु के पूछने में कहते हैं।

हे प्रभो, मन की उत्पत्ति किससे हुई ? यह पहले मुझसे संक्षेप से कहिए, अनन्तर अवशिष्ट वक्तव्य को कहियेगा। भाव यह है कि आदिभूत मनके मूल का परिज्ञान हो जानेपर सबके मूलका परिज्ञान हो ही जायेगा॥२॥

उक्त दो प्रश्नों में पहला प्रश्न प्रधान है, इसलिए इस सर्ग की समाप्ति तक वसिष्ठजी ने पहले प्रश्न का उत्तर दिया।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, महाप्रलयावस्था में, जगत् के अतिसूक्ष्मरूप से स्थित होने के कारण, अपने कार्य में असमर्थ होने पर सम्पूर्ण दृश्यवर्ग की सृष्टि से पहले जगत् निर्विक्षेपावस्था में शेष रहता है। उस समय स्वयंज्योति, अजन्मा, प्रकाशमान, आनन्दघन सदा सर्वशक्तिमान् देवाधिदेव अविनाशी केवल परमात्मा ही रहते हैं। जिससे वाणियाँ भी निवृत्त हो जाती हैं, जिसे जीवन्मुक्त महात्मा जानते हैं और जिसकी आत्मा आदि संज्ञाएँ स्वाभाविक नहीं है किन्तु कल्पित हैं अर्थात् उसकी आत्मा आदि संज्ञाएँ अनारोपित स्वरूप से उत्पन्न नहीं है, किन्तु आरोपित धर्म से उत्पन्न हुई हैं। जिसे सांख्यदर्शन माननेवाले 'पुरुष' कहते हैं, वेदान्ती 'ब्रह्म' कहते हैं, विज्ञानवादी अत्यन्त निर्मल केवल 'क्षणिकविज्ञानरूप' कहते हैं और जिसे शून्यवादी 'शून्य' कहते हैं। भाव यह कि सभी वादियों के अपने-अपने बुद्धिवैभव से कल्पित विविध सिद्धान्तों का विषय वही है, सबके अधिष्ठानभूत उस परमात्मा के विषय में किसीको भी विवाद नहीं है। जो सूर्य के प्रकाशका भी प्रकाशक है, सदा सत्य बोलनेवाला, सत्य मनन करनेवाला, भोक्ता, द्रष्टा और कर्ता है। जगत् में सर्वदा विद्यमान होता हुआ भी असत् कर देनेवाली अविद्या से आवृत्त होने के कारण पामर पुरुषों की दृष्टि में जो असत् है, जो देहमें स्थित होने पर भी अविद्यावृत्त होने के कारण पामरों की दृष्टि में दूर स्थित है, सूर्य से उजियाले की भाँति जिससे वह चैतन्यरूपी प्रकाश होता है, सूर्य से किरणों के सदृश जिससे विष्णु आदि देवता उत्पन्न होते हैं एवं सागर से अनन्त बुद्बुदों की नाईं जिससे कोटि कोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं॥३-९॥ जैसे नदी, नाले आदि का जल महासागर

में ही गिरता है, वैसे ही सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ प्रलय द्वारा जिसमें विलीन हो जाते हैं, जो दीपक की नाईं अपना और अपने में कल्पित अन्यान्य पदार्थों का प्रकाशक है। जो आकाश में, नाना शरीरों में, पत्थरों में, जल में, लताओं में, धूलिकणों में, पर्वतों में, वायु में और पाताल में स्थित है। जो अपने व्यापार में उद्यत पुर्यष्टक को (कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, भूतमात्रा, प्राण, अविद्या, काम, कर्म और अन्तःकरण को) बाहर–भीतर अपने चैतन्य की व्याप्ति से चैतन्य–युक्त करता है और जिससे मूक की गई जड़ शिलाएँ मानों ध्यान में बैठी हैं। चेतनों की चेतना में वही कारण है एवं अचेतनों की विचित्रतामें भी वही हेतु है, यह भाव है। आकाश को जिसने शून्य बना रक्खा है, पर्वतों को जिसने ठोस रूप दिया है, जल को जिसने तरल बना रक्खा है और जिसने अपने वशीभूत सूर्य को दीपक (प्रकाशक) बना रक्खा है ॥१०–१३॥ जैसे क्षीण न होनेवाले जल से भरे हुए मेघ से मूसलाधार वृष्टि होती है, वैसे ही कभी क्षीण न होनेवाले आनन्द से परिपूर्ण जिस परमतत्त्व से चित्र–विचित्र संसाररूपी मूसलाधार वृष्टि होती है। जैसे मरूभूमि में कभी दिखलाई देनेवाला कभी छिप जानेवाला मरीचिकाजल स्फुरित होता है, वैसे ही जिस अतिविस्तारयुक्त (व्यापक) तत्त्व में आविर्भाव–तिरोभावमय त्रिभुवनरूप लहरें स्फुरित होती हैं। प्रपंचरूप से विनाशी और स्वरूप से अविनाशी जो सब प्राणियों के अन्दर स्थित है। सूक्ष्म होने के कारण भीतर गुप्त और अतिमहत्तम होने के कारण सबसे अतिरिक्त (निष्प्रपंचरूप से अवशिष्ट) भी जो सब पदार्थों में विद्यमान है ॥१४–१६॥ माया ही लता है, वह चिदाकाशमें (शुद्ध चैतन्य में) उत्पन्न हुई है, चित्त उसकी जड़ है, इन्द्रियाँ उसके पत्ते हैं और कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड उसके सुन्दर फल हैं। वह मायारूपी लता वायुरूप जिससे परिचालित होती है। जो चैतन्यरूपी मणि प्रत्येक देहरूपी पेटी में प्रकाशित होती है और चन्द्रमा में किरणों की नाईं जिसमें ये अनेक जगत् स्फुरित हैं ॥१७,१८॥ जैसे वृष्टि करनेवाले गम्भीर मेघ में मूसलाधार जलवृष्टि और प्रकाशमय बिजली स्फुरित होती है वैसे ही जिस आनन्दवर्षी शान्त और चिद्घन में जड़ पाँच भूत और चेतन विविध सृष्टियाँ स्फुरित होती हैं। जिसके प्रकाश से सब पदार्थ परस्पर आश्चर्य जनक कार्य करते है, जिससे असतपदार्थ असत् हैं और सत् पदार्थ सत्त्व को प्राप्त हुआ। जो देवता, मनुष्य पशु, पक्षी आदि स्वरूप है, असंग और अनिच्छावाले अतएव शान्त भाव से अपनी आत्मा में स्थित जिसकी संनिधि में यह दृश्यवर्ग अत्यन्त जड़ होता हुआ भी क्रियावान् है ॥१९–२१॥ नियति अर्थात् सृष्टि के अवसर में अवश्य ही सृष्टि होनी चाहिए और प्रलय के अवसर में अवश्य ही प्रलय होना चाहिए इत्यादि नियम, उक्त नियम के अवच्छेदक देश और काल, उचित देश और काल में बोने पर बीजादि के अन्तर्गत कार्य का बीज के फूलने से चलन, बीज फोड़कर अंकुर आदि के निर्गमन द्वारा स्पन्दन और तदुपरान्त तना, शाखा, टहनियाँ, पत्ते आदि क्रमसे फलपर्यन्त जो जो व्यापार होते हैं वह सब क्रियाशब्दवाच्य हैं। इस क्रम से सम्पूर्ण पदार्थ जगत् से विलक्षण सत्तावाले (पारमार्थिक सत्तावाले) जिससे व्यावहारिक क्रिया करने में क्षमता को प्राप्त हुए हैं ॥२२॥

अथवा वही मायिक आकाश आदि पदार्थों के चिन्तन से व्योमादि भाव को प्राप्त हुआ है,

उससे अतिरिक्त व्योमादिशब्दवाच्य कोई दूसरी वस्तु नहीं है, ऐसा कहते हैं।

शुद्ध ज्ञानमय होने के कारण जो आकाश के चिन्तन से (मैं आकाश हूँ इस प्रकार विचार करने से) आकाशभाव को और पदार्थों के चिन्तन से पदार्थत्व को धारण कर स्थित है ॥२३॥

अब आरोपित के मिथ्यात्व में कारण कहते हैं।

चूँकि यह निविर्कार अतएव उत्पत्ति, स्थिति आदि से शून्य ज्ञानमय अपने स्वरूप में स्थित और अद्वितीय ही है अतएव अनेक महान् ब्रह्माण्ड के समूहों को और विचित्र विविध लीलाओं को करता हुआ भी न कुछ कार्य करता है और लीला आदि चेष्टाएँ ही करता है। भाव यह कि जिस कार्य का उपादान निर्विकार होता है वह मिथ्या होता है, यों कार्य के मिथ्यात्वमें निर्विकारोपादनकत्व ही हेतु है ॥२४॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

छठा सर्ग

ज्ञान से आत्मा की प्राप्ति होती है, कर्मों से नहीं;
अतएव ज्ञानप्राप्ति के उपायों में प्रयत्न और क्रम का वर्णन।

पूर्वोक्त रीति से जगत् के मूलकारण देवाधिदेवका वर्णन कर उसकी प्राप्ति के उपाय भूत ज्ञान के साधनों को कहने की इच्छा से श्रीवसिष्ठजी बोले :

वत्स, देवों के देव (✍) इस परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति ज्ञान से ही हो सकती है, कर्मानुष्ठान से उत्पन्न क्लेशों से इसकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। ब्रह्म की प्राप्ति में ज्ञानरूपी अनुष्ठान का ही उपयोग है, ज्ञान से अतिरिक्त कर्म आदि का कोई उपयोग नहीं है। मरुस्थल में मरीचिका में जलभ्रम की निवृत्ति कोटि-कोटि कर्म करनेपर भी नहीं हो सकती, एकमात्र ज्ञान ही उसकी निवृत्ति में कारण देखा गया है ॥१,२॥

न बहुत नजदीक, न बहुत दूर, क्रिया के बिना प्राप्त होने के अयोग्य एवं विषम स्थान में स्थित फलकी प्राप्ति में क्रिया सफल हो सकती है, परमात्मा उक्त फलके सदृश नहीं है, इसलिए वह क्रिया द्वारा कदापि लभ्य नहीं है, ऐसा कहते हैं।

परमात्मा दूर भी नहीं है, नजदीक भी नहीं है, सुलभ भी नहीं है, दुर्लभ भी नहीं है और दुर्गम स्थान में स्थित भी नहीं है किन्तु विस्मृत सुवणहार की नाईं ज्ञानरूप कौशल से अपने ही शरीर से प्राप्त होता है। परमात्मा की प्रप्ति में तपस्या, दान, व्रत आदि तनिक भी सहायता नहीं करते, केवल स्वरूप में विश्रान्ति को छोड़कर उसकी प्राप्ति में और कुछ भी साधन नहीं है ॥३,४॥

यदि कोई शंका करे कि परमात्मा की प्राप्ति में साधनभूत ज्ञान सर्वथा कर्म-निरपेक्ष कैसे है ? तो इस पर कहते हैं।

(✍) देव हिरण्यगर्भ, परब्रह्म आदि कारण होनेसे उसके भी देव हैं, इसलिए वे देवाधिदेव हैं।

साधुसमागम तथा सत्–शास्त्रों के अभ्यास में तत्पर होना ही परम ब्रह्म की प्राप्ति में हेतु है, कारण कि अज्ञान–जाल का उत्पादक नित्यसिद्ध ब्रह्म जब चरमसाक्षात्कारवृत्ति में आरूढ़ होता है, तब वह अज्ञानजाल का नाशक होता है, उससे अतिरिक्त अन्य कुछ भी उसका बाधक नहीं होता ॥५॥

यदि कोई शंका करे कि तब तो दुःख की निवृत्ति में अथवा जीवन्मुक्ति में अन्य साधन होंगे ? इस पर कहते हैं।

यह परमात्मा सत् ही है, केवल इस प्रकार के ज्ञानमात्र से ही जीव को क्लेश नहीं होता और वह जीवन्मुक्तिको प्राप्त होता है ॥६॥

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (ब्राह्मण उसको वेदाध्ययन, यज्ञ, दान और अविनाशी तप से जानना चाहते हैं) यह श्रुति डिण्डिमघोष से यज्ञ, दान और तप को ज्ञान का साधन कहती है, 'किंचिन्नोपकरोति' (तप, दान, व्रत आदि तनिक भी सहायक नहीं होते हैं) यह कथन कठोरतम तप आदि के विधान की इच्छा से साधारण तप आदि पर लागू होता है ऐसा समझ रहे श्रीरामचन्द्रजी बोले :

गुरुवर, स्वरूपभूत इस आत्मा के केवल ज्ञात होने से क्लेशदायक जन्म–मरण आदि उपद्रव फिर कभी नहीं होते हैं। यह महान् देवाधिदेव किस उपाय से अतिशीघ्र प्राप्त होता है ? यदि कहिए ज्ञान से प्राप्त होता है, तो कृपया बतलाइए कि वह ज्ञान किस दुष्कर तप से अथवा कितने प्रचुर क्लेश से प्राप्त होता है ?॥७,८॥

विविदिषा के (ज्ञान की इच्छा के) लिए किये गये निष्काम कर्मों तथा अन्यान्य जन्मों में किये गये साधारण कर्मों के विविदिषा की उपपत्ति में ही क्षीण हो जाने से उत्कट विविदिषा होने पर श्रवण आदि प्रयत्न ही ब्रह्मज्ञान में उपयोगी होता है, तप आदि नहीं, यों मान रहे श्रीवसिष्ठजी बोले :

राघव, वेदान्तश्रवण आदि अपने पौरुष प्रयत्न से विकास को प्राप्त हुए विवेक से ही उक्त देवाधिदेव के ज्ञान की प्राप्ति होती है, तप, स्नान, यज्ञ आदि कर्मों से नहीं। हे रघुवंशतिलक, राग, द्वेष, अज्ञान, क्रोध, मद और मात्सर्य का त्याग किये बिना तप, दान आदि क्लेश ही हैं, वास्तविक साधन नहीं है, क्योंकि चित्त में राग आदि का साम्राज्य रहने पर दूसरे को ठगकर जो धन उपार्जित किया जाता है, उसके दानसे उसीको फल मिलता है, जिसका कि वह धन है। चित्त के राग आदि से उपहत होने पर जो व्रत आदि किया जाता है, वह दम्भ कहा जाता है, उसका कुछ भी फल नहीं होता। इसलिए पौरुष प्रयत्न से मुख्य औषधि का उपार्जन करना चाहिए। वह मुख्य औषधि है–सत् शास्त्रोंका अभ्यास और सज्जनसंगति, जिनसे संसाररूपी व्याधि की निवृत्ति हो जाती है। इस संसारमें संपूर्ण दुःखों के विनाश की प्राप्ति में केवल एक पौरुष प्रयत्न ही साधन है, उसको छोड़कर दूसरा कोई भी उपाय नहीं हो सकता। हे श्रीरामचन्द्रजी, आत्मज्ञानकी प्राप्ति के लिए अपेक्षित वह पौरुष कैसा है ? उसे आप सुनिए। जिससे राग–द्वेषरूपी विषूचिका सर्वथा निवृत्त हो जाती है। मुमुक्ष पुरुष–जिसमें लोक और

शास्त्र से किसी प्रकार का विरोध नहीं है, ऐसी यथायोग्य (अपने कुलानुरूप) आजीविकासे सन्तुष्ट होकर–भोगवासना का परित्याग करे। अपनी हितकारिणी (卐) अनुद्विग्नता द्वारा यथासंभव (शक्त्यनुरूप) उद्योग से सर्व प्रथम सज्जनसंगति और सत्–शास्त्र के अभ्यास की शरण लेनी चाहिए। जो पुरुष प्रारब्धानुसार जो कुछ पदार्थ मिल गया, उससे सन्तुष्ट रहता है, शास्त्र एवं शिष्टों द्वारा निन्दित की उपेक्षा करता है और साधुसंगति तथा सत्–शास्त्र के अभ्यास में निरत रहता है, वह शीघ्र मुक्त हो जाता है। जिस महामति पुरुष ने विचारद्वारा अपने स्वरूप (आत्मतत्त्व) को जान लिया है, उस महापुरुष के ये ब्रह्मा, विष्णु, शंकर और इन्द्र अनुकम्पा पात्र होते हैं ॥९–१९॥

साधु कौन है ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं।

श्रुति और स्मृति से प्रतिपादित सदाचार में परिनिष्ठित सज्जन लोग जिसे साधु कहते हैं, वह यदि ज्ञान, वैराग्य आदि शुभ गुणों से विशिष्ट हो, तो वह साधु है। प्रयत्नपूर्वक उसकी शरण लेनी चाहिए ॥२०॥

सत्–शास्त्र कौन हैं ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं।

सम्पूर्ण विद्याओं में अध्यात्मविद्या (📖) मुख्य है, उसकी उत्पत्ति के अनुकूल विचारात्मक वर्णन जिसमें हों, वह शास्त्र अर्थात् उपनिषत्, सूत्रभाष्य, गीता एवं इनके विवरणात्मक ग्रन्थ सत्–शास्त्र कहलाते है, उसके विचार से पुरुष मुक्त हो जाता है ॥२१॥

यदि कोई शंका करे कि अन्यान्य अनेक उपायों के विद्यमान रहते साधुसंगति और सत्–शास्त्रकी ही क्यों प्रशंसा करते हैं ? तो इस पर कहते हैं।

जैसे निर्मली के चूर्ण के संसर्ग से जलका मैल नष्ट हो जाता है और जैसे योग के अभ्यास से लोगों की बाह्य मनोवृत्तियाँ विनष्ट हो जाती हैं, वैसे ही सत्–शास्त्र और साधुसंगति से उत्पन्न विवेक से विद्या के विरोधी राग, द्वेष आदि सहसा विनष्ट हो जाते हैं ॥२२॥

छठा सर्ग समाप्त

सातवाँ सर्ग

हिरण्यगर्भ आदि जगत्का मूल कारणभूत जिस देवाधिदेव का पहले वर्णन हो चुका है, सम्पूर्ण उपाधियों से शून्य उसके तत्त्व का वर्णन।

प्रस्ताव द्वारा जिज्ञासित साधन के ज्ञात होने पर प्रस्तुत जगत्कारण के वास्तविक स्वरूप को जानने की इच्छा से श्रीरामचन्द्रजी बोले :

ब्रह्मन्, हिरण्यगर्भ आदि के कारणभूत जिस प्रत्यगात्मरूप देव का आपने पहले वर्णन किया है, जिसका ज्ञान होने पर पुरुष विमुक्त हो जाता है, वह देवाधिदेव कहाँ स्थित है तथा उसे मैं कैसे प्राप्त कर सकता हूँ, यह आप मुझे बतलाने की कृपा कीजिए ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा :

卐 यह नहीं हो सकता, इस प्रकार का वैराग्य उद्विग्नता है, उसके त्याग द्वारा।

📖 आत्मा को उद्देश्य करके प्रवृत्त विद्या (ज्ञान) अध्यात्मविद्या है।

हे रघुकुलदीपक, जिस देवाधिदेव का मैंने वर्णन किया है, वह दूर नहीं रहता। चैतन्यमात्ररूप से विख्यात वह नित्य शरीर में ही (卐) स्थित है। चिन्मात्र यह सम्पूर्ण विश्व है ॥२॥

शंका– क्या वह देह से परिच्छिन्न ही है ?

समाधान – नहीं, वह सर्वव्यापक विश्वरूप है। सम्पूर्ण पदार्थों के अधिष्ठानरूप से सर्वव्यापिता दिखलाने के लिए उसको विश्वरूप कहा है, यह भाव है। केवल एकमात्र इसीकी सत्ता है। विश्वात्मक द्रष्टा नहीं है अर्थात् उससे अतिरिक्त विश्व की सत्ता नहीं है ॥३॥

केवल कार्यात्मक विश्व ही उससे पृथक् नहीं है, यह बात नहीं है, किन्तु विश्व की कारण माया भी, माया के गुणों के (सत्त्व, रज और तम के) अभिमानी ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र आदि देवताओं के साथ, उससे पृथक् नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

चिन्मात्रस्वरूप यही महादेव है, चिन्मात्रस्वरूप यही विष्णु है, चिन्मात्रस्वरूप यही सूर्य है और चिन्मात्रस्वरूप यही चतुर्मुख ब्रह्मा है अर्थात् उक्त चिन्मात्र से इनकी पृथक् सत्ता नहीं है ॥४॥

चिन्मात्र का (चेतनाश्रय) विश्व यह अर्थ होता है। वह लोकमें सबको भलीभाँति विदित है और वही पुरुषार्थ प्राप्त करानेवाला है, ऐसी अवस्था में उसके उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा समझ रहे लोगों के अभिप्राय को प्रकट करते हुए श्रीरामचन्द्रजी ने शंका की।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : जब बालक भी यह जगत् चेतनमात्र है, ऐसा कहते हैं, तो इस विषय में उपदेश की क्या आवश्यकता रही ? ॥५॥

यह कर्ता क्विप प्रत्यय नहीं है, किन्तु भाव में (चेतनम्–चित्–ज्ञान) क्विप् प्रत्यय है। ऐसी परिस्थिति में उक्त दोषके लिए अवसर नहीं है अर्थात् उक्त जगत् को चेतनाश्रय सर्वसाधारण लोग जानते है, पर ज्ञानरूप (ब्रह्मरूप) नहीं जानते, इसलिए उपदेश की आवश्यकता है; इस अभिप्राय से श्रीवसिष्ठजी पूर्वोक्त विकल्प की निन्दा करते हैं।

वत्स श्रीरामचन्द्रजी, आपने जो विश्व को चिन्मात्र अर्थात् चेतन जाना है, ऐसी दशामें आपने भवभीतिनाशक कुछ भी उपाय नहीं जाना, क्योंकि कर्तामें क्विप् प्रत्यय से निष्पन्न चित् और चेतन शब्द समानार्थक ही हैं, कारण कि नन्द्यादिल्युट् प्रत्यय भी कर्ता में ही होता है। उनका अर्थ होता है–चितिकर्ता। नित्य चितिमें कर्तृत्वका सम्भव नहीं है, इसलिए अनित्य मनोवृत्तिमें प्रतिफलित चित् का ग्रहण करनेपर उसके आश्रयभूत अन्तःकरण को आत्मा समझनेवाला जीव ही चित्शब्द से कहा गया है। वह बहिर्मुख होने से विषयों को ही सार पदार्थ समझता है, अतएव पशु है, इससे ही जन्म, मरण आदि भय भीतर बैठे हुए–से बाहर निकलते हैं ॥६,७॥

यदि कोई कहे कि जीव मूर्तस्थूल शरीर से अतिरिक्त है। मूर्तस्थूलशरीरातिरिक्तत्वेन उसके ज्ञान से ही जरा, मरण आदि का विनाश हो जायेगा, क्योंकि 'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये

卐 यह सामान्य अभिव्यक्ति से शरीर में और विशेषरूप से शरीर के अन्दर हृदयकमल में भलीभाँति अभिव्यक्त होता है।

न स्पृशतः' (शरीररहित उसको प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते) ऐसी श्रुति है, इस शंका पर कहते हैं।

बहिर्मुख होने के कारण बाह्य विषयों को ही सार समझनेवाला यह जीव मूर्तस्थूल शरीर से शून्य होता हुआ भी कृतकृत्य नहीं होता, क्योंकि अज्ञानी है, स्वयं चेतनीय मनरूप और अनर्थरूप बनकर स्थित है, अतः यह दुःख का ही भाजन है ॥८॥

'अशरीरम्' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति का तो–स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीन देहों से रहित को प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते, ऐसा अर्थ नहीं है, कारण कि स्वप्न में स्थूल देहका अभाव होने पर भी प्रिय और अप्रिय देखे जाते हैं, यह अभिप्राय है।

किस प्रकार के जीव के ज्ञान से कृतार्थता होती है ? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे तो उसपर कहते हैं।

चेत्य (दृश्य) पदार्थों से जो सर्वथा मुक्तता (छुटकारा पाना) है अथवा जो अचेत्य (चेतनीय से भिन्न) पदार्थ की ओर प्रवणता (आकर्षण) है, (✍) वह जीव की पूर्णावस्था है, उसको जानकर जीव फिर शोक नहीं करता ॥९॥

इस विषय में श्रुतिरूप प्रमाण उपस्थित करते हैं।

उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होने पर मूलाज्ञान के विनाश से इस जीव की मूलाज्ञान की कार्य अन्तःकरण में तादात्म्याध्यासरूप हृदयग्रन्थि टूट जाती है, उसके नाश से तन्मूलक सम्पूर्ण सन्देह भी छिन्न–भिन्न हो जाते हैं और संचित आदि सम्पूर्ण कर्म विनष्ट हो जाते हैं ॥१०॥

यदि ऐसी बात है, तो चित्तनिरोधरूप योग से ही जीव की चेत्य पदार्थों की ओर प्रवणता रोकी जा सकती है, फिर उसके लिए ज्ञानार्थ प्रयास की क्या आवश्यकता है ? इश शंका पर कहते हैं।

चेत्य का (दृश्य का) ज्ञान से समूल विनाश किये बिना जीव का दृश्य पदार्थों के प्रति आकर्षण नहीं रोका जा सकता। भला बतलाइये, ज्ञान के बिना दृश्य जगत् का उच्छेद ही कैसे हो सकता है ? भाव यह कि ज्ञान के बिना पूर्वोक्त ब्रह्मस्वरूपसमाधि नहीं हो सकती ॥११॥

इसी प्रकार ज्ञान के बिना मोक्ष भी दुर्लभ है, ऐसा कहते हैं।

जो मोक्षनामक अचेत्य चित्स्वरूप है, वह पूर्वोक्त चेत्य के (दृश्य के) असम्भव के बिना (ज्ञानद्वारा समूल बाध के बिना) कैसे प्राप्त हो सकता है ? जबकि समाधि में केवल ब्रह्मस्वरूपोन्मुखता भी दृश्य के बाध से ही होती है, तब मोक्ष में दृश्यस्वरूप के बाध की आवश्यकता के विषय में कहना ही क्या है ?॥१२॥

श्रीरामचन्द्रजी के निम्ननिर्दिष्ट दोनों प्रश्नलोक असंगत हैं, ऐसी किसीको शंका हो सकती है, क्योंकि 'चेतनं राम संसारोजीव एष पशुःस्मृतः' इस श्लोक में जीव के स्वरूप का और उसके आधार मन के मूल कारण का प्रतिपादन पहले हो चुका है, इसलिए पहले श्लोक के लिए

✍ जीव की चेत्यनिर्मुक्तता मुक्त्यावस्था में होती है और अचेत्योन्मुखता समाधि–अवस्था में होती है।

अवकाश नहीं है और ब्रह्म का स्वरूप इस सर्ग के प्रथम श्लोकमें पूछा गया है, इसलिए ब्रह्मस्वरूप के प्रश्न के लिए कहा गया दूसरा श्लोक भी निरवकाश है। हाँ ठीक है, जैसे प्रश्न सरसरी दृष्टि से प्रतीत होता है, वैसा श्रीरामचन्द्रजीको अभिप्रेत नहीं है, किन्तु यह आक्षेप है। उनका आशय यह है कि 'जीव ही संसार है' यह कथन व्याहत है, क्योंकि जीवको ब्रह्मप्राप्ति होने पर ब्रह्म भी संसारी हो जायेगा। यदि जीवको ब्रह्म प्राप्ति नहीं हुई, तो ब्रह्मप्राप्ति के साधन ज्ञान, शास्त्र आदि व्यर्थ हो जायेंगे। इसलिए जीवका रूप अन्य (संसार से अतिरिक्त) ही कहना चाहिए। दूसरी बात यह है कि जीव का आधार ब्रह्म ही है या अन्य कोई ? प्रथम पक्ष में ज्ञान द्वारा ब्रह्म में अध्यस्त सम्पूर्ण द्वैत के साथ ब्रह्म का भी बाध होने पर वरघातन्याय प्राप्त होगा। दूसरे पक्ष में अद्वैत ब्रह्म का व्याघात होगा, यों समझ रहे श्रीरामचन्द्रजी बोले :

ब्रह्मन्, जिस जीव के ज्ञान होने पर संसार का विनाश नहीं होता। आकाश के समान कल्पित रूपवाला, बहिर्मुख होने के कारण विषयों को ही सार समझनेवाला तथा अज्ञानी वह जीव किस आधार में स्थित है ? और कैसा है ? ॥१३॥

यानी उसका संसारकोटि में समावेश है या आत्मकोटि में ? यह अर्थ है।

ब्रह्मन् यदि जीव का संसारकोटि में ही समावेश है, तो उसका जो संसाररूपी सागर से तारण करनेवाला है और जिसका साधुसमागम और शास्त्र के अभ्यास से साक्षात्कार होता है, वह कैसा है ? उसे आप मुझसे कहिए। सागर को ही सागर से कोई तार नहीं सकता, इसलिए जीव का संसारित्वकथन व्याहत है ॥१४॥

आपका यह कथन ठीक होता, यदि जीव ही संसारी होता और जीव ही अपने ज्ञान से मुक्त होता अथवा जीव ही तात्त्विक आत्मा होता, किन्तु यह बात तो है नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (यह सब पहले ब्रह्म ही था, 'मैं ब्रह्म हूँ' यों ब्रह्म ने अपने को ही जाना, इससे वह सब हो गया) इस श्रुति में ब्रह्म को ही अपने अज्ञान से संसार होता है और अपने ज्ञान से मुक्ति होती है, इस कथन से विरोध होता है और 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इससे प्रतिपादित अन्य चेतन के निषेधसे विरोध होता है। जब ब्रह्म ही 'अनेन जीवेनात्मना' इत्यादि श्रुति से इदंकारका आस्पद और कल्पित होने से अनात्मभूत, संसारकोटि में प्रविष्ट तथा भ्रम से आत्मरूपसे गृहीत जीवरूप से उसके धर्मों द्वारा 'मैं जीव हूँ' ऐसा मानता हुआ संसार को प्राप्त होता है, तब जीवकी ही संसारिता फलित होती है। ऐसी अवस्थामें जीवका बाध होने पर भी वरघातन्यायकी प्राप्तिरूप दोष नहीं होता, ऐसा अपने मनमें रखकर पहले जो स्वयं कहा था, उसीको दृढ़ कर रहे श्रीवसिष्ठजी ने कहा :

हे श्रीराम, जो यह चेतन जीव विविधशरीररूपी जंगल में पतित और विशीर्ण है, इसे जो लोग आत्मा समझते हैं, वे लोग पण्डित (शास्त्रीय प्रज्ञासे सम्पन्न) होते हुए भी अज्ञानी हैं। हे राघव, जीव ही संसारी है और उसीको दुःखपरम्पराओं का अनुभव होता है, अतएव जीव के ज्ञात होने पर कहीं पर कुछ ज्ञात नहीं होता। यदि परमात्मा का ज्ञान हो जाता है,

तो जैसे विष के वेग के शान्त होने पर विषूचिका शान्त हो जाती है, वैसे ही दुःखपरम्परा भी नष्ट हो जाती है ॥१५-१७॥

यों जब श्रीरामचन्द्रजी की शंका का समाधान हो चुका, तब वे सर्ग के आरम्भमें जो प्रश्न किया था और जो प्रसंगपात्र कथनोपकथनसे व्यवहित हो गया था, उसे फिर स्पष्टरूप से पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, कृपा करके परमात्मा यथार्थस्वरूप मुझसे कहिये, जिसका साक्षात्कार होने पर मन सम्पूर्ण मोहों से छुटकारा पा जायेगा ॥१८॥

निर्विषय ज्ञान अप्रसिद्ध है, अतः वह निर्विषय, अनावृत्त और अपरोक्ष चिद्रूप है, ऐसा कहनेपर भी वह अनुभव में आरूढ़ नहीं हो सकता, इसलिए जैसे वह अनुभवारूढ़ हो, वैसे कहते हैं।

श्री वसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, एक पलक भर में एक देश से दूर अन्य देशमें प्राप्त संवित् (ज्ञान) का निर्विषय मध्यवर्ती यानी निकट और दूर देश के मध्य में स्थित जो स्वरूप है, वही परमात्मा का रूप है। भाव यह कि शाखा के अग्रभागमें चन्द्रमा के दर्शनमें नेत्र द्वारा निर्गत अन्तःकरणाभिव्यक्त अपरोक्ष ज्ञान शाखा प्रदेश से लेकर दूर चन्द्र प्रदेशतक एक पलक भर में पहुँच जाता है। शाखा प्रदेश से लेकर चन्द्र-प्रदेश तक उक्त ज्ञानकी अनुस्यूतता माने बिना शाखा और चन्द्रमा का एक साथ ज्ञान नहीं हो सकता, उसकी उपपत्ति के लिए शाखा से चन्द्र तक ज्ञान की अनुस्यूतता अवश्य माननी चाहिए। वहाँ पर शाखा और चन्द्र प्रदेशमें ज्ञानके सविषय होने पर भी बीचमें उक्त ज्ञानका जो स्वरूप है, वह निर्विषय अपरोक्ष चिद्रूप से प्रसिद्ध है, वही परमात्मा का भी रूप समझना चाहिए। जिस ज्ञानरूप महासागर में नाश आदि विकार के बिना ही अपने अधिष्ठान में मिथ्यात्व को प्राप्त होनेवाले संसारका अत्यन्त अभाव ही है, वह परमात्मा का स्वरूप है ॥१९,२०॥

उक्त को ही पुनः स्पष्ट करते हैं।

जिसमें द्रष्टा, दर्शन, दृश्य ये सम्पूर्ण क्रम रहते हुए भी नित्य अस्त को प्राप्त हो जाते हैं, जो आकाश न होता हुआ भी अपरिच्छिन्न होने से आकाश से उपमित होता है, वह परमात्मा का रूप है। जगत्-स्वभाव से शून्य होता हुआ भी जो सम्पूर्ण पदार्थों के याथात्म्यभूत स्वरूप से पूर्ण होने के कारण अशून्य-सा है, अविद्यमान भी जगत् जिसमें स्थित है यानी सद्भाव को प्राप्त हुआ है तथा विविध सृष्टियाँ जिसके प्रवाह हैं, ऐसे अज्ञान के रहने पर जो विद्यमान होता हुआ भी उपयोग न होने के कारण शून्य की नाईं स्थित है, वह परमात्मा का स्वरूप है। महाचिन्मय होने से यानी महाचित्प्रचुर होने से जो अस्थूल आदि धर्मवाला है, फिर भी अज्ञानी लोगों की दृष्टि में पाषाण की नाईं स्थूल है, जो अजड होता हुआ भी जड़ की भाँति अन्दर स्थित है, वह परमात्मा का स्वरूप है। बाह्य यानी अधिभूत और अधिदैव तथा आभ्यन्तर यानी अध्यात्म- जो जो पदार्थ प्रसिद्ध है, उनसे युक्त सम्पूर्ण जगत् जिससे आद्यासित तादात्म्यसम्बन्ध को प्राप्तकर सत्-असत् इस प्रकार की व्यवहारयोग्यतारूप स्वरूपसत्ता

को प्राप्त होता है, वह परमात्मा का स्वरूप है। जैसे प्रकाश का आलोक और आकाश का शून्यत्व आत्मरूप से स्थित है, वैसे ही यह जगत् जिसमें स्थित है अर्थात् जो इस जगत् का आत्मरूप है, वह परमात्मा का रूप है ॥२१–२५॥

जो वस्तु प्रमाणों द्वारा जैसे जानी जाती है उसकी वैसी ही सत्ता होती है, अन्य रूपसे नहीं। ब्रह्म तो प्रमाणों द्वारा जाना नहीं जाता, अतः वह सद्रूप है, यह निश्चय कैसे किया जा सकता है और जगत् प्रमाणों द्वारा सत्–रूप प्रतीत होता है, वह असत् है, यह निश्चय कैसे किया जा सकता है ? इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, परमात्मा सत् है, यह कैसे प्रतीत हो और इतना विशाल तथा विविध प्रमाणों द्वारा सिद्ध इस जगत्–नामक दृश्यका असंभव कैसे प्रतीत हो ?॥२६॥

'ब्रह्म प्रमाणों द्वारा नहीं ज्ञात होता' इस कथन की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि यदि प्रतिबन्धक न हों, तो महावाक्यों द्वारा उसका ज्ञान होता है। प्रतिबन्धक का नाश तो ब्रह्म में अध्यस्त द्वैत मिथ्यात्व ज्ञान से ही होता है, क्योंकि जहाँ पर रज्जु में सर्प का भ्रम होता है, वहाँ पर जब तक सर्प का निषेध न हो तब तक रज्जु का ज्ञान नहीं हो सकता, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी बोले :

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे रूपहीन आकाश में नील, पीत आदि रूप देखे जाते हैं, वैसे ही चिन्मय ब्रह्म में यह जगत्–भ्रम उत्पन्न हुआ। उक्त जगद्भ्रम के अत्यन्त अभाव के ज्ञानमें यदि अत्यन्त दृढ़ता हो तभी ब्रह्म का पूर्वोक्त रूप ज्ञात होता है, अन्य कर्म से नहीं। दृश्य के अत्यन्त अभाव के सिवा दूसरी कोई उत्तम गति नही है। 'यथाःस्थितेः' यानी नाश आदि विकार के बिना ही अपने अधिष्ठानमें मिथ्यात्व को प्राप्त होनेवाले इस दृश्य जगत् का अत्यन्त अभाव होने पर जो अवशिष्ट रहता है, उस परमार्थ वस्तुका बोध होता है; बोध होने से वह बोद्धाका आत्मा ही हो जाता है। दृश्य जगत् के अभाव के बिना चिन्मय ब्रह्मका बुद्धिमें प्रतिबिम्ब कभी नहीं पड़ सकता। ब्रह्म बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर अपना आवरण करनेवाले अज्ञानका नाश कर तात्त्विकरूप से प्रतीत होता है। अध्यस्त द्वैत प्रपंचको सत्य समझनेवाली बुद्धि में ब्रह्मका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता, क्योंकि विरोधी द्वैत से आक्रान्त बुद्धिमें अद्वैत का प्रतिबिम्ब पड़ना संभव नहीं है ॥२७–३०॥

शंका – जब द्वैत का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता उस अवस्थामें उक्त बुद्धिमें ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़े।

समाधान – नहीं, जैसे दर्पण कभी भी किसी–न–किसी प्रतिबिम्बका ग्रहण किये बिना नहीं रहता, वैसे ही बुद्धि द्वैतप्रतिबिम्बके ग्रहण के बिना नहीं रह सकती; ऐसी अवस्था में द्वैतप्रतिबिम्ब के रहते उसमें अद्वैत का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। वत्स श्रीरामजी, जब तक जगत्–नामक इस दृश्यका मिथ्यात्व सिद्ध न हो जाय, तब तक परमतत्त्व को (ब्रह्म को) कभी कोई नहीं जान सकता ॥३१॥

अपने मन में कुछ विशेष बात को रखकर श्रीरामचन्द्रजी दूसरा प्रश्न उठाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, इतने बड़े ब्रह्माण्डरूप दश्यसमूह की असत्ता कैसे हो

सकती है, हाँ; जैसे कि आपने कहा वह हो सकता, यदि ब्रह्म में जगत् अध्यस्त होता। परन्तु ब्रह्म में जगत् का अध्यास ही नहीं बन सकता, क्योंकि चिन्मात्ररूप होनेसे सूक्ष्म ब्रह्म में इतने बड़े ब्रह्माण्डों से विस्तृत स्थूल प्रपंच का अध्यास होना असंभव है, क्या कहीं सरसों के अन्दर मेरु पर्वत समा सकता है ? ॥३२॥ *जैसा कि ऊपर कहा गया है, सूक्ष्म चिन्मात्र ब्रह्म में विशाल जगत् का अध्यास होना सरसों के पेटमें सुमेरु के समा जाने के समान असम्भव है, वह कथन ठीह होता यदि जगत् की स्थूलता विचार सह होती, किन्तु जगत् की स्थूलता ही विचारसह नहीं है। जब आपकी जगत् में स्थूलता प्रतीति को ही हम लोग युक्तियों द्वारा दीर्घ कालमें शिथिल करेंगें, तब हमारा कथन आपके हृदयमें जम सकेगा, इस अभिप्राय से श्रीवसिष्ठजी बोले :* वत्स श्रीराम, यदि आप अनुद्विग्नचित्त होकर कुछ दिनों तक साधुसंग और सत्–शास्त्रों के अभ्यासमें परायण रहेंगे, तब मैं एक क्षण में जैसे ज्ञान होने पर मृगजल नष्ट हो जाता है, वैसे ही आपके इस दृश्य को विनष्ट कर दूँगा। दृश्य का अभाव होने पर द्रष्टृता भी शान्त हो जायेगी, केवल बोध ही अवशिष्ट रह जायेगा ॥३३,३४॥

दृश्य द्वैतका अभाव होने पर केवल द्रष्टाका ही अभाव नहीं होता, किन्तु द्वित्व और एकत्व का भी अभाव हो जाता है, ऐसा उपपादन करते हैं।

इस दृश्य के रहने पर द्रष्टृत्व रहता है और द्रष्टा के रहनेपर दृश्यत्व रहता है। द्वित्व आदि के अत्यन्त प्रसिद्ध रहनेपर उनकी व्यावृत्ति के लिए एकत्व की कल्पना होती है। व्यावर्त्य ही जब प्रसिद्ध नहीं है, तब किसकी व्यावृत्ति के लिए उसकी कल्पना की जाय। एकत्व का योग होने पर ही द्वित्व होता है। उक्त दो में से एक के अभाव में दोनों की ही सिद्धि नहीं होती। द्वित्व, एकत्व, द्रष्टृत्व और दृश्यत्वका क्षय होने पर केवल सन्मात्र ही अवशिष्ट रहता है ॥३५,३६॥

दूसरे प्रकार से भी दृश्यके परिमार्जनकी प्रतिज्ञा करते हैं।

हे श्रीरामजी, दृश्य के अत्यन्त अभाव–ज्ञान से आपके मनरूपी दर्पण से मलरूपी दृश्य अहन्तादिरूप सम्पूर्ण जगत् को परिमार्जित कर देता हूँ यानी पोंछ देता हूँ। अस्त् पदार्थ की सत्ता नहीं होती और सत् का अभाव नहीं होता। जो वस्तु स्वभावतः नहीं है, उसके परिमार्जन में कौनसा–क्लेश है ? जो यह विस्तृत जगत् दिखाई देता है, यह पहले उत्पन्न नहीं हुआ है, यह चिन्मात्र होने के कारण निर्मल आत्मा में ही कल्पित है, अतः ब्रह्मरूप ही है, उससे अतिरिक्त इसकी सत्ता नहीं है। जगत्–नाम से न यह उत्पन्न हुआ है, न है और न दिखाई देता है। जैसे सुवर्ण में कल्पित कटकत्व आदि का सुवर्णदृष्टि से ही बाध हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म में कल्पित इसका ब्रह्मदृष्टि से ही बाध हो जाता है। अतः इसके परिमार्जन में कौन–सा श्रम है ? मैं विविध युक्तियों द्वारा इस विषय को विस्तारपूर्वक इस तरह कहूँगा जैसे कि अबाधित तत्त्व आपको स्वयं ही अनुभूत हो जायेगा ॥३७–४१॥

जो वस्तु उत्पन्न ही नहीं हुई, उसका सत्त्वरूप से ग्रहण ही असत् है, ऐसा कहते हैं।

जो पहले उत्पन्न ही नहीं हुआ, उसका यहाँ अस्तित्व कैसे हो सकता है ? मरूस्थल में जलपूर्ण नदी की सत्ता तथा द्वितीय चन्द्रमा में ग्रहत्व का कैसे संभव है। इसलिए जैसे वन्ध्या

का पुत्र नहीं है, जैसे मरुभूमि में जल नहीं है और जैसे आकाश में वृक्ष नहीं है, वैसे ही जगद्भ्रम भी नहीं है। हे श्रीरामजी, जो कुछ यह दिखाई देता है, वह सब निर्मल ब्रह्म ही है, इसको मैं आगे केवल उपदेश से ही नहीं आख्यान आदि युक्तियों से भी कहूँगा। उदारबुद्धे, तत्त्वज्ञ पुरुष जिस बात को युक्तियों द्वारा सिद्ध करते हैं, उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है। जो मूढ़बुद्धि पुरुष युक्तियुक्त तत्त्व का अनादर कर युक्तिशून्य वस्तु में आग्रह करता है, उसे विद्वान् लोग अज्ञ ही समझते हैं ॥४२–४५॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

पूर्वोक्त तत्त्वका ज्ञान सत्शास्त्रों से ही होता है अन्य से नहीं,
सत्शास्त्रोमें भी यह ग्रन्थ तुरन्त फलदायक है, यह कथन।

श्री वसिष्ठजी ने 'वक्ष्यामि युक्तितः' ऐसी पहले जो प्रतिज्ञा की थी, उसीको श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं :

भगवन्, जो आपने कहा कि 'यदिदं दृश्यते राम तद् ब्रह्मैव निरामयम्' (हे श्रीराम्, जो यह जगत् दिखलाई देता है, यह निर्मल ब्रह्म ही है) यह किस युक्ति से जाना जाता है, किस प्रकार यह सिद्ध होता है और कैसे युक्तियों द्वारा इसके अनुभूत होने पर कुछ ज्ञातव्य शेष नहीं रहता ? ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, यह मिथ्याज्ञानरूपी विषूचिका चिरकाल से बद्धमूल है, इसीका नाम जगत् और अविचार है, यह ज्ञान के बिना निवृत्त नहीं होती। मैं आपसे बोध की प्राप्ति के लिए आगे कही जानेवाली जिन विविध आख्यायिकाओं को कहूँगा, हे साधो, उनको यदि आप सुनेंगे तो आप अवश्य मुक्त हो जायेंगे, इसमें संशय नहीं है। यदि न सुनेंगे, उद्विग्न स्वभाववाले होने के कारण बीच में ही उठकर चले जायेंगे, तो पशुओंकी नाईं सत्शास्त्रके श्रवण में अयोग्यतावाले आपको कुछ भी प्राप्त नहीं होगा ॥२–४॥

यदि श्रीरामचन्द्रजी को यह संशय हो कि महात्माओं को भी जो तत्त्व दुर्लभ है, वह मेरे सदृश मन्दमति को कैसे प्राप्त होगा ? तो इस पर कहते हैं।

जिसको जिस पदार्थ की चाह होती है, वह उस पदार्थ की प्राप्ति के लिए वैसा ही प्रयत्न करता है, उसे वह पदार्थ अवश्य प्राप्त होता है, बशर्ते यदि वह बीच में श्रान्त होकर उससे विरत न हो जाय। हे श्रीरामचन्द्रजी, यदि आप सज्जनसंगति और सत् शास्त्रों के अभ्यास में तत्पर होओगे, तो कुछ ही महीनों में, नहीं नहीं कुछ ही दिनों में परम पद को प्राप्त हो जाओगे। महामते, जिन शास्त्रों में आत्मज्ञान का मुख्यरूप से प्रतिपादन है, उन शास्त्रों में यह महारामायणनामक शास्त्र ही सर्वश्रेष्ठ है। इस सर्वोत्तम इतिहास का श्रवण करने से बोध प्राप्त हो जाता है, यह शास्त्र सम्पूर्ण इतिहासों का सार कहा गया है। अतः इस शास्त्र के सुनने पर कभी क्षीण न होनेवाली जीवन्मुक्ति स्वयं उदित होती है, अतएव यही सबसे पवित्रतम है। जैसे स्वप्न आदि में स्वप्न के रहने पर ही 'यह स्वप्न है' ऐसा ज्ञान होने पर स्वप्नमें सत्यत्वभान

निवृत्त हो जाता है, वैसे ही इस शास्त्र के विचार से यथास्थित ही दृश्य जगत् अस्त को प्राप्त हो जाता है। आत्मबोध के लिए अपेक्षित जो जो उत्कृष्ट युक्तियाँ इस ग्रन्थ में हैं, वे दूसरे ग्रन्थ में नहीं है। जो यहाँ पर नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। इसीलिए विद्वान् जन इसको सम्पूर्ण विज्ञान शास्त्ररूपी धनों का कोशगृह (खजाना) कहते हैं। जो पुरुष नित्य इसका श्रवण करता है, उस उत्कृष्ट बुद्धिवाले पुरुष की बुद्धि अन्य ग्रन्थों के अभ्यास से उत्पन्न बोध की अपेक्षा उत्कृष्ट बोध को प्राप्त होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। दुर्भाग्यवश जिस पुरुष को यह शास्त्र रुचिकर नहीं होता, वह ज्ञान का प्रतिपादन करनेवाले अन्य किसी शास्त्र का विचार करे, इसमें हमारा कोई द्वेष नहीं है ॥५-१४॥

यदि शंका हो कि इस शास्त्र के अतिशयमें हेतु क्या है, तो इस पर कहते हैं।

जैसे उत्तम औषधिके सेवन से निरोगिता स्वयं प्राप्त होती है, वैसे ही इस शास्त्रका श्रवण करनेपर जीवन्मुक्ति स्वयं अनुभूत होती है ॥१५॥

इस शास्त्र के सुनने पर श्रोता पुरुष जीवन्मुक्ति का स्वयं ही अनुभव करता है, यह जो हमने कहा है, वह वर और शाप के समान यथार्थ ही है,अन्यथा नहीं हो सकता है, यह भाव है।

हे रामजी, प्रस्तुत ग्रन्थ की आत्मविचारात्मक कथा से ही आपका यह संसाररूपी क्लेश नष्ट हो जायेगा। धन, दान, तपस्या, द्वैतशास्त्रों के श्रवण, कर्मकाण्डरूप वेद और द्वैतवेदशास्त्ररूप वाक्यप्रबन्ध से उक्त यज्ञ, याग, होम आदि सैकड़ों प्रयत्नों से भी आपका यह संसाररूप क्लेश नष्ट नहीं होगा ॥१६,१७॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नौवाँ सर्ग

जीवन्मुक्ति के लक्षण तथा सर्वात्मताका वर्णन और
जगत् का प्रलय होने पर अवशिष्ट आत्मस्वरूपका प्रतिपादन।

आत्मविचार भी जब तक आत्मज्ञान न हो जाय, तब तक निरन्तर एकाग्र मन से करना चाहिए। कदाचित् मास दो मास में कर लिया या नित्य करने पर भी बीच-बीचमें अन्यान्य व्यापार करते रहे, इस प्रकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' (जो आत्मा में ही क्रीड़ा करनेवाला, आत्मा में ही रमण करनेवाला, ध्यान, वैराग्य आदि क्रियावाला है, वह ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ है) 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (आत्मनिष्ठ मोक्ष को प्राप्त होता है) ऐसी श्रुति है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी बोले :

हे रामजी, जिनका चित्त निरन्तर आत्मा में ही लगा है और आत्मा की प्राप्ति में ही जिनका जीवनव्यापार है, जो नित्य परस्पर आत्माका ही बोध कराते हुए प्रसन्न होते हैं और उसके विषयमें वार्तालाप करते हुए आनन्दमग्न होते हैं। केवल ज्ञानसाधन श्रवण, मनन आदिमें ही जिनकी एकतानता है और जो सदा आत्मज्ञानका ही विचार करते हैं, उन महात्माओं की वह जीवन्मुक्ति उदित होती है, जो देह छुटने से शुद्ध मुक्ति ही है, अन्य नहीं है ॥१,२॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त का लक्षण आप मुझसे कहिये। जिससे कि मैं शास्त्ररूपी नेत्र से उत्पन्न की गई बुद्धि से वैसा ही होने के लिए प्रयत्न करूँ ॥३॥

पहले जीवन्मुक्ति होती है, तदुपरान्त विदेहमुक्ति होती है, परन्तु श्लोक में श्रीरामचन्द्रजी ने पहले विदेहमुक्ति का लक्षण पूछा है, पश्चात् जीवन्मुक्ति का। पाठक्रम से अर्थक्रम बलवान् होता है, इस न्याय से पाठ क्रम का उल्लंघन करके श्रीवसिष्ठजी ने पहले जीवन्मुक्ति के लक्षण का प्रतिपादन किया।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जिन कर्मोंका शास्त्र में निषेध नहीं है, उनको करते हुए भी जिस पुरुष का यथास्थित यह विश्व परमार्थ दृष्टि से निवृत्त होकर आकाश की नाईं शून्य हो जाता है, दर्पण में स्थित नगर की नाईं प्रतीत होता हुआ भी है ही नहीं, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जो व्यवहार करता हुआ ही 'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' इस भगवद्वचन के अनुसार जाग्रत् अवस्था में भी सुषुप्त के समान निर्विकार रहता है, बोधनिष्ठता को प्राप्त वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जिसकी मुखकान्ति क्रमशः सुख और दुःख में उदित और अस्त नहीं होती अर्थात् जिसकी मुखकान्ति सुख में विकसित और दुःख में म्लान नहीं होती और जो कुछ मिल गया उससे जीवननिर्वाह करता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जो निर्विकार आत्मा में सुषुप्त के समान स्थित रहता हुआ भी अविद्यारूपी निद्राका विनाश होने से आत्मामें सदा जागरूक रहता है। देह, इन्द्रिय आदि का बाध हो जाने से इन्द्रियों द्वारा पदार्थों की प्रतीतिरूपी जाग्रत अवस्था जिसकी नहीं है और जिसका ज्ञान वासनारहित है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। बाहर अनुराग, द्वेष, भय आदि का यथायोग्य नट की नाईं आचरण करता हुआ भी जो अन्दर आकाश की नाईं निर्विकार है तथा निरावरण स्वरूप आत्मा में स्थित है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जिसमें अहंकार नहीं है और कर्म कर रहे अथवा न कर रहे जिसकी बुद्धि कर्तृत्व और अकर्तृत्व के अभिमान से लिप्त नहीं होती, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जो चिदात्मा के अर्ध आरवणभंग से तीनों लोकों का प्रलय और अर्द्ध–आवरण से तीनों लोकों की उत्पत्ति देखता है एवं जो अपनी आत्मा में सम है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जिससे अन्य लोगों को भय नहीं है और जिसको लोगों से भय नहीं है यानी हर्ष, क्रोध और भय के हेतु अज्ञानाभिमान से रहित होने के कारण जिससे अन्य लोग भयभीत नहीं होते और स्वयं जो अन्य लोगों से भयभीत नही होता, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जिसकी संसारविषयक सत्यताबुद्धि निवृत्त हो गई है, जो दूसरों की दृष्टिमें देह आदि अवयवों से युक्त होता हुआ भी निरवयव है और जो सचेतन होता हुआ भी चित्तरहित है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। राग आदि के विषय पदार्थोंमें भी पूर्णात्मा (आत्मबुद्धि) होकर जो पुरुष सम्पूर्ण पदार्थों में व्यवहार करता हुआ भी राग आदि से ताप को प्राप्त नहीं होता, वह जीवन्मुक्त है ॥४–१३॥

अब पहले पूछे गये जीवन्मुक्तका लक्षण कहने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

हे राम, जैसे वायु अपनी सहज चंचलता का परित्याग करने के उपरान्त स्थिरता को प्राप्त

होता है, वैसे ही पूर्वोक्त जीवन्मुक्त पुरुष देह छूटने के अनन्तर यानी प्रारब्ध कर्मों के क्षीण होने पर जीवन्मुक्तिपदका त्याग कर विदेहमुक्ति में प्रवेश करता है ॥१४॥

सर्वप्रथम जीवन्मुक्तता का विद्वानों द्वारा अनुभूत स्वरूपलक्षण कहते हैं।

जिस पुरुष को विदेहमुक्ति प्राप्त हो जाती है, उसका फिर कभी न उदय (वृद्धि) होता है और न ह्रास ही होता है। वह न तो शान्त ही होता है (और न अशान्त ही होता है), वह व्यक्त भी नहीं है, अव्यक्त भी नहीं है, दूरस्थ भी नहीं है और निकटस्थ भी नहीं है अर्थात् सर्वव्यापी है। वह आत्मरूप नहीं है, यह भी नहीं कह सकते अर्थात् वह आत्मरूप ही है और आत्मा से भिन्न देह, इन्द्रिय आदिरूप नहीं है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि सर्वस्वरूप होने से सब कुछ वही है ॥१५॥

लोकदृष्टि से उसका सर्वात्मरूप तटस्थलक्षण कहते हैं।

वही सूर्य बनकर जगत् को प्रकाश और धूप देता है, विष्णु बनकर सबका पालन–पोषण करता है, रुद्र बनकर सबका संहार करता है और ब्रह्मा बनकर विविध सृष्टियाँ करता है। वही आकाश बनकर वायुस्कन्धों को (ऊपर स्थित उनचास वायुरूप स्तरों को) तथा ऋषि, देव और असुरों को धारण करता है, वही सुमेरु और हिमालय बनकर इन्द्र आदि लोकपालों को धारण करता है। वही भूमि बनकर कभी विच्छिन्न न होनेवाली इस जनमर्यादा की रक्षा करता है और वही तिनके, झाड़ियाँ और लताएँ बनकर विविध फल देता है। वही जल और अग्निका आकार धारण कर बरसता है और जलता है, वही चन्द्रमा बनकर अमृत बरसाता है, हलाहल विष बनकर मृत्यु पैदा करता है। वही प्रकाश बनकर दिशाओं को प्रकाशित करता है और तम बनकर अन्धकारको फैलाता है, शून्य होकर व्योमरूपता को प्राप्त होता है तथा पर्वत बनकर वायु आदिके वेग को रोकता है। वही अन्तःकरण में स्फुट अभिव्यक्त चैतन्य द्वारा जंगम जगत् की और अनभिव्यक्त चैतन्य द्वारा जड़ाकृति बनकर स्थावर जगत् की रचना करता है। वही समुद्र बनकर पृथिवीरूपी स्त्री को, जैसे कड़ा स्त्रीको परिवेष्टित करता है वैसे ही, परिवेष्टित करता है। आवरणरहित चैतन्य रूप बनकर चैतन्य के प्रकाश से व्याप्त तीनों जगतों से लेकर त्र्यणुकपर्यन्त सम्पूर्ण पदार्थों का विस्तार करता हुआ भी स्वयं शान्त (निर्विकार) ही रहता है। अधिक क्या कहें, जो कुछ यह दृश्य इस समय प्रकाशित हो रहा है यानी वर्तमानमें स्थित है, जो कुछ पहले प्रकाशित हुआ था, यानी भूतकालमें स्थित था और जो कुछ आगे प्रकाश को प्राप्त होगा यानी जो भविष्यकाल में स्थित होगा वह सम्पूर्ण दृश्य यही है, इससे अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है ॥१६–२३॥

पुरुष को समदृष्टि प्राप्त करने में अनेकानेक विघ्नबाधाएँ उपस्थित होती है, अतः समदृष्टि दुर्लभ है। जब समदृष्टि दुर्लभ है, तब मुक्ति की दुर्लभता धरी धराई है, ऐसा समझ रहे मुक्ति की प्राप्ति के उपाय के प्रति उत्कण्ठित श्रीरामचन्द्रजी ने कहा :

भगवन्, कृपा करके कहिए कि जैसा आपने कहा है, वैसा मैं कैसे हो सकता हूँ ? क्योंकि मेरी दृष्टि विषम है। ऐसी अवस्था में मुक्ति दुष्प्राप्य है। यदि यथाकिंचित प्राप्त भी हो जाय,

तो उसमें चित्त को स्थिर रखना कहीं कठिन है। वह हाथमें आकर भी स्थायी नहीं हो सकती, ऐसा मेरा निश्चय है ॥२४॥ यों उत्कण्ठित हुए श्रीरामचन्द्रजी को मुक्तिप्राप्ति के उपाय के उपदेश द्वारा धीरज देते हुए श्रीवसिष्ठजी बोले : श्रीरामचन्द्रजी, यह मुक्ति कही जाती है, इसे ब्रह्म कहते हैं तथा यह निर्वाण कहा जाता है, वह कैसे प्राप्त होता है, इसको मैं कहता हूँ आप सुनिए। वत्स, तुम, मैं, वह, यह इत्यादि भावों से युक्त जो यह दृश्य दिखाई देता है, वह यद्यपि सत्–रूप से प्रतीत होता है, तथापि वन्ध्यापुत्र के तुल्य उसकी अत्यन्त अनुत्पत्ति के ज्ञानसे, यह मुक्ति प्राप्त होती है ॥२५,२६॥

ब्रह्मप्राप्ति होने के अनन्तर ब्रह्मभाव से संसारप्राप्ति ही क्यों नहीं होगी ? क्योंकि ब्रह्म सर्वात्मरूप है, यों भगवती श्रुति कहती है, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ, विदेहमुक्त पुरुष जब त्रैलोक्यरूपता को प्राप्त होते हैं, तब वे संसारभाव को ही प्राप्त हुए, ऐसा में समझता हूँ ॥२७॥

दृश्यमान जगत्की पूर्वोक्त अत्यन्त अनुत्पत्तिका ही अवलम्बन कर श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीकी शंका का निराकरण करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, यदि त्रैलोक्य हो, तो वे (विदेहमुक्त) त्रैलोक्यताको प्राप्त हों। जहाँ पर त्रैलोक्यशब्द का कोई अर्थ हीं नहीं हो सकता, वहाँ पर यह ब्रह्म (विदेहमुक्त) त्रैलोक्यरूपता को प्राप्त हुआ, इस प्रकार आपके द्वारा शंकित अर्थकी प्रतीति ही कैसे हो सकती है ? इससे सिद्ध हुआ कि वन्ध्यापुत्र शब्द के अर्थ की कल्पना की नाईं जगत्शब्द के अर्थ की कल्पना नहीं हो सकती। यह सम्पूर्ण जगत् सजातीय और विजातीय भेद से शून्य, निर्विकार, आकाश के समान निर्मल चिन्मात्र ब्रह्म ही है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् के पदार्थों में सन्मात्रता की प्रतीति होती है ॥२८–३०॥

यदि ज्ञानदृष्टि से पर्यालोचन किया जाय, तो ब्रह्ममें अध्यस्त जगत् की असत्ता स्पष्टतया प्रतीत हो जाती है, इस बात का दृष्टान्तों द्वारा अनुभव कराते हैं।

वत्स, मैंने सोने के कड़े में, बहुत विचार करके भी, विशुद्ध सुवर्ण के सिवा 'कटक' नामक कोई वस्तु कहीं नहीं देखी। जल–तरंगमें जल के सिवा मैं कुछ नहीं देखता हूँ और जहाँ पर तरंग नहीं दिखाई देती, वहाँ पर भी जलके सिवा कुछ नहीं है। भाव यह है कि जलकी चाहे तरंगावस्था हो, चाहे अतरंगावस्था हो, दोनों जलके सिवा अन्य कुछ वस्तु नहीं है। वायु से भिन्न स्पन्दत्व नाम की कोई वस्तु कभी कहीं पर नहीं देखी गई, स्पन्द (वायु की गति) सदा वायुरूप ही है, इसलिए ब्रह्म से जगत् अतिरिक्त नहीं है, किन्तु ब्रह्मरूप ही है। जैसे आकाश में शून्यत्व, मरूभूमि में ताप ही जल और प्रकाश तेजरूप है, वैसे ही त्रैलोक्य ब्रह्म ही है ॥३१–३४॥

श्री गुरुजी ने जो दृष्टान्त दर्शाये, उन पर भलीभाँति विचार कर श्रीरामचन्द्रजीको गुरुजी द्वारा कथित अर्थमें जो संभावना हुई उसे दो श्लोकों से बतलाते हुए तथा उसमें विपरीतभावनारूप विक्षेप के होने के कारण फिर असंभावना आदि विकल्पों के उदय से अस्थिर

मन द्वारा उस उपदेश से उक्त तत्त्व का धारण करने में असमर्थ–से होते हुए–श्रीरामचन्द्रजी उसके अवधारण के उपाय पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, जिस युक्ति से दृश्यमान जगत् के बाध द्वारा मुक्ति प्राप्त हो उस उत्तम युक्तिका मुझे उपदेश दीजिये। परस्पर एक संख्यामें प्राप्त हुए यानी बाध के अवधिरूप से अवशिष्ट स्वप्रकाश आत्मभावको प्राप्त हुए द्रष्टा और दृश्य में द्वितीयता के अभाव के स्थिर होने पर निर्वाण (मुक्ति) शेष रहती हैं। इसलिए जिससे दृश्य जगत् का अत्यन्त अभाव (बाध) हो और जगत्का बाध होने पर कूटस्थ ब्रह्म का ही बोध हो, उस उपाय को मुझसे कहिए। उक्त बात किस युक्ति से ज्ञात होती है और कैसे स्थिर होती है, हे मुनिश्रेष्ठ, इसके स्थिर होने पर फिर कुछ भी साध्य (कर्तव्य) शेष नहीं रहता ॥३५–३८॥

श्रुत अर्थ की एक बार संभावना होने पर पुनः पुनः चिरकाल तक उसका अभ्यास ही उसके अवधारण का उपाय है, ऐसा श्रीवसिष्ठजी बोले।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, चिरकाल से बद्धमूल यह अज्ञानरूपी विषूचिका (हैजा) विचाररूपी मन्त्र से समूल नष्ट हो जाती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। कोई चाहे कि मैं तुरन्त एक क्षण में इसे नष्ट कर दूँ, तो उसका वैसा चाहना ठीक नहीं, क्योंकि एक क्षण में शीघ्र इसका नाश होना कठिन ही नहीं असंभव है, जैसे कि पर्वत शिखर पर चढ़े हुए पुरुष के लिए जिसके चारों ओरसे नीचे गिरना तुल्य ही है, ऐसै पर्वतमें एक ही समय में चढ़ना और उतरना कठिन ही नहीं असम्भव है। वैसा ही यहाँ पर भी समझना चाहिए। अतएव आपकी यह जगद्भ्रान्ति पुनः पुनः अभ्याससे, युक्तियों से तथा दृष्टान्तों द्वारा जैसे शान्त हो जाय वैसे मैं कहता हूँ, आप सुनिए। हे श्रीरामचन्द्रजी, आपको बोध की प्राप्ति होने के लिए जिस आख्यायिका को कहूँगा, हे सज्जनशिरोमणे, उसको यदि आप सुनेंगे, तो ज्ञानी होकर अवश्य मुक्त ही हो जायेंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। प्रलयाख्यायिका के अनन्तर मैं आपसे जगत् की उत्पत्तिका क्रम कहूँगा। हे रामजी, जो जो उत्पन्न होता है, वही मुक्त होता है अर्थात् बन्धशून्य स्वरूप से स्थित होता है। उत्पत्ति–प्रकरण यानी जगदुत्पत्तिक्रम। वह निर्विकार ब्रह्म ही जिसका उपादान है, ऐसा जगत् विवर्त ही है, ऐसा फलित होता है, इस प्रकार बन्धके मिथ्या होने पर मोक्ष स्वतःसिद्ध ठहरा, यही उत्पत्तिप्रकरण के वर्णन का अभिप्राय है। इस प्रकार यह जगद्भ्रान्ति कभी उत्पन्न न हुई तथा शून्यरूप होती हुई भी प्रतीत होती है, इस उत्पत्तिप्रकरण में अब यही मैं आपसे कहूँगा ॥३९–४४॥

उक्त अर्थ का ही प्रलयाख्यायिका द्वारा समर्थन करने के लिए प्रकरणान्तर का आरम्भ करते हैं।

विविध प्रकार की वस्तुओं में परिपूर्ण तथा देवता, असुर, किन्नर, आदि से अधिष्ठित सम्पूर्ण जो कुछ भी यह सचराचर जगत् दिखाई देता है, वह रूद्र आदिका भी तिरोधान करनेवाले महाप्रलय में असद् एवं अदृश्यस्वरूप होकर न मालूम कहाँ चला जाता है, विनष्ट हो जाता है, उसके अनन्तर नाम और रूप से रहित शान्त गम्भीर केवल 'सत्' ही अवशिष्ट

रहता है, जो अनन्तरूप से स्थित है। वह न तेज है और न व्याप्त अन्धकार ही है। न वह शून्य ही है, न आकारवान् ही है, न दृश्य है, न दर्शन है और न भूत–भौतिक पदार्थसमूह ही है। नामरहित होनेसे वह अव्यपदेश्यस्वरूप है (उसके स्वरूप का निर्वचन नहीं किया जा सकता) और पूर्ण से भी पूर्णतर आकारवाला है। न वह व्यक्त है, न अव्यक्त है, न व्यक्ताव्यक्त है, न वह कालसम्बन्ध ही है और न कालसम्बन्धवान् ही है। वह दृश्यशून्य, चिन्मात्र, अनन्त, अजर, शिव, आदि, मध्य और अन्त से रहित, कारणशून्य और निर्दोष है। जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् चित्र, भ्रान्ति आदि में देखे गये मुक्तामय हंस की नाईं प्रस्फुरित हुआ है और जो व्यक्त और अव्यक्त दोनों अवस्थाओंमें अनुगत है, वह केवलरूप देव अध्यारोपदृष्टि से जगद्रूप है और अपवाद दृष्टि से जगद्रूप नहीं है (✍)। जिसके न कान है, न जीभ हैं, न नासिका है, न त्वचा है और न नेत्र हैं फिर भी वह सदा सभी जगह सुनता है, स्वाद लेता है, सूँघता है, छूता है और देखता है। जिस प्रकाश से पूर्वोक्त सद् और असद्रूप प्रपंच दिखाई देता है, वह चैतन्यरूप आलोक भी वही है। अज्ञान के रहनेपर विविध सृष्टियाँ करनेवाला वही है और अज्ञानकी निवृत्ति होने पर आदि और अन्त से शून्य स्वरूप को पाकर चित्प्रकाशस्वरूप भी वही है ॥४५–५३॥

इसी प्रकर जीवन्मुक्तदशा में बाधित जगत् का आभासरूप दर्शन भी वही है, ऐसा कहते हैं।

जैसे योगी खेचरी मुद्रा में दो भौहों के बीच में दृष्टि रखने पर अर्धोन्मिलित नेत्र से दृष्य भौहों के मध्यमें नेत्रों की कालीपुतलीको लगा कर अस्फुट होने के कारण सदा आभासरूप जगत् को देखते हैं, वैसे ही जो आकाशरूप सदाभासस्वरूप को देखता है, वह भी सद्रूप ही है। जैसे खरगोश के सींग कोई कारण नहीं है, वैसे जिस सर्वव्यापक का कोई दूसरा कारण नहीं है और जैसा जल का तरंग समूह कार्य है, वैसे ही जिस सर्वकारण का यह जगत् कार्य है ॥५४,५५॥

इस प्रकार उसको सम्पूर्ण जीवों के लय के आधार तत्पदार्थस्वरूप से दर्शाकर अब त्वंपदार्थरूप से उसे दर्शाने के लिए कहते हैं।

सामान्यरूप से सभी जगह दैदीप्यमान परन्तु अन्तःकरण में आवरणशून्य होने के कारण सदा विशेष अभिव्यक्ति द्वारा दैदीप्यमान और विद्यमान जिस चिन्मात्ररूपी दीपक की दीप्ति

✍ 'दृष्टमौक्तिकहंसवत्' इस पद का संस्कृत टीकाकार ने एक और अर्थ भी किया है, वह यों है। हंस मोती खाते हैं, अतः उनका सम्पूर्ण शरीर मोतियों का ही परिणाम ठहरा। उनको देखने से पहले सहसा यही प्रतीति होती है कि ये मोती हैं, जब समीप जाकर विशेषरूप से देखा जाता है, तब ये मोती नहीं है, किन्तु हंस हैं, ऐसा निश्चय होता है। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे विशेषतः अगृहीत मुक्ताभोजी हंसरूप द्रव्य में अध्यारोपदृष्टि से मुक्तारूपता की और अपवाददृष्टि से अमुक्तारूपता की प्रतीति होती है, वैसे ही अध्यारोपदष्टि से व्यक्ताव्यक्तानुगत देव जगद्रूप है और अपवाददृष्टि से जगद्रूप नहीं है।

से तीनों जगत् प्रकाशित होते हैं, ये प्रकाशमय सूर्य आदि भी जिसके बिना अन्धकारसदृश हैं और जिसके रहनेपर ही तीनों जगद्रूपी मृगतृष्णाएँ प्रवृत्त होती हैं। जैसे रात में जली हुई लकड़ी को घुमाने पर चक्राकारता दीख पड़ती है, वैसे ही इसके मनोभावको प्राप्त होने से विक्षोभयुक्त होने पर यह जगत्-शोभा उदित हो जाती है और प्रत्यक्त्व को प्राप्त होने से निःस्पन्द (विक्षोभरहित) होने पर जगत्शोभा उदित नहीं होती। जगत् की सृष्टि और संहार जिसके विलास हैं, जो महान् सर्वव्यापक और स्पन्दस्वरूप तथा अस्पन्दस्वरूप है एवं जिसका पारमार्थिक स्वरूप निर्मल और अक्षय है। वायु की स्पन्दमयी और अस्पन्दमयी सर्वगामिनी सत्ता की नाईं जिसकी स्पन्दमयी और अस्पन्दमयी सर्वगामिनी सत्ता व्यवहारवश नाम से ही भिन्न-सी है, वस्तुतः भिन्न नहीं है। भाव यह कि पूर्वोक्त स्पन्द और अस्पन्द सद्रूपता और पूर्णता रूप ही हैं, उससे अतिरिक्त जो अन्यथाभाव है, उसकी विवर्तवश जनित सत्ता केवल नाम से ही भिन्न है, वस्तुतः भिन्न नहीं है। जो सदा ही जागा रहता है, जो सदा ही सोया रहता है और जो सभी जगह सदा न सोया रहता है और न जागा रहता है। जिसका अस्पन्दस्वरूप शिव और शान्त यानी परम मंगलमय है और जिसका स्पन्दस्वरूप शिव और शान्त यानी परम मंगलमय है और जिसका स्पन्दस्वरूप तीनों जगतों की स्थिति है। यों स्पन्द और अस्पन्द का विलास ही जिसका स्वरूप है। जो एक (अद्वितीय) और परिपूर्णस्वरूप है। जैसे पुष्पों में सुगन्धि सार है, वैसे ही सम्पूर्ण विनाशी पदार्थों में जो साररूप से स्थित है। विनाशी पदार्थों का विनाश होने पर भी जो अविनाशीस्वरूप से स्थित रहता है। सम्पूर्ण वस्तुओं का प्रत्यक्ष करनेवाली वृत्तियों में प्रकाशरूप से स्थित होता हुआ भी शुक्ल वस्त्र में स्थित शुक्लता की नाईं वृत्तिविषयत्वरूप से गृहीत नहीं होता, जो वाग् आदि इन्द्रियों से रहित होने के कारण मूक के सदृश होता हुआ भी सम्पूर्ण वाणियों की प्रवृत्ति में कारण होने से मूक नहीं है, जो मनरूप विकार से रहित होने के कारण पाषाण के तुल्य होता हुआ भी मन्ता (मननक्रियाकारी) है, जो नित्यतृप्त होता हुआ भी भक्षण करता है, जो क्रियातीत होता हुआ भी कर्ता है, अंगरहित होने पर भी सम्पूर्ण लोगों के अंग ही जिसके अंग हैं, अतएव जिसकी हजारों भुजाएँ हैं और हजारों नेत्र आदि हैं। जिसके शरीर का कुछ भी गठन नहीं है, फिर भी जिसने इस जगत् को व्याप्त कर रक्खा है। जो इन्द्रियबल से विहीन है, फिर भी सम्पूर्ण इन्द्रियव्यापार करता है, जो मननशून्य है, फिर भी ये प्रसिद्ध जगद्रूप कारीगरियाँ जिसकी कृतियाँ हैं, जो कि मनके बिना नहीं हो सकती। जिसके अदर्शन से भ्रमजनित संसाररूपी सर्प की भीतियाँ होती है, जिसका साक्षात्कार होने पर सम्पूर्ण भवभीतियाँ चारों दिशाओं में भाग जाती हैं। जैसे दीपक के रहने पर नाट्य आदि क्रियाएँ होती हैं, वैसे ही अपरिच्छिन्न प्रकाशरूप अतएव साक्षीरूप जिस कूटस्थ के रहते स्पन्दपूर्वक चित्तचेष्टाएँ प्रवृत्त होती हैं। जैसे समुद्र से तरंगसमूहभूत बड़ी बड़ी लहरें निकलती हैं, वैसे ही जिससे घट-पटाकार सैकड़ों हजारों पदार्थ प्रवृत्त होते हैं, जैसे कड़ा, बाजूबन्द, केयूर तथा नूपुरों से उनका कारण सुवर्ण अन्य-सा प्रतीत होता है, वैसे ही प्रसिद्ध शतशत पदार्थों के भ्रम से जो अन्य-सा प्रतीत होता है। जो तुमसे साक्षात्कृतस्वरूप होता

हुआ त्वद्रूप ही एक है, मुझसे साक्षात्कृतस्वरूप होता हुआ मद्रूप ही एक है और अन्य जनों द्वारा साक्षात्कृतस्वरूप होता हुआ तत् तत् रूप ही एक है तथा जो अज्ञातस्वरूप होता हुआ न त्वद्रूप है, न मद्रूप है और न अन्य जनरूप है। जैसे जल में क्षण में नष्ट होनेवाली तरंगों की पंक्ति स्फुरित होती है, वैसे ही जिससे अनन्य होती हुई भी अन्य–सी, पृथक् न होती हुई भी पृथक्–सी, प्रथमतः सिद्ध हुई भी उत्पन्न हुई–सी यह विनाशशील दृश्यपरम्परा स्फुरित होती है। जिससे काल के छः भावविकार, दृश्य की दृश्यता तथा इष्टप्राप्ति एवं अनिष्ट परिहारविषयक विविध मनोरथ होते हैं, ये तीन जिसकी दीप्ति से जगत् के प्रकाशरूप ही हैं, उससे अन्य कुछ नहीं है। हे राम, आप क्रिया, रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, चेतन को यत्स्वरूप होकर जानते हो, वह चिद्रूप भी वही है और जिससे जानते हो, वह भी वही है। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य के मध्य में साक्षीरूप से जो स्थित है। स्वात्मभूत उसको एकाग्र मन से उपाधियों से पृथक् करके हे साधो आप समझिए ॥५६–७५॥

इस प्रकार तत् और त्वं पदार्थ का निर्देश कर अन्त में वाक्यार्थ का निर्देश करते हैं।

हे श्रीरामजी, जन्म और जरा से रहित, अनादि, नित्य, मंगलमय, निर्मल, अमोघ, सबके वन्दनीय, अनिन्द्य, सम्पूर्ण सम्बन्धों से रहित, सम्पूर्ण कारणों के कारण, अनुभवरूपी विश्वात्मक साक्षीरूप जो ब्रह्म है, वही तुम हो (卐) ॥७६॥

नौवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

पूर्वोक्त ब्रह्मलक्षण में विरोध की –सी संभावना कर उसके परिहार द्वारा
उक्त ब्रह्म–लक्षण के तात्पर्य का वर्णन।

महाप्रलय में जो सद्रूप कुछ अवशिष्ट रहता है, 'वह न तेज है और न तम है' इत्यादि विरुद्ध स्वरूप को असंभावित समझकर वसिष्ठजी की उक्ति के तात्पर्य को जानने के लिए उत्सुक श्रीरामचन्द्रजी दोनों में से एक अर्थ की संभावना करते हुए प्रश्न की भूमिका बाँधते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : महाप्रलय होने पर जो यह 'सत्' अवशिष्ट रहता है, वह आकाररहित है, इसमें तो संशय ही नहीं है, लेकिन वह शून्य नहीं है, यह कैसे ? वह प्रकाश स्वरूप नहीं है, यह कैसे ? तमोरूप नहीं है, यह कैसे ? न भास्वर ही है, यह कैसे ? तथा न चिद्रूप ही है, यह कैसे ? अथवा वह जीव कैसे नहीं हो सकता, वह बुद्धितत्त्व कैसे नहीं है अथवा मन कैसे नहीं है, वह कैसे कुछ नहीं है और कैसे सब कुछ है, आपकी इस वचनभंगी से मेरे मन में मोह–सा उत्पन्न हो गया है ॥१–४॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, आपने

卐 'कारणं कारणानाम्' इससे तत्पद के वाच्य अर्थ का निर्देश है, 'अजमजर०' यहाँ से लेकर 'सकलकलनशून्यम्' तक तत्पद के लक्ष्य अर्थ का निर्देश है। 'विश्वं वेदनम्' से तीनों अवस्थाओं के द्रष्टृतारूप त्वंपद के वाच्य अर्थ का निर्देश है और 'अवेद्यं वेदनम्' से वेद्य तीनों अवस्थाओं से निर्मुक्तत्वरूप त्वंपद के लक्ष्य अर्थ का निर्देश है।

मेरे आशय को ठीक न समझ कर यह प्रश्न किया है, अतएव यह विषम (टेढ़ा) प्रतीत हो रहा है। जैसे सूर्य अपने स्वभाविक प्रकाश से रात्रि के अन्धकार को विनष्ट कर देता है, वैसे ही मैं भी अपने अभिप्राय के उद्‌घाटन द्वारा आपके सन्देह को छिन्न–भिन्न कर देता हूँ। वत्स श्रीरामजी, महाप्रलय होने पर जो सत् अवशिष्ट रहता है, वह वैसा शून्य नहीं है, जैसा कि आप समझते हैं, इसी को मैं कहता हूँ, आप ध्यान देकर सुनिए। जैसे न गढ़ी गई प्रतिमा खम्भे में स्थित रहती है, वैसे ही यह विश्व उसमें स्थित है, अतः वह शून्य नहीं है। भाव यह कि जैसे खम्भे में न गढ़ी गई प्रतिमा की खम्भे की सत्ता से अतिरिक्त सत्ता न होने से खम्भे की सत्ता से ही वह स्थित रहती है, इसलिए जब कि वह खम्भे में नहीं गढ़ी गई, तब भी उसमें उसकी स्थिति का विनाश नहीं होता। इसी प्रकार यह प्रचुर भोगों से पूर्ण जगत्–नाम का प्रपंच व्यवहारतः सत्य और परमार्थतः असत्य भले ही हो, इसमें हमारा आग्रह नहीं है, पर जिस अधिष्ठान में इसका भान होता है, वहाँ पर इसकी शून्यता नहीं है, कारण कि शून्य का न तो आरोप हो सकता है और न वह अधिष्ठान ही हो सकता है। जैसे वह खम्भा, जिसमें कि प्रतिमा नहीं गढ़ी गई है, प्रतिमाशून्य नहीं है, वैसे ही ब्रह्म भी जगत्शून्य नहीं है। शिल्पी के कौशल से प्रत्येक खम्भे में प्रतिमा की अभिव्यक्ति हो सकती है, अतः जिसमें प्रतिमा नहीं खोदी गई, वह खम्भा प्रतिमाशून्य नहीं कहा जा सकता, अतः तत्पद (ब्रह्म) जगत् से शून्य नहीं है, यह कथन ठीक ही है ॥५–९॥

यदि कोई शंका करे कि उस समय यदि जगत् का अस्तित्व है, तो वह प्रलयकाल नहीं कहा जा सकता। यदि जगत् का अस्तित्व नहीं है, तो शून्यता प्राप्त ही हो गई, इस प्रकार से सत्त्व और असत्त्व के व्याघात को दृष्टान्त द्वारा हटाते हैं।

जैसे शान्त (विक्षोभ शून्य–अचंचल) जल में लीन वीचिकी (लहर की) न तो सत्ता है और न असत्ता है अर्थात् उसमें न वीचि है, यह कह सकते हैं और न नहीं है, यह कह सकते हैं, वैसे ही ब्रह्म में लीन यह जगत् भी न शून्य है और न अशून्य है, अर्थात् अनिर्वचनीय है, अथवा शून्य और अशून्य दोनों कल्पनाओं के अधिष्ठान परमार्थ वस्तु (ब्रह्म) को प्राप्त हुआ है ॥१०॥

यदि कोई कहे कि खम्भे में प्रतिमा के समान प्रलयकाल में जगत् है, तो उसके विषय में वादियों को संशय क्यों होता है, स्तम्भ की प्रतिमा के विषय में तो किसी को सन्देह नहीं होता ? इस पर कहते हैं।

पेड़ को चीर कर बनाये गये खम्भे में प्रतिमा का निर्माण हो सकता है, कारण कि जहाँ शिल्पी अपना शिल्प करे, ऐसा स्थान, दिन आदि काल तथा बसुला अदि सभी उपकरण वहाँ विद्यमान हैं, अतएव खम्भे में प्रतिमा की सत्ता की संभावना की जा सकती है, किन्तु अनन्त (देशतः, कालतः और परिमाणतः अपरिच्छिन्न यानी देश, काल परिमाण– इन तीन प्रकार के परिच्छेदों से रहित) ब्रह्म में उक्त सामग्री का सर्वथा अभाव है, अतः प्रलयकाल में जगत् की सत्ता के विषय में वादियों को सन्देह होता है ॥११॥

यदि कोई कहे कि उक्त प्रकार से दोनों में यदि समानता नहीं है, तो स्तम्भप्रतिमा का

दृष्टान्त कैसे दिया ? इस पर कहते हैं।

पूर्वोक्त स्तम्भप्रतिमा आदि 'ब्रह्म में जगत् की सत्ता है' इस एक अंश से (उसकी सत्ता के अस्तित्वरूप अंश से) दृश्य हैं, अतः उसी अंश में उपमान हैं, सर्वथा दृष्टान्त नहीं। भाव यह कि जैसे खम्भे में प्रतिमा की सत्ता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् की सत्ता है, केवल इसी अंश में स्तम्भप्रतिमा का दृष्टान्त है, अन्य अंशों में नहीं ॥१२॥

पूर्वोक्त रीति से ब्रह्म में जगत् की सत्ता भले ही हो, किन्तु जगत् की उत्पत्ति और विनाश की जो कि परस्पर विरोधी हैं, उसमें एक ही काल में सत्ता कैसे मानी जा सकती है ? इस प्रकार शंका कर जगत् के उदय और विनाश की उनके धर्मी जगत् से अतिरिक्त सत्ता नहीं मानी गई है, इसलिए उनकी धर्मिसत्ता से पृथक् सत्ता के (धर्मी से पृथक् सत्ता के) निरास के विषय में संभावना ही नहीं है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

वास्तव में यह जगत् परब्रह्म से न कभी उदित होता है और न उसमें अस्त को प्राप्त होता है, केवल सद्ब्रह्म ही पूर्वोक्त रीति से अपने स्वरूप में स्थित है ॥१३॥

यदि कोई कहे कि यदि शून्य नहीं है, तो 'नोदेति', 'न शाम्यति' इस प्रकार शून्यार्थक नञ् से उसका उल्लेख कैसे किया ? तो इस पर कहते हैं।

उसकी जो शून्यरूप से कल्पना की जाती है, वह अशून्य की अपेक्षा से है और शून्य की अपेक्षा अशून्य की कल्पना है। यदि केवल एकमात्र शून्य या अशून्य ही होता, तो शून्य और अशून्य की कल्पना ही कैसे हो सकती ? भाव यह कि प्रतियोगी में (जिसका अभाव कहा जाता है वह प्रतियोगी है) अशून्यता की कल्पना कर उस कल्पित अशून्यता की अपेक्षा से अन्य वस्तु में उसकी शून्यता (अभाव) की कल्पना होती है और कल्पित शून्यता की अपेक्षा से प्रतियोगी में अशून्यता की कल्पना होती है, इस प्रकार जिनकी कल्पना परस्पर सापेक्ष है, ऐसी शून्यता और अशून्यता हो ही कैसे सकती हैं ?॥१४॥

इस प्रकार 'न शून्यं कथमेतत्स्यात्' इत्यादि से उक्त प्रथम प्रश्न का समाधान कर अब 'न प्रकाशः कथं भवेद्' इत्यादि से उक्त दूसरे प्रश्न का समाधान करते हैं।

जलरूप इन्धन के या पार्थिव इन्धन के व्यय से भौतिक सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, तारा आदि के प्रकाश का संभव है, किन्तु अव्यय ब्रह्म में वह प्रकाश कैसे ? ॥१५॥ *इसीलिए 'न प्रकाशः' कहा है। इससे 'वह कैसे भास्वर नहीं है ?' इस प्रश्न का भी समाधान हो गया।*

अब 'कथं वा न तमोरूपम्' ? इस तृतीय प्रश्न का समाधान करते हैं।

सूर्य आदि महाभूतों के अभाव से तम उत्पन्न होता है। पृथिवी आदि महाभूतों के प्रकाश का विरोधी होता हुआ वह दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होनेवाले पृथिवी आदि में ही कहा जा सकता है अर्थात् 'तम' यह व्यवहार पृथिवी आदि में ही होता है ॥१६॥

स्वप्रकाश ब्रह्म में तम की स्थिति कदापि नहीं हो सकती। *इसलिए 'न तमः' कथन उचित ही है। यहाँ पर 'तु' शब्द मायारूपी तम की व्यावृत्ति के लिए है।*

ब्रह्म की स्वप्रकाशता की अनुभव से सिद्धि करते हैं।

चिदाकाशरूपी इस ब्रह्म का प्रकाश स्वानुभवैकगोचर है, अर्थात् ब्रह्म के प्रकाश के लिए अन्य साधन की आवश्यकता नहीं है, किन्तु वह केवल स्वानुभव से ही होता है। जो सर्वान्तर आत्मा है, उसका वही अनुभव कर सकता है, अन्य नहीं। यद्यपि बुद्धि आदि का अनुभव अन्य से होता है, तथापि जो बुद्धि आदि का आन्तर है, उसका वही अनुभव कर सकता है, उसके लिए अपने से अतिरिक्त अनुभव की अपेक्षा नहीं करता ॥१७॥

अन्यथा अनवस्थादोष प्राप्त होगा, यह अर्थ है।

दूसरे और तीसरे प्रश्न के उत्तर का जो उपपादन किया गया, उसीका उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जरा और मरण से वर्जित यह परम पद तम और प्रकाश से शून्य है, यह बात उक्त प्रकार से जाननी चाहिए। धनरूपी जगत्सत्ता के कोशगृह (धनागार) रूपी ब्रह्म को आप आकाश के मध्य के समान ही स्वच्छ जानिए ॥१८॥ जैसे बिल्व (बेल) फल और बिल्व–फल के उदर में कुछ भी अन्तर नहीं है, वैसे ही ब्रह्म और जगत् में तनिक भी भिन्नता नहीं है। जैसे जल के अन्दर तरंग और मिट्टी के अन्दर घड़ा है, वैसे ही जिस ब्रह्म में जगत् की सत्ता है, वह शून्य कैसे हो सकता है ॥१९,२०॥

यदि कोई शंका करे कि जल के अन्दर स्थित पृथिवी अपने आधार जलरूप नहीं देखी जाती और घड़े आदि के अन्दर स्थित जल अपने आधारभूत घट आदिरूप नहीं देखा जाता, फिर ब्रह्म के अन्दर स्थित जगत् ही अपने आधार ब्रह्मरूप कैसे ?

आपने जो पृथिवी, जल आदि दृष्टान्तरूप से उपस्थित किये हैं, वे सम नहीं हैं, किन्तु विषम हैं, क्योंकि वे सदा साकार ही दिखाई देते हैं और ब्रह्म आकाशसदृश निराकार है, निराकार ब्रह्म के अन्दर विलीन यह जगत् ब्रह्म के सदृश ही निराकार है ॥२१॥

उक्त अर्थ को ही स्पष्ट करते हैं।

इसलिए आकाश से भी निर्मल चिदाकाश ब्रह्म जैसा निराकार है, वैसा ही निराकार उसके अन्दर स्थित 'जगत्' शब्द का अर्थभूत दृश्य प्रपंच भी है। जैसे मिर्चा खानेवाले पुरुष के बिना मिर्चे के अन्दर विद्यमान तीक्ष्णता (कड़ुवेपन) का परिज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही चिदाकाश में दृश्यता के बिना चिन्मात्रता का ज्ञान नहीं हो सकता। भाव यह कि यद्यपि दृश्य से अतिरिक्त ही सत्य (चिन्मात्र) दर्शनरूप से (साक्षीरूप से) प्रसिद्ध है, तथापि दृश्य का अभाव होने पर वह दर्शनत्वव्यवहार के योग्य ही नहीं होता। इसलिए चिदात्मक ब्रह्म में चेत्य से (दृश्य से) अतिरिक्तरूप चित् हुआ भी अचित् ही है। चिद् और अचित् परस्पर सापेक्ष हैं, अचित् के सर्वथा अभाव में चित् भी अचित् ही है। भाव यह कि जगत् का लय होने पर चित् की जगद्विषयतारूप चित्ता निवृत्त हो जाती है, अतएव प्रत्यगात्मा में चिद् आदि शब्द लक्षणा से प्रवृत्त होते हैं। यह जगत्ता भी वैसे ही है, भाव यह कि जैसे जगत् का लय होने पर चित् की जगद्विषयतारूप चित्तता निवृत्त हो जाती है। वैसे ही चिद्विषयकत्वरूप जगतकी जगत्ता भी निवृत्त हो जाती है। बाह्य घट, पट आदि विषय तथा आभ्यन्तर सुख, दुःख आदि ब्रह्ममात्रस्वरूप होने के कारण ब्रह्ममय ही हैं, उससे

भिन्न नहीं है, इसलिए यथास्थित, सुषुप्तिरूप और तुर्यरूप (卐) सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मरूप ही है। इसलिए सम्पूर्ण संस्कारों का कोषरूप सुषुप्तात्मक योगी लौकिक व्यवहार करता हुआ भी संस्काररहित ब्रह्म ही है ॥२२–२६॥

आकाररहित ब्रह्मरूप से साकार जगत् की सत्ता कैसे है, ऐसी आशंका कर जैसे विभिन्न आकारवाली लहरों की एकाकार जलरूपसे स्थिति है, वैसे ही साकार जगत् की निराकार ब्रह्मरूपसे स्थिति में कोई विरोध नहीं है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

जैसे निश्चल (शान्त होने के कारण प्रसन्न) आकारवाले जल में चंचलाकार बड़ी लहरें विद्यमान रहती हैं, वैसे ही आकाररहित ब्रह्म में यह विश्व निराकाररूप से स्थित हैं ॥२७॥

इस प्रकार उपाधिभूत जगत् का कारण से अपृथक्त्व कहते हैं।

जो पूर्ण ब्रह्म से औपाधिक भेद द्वारा जीवरूप से उत्पन्न होता है, वह परमार्थतः पूर्ण ही है और जो पूर्ण है, वह निराकार है, क्योंकि साकार पूर्ण नहीं हो सकता ॥२८॥

शंका : यदि वह पूर्ण है, तो जीवरूप से क्यों प्रतीत होता है ?

समाधान : जो वह विश्वरूप से प्रतीत होता है, वह उसने अपने स्वरूप लाभरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए दिखलाया है। क्रमशः अधिकारी के शरीर की प्राप्ति से अपने तत्त्व के साक्षात्कार द्वारा अज्ञानसे तिरोहित अपने स्वरूप के लाभ के लिये वह जीवभावसे प्रतीत होता है, यह भाव है।

पूर्ण से पूर्ण ही आविर्भूत होता है, पूर्ण में स्थित वह पूर्ण ही है, अतः विश्व उत्पन्न ही नहीं हुआ और जो उत्पन्न हुआ है वह तत्स्वरूप ब्रह्म ही है। चेत्य का (दृश्य का) संभव न होने से उस चिद्घन आनन्द में जगत्शब्दार्थता ('जगत्' शब्द का अर्थ) एकरस हो गई, पृथक् नहीं रही, जब आस्वाद लेनेवाला ही नहीं है, तब मिर्चे में कड़ुवेपन की क्या संभावना ? अर्थात् वह नहीं के बराबर है। दृश्य प्रपंच के ब्रह्म में एकरस होने के कारण ही ब्रह्म में चित्ता, चेत्यता आदि सर्वथा असत्य होते हुए भी सत्य–से प्रतीत होते हैं। इस प्रकार उपाधिका अभाव होने पर प्रतिबिम्बभूत जीव की प्रतिबिम्बयोग्यता कहाँ ? जब उपाधि हो और उसमें प्रतिबिम्ब पड़े तब प्रतिबिम्बभूत जीवभाव की सत्ता हो, उपाधि ही जब नहीं है, तब प्रतिबिम्बभूत जीवभावता ब्रह्म में कहाँ ? अतः वह जीव भी नहीं है, यह कथन उचित ही है। *इससे 'जीवो वा न कथं भवेत्' इस शंका का निराकरण हुआ* ॥२९–३१॥

जीव अणुपरिमाण या मध्यमपरिमाण है, पुण्य–पाप आदि से दूषित होने के कारण अशुचि है और कर्मानुसार प्राप्त विषयों का भोक्ता है, परन्तु ब्रह्म उससे सर्वथा विपरीत है, अतः वह जीव कैसे हो सकता है, ऐसा कहते हैं।

वह परमाणु से भी अधिक सूक्ष्म, अत्यन्त सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, अत्यन्त शुद्ध अत्यन्त शान्त और आकाश के मध्य से भी बढ़ कर निर्मल है। देश, काल और परिमाण से उसके स्वरूपका

卐 आगे कही जानेवाली सात भूमिकाओं में से प्रथम से ले कर पाँचवी भूमिका तक पहुँचे हुए योगियों का जगत् सुषुप्त है तथा छठी और सातवीं भूमिका में पहुँचे हुओं का विश्व तुर्य है।

परिच्छेद नहीं हो सकता, अतएव वह अत्यन्त विस्तृत (सर्वव्यापक) है। उसका न आदि है, न मध्य है और न अन्त है और वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है एवं उसका भासक भी कोई नहीं है, वह स्वप्रकाश है ॥३२,३३॥

जो अपने में विषयप्रकाशनरूप चिद्रूपता को भी सहन नहीं कर सकता, वह अनुकूल और प्रतिकूल विषयभोक्तृत्वरूप जीवता को कैसे सहन कर सकेगा, ऐसा कहते हैं।

जहाँ पर चिद्रूपताका ही लाभ नहीं हो सकता, वहाँ पर चित्तताकार जीवता और वासना कैसे रह सकती हैं ॥३४॥ चिद्रूप का उदय न होने से ही उसमें जीवता है ही नहीं और इसी कारण बुद्धिता, चित्तता, इन्द्रियता और वासना भी नहीं है। इससे ''कथं न बुद्धितत्त्वं स्यात्कथं वा न मनो भवेत् इन शंकाओं का भी निरास हुआ ॥३५॥

सम्पूर्ण प्रश्नों का समाधान करने पर फलित अर्थका उपसंहार करते हैं।

इस प्रकार महाभूत–भौतिक पदार्थोंसे पूर्ण भी जरामरणशून्य ब्रह्मतत्त्व हमारी दृष्टि से आकाश से भी अधिक शून्य और निर्विकार स्थित है ॥३६॥

इस प्रकार प्रश्नों का समाधान होने पर शंकाशून्य चित्त में जिस रूप से उसका अपरोक्ष ज्ञान हो सके, उस असाधारण रूपको पहिचानने के लिए श्रीरामचन्द्रजी फिर पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, अनन्त चिदाकार उस परमार्थतत्त्वका कैसा रूप है ? भलीभाँति उसका बोध प्राप्त होने के लिए उसको मुझसे फिर कहिए। श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, महाप्रलय होने पर सम्पूर्ण कारणों का भी कारण अपरोक्ष परमब्रह्म अवशिष्ट रहता है, उसका मैं वर्णन करता हूँ, आप सुनिए, समाधि में मन का विषयों से निरोध द्वारा वृत्ति का क्षय होने पर लकड़ियों के समाप्त होने पर अग्नि की नाईं मन के स्वरूप का भी नाश करके जो नाम–रूप–शून्य स्वप्रकाश सद्रूप अवशिष्ट रहता है, वही उस परमार्थ वस्तु का रूप है। निर्विकल्प समाधि के आरम्भ में दृश्य जगत की सत्ता नहीं रहती, दृश्य के अभाव से द्रष्टा भी विलीन हुए की नाईं प्रतीत होता है, यों ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान इस त्रिपुटी के लय का साक्षीरूप जो ज्ञान अवशिष्ट रहता है, वही उस परमार्थ वस्तु का रूप है। समाधि–व्युत्थान होने के पहले जो आगे जीव–स्वरूप होनेवाली है, उस चितिका अचेत्योन्मुख (चिन्मात्र में प्रवण) जो चिन्मात्र, निर्मल और निर्विकाररूप है, वह उस परमात्मा का रूप है। शरीरमें वायु आदि का स्पर्श होने पर भी चित्त के रहते–रहते अर्थात् दूधमें मिले हुए जलके समान ब्रह्म में एकरस होने के कारण तिरोभूत चित्त को कुछ न गिनकर स्पर्श आदि के अनुभव के बिना प्रतीत होनेवाला जो रूप है, वही उस परमात्मा का रूप है ॥३७–४२॥

अब उक्त रूप योगाभ्यास से रहित पुरुषों के भी अनुभवमें जैसे आरूढ़ हो, वैसा उसका प्रतिपादन करते हैं।

हे अनघ, जिसमें स्वप्नदर्शन नहीं है, जो मच्छर, खटमल आदि द्वारा जनित बीच बीच में विच्छेद से रहित है, मनकी विश्रान्ति का हेतु, सुषुप्तिरूप मनकी जड़ता से हीन गाढ़ निद्रा का जो रूप है, वही उस परमात्मा का रूप प्रलयकाल में अवशिष्ट रहता है। जैसे आकाशका

तात्त्विक रूप शून्यत्व है, शिलाका घनत्व है और वायुका अन्तर्बहिःपूर्णत्व है, वैसे ही उसी दृश्यभिन्न और दृश्यरहित चिदाकाश परमात्मा का जो रूप हो, वही वह है। बहुत क्या कहें सम्पूर्ण जीवित जीवों की चेत्य (दृश्य) और चित्त का परित्याग करने पर स्वभावतः जो स्थिति अवशिष्ट रहती है, वह शान्त उत्कृष्ट सत्ता उस आदिपुरुष का रूप है। चित्–प्रकाश अन्नमयकोषपर्यन्त आत्मरूप से व्याप्त है, अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय–इन पाँच कोषों में प्रत्येक कोषका विवेक–पूर्वक विचार करने से आनन्दमय कोष सब कोषोंका आन्तर ठहरता है और आनन्दमय कोषका आन्तर ब्रह्म है, अतः द्रष्ट्रकोटि में सर्वान्तरभूत चित्प्रकाशरूप आनन्दमय कोषका भी आन्तर होने से जो मध्य है (卐)। और दृश्यकोटि में मूर्त प्रपंच के सारभूत सूर्यरूप प्रकाश का, अमूर्त प्रपंच के सारभूत भूताकाशका अथवा लिंगसमष्टिरूप अव्याकृत आकाशका आन्तर होने से जो मध्य है (🕮) तथा चाक्षुष आदि वृत्तियों के भीतर स्फुरणरूप से विद्यमान होने से जो उक्त वृत्तियोंका मध्य है (🔥) क्रमशः जो आनन्द, सत् और चिद्रूप है, उसीको ज्ञानी जन ब्रह्म का रूप जानते हैं। बुद्धिवृत्तिका, पदार्थों के स्फुरणका, विषयका और अज्ञानका साक्षीरूप आदि और अन्त से शून्य जो ज्ञान है, वह उस परमात्मा का रूप है। जिसका रूप कभी उदित नहीं हुआ यानी नित्य अनुदित रूपवाला होता हुआ भी जगत् जिससे उदित–सा होता है, जिससे अभिन्न होता हुआ भी बिलकुल भिन्न–सा प्रतीत होता है, वह परमात्मा का पारमार्थिक रूप है। मायिक व्यवहारोंमें संलग्न हुए भी जिसकी (ज्ञानी की अथवा ईश्वर की) पाषाण के सदृश जो निश्चल स्थिति है और निरवकाश (सूराख आदि से शून्य) होते हुए भी सम्पूर्ण जगत् को अपने में अवकाश देने से जो व्योमता (सावकाशता) है, वही परमात्मा का रूप है ॥४३–४९॥

वेद्य (ज्ञेय) आदि त्रिपुटी के जन्म आदिका हेतु जो सच्चिदानन्दात्मक रूप है, वही वह है, – ***ऐसा कहते हैं।***

ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता–इन तीन रूपोंवाला सामने विद्यमान यह प्रपंच जिससे आविर्भूत होता है, जिसमें स्थित रहता है और जिसमें लीन हो जाता है, वही उसका परम दुर्लभ रूप है ॥५०॥

उसमें जो निमित्तकारणता है, वह परिणामरूप से नहीं है, किन्तु विवर्तरूप से है, ऐसा कहते हैं।

卐 तैतिरीय उपनिषद् में–अन्नमय आदि सब कोषों के आन्तर आनन्दमय कोष को दिखलाकर 'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदः दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। इस श्रुति द्वारा आनन्दमय कोष का भी आन्तर ब्रह्म दर्शाया गया है।

🕮 बृहदारण्यक उपनिषत् में–'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' इस प्रकार आरम्भ कर 'तस्यैतस्य मूर्तस्य रसो य एष तपति तस्यैतस्यामूर्तस्य रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः, इससे मूर्त और अमूर्त रूप का सार दिखला कर 'अर्थात् आदेशो नेति नेति' इससे मूर्त और अमूर्त के आरोप का अधिष्ठान ब्रह्म उनका आन्तर है, यह बात उनके (मूर्त और अमूर्तके) निषेध से दिखलाई है।'

🔥 तलवकारोपनिषत् में– 'प्रतिबोधविदितं मतम्' इस वाक्य से ब्रह्म सम्पूर्ण बुद्धिवृत्तियोंका आन्तर कहाया है।

बुद्धि आदि से रहित महादर्पण रूप जिसमें ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता रूप जगत् प्रतिबिम्बित होता है, वही उसका सर्वश्रेष्ठ परम रूप है। स्वप्न और जागरण से निर्मुक्त सुषुप्तरूप जो मन है, वही महाचित् का रूप है, वही दृश्य का प्रलय होने पर स्थावर और जंगम पदार्थों में अवशिष्ट रहता है। स्थावर पदार्थों का मन, बुद्धि आदि से शून्य जो रूप है यानी अचलस्वभाव, वह यदि बोधमय (चेतनायुक्त) हो जाय, तो उनके मन, बुद्धि आदि से निर्मुक्त उस बोधरूप की परमात्मा से तुलना की जा सकती है ॥५१–५३॥ प्रलयावस्था में ब्रह्मा, सूर्य, विष्णु, हर, इन्द्र, सदाशिव आदि के विलीन होने पर सम्पूर्ण उपाधियों का विलय होने से विश्व के संसर्ग से रहित निर्विकल्परूप, चैतन्यमात्र, परमशिव केवल वही एक शेष रहता है ॥५४॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

सत्रूप अधिष्ठानवश प्रलयकाल में भी जगत् की सत्ता का प्रतिपादन और
स्वतः तो सृष्टिकाल में भी उसकी सत्ता के अभाव का प्रतिपादन।

प्रलयकाल में 'यह जगत् है' इस प्रकार विशेषरूप सत्ता से जगत् की निवृत्ति होने पर भी ब्रह्मरूप सामान्य सत्ता के अवशिष्ट रहने से जगत् की ब्रह्मरूप से सत्ता भले ही हो, किन्तु सृष्टिकाल में तो जगत् की प्रलयकाल से विलक्षणता सबको स्पष्ट ही दिखाई देती है, अतः जगत् की स्वतन्त्र सत्ता भी दूसरी माननी ही पड़ेगी। ऐसी अवस्थामें उक्त स्वतन्त्र सत्ता से युक्त जगत ब्रह्म में वर्तमान न होता हुआ अन्यत्र स्थित है, ऐसी संभावना भी नहीं रोकी जा सकती, क्योंकि आप पहले 'नाऽभावो विद्यते सतः' से सत् की असत्ताका स्वयं वारण कर चुके हैं। इसलिए प्रलयकालमें जहाँ पर जगत् स्थित रहेगा, वही जगत् का आश्रय माना जायेगा, उसका आप मुझे उपदेश दीजिए, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी बोले :

ब्रह्मन्, चौदह भुवन, देवता, मनुष्य, असुर, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि असीम विस्तारवाला अतिस्पष्टरूप से दिखाई देनेवाला, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से दृढ़ीकृत यह जगत्, जिसका आप ब्रह्म में अभाव कहते हैं, महाप्रलय होने पर किसमें स्थित रहता है, उसे कृपा करके मुझसे कहिए ॥१॥

यदि सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति के समय अपनी अलग सत्ता के साथ जगत् का कहींसे आगमन होता, तो प्रलयकालमें जगत् का अन्य स्थानमें गमन और अन्यमें स्थिति होती; किन्तु वन्ध्यापुत्रकी नाईं अपनी पृथक् सत्ता से उसका आगमन ही नहीं है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी कहते हैं :

वत्स श्रीरामचन्द्रजी, आपके प्रश्न का उत्तर मैं पीछे दूँगा पहले आप यह बतलाइये कि वन्ध्यापुत्र कहाँ से आता है, कैसा है, और कहाँ जाता है एवं आकाश में स्थित वन कहाँ से आता है और किसमें समा जाता है ? ॥२॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में विषमता (असमानता) की शंका करते हुए श्रीरामचन्द्रजी ने कहा :

भगवन्, वन्ध्यापुत्र और आकाशवन न तो इस समय हैं और न आगे होंगे। फिर उनकी कैसी दृश्यता और कैसी नास्तिता ? ॥३॥

तात्कालिक सत्ता, भविष्यत्कालिकसत्ता और प्रत्यक्षवेद्यता भी उक्त वन्ध्यापुत्र और आकाशवन में नहीं है, अतः जगत् और उनमें विषमता है। उनके प्रतियोगी की सत्ता प्रसिद्ध नहीं है, अतः उनकी नास्तिता भी नहीं कही जा सकती यह भाव है। ठीक है, किन्तु जगत् की भी तो न वर्तमानकालिक सत्ता है, न भविष्यत्कालिक सत्ता है और न वह दृश्य ही है, इस प्रकार जगत् का वन्ध्यापुत्र और आकाशवन के साथ सादृश्य है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी बोले :

वत्स, जैसे वन्ध्यापुत्र और आकाशवन की त्रैकालिक सत्ता नहीं है वैसे ही इस सम्पूर्ण जगत् आदि दृश्य की भी त्रैकालिक सत्ता नहीं है ॥४॥

सत्ता न होने पर जगत् के उत्पत्ति आदि भी सिद्ध नहीं होते ऐसा कहते हैं।

हे रामजी, न तो यह जगत् उत्पन्न हुआ है और न विनाशी ही है। जिसकी पहले सत्ता ही नहीं है उसकी उत्पत्ति कैसी और उसमें विनाश शब्द की ही क्या कथा है ? ॥५॥

जगत् की उत्पत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, अतएव प्रथम तो उत्पत्तिमान् जगत् का वन्ध्यापुत्र उपमान नहीं हो सकता, दूसरे अत्यन्त असत् कहीं उपमान नहीं देखा जाता, अतः परिशेष से विकल्परूप वन्ध्यापुत्र आदि के ज्ञानको जगत् का उपमान मानना पड़ेगा। उसका जन्म और नाश होता है, इसलिए उसका जगत् के साथ सादृश्य भी हो सकता है, इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, वन्ध्यापुत्र और आकाशवृक्ष की तो कल्पना होती ही है। वह जैसे जन्म और नाश से युक्त है, वैसे ही यह जगत् भी जन्म और नाश से युक्त क्यों नहीं होगा ? ॥६॥

वन्ध्यापुत्र और आकाशवृक्ष का ज्ञान (विकल्परूप) उपमान हो सकता यदि वह उपमेयरूप जगत् के बीच में पड़ा न होता। उपमेयरूप जगत् के मध्यपतित होने पर वह उपमान नहीं हो सकता। इसलिए अपारमार्थिक सत्तावाले जगत् का मेरे द्वारा दिया गया ही उपमान ठीक है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी ने उत्तर दिया :

दृश्य किसी अन्य पदार्थ के साथ तुलना (उपमा) करने की इच्छा तो है पर उपमेयभूत दृश्य पदार्थ से अतिरिक्त उपमान न मिलने के कारण उसकी किसीसे उपमा ही नहीं की जा सकती ॥७॥

उपमेय कोटि में प्रविष्ट जिन किन्हीं पदार्थों से उसको जो उपमा दी जाती है वह अनन्वयालंकार का उदाहण है, वैसे ही आपकी यह उक्ति भी है।

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥

यह उक्ति इनका कोई उपमान ही नहीं है इस प्रकार अनुपमत्व में पर्यवसित होती है वैसे ही आपका यह कथन भी अनुपमत्व में पर्यवसित होगा, इसलिए वन्ध्यापुत्र और आकाशवृक्ष

के विकल्परूप ज्ञान को दृष्टान्त मानना ठीक नहीं है। अतः यह सिद्ध हुआ कि जगत् की पृथक् सत्ता मेरे द्वारा कही गई वन्ध्यापुत्र की सत्ता के समान ही है। दूसरी बात जो आपने यह कही है कि असत् दृष्टान्त भी नहीं हो सकता है इस पर सुनिए, असत् यद्यपि सत् का दृष्टान्त नहीं देखा जाता फिर भी उसके असत् के दृष्टान्त होने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि वन्ध्यापुत्रके समान आकाशपुष्प असत् है, ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं। जिसका प्रत्यक्षरूप से अनुभव हो रहा है, उसकी असत्ता कैसे ? ऐसी शंका कर प्रत्यक्षसे प्रतीत हो रहे पदार्थकी भी, विचार करनेपर बाध देखने से, असत्ता बहुत से दृष्टान्तों में प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

जैसे सुवर्ण के कड़े में स्पष्टतः भली भाँति दिखाई दे रहा भी कटकत्व नामका कोई पदार्थ नहीं है, वैसे ही प्रत्यक्षतः अनुभूयमान भी यह जगत् परमें (ब्रह्म में) नहीं है। जैसे आकाश में उपलम्यमान शून्यत्व आकाश से भिन्न नहीं है, वैसे ही ब्रह्म में प्रत्यक्षतः उपलम्यमान भी यह जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जैसे काजल से कालिमा पृथक् ज्ञात नहीं होती, हिम से शीतलता पृथक् ज्ञात नहीं होती वैसे ही परम पदमें (ब्रह्म में) पृथक् गृहीत होनेवाला जगत् नहीं है। जैसे शीतलता चन्द्रमा से और हिम से (बरफ से) पृथक् नहीं होती वैसे ही ब्रह्म से भी यह जगत् पृथक् नहीं है। जैसे मरूभूमि में प्रतीयमान नदी में जल नहीं है, अथवा जैसे प्रतीयमान द्वितीय चन्द्रमा में चन्द्रत्व नहीं है, वैसे ही सर्वविध मलों से रहित ब्रह्म में अनुभूयमान जगत् भी नहीं है। कारण के न रहने से जो स्वयं पहले भी नहीं था, वह वर्तमान काल में भी नहीं है, अतः उसका नाश ही कैसा ? ॥८–१३॥

कारण का असंभव कैसे है ? उसे कहते हैं।

जैसे छाया का कारण धूप नहीं हो सकती, वैसे ही पृथिवी आदि जड़ वस्तु का जड़ता से रहित ब्रह्म कारण नहीं हो सकता अर्थात् जड़का ही जड़ परिणाम हो सकता है, कहीं भी स्वविरूद्ध परिणाम नहीं देखने में आता, यह भाव है ॥१४॥ परिणामी कारण न होने से यह परिणामी कार्य नहीं है, अतः परिणामदृष्टि से यह कुछ उदित नहीं है, यद्यपि विवर्तदृष्टि से विरूद्ध का भी आरोप हो सकता है, तथापि विवर्त का कारणभूत ब्रह्म ही जगत् रूपसे अवस्थित है, अतः जगत् की कार्यरूप से पृथक् सत्ता नहीं है ॥१५॥

यदि शंका हो कि अज्ञान ही जगत् का परिणामी कारण है, फिर कारण के अभाव से यह जगत् कार्य नहीं है, इस प्रकार पूर्व श्लोकमें कारण का अभाव कैसे कहा ? इस पर कहते हैं।

जो अज्ञान ही जगदाकार से परिणत होता है, यह कहा जाता है, उसका यह तात्पर्य नहीं है कि जैसे दूधका परिणाम दही होता है, वैसे अज्ञान का परिणाम जगत् है, बल्कि अज्ञान संवित् को (ज्ञान को) ही जगत्‌रूप से दर्शाता है अर्थात् संवित्‌का ही जगत् के रूप से विवर्त कराता है। अज्ञानका परिणाम संवित् का विवर्त ही है, यह बात स्वप्नमें प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं। स्वप्न में जो जगत् (स्वाप्निक प्रपंच) दिखाई देता है, वह संवित् का विलास ही है। (संवित्‌का विवर्त ही है), उससे अतिरिक्त नहीं है ॥१६॥

उक्त विषय को ही स्पष्ट करते हैं।

स्वप्न में स्वप्न देखनेवाले पुरुष के अन्तःकरण में जो स्वाप्निक जगत् की भ्रान्ति होती है, वह जैसे संवित्–विकास ही है, वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म में यह जगत्–विकास हुआ है, ब्रह्म से अतिरिक्त जगत् नाम की कोई वस्तु ही नहीं है ॥१७॥

अतः पहले जो जगत् ब्रह्ममात्र है, ऐसी प्रतिज्ञा की गई थी, वह सिद्ध हुई, ऐसा कहते हैं।

यह जो कुछ प्रपंच दिखलाई देता है, यह सदा ही आत्मा में स्थित है। न तो यह कभी कुछ भी उदित होता है और न कभी तनिक भी नष्ट होता है। जैसे द्रवत्व जल है (तरलता और जलमें कोई भेद नहीं है), जैसे स्पन्दन वायु है (कम्पन और वायुमें भेद नहीं है) और जैसे प्रकाश आभास है। (प्रकाश और आभास में कोई अन्तर नही है), वैसे ही ये तीनों जगत् ब्रह्म ही है (त्रिजगत् और ब्रह्ममें कोई अन्तर नहीं है)। जैसे स्वप्न देखनेवाले पुरुष के अन्दर विद्यमान चैतन्य ही नगर–सा प्रतीत होता है, वैसे ही परमार्थ स्वरूप में परमात्मा ही जगत्–सा प्रतीत होता है ॥१८–२०॥

जगत् की जो प्रतीति हो रही है, यह बड़ी दृढ़ है और स्वप्न की प्रतीति पूर्णरूप से अभिव्यक्त न होने के कारण कोमल (अदृढ़) है, अतः दोनें में आकाश–पाताल का अन्तर है और दूसरी यह बात भी विचारणीय है कि द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध स्वाभाविक है, अतः उसका निवारण होना कठिन ही नहीं, प्रत्युत असम्भव है, अतः मुक्तिका सम्भव ही नहीं है, यों श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, यदि यह दृश्यरूपी विष पूर्वोक्त रीति से स्वप्न की प्रतीति के समान मिथ्या है, तो यह इतनी सुदृढ़ प्रतीति से युक्त कैसे हो गया, अर्थात् प्रलय होने तक इसमें ऐसी सुदृढ़ प्रतीति रहती है कि व्यवहार में किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं होने पाती, इसका क्या कारण है ? दृश्य के विद्यमान रहते द्रष्टा (दर्शक) का निवारण नहीं किया जा सकता अर्थात् दृश्य यदि रहेगा, तो उसका द्रष्टा भी अवश्य रहेगा और द्रष्टा यदि रहेगा, तो दृश्य भी अवश्य रहेगा। भाव यह कि दृश्य और द्रष्टा परस्पर सापेक्ष हैं। दृश्य तभी कहा जा सकता है, जबकि उसका दर्शक हो और द्रष्टा तभी कहा जा सकता है, जब कि उसके दर्शन का विषय (दृश्य) हो। दृश्य और द्रष्टा दोमें से एक के अस्तित्व में दोनों का बन्धन है और दोनों में से एक का भी क्षय हो जाय तो दोनों की मुक्ति हो जाती है, पर ऐसा होना ही असम्भव है ॥२१,२२॥

क्यों असम्भव है ? ऐसा यदि कोई कहे, तो इस पर कहते हैं।

जब तक मूलाविद्या के विनाश से दृश्य के आत्यन्तिक क्षय का (सर्वथा उच्छेद का) ज्ञान न हो, तब तक द्रष्टा में दृश्यत्व का अस्तित्व अनिवार्य है, इसलिए मुक्ति नहीं हो सकती ॥२३॥

यदि कोई कहे कि दृश्य के आत्यन्तिक क्षयका परिज्ञान भले न हो। उसकी क्या आवश्यकता है ? किन्तु उत्पन्न हुए दृश्यका विद्यासे विनाश हो, इस पर कहते हैं।

यदि दृश्य प्रपंच की पहले उत्पत्ति और पीछे उसका विनाश मानो, तो संस्काररूप से स्थित दृश्य का पुनः पुनः उद्भवरूप अनर्थकारी बन्ध कभी विनष्ट ही नहीं हो सकता ॥२४॥

दृश्यप्रदेश के परित्याग से ही दृश्य के असम्भव की उपपत्ति हो अर्थात् जहाँ पर दृश्य नहीं

है, वहाँ पर दृश्य के असम्भव की उपपत्ति हो, इस शंका का समाधान स्वयं आप ही पहले कर चुके हैं, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वच्छ दर्पण चाहे कहीं पर भी स्थित क्यों न हो, उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता ही है, वैसे ही चैतन्याश्रय द्रष्टा में सर्वस्मृतिमय प्रतिबिम्ब अवश्य पड़ता ही है ॥२५॥ यदि पहले से उत्पन्न न हुए दृश्य का स्वयं अस्तित्व न होता, तो द्रष्टा की दृश्यस्वभाव से मुक्ति हो सकती, परन्तु जगत् उत्पन्न नहीं है, यह बात अनुभव में नहीं आती, अतः द्रष्टाकी दृश्यस्वभाव से निर्मुक्ति नहीं हो सकती, यह भाव है ॥२६॥ हे ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ, इसलिए मेरी मुक्ति के असंभव की आशंका को युक्तियों द्वारा दूर कर जब तक दृश्य के अत्यन्त असम्भव का मुझे दृढ़ परिज्ञान न हो जाय, तब–तक आप मुझे उपदेश दीजिये ॥२७॥

स्वप्न–प्रतीति से जगत–प्रतीतिवैषम्य की जो श्रीरामचन्द्रजी ने आशंका की थी, श्रीवसिष्ठजी उसके समाधानकी, आगे कही जानेवाली सृष्टी की आख्यायिका से, प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : यह जगत् ब्रह्मात्मक ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है। जगत्रूप से असत् होता हुआ भी जिस प्रकार सत्–प्रतीत होता है, उसको मैं आपसे बड़ी लम्बी (मण्डपोपाख्यान आदि से बढ़ाई गई) आख्यायिका से कहता हूँ, आप सुनिये। आशय यह कि यद्यपि इस जगत्की प्रतीति बड़ी दृढ़ है, तथापि यह असत् होता ही सद्रूप से प्रतीत होता है, इस अंशमें इसकी स्वप्न से समता है ही। रह गई दृढ़ प्रतीति की बात, सो तो चिरकाल से बद्धमूल होने के कारण है। तब तक सुनिये, जब तक कि पूर्वजों के व्यवहार के प्रतिपादक वाक्यों से उन लम्बी आख्यायिकाओं में वर्णित तत्त्व आपके हृदय में, तालाब में धूलि के समान, न बैठ जाय ॥२८,२९॥

उसीसे आपकी दूसरी शंका निवृत्त हो जायेगी और दूसरी शंका की निवृत्ति होने पर आपको शान्ति मिलेगी और लोकव्यवहार भी सिद्ध होगा, ऐसा कहते हैं।

आपको भ्रान्ति से जो यह जगत् की सत्ता दिखलाई दे रही है, इसके अत्यन्त अभाव को (सर्वथा अभाव को) जानकर, आप अद्वितीय अखण्ड ब्रह्म के ध्यान में संलग्न हो लौकिक व्यवहार करेंगे। जिनका प्रयोजन रहने पर ग्रहण होता है और प्रयोजन न रहने पर त्याग होता है, ऐसे स्थूल, सूक्ष्म आदि विषयोंमे (विषयों के अनुसार) चंचल और स्थिर व्यवहारदृष्टियाँ आपको इस प्रकार पीड़ित नहीं कर सकेगी, जिस प्रकार कि बाण पर्वत को विद्ध नहीं कर सकते। हे रघुकुलतिलक, जिसका पहले विस्तारसे वर्णन किया है, वही यह केवल एक (अद्वितीय) आत्मा है। इसके सिवा दूसरी कल्पना ही नहीं है। इस द्वितीय–कल्पना से शून्य आत्मा में यह जगत् जिस प्रकार उत्पन्न हुआ है, उसको मैं आगे आपसे कहूँगा। ये सम्पूर्ण जगत् उस आत्मा से आविर्भूत हुए हैं ॥३०–३२॥

शंका – क्या जैसे ये तटस्थ ईश्वर से भेद से आविर्भूत हैं, वैसे ही इससे भी भेद से आविर्भूत हुए हैं ? अर्थात् जैसे अन्याभिमत स्रष्टा ईश्वर से भिन्नतया सृज्य पदार्थों का

आविर्भाव माना जाता है वैसे ही आपके अभिमत स्रष्टा आत्मा से भिन्नतया जगत् का आविर्भाव हुआ है ?

समाधान – नहीं, वह महान् आत्मा ही समष्टिव्यष्टिरूप बाहर इन्द्रियों द्वारा दिखाई देनेवाला दृश्यदर्शनप्रकाराकार और अन्दर मननप्रकाराकार होकर स्वयं ही उदित होता है और विलीन होता है। भाव यह कि वास्तव में उसका उदय और विनाश तो होते नहीं, पर अज्ञानतः भ्रान्ति से उसके उदय और विनाश की प्रतीति होती है ॥३३॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

आगे अपवाद से सम्पूर्ण सृष्टिका अत्यन्त अभाव कहने के लिए
अपवादानुरूप अध्यारोपभूत सृष्टिका विस्तार से वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने पहले जिस विषय की प्रतिज्ञा की थी, उसको कहने के लिए भूमिका बाँधते हुए बोले :

वत्स श्रीरामचन्द्र, सर्वोत्तम, शान्त और परम पवित्र इस पद से (ब्रह्म से) यह सम्पूर्ण विश्व जैसे आविर्भूत हुआ है, उसे आप उत्तम बुद्धि से (क्षोभशून्य एकाग्र मन से) सुनिये ॥१॥

जैसे सुषुप्त आत्मा ही स्वप्न–सदृश प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्म ही सृष्टि की नाईं प्रतीत होता है। (यह कल्पना दृष्ट के अनुसार है।) स्वप्न केवल एक पुरुषकी वासना का कार्य है, अतः स्वप्नप्रतीति दृढ़ नहीं होती और प्रपंच सम्पूर्ण जीवों की वासना से उत्पन्न है, अतः उसकी प्रतीति सुदृढ़ है, इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीकी पूर्वोक्त शंका के परिहार के अभिप्राय से कहते हैं।

उसका अधिष्ठान सर्वात्मक (सर्वसुषुप्तसमष्ट्यवस्थ और सर्वप्रलयावस्थ) ब्रह्म है। इस विषय में आप क्रम को सुनिये ॥२॥ चूँकि यह सम्पूर्ण विश्व स्वभावतः सदा अनन्तप्रकाशरूप तथा अनन्तचैतन्यस्वरूप ब्रह्म का सत्तामात्ररूप (卐) है, इसलिए वही मानों चेत्यता को (दृश्यताको) प्राप्त होता है, यों अग्रिम श्लोक से सम्बन्ध है ॥३॥

पहले उसमें 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' (उसने संकल्प किया कि मैं लोकोंकी सृष्टि करूँ) इस श्रुति से सिद्ध ईक्षणभाव को दिखलाते हैं।

आकाश से भी सूक्ष्म और निर्मल जो बोध है, वह भावी (होनेवाले) नाम और रूपों के अनुसन्धान से कुछ अनुमितरूपवाला होकर सम्पूर्ण स्रष्टव्य (सृष्टि करने योग्य) विषयों में संकल्पपूर्वक अहंकाराध्यास के बिना प्रतीत होता है। अतएव वही स्वयं अपने स्वरूप में मानों किंचित् चेत्यता (दृश्यता) को प्राप्त होता है ॥४,५॥

ईक्षणवृत्ति और ईक्षणवृत्ति के विषयरूप उपाधियों से उसमें ईश्वरभाव और जीवभाव को दर्शाते हैं।

卐 चैतन्यरूप ब्रह्म की सत्ता ही उसका परमार्थरूप है, उसकी सत्ता से अतिरिक्त उसका रूप नहीं है।

तदुपरान्त वह परम सत्ता ही ईक्षणात्मक वृत्ति से युक्त चेतना में (उक्त ईक्षणात्मक वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य में) उन्मुख होकर यानी ईक्षणवृत्तिसहित चेतनाप्रधान होकर वाणी के व्यवहार के विषय धर्मों से युक्त होने के कारण वाणी से प्राप्य (ज्ञेय) होने से यानी वाणी के व्यवहार के योग्य होने से 'चित्' नाम के योग्य ('सर्वज्ञ ईश्वर' नाम के योग्य) होती है। पीछे चिरकाल की अनुवृत्ति से जिसकी ईक्षणवृत्ति अत्यन्त धन हो गई है और जिसने उक्त ईक्षणवृत्ति के विषय सूक्ष्म प्रपंचस्वरूपतारूप परिच्छेद स्वीकार कर लिया है एवंभूत वही परमसत्ता जब परम पदका त्याग करती है तब भावी प्राणधारणरूप उपाधिवाले जीव, हिरण्यगर्भ आदि नामवाली होती है॥६,७॥

वैसे होने पर भी ब्रह्मसत्ता स्वरूप से विनष्ट नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

उस समय ब्रह्मसत्ता ही केवल भावना से संसारोन्मुख होती है, विकार आदि क्रिया से नहीं॥८॥

शंका – सो कैसे?

समाधान – ब्रह्मस्वभाव ही ऐसा है। भाव यह है कि उक्त ब्रह्मसत्ता का स्वभाव ही है कि वह केवल भावनामात्र से (संकल्पमात्र से) संसारभाव को प्राप्त होती है, उसमें किसी प्रकारका विकार होकर वह संसारभाव को प्राप्त होती है, यह बात नहीं है।

शंका – तो उसका जीवभाव कैसे होता है?

समाधान – रज्जु में सर्प की नाईं उसीमें जीवभाव का उदय होता है।

अब श्रीमहामुनि वसिष्ठजी महाभूतों की सृष्टि को कहने की इच्छा से पहले आकाश की सृष्टि कहते हैं।

जीवभाव का उदय होने के अनन्तर अन्य भूतों को अवकाश देनेवाली होने के कारण शून्यप्रायः (प्रायः रिक्त) आकाशसत्ता उदित होती है, जो कि सूर्य आदि की सृष्टिके पश्चात् होनेवाले आकाश आदि नामों के अर्थ को (आकाश यानी आसमन्तात्–काशते प्रकाशते यानी चारों ओर जो प्रकाशित है, इत्यादि अर्थको) देती है और शब्द आदि गुणों की कारण है॥९॥

पूर्वोक्त हिरण्यगर्भरूप जीव के अहन्ताभिमान की और तबसे लेकर द्विपरार्द्धपरिमित ब्रह्मा की आयुरूप कालकी सृष्टि को कहते हैं।

आकाशसत्ता के अनन्तर भावी (होनेवाले) नामों के अर्थरूप से जगत्स्थिति की मुख्य बीजभूत अहन्ता (अहंकार) कालसत्ता के साथ उदित होती है॥१०॥

उक्त आकाश, अहंकार और काल की सृष्टि हिरण्यगर्भ से नहीं होती, किन्तु हिरण्यगर्भरूप उपाधि से उपहित परमात्मसत्ता से ही होती है, क्योंकि वही सबकी हेतु है, ऐसा कहते हैं।

उस परमशक्ति (परमात्मसत्ताका) स्वसंकल्पमात्ररूप यह प्रकाशमान असदात्मक दृश्य प्रपंच सत् की नाईं उससे उदित होता है। इसके उदयसे परमात्मसत्तामें किसी प्रकारका विकार नहीं होता, यह सूचन करने के लिए 'स्वसंवेदनमात्रकम्' कहा है॥११॥

'मैं आकाश होऊँ' इस अहंकार से (अभिमान से) जिसका स्वरूप प्रायः आकाश–सा

हो जाता है ऐसी संवित् आकाशकार्य (वायु आदि) विषयक संकल्परूपी वृक्ष की बीज है। अतएव उससे परिच्छिन्न स्पन्दशक्तिप्रधान होने के कारण अहंकार का एक अंश–सा वायु आविर्भूत होता है ॥१२॥

आकाशाहंकारोपाधि से उपहित परमात्मसत्ता ही जब सम्पूर्ण शब्दोंके बीज–भूत शब्द तन्मात्र रूप बनने का संकल्प करती है, तब उसीसे शब्द तन्मात्राकी उत्पत्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

आकाश में अहन्ताबुद्धिवाली परमात्मसत्ता शब्दतन्मात्र के संकल्पसे ('मैं शब्द तन्मात्रा होऊँ' इस संकल्प से) अतिसूक्ष्म आकाशभाव से कुछ घन होकर शब्दतन्मात्रा होती है (✍) ॥१३॥

वेद आदि सम्पूर्ण शब्दों का शब्दतन्मात्रा उपादान है, ऐसा कहते हैं।

भावी (होनेवाले) नामों का अर्थभूत तथा शब्दसमूहरूपी वृक्षका बीज वह शब्दतन्मात्रा ही विस्तार को प्राप्त किया गया पदवाक्यप्रमाणनामक वेदसमूह है ॥१४॥ इस प्रकार वेदरूपता को प्राप्त हुए परमात्मा से, जो कि शब्दसमूह से निर्मित पदार्थसमूहरूप परिणाम (कार्य) का विस्तार करते हैं, जगत् की उत्पत्ति होगी। भाव यह कि 'स भूरिति व्याहरत् स भुवमसृजत' उसने 'भूः' कहा, अनन्तर पृथिवीकी सृष्टि की) 'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत असृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितृन्' (प्रजापतिने 'एत' इससे देवताओंकी, 'असृग्रम्' से मनुष्योंकी और 'इन्दवः' से पितरों की सृष्टि की) इत्यादि श्रुतियों से यह प्रसिद्ध है कि वेदमे जो शब्दसमूह से सिद्ध पदार्थ हैं, उन्हींका परमात्मा विस्तार करते हैं ॥१५॥ इस प्रकार वायुपर्यन्त जिसका परिवार है, ऐसी वह चिति जीवशब्द से कही जाती है। वही भावी नाम–रूपसमूह से मूर्तिमान् जीवों के समूहरूपी वृक्ष की बीज है अर्थात् सम्पूर्ण मूर्त्याकार पदार्थ (जीव) उसीसे उत्पन्न होते हैं ॥१६॥

वह (परमात्मा) व्यष्टिप्राणरूप से आध्यात्मिक सम्पूर्ण क्रियाओंका हेतु है, ऐसा कहते हैं।

चौदह भुवन हैं। प्रत्येक भुवनमें प्राणियोंका आकार–प्रकार भिन्न भिन्न है। अतएव चौदह भुवनों के भेद से चौदह प्रकार के प्राणी पूर्वोक्त प्राणवायु के कारण अपने से (ब्रह्म से) व्याप्त होकर ब्रह्माण्डोदररूप विविध गर्तों में घूमते फिरते हैं ॥१७॥

वही चैतन्य जब 'मैं वायु हूँ' इस अभिमान से युक्त होता है तब वह सम्पूर्ण स्पर्शों का उपादान–कारण स्पर्शतन्मात्रारूप और आवह, प्रवह आदि उनचास वायुओंके विभाग से सम्पूर्ण पदार्थोंकी चेष्टा का कारण होता है, ऐसा कहते हैं।

यद्यपि 'मैं वायु हूँ' इस अभिमान के पूर्व उक्त चैतन्य का न 'वायु' नाम था और न उसमें

✍ यद्यपि सांख्यदर्शन, पुराण आदि में तन्मात्राओं से भूतों की उत्पत्ति कही गई है, तथापि 'आत्मन आकाशः सम्भूतः', 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म ही आकाश आदि भूतों का साक्षात् उपादान सुना गया है और 'तद्यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य' इत्यादि श्रुति में सामान्य शब्द विशेष शब्दों का कारण सुना गया है, अतएव आकाश से ही सामान्य शब्द रूप शब्दतन्मात्रा की उत्पत्ति कही गई है।

चलनादि क्रिया ही थी, तथापि 'मैं वायु हूँ' इस प्रकार अपने में वायुत्व के व्यापारवान् (चलनादि व्यापारसे युक्त) होकर स्पर्शतन्मात्रा की भावना से ('मैं स्पर्शतन्मात्रा होऊँ' इस संकल्प से) वही शीघ्र स्पर्शतन्मात्रा हो जाता है। वह (स्पर्शतन्मात्रा) विविध स्पर्शरूपी वृक्ष का बीज है तथा उनचास प्रकार के वायुओं का विस्तार उसमें सूक्ष्मरूप से निहित है। उसीसे सम्पूर्ण भूतों में चलनादि क्रियारूपी स्पन्द उत्पन्न होता है ॥१८,१९॥

वायु की उत्पत्ति के पश्चात् तेज की उत्पत्ति कहते हैं।

तदुपरान्त 'मैं प्रकाशरूप होऊँ' इस भावना से उसीमें (चैतन्य में ही) प्रकाश की उत्पत्ति होती है। प्रकाशरूपता को प्राप्त अनुभवरूप चैतन्यसे ही रूपतन्मात्रा की उत्पत्ति होती है, जो कि सम्पूर्ण भावी पदार्थों के नाम और रूप की प्रकाशक है। सूर्य, अग्नि, बिजली, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि रूप वह तेज प्रकाशरूपी वृक्ष का बीज है। उससे (तेज से) विविध रूपों के भेद द्वारा संसार का विस्तार होता है ॥२०,२१॥

तदुपरान्त जल की उत्पत्ति कहते हैं।

वह तेजस्वरूपता को प्राप्त चैतन्य मानों जलके विविध रस मैं ही हूँ, इस प्रकार अपनी जलरूपता की (अथवा परिच्छिन्नता की) भावना करता हुआ जलरूपता को प्राप्त होता है। जलरूप मूर्त द्रव्य (पदार्थ) का जिह्वा से आस्वाद लेने पर 'यह मीठा है' इस प्रकार का जो स्वाद है, वह सम्पूर्ण रसों का एकमात्र उपादान होने से रसतन्मात्रा कहलाता है। वह रसरूपी वृक्षका बीज है और भावी जलके विविध आकारों को धारण करनेवाला है। इन्द्रिय और विषयरूप से परस्पर रस का आस्वाद लेने पर विषयों में अनुराग आदि की उत्पत्ति से पुनः पुनः विषयों के उपार्जन में प्रवृत्तिरूप संसार का उससे प्रसार होता है ॥२२,२३॥

तदनन्तर पृथिवी की सृष्टि कहते हैं।

जलभाव को प्राप्त परमात्मा 'मैं पृथिवी ही हूँ' यों संकल्परूप होने से जिसका स्वरूप आगे होनेवाला है, उस पृथिवी का संकल्पनात्मक होकर संकल्परूप अपने गुणों से अपने को गन्धतन्मात्रा देखता है। अर्थात् 'मैं गन्धतन्मात्रा होऊँ' अपने इस संकल्पनात्मक गुण से गन्धतन्मात्रा हो जाता है ॥२४॥

अब पृथिवी की सृष्टि का उपयोग बतलाते हैं।

भावी (आगे होनेवाले) ब्रह्माण्डगोलकरूप से या ज्योतिषशास्त्र में प्रसिद्ध भूगोलरूप से वह मनुष्य आदि के विविध आकाररूप वृक्षका बीज है। सम्पूर्ण चर और अचर जीवों के आधारस्वरूप उक्त पृथिवी से संसार का प्रसार होता है ॥२५॥

उक्त रीति से उत्पन्न पाँच भूतों के संमिश्रण से ब्रह्माण्डाकार का विकास कहते हैं।

चैतन्य के पूर्वोक्त रीति से पाँच भूतों में अहन्ता (अहंकारभाव) को प्राप्त होने पर उक्त चैतन्य से ब्रह्माण्डाकार प्रतीत हो रहे भूततन्मात्रा अर्थात् शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा परस्पर से संमिश्रण से, जलमें बुद्बुदों की नाईं, स्वयं ब्रह्माण्डाकार से परिणत होते हैं ॥२६॥

कितने समय तक वे संमिश्रणभाव में स्थित रहते हैं, ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं।

ये पाँच भूत इस प्रकार संमिश्रण को प्राप्त हुए हैं, जिस प्रकार विनाश होने तक (महाप्रलयपर्यन्त) पृथक् और शुद्ध नहीं पाये जा सकते ॥२७॥

जितनी वस्तुओं का स्थूलरूप से आविर्भाव हुआ, वे सब पहले ब्रह्मसत्ता से विद्यमान थी, इस बात को दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

जैसे वट के अतिसूक्ष्म बीज के अन्दर विशाल वटवृक्ष स्थित है, वैसे ही ये ब्रह्माण्ड भी अव्याकृत आकाश के अन्दर केवल संविद्रूप से स्थित है ॥२८॥

यदि किसीको आशंका हो कि भूततन्मात्रा अतिसूक्ष्म हैं, अतएव स्थानाभाव उनमें स्थूल पदार्थों का रहना विरूद्ध प्रतीत होता है, इस पर कहते हैं।

तन्मात्राओं की स्थूल पदार्थों की वास्तव में स्थिति नहीं है, किन्तु उनसे उनकी केवल मायिक उत्पत्ति दिखलाई देती है और फिर वे शाखा–प्रशाखा के भेद से विविध विस्तार को प्राप्त होते हैं और क्षण में ही विलीन हो जाते हैं। पूर्वोक्त मायिक उत्पत्ति का प्रदर्शन अतिसूक्ष्म वस्तु में भी होता है, यह भाव है ॥२९॥

तन्मात्राओं के उक्त रीति से स्थूल हो जानेपर भी उनके सूक्ष्म–रूप की क्षति नहीं होती, क्योंकि जिस अधिष्ठान में विवर्त होता है, उसका विकार नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

वे विवर्त की ओर अग्रसर होते हैं यानी विवर्त से स्थूलता को प्राप्त होते हैं, पर वास्तव में विवर्तरहित अपने सूक्ष्मतम स्वरूप में ही रहते हैं। विकाररहित चेतन से सम्बद्ध होने के कारण क्षण में ही पिण्डीभाव (स्थूलता) को प्राप्त होते हैं। यदि यह स्थूलभाव तन्मात्राओं का परिणाम होता, तो जैसे कद्दू के बड़े होने में समय लगता है, वैसे ही इनकी स्थूलता में समय लगता, यह भाव है ॥३०॥

इस सर्ग में पहले जो विषय कहा गया है, उसका स्मरण कराते हुए इस सर्ग का उपसंहार करते हैं।

यह तन्मात्रासमूह, जिसका पहले विस्तार से वर्णन किया गया है, संकल्पस्वरूप चैतन्य ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है; कारण कि चैतन्य ही 'मैं अमुक हूँ' इस अभिमान से तत्–तत् स्वरूप हुआ है। चैतन्य अपने स्वरूप से तो निराकार ही है, पर संकल्परूप से वह अपने को त्रसरेणुसदृश (स्थूलरूप) देखता है ॥३१॥

जो पहले यह कहा था कि ब्रह्म ही जगत् के आकार में परिणत होता है, वह पूर्वोक्त रीति से सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं।

दृश्यमान जगत् के मूल पंचभूततन्मात्रा ही हैं, पंचतन्मात्राओं का मूल मायाशक्ति ही है, जिसका परमात्मा से तनिक भी व्यवधान नहीं है और जो जगत् की स्थिति में कारण है। इस प्रकार चिद्घन अज परमात्मा ही मायाशक्ति द्वारा जगत् का बीज है। माया के हट जाने पर वही सदा अनुभवारूढ़ होता है, इस लिए यह दृश्यमान जगत् चेतनरूप ही है ॥३२॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

ब्रह्म के जीवभाव तथा देह आदि की प्राप्ति का वर्णन।

जैसे सुषुप्ति अवस्था में जीवप्रयोजक उपाधियों का (अन्तःकरण आदि का) विनाश होने से वे मायाशबलब्रह्मभाव को प्राप्त होती हैं, वैसे ही प्रलयावस्था में विलय होने से मायाशबल ब्रह्मभाव को प्राप्त हुई जीवप्रयोजक उपाधियों के फिर आविर्भावक्रम को श्रीवसिष्ठजी हेतुपूर्वक कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सर्वव्यापक सम और असम (विकार से होनेवाली विषमता से शून्य होने के कारण सम–एकरस–और मायाशबल होने के कारण विषम) अधिष्ठानरूप उत्पन्न न हुए आकाश, तेज और तम आदि के कारणसत्तास्वरूप (जब कि आकाश, तेज, तम आदि की उत्पत्ति नहीं हुई थी तब उनकी कारणरूप सत्ता ब्रह्मसत्ता से अतिरिक्त नहीं थी) चिद्घन परब्रह्म में दृश्य अंश के प्रकाश से (卐) पहले दृश्यत्व (विषयभाव) की कल्पना उदित होती है, क्योंकि चैतन्य का विषय को प्रकाशित करना स्वभाव ही है। तदुपरान्त चितिशक्ति के प्रकाशन से उक्त चिदात्मा में चित्त की कल्पना उदित होती है, जिसका अध्यास किया जाता है, उसीका प्रकाशन करना चितिका स्वभाव ही है। उक्त चिति के अध्यास के विषय सम्पूर्ण पदार्थों से पूर्व विद्यमान है, अतएव वही सबके प्रति निमित्त है। तदनन्तर विषयों के साथ उसके सम्बन्ध का प्रकाश होने से उक्त चिदात्मा में जीवत्व की कल्पना उदित होती है। 'मैं केवल विषयरूप हूँ' ऐसा अभिमान होने के कारण उक्त चिदात्मा में अहंभावकी कल्पना उदित होती है। तदुपरान्त उक्त अहंभाव की अभिवृद्धि होने से उक्त चिदात्मामें बुद्धिभाव की कल्पना उदित होती है। इस प्रकार धर्मों की सिद्धि होने पर शब्दादितन्मात्राओं से युक्त वही मनःस्वरूप हो जाता है। भाव यह कि जैसे स्वप्न में संस्काररूप से अपने अन्तर्गत शब्द आदि विषयों का मनन होता है, वैसे ही संस्काररूप से अपने अन्तर्गत शब्दादिविषयमात्राओं के मनन से वही चिदात्मा शब्दादिविषयमात्राओं से युक्त मन बन जाता है ॥१–४॥

मनोभावापन्न चिदात्मा की स्थूलदेहभाव–प्राप्ति कहते हैं।

संस्काररूप से स्थित शब्दतन्मात्राओं का स्पर्शादितन्मात्राओं के साथ संमिश्रण करने से पंचीकरणरूप से आध्यात्मिक महाभूतरूपी (स्थूलदेहभाव को प्राप्त हुए) मन से ही यह महावृक्षरूपी अतिविशाल चराचर प्रपंच इस प्रकार दिखाई देता है। जैसे स्वप्न में इच्छा न रहते भी नगर बन जाता है, वैसे ही इच्छा के बिना ही पूर्वोक्त रीति से शीघ्र बना हुआ यह जगत्रूपी महान् वृक्ष महाकाशरूपी महारण्य में पुनः पुनः उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है। यह बोये बिना ही उगा हुआ जगद्रूपी करंज वृक्षों (कंजा) की झाड़ियों का बीज है, इसे

卐 जब विषय और करणों की सिद्धि हो जाय, तब चेतयितृत्वस्वरूप जीव की सिद्धि होती है, इसलिए चिदात्मा में पहले विषय और करणों का अध्यास दर्शाया है।

मिट्टी, जल, प्रकाश, वायु आदि किसीकी भी आवश्यकता नहीं है। भाव यह कि अन्यान्य बीजों को उगने के लिए भूमि, जल, सूर्यताप आदि की आवश्यकता होती है, पर यह उनसे विलक्षण है, इसे किसीकी भी आवश्यकता नहीं है, और यह बोये बिना ही उगता है। तदनन्तर जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष अपने से अनुभूयमान नगर को उत्पन्न करता है, वैसे ही यह चिदात्मा भी पृथिवी आदिकी उत्पत्ति करता है। वस्तुतः स्वरूप से तो असंग चिदात्मक ही रहता है, वह जहाँ कहीं पर भी स्थित हो, जगद्रूपी अंकुर का त्याग करता ही है (जगद्रूप अंकुर को उत्पन्न करता है)। पंचभूत तन्मात्राएँ जगत् की बीज हैं और पंचतन्मात्राओं का बीज अविनाशी चिदात्मा है। जो बीज है, वही फल होता है, (क्योंकि कार्य और कारणका अभेद है)। इसलिए श्रीरामचन्द्रजी, आप जगत् को ब्रह्मरूप जानिये। इस प्रकार सृष्टि के आरम्भमें ये पंचभूततन्मात्राएँ, जो कि चिदात्मा की विषयप्रकाशनशक्ति से स्वस्वरूपभूता हैं, महाकाश में कल्पित हैं, वास्तविक नहीं है। यद्यपि ये ही पंचभूततन्मात्राएँ परस्पर संमिश्रण से स्थूलता को प्राप्त होकर इस सम्पूर्ण स्थूल प्रपंच का विस्तार करती हैं, तथापि ये आकाशमें प्रतीयमान रूप की भाँति अपनी कल्पना के अधिष्ठान चिदात्मा में स्थित होने के कारण ही सत् हैं, स्वतः सत् नहीं है, क्योंकि जिसका असिद्ध पदार्थ से साधन किया जाता है, वह कभी सिद्ध नहीं होता, यह निश्चित है। जो स्वरूप काल्पनिक है यानी वास्तविक नहीं है, वह कैसे सत्य हो सकता है ? ॥५–१२॥

शंका – ब्रह्म में अध्यस्त पंचभूततन्मात्राओं की ब्रह्ममात्रता भले ही हो, पर उनके कार्य जगत् की ब्रह्ममात्रता कैसे ?

समाधान – यदि 'ये ब्रह्मस्वरूप हैं' इस बुद्धि से पंचभूततन्मात्राएँ ब्रह्मस्वरूपा हैं, तो पंचतन्मात्राओं के कार्य स्थूल पांच महाभूत भी ब्रह्म ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं, क्योंकि कार्य और कारण की एकता दिनके समान प्रसिद्ध है। इससे यह सिद्ध हुआ कि चिरकाल से बद्धमूल तीनों जगत् ब्रह्म ही हैं।

शंका – यदि उनमें भेद नहीं है, तो अभिन्न पदार्थोंमें कार्यकारणभाव का व्यवहार कैसे होता है ?

समाधान – जैसे सृष्टि के पूर्व में ये कारणभूत पंचतन्मात्राएँ स्वरूपभूत स्थूल प्रपंच के प्रति कारणरूप से स्फुरित होती हैं, वैसे ही आज भी वे आगे होनेवाले अपने स्वरूप के प्रति ही कारण होती हैं, अतः उनमें कार्यकारणभावका व्यवहार होता है।

इस प्रकार यह जगत् न कभी उत्पन्न होता है और न उत्पन्न हुआ दिखाई देता है। जैसे संकल्प और मनोरथ द्वारा निर्मित नगर असत् होता हुआ भी सत्–सा प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्माकाशरूपी परमप्रकाश आत्मा में जीवाकाशत्व असत् होता हुआ भी सत्–सा प्रतीत होता है। वस्तुतः चिदात्मा में पृथिवी आदिका संभव नहीं है, अतएव जैसे आकाशमें गन्धर्वनगर, घटाकाश, महाकाश आदि परिच्छिन्न आकाश आकाश से ही कल्पना द्वारा उत्पन्न हुआ है वैसे ही यह आकाशात्मा जीव भी कहा गया है (यानी परम प्रकाशरूप महाकाश में उत्पन्न

हुआ है), ऐसा ज्ञान से विशुद्धान्तःकरणवाले लोग देखते हैं ॥१३–१७॥

ब्रह्म के 'जीवोऽहम्' इस प्रकार के साधारण अभिमानसे समष्टिजीवभावको कहकर अब विशेष अभिमान से व्यष्टिजीवभाव द्वारा स्थूलदेहपर्यन्त तादात्म्य के आरोप के क्रम का विस्तार से प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं।

वत्स, जीवाकाश जिस प्रकार से इस देह को प्राप्त होता है, उस प्रकार को अब आप मुझसे सुनिए। चिदात्मा परमेश्वरमें कल्पित समष्टिजीवाकाश अतिविस्तृत होता हुआ भी मैं चिनगारी की नाईं अत्यन्त सूक्ष्म तेज का कण हूँ, इस प्रकार भावना करने से वैसा ही (अणुरूप ही) अपने को जानता है। इसी अभिप्राय से श्रुति ने कहा है – 'यथा अग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिंगा व्युच्चरन्तयेवमेवास्मादात्मनः सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' (जैसे अग्नि से छोटी–छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही इस आत्मा से ये सब जीव आविर्भूत होते हैं)। आकाश में आत्मरूप से जिस स्थूलता का चिन्तन करता है, भावना द्वारा तद्रूप ही अपने को स्थूलरूप–सा समझता है। जैसे संकल्प से कल्पित चन्द्रमा सत् नहीं है, वैसे ही जिसकी भावना करता है, वह स्वरूप सत् नहीं है, फिर भी सत्–सा प्रतीत होता है, उसीकी भावना करने से यह द्रष्टा–दृश्यरूप से स्थित है ॥१८–२०॥ स्वप्न में अपने मरणज्ञान के समान एक ही वह चिदात्मा द्वितीयता को प्राप्त होता है, पूर्वोक्त अतिसूक्ष्म तेजःकणस्वरूपता का परित्याग कर तारों के सदृश स्थूलता को मानों प्राप्त करता है अर्थात् यही उसकी भूत तन्मात्राओं से संवलित लिंगात्मता है। संकल्पित अर्थ की भावना से तथा विश्वात्मक होने से 'सोऽहम्' इस प्रकार वह तारकाकार आत्मा ही स्वात्मा हुआ ॥२१,२२॥

यह लिंगदेहज्ञान और भावी स्थूलदेहज्ञान चित्तकल्पना से ही होता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्न में पथिक बन जाता है, वैसे ही वह चित्त की कल्पना से मैं लिंगदेहाकार और भावी स्थूलदेहाकार हूँ, इस ज्ञान को धारण करता है। जैसे चित्त विषयाकारता को प्राप्त होता है यानी स्वप्न और मनोरथमें बाहर स्थित भी विषय बाह्यरूप का त्याग कर भीतर अन्तःकरणात्मना प्रतीत होता है, वैसे ही भावना करता हुआ यह चिदात्मा तद्रूपता को प्राप्त होता है, तदुपरान्त उपाधि से भीतर कल्पित आकाश में अपने स्वाभाविक रूप का त्याग करके बाह्य रूपता को प्राप्त करता है। जैसे बाहर स्थित भी, पर्वत दर्पण में भीतर स्थित–सा प्रतीत होता है, जैसे सर्वत्र व्यवहार करने में (यातायात में) समर्थ शरीर कूपजलमें प्रतिबिम्बित होकर कूपमें ही व्यवहार करनेवाला प्रतीत होता है, जैसे दूर से सुनने के योग्य गुहास्थित दीर्घशब्द गुहा आदि में ही स्थित रहता है, बाहर नही निकलता, जैसे स्वप्न और मनोरथमें संवित् देह में ही स्वप्न आदि देखती है, वैसे ही पूर्वोक्त स्फुल्लिंगसदृश उपाधि में स्वरूप से कल्पित तारका में स्थित चिदात्मा वासनामय देहादिका अनुभव करता है। तारकाकाशरूपी कोश में स्थित यह वासनामय देह आदि व्यवहारदृष्टि से विचार करनेपर बुद्धि, चित्त आदि रूप ही है, क्योंकि वह बुद्धि, चित्त आदि का परिणाम है और परमार्थदृष्टि से विचार करने पर तो वह ज्ञान, सत्ता और आनन्दरूप ही है। तदुपरान्त जीव 'मैं देखूँ' इस

भावना से आकाशमें विस्तार को प्राप्त होता है। जिन दो छिद्रों से वह भावी विषयों को देखता है उसका नाम नेत्र पड़ता है, जिससे विषयों को छूता है वह त्वचा नाम से विख्यात होती है, जिससे शब्दादि विषयों को सुनता है उसका नाम कान होता है और जिससे गन्ध आदि को सूँघता है वह नाक कहलाता है। वह अपने में अपने को देखता है (अनुभव करता है)। उसकी जो रसनेन्द्रिय है, वह पीछे जीभ नामसे प्रसिद्ध होती है, जिससे श्वासप्रश्वास आदि क्रिया होती है वह वायु उसके प्राण, अपान आदि से प्रसिद्ध होता है, उसकी जो चेष्टाएँ हैं वे कर्मेन्द्रियाँ होती हैं। इस प्रकार बाह्य विषयों और मानसिक विषयों की भावना कर रहा मनोमय शरीरधारी अतिसूक्ष्म जीव आकाशमें स्थित रहता है। पूर्वोक्त प्रणाली से उक्त तेज के कण में स्थूलता का अध्यास करता हुआ ब्रह्म ही जीवनामधारी होता है। यों जीवशब्द का अर्थभूत हुआ वह चिदात्मा ही विविध कल्पनाओं से, जो असत्य होती हुई भी सत्य–सी प्रतीत होती हैं, पूर्ण हो गया है। मनोमय शरीर ब्रह्म ही स्थूलदेहाकार (📖) बनकर यानी चिनगारी के आकार से लेकर बाह्य स्थूल विषयाकार पर्यन्त, जो स्वयं रचना की, तद्रूप बनकर अपनी रचना के अन्त में आवरण आदि से युक्त ब्रह्माण्ड को देखता है। कोई जीव जल के मध्य में स्थित ब्रह्माण्ड में 'अहम्' भावका ज्ञान होने से ब्रह्माण्ड को जानता है और कोई ब्रह्माण्ड के मध्यवर्ती ब्रह्मा के शरीर में 'अहम् ' भावना का ज्ञान होने से ब्रह्मा को जानता है। भाव यह कि चिनगारी से लेकर बाह्य स्थूल विषयाकार पर्यन्त स्वकल्पना को अपने संकल्पानुसार कोई ब्रह्माण्डरूप से जानता है और कोई हिरण्यगर्भरूप से। तदनन्तर आगे होनेवाले ब्रह्माण्ड की कल्पना को भी देखता है और उसका अनुभव भी करता है। मनोमय शरीरधारी जीव मन को ही आत्मा समझता है। अतएव आत्मरूप मन से अपने संकल्प के अनुसार गर्भरूपी घर (गर्भवासनिमित्त होने से गर्भगृह), देश, काल, कर्म, द्रव्य आदि कल्पनाओं की भावना करता हुआ नाम आदि का निर्माता मनोमय देहधारी वह ईश्वर ही स्वकल्पित तत् तत् नामों से पदार्थों को और अपने को भी असत्य जगद्भ्रममें बाँधता है। भाव यह कि जीवभावापन्न ईश्वर ही मन से देश, काल आदि विविध पदार्थों की कल्पना कर देश, काल आदि नामों की सृष्टि करता है और उन नामों से उन पदार्थों का सम्बन्ध स्थापित कर उनको और अपने को जगद्रूप भ्रम में बाँधता है। जैसे स्वप्न में आकाश में उड़ना असत्य है, वैसे ही मनोमय देहधारी परमात्मा पूर्वोक्त असत्य जगद्रूप भ्रममें मिथ्या ही विकासको प्राप्त होता है। इस प्रकार पूर्व में उत्पन्न न हुआ ही यह मनोमय देहधारी प्रजापति आदि स्वयम्भू उदित हुआ है। इस ब्रह्माण्डाकार भ्रम के होने पर भी कुछ भी नहीं हुआ है, कुछ भी पैदा नहीं हुआ है और न कुछ दिखाई ही देता है। केवल निर्मल अनन्त ब्रह्माकाश ही है। मनोरथ से कल्पित नगर के तुल्य यह जगत्प्रपंच सत्–सा प्रतीत होता हुआ भी सत् नहीं है। स्वयं उदित हुआ यह प्रपंच उस चित्र के सदृश है, जिसकी न तो किसी चितेरे ने तुलिका आदि बाहरी सामग्रीसे रचना की, न जिसमें विविध रंग भरे, न मानसिक

📖 चित्तदेहाम्बराकृत्तिः = जिसका सूक्ष्म मनोमय शरीर स्थूलता से स्थूल देहाकार बन गया है, वह है–चित्तदेहाम्बराकृति।

प्रयत्न से ही जिसका निर्माण हुआ, न किसीको अनुभव ही हुआ और जो न सत्य ही हो, फिर भी सत्य सा प्रतीत होता हो ॥२३–४२॥

तब जगत् को अदृष्ट संस्कार आदि सामग्रीसे उत्पन्न हुआ क्यों न माना जाय ? इस शंका पर कहते हैं।

महाकल्प के अन्त में ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) आदि मुक्त हो जाते हैं, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है, इसलिए वर्तमान जन्म में ब्रह्मा की पूर्व जन्म की स्मृति तो जगत् की उत्पत्ति में कारण हो नहीं सकती ॥४३॥

भाव यह है कि–

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्याऽन्ते कृतात्मानः प्रतिशन्ति परं पदम् ॥

(ब्रह्मलोक में गये हुए कर्मी महाप्रलय होने पर ब्रह्मा के साथ एकीभूत होकर परम पद में प्रवेश करते हैं यानी मुक्त हो जाते हैं) तथा 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् (प्रारब्ध कर्मों की अवस्थिति तक जीवन्मुक्तरूप से अधिकारियों की अवस्थिति रहती है, तदनन्तर वे विदेहमुक्ति को प्राप्त करते हैं) इत्यादि स्मृति और सूत्र में प्रदर्शित न्याय से महाकल्प के अन्त में उन पूर्व कल्प के ब्रह्मा आदि की मुक्ति हो जाती है, ऐसा निश्चय किया गया है। इसलिए, ब्रह्मा के अदृष्ट संस्कार से आगे के जगत् का निर्माण नहीं हो सकता। जो उपासक कल्प के आरम्भ में हिरण्यगर्भ आदि के पद को प्राप्त करता है, उसने पहले कभी यह विचित्र जगत् बनाया नहीं है, इसलिए उसे जगत् के निर्माण का अनुभव न होने से उससे संसार का संभव नहीं है, इसलिए जगत् को संस्कार से उत्पन्न नहीं कह सकते, किन्तु वह स्वप्न और इन्द्रजाल आदि के समान अकस्मात् उत्पन्न हुआ है, अतएव मिथ्या ही है, इसलिए जैसा संकल्पमय ब्रह्मा है, वैसे ही उससे उत्पन्न यह जगत् भी संकल्पमय ही है। यदि कोई शंका करे कि अनादि साक्षीरूप चेतन के अनुभव से जनित जगत् के निर्माण के संस्कार से जगत् की उत्पत्ति हो ? तो इस पर कहते हैं।

यदि पृथिवी आदि की सृष्टि के विषय में अनादि अनुभव को कारण मानो, तो साक्षीवेद्य होने के कारण स्वप्नानुभूत पदार्थ जाग्रतावस्था में जैसे (मिथ्या) होते हैं अनादि साक्षी के संस्कार से उत्पन्न जगत् भी वैसा (मिथ्या) ही हो जायेगा। जैसे स्वयम्भू (हिरण्यगर्भ) वर्तमान काल में जिसका स्मरण हो रहा है, ऐसे अतीत पदार्थ की नाईं शून्यमात्रस्वरूप है, वैसे ही उससे उत्पन्न जगत् भी शून्यमात्र स्वरूप है। जैसे किसी देश और किसी काल में जल से तरलता भिन्न नहीं होती है अर्थात् जल और द्रवता (तरलता) अभिन्न पदार्थ है, वैसे ही किसी देश और किसी काल में परमात्मा में जगत्सृष्टि का भेद नहीं है अर्थात् सृष्टि परमात्मा से भिन्न नहीं है। यह सृष्टि भ्रम से ही प्रौढ़ प्रतीत होती है, वास्तवमें केवल (जगत्–वैषम्य से रहित) परमात्मा ही स्थित है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है। अत्यन्त निर्मल चिदात्मा ही ब्रह्माण्ड–सा प्रतीत होता है। इस प्रकार यह दृश्य (जगत्), जिसका आत्मामें विशेषरूप से भ्रम हुआ है, शान्त, आधाररहित, आधेयशून्य, अद्वैत तथा द्वैत व्यवहार न होने के कारण ही

व्यावर्त्य न होने से एकत्व संख्यासे भी रहित ब्रह्मरूप ही है। यद्यपि जगत की भ्रान्ति होती है फिर भी उत्पन्न कुछ नहीं हुआ है। चारों ओर से शून्य, निर्मल चिदाकाश ही स्वरूप से स्थित है, न उसमें सम्पूर्ण संसार है, न उसका कोई आधार है, न कोई उसका आधेय है, न दृश्य है, न द्रष्टृत्व है, न ब्रह्माण्ड है, न ब्रह्मा है और न कहीं मदान्ध मोहान्ध जलरूपी गजघटा है। न जगत् है और न पृथिवी है। यह सम्पूर्ण दृश्य निर्मल ब्रह्म ही है। उक्त चिदात्मा ब्रह्म अपने में अपने से स्वयं विकास को प्राप्त होता है। तरल होने के कारण जैसे जल ही अपने में आवर्तरूप से प्रतीत होता है, आवर्त (भँवर) कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, वैसे ही चिद्रूप होने के कारण आत्मा में आत्मा ही जगत्–सा प्रतीत होता है, जगत् कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, यों यह असत् होता हुआ भी भ्रान्तिवश सत्–सा प्रतीत होता है ॥४४–५२॥

जैसे स्वप्न में प्रतीत हुआ असत् अपना मरण जाग्रत में बाधित हो जाता है, वैसे ही अज्ञानावस्था में प्रतीयमान यह दृश्य प्रपंच ज्ञान होने पर बाधित हो जाता है।

पूर्वोक्त रीति से अपवाददृष्टि द्वारा स्वरूपतः जगत् की असत्ता का प्रतिपादन किया गया है, अब अधिष्ठानदृष्टि से भी उसकी असत्ता का प्रतिपादन करते हैं।

अथवा ब्रह्मस्वरूप होने के कारण यह दृश्य प्रपंच निर्मल, परिपूर्ण, अद्धितीय, आदि और अन्त से शून्य चिदाकाशस्वरूप ब्रह्म ही है। उससे अतिरिक्त इसकी सत्ता ही नहीं है ॥५३॥

सिंहावलोकन न्याय से पूर्वोक्त सम्पूर्ण विषय का पुनः संक्षेप से निरूपण कर उपसंहार करते हैं।

परब्रह्म में कल्पित स्वयम्भू प्रजापति शून्य ही है। जो एकरस परमात्मा है, उसीका स्वयं असत् प्रजापतिरूप से आभास होता है, क्योंकि प्रजापति का मनोमय शरीर है पंचभौतिक शरीर नहीं है। ये पृथिवी आदि मनोमयशरीरवाले प्रजापति के संकल्पमात्र है, अतएव ये भी असत्य है। जैसे कभी उत्पन्न न हुआ खरगोश का सींग सत्य नहीं है, वैसे ही ये भी सत्य नहीं है ॥५४॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चौदहवाँ सर्ग

पूर्व सर्ग में वर्णित जीवभावमें परिच्छेद आदि सन्देहों का
युक्ति से खण्डन कर केवल मात्र ब्रह्मैक्य का वर्णन।

सबसे पहले समष्टि (हिरण्यगर्भ), उससे उत्पन्न विराट् और व्यष्टि जीव इस प्रकार के परिच्छेद के खण्डन के लिए श्रीवसिष्ठजी पूर्वोक्त विषय के अनुवाद द्वारा भूमिका बाँधते हैं।

जैसा कि पहले सर्ग में कहा गया है, उसके अनुसार अहन्ता आदि दृश्यसमूहभूत जगत् का अस्तित्व तनिक भी नहीं है, क्योंकि वह उत्पन्न ही नहीं हुआ है और जिसका अस्तित्व है, वह परमात्मा ही है। जैसे निश्चल सागर में जल स्पन्दता को (चंचलताको) प्राप्त होता है, वैसे ही सृष्टि के आरम्भमें परमप्रकाशरूप परमात्मा ही 'मैं जीव हूँ' इस प्रकार स्वयं जीवता की भावना

करता है। जैसे देह के अन्दर विद्यमान चेतनवृत्ति स्वप्न में देखे गये या मनोरथ द्वारा कल्पित पर्वत, नगर आदि में आत्मीयता के भ्रम से प्रेम करती है, वैसे ही अपनी आकाशरूपता (परमप्रकाशरूपता) का त्याग किये बिना ही संकल्परूप चिद्वृत्ति वक्ष्यमाण विराट् में आत्मत्वभ्रान्ति से मानों प्रेम करती है, यही मेरी आत्मा है, इस भ्रम से उसको मानों अपने प्रेमका पात्र समझती है। चिदात्मा की जो विराट्रूप देह है, वह पृथिवी आदिसे शून्य है, अर्थात् पांचभौतिक नहीं है, किन्तु मनोमय ही है (संकल्पजन्य ही है) अतएव वह चिन्मात्र निर्मल आकाशस्वरूप ही है, उससे पृथक् नहीं है। यदि स्वप्न में देखा गया पर्वत अक्षय (चिरस्थायी) हो और स्वप्न में दृष्ट नगर चिरकाल तक रहे, तो उनसे इस प्रपंचरूप विराट् देह की तुलना हो सकती है और सचमुच यह प्रपंच चित्रकारका चित्त यदि स्थिर हो और उसमें वासनामय स्थिर चित्र बने तो उसमें कल्पनालिखित सेना के सदृश है। बहुत कहाँ तक कहें, यह महान् खम्भों की उन प्रतिमाओं के सदृश है, जो कि गढ़ी नहीं गई है, ऐसे ही और भी अनेकों उपमानों से इसकी उपमा हो सकती है। मान लीजिये, यह प्रपंच चिदाकाशरूपी सुन्दर खम्भे में नहीं गढ़ी गई एक प्रतिमा है। आदि प्रजापति का भी, जो 'स्वयम्भू' इस नाम से सबसे पहले विख्यात हुआ, कोई कारण नहीं है, क्योंकि उसके पूर्वजन्म के कर्म नहीं है। क्यों नहीं ? ऐसी शंका के लिए यहाँ अवकाश ही नहीं है, क्योंकि हम पहले ही कह आये हैं कि महाप्रलय होने पर पूर्वकल्प के सभी प्रजापति मुक्त हो जाते हैं, अतः उनमें प्राक्तन (पूर्वजन्म का) कर्म कैसे रह सकता है ? जैसे आवरणरहित दर्पण आदि में प्रतिबिम्बरूप से पड़ी हुई दीवार आदि का स्वरूप दिखाई देता हुआ भी असत् होने से अदृश्य (दर्शनयोग्य नहीं) है, वैसे ही प्रजापति दृश्य होता हुआ भी सत् न होने से अदृश्य ही है और विकारशून्य चिदात्मा में कल्पित है। निर्विकार चिदात्मा में द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन, स्रष्टा, सृष्टि तथा सर्जन एवं भोक्ता, भोग्य और भोग इन सम्पूर्ण त्रिपुटियों का संभव ही नहीं है, अतः स्रष्टा प्रजापति असत् है। सबका निषेध होने पर भी शब्द और अर्थों की शून्यता नहीं है, कारण कि यह प्रत्यगातमा ही सम्पूर्ण शब्द और अर्थों का आत्मरूप से स्थित है। जैसे एक दीपक से अनेक दीपक उत्पन्न होते हैं (जलाये जाते हैं) वैसे ही सम्पूर्ण जीव उसीसे आर्विभूत होते हैं ॥१–१०॥

विराट् घनसंकल्पस्वरूप है, उसका कार्य होने से व्यष्ट्यात्मक जीव भी संकल्प ही है, पृथिवी आदि पंचभूतों से निर्मित नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे संकल्परूप हिरण्यगर्भ से मिथ्या होने के कारण अत्यन्त शून्य संकल्परूप विराट् उत्पन्न हुआ है तथा जैसे मिथ्याभूत स्वप्न से अन्य मिथ्याभूत स्वप्न उत्पन्न होता है, वैसे ही पृथिवी आदि से शून्य संकल्पात्मक विराट् से संकल्परूप जीव उत्पन्न हुआ है ॥११॥

व्यष्टि और समष्टि दोनों एकस्वभाव हैं। एकस्वभाव होने के कारण दोनों की एकता को सिद्ध कर उससे ब्रह्मैक्य सिद्ध हुआ है, ऐसा कहते हैं।

सहकारी कारणों के न रहने से जो निःसहाय (एकाकी) ही प्रतीत होता है, उस विराट् से जिन व्यष्ट्यात्मक जीवों का आविर्भाव होता है, वे आत्मस्वरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं,

क्योंकि एकमात्र वृक्ष से विस्तार को प्राप्त हुई शाखायें वृक्ष से भिन्न नहीं देखी जाती, यह भाव है ॥१२॥ सहकारी कारणों के न रहने पर कार्य और कारण एक ही यानी अभिन्न ही रहता है, पृथक् नहीं, अतः सहकारी कारण से शून्य चैतन्य से जनित सर्गभ्रम भी परस्वरूप (चैतन्यस्वरूप) ही है, उससे भिन्न नहीं है। ब्रह्म ही सर्व प्रथम होनेवाला हिरण्यगर्भ है, हिरण्यगर्भ ही विराटात्मा है, विराट् ही सृष्टिस्वरूप है इस प्रकार से वह चिदात्मा जीवरूप से स्थित है, जिससे असत् पृथिवी आदि उत्पन्न होते हैं अतः सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म के सिवा अन्य कुछ नहीं है, यह भाव है ॥१३,१४॥

व्यष्टि, समष्टि और उन दोनों की मूलभूत वस्तु के एक होने पर व्यष्टि और समष्टि का मिथ्यात्व और उनकी मूलभूत वस्तु का सत्यत्व कैसे कहते हैं ? यही क्यों नहीं कहते कि मूलभूत वस्तु और समष्टि अवास्तव (मिथ्या) है और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध व्यष्टि विभाग सत्य है, क्योंकि सेना या समाज आदि स्थलों में समष्टि की निवृत्ति होने पर भी अवशिष्ट व्यष्टि से समष्टि की सत्यता देखी जाती है, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी बोले :

भगवन्, क्या एकमात्र (परिमित) जीव है या अनन्त जीवों की राशि है या पर्वत के समान अनन्त आत्माओं का समुदायभूत जीवपिण्ड है ? तात्पर्य यह है कि व्यष्टिमात्र को सत्य मानें, तो व्यष्टिभूत एक जीव ही एकबुद्धि से परिमित होने के कारण या एक देश में रहने के कारण अथवा परस्पर संघर्ष से एक संघातरूप होने के कारण कल्पितरूप समष्ट्यात्मा हो सकता है ॥१५॥

व्यष्टि जीव को मानकर कल्पित समष्टि माननी चाहिए, अन्यथा मेघ की वृष्टिधार के समान, समुद्र के जलकणों के समान और अग्नि की चिनगारियों के समान समष्टि की उत्पत्ति मानने पर समष्टि के अनित्य होने से कृतहानि और अकृतप्राप्ति रूप दोष होगा, इस आशय से कहते हैं।

मेघ से वृष्टिधाराओं के समान, समुद्र से जलकणों के समान, तपाये हुए लोहे के गोले से चिनगारियों के समान ये जीव किससे आर्विभूत होते हैं ? भाव यह कि जिससे आर्विभूत होते हैं, उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती (🔥) ॥१६॥

भगवन्, मेरी शंका को दूर करने के लिए मुझसे जीवसमूह का निर्णय कीजिए। विशेषरूप से जानने की इच्छा से मैंने आपके कथन के विपरीत प्रश्न आपसे किया है। मन्दबुद्धि होने के कारण मैं आपके आशय को नहीं समझ सका, इसलिए नहीं किया है, वैसे ही।

जो पूर्व में आप मुझसे कह आये हैं, उसे प्रायः सामान्यरूप से मैं समझ गया हूँ, उसीको अब आप विशेषरूप से स्फुट कीजिये ॥१७॥

केवल एकमात्र ब्रह्म ही है, यह सिद्ध करना हमारा प्रयोजन है, उक्त प्रयोजनकी सिद्धि के लिए हमने एक ब्रह्मरूप अधिष्ठान में अनेक कल्पना करने से लाघव है, यह सोचकर

🔥 अनुपपत्ति में कारण है – समष्टि की यदि उत्पत्ति मानोगे, तो समष्टि का जन्य होने के कारण विनाश हो जाने से कृतहानि-अकृताम्यागमरूप दोष होगा।

समष्टिजीवकी कल्पना कर उससे उपहित व्यष्टि जीवकी कल्पना कही है। हमारी यह कल्पना व्यष्टि और समष्टि में से किसी एककी सत्यता के लिए या जीवों की उत्पत्ति आदिका प्रतिपादन करने के लिए नहीं है, इसलिए इस विषयमें आपकी शंका के लिए अवकाश ही नहीं है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी बोले :

हे वत्स, जब एक भी जीव नहीं है, तब जीवों की राशियों का तो सम्भव ही कहाँ है ? आपका पूर्वोक्त प्रश्न ऐसा ही उपहासास्पद है, जैसे कोई कहे कि खरगोश का सींग उड़कर जाता है। भाव यह कि यदि खरगोश के सींग का संभव हो, तो वह उड़ कर जाता है या स्थिर रहता है, ऐसा सन्देह हो, जब खरगोश के सींग की ही सत्ता नहीं है, तब उसकी गतिविधि के विषय में संशय करना उपहास्य नहीं तो और क्या है ? जब जीव हो, तब उसकी राशि या संघात की कल्पना हो, जीव ही जब असत् है, तब उसके विषय में अन्यान्य कल्पनाओं का अवकाश ही कहाँ है ? हे राघव, न तो एक जीव है, न जीवों का समूह है और न पर्वताकार कोई जीवसंघात ही है। हे श्रीरामचन्द्रजी, सम्पूर्ण दृश्य आभासों से युक्त कोई भी जीव–प्रतिभास चिदात्मा में नहीं है, ऐसा आपको दृढ़ निश्चय हो। केवल एकमात्र शुद्ध, चिद्घन, सर्वव्यापक निर्मल ब्रह्म ही है, वह सर्वशक्तिसम्पन्न होने से जिन कल्पनाओं की भावना करता है, स्वंय तद्रूप हो जाता है। जैसे लता क्रम से अपनी कोरकितावस्था और प्रफुल्लितावस्था को देखती है, वैसे ही ब्रह्म भी उन–उन संकल्पात्मक वृत्तियों के क्रम से प्राप्त हुए आभासों के प्रवेश से ही मूर्त अथवा अमूर्तरूप से आविर्भूत कल्पनाको शीघ्र देखता है। विकास को प्राप्त हो रही अपनी सत्ता को ही जीव, बुद्धि, क्रिया, स्पन्द, मन, द्वित्व, एकत्व आदि रूप से ज्ञानविषय करता है अर्थात् उक्त रीति से विकास को प्राप्त हो रही अपनी सत्ता को ही जीव आदि रूप से जानता है ॥१८–२३॥

इस प्रकार से इसका (ब्रह्म का) विकास केवल अविद्या से ही होता है, स्वतः नहीं, अविद्या की निवृत्ति हो जानेपर तो विक्षेपशून्य स्वरूपमात्र से इसकी अवस्थिति रहती है, ऐसा कहते हैं।

उक्त ब्रह्मसत्ता में जब अज्ञानरूप आवरण रहता है, तब वह पूर्वकथनानुसार विविध रूपों को प्राप्त होती है। बोध से तो वह ब्रह्म ही है। आत्मज्ञान से अज्ञान का विनाश हो जाता है, पर आत्मज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है ॥२४॥

अज्ञान जब निवृत्त होता है, तब निवृत्त हुआ अज्ञान किस रूप से रहता है ? ज्ञानरूप से उसका शेष रहना तो सम्भव नहीं है, क्योंकि एक तो ज्ञान अज्ञान का कारण नहीं है, जिससे कि वह ज्ञानरूप से रहे। दूसरी बात यह है कि ज्ञान और अज्ञान में परस्पर विरोध है, इस कारण भी वह ज्ञानरूप से नहीं रह सकता। किसी अन्य के रूप से उसका परिशेष रहता है, यह भी नहीं बन सकता, क्योंकि अन्य वस्तु शेष ही नहीं रहती, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

जैसे अन्धकार से आच्छन्न स्थान में दीपक लेकर अन्धकार को देखने से अन्धकार न मालूम कहाँ भाग जाता है, उसके मूल का पता नहीं लगता है, ठीक इसी प्रकार ज्ञान होने पर अज्ञान न मालूम कहाँ चला जाता है ? उसका कुछ भी पता नहीं लगता ॥२५॥

जिस विषय का पहले विस्तार से उपपादन कर आये हैं, उसीका अब उपसंहार करते हैं।

इस प्रकार अखण्ड, अनवच्छिन्न, अनादि, अनन्त तथा सर्वशक्तिमान् जीवात्मा, जो कि कभी बाधित न होनेवाले महाचैतन्यरूपी सारभूत अंश से परमार्थतः रूपवान् है, ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं है ॥२६॥ ब्रह्म सब प्रकार से – देश, काल और परिमाण से अपरिच्छिन्न है, अतः वास्तव में उसका कहीं पर भी भेद नहीं है और जो उसमें भेदकल्पना होती है, वह वही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा ही सर्वत्र अनुभव होता है, भाव यह है कि जैसे वन के सम्पूर्ण वृक्षों को काट देने पर वृक्षों द्वारा प्रतीत होनेवाला प्रकाश का भेद चला जाता है, वैसे ही विषयभेद के हट जाने पर विषयभेद कल्पनाप्रयुक्त भेद भी चला जाता है ॥२७॥

श्रीवसिष्ठजी ने जो कहा, उसको स्वीकार कर, श्रीरामचन्द्रजी जैसा कि आप कह आये हैं, वैसे ही यदि व्यष्टि और समष्टि जीवों का अभेद माना जाय, तो समष्टि की इच्छा (सत्यसंकल्प) जैसे अमोघ है, वैसे ही व्यष्टि जीवों की इच्छा भी समष्टि का धर्म होने से अमोघ हो जायेगी, ऐसी परिस्थिति में अमुक को भोग और अमुक को मोक्ष होता है, ऐसी शास्त्र की व्यवस्था नहीं बनेगी, क्योंकि सत्यसंकल्प होने से जो–जो चाहेगा, वही हो जायेगा ऐसी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, आपका कथन ठीक है, उसको मैं स्वीकार करता हूँ। पर इसमें मुझे एक सन्देह होता है। वह यह कि एक जीव की जैसी इच्छा होती है, वैसी ही इच्छा जगत् के अन्यान्य सम्पूर्ण जीवों की क्यों नहीं होती ? क्योंकि महाजीव तो एक ही है, उसीके अनुसार सब जीवों में एक ही इच्छा होनी चाहिए, यह भाव है ॥२८॥

ब्रह्म पहले सत्यसंकल्पवाले समष्टिजीवभाव को प्राप्त होता है, तदनन्तर अपने संकल्प के अधीन रहनेवाले व्यष्टिजीवभाव को प्राप्त होता है। समष्टिजीव के संकल्प से विरुद्ध अर्थ में व्यष्टिजीवों की सत्यसंकल्पता की सिद्धि नहीं होती, यों श्रीरामचन्द्रजी की शंका का समाधान कर रहे श्री वसिष्ठजी बोले :

वत्स, व्यष्टिविभाग से पहले व्यष्टिविभाग से रहित सर्वशक्तिसम्पन्न महाजीवरूप वह ब्रह्म 'मैं ही सदा सब जीवों में सत्यसंकल्प होऊँ' – ऐसी इच्छा करता है। वह जिस किसी वस्तु की इच्छा करता है, वह उस महात्माको सदा शीघ्र प्राप्त हो जाती है। उसने पहले अपने सत्यसंकल्पत्व और दूसरों की इच्छा के निरोध की इच्छा की, तदुपरान्त व्यष्टिविभाग का उदय हुआ, फिर उसने व्यष्टिविभाग को प्राप्त हुए अपने अंशभूत जीवों का क्रियाक्रम दण्ड, चक्र आदि बाहरी सामग्री से इस प्रकार घुमाने से घट आदि कार्य की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार का क्रियाक्रम बनाया। केवल संकल्प से उनके कार्य की सिद्धि नहीं होती, यह भाव है ॥२९,३०॥

अन्य महर्षियों का भी तो, क्रियाक्रम के बिना, संकल्प से ही कार्य सम्पन्न होते देखा जाता है, सो कैसे ?

उक्त क्रियाक्रम के बिना व्यष्टि जीवों के कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, इस बात के निश्चित होने पर जो कहीं पर महर्षि आदि व्यष्टि जीवों की क्रियाक्रम के बिना इच्छा से ही

कार्य की उत्पत्ति होती है, वहाँ पर प्रधान (समष्टिजीव) की ही इच्छा से कार्य होता है, इसका यह संकल्प सिद्ध हो, ऐसी प्रधान की ही इच्छा वहाँ पर हेतु होती है, यह भाव है। यह नियम जन्मरहित ब्राह्मी शक्ति ने ही बनाया है ॥३१,३२॥ जिस जीव की (महर्षि आदि की) इच्छा कार्य को उत्पन्न करती है, वह प्रधान शक्ति की अपेक्षा करके ही कार्य को उत्पन्न करती है, प्रधान शक्ति के नियम के अनुष्ठान के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है ॥३३॥

उक्त क्रियाक्रम की भी फल सिद्धि प्रधान के संकल्प के अधीन ही है, ऐसा कहते हैं।

यदि प्रधान शक्ति का नियम फलसिद्धि (कार्यसिद्धि) के अनुकूल न होगा, तो कार्यों की हेतुभूत चेष्टाओं का भी कहीं पर फल नहीं होगा, क्योंकि कार्यजनक चेष्टाएँ भी शक्ति के ही अधीन हैं ॥३४॥

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि ब्रह्म ही महाजीव है और महाजीव ही व्यष्टिजीव और समष्टि जीव है, यों उपसंहार करते हैं।

इस तरह ब्रह्म ही अजन्मा और अविनाशी महाजीव है तथा महाजीव ही जीवों की व्यष्टि और समष्टि रूप दो कोटियाँ हैं, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥३५॥

पहले विस्तार से कही गई बातों को ही, सरलता से उनका ज्ञान हो इसलिए, संक्षेप से दिखलाते हैं।

ब्रह्म ही विषयों के संकल्प से (चिन्तन से) जीव होता है और जन्ममरणरूप संसार को प्राप्त होता है। विषयसंकल्प का त्याग करने से फिर वैषम्यरहित ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है ॥३६॥

जीवों को ब्रह्मभाव की प्राप्ति या तो उपासना द्वारा समष्टिजीवभाव (हिरण्यगर्भ भाव) प्राप्तिपूर्वक क्रमशः होती है या ज्ञान से साक्षात् होती है, – ऐसा कहते हैं।

जैसे ताँबा आदि धातुओं की सुवर्णता रस और औषधियों द्वारा पाकक्रम से होती है या पारस के सम्बन्ध से क्रम के बिना ही तुरन्त हो जाती है, वैसे ही व्यष्टि जीवों की पूर्वोक्त ब्रह्मभावरूप महाजीवता या तो समष्टिजीव के क्रम से (पहले वे उपासना द्वारा हिरण्यगर्भपद को प्राप्त होते हैं, तदुपरान्त हिरण्यगर्भ के साथ ब्रह्मभाव को प्राप्त होते हैं, इस क्रम से) या बिना क्रम से (ज्ञान से साक्षात् ब्रह्मभाव को प्राप्त होते हैं) उदित होती है ॥३७॥

यदि भलीभाँति विचार किया जाय, तो जीवभाव और जगत् भाव वास्तव में एक प्रकार का चित् का चमत्कार मात्र ही है, कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है, – ऐसा कहते हैं।

यद्यपि पूर्वोक्त रीति से इस प्रत्यक्–चैतन्यरूप महान् आकाश में यह जीव, जगत् आदि समुदाय असत् ही है, तथापि उक्त महान् आकाश में चित् (संवित्) का चमत्काररूप चिदात्मा ही जीव आदिरूप से सत् की नाईं उदित होता है। चिति का चमत्कार जो स्वयं ही भविष्यत् नाम, देह आदि भाव को प्राप्त होता है, उसके अहंकार को भावना कहते हैं ॥३८,३९॥

चिति का चमत्कार क्या है ? इस प्रश्न पर चमत्कार के विषय में कहते हैं।

जगत् के संस्कार से संस्कृत (जगत् की वासना से वासित) माया में प्रतिबिम्ब पड़ने के

कारण जगत् की वासना से वासित माया के साथ एकरूप होकर चित् का जो अपने स्वरूप का आस्वाद है, वही चित्–चमत्कार है और वही यह असीम भुवनविस्तार है, वह चिन्मय होने से आत्मचित् में प्रतीत होता है। चिति ने जिसका आस्वाद लिया, वह अविनाशिनी चिति यद्यपि वास्तविक चिति से भिन्न नहीं की जा सकती, फिर भी अपनी शक्ति से ही परिणाम, विकार आदि शब्दों से पुकारा जाता है अर्थात् अज्ञानी जन उसे वास्तविक चित् का परिणाम, विकार आदि समझते हैं। चिति द्वारा अपने स्वरूपभूत प्रकाश का और अपने द्वारा प्रकाशित होनेवाले विषयों का एकरूपता को प्राप्त जो स्वाभाविक आस्वादन है, वही 'जगत्' इस भ्रम से स्थित है। भाव यह कि चिति अपना और चेत्य का स्वभाव से जो स्वाद लेती है, ऐसा स्वाद कि जिसमें चित् और चैत्य का पार्थक्य तनिक भी प्रतीत नहीं होता, वही स्वाभाविक स्वाद भ्रान्तिवश जगत्‌रूप से प्रतीत होता है ॥४०–४२॥

तथापि पहले अहन्ता का दर्शन होता है, तदुपरान्त अहन्ता द्वारा किये गये परिच्छिन्न जगत्‌रूप की प्रतीति होती है, – ऐसा कहते हैं।

चिति की आकाश से भी सूक्ष्म जो शक्ति चारों और फैली है, वह स्वभाव से ही पहले इस अहन्ता का दर्शन करती है। उस समय जैसे जल में जल से जल ही बुद्‌बुदे या लहररूप में प्रतीत होता है, वैसे ही यह चिति भी आत्मा में आत्मा से स्वयं ही जो अतिसूक्ष्म अहन्तारूप में स्फुरित होती है तथा बाहर स्थूलता का अधिकाधिक उत्कर्ष करने पर अन्त में जो ब्रह्माण्डाकार बन जाती है, उस अणुरूप अहन्ता को देखती है ॥४३,४४॥

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि चित् के चमत्कार का ही 'जगत्' यह नाम रक्खा गया है, जगत् कोई पृथक् वस्तु नहीं है, ऐसा कहते हैं।

चमत्कार करना (चमकना) चित् का स्वभाव ही है। चमत्कार करनेवाली चिति अपने स्वरूप में स्वयं जो सुन्दर चमत्कार करती है, उसी का नाम जगत् रख दिया गया है ॥४५॥

चिति अहंकार की कल्पना करती है, अहंकार में तन्मात्रादिरूप जगत् की कल्पना होती है। ऐसी परिस्थिति में जिससे दूसरे की कल्पना होती है, वही अवशिष्ट रहता है, ऐसा कहते हैं।

हे रामचन्द्रजी, चित् से अहंकार की कल्पना होती है और अहंकार से चेत्य की (तन्मात्रादि जगत् की) कल्पना होती, ऐसी अवस्था में कल्पना चित् से अतिरिक्त नहीं है, अतएव तन्मात्रादि जगत् भी चित् ही है। उसमें द्वित्व और एकत्व कहाँ हैं ? भाव यह कि जब द्वितीय हो, तब द्वित्व रहे, द्वित्व के अभाव में व्यावर्त्य न होने के कारण एकत्व भी नहीं है ॥४६॥

सत्य और असत्य कल्पनाओं के मध्य में 'त्वम्' 'अहम्' इस प्रकार चेतन के परिच्छेद की जो कल्पना है, उसीका त्याग करना कठिन है, उसका त्याग यदि हो जाय, तो उक्त कल्पनाओं में अवशिष्ट सद् वस्तु स्वयं सन्मात्र हो जाती है, क्योंकि तब विकल्प करनेवाला कोई रहता ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवभाव के प्रति कारणभूत वासना, कर्म आदि का त्याग होने पर

'त्वम्', 'अहम्' इत्यादि चेतनपरिच्छेद का त्याग कीजिये। सत् और असत् कल्पनाओं के मध्य में जो बच जायेगा, वही सत् होगा ॥४७॥

ज्ञान से दृश्य और दृश्य की सत्ता का नाश होने पर पूर्वसिद्ध जो अधिष्ठानसत्ता है, वह ज्यों-की-त्यों उदित होती है, जैसे कि मेघों के हट जाने पर निर्मल आकाशसत्ता उदित होती है, ऐसा कहते हैं।

जैसे चित् ने पहले अपनी जैसी सत्ता का ग्रहण किया था, वही सर्वाधिष्ठानसत्ता ज्ञान होने पर ज्यों-की-त्यों उदित होती है, जैसे कि मेघों के हट जाने पर पूर्वसिद्ध आकाश की निर्मल सत्ता उदित होती है। सत् और असत् इस प्रकार के सत्ता भेद को हम नहीं जानते ॥४८॥

पूर्वोक्त रीति से बतलाये गए निष्प्रपंचत्व को (प्रपंच के अभाव को) अनुमान से भी दृढ़ करते हैं।

मन की चेष्टारूप (संकल्परूप) सूक्ष्म जगत् शून्य ही है और देवताओं का (इन्द्रिय और उनके अधिष्ठाता देवताओं का) निवासभूत साकार और स्थूल जो विश्व है, वह भी शून्य ही है, क्योंकि दोनों चित् के चमत्काररूप हैं, उससे भिन्न नहीं हैं ॥४९॥

उक्त अनुमान में व्याप्ति आदि की सिद्धि के लिए उदाहरण (दृष्टान्त) आदि दिखलाते हैं।

जो वस्तु जिस वस्तु की विलास (विकार) होती है, वह उससे कभी भी भिन्न नहीं होती, अवयवयुक्त जल आदि के कार्य तरंग आदि में भी ऐसा देखा गया है, फिर निरवयव चित् के कार्य में तो कहना ही क्या है ? *वहाँ तो अवश्य ही ऐसा है, यह भाव है* ॥५०॥

उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकला कि नाम और रूप से रहित तथा अपरिच्छिन्न (असीम) चित् का जो रूप है, वही जगत् का वास्तविक रूप है, ऐसा कहते हैं।

सदा अचेतन्य (रूपरहित), नामरहित और सर्वव्यापक चित् का जो रूप है, वही रूप चित्स्फुरणरूपी (चिद्विलासरूपी) जगत् का है ॥५१॥

यदि कोई इसे चिद्रूप न देखकर जगद्रूप देखे, तो भी यह जगद्रूप रचना चित् की ही रचना है, ऐसा कहते हैं।

मन, बुद्धि, अहंकार, पंच महाभूत, पर्वत, दिशाएँ इत्यादि जो अनेक रचनाएँ हैं, वे चित् ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं, क्योंकि जगत् की स्थिति चिद्रूप ही है ॥५२॥

यों जगत् के चिन्मय (चैतन्यमय) होने पर जगत् चिति का धर्म ही सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं।

हे रामजी, चिति का धर्म जो चितित्त्व है, उसीको आप जगत् जानिये, चितित्त्व (चिद्धर्म) जगत् से अतिरिक्त नहीं है। यदि चितित्त्व को जगत्त्व से भिन्न मानो, तो चिति अचित् (चित् से भिन्न) हो जायेगी। भाव यह कि अपने धर्मभूत चितित्त्व को (जगत् को) प्रकाशित करने के कारण ही उसका नाम चिति पड़ा है। यदि चितित्त्व जगत्त्व न माना जायेगा, तो उक्त प्रयोजन के अभाव में वह चिद् से भिन्न कही जायेगी। इस प्रकार चित् और चितित्त्व का (जगत् का) कल्पनारूप ज्ञान से भेद है, वास्तव में कोई भेद नहीं है, ऐसी परिस्थिति

में जगत् कहाँ से होगा ? ॥५३॥

पहले वर्णित जगत् की चिन्मात्रता का, वचनभंगी से भलीभाँति बोध कराने के लिए, फिर वर्णन आरम्भ करते हैं।

प्रकाश की बीजभूत चिति का जो स्वकीय अन्तश्चमत्कार (पदार्थों की प्रथम शक्ति–प्रकाशनशक्ति) है, वह जीव और जीव की उपाधिभूत तन्मात्र बनकर जगत् के वेश से स्थित है ॥५४॥

तदुपरान्त चित्त से अहंकारशक्ति का स्फुरण ही स्पन्दशक्ति प्राण के साथ मिलकर जीवशब्द से कहा जाता है, ऐसा कहते हैं।

चित् का चित्त से (संकल्प द्वारा) अपनी शक्ति का विकास रूप जो अहंकार है, वह स्पन्दशक्ति प्राण से युक्त होकर भविष्य में 'जीव' नाम को प्राप्त होता है ॥५५॥

वैसा होने पर भी चित् के स्वभाव में अन्तर नहीं आता, ऐसा कहते हैं।

यद्यपि चित् का चित्त्वरूप से (जीवभाव–जगत्भावरूप से) विकास अपने विकार अहन्ता आदि से अवच्छेद्य (परिच्छेद के योग्य) होकर अपने द्वारा बनाये जानेवाले जीव आदिनामक हो गया है, तथापि उपाधि आदि से अवच्छिन्न रूप का, उपाधि के मिथ्या होने से, अस्तित्व नहीं है। जब उसका अस्तित्व है ही नहीं, तब भेद का प्रसंग कहाँ से होगा ?॥५६॥

चित्–शक्ति और स्पन्दशक्ति के भेद से चित्शक्तिरूप अहंकार और स्पन्दशक्तिरूप प्राण इन उपाधियों से युक्त जीवकृत भेद है ही, इस शंका पर कहते हैं।

चितिरूपी (चित्प्रधान) कर्ता यानी अहंकार और स्पन्दरूपी (स्पन्दप्रधान) कर्म यानी प्राण में कोई भेद नहीं है। चित् का स्पन्दमात्र ही तो कर्म (प्राण) है। क्या कर्ता भी कभी अपनी क्रिया से भिन्न होता है ? चित् और स्पन्द से संवलित ही जीव कहा गया है, अतः जीवप्रयुक्त भेद नहीं है, यह भाव है ॥५७॥

चित्त, मन, इन्द्रिय आदि भाव में भी जीवकृत भेद नहीं होता, क्योंकि जीव का उपाधिरूप मन ही विभिन्न गोलकों के (इन्द्रियों के चिह्न आँख, कान, नासिका आदि) भेद से इन्द्रियरूप हुआ है, ऐसा कहते हैं।

जीव चित् का चित्तपरिस्पंदरूप (संकल्परूप) है और पुरुषों का चित्त भी संकल्परूप ही है और मन भी तत् तत् गोलकों के भेद से इन्द्रियरूप होकर नानारूप होता है ॥५८॥

पूर्वोक्त रीति से जगत् और जीवकृत भेद का खण्डन करने पर निष्कर्ष कहते हुए उपसंहार करते हैं।

चूँकि अति तुच्छ कार्य–कारण आदिभावरूप जगत् चित् से अतिरिक्त नहीं है, अतः वह पूर्वोक्त रीति से चित्–प्रकाश की छटा(एक हिस्से) की तरह ही है, उससे भिन्न सत्ता और स्फूर्तिवाला नहीं है, इसलिए वह प्रत्यगात्मरूप ही ठहरा, यह भाव है ॥५९॥

उक्त ज्ञान होने पर सम्पूर्ण अनर्थों की निवृत्ति हो जाती है, ऐसा दर्शाते हैं।

तदनन्तर सच्चिदानन्दरूप मैं न काटा जा सकता हूँ, न जलाया जा सकता हूँ, न सड़ाया

जा सकता हूँ और न सुखाया जा सकता हूँ, मैं अविनाशी, सर्वव्यापक, स्थिर स्वभाववाला अतएव अचल (चलन आदि क्रिया से रहित) हूँ, ऐसा ज्ञान होता है ॥६०॥

यह न जानने से ही द्वैतवादी इस विषय में वादविवाद करते हैं, पर हम लोगों को इसमें विवाद नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे अपने भ्रम से (भ्रान्ति से) औरों को भ्रम में डाल रहे लोग विवाद करते हैं (✍) वैसे ही अद्वितीय अखण्ड चित्घन परमात्मा के विषय में भ्रान्त द्वैतवादी वाद-विवाद करते हैं, परन्तु हम लोग तो भ्रमरहित हो गये हैं, अतएव हमारे लिए विवाद का अवसर ही कहाँ है ॥६१॥

अज्ञ और अभिज्ञ लोगों की दृश्य प्रपंच के विषय में जो मूर्त (साकार) और अमूर्त भावना है, उसीसे उसमें सत्यत्व और असत्यत्व से उत्पन्न द्वैत और अद्वैत भेद है अर्थात् आत्मज्ञानी दृश्य को, स्वप्न की भाँति अमूर्त होने के कारण, असत्य मानते हैं, अतः उनकी दृष्टि में अद्वैत है और अज्ञानी उसे मूर्त देखने के कारण सत्य समझते हैं, अतः उनकी दृष्टि में द्वैत है, ऐसा कहते हैं।

अज्ञ लोगों की दृष्टि से मूर्त प्रतीत होनेवाले अतएव सत्य दृश्यमें विकार आदि द्वैतकी प्रतीति होती है, आत्मज्ञानी की दृष्टि से अमूर्त (निराकार) अतएव स्वतः असत्य चिदाकाशरूपी दृश्यमें विकार आदि द्वैत की प्रतीति नहीं होती है ॥६२॥ चिद्रूपी वसन्त की शोभाभूत माया दृश्यमें आसक्तिरूप (अनुरागरूप) जल के सिंचन से चित्रूपी वृक्षमें काल आदि नामक अपनी मंजरीको, जो कि आकाशमें (प्रथम उत्पन्न आकाश नामक भूतमें) विकास को प्राप्त होती है, फैलाती है। भाव यह कि जैसे वसन्तशोभा जलके सिंचन से वृक्षोमें, ऊँची ऊँची टहनियोंमे, सुन्दर बौरको उत्पन्न करती है, वैसे ही चित् की शक्ति माया दृश्य प्रपंचमें आसक्तिवश चित् में प्रथम उत्पन्न आकाश में विकास को प्राप्त काल आदि को फैलाती है ॥६३॥

जैसे ब्रह्म स्वाधीन कल्पनाओं के क्रमसे जगद्भाव और जीवभावको प्राप्त हुआ है, वैसे ही स्वाधीन बोध क्रमसे सत्-चिदानन्दनघन अपने स्वरूप में स्थित होता है, ऐसा कहते हैं।

चित् संवित् स्वयं अपने स्वरूप में किसी प्रकार का विकार आये बिना ही विचित्र आकाशके रूप में आविर्भूत होती है। तदुपरान्त चिति स्वयं ही आकाश से उत्पन्न होनेवाला वायु होकर विलक्षण स्पन्द (कम्पन) के साथ आविर्भूत होती है। तदनन्तर आगे कहे जानेवाले तेज की उत्पत्ति के उपरान्त चिति स्वयं जलतत्त्व बनकर विचित्र विकास को प्राप्त होती है। उक्त जल तलाब, तलैया आदिके जल से भिन्न था, क्योंकि पृथिवीकी सृष्टि से पहले तालाब आदिसे उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। जलकी सृष्टि होने के बाद चिति स्वयं ही सुवर्ण, रजत आदि विचित्र धातुओं से परिपूर्ण पृथिवीतत्त्व को-देवता, असुर,

✍ अथवा ऐसा अर्थ करना चाहिए - अपने भ्रमण से चक्राकार घूमने से और लोगों को भ्रमयुक्त समझ रहे भ्रमि (भ्रमण) करनेवाले लोग 'तुम भ्रमण कर रहे हो', यों विवाद करते हैं, ऐसा अर्थ भी प्रतीत होता है, क्योंकि स्वयं चक्कर खा रहे लोगों को अन्य लोग या वस्तुएँ घूमती प्रतीत होती हैं।

मनुष्य आदि के देहभाव को प्राप्त हुई ॥६४,६५॥

सम्पूर्ण जगत् को आह्लादित करनेवाला चन्द्रमा भी वह स्वयं ही हुई, ऐसा कहते हैं।

सदा उदित चिति ही स्वयं अपने विचित्र रसवाले उल्लासों से (पृथिवी में होनेवाले औषधरस भी चन्द्रमा के ही अधीन हैं, अतएव उन उल्लासों से) युक्त चाँदनी (चन्द्रमा) और महान् चिदालोकरूपी प्रकट तेज भी हुई ॥६६॥ चिति स्वयं अपने (चैतन्यरूप ब्रह्म के) ज्ञान से ही दृश्य प्रपंच के विनष्ट होने पर उदित हुए अपने पूर्ण भाव को प्राप्त होकर स्थित होती है और स्वयं ही जड़तावश स्थावर आदि जड़ पदार्थों में अहम्भाव करने से सुषुप्त पदको (अज्ञानताको) प्राप्त होती है ॥६७॥

जो बात पहले ऊपर कही जा चुकी है, उसीको संक्षेप में कहते हैं।

चिन्मय ब्रह्म ही अविचारदशा में स्पन्दस्वभाव (श्वासोच्छ्वास क्रिया करनेवाले) प्राण आदि में आत्मत्व की कल्पना करने पर यानी अज्ञानवश स्पन्दस्वभाव प्राण ही मैं हूँ, ऐसी कल्पना करने पर संसारी होता है। विचार करने से जब मैं चित् ही हूँ, यों चित्ता का उदय हो जाता है, तब अपने स्वभावभूत चित् में ही स्थित होता है ॥६८॥

चिन्मय का संसार है या नहीं है ? यदि है, तो उसमें संसारापत्ति हो जायेगी। यदि नहीं है, तो उसका असत्ता से सम्बन्ध हो जायेगा, ऐसी आशंका करके ब्रह्म की सत्ता से जगत् का सदा अस्तित्व ही है और अपनी सत्ता से तो उसका असत्त्व ही है। ऐसा कहते हैं।

जगत् चिद्रूपी तेज का आलोक रूप है, ब्रह्मसत्ता से उसका अस्तित्व ही है और जगत् सत्ता से अभाव ही है। चिद्रूपी आकाश की शून्यतारूप जगत् है भी और नहीं भी है, यानी ब्रह्मसत्ता से उसकी सत्ता है और जगत् सत्ता से अभाव है। जगत् चिद्रूपी आलोक का महान्रूपभूत है, ब्रह्मसत्तासे उसकी सत्ता है और जगत् सत्ता से अभाव ही है। जगत् चित्–रूपी वायु का स्पन्दनस्वरूप है, उसका अस्तित्व है भी और नहीं भी है यानी ब्रह्मसत्ता से उसका अस्तित्व है और जगत् सत्ता से अभाव है। जगत् चिद्रूपी सूर्यालोक (सूर्यप्रकाश) से जनित दिवसरूप है, वह है भी और नहीं भी है। यह जगत्भ्रम चिद्रूपी काजल का देवबिन्दुरूप है यानी तेलके जलने पर जैसे काजल ही अवशिष्ट रहता है, वैसे ही जगत् का बाध होने पर चिति ही अवशिष्ट रहती है इस अभिप्राय से चिति को काजल कहा है, जैसे तेल का कार्य काजल है, वैसे ही जगत् का कार्य चिति है, इस आशय से नहीं ॥६९–७१॥

यह त्रिजगत्श्रेणी चिद्रूपी अग्नि की उष्णता है यानी जैसे अग्नि का उष्णता से भेद नहीं है, वैसे ही चित् का जगत् से भेद नहीं है, जगत् चित् –रूपी शंख की शुक्लता है। और जगत् चित् रूपी पर्वत का मध्यभाग है यानी जैसे पर्वत और पर्वत के उदर में कोई भेद नहीं है, वैसे ही चिद् से जगत् भिन्न नहीं है। जगत् चिद्रूपी जल का द्रवत्वरूप है, जगत् चिद्रूपी ईख की मिठास है, जगत् चित्रूपी दूध का मक्खन है, जगत् चिद्रूपी हिम (बर्फ) की शीतलता है, जगत् चिद्रूपी ज्वालाओं का ताप है, जगत् चित्रूपी सरसों का तेल है, जगत् चित् रूपी नदी की लहर है, जगत् चिद्रूपी शहद का माधुर्य है, जगत् चिद्रूपी सुवर्ण का कंकण है,

जगत् चिद्रूपी फूलों की सुगन्धि है और चिद्रूपी लता का प्रथम फल है। चित्सत्ता ही जगत्सत्ता है और जगत् सत्ता ही चिद् का स्वरूप है ॥७२-७५॥

सर्वत्र चित् से भिन्न सत्तावान् होने से ही जगत् चिद्धर्म माना गया है, ऐसा स्पष्टरूप से कहते हैं।

जैसे आकाश में यद्यपि भ्रमवश नीलिमा की प्रतीति होती है, पर वस्तुतः वह है नहीं, वैसे ही इस चिद्घन परमात्मा में यद्यपि भ्रान्ति से भेद और विकार आदि की प्रतीति होती है, पर वस्तुतः इसमें भेद आदि है नहीं। इस प्रकार ये तीनों भुवन यद्यपि असत् हैं, तथापि पूर्वोक्त रीति से सन्मय (चिन्मय) होने के कारण ये सद् हैं, यह भाव है।

यदि पूर्वोक्त रीति से सन्मय होने के कारण ही जगत् की सत्ता है, चित् सत्ता से जगत् की सत्ता अतिरिक्त नहीं है। तो जगत् की असत्ता दूसरी हेतु होगी, इस शंका पर कहते हैं।

अधिष्ठानरूप होने के कारण कल्पित पदार्थ की सत्ता और असत्ता अभिन्न ही है। भाव यह कि कल्पित की सत्ता और असत्ता कल्पित के अधिष्ठान से अतिरिक्त कहीं नहीं देखी गई है। अतः जगत् की असत्ता अतिरिक्त पदार्थ है, यह कथन ठीक नहीं है ॥७६॥

सावयव और निरवयव पदार्थों की कैसे अभिन्न सत्ता होगी ? यों कह रहे और विद्वानों के अनुभव का अलाप कर रहे तार्किकों (नैयायिकों) को धिक्कार देते हैं।

चिन्मय में अवयव और अवयवी शब्दों का अर्थ खरगोश के सींग के समान असत् है। जिन लोगों ने विद्वानों के अनुभव के अपलाप के लिए अवयव और अवयवी इन शब्दों के अर्थों की कल्पना कर रक्खी है, उन तार्किकों को धिक्कार है ॥७७॥

उक्त विषय में युक्तिविरोध भी कहते हैं।

चिन्मय होने के कारण जिसमें पर्वत, सागर,पृथिवी, नदी-नद और उनके अधिष्ठाता देवताओं के साथ जगत् पूर्वोक्त रीति से नहीं रहता है, उसमें अन्य का (अवयव आदिका) भ्रम कैसे हो सकता है, यह भाव है ॥७८॥ शिला के (पत्थर के) हृदय के (मध्य के) समान अत्यन्त निबिड़ (ठोस) होती हुई भी चिति स्फटिक आदि के समान स्वच्छ ही है। अतएव जैसे स्फटिक शिला अपने अन्दर प्रतिबिम्बित नगर, पर्वत आदि के आकार को धारण करती है, वैसे ही वह भी शान्त (मिथ्या होने के कारण असद्रूप) सम्पूर्ण प्रपंच को चिदाकाशरूप अपने स्वरूप में धारण करती है ॥७९॥

सम्पूर्ण प्रपंच शान्त कैसे है, इस पर कहते हैं।

सम्पूर्ण पदार्थों के अधिष्ठानभूत चिदाकाश में यह भूताकाशजनित वायु आदि सम्पूर्ण प्रपंच प्रतीत होता है। जब असंगस्वभाववाले भूताकाश में ही उसके कार्य वायु आदि का सम्बन्ध नहीं है, तब चिदाकाश में इस प्रपंच के सत्ता, असत्ता, त्वत्ता, मत्ता आदि सम्बन्ध कैसे होंगे ? कदापि नहीं हो सकते ॥८०॥

ऐसा यदि है, तो चित् में असत् जगत् के आकार का भान कैसे होता है, इस पर कहते हैं।

जैसे पत्तों के अन्दर रेशों की पंक्तियों का आकार फैला रहता है, वैसे ही चिति स्वभाव से

ही अपने से भिन्न और अभिन्न रूप इस जगत् को अपने अन्दर धारण करती है यानी जैसे पत्ता रेशों की रेखाओं के समूह के आकार को जो कि पत्ते से अलग उत्पन्न न होने के कारण असत् ही है और भिन्न तथा अभिन्नरूप से पत्ते में स्थित है, धारण करता है ॥८१॥

जगत्‌रूप विकार का निर्विकार चिदाकाश उपादान है, अतएव जगत् असत् है, ऐसा अब तक कहा। अब हजारों मिथ्या विकल्परूप चित्तोंके समष्टि भूत हिरण्यगर्भ से उत्पन्न होने के कारण भी जगत् मिथ्या है, ऐसा कहते हैं।

संसार में जितने कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, उन सम्पूर्ण कार्यों के अखिल कारणों का ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) आदि कारण है, चित्त से उत्पन्न मनोरथ से होनेवाले विकल्प असत् होते हैं, अतएव चित्त स्वभाव से ही कारण अभावरूप है (कारण नहीं है)। उक्त कारण अभावरूप चित्त ही ब्रह्मा है। अतः यह सिद्ध हुआ कि जैसे चित्त के कार्यभूत मनोरथ से होनेवाले विकल्प असत् हैं, वैसे ही उक्त ब्रह्मा से उत्पन्न जगत् मिथ्या है। यदि किसी को यह शंका हो कि चेत्य के (जगत् के) असत् होने पर चित् का भी असत्त्व हो जायेगा, क्योंकि चित् स्वस्वरूपभूत चेत्यसे अतिरिक्त नहीं है, इस पर कहते हैं कि चित् की असत्ता वाणी मात्र से भी सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि चित् अनुभव से सिद्ध है। अनुभव से विरुद्ध अर्थ में वाणी प्रमाण नहीं होती, यह भाव है ॥८२,८३॥

यदि जगत् स्वतः (अपनी सत्ता से न कि ब्रह्मसत्ता से) सत् होता, तो ज्ञान आदि सहस्त्रों उपायों से भी उसका विनाश कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि सत् का आत्यन्तिक (समूल) विनाश तो कभी हो ही नहीं सकता। ऐसी दशा में उसके पुनः आविर्भाव का वारण न हो सकने से कभी किसी का मोक्ष ही नहीं हो सकेगा, इस आशय से कहते हैं।

जो है, उसका बीज से अंकुर की नाईं अवश्य ही उदय होता, यह बात एक बार नहीं हजारों बार देखी गई है, इससे यह सिद्ध हुआ कि जगत् की स्वतः सत्ता नहीं हैं ॥८४॥

यदि दृश्य प्रपंच की सत्ता में आपका बड़ा ही आग्रह हो, तो अनुभव से (ज्ञान से) चित् और दृश्य के भेद को हटाकर दृश्य को परमपदरूप चिन्मय जानकर उक्त चिन्मय की सत्ता से ही दृश्य के भेद को हटाकर दृश्य को परमपदरूप चिन्मय जानकर उक्त चिन्मय की सत्ता से ही दृश्य की सत्ता को स्वीकार कीजिये, ऐसा कहते हैं।

हे रामजी, गगन में सर्वथा भेदशून्य गगन के समान इस महाचिति में सर्वथा भेदरहित यह त्रिभुवन है। इसलिए आप अनुभव से यह सम्पूर्ण दृश्य परमपदरूप चिन्मय है, ऐसे निश्चयवाले होइए। मुनि के इत्यादि कह चुकने पर दिन बीत गया। सूर्य अस्ताचल को चले गये। मुनियों की सभा सायंकाल के आवश्यक सन्ध्योपासना, अग्निहोत्र आदि कर्म करने के लिए स्नानार्थ उठ गई रात्रि के बीतने पर प्रातःकाल सूर्य के उदय होते ही पुनः मुनियों की सभा आकर बैठ गई ॥८५,८६॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

बार-बार दृष्टान्त और विविध युक्तियों द्वारा चित् और चेत्य के अभेद का ज्ञान कराने के लिए मण्डपाख्यान का आरम्भ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुवर, यह जगत् चिदाकाशरूप ही है।

शंका : यदि यह चिदाकाशरूप ही है, तो इसकी पृथक् प्रतीति कैसे होती है ?

समाधान : जैसे निर्मल आकाश में भ्रमवश मोतियों का समूह प्रतीत होता है वैसे ही भ्रमवश इसकी भी पृथक् प्रतीति होती है। चिदाकाशरूप आत्मा ही जैसे जगत् हुआ है, वैसे दृष्टान्त मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये ॥१॥ त्रिजगत्रूपी प्रतिमा गढ़े बिना ही प्रतीत-सी होती है, क्योंकि जैसे पत्थर के खम्भे में प्रतिमा गढ़े बिना ही प्रतीत-सी होती है, क्योंकि जैसे पत्थरके खम्भे में प्रतिमा गढ़ी जाती है वैसे चित्रूपी खम्भे में न तो वह (त्रिजगत्रूपी प्रतिमा) गढ़ी गई है और न उसका कोई गढ़ने वाला शिल्पी ही है। भाव यह कि प्रथम तो चित् से अतिरिक्त कोई चेतन प्रसिद्ध ही नहीं है, जो चित्रूपी खम्भे में उसे गढ़े और दूसरी बात यह भी है कि निर्विकार और असंग चित्रूपी खम्भे का पत्थर के खम्भे के समान उत्कर्तन (तराशना) नहीं हो सकता ॥२॥ जैसे समुद्र में जल का स्पन्द (स्फुरण) जलस्वभाव से च्युत हुए बिना ही लहर-सा प्रतीत होता है, वैसे ही चिन्मय ब्रह्म में भ्रमवश जगत् की प्रतीति होती है ॥३॥

यद्यपि मूढ़ पुरुषों की दृष्टि में जगत् विशाल प्रतीत होता है, पर वास्तव में, विद्वानों की दृष्टि में, ऊँचे झरोखों और चिमनियों की राह से घर में पैठे हुए दण्डाकार सूर्य-किरणों में नाच रहे अणुओं से भी जगत् छोटा है, ऐसा कहते हैं।

जैसे अणुओं की अपेक्षा पहाड़ स्थूल (विशाल) हैं, वैसे ही जगत्प्रतीति की अपेक्षा झरोखे से अन्दर पैठी हुई धूप का झरोखे के छेद के अनुसार बना हुआ दण्ड और मूसल के समान जो आकार है, उसमें दिखाई देनेवाले अत्यन्त छोटे-छोटे कण भी स्थूल हैं। जब इतने सूक्ष्म रजकण जगत् के भान की अपेक्षा स्थूल हैं, तब उसकी अपेक्षा औरों के स्थूलतम होने में तो सन्देह ही क्या है ? (✍) ॥४॥

उक्त अर्थ की ही उपपत्ति करने के लिए जगद्प्रतीति और चित् में सूर्य की दीप्ति और उसमें स्थित अणुओं से विलक्षणता दर्शाते हैं।

ब्रह्म से पृथक्रूप से यानी ब्रह्म के भेद से जगत् का भान नहीं होता, परन्तु झरोखे से भीतर पैठा हुआ सूर्य का किरण समुदाय और उसमें स्थित अणुओं का समुदाय भेद की

✍ उक्त श्लोक का संस्कृत टीकाकारों ने निम्नलिखित अर्थ भी किया है : जगत का प्रकाशक साक्षीरूप चित् प्रकाश सूर्य के प्रकाश से और उसके अंदर प्रतीत होनेवाले अणुओं से भी सूक्ष्म है। झरोखे से अंदर पैठी हुई सूर्य की दीप्ति से (धूप से) और झरोखे के छेद के अनुसार दंडाकार बनी हुई धूप में स्थित रजकणों से भी जगत का अवभासक चित्रूप साक्षी सूक्ष्म है, ऐसा सूक्ष्म जैसे कि पर्वतों की अपेक्षा परमाणु सूक्ष्म है।

प्रतीति कराता है ॥५॥

ब्रह्म के भेद से जगत् का भान नहीं होता है, इस कथन में प्रत्यक्षानुभव से विरोध का परिहार करते हैं।

जैसे स्वप्न और संकल्प (मनोरथ) में अनुभूत घट, पट आदि पदार्थ जाग्रत के पदार्थ जैसे पार्थिव (भौतिक) नहीं होते, वैसे ही चिदाकाशरूपी परब्रह्म में प्रतीत होते हुए भी ये जगत् पृथिवी आदिरूप (भौतिक) है ही नहीं। जैसे मरुभूमि में नदी के समान प्रतीत हो रहीं सूर्य की किरणों में (मृगतृष्णा में) कदापि जलका संभव नहीं है वैसे ही विज्ञानाकाशरूपी (चिदाकाशरूपी) इस जगत् में मूर्तता का (साकारता का) स्वीकार कदापि नहीं हो सकता ॥६,७॥ जैसे मरुभूमि में भ्रान्तिरूपिणी नदी प्रतीत होती है, वैसे ही पूर्वोक्त रीति से आकार रहित अतएव मनोरथ से कल्पित नगर के तुल्य इस जगत् में भ्रान्तिरूपिणी (भ्रमवश) दृश्यता प्रतीत होती है ॥८॥ जगत् की जो दृश्यता है, साक्षीरूप चैतन्य में एक ओर उसे और दूसरी ओर स्वप्न को रख कर सार और असार का विवेक करने वाले बुद्धिरूप काँटे (तुला) से तोला जाय, तो जैसे जाग्रत में स्वप्न कल्पनाशून्य (असत्) हो जाता है, वैसे ही कल्पनाशून्य होकर वही शून्यरूप से या ब्रह्मरूप से प्रतीत होती है ॥९॥

अज्ञानियों की दृष्टि से ही ब्रह्म आदि शब्दों के अर्थ से जगत् शब्दके अर्थ का भेद है, तत्त्वज्ञानी लोगों की दृष्टि से नहीं, ऐसा कहते हैं।

जगत्शब्द के अर्थ के भाजन अज्ञ लोगों के विज्ञान के सिवा जगत् , ब्रह्म और आत्मशब्दों के अर्थ में कोई भी भेद नहीं है, भाव यह कि जगत्शब्द का ब्रह्मशब्द के अर्थ से अतिरिक्त अर्थ अज्ञानियों को प्रतीत होता है, पर वास्तव में जगत्, ब्रह्म और स्व (आत्म) शब्दों के अर्थ में भेद है ही नहीं ॥१०॥

जब जगत् और ब्रह्म में कोई भेद ही नहीं है, तब तत्त्वज्ञानियों को जगत् की अपेक्षा (जगत् से अतिरक्त) जगत् के साक्षी का दर्शन कैसे होता है, ऐसी शंका होने पर जैसे शून्यरूप आकाश सूर्य प्रकाश प्रतीत होता है, वैसे ही शून्य रूप जगत् के प्रति तत्त्वज्ञानियों का जगत्–साक्षी–दर्शन है ऐसा कहते हैं।

जैसे रूप शून्य आकाश के प्रति सूर्य का प्रकाशकत्वदर्शन है, वैसे ही अचेतन (चेत्यसंसर्गरहित) चिन्मात्ररूप इस जगत् के प्रति इसके साक्षी का भान होता है।

शंका – तब साक्षी चैतन्य की अपेक्षा (साक्षीचैतन्य से अतिरिक्त) जगत् की प्रतीति कैसे होती है ?

समाधान – जैसे संकल्प से कल्पित मेघ सत्यमेघ के प्रति (असत्) है, वैसे ही जगत्–दर्शन चैतन्य के प्रति (असत्) है ॥११॥

यदि शंका हो कि दृश्य अत्यन्त मलिन है, वह अति स्वच्छतम चिन्मात्र कैसे हो सकता है ? तो इस पर प्रतीति काल में ही बाह्य (बाहर के) और आन्तर (मानसिक) दृश्यों की मलिनता प्रतीत होती है। जब उनका तिरोभाव हो जाता है, तब परस्पर की अपेक्षा यानी

मलिनता और स्वच्छता दो में से केवल स्वच्छतमता ही शेष रह जाती है, ऐसा कहते हैं।

जैसे जाग्रत्काल के सुन्दरनगर के प्रति स्वप्न का नगर स्वच्छ है, वैसे ही संकल्प से उत्पन्न (काल्पनिक) और स्वाप्निक जगत् के प्रति यह जाग्रत् प्रपंच भी स्वच्छ है। भाव यह कि इसकी अस्वच्छता तभी तक है जब तक यह प्रतीत होता है। इसका तिरोभाव होने पर परम स्वच्छता ही शेष रह जाती है। अतएव अत्यन्त मलिन दृश्य की अति स्वच्छतम चिन्मात्रता कैसे ? इस शंका के लिए अवसर ही नहीं है ॥१२॥ इस कथन से यह निष्कर्ष निकला कि अचेत्य (चेत्यभिन्न) चिद्रूप यह जगत् केवल व्योम (आकाश) ही है। चिन्मय व्योम और जगत् शब्द पर्यायवाची हैं। इनका चित् से अतिरिक्त कोई अर्थ नहीं है ॥१३॥ इसलिए यहाँ जगत् आदि कुछ भी दृश्य उत्पन्न नहीं हुआ है, नाम और रूप से रहित चिद्रूप ब्रह्म ज्यों–का–त्यों (स्वरूप में किसी प्रकार के विकार से रहित) स्थित है ॥१४॥ उक्त रीति से मायारूप आकाश में स्थित यह जगत् आवरण शून्य चिदाकाश ही है। यह चित् से अणुमात्र भाग का और अणुमात्र परिमाण का पूरक (पूर्तिकरनेवाला) नहीं है। भाव यह कि परिच्छिन्न जगत् का चित् से अभेद मानो, तो चित्त की भी परिच्छन्नजगन्मात्रता हो जायेगी, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म अन्तःकरण की वृत्ति और चित्त की वासना से परिच्छन्न सूक्ष्मतम चिद्भाग में भी सम्पूर्ण जगत् के परिच्छेद का भान होता है, इस कारण उक्त अणुतम चेतन में समा सकने योग्य जगत् जब उक्त अणुतम चित् का पूरक नहीं होता, तब अखण्ड ब्रह्मचैतन्य का वह पूरक हो और उससे ब्रह्म में परिच्छिन्नजगन्मात्रता है यह तो अत्यन्त असंभव है ॥१५॥

यदि किसी को शंका हो कि विशालतम जगत् आकाश के समान शून्यप्राय चित्त की वासनाओं में कैसे अन्तर्भूत हो सकता है, तो इस पर कहते हैं।

आकार के स्वीकार से रहित (अमूर्त) यह जगत् स्वच्छ आकाश रूप ही है, यह आकाश में मनोरथ से कल्पित (काल्पनिक) विचित्र नगर की नाईं आकाश में स्थित है ॥१६॥

पूर्व में जो उपदेश दिया गया है, उसके विषय में रामचन्द्रजी को सन्देह, अज्ञान और अनिश्चय है, यह रामचन्द्रजी की चेष्टाओं से जानकर उन्हें दूर करने के लिए श्रीवसिष्ठजी उक्त अर्थ की उपपत्ति करनेवाली सैकड़ों कथाओं से युक्त मण्डपाख्यान को सुनाने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।

हे रामजी, इस विषय में आप कानों का विभूषण रूप मण्डपाख्यान को सुनिये, जिससे मेरे द्वारा उपदिष्ट यह विषय आपके चित्तमें बिना किसी सन्देह के बैठ जायेगा ॥१७॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, सत्–चिदानन्दमय ब्रह्म के बोध की सिद्धि के लिए सम्पूर्ण मण्डपाख्यान संक्षेप से शीघ्र मुझसे कहिये, जो कि बोध की वृद्धि करता है ॥१८॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, प्राचीन काल में इस भूतल में पद्म नामका राजा हुआ। वह राजा था इसलिए लक्ष्मी की उसके पास कोई कमी न थी, उसके पुत्र भी बहुत थे और वह विवेकी भी था। जैसे खिला हुआ कमल तालाब को सुगन्धित करता है और उसकी शोभा बढ़ाता है, वैसे ही वह भी अपने कुल की कीर्ति रूपी सुगन्धि और सुन्दरता

का हेतु होने से कुल रूपी सरोवर का प्रफुल्ल कमल था ॥१९॥ जैसे समुद्र अपनी वेलारूपी मर्यादा का पालन करते हैं, कभी उसका उल्लंघन नहीं करता, वैसे ही वह अपनी वर्णाश्रम मर्यादा का पालन करता था, जैसे सूर्य अन्धकार का विनाशक है, वैसे ही वह अपने शत्रुओं का विनाशक था, जैसे चन्द्रमा कुमुदिनी को (कुईं को) प्रफुल्लित करता है, वैसे ही वह अपनी सहधर्मिणीरूपी कुमुदिनी को प्रफुल्लित (प्रसन्न) रखता था, जैसे अग्नि तिनकों को भस्म कर देती है वैसे ही वह दोषों का शत्रु था, जैसे सुमेरु पर्वत देवताओं का आश्रय (निवासस्थान) है वैसे ही वह विद्वद्वृन्द का आश्रय था, संसाररूपी सागर में उसके यशरूपी चन्द्रमा की चाँदनी सदा छिड़की रहती थी, जैसे मानसरोवर हंसों का आवासस्थान है वैसे ही वह व्यास दाक्षिण्य आदि सद्गुणों का आवास था, जैसे निर्मल (मेघमुक्त) सूर्य कमलों को विकसित कर देता है, वैसे ही वह कमल को (राजलक्ष्मी को) विकसित करता था यानी उत्कर्ष को पहुँचता था। जैसे वायु लताओं को कँपा देता है, वैसे ही वह संग्रामभूमि में लता तुल्य अपने शत्रुओं का हृदय दहला देता था, अतएव वह रणगर्वित शत्रुके मनरूपी हाथी के मर्दन में सिंहसदृश था (अथवा जैसे सिंह हाथी को अपने चंगुल में कर लेता है, वैसे ही वह अपने मन को अपने वश में रखनेवाला था), वह सम्पूर्ण विद्याओं का प्यारा था और सम्पूर्ण चमत्कारमय गुणों का आगार (खान) था। जैसे समुद्रमंथन के समय घूम रहे (नाच रहे) मन्दराचल ने समुद्र को विक्षुब्ध (विलोडित) कर दिया था, वैसे ही उसने दैत्यों की सेना को अनेक बार विक्षुब्ध कर दिया था (मथ डाला था), जैसे वसन्तु ऋतु विविध प्रकार के फूलों की जननी है, वैसे ही वह विविध विलासों का जनक था और सुन्दरता में दूसरा कामदेव था, जैसे वायु लता के मन्द–मन्द नर्तन का हेतु है वैसे ही वह विविध लीलाओं के विलास का हेतु था, जैसे भगवान् श्रीहरि ने अन्य लोगों से असाध्य पृथिवी का उद्धार आदि कठिन कार्य किये थे, वैसे ही अन्य लोगोंसे असाध्य कठिन से कठिन कार्य करने में वह कटिबद्ध रहता था, जैसे चन्द्रमा कुमुदिनी को विकसित करता है, वैसे ही वह सज्जनता को विकसित करता था और जैसे अग्नि तुच्छ लताओं को जला डालती है, वैसे ही वह दुष्टतारूपी विषलताओं का दाहक था। राजा पद्म की स्त्री का नाम लीला था। वह वनितोचित सम्पूर्ण विलासों में दक्ष और बड़ी सुन्दरी थी। वनिताओं के सम्पूर्ण सौभाग्य उसे प्राप्त थे, अतएव वह पृथिवी में अवतीर्ण दूसरी लक्ष्मी थी। लीला पतिसेवा के जितने प्रकार हो सकते हैं, उन सबमें निपुण थी और बड़ी मधुरभाषिणी थी। उसका आनन्दपूर्वक मन्द–मन्द गमन था और रूप दूसरे चन्द्रमा के उदय के सदृश उज्ज्वल था। उसका कमल–सा मुँह भ्रमर जैसे अलकों से अतिमनोहर लगता था, उसका शरीर बड़ा गौर था और उसमें कान के आभूषणों की दीप्ति से पीली छटा छटकती थी अतएव वह कर्णिका से (कमल के बीच के हिस्से से) पीली तथा चलने–फिरने वाली सफेद कमलिनी सी प्रतीत होती थी। जैसे मूर्तिमती वसन्त शोभा रसशालिनी (फूलों के रस शहद से शोभित होने वाली) होती है, वैसे ही वह भी रसशालिनी (अपने पति पर अत्यधिक प्रेम से शोभित

होनेवाली) थी, जैसे वसन्तशोभा प्रवालहस्ता और पुष्पाभा (प्रवाल–पल्लव ही जिसके हाथ हैं और पुष्प ही जिसकी कान्ति है।) होती है, वैसे ही वह भी प्रवालहस्ता और पुष्पाभा (पल्लव के सदृश रक्त हाथवाली और फूलों की कान्ति की नाईं कान्तिवाली) थी। जैसे गंगाजी का जल अतिनिर्मल होता है, वैसे ही उसकी देह निर्मल थी, जैसे ब्रह्मद्रवस्वरूप गंगाजी के जल के स्पर्श से आनन्द (जन्ममरणजनित क्लेश से मुक्ति) होता है, वैसे ही उसके स्पर्श से आनन्द होता था, गंगाजल के समान वह पवित्र थी और जैसे गंगाजी हंस विलासिनी (जिसमें हंस क्रीड़ा करते हैं) हैं, वैसे ही वह भी हंसविलासिनी (हंसगति) थी, अतएव वह भूमि में अवतीर्ण मूर्तिमती गंगाजी ही थी। सबको आनन्द देनेवाला राजा पद्म भूतल का कामदेव (🔥) था, उसकी चिरकाल तक सेवा शुश्रुषा करने के लिए मानों वह दूसरी रति उत्पन्न हुई थी। पतिपरायणा लीला राजा के दुःख में दुःखी होती थी, सुख में सुखी होती थी, राजा की चिंता से चिन्तायुक्त होती थी, सचमुच वह राजा के प्रतिबिम्ब के सदृश थी, परंतु जब राजा कभी क्रुद्ध होते थे, तो वह केवल भयभीत ही होती थी, क्रुद्ध नहीं होती थी, एकमात्र इसी अंश में उसमें प्रतिबिम्बतुल्यता न थी ॥२०–३१॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

कितने ही विषयों का भोग क्यों न किया जाय, पर उनसे तृप्ति कदापि नहीं हो सकती और अन्त में दुःख ही रहता है। यदि देवता भी चाहें कि विषयभोग से तृप्ति हो और दुःख शेष न रहे, तो वे भी इस विषय में सफल नहीं हो सकते औरों की बात ही क्या है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, लीला बड़ी पतिपरायणा नारी थी, पति के सिवा अन्य किसी में उसका प्रेम न था। उस अनन्यप्रिया नारी के पति राजा पद्म ने भूतल की अप्सरा अपनी प्रिया लीला के साथ प्रेमपूर्वक नीचे कहे जानेवाले उद्यान आदि विविधस्थानों में खूब विहार किया। ऐसा विहार कि इसमें बनावटी प्रेम की गन्ध भी न थी। वाटिका–बगीचों के निकुंजों में, तमाल के घने वनों में, लताओं से वेष्टित वनों में जोकि फूलों से आच्छादित होने से बड़े रमणीय लगते थे, अन्तःपुर में सजी फूलों की शय्या में, विविध प्रकार के फूलों से सुशोभित गलियों में, वसन्त ऋतु में बगीचों में डाले गये हिंडोलों में, जल–क्रीड़ा के लिए बने हुए पोखरों में, चन्दन–वृक्षों से अलंकृत पर्वतों में, सन्तानक वृक्षों की (एक प्रकार के कल्पवृक्षों की (卐)) छाया में, कदम्ब वृक्षों के गृहों में, नीम की सुखद छाया में, कोकिल की काकली से गुलजार और खिले हुए कुन्द और पारिजात के फूलों की भीनी सुगन्ध से मन को हरनेवाले वसन्त ऋतु के वनों में, अनेक वनों के मुलायम तृणों से आच्छन्न मैदानों में, इधर–उधर

🔥 राजा पद्म सौन्दर्य में कामदेव के तुल्य था, पर कामदेव वियोगियों को दुःख देता है, पर वह सभी को आनन्द देता था, इससे वह कामदेव से विशिष्ट था।

卐 उक्त कल्पवृक्ष राजापद्म को अपने प्रभाव से या इन्द्र के प्रसाद से प्राप्त हुए थे।

छनक रहे बड़े–बड़े जलकणों की तेजवृष्टि करनेवाले झरनों में, अनेक पर्वतों के मणि, माणिक्यमय शिलाखण्डों में, देवता और ऋषियों के आवासभूत दूर–दूर के पवित्र आश्रमों में, चाँदनी से संफुल्ल कुमुद्वतियों में (खिली कुईं से भरे तालाबों में), सूर्यातप से विकसित कमलिनियों में (कमल के तालाबों में), काले कालीन के समान मृदु दूर्वांकुरों से आच्छन्न, भाँति–भाँति के फूलों से व्याप्त तथा विविध फलों से लदे वृक्षों से सुशोभित वनोंमें सुरतों से, विविध विषयों के अभिलाषों से, आपस के निबिड़ प्रेम रस से प्रचुरमात्रा में होने वाले हाव भावों से, ग्रामीण किस्से–कहानियों से, ऐतिहासिक उपाख्यानों से, पासा, चौपड़, शतरंज आदि विविध प्रकार से द्यूतों से, नाटिकाओं आख्यायिकाओं और विद्वानों की ही समझ में आनेवाले (गूढ़ाशय) श्लोकों की विविध मालाओं के वेष्टनों से, अंगों में भाँति–भाँति के आभरणों के विन्यास से, विलासपूर्वक चंचल गमनों से, विचित्र रसवाले भोजनोंसे, आर्द्र कुमकुम (केसर) और कर्पूर से युक्त ताम्बूलों के चर्वणोंसे, फूलों, लताओं और गुंजाओं से जिनमें देह का आच्छादन किया जाता है ऐसे नख के व्रणों से, दौड़कर एक दूसरे को छूना आदि नाना क्रीड़ाओं से, माला द्वारा परस्पर प्रहार करने से, घर में पुष्पों से सुशोभित हिंडोले में अन्योन्य झूलने से, नौका विहार, हाथी, घोड़ों और शिक्षित ऊँटों की सवारी से, जलक्रीड़ा से, आपस में एक दूसरे पर जलप्रक्षेप से, नृत्य, गीत, लास्य तथा ताण्डव से विभूषित और वीणा, ढोल आदि वादन से युक्त संगीत से, गीत, कथा और आलापों से तथा उद्यानों में, नदी तीर के वृक्षों में, सुन्दर वीथियों में, अन्तःपुर में और महल में फूलों से सुसज्जित दोलाओं द्वारा झूलने से देवताओं की तरुणता के सदृश तरुणता से सुन्दर राजा पद्म ने भूतल की अप्सरा लीला के साथ प्रेमपूर्वक विहार किया। इस प्रकार सुख में पली हुई राजा पद्म के प्राणोंसे भी प्रिय मृगनयनी लीला ने एक समय विचार किया कि यह युवा और अत्यधिक सुन्दर पृथ्वीपति मेरा प्राणों से भी प्रिय पति है, यह कैसे अजर और अमर हो ? विशालस्तनवाली मैं फूलों की सेज से सुशोभित महलों मे इसके साथ सैकड़ों युगो तक अपनी इच्छा के अनुसार कैसे विहार करूँ ? आज से लेकर तप, जप, यह, यम–नियम आदि चेष्टाओं से मैं वैसा प्रयत्न करती हूँ जैसे कि यह चन्द्रवदन राजा अजर और अमर हो जाय। मैं ब्रह्मज्ञानी, तपस्वी और विद्यावृद्ध ब्राह्मणों से पूछती हूँ कि मनुष्यों का मरण कैसे नहीं होगा, ऐसा विचार कर उसने ज्ञानी वृद्ध विद्वानों को बुलाया और उनकी पूजा कर उनसे बड़े विनय से बार–बार पूछा : पूज्यवृन्द, मेरा और मेरे पति का अमरत्व कैसे होगा ? ॥१–२३॥ ब्राह्मणों ने कहा : देवि, तप, जप, यम–नियमों से सिद्धों की सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती है, पर अमरत्व कदापि प्राप्त नहीं हो सकता ॥२४॥ ब्राह्मणों के मुख से यह बात सुनकर अपने प्रिय के वियोग से भयभीत लीला ने अपनी बुद्धि से ही फिर यह बात विचारी कि यदि दैवयोग से पति से पहले मेरा शरीर छूट गया, तो मैं सम्पूर्ण दुःखों से निर्मुक्त होकर आत्मा में सुखपूर्वक स्थित हो जाऊँगी। यदि मेरा पति मुझसे हजार वर्ष पहले मर गया, तो मैं वैसा प्रयत्न करूँगी जैसे कि उसका जीव घर से बाहर नहीं जा सकेगा ॥२५–२७॥ मेरे पति का जीव जिसमें घूमता रहे, ऐसे अन्तःपुर के खण्ड में सदा भर्ता

द्वारा देखी जाती हुई मैं सुखपूर्वक निवास करूँगी ॥२८॥ अपने इस संकल्प की सिद्धि के लिए आज से ही मैं ज्ञान रूपा सरस्वती देवी का जप, तप आदि से, जब तक वह प्रसन्न न हो, पूजन करती हूँ ॥२९॥ ऐसा विचार करके वह सुन्दरी अपने पति से पूछे बिना ही विधिपूर्वक (✍) उग्र तपस्या करने लगी। तीसरी–तीसरी रात के बाद वह सदा पारणा करती थी, देवता, ब्राह्मण, गुरु, विद्वान् और ब्रह्मज्ञानी लोगों की पूजा में तत्पर रहती थी ॥३०,३१॥ इस कर्म का फल अवश्य होगा, ऐसी आस्तिकबुद्धि और सदाचार सम्पन्न तथा क्लेश का निवारण करनेवाली लीला ने अपने शरीर को स्नान, दान, तपस्या और ध्यान में सदा तत्पर कर दिया। वह पहले जैसे समयमें, जैसी लगन से, जैसी शास्त्र की विधि के अनुसार और जैसे क्रम से पति की सेवा–शुश्रुषा करती थी उसमें किसी प्रकार का हेर फेर किये बिना पति को सन्तुष्ट करती गई। लेकिन उसने पति के समक्ष अपने उपवास का भेद प्रकट नहीं किया ॥३२,३३॥ इस तरह नियमपूर्वक रह कर पतिपरायणा उस नारी ने जब तक सौ त्रिरातव्रत पूर्ण नहीं हुए, तब तक लगातार क्लेश के साथ तपस्या की। सौ त्रिरात्रव्रतों की पूर्ति होने पर लीला द्वारा अर्ध्य, पाद्य, स्नान, गन्ध, पुष्प आदि बाहरी उपचारों से पूजित और ध्यान आदि भीतरी उपचारों से सत्कृत भगवती सरस्वती ने प्रसन्न होकर उससे कहा : वत्से, तुम्हारी अविच्छिन्न (अटूट) और पतिभक्ति से ओतप्रोत (सराबोर) तपश्चर्या से मैं तुम पर अति प्रसन्न हूँ, अतः तुम्हें जिस वस्तु की चाह हो, वह मुझसे लो ॥३४,३५॥ रानी ने कहा : भगवती आप जन्म और जरारूपी अग्नि की ज्वालाओं से उत्पन्न सन्तापरूपी रोग को दूर करने के लिए शीतल चन्द्रकान्ति (चाँदनी) रूप हैं, आपकी जय हो यानी आपके चरणों में मेरा विनम्र प्रणाम है। माता, आप निबिड़ हृदयान्धकार (अज्ञान) रूपी अन्धकार का विनाश करने में सूर्य–प्रकाश के तुल्य हैं। माँ, हे सारे जगत् की माँ, मैं बड़ी दीन–हीन हूँ, मेरी रक्षा कीजिये। हे देवी, ये दो वर मुझे दीजिये, जिनकी मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ। माँ, उनमें से पहला वर तो यह कि जब मेरे पतिदेव का शरीर छूट जाय, तब उनका जीव मेरे इसी अन्तःपुर के प्रासाद (महल) से बाहर न जाय। हे महादेवी, दूसरा यह कि जब जब वरदान के लिए आपके दर्शन की मैं प्रार्थना करूँ, तब तब आप मुझे दर्शन दे ॥३६–४०॥ यह सुनकर जगत् की माँ सरस्वती, जैसा तुम चाहती हो तुम्हारी इच्छानुसार वैसा ही हो, ऐसा स्वयं कह कर, जैसे समुद्रमें लहर उठ कर

✍ 'या स्त्री भर्त्राऽननुज्ञाता उपवासव्रतं चरेत्। आयुष्यं हरते भर्तुर्मृता नरकमृच्छति ॥' (जो स्त्री पति की आज्ञा के बिना उपवास व्रत करती है, वह पति की आयु को हरती है और मर कर नरक में गिरती है) इत्यादि स्मृतियों द्वारा स्त्री का पति की आज्ञा प्राप्त किये बिना उपवासव्रत आदि निन्दित है अतः उसे यथाशास्त्र (विधिपूर्वक) कैसे कहा? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'प्रत्यक्षं व परोक्षं वा सदा भर्तुहितं चरेत्। व्रतोपवासानयमैरुपचारैश्च लौकिकैः ॥' (स्त्री प्रत्यक्ष में अथवा परोक्ष में व्रत, उपवास, नियम और लौकिक उपचारों से सदा पति का हित करे) इस स्मृति के अनुसार यह सिद्ध है उक्तशास्त्र में कही गई निन्दा पतिहित से अतिरिक्त अपने काम्य उपवासों के लिए है, अतः कोई दोष नहीं है।

विलीन हो जाती है, वैसे ही अन्तर्धान हो गई ॥४१॥ इष्टदेवी के सन्तुष्ट होने के उपरान्त वह राजमहिषी जैसे गीत सुनने से हिरनी मारे खुशी के फूली नहीं समाती, वैसे ही मारे खुशी के आनन्द से विभोर हो गयी ॥४२॥ पक्ष (पखवाड़ा) जिसका नेमिटक (अन्तिम गोलाकार हिस्सा) है, मास(महीना) जिसका मध्यकटक (बीच का गोलाकार हिस्सा) है और ऋतु जिसका नाभिकटक (बीच का गोलाकार हिस्सा है) है, दिन जिसके आरे हैं यानी पहिये में लगी तिरछी सीकचें है और वर्ष जिसका अक्षदण्ड है और क्षण जिसकी नाभि (बीच का छेद) है, ऐसे वेग गामी कालरूपी चक्र (पहिये) के चलने पर अर्थात् क्षण, दिन, पक्ष, मास, ऋतु और वर्ण के क्रम से काल बीतने पर सूखे पत्ते के रस के समान उसके पति की चेतना देखते–ही–देखते शरीर में अन्तर्हित हो गयी। रणभूमि में शत्रुओं के प्रहारों से घायल राजा अन्तःपुर में मर गया। राजा के मरने पर रानी लीला जैसे जल न रहने से कमलिनी मुर्झा जाती है, वैसे ही अत्यन्त, म्लानवदन हो गई। विष के तुल्य उष्ण निःश्वास से उसका किसलय (नई कोंपल) सदृश अधरपल्लव कुम्हला गया, वह बेचारी बाण से विध्ध होने के कारण छटपटा रही हिरनी के समान मरणावस्था को प्राप्त हो गई। जैसे जले दीपक के प्रकाश से सुशोभित घर दीपक के बुझ जाने पर अन्धकार से व्याप्त हो जाता है, वैसे ही राजा के मर जाने पर रानी लीला अत्यन्त शोकाकुल हो गई। जैसे प्रवाह के सूख जाने पर नदी क्षीण हो क्षार से यानी रेह से धूसर हो जाती है, वैसे ही पतिके नष्ट होने पर वह सुन्दरी हतप्रभ हो क्षण भर में कृश हो गई। पहले पति का सम्मान करनेवाली और पति की मृत्यु से मरने को तैयार वह वियोगिनी बाला चकवी की नाईं क्षण में विलाप करती और क्षण में मूक हो जाती। तदुपरान्त जैसे तालाब के सूखने से व्याकुल हुई मछली के ऊपर ग्रीष्म के अन्त में हुई पहली वृष्टि कृपा करती है, वैसे ही पति की मृत्यु से अत्यन्त व्याकुल रानी लीला के ऊपर आकाशवाणी ने कृपा की, कारण कि पहले अनेक जन्मों से आराधित होने के कारण वह उसके ऊपर कृपालु थी ॥४३–५०॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

अन्वय और व्यतिरेक द्वारा नूतन वर्तमान और प्राक्तन पूर्वजन्म की सृष्टियों की, केवल मनोविलास होने से, तुल्यता का प्रतिपादन।

सरस्वती ने कहा : वत्से, अपने पति के शव को फूलों के ढेर में छिपाकर रक्खो। ऐसा करने से फिर तुम इस पतिको प्राप्त करोगी। न तो फूल ही मुर्झायेंगे और न तुम्हारे पतिका यह शव ही विनष्ट होगा याने सड़ेगा या सूखेगा। फिर यहाँ थोड़े दिनों में तुम्हारा स्वामी बन जायेगा और इसका जीव, जो कि आकाश की नाईं निर्मल है, तुम्हारे अन्तःपुरके प्रासाद से शीघ्र बाहर नहीं निकलेगा ॥१–३॥ आकाशवाणी का उक्त वचन सुनकर जैसे जलके सूख जानेसे मुर्झा रही कमलिनीको नई वृष्टिका जल तसल्ली देता है, वैसे ही भ्रमरोंके सदृश नेत्रवाली रानी लीलाके पास आकर उसके बन्धु–बान्धवोंने उसे धैर्य दिया ॥४॥

फूलों के ढेर में प्रच्छन्न अपने पति के शव को अन्तःपुर में ही रखकर कुछ धैर्य को प्राप्त हुई रानी लीला निधि से युक्त होने पर भी निधिके अपने उपयोग में न आने के कारण भोग, ऐश्वर्य से वंचित दरिद्रा–सी रही। भाव यह कि निधि के रहनेपर भी कारणवश उसके उपयोग में न आने के कारण जैसे निधानिनी दरिद्रा (भोगैश्वर्य से वंचित) रहती है, वैसे ही पति के रहने पर भी निश्चेष्ट होने के कारण उपयोग में न आने से वह भोगैश्वर्य से वंचित रही। लीला ने मारे क्लेश के उसी दिन अर्धरात्रि में, जबकि सभी परिजन घोर निद्रा में सोये थे, उसी अन्तःपुर के प्रासाद में शुद्ध ध्यान से युक्त अन्तःकरण से ज्ञानरूपिणी सरस्वती देवी का आवाहन किया। देवी ने उसके पास आकर उससे कहा : वत्से, तुमने मेरा स्मरण क्यों किया और क्यों तुम इतनी शोकाकुल हो रही हो ? दुःख के कारण ये संसाररूपी भ्रम, मृगतृष्णा में जल की नाई, मिथ्या ही प्रतीत होते हैं, यानी जैसे मृगतृष्णामें जलप्रतीति मिथ्या है, वैसे ही ये दुःखजनक संसाररूपी भ्रम मिथ्या हैं ॥५–८॥ लीला ने कहा : देवी, मेरे पति कहाँ हैं, क्या करते हैं और कैसे हैं, यानी सुखी हैं या दुःखी ? मुझे आप उनके समीप ले चलिये। मैं उनके बिना अकेले नहीं जी सकती ॥९॥

इस लोक की कल्पना के समान परलोक की कल्पना का भी अधिष्ठान केवल चित् ही है, यह दिखलाने के लिए देवी सरस्वती चिदाकाशको चित्ताकाश और भूताकाशसे पृथक्कर दिखलाती है।

सरस्वतीजी ने कहा : सुन्दरी, एक वासनामय चित्ताकाश है, दूसरा शुद्ध चिदाकाश है और तीसरा सुप्रसिद्ध व्यावहारिक भूताकाश है। इन दोनों से सर्वथा शून्यको तुम चिदाकाश जानो यानी इन दोनों की सन्धि में दो से शून्य चिदाकाश स्पष्टरूप से लक्षित होता है ॥१०॥

उक्त चिदाकाश ही अपना आवरण करनेवाले अज्ञान से संकलित होकर जब प्रतीत होता है, तब वही मिथ्याभूत जगत्–रूपसे शीघ्र दिखलाई देता है, वही दुःख आदिका अनुभव करता है, ऐसा कहते हैं।

तुमने जो अपने पति के रहने का स्थान आदि पुछा है, वह वस्तुतः चिदाकाश कोशरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है। अतः चिदाकाश का एकाग्र मन से जब चिन्तन किया जाता है, तब पृथक् विद्यमान न होता हुआ भी वह यहींसे शीघ्र दिखाई देता है और वहाँ जाकर उसका अनुभव भी किया जाता है ॥११॥

देवी उसके लिए चिदाकाशका परिचय कराती है।

हे सुभगे, संवित् के एक पलक में एक देश से दूसरे देश को प्राप्त होने पर संवित् का जो मध्य है, उसीको तुम चिदाकाश जानो (✍) ॥१२॥

अतः तुम्हारी चिदाकाश की प्राप्ति ही चिदाकाशरूप से स्थित पति के समीप में गमन है, क्योंकी उसीमें तुम्हारे पति का परलोक कल्पित है, इस अभिप्राय से देवी कहती हैं।

✍ विस्तृत व्याख्यान उ.प्र. सर्ग २९ में देखिये।

भद्रे, यदि तुम सम्पूर्ण संकल्पों का परित्याग कर उक्त चिदाकाश में ही मनको एकाग्र करती हो, तो तुम सर्वात्मक उस प्राप्तव्य तत्त्वको अवश्य प्राप्त हो जाओगी ॥१३॥

उसकी प्राप्ति कैसे होती है ? ऐसी आशंका होने पर उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाती हैं।

हे सुन्दरी, उक्त तत्त्व यद्यपि जगत्के अत्यन्त अभाव की प्रतीति से ( ) ही प्राप्त होता है, अन्यथा प्राप्त नहीं होता, क्योंकि 'नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय' ऐसी श्रुति है। फिर भी तुम मेरे वरसे उसे शीघ्र प्राप्त हो जाओगी ॥१४॥ श्री वसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, ऐसा कह कर सरस्वती देवी अपने दिव्य लोक को चली गई और लीला को वर के प्रभाव से अनायास ही निर्विकल्प समाधि लग गई। जैसे चिड़िया अपने घोंसले को छोड़कर आकाश में उड़ जाती है वैसे ही उसने लोहे के पिंजड़े के समान दुर्भेद्य अन्तःकरण के साथ अपने स्थूल देहका त्याग कर दिया। ( ) रानी ने निर्विकल्प समाधि द्वारा चिदाकाशमें स्थित होकर अपने अन्तःपुर के प्रासाद के उस आकाश में ही अपने पति मृत महाराज को देखा। वह अपनी वासना और कर्मों के अनुसार शरीर, घर आदि सम्पत्ति से सम्पन्न था, अनेक राजाओं से सुशोभित सभामण्डपमें सिंहासन पर आरूढ़ था, बन्दीगण 'आपकी जय हो', 'आप चिरंजीव हों' कहकर उसकी स्तुति कर रहे थे, वह उपस्थित राज्य और सेना का कार्य करने में व्यस्त हो रहा था, पताकाओं से व्याप्त राजधानी के जिस सुन्दर घर में राजा बैठा था, उसके पूर्व दरवाजेपर असंख्य मुनि और श्रेष्ठ ब्राह्मण स्थित थे, दक्षिण दरवाजे पर असंख्य राजा–महाराज थे, पश्चिम दरवाजे पर असंख्य स्त्रियाँ थीं, उत्तर दरवाजे पर असंख्य रथ, हाथी और घोड़ों की भीड़ लगी थी। राजा ने एक गुप्तचर की जबानी दक्षिण देश के युद्ध की गति–विधिका निर्णय किया ॥१५–२१॥

सब देश के राजा उसके अधीन थे, यह दर्शाते हैं।

कर्णाटक देशाधिपति ने उसके पूर्वदेश की व्यवहारमर्यादा को अक्षुण्ण बना रक्खा था, सुराष्ट्र देशाधिपति ने उत्तरापथ में सम्पूर्ण म्लेच्छोंको उसके अधीन कर रक्खा था, मालंकाधिपतिने उसके लिए पश्चिम देशोंको आक्रन्त कर रक्खा था, दक्षिण समुद्रके तटसे आया हुआ लंका का दूत उसका मनोविनोद कर रहा था, पूर्व सागर के तटवर्ती महेन्द्र पर्वत का सिद्ध उससे हजारों मुहानों के विस्तारसे आश्चर्यमयी गंगाजीका वर्णन कर रहा था, उत्तर सागर के तटसे आया हुआ दूत गुह्यकों का वृत्तांत कह रहा था और जिस दूतने पश्चिम सागरका तट देखा था, वह अस्ताचलके रीति–रिवाजों को कह रहा था ॥२२–२५॥ कतार लगाकर खड़े हुए असंख्य राजाओंकी कान्तिसे उसका सारा आँगन जगमगा रहा था, उसकी यज्ञशाला में वेदमन्त्रों का उच्चारण कर रहे ब्राह्मणों ने तुरही, रणसिंगा आदि उत्तम बाजेके शब्दको दबा दिया था, उसके वनगज बन्दियों के तीव्र शोर–गुल की प्रतिध्वनि कर रहे थे, उसकी संगीतशाला के गायन और वादन के शब्दोंसे आकाश गूँज रहा था, चारों ओर घोड़े, हाथी और रथों के ठट्ट

तत्त्वज्ञान से अज्ञान का विनाश होने पर द्वैत का उदय न होना ही जगत् की अत्यन्त अभावसम्पत्ति है।

यहाँ देहत्याग से स्थिर चित्त द्वारा अभिमान का त्याग ही विवक्षित है। मरण के समान बाहर निर्गमन नहीं।

लगे थे, उनके एवं पैदल चलनेवाली जनताके चलनेसे उड़ी हुई धूलरुपी बादलों से आकाश छा गया था। वह स्वयं पुष्प, कर्पुर और धूप से युक्त था और उसके पर्वताकार प्रासाद सुगन्धिसे सराबोर थे। सम्पूर्ण मण्डलों से भेंटरूप धनको लाकर जो राजकीय कोषको परिपूर्ण रखते हैं, उन सेवकों के लिए उसने अनेक प्रकार के शासन बना रखे थे। उसके अपने यशरुपी कर्पूर के ढेर के तुल्य मेघरूपी अतिशुभ्र पर्वत अम्बरमें उत्पन्न हुए थे। स्वर्गलोक और भूलोक के स्तम्भभूत अपने अद्वितीय प्रतापसे उसने सूर्य को भी मात कर दिया था, उसके अनेक सामन्त आरम्भ में मन्दगति से चलनेवाले गुरूतर कार्यों में व्यग्र थे और उसके शिल्पी लोग नाना नगरों के निर्माण में संलग्न थे। इस प्रकार विविध राजकार्यों में व्यस्त राजाको लीला ने देखा। इसके अनन्तर जैसे कुहरा आकाशरूपी अरण्यभूमिमें गिरे, वैसे ही वासनामात्रशरीर होनेसे आकाशरूपिणी चिदाकाशनिष्ठारूप विपुल आरम्भवाली लीला वासनामय होने के कारण आकाशरूप राजाकी सभा में प्रविष्ट हुई ॥२६–३१॥ वहाँ वह सबके आगे घूमती थी, परन्तु वहाँ पर स्थित पुरूषों ने अपने आगे घूम रही केवल संकल्पसे कल्पित कामिनी की नाईं, नहीं देखा। जैसे दूसरेके मनोरथ से रचित नगरको दूसरा नहीं देख सकता, वैसे ही अपने आगे–आगे घूम रही लीला को किसीने भी नहीं देखा। वहाँ लीला ने अपने उन्हीं पुराने सब लोगोंको सभामें बैठे देखा, जिन्हें वह पहले देखती थी, मानों वे सब–के–सब राजाके साथ ही एक नगर से दूसरे नगर में चले गये हों। जो पहले जहाँ पर बैठते थे वे उसी जगह पर बैठे थे, उन्हीं के सदृश उनका आचरण था। लीला ने, जिन्हें वह पहले देखती थी, उन्हीं बालकों को, उन्हीं विदूषकों को और उन्हीं अनुचरोंको, तथा उनसे मिलते–जुलते सेवकों को देखा ॥३२–३६॥

वासनामय स्वप्न की नाईं वासनामय जगत् में सब पहले के सदृश ही हों ऐसा कोई नियम नहीं है, – ऐसा कहते हैं।

इसके बाद उसने उनसे भिन्न कुछ नये पण्डितों और मित्रों को देखा, उसे कुछ व्यवहार भी पहले से भिन्न दिखाई दिये, अनेक पुरवासी एवं अन्यान्य जन भी भिन्न थे। उसने दिनमें दोपहर के समय घने जंगलों से व्याप्त दिशाएँ देखी और चन्द्रमा तथा सूर्य से युक्त आकाश देखा, जिसमें बादलों की गड़गड़ाहट और वायु की सनसनाहट हो रही थी, वह वृक्ष, नदी, पर्वत, नगर, ग्रामों से विभूषित था और उसमें अनेक जंगल थे, जिनमें विविध नगरों की रचना की गई थी। वहाँ पर उसने सोलह वर्ष के राजा को देखा, जो पूर्वजन्म की वृद्धावस्था से निर्मुक्त था और पूर्वजन्म की सम्पूर्ण जनता को तथा सब नगरवासियों को देखा। उन्हें वासनामय नगरमें देखकर लीला को चिन्ता ने घेर लिया। उसे सन्देह हुआ कि क्या उस नगर में रहनेवाले सभी मर गये हैं ? फिर वह सरस्वती देवी के प्रसाद से उत्पन्न प्रबोधसे एक क्षण में अपने पहले के अन्तःपुर में आई। वहाँ आधी रात में उसने अपने अनुचरों को वैसे ही सोये देखा, जैसे कि वह उनको छोड़ गई थी। तदुपरान्त उसने घोर निद्रा में सोई हुई अपनी सखियों को जगाया और कहा कि मुझे अत्यन्त दुःख हो रहा है, इसलिए आप लोग मुझे सभा स्थान में ले जाईए। यदि मैं राजा के सिंहासन के समीप में बैठूँ और सदस्यों को देखूँ, तो मैं जीवित रह

सकती हूँ अन्यथा मेरा मरण ही जानिये। रानी के यों कहने पर वह सारा–का–सारा राजपरिवार जाग उठा और यथायोग्य अपने अपने काममें जुट गया। जैसे सूर्य की किरणें लोगों को अपने–अपने व्यवहार में लगाने के लिए पृथिवी पर आती हैं, वैसे पहरेदार नगरवासी सदस्यों को लेने के लिए गये। जैसे शरत् ऋतु के दिन वर्षाकाल के बादलों से मलिन आकाश को स्वच्छ कर देते हैं, वैसे ही अपने कार्य में दक्ष सेवकों ने सभामण्डप को खूब साफ–सुथरा कर दिया। आश्चर्य देखने के लिए आये हुए तारागणों के समान अन्धकाररूपी जलको पी चुकी दीपपंक्तियाँ आँगन में जगमगा उठी। जैसे प्रलयकाल में सूखे हुए समुद्रों को जीवों की सृष्टि से पहले होनेवाली जल वृष्टि प्रवाह से पूर्ण कर देती है, वैसे ही जनता ने राजा के आँगन को प्रवाह के समान आ रहे अपने संघ से भर दिया। जैसे प्रलय के अनन्तर त्रैलोक्य के पुनः उत्पन्न होने पर लोकपाल अपनी–अपनी दिशाओं में अधिष्ठित हो जाते हैं, वैसे ही निर्दोष मन्त्री और सामन्तगण अपने–अपने स्थान पर आ डटे। चारों ओर बिखेरे हुए कपूर के समान निबिड़ तुषार के संसर्ग से शीतल और खूब खिले हुए फूलोंसे निकल रहे मकरन्द की सुगन्ध से सुगन्धित वायु बहने लगी। जैसे ऋष्यमूक पर्वत पर अपने पुत्र सुग्रीव के ऊपर अनुग्रह करने लिए आये हुए सूर्य के सन्ताप से पीड़ित मेघपंक्तियाँ हिमालय आदि पर्वतों में आश्रय लेती हैं, वैसे ही सफेद वस्त्र पहने हुए प्रतीहार (द्वारपाल) सभामण्डप के प्रान्तों में (ओर छोर में) ये खड़े हो गये। जैसे प्रलयकाल के प्रचण्ड वायु से विध्वस्त होकर तारागण गिरते हैं, वैसे ही अपनी कान्ति से अन्धकारपटल का विनाश करनेवाले फूल तेज वायु के झोंकों से पृथिवी पर गिरने लगे। जैसे हंस प्रफुल्ल कमलों से व्याप्त सरोवर को भर देते हैं, वैसे ही महाराज के अनुयायियों ने सभामण्डप को ठसाठस भर दिया। जैसे कामदेव के चित्त में रति वैठती है या जैसे कामदेव से विकृत चित्त में श्रृंगारचेष्टाएँ आसन जमाती हैं, वैसे ही रानी लीला सिंहासन के पास में बिछाये हुए नूतन स्वर्णमय चित्रासन पर बैठ गई। लीला ने पहले की नाईं यथायोग्य स्थानों में बैठे हुए, पहले के ही सब राजाओं, गुरुओं, माननीयों, मित्रों, सदस्यों, सहचरों, सम्बन्धियों और बन्धुबान्धवों को देखा। राजा के राष्ट्र के सभी लोगों को यथापूर्व ही देखकर लीला की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा और सबके जीवन का निश्चय होने से उदित हुई चन्द्रमा की–सी कान्ति से वह सुशोभित हो गई ॥३७–५७॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अठारहवाँ सर्ग

समाधि में देखी गयी सृष्टि और पहले की सृष्टि दोनों दृश्य होने के कारण
समानरूप से मिथ्या हैं चिन्मात्र ही सत्य हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, 'अत्यन्त दुःखदायी इस चित्त को इस प्रकार बहला रही हूँ', यों ईशारे से राजाओं को अपना अभिप्राय समझा कर रानी लीला सभाभवन से उठ गई। अन्तःपुर में जाकर अन्तःपुर के प्रासाद में फूलों से आच्छन्न अपने पति के पास

पहुँची और विचार करने लगी : अहो, यह बड़ी विचित्र माया है, ये हमारे पुरवासी मनुष्य समाधि में देखे गये प्रदेश में और बाहर अवकाशयुक्त हमारे नगर में भी स्थित हैं। ताल, तमाल आदि वृक्षों से व्याप्त ये पर्वत भी जैसे वहाँ दिखाई दे रहे थे, वैसे ही यहाँ भी दिखाई दे रहे हैं, आश्चर्य, यह किसी ने माया फैला रक्खी है। जैसे पर्वत दर्पण में भीतर और बाहर भी प्रतीत होता है, वैसे ही चित्तरूपी आदर्श में भीतर और बाहर भी यह सृष्टि प्रतीत हो रही है। इनमें कौन भ्रान्तिमयी सृष्टि है तथा कौन वास्तविक सृष्टि है ? इस सन्देह को मैं, सरस्वती देवी से, उनकी पूजा करके यों पूछती हूँ जैसे कि सन्देह बिलकुल न रहे। ऐसा निश्चय करके लीला ने सरस्वती देवी की पूजा की और तुरन्त ही सरस्वती देवी को कुमारी रूप में अपने सामने उपस्थित देखा। सिंहासन पर वैठी हुई परमार्थ महाशक्तिरूप देवी के सन्मुख होकर लीला ने भूमि पर बैठ कर देवी से पूछा ॥१–८॥ लीला ने कहा : हे देवी , उत्तम लोग अनुकम्पनीय (करुणा के पात्र) पुरुष पर क्रुद्ध नहीं होते, आपने ही सृष्टि के आरम्भ में यह उत्तम नियम बनाया है। इसलिए हे परमेश्वरि मैं आपके सन्मुख विनम्र होकर जो यह पूछती हूँ, उसे आप मुझसे कहिये, पहले आपने मेरे ऊपर जो वरदानरूप अनुग्रह किया है, वह सफल हो। इस जगत् नामक प्रपंच का आदर्श (चिदादर्श) आकाशसे भी अधिक निर्मल है, करोड़ों–करोड़ों योजन जिसका एक छोटा सा अवयव है। जिसमें वचन अखण्डितार्थ हैं यानी संसर्गरूप से बोधक नहीं हैं ऐसा चिद्घन, मृदु, सम्पूर्ण ताप का नाश करने के कारण शीतल, आवरणशून्य और सम्पूर्ण व्यवहारों में सर्वप्रथम स्फुरित होने वाला चैत्यभिन्न चित् कहा गया है। जिस आत्मादर्श में दिशाएँ, काल, सब कार्यों की उत्पत्ति, उत्पन्न हुए पदार्थों की आकाश में अवकाश प्राप्ति, अवकाश मिलने पर आलोक और नेत्र आदि द्वारा प्रकाश और प्रकाशित पदार्थों के 'इससे यह कार्य यों उपपन्न हुआ और यह इस प्रकार व्यवहार के उपयुक्त है' इस प्रकार का नियतिक्रम ये सब देशतः और कालतः विस्तृत विकाररूप विलक्षणता को प्राप्त होकर प्रतिबिम्ब की नाईं भीतर प्रतीत होते हैं। त्रिजगत्–रूप प्रतिबिम्ब बाहर और भीतर स्थित है, उन दोनों में से यानी आन्तर और बाह्यमें से कौन सृष्टि अकृत्रिम (सत्य) है और कौन कृत्रिम (मिथ्या) है ? ॥९–१४॥ श्रीदेवीजी ने कहा : हे सुन्दरी, सृष्टि की अकृत्रिमता कैसी है और कृत्रिमता कैसी है, यह मुझसे भलीभाँति कहो ॥१५॥ लीला ने कहा : हे देवि, जैसे मैं यहाँ पर बैठी हूँ और आप भी स्थित हैं, इसे मैं अकृत्रिम सृष्टि समझती हूँ तथा जहाँ पर इस समय मेरे पति हैं, उस सृष्टि को मैं कृत्रिम समझती हूँ, क्योंकि वह मिथ्याभूत है, अपनी स्थिति के लिए अपर्याप्त देश, काल और व्यवहार की पूर्ति नहीं करती। जैसे दर्पण आदि में प्रतिबिम्बित और स्वप्न में देखा गया पर्वत देश, काल और व्यवहार का पूरक नहीं है। (📖) ॥१६,१७॥

📖 दर्पण में प्रतिबिम्बित पर्वत की स्थिति के लिए, दर्पण रूप देश पर्याप्त नहीं है, जितने समय में पर्वत की तादृश रूप-रेखा बनती है, वह काल उसके लिए पर्याप्त नहीं है और उससे आरोहण अवहोरण आदि व्यवहार भी नहीं होता। वह अपनी स्थिति के लिए अपूर्ण अत्यन्त अल्प देश-काल व्यवहार की पूर्ति नहीं करता, वैसे ही वह सर्ग भी अपनी स्थिति के लिए अपर्याप्त अत्यन्त अल्प

तुम्हारे पति की जो वासनामय सृष्टि है, उसका कोई कारण है या नहीं ? यदि उसे अकारण कहो, तो उसकी उत्पत्ति नहीं होगी। यदि सकारण मानों, तो वह कारण कृत्रिम है या अकृत्रिम। कृत्रिम कारण मानो, तो यह सृष्टि उसकी कारण है या अन्य सृष्टि ? अन्य सृष्टि तो कोई प्रसिद्ध है नहीं, अतः पहला पक्ष ही शेष रहा, ऐसी दशा में कृत्रिम सृष्टि का कारणभूत यह सर्ग भी कृत्रिम ही ठहरेगा, क्योंकि कहीं पर भी भिन्न सत्तावाले कार्य और कारण नहीं देखे गये हैं अतः इन दो सृष्टियोंमें परस्पर विलक्षणता नहीं है, इस आशय से देवीजी ने कहा :

अकृत्रिम सृष्टि कभी उत्पन्न नहीं होती, कहीं पर भी कारण से सर्वथा भिन्न कार्य उत्पन्न नहीं होता ॥१८॥

उक्त नियम में लीला ने व्यभिचार की शंका कर कहा।

लीला ने कहा : माता, कारण से कार्य सर्वथा विलक्षण दिखाई देता है, मिट्टी का ढेला अपने में जल आदि धारण नहीं कर सकता पर उस से उत्पन्न घड़ा जल धारण करने में समर्थ दिखलाई देता है, ऐसी परिस्थिति मे जैसे कार्य और कारण में तुल्य सामर्थ्य का नियम नहीं है वैसे ही समानसत्ता का भी नियम नहीं है, *यह आशय है*॥१९॥

उपादान कारण की विचित्रता से या सहकारी और निमित्त कारणोंकी विलक्षणता से मिट्टी के ढेले और घड़े में विलक्षणता भले ही है, जिस वस्तु का एक ही उपादान और निमित्त कारण है उसमें दीपक से अन्य दीपक के समान कारण से विलक्षणता नहीं दिखलाई देती। प्रस्तुत दो सृष्टियाँ भी वैसी हैं, इस आशय से देवी लीला की शंका का समाधान करती हैं।

श्रीदेवीजी ने कहा : जो कार्य उपादान और सहकारी कारणों से उत्पन्न होता है, उसमें मृत्तिका, दण्ड, चक्र आदि असाधारण कारणों से कुछ विलक्षणता दिखाई देती है ॥२०॥

तुम्हारे पतिदेव की जो वासनामय सृष्टि है, उसमें तो असाधारण कारण से विलक्षणता की कल्पना की नहीं जा सकती, क्योंकि दोनों समानरूप से माया, काम, कर्म और वासनामूलक हैं, इस अभिप्राय से कहती हैं।

हे सुन्दरी, प्रत्यक्ष दीख रही इस सृष्टि के अन्तर्गत पृथिवी आदि में से तुम्हारे पति की सृष्टि का कारण क्या है ? उसे कहो, जिससे कि उसमें विलक्षणता आये ? भौतिक पदार्थों की बीज से इस भूमण्डलसे उत्पत्ति हुई है, वैसे ही उस भूमण्डल से उत्पत्ति हुई है, अतः भौतिक पदार्थों में भी कोई विलक्षणता नहीं है ॥२१॥

यहाँ की भूमि आदि से वहाँ की भूमि आदि की उत्पत्ति हो, ऐसी शंका होने पर कहती है।

यदि भूतल आदि यहाँ से उड़कर वहाँ गया है, तो यहाँ भूतल कैसे रहेगा ? वहाँ गये बिना कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है और इसको कारण मानने पर भी सहकारी कारण कौन हैं अर्थात् कोई नहीं है ॥२२॥

यहाँ के सहकारी कारणों के न रहने पर भी वहाँ (समाधि में दृष्ट सृष्टि में) जो सामग्रीरूप सहकारिता उत्पन्न होती है, यानी यदि सहकारी कारण न होता, तो कार्य की ही उत्पत्ति न

देश, काल और व्यवहार की पूर्ति नहीं करता है, अतः मिथ्या है।

होती ! यों अन्यथानुपपत्त्या कल्पित होती है, वह पूर्व सृष्टि के कारण काम, कर्म, वासना और अविद्या से भिन्न नहीं है, अतएव विलक्षणताकी सिद्धि नहीं होती, यह बात सब के अनुभव में आती है ॥२३॥

सत्यरूप इस सृष्टि के अनुभव से जनित संस्कार से पैदा हुए पुरोवर्ति विषय रहित स्मृतितुल्य स्वप्न के सदृश मेरे पति की सृष्टि हो, यों अन्य प्रकार से लीला विलक्षणताकी शंका करती है।

लीला ने कहा : हे देवी, मेरे पति की वह (पूर्व के अनुभव से जनित संस्कार से पैदा हुई) स्मृति ही इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त हुई कि वह स्मृति ही इस सृष्टिकी कारण है, उसी से यह सर्ग हुआ है, ऐसा मेरा निश्चय है ॥२४॥ श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, तब तो पहले जन्म में देखी गई सृष्टि के संस्कार द्वारा तुम्हारे पतिकी सृष्टि हुई। संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते हैं, उसमें विषय सामने नहीं रहता, पुरोवर्ती विषयसे शून्य होने के कारण स्मृति शून्यरूपा है, वैसे ही तुम्हारे पतिकी सृष्टि भी शून्यरूप ही ठहरी, क्योंकि वह भी स्मृति के सदृश पूर्व सृष्टि के संस्कार से जन्य है ॥२५॥

उक्त बात पर विचार कर लीला जान गई, अतः देवी के आशय के अनुसार बोली।

लीला ने कहा : हे देवी, जैसे आपने मेरे पतिकी सृष्टि को भी स्मृत्याकाशमय कहा है, वैसे ही मैं इस सर्ग को भी स्मृत्याकाशमय समझती हूँ, इससर्ग की स्मृत्याकाशमयता में वह (समाधि में दृष्ट) सर्ग दृष्टान्त है ॥२६॥ लीला की बात का समर्थन करते हुए देवी ने कहा : पुत्री, तुमने बहुत ठीक कहा है, वह असत् (मिथ्याभूत) सर्ग जैसे तुम्हारे पति के उन-उन सर्गभावों से प्रकाशमान प्रतीत होता है, वैसे ही यहाँ पर यह सर्ग भी तत्-तत् सर्गों से प्रकाशमान प्रतीत होता है, वस्तुतः यह असत् है, यह मैं देखती हूँ ॥२७॥ लीला ने कहा : माता, जैसे इस सृष्टि से मेरे पति की भ्रमात्मक अमूर्त सृष्टि हुई, जगत्-भ्रम की निवृत्तिके लिए, वैसा मुझसे कहिये ॥२८॥

यह सृष्टि भी पूर्व सृष्टि के संस्कारों से जन्य भ्रान्तिरूप ही है, यों उक्त अर्थ के उपपादन के लिए देवी मण्डपोपाख्यान के आरम्भ की प्रतिज्ञा करती हैं।

श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, जैसे पूर्व सृष्टि की स्मृति से उत्पन्न केवल भ्रमस्वरूप की स्वप्नभ्रम-तुल्य यह सृष्टि प्रतीत होती है, वैसे मैं कहती हूँ, सुनो ।॥२९॥ चिदाकाश में अज्ञान से आच्छन्न भाग में तत्रापि स्रष्टा के अन्तःकरण के एक कोने में संसाररूपी जीर्ण मन्दिर है, जो आकाशरूपी काँच के टुकड़े के समान नीले छत्राकार संस्थान से आच्छादित है, जिसमें मेरुपर्वत रूपी स्तम्भ में लोकपालों की स्त्रियाँ प्रतिमाओं के तुल्य विराजमान हैं, चौदह भुवन जिसके अन्तर्गृह (कमरे) हैं, जिसके तीनों भुवनों के मध्यभागरूप तीन गड्ढे हैं, सूर्य जिसका दीपक है ॥३०,३१॥ जिसमें स्थित पंचभूत रूपी दीमकों के वल्मीक (वामी) सदृश नगरों से व्याप्त पर्वतरूपी मिट्टी के ढेले हैं और जो अनेक पुत्रों से युक्त वृद्ध ब्रह्मा का निवासस्थान है, जो जीव रूप कोशकारानामक कीड़ों (विलनी) से संयुक्त आकाश में रहनेवाले सिद्धों के

समूहरूप मच्छरों से सदा 'घूं घूं'–सा शब्द करता रहता है, बादलरूपी गृह–घूम (खरों के धुएँ) के पटल से जिसका कोना व्याप्त रहता है, जिसमें वायुमार्गरूपी महावंश में स्थित वैमानिक (विमानचारी) देवता आदि कीड़े हैं, जो सुर असुर आदिरूपी उद्धत बालकों की कीड़े के कोलाहलसे सदा खूब शब्दायमान रहता है, भू आदि लोकों के मध्यवर्ती नगर और ग्राम रूपी जल से जिसका भूभाग सिंचित है और पाताल, भूलोक और स्वर्गलोकरूपी प्रकाशमान कोठरियों से युक्त है। उस संसाररूपी पुराने मन्दिर में आकाशरूपी कमरे के किसी एक कोने में पर्वतरूपी मिट्टी के ढेले के तले एक छोटा सा पर्वतग्राम रूपी गड्ढा है। नदी, पर्वत और वनोंसे घिरे हुए उस ग्राम में स्त्री पुत्रों से युक्त और नीरोग अग्निहोत्री ब्राह्मण रहता था। उस धर्मात्मा ब्राह्मण के पास गाय आदि दूध देनेवाले अनेक पशु थे। वह राजभयसे सर्वथा निर्मुक्त था और सम्पूर्ण वर्णाश्रमियों का आतिथ्य सत्कार करता था ॥३२–३८॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

राजा पद्म के इस सर्ग का जन्म राजा के दर्शन,
राज्य की इच्छा और दृढ़संकल्प से हुआ, इसका पूर्वजनम के वृत्तान्त से वर्णन।

श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, वह ब्राह्मण वित्त, वेष, अवस्था, कर्म, विद्या, वैभव और आचरणों से वसिष्ठ के सदृश था, पर इक्ष्वाकु कुल का पौरोहित्य और श्रीरामचन्द्रजी को उपदेश आदि की वसिष्ठ की चेष्टाओं से रहित था ॥१॥ उसका नाम भी वसिष्ठ ही था, उसकी चाँद–सी सुन्दर अरुन्धती नाम की पत्नी थी, वह थी भूमिरूपी आकाश की दूसरी अरुन्धती थी। वित्त, वेष, अवस्था, कर्म, विद्या, वैभव और आचरणों से वह भी अरुन्धती के तुल्य थी, पर जीवस्वरूप से (ब्रह्मरूप से) स्थिति से वह अरुन्धती के तुल्य नहीं थी। भाव यह कि प्रसिद्ध वसिष्ठ और अरुन्धती तत्त्वज्ञानी होने से जीवनमुक्त थे, किन्तु उक्त अरुन्धती और वसिष्ठ को आगे के जन्म में ज्ञान होने वाला था, अतएव वे उस समय अज्ञानी होने के कारण बद्ध थे। उसका प्रेम अकृत्रिम था और विलासपूर्वक मन्थरगमन तथा कमल के विकास की नाईं मनोहर हास था। वह सुन्दरी संसार में उसकी सर्वस्व थी। वह ब्राह्मण दुर्वांकुरों से आच्छन्न समथर भूमिवाले उस पर्वत शिखर पर बैठा था, उसने पर्वत के नीचे शिकार खेलने की इच्छा से सारे साज–बाज के साथ जा रहे राजा को देखा। उसकी सेना का इतना बड़ा कोलाहल हो रहा था, जिससे मेरुपर्वत के विदारण की शंका होती थी। वह राजा अपने चँवरों और पताकाओं से लताओं के वन को चन्द्रमा की किरणों से व्याप्त कर रहा था, सफेद छातोंसे आकाशको चाँदी का फर्श बना रहा था, घोड़ों की नालों से खोदने के योग्य भुमि से उत्पन्न हुई धूलिके पटल से उसने आकाश को ढक दिया था, पर वह स्वयं हाथियों की पीठ पर रक्खी हुई सूर्य की किरणों और वायु को रोकनेवाली सोने चाँदी और मोतियों से अलंकृत अम्बरों से रक्षित था यानी अम्बारी में स्थित होने के कारण धूलि से आवृत नहीं हुआ था। उसके सैन्य के कोलाहल से

दसों दिशाओं के मृग आदि प्राणियों के झुण्ड दिग्भ्रम होने के कारण जल की भौंरी के तुल्य भाग रहे थे और उसके सुवर्ण और मणियों के बने हुए हार, बाजूबन्द आदि आभरणों की कान्ति छिटक रही थी। उस राजा को देखकर उस ब्राह्मण के (वसिष्ठ के) मन में यह विचार आया कि अहा ! सम्पूर्ण सौभाग्यों से उद्भासित नृपता (राजा होना) बड़ी रमणीय है। मैं कब पैदल सेना, रथ, हाथी, घोड़े, पताका, छत्र और चँवरों से दस दिशा रूपी कुंज को पूर्ण करने वाला राजा होऊँगा, कब कुन्दनामक फूल के मकरन्द से सुगन्धित पवन मेरे अन्तःपुर की स्त्रियों के सुरतकाल के श्रम से उत्पन्न स्वेद बिन्दुओं को पीयेंगे और मैं कब अपनी पतिव्रता रानियों के मुखमण्डल को कर्पूर मिश्रित चन्दन से और दिशाओं के मुखमण्डल को कर्पूर तुल्य अपने विपुल यश से चन्द्रमा के उदयके तुल्य दीप्तिमय करूँगा। तब से नित्य अपने धर्म में तत्पर आलस्यरहित वह ब्राह्मण जीवनभर इस प्रकार के संकल्प से युक्त हुआ। तदुपरान्त जैसे सरोवर के जल में स्थित कमल को शिथिल करने के लिए कटिबद्ध तुषाररूपी वज्र कमल को प्राप्त होता है, वैसे ही शरीर शैथिल्ययुक्त वृद्धावस्था उस ब्राह्मण के शरीर को जर्जर बनाने के लिए उनके पास आई। जैसे वसन्त ऋतु के बीतनेपर प्रचण्ड ग्रीष्मकाल के सन्ताप के भय से लता मुर्झा जाती है, वैसे ही जब उसके मरने का समय समीप आया तब उसकी पत्नी को बड़ा क्लेश हुआ। तदनन्तर उस सुन्दरी ने तुम्हारी नाईं मेरी बड़ी आराधना की। अमरत्व प्राप्त होना कठिन है, यह जानकर उसने यह वर माँगा : हे देवि, मेरे मृत पतिका जीव मेरे घर से बाहर जाये ही नहीं। चूँकि उसने वैसी प्रार्थना की थी, अतः मैंने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। तदुपरान्त काल पाकर उसका पति मर गया और उसी घर के आकाश में जीवाकाशरूप से (卐) स्थित रहा। यद्यपि वह स्वयं आकाशरूप ही है तथापि पूर्वजन्म के दृढ़ संकल्प से परम शक्तिमान् राजा बन गया। उसने अपने प्रभाव से पृथिवी पर विजय प्राप्त कर ली, प्रताप से स्वर्गलोक को व्याप्त कर दिया, उसकी कृपा से पाताल लोक का पालन होता था, यों तीनों लोक उसके अधीन हो गये। वह शत्रुरूपी वृक्षों के नाश के लिए प्रलयाग्नि था (📖) स्त्रियों का मन हरने के लिए कामदेव था, विषयरूपी वायुओं के लिए मेरुपर्वत था (▲) सज्जनरूपी कमलों के विकास के लिए सूर्य था, जैसे दर्पण में पदार्थ प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही सम्पूर्ण शास्त्र उसमें प्रतिबिम्बित थे, याचकों को मुँह–माँगा देने के लिए वह कल्पवृक्ष था, उत्तम ब्राह्मणों के लिए वह बैठने का पीढ़ा था यानी वह सदा ब्राह्मणों के चरणों में नतमस्तक रहता था और धर्मरूपी चन्द्रमा के लिए पूर्णिमा था। अपने घर के मध्य के आकाश में वासनावच्छिन्न ब्रह्माकाशमय अतएव भूताकाशस्वरूप उस ब्राह्मण के मरने पर उसकी पत्नी वह ब्राह्मणी

卐 अन्तःकरण की वासनाओं से अवच्छिन्न ब्रह्म जीवाकाश है, तद्रूप से।

📖 वनाग्नि से जले हुए वृक्षों के फिर पनपने की आशा रहती है पर प्रलयाग्नि से विनष्टों का फिर प्ररोह कदापि नहीं हो सकता, वैसे ही वह शत्रुओं का समूल नाश करनेवाला था।

▲ जैसे वायु मेरु को विचलित नहीं कर सकते, प्रत्युत स्वयं टकरा कर रुक जाते हैं, वैसे ही वह विषयों से अप्रकम्प्य और विषयों का विष्टम्भक था।

शोक से अत्यन्त कृश हो गयी अतएव सूखी हुई उड़द की छीमी के समान उसके हृदय के दो टुकड़े हो गये। पति के साथ मरी हुई वह ब्राह्मणी अपने देह का परित्याग कर परलोक पहुँचाने में समर्थ मानस शरीरसे पतिके पास पहुँच गई। जैसे नदी नीची भूमि में पहुँचती है, वैसे ही अपने पति के पास पहुँचकर वसन्त ऋतु में उत्पन्न हुई मंजरी के समान वह शोक रहित (प्रफुल्लित) हो गई। उस पर्वतग्राम में मरे हुए इस ब्राह्मण के घर हैं, भूमि, वृक्ष आदि स्थावर सम्पत्तियाँ हैं, उसको मरे हुए आज आठवाँ दिन है और उसका जीव पर्वतके ग्राम के गृहमण्डप में स्थित है ॥२–२८॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

बीसवाँ सर्ग

प्राक्तन जन्म के चरितों के सुनने के उपरान्त भी ऐसा होना सम्भव नहीं है,
यों सन्देह में पड़ी हुई लीला को दृष्टान्त और युक्तियों से देवी का प्रतिबोधन।

श्रीदेवीजी ने कहा : हे सुन्दरी, वही ब्राह्मण आज राजा होकर तुम्हारा पति बना है और जो अरुन्धती नाम की ब्राह्मणी थी, वह तुम हो ॥१॥ नूतन चकवा और चकवी की नाईं और पृथिवी में उत्पन्न हुए शिव और पार्वती की नाईं सुन्दर दम्पती वे ही तुम दोनों यहाँ पर राज्य करते हो ॥२॥

पूर्वोक्त कथा का उपसंहार कर रही देवीजी समाधि दृष्ट सृष्टि और इस सृष्टि के समान पहले की और सृष्टियाँ भी भ्रम ही हैं, ऐसा कहती हैं।

मैंने तुम्हारे पूर्वजन्म का सम्पूर्ण सृष्टिक्रम कहा, उसका ब्रह्म का जीव भाव भ्रम ही मूल है, अतएव भ्रम मूलक होने से वह भ्रान्तिमात्र ही है यानी ब्रह्म का जीवभाव भ्रम से अतिरिक्त नहीं है ॥३॥

उत्तरोत्तर भ्रम में पूर्व–पूर्व भ्रम हेतु है, ऐसा दर्शाती हैं।

इस पूर्व भ्रम से चित्ताकाश में प्रतिबिम्बित यह भ्रमरूप सर्ग स्वदृष्टि से असत्य ही है अथवा अधिष्ठान दृष्टि से सत्य है जो आप दोनों के संसाररूपी भ्रम का नाशक है ॥४॥

यों भ्रमरूप होने के कारण सभी सर्ग समान ही हैं, ऐसा कहते हैं।

उस भ्रमरूप पूर्वसृष्टि से कौन सृष्टि भ्रान्तिरूप होगी और कौन भ्रान्ति से शून्य होगी ? इसलिए भ्रान्तिमय सृष्टि होती नहीं है ॥५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, श्रीदेवीजी के उक्त वचन सुनकर रानी लीला के सुन्दर विशाल नयन आश्चर्य से विकसित हो गये, वह विलासपूर्वक मन्द–मन्द बोली ॥६॥ लीला ने कहा : आपका वचन तो सत्य है, वह इस प्रकार विरुद्ध कैसे हुआ ? कहाँ ब्राह्मण का जीव अपने घर में है और कहाँ इतने बड़े विशाल प्रदेश में हम लोग स्थित हैं यानी वे दम्पती हम कैसे हो सकते हैं ? वैसा यह दूसरा लोक, वह विस्तृत भूमि, वे विशाल पर्वत, वे दसों दिशाएँ, जिनमें मेरे स्वामी स्थित हैं, कैसे घर के अन्दर प्रतीत हो सकता है ? सरसों के भीतर मदोन्मत्त ऐरावत हाथी बाँधा गया,

परमाणु के भीतर मच्छर ने सिंहों के झुण्ड के साथ युद्ध किया, कमलगट्टे के अन्दर मेरु स्थापित है और भँवरें के बच्चे ने उसे निगल लिया, स्वप्न के मेघ की गर्जना को सुनकर मयूर बड़ा विचित्र नाच करते हैं, इत्यादि कहना जैसे असमंजस है, वैसे ही हे देवेशि घर के अन्दर पृथ्वी लोक और पर्वत हैं, यह कहना भी असमंजस है। हे देवि, जिस प्रकार से इसकी उपपत्ति हो, वैसा हम से निर्मल बुद्धि से कहिए, क्योंकि अपने प्रसाद से अनुगृहीत जनों की बड़े लोग कभी उपेक्षा नहीं करते ॥७-१२॥ श्रीदेवी ने कहा : सुन्दरी, मैं मिथ्या नहीं बोल रही हूँ, तुम इस विषय को भली-भाँति चित्त देकर सुनो, हम लोग वेदोक्त 'मिथ्या नहीं बोलना चाहिए' इत्यादि नियमों का उल्लंघन नहीं करते ॥१३॥ दूसरों के द्वारा भिद्यमान (उल्लंघन किये जा रहे) जिस (वेदमर्यादा) का मैं संस्थापन करती हूँ, यदि उसका मैं ही उल्लंघन करूँ तो उसका पालन दूसरा कौन करेगा ? ॥१४॥ राजा बनने की वासना से उपहित चिदात्मारूप उक्त गाँव के ब्राह्मण का वह जीवात्मा उसी अपने निवास स्थान में आकाश में इस व्योमरूप महानराष्ट्र को देखता है ॥१५॥

यदि वे ही हम दोनों हैं, तो हम लोगों को उक्त वृत्तान्त का स्मरण क्यों नहीं होता और मरण का स्वरूप क्या है ?

हे अंगने, जैसे जाग्रत्-स्मृति स्वप्न में नष्ट हो जाती है और अन्य स्मृति उदित होती है, वैसे ही तुम लोगों की पूर्व जन्म की स्मृति नष्ट हो चुकी है और उससे विपरीत स्मृति उत्पन्न हुई है, यही मरण है ॥१६,१७॥ जैसे स्वप्न में त्रिभुवन है, जैसे संकल्प में तीनों जगत् हैं, जैसे कथा का अर्थरूप संगम है, जैसे मरुभूमि में जल है और जैसे संकल्प और दर्पण में अन्दर स्थित भूमि है, वैसे ही उस ब्राह्मण के घर की पर्वत, वन और नगर से युक्त यह भूमि असत्य है। इसलिए सत्य, ज्ञान चिदाकाश के कोश-कोटर में यह असत्यभूत घनसृष्टि पंचकोश के अन्तर्गत सत्य चिद्व्योमरूप निमित्त से सत्य-सी प्रतीत होती है ॥१८,१९॥

पूर्व सर्ग के असत्य होने पर भी इस सर्ग में क्या आया ? इस पर कहतीं हैं।

भद्रे, असत्यरूप कारण से जो उत्पन्न होता है, वह स्मृतिरूप होने के कारण असत्य ही है, क्योंकि मृगतृष्णा से कल्पित सरिता में तरंग भी सत् नहीं होता। हे भद्रे, उक्त देहाकाशरूप कोश में स्थित तुम्हारा यह घर, मैं, तुम और यह सब केवल चिदाकाशरूप ही हैं ॥२०,२१॥

सम्पूर्ण प्रपंच के मिथ्या और केवल चिन्मात्र के परिशेष में अनुभव से सिद्ध दृष्टान्त के द्वारा अनुमान प्रमाण कहते हैं।

स्वप्न, भ्रम और मनोरथ के अपने-अपने अनुभव, दीपक के समान, यहाँ पर बोध करने के लिए मुख्य प्रमाण हैं ॥२२॥

इस सृष्टि से केवल गृहाकाश ही नहीं मरता यह बात नहीं है, किन्तु उसके एक देश में स्थित जीवाकाश का एक देश भी नहीं मरता है, इसलिए यह मिथ्या है, ऐसा कहते हैं।

ब्राह्मण के घर के अन्दर ब्राह्मण का जीव है, उस जीवाकाश में, कमल में भ्रमर की नाईं, समुद्र नद-नदी और वनों से परिपूर्ण यह पृथिवी है ॥२३॥ जैसे निर्मल आकाश में कुण्डल के

आकार के केशों का भ्रम होता है वैसे ही उक्त पृथिवी के किसी एक निर्मल कोने में नगर, देह आदि की प्रतीति होती है ॥२४॥

जैसे गर्भ से खच्चरी के पेट का विनाश हो जाता है वैसे अनेक सर्गों में उत्पन्न होने से ब्राह्मण के उक्त घर के विनाश की शंका नहीं करनी चाहिये, ऐसा कहती हैं।

उस ब्राह्मण के घर के अन्दर इस सृष्टि के उत्पन्न होने पर भी वह घर अभी ज्यों का त्यों बना ही है, विनष्ट नहीं हुआ। उस विप्रगृह के उदाहरण से आश्चर्य के लिए कौन स्थान है, क्योंकि त्रसरेणु के अन्दर भी जगत्–समुदाय स्थित–सा है। 'स्थित–सा' यह कथन मिथ्या होने के कारण त्रसरेणु के अन्दर जगत् का रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, यह दर्शाने के लिए है ॥२५॥

आकाश आदि जगत् की सृष्टि में पूर्वकालिक (आकाश आदि जगत् की सृष्टि के पूर्वकी) निरवकाशता की विरोधिनी नहीं है, परमाणु से अवच्छिन्न (अतिसूक्ष्म) चिदात्मा में भी जगतों का सम्भव होने से असंभव की शंका निरवकाश ही है, ऐसा कहती है।

भद्रे, परमाणु रूप चिदात्मा में भीतर–भीतर अनेक जगत् विद्यमान हैं, फिर उक्त चिदात्मा में ब्राह्मण के घर की असंभावना तुम क्यों करती हो ? ॥२६॥ लीला ने कहा : हे देवी, आज से आठ दिन पहले उस ब्राह्मण की मृत्यु हुई थी और हमें उत्पन्न हुए अनेक वर्ष बीत चुके हैं, हे माँ, वे ही दम्पती हम हैं, यह कैसे हो सकता है ? ॥२७॥ श्रीदेवी ने कहा : सुन्दरी, जैसे देशदैर्ध्य नहीं है, वैसे ही कालदैर्ध्य भी है ही नहीं, इस विषय को युक्तिपूर्वक तुमसे कहती हूँ, तुम सावधान होकर सुनो ॥२८॥ जैसे यह जगत्–सृष्टि की प्रतीति कल्पनामात्र है, वैसे ही यह क्षण, कल्प आदि की प्रतीति भी कल्पनामात्र ही है, वास्तविक नहीं है। क्षण, कल्प आदिरूप सम्पूर्ण जगत् 'त्वम्', 'अहम्' इत्यादि अध्यास के अधीन स्वजन्मरूप भ्रमवाले पुरुषों को ही प्रतीत होता है, उक्त प्रतीति के क्रम को मैं तुमसे यथार्थरूप से कहूँगी, तुम सुनो। पतिव्रते, जब जीव क्षण भर मिथ्याभूत मरण–मूर्छना का अनुभव कर, पूर्वजन्म के पदार्थों को भूल कर अन्य पदार्थों को देखता है, तभी आकाशरूपी वह चिदाकाश में, पलक भर में, यह मैं आधेयस्वरूप हूँ और इस आधार में स्थित हूँ, ऐसा स्मरण करता है यानी उसके चित्त में उक्त संस्कार उद्भूत होता है। और वह देखता है कि मेरा यह शरीर हस्त, पाद आदि से सम्पन्न है। जैसा उसके चित्त में संस्कार रहता है, वैसा ही वह अपने शरीर को देखता है। इस पिता का मैं पुत्र हूँ, मुझे इतने वर्ष हो गये हैं, ये मेरे रमणीय भाईबन्धु है और यह मेरा रमणीय घर है। मैं उत्पन्न हुआ, बालक हुआ, बढ़ा और अब ऐसा हूँ और ये सब मेरे बन्धु–बान्धव भी मेरे तुल्य ही उत्पन्न हुए बालक हुए, बढ़े और अब मेरे सदृश ही विचरण करते हैं ॥२९–३५॥

बन्धु–बान्धव देह के सम्बन्धीरूप से कल्पित है, अतः वे देह के सम्बन्धी भले ही हों पर उनमें आत्मीयत्व कैसे ? इस शंका पर कहते हैं।

यद्यपि बन्धु–बान्धव वस्तुतः देहसम्बन्धी हैं, तथापि देहरूपता को प्राप्त हुए चित्ताकाश और आत्माकाश का अत्यन्त दृढ़ तादात्म्याध्यास होने से वे वस्तुतः परकीय होते हुए भी

आत्मीय भी होते हैं, ऐसा होने पर जीव के चित्त के संसार में देहरूपता को प्राप्त होने पर भी कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ, केवल निर्मल आकाश ही स्थित है, जैसे स्वप्न में स्वप्नद्रष्टा में विद्यमान चिति ही रहती है, वैसे दृश्य प्रपंच में भी चिति ही है भाव यह है कि जैसे स्वप्न देखनेवाले पुरुष में विद्यमान चिति ही स्वप्न में दिखाई देनेवाले पदार्थों के आकार को प्राप्त होती है, वैसे ही चिति ही दृश्य पदार्थों के आकार में प्रतीत होती है, चिति से अतिरिक्त कुछ नहीं है। चूँकि स्वप्न में द्रष्टा और दृश्यरूप से कल्पित विभिन्न पदार्थों में अदृश्यरूप से व्याप्त चिति कल्पित द्रष्टा और दृश्यरूप विविध पदार्थों का बोध होने पर एकरस चिति रूप से पुनः दृष्टिगोचर होती है, अतः कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ। वह चिति जैसे स्वप्न द्रष्टा, दृश्य आदिरूप में उदित होती है, वैसे ही परलोक के द्रष्टाओं द्वारा देखी जाती हुई परलोक में उदित होती है और जैसे परलोक में उदित होती है, वैसे ही इस लोक में उदित होती है। इसलिए वास्तव में असत् किन्तु भ्रमवश सत्–से प्रतीत होनेवाले स्वप्न, परलोक और इस लोक में तनिक भी भेद नहीं है, वे परस्पर ऐसे अभिन्न हैं जैसे कि जल में उत्पन्न हुई लहरें एक दूसरे से अभिन्न रहती है। चूँकि यह विश्व जल में लहरों के समान चिति में भ्रमवश प्रतीत हो रहा है, अतः यह उत्पन्न ही नहीं हुआ है, उत्पन्न न होने के कारण यह अविनाशी है, क्योंकि जो उत्पन्न नहीं होता, उसका नाश नहीं होता, यह अकाट्य नियम है। इसका तात्त्विक रूप आत्मा ही है, अतएव जगद्रूप से इसका अस्तित्व नहीं है और जिसका भान होता है, वह चैतन्य ही है। भाव यह है कि सम्पूर्ण प्रमाणों से अधिष्ठान चैतन्य का ही भान होता है, क्योंकि वही अज्ञात और अबाधित होने से प्रमाणों के योग्य है, जड़ नहीं, क्योंकि उसमें (जड़ में) आवरण कार्य न होने से प्रमाणों की प्रवृत्ति का फल नहीं है। चेत्य (विषय) शून्य परमाकाशरूपिणी चिति जैसी है, चेत्ययुक्त परमाकाशरूपिणी चिति भी ठीक वैसी ही है। भाव यह है कि आरोपित चेत्य से अधिष्ठान में किसी किस्म का दूषण नहीं आता, अतएव जैसे जल से बीचि भिन्न नहीं है, वैसे ही चिति से चेत्य अतिरिक्त नहीं है। जल में बीचित्व खरगोश के सींग के समान ही है। भाव यह कि रसतन्मात्रा ही जल का यथार्थरूप है, उसमें बीचित्व नहीं है, क्योंकि उसका जीभ से ग्रहण नहीं होता, जो जल में चक्षु से बीचि के आकारका ग्रहण (प्रत्यक्ष) होता है, वह अन्य भूतों के सम्बन्धरूप उपाधि से उत्पन्न औपाधिक है, अतएव जल में बीचित्व खरगोश के सींग के समान असत् है, यह जो कहा वह ठीक ही है। वैसे ही यद्यपि चिति अपने स्वरूप से सर्वथा अप्रच्युत है फिर भी चेत्यभावापन्न–सी प्रतीत होती है, इससे यह सिद्ध हुआ कि दृश्य पदार्थ है ही नहीं। जब दृश्य पदार्थ नहीं है तब द्रष्ट्र और दृश्य बुद्धि कैसे होगी ? दृष्टा और द्रश्य परस्पर सापेक्ष हैं, जब दृश्य नहीं है, तो द्रष्ट्र कैसे ? यह भाव है। मरणरूप अज्ञान के अनन्तर ही देश, काल, कर्म, क्रम, उत्पत्ति, माता, पिता, भाई बन्धु, अवस्था, ज्ञान, स्थान, अभिलाषा, बन्धु–बान्धव, चाकर, चेष्टा सूर्योदय और सूर्यास्त के अनुसार त्रिजगत्रूपी दृश्य की शोभा जीव की बुद्धि में आरूढ होती है। चिति उत्पन्न हुए बिना ही मैं उत्पन्न हुई यों विचार करती है और वासना के अनुरूप देश, काल, कर्म, द्रव्य, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि को देखती है और

मरने के अनन्तर तुरन्त ही अपना शरीर युवावस्था में दिखने पर भी जैसे पुष्प के बाद फल का उदय होता है वैसे ही बाद में वासनामय क्रम उदय होता है ॥३६–४८॥ यह मेरी माता है, यह पिता है, मैं बालक हुआ इत्यादि अनुभूत या अननुभूत जो स्मृतिमय क्रम है, वह इसके बाद उत्पन्न होता है, जैसे कि फूल के बाद फल का उदय होता है। और एक ही पलक में मेरा कल्प बीत गया, ऐसा अनुभव करता है। राजा हरिश्चन्द्र की एक रात बारह वर्ष की हुई थी, स्त्रीवियोगी पुरुषों को एक दिन वर्ष के समान मालूम होता है। जैसे स्वप्न में मैं मरा, उत्पन्न हुआ, यह दूसरा मेरा पिता है, ऐसी प्रतीति होती है, वैसे ही लोक में भी मैं मरा, पुनः उत्पन्न हुआ, यह मेरा पिता है, जिस भोग का भोग नहीं किया, उसको मैंने भोग लिया, ऐसी बुद्धि और भुक्त भोगों में मैंने इनका भोग नहीं किया, ऐसी प्रतीति मुग्ध लोगों में देखी जाती है ॥४९–५२॥

अविद्या से केवल असत्–प्रतीति ही नहीं होती, किन्तु सत् से विपरीत भान होना भी प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

नशे में और स्वप्न में रिक्त स्थान भी समृद्ध–सा यानी लोगों की भीड़ से ठसाठस भरा हुआ प्रतीत होता है, विपत्ति उत्सव के सदृश मालूम होती है और वंचना भी लाभ ज्ञात होती है ॥५३॥ जैसे मिर्चे के बीज के किनके में विद्यमान तीक्ष्णता डण्ठलों में अपने स्वरूप को व्यक्त किये बिना ही भीतर स्थित है, वैसे ही जिस अज में स्वरूपभूत यह सम्पूर्ण विश्व उसकी सत्ता से ही विद्यमान है, उस आत्मा में बन्धन और मोक्ष दृष्टि कहाँ से होगी और कैसे होगी ? यानी किस निमित्त से होगी और स्वरूपतः कैसे होगी ? वे सर्वथा असंभावित हैं, यह भाव है ॥५४॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इक्कीसवाँ सर्ग

विचारपूर्वक देखा जाय तो स्थूल सूक्ष्म है, सूक्ष्म अविद्या है और अविद्या भी चिन्मात्र ही है,
यों देवी द्वारा लीला का प्रतिबोधन।

श्रीदेवीजी विशेषरूप से प्रतिपादन करने के लिए पूर्वोक्त अर्थ का ही विस्तार करती हैं।

श्रीदेवीजी ने कहा : जैसे नेत्र खोलने से सम्पूर्ण रूपों की प्रतीति होती है, वैसे ही मृत्युरूप मोह के अनन्तर जीव को शीघ्र सम्पूर्ण जगतों का पूर्णरूप से भान होने लगता है। देश–काल–सम्बन्धमय, आकाशमय (गन्धर्वनगर आदि), धर्ममय (स्वर्ग आदि), कर्ममय (घर आदि) और प्रलयपर्यन्त स्थिर रहनेवाले पृथिवी आदि अनन्त जगत् उसके सन्मुख आविर्भूत होते हैं ॥१,२॥

मायिक स्मरणाभास और अनुभवाभास में प्रसिद्ध स्मरण और अनुभव से विलक्षणता दर्शाते हैं।

जो वस्तु कभी अनुभूत नहीं है और जो दृष्टिगोचर नहीं हुई है, वह भी स्वप्न में अपने मरण की नाईं मुझसे अनुभूत है और दृष्ट है, इस प्रकार तुरन्त स्मरण में आती है।

मायाकाश में प्रकाशमान आवरणरहित यह जगत्–नामक कल्पनारूप नगरी निःसीम भ्रान्ति ही है। वासना ही यह जगत्, यह सृष्टि, इस प्रकार विलास को प्राप्त होती है, समीप में स्थित और वर्तमान कालिक में यह दूरस्थित और भूतकालीन है, यों देश और काल के विप्रकर्षरूप से और सनातन और निष्क्रिय में क्षण, उनकी आवृत्तिरूप घड़ी, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास और वर्ष आदिरूप से विपर्यास (भ्रम) ही उक्त वासनाका केवल एकमात्र स्वरूप है। इस प्रकार ज्ञान अननुभूत और अनुभूतरूप से दो प्रकार का है, वह पूर्वकारणों से रहित ही और चिद्रूप ही प्रवृत्त होता है ॥३–६॥

जो अनुभव में नहीं आया है, उसमें अनुभूतत्व भ्रान्ति कहाँ देखी गई है ? इस पर कहते हैं ।

अननुभूत में (जो अनुभव में आरूढ़ नहीं हुआ है, उसमें) इसका हमने अनुभव किया, ऐसी प्रतीति अन्तःकरण में होती है, जैसे कि स्वप्न और भ्रमदशा में अन्य के पिता में ये मेरे पिता हैं ऐसी स्मृति होती है ॥७॥

यदि कोई कहे कि संसार अनादिकाल से चला आ रहा है, इस अनादि संसार में सब कुछ अनुभूत ही है, अतएव यह, जिसमें 'स एवायं यः पूर्वमनुभूतः पदार्थः' जिस पदार्थ का पहले अनुभव किया था, वही यह पदार्थ है) इत्याकारक तत्ता का लोप है, ऐसी स्मृति ही है, भ्रान्ति नहीं है, तो इस पर कहते हैं।

कभी प्रजापति की प्रथम सृष्टियों में स्मृतित्व का त्याग कर केवल अनुभवरूप से ही रहता है, उसके पश्चात् क्रमशः स्मृतिरूप से प्रतीत होता है ॥८॥

पूर्व अनुभूत का ही भान होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है, ऐसा कहती है।

हे सुन्दरी, तीनों भुवन आदि यह दृश्य प्रपंच किन्हीं लोगों की स्मृति में पहले अनुभव में आरूढ़ होकर स्थित है और किन्हीं की स्मृति में पूर्व में अनुभव में आरूढ़ हुए बिना ही स्थित है ॥९॥ काकतालीय के समान किन्हीं चिदणुओं को पूर्व में अननुभूत ब्रह्मत्व, स्मरण के बिना ही, प्रतीत होता है। भाव यह है कि जैसे कौए का जाना और ताल–फल का गिरना, इन दोनों का कार्यकारणभाव नहीं है, किन्तु काकगमन और फलपतन आकस्मिक है, वैसे ही कुछ चैतन्य परमाणुओं को मैं ब्रह्मा हूँ, यह स्मरण पूर्वानुभव के बिना ही अवभासित होता है। उसको पूर्वजन्म के प्रजेशत्व (ब्रह्मात्व) का स्मरण होता है, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि 'सहसिद्धं चतुष्टयम्' (तत्त्वज्ञान, सृष्टिकरणसामर्थ्य आदि ब्रह्मा के स्वाभाविक धर्म हैं) इत्यादि स्मृति से ब्रह्मा में अवश्य ज्ञानोदय होने पर उसका पुनर्जन्म नहीं हो सकता ॥१०॥

वासनाओं की राशि ही चित्त है, चूँकि संसार वासनाराशिरूप चित्तमय है, अतः चित्तके विनाश से आत्यन्तिक निर्वासनारूप विस्मृति ही मोक्ष है, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहती है।

विश्व का आत्यन्तिक विस्मरण मोक्ष कहलाता है। मोक्ष में किसी को भी प्रिय और अप्रिय कुछ नहीं होते, क्योंकि 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (मुक्त पुरुष को प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते) ऐसी श्रुति है ॥११॥ अहन्ता और जगत् की मूलभूत अविद्या के बाध

के बिना यह अनुत्पादमयी (नित्य) विमुक्तता उदित ही नहीं होती। कभी उत्पन्न हुए और रज्जू रूप से स्थित सर्पशब्द और सर्परूप अर्थ के भाव को जाने बिना रज्जू में सर्प का भ्रम शान्त होने पर भी शान्त नहीं होता। भाव यह है कि रज्जू में जो सर्प भ्रम होता है, उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति तभी हो सकती है, जब कि सर्प शब्द और सर्परूप अर्थ का होने पर भी फिर वह उदित हो जाता है, आत्यन्तिक निवृत्ति ही उसका एकमात्र उपाय है ॥१२,१३॥

यदि कोई कहे कि योग से मन की वृत्तिका शमन होने से ही वह शान्त हो जायेगा, ज्ञान की उसके लिए क्या आवश्यकता है, इस पर कहती है।

जो विक्षेपरूप अंशकी शान्ति से आधा शान्त हुआ यानी पूर्णतया निवृत्त नहीं हुआ, वह शान्त नहीं होता, क्योंकि समाधि से व्युथान होने पर वह फिर मूढ़ पुरुष को विक्षेपार्थरूप से प्रतीत होता है, क्योंकि मूढ़पुरुषको एक पिशाच की निवृत्ति होने पर दूसरा पिशाच दिखाई देता है ॥१४॥

ज्ञान से ही इस संसार सागर से निस्तार हो सकता है, ऐसा कहती हैं।

यह विशाल संसार पर ब्रह्म ही है, यह निश्चय है। अविद्या के बाध से यदि यह प्रकाशित होता है, तो प्रकाशित ही रहता है यानी फिर उसके आवरण आदि की शंका नहीं रहती है ॥१५॥

जो पहले यह कहा था कि यह सर्ग ब्राह्मण–ब्राह्मणी के सर्ग में अभ्यस्त वासनाओं से उत्पन्न है, उसमें लीला अनुपपत्ति की आशंका करती है।

लीला ने कहा : देवी, ब्राह्मण और ब्राह्मणी रूप सर्ग में इस सर्ग का कारणभूत संस्कार, पूर्व में अनुत्पन्न स्मरणयोग्य के पूर्वानुभव के बिना, कैसे उत्पन्न हुआ ? इस समय (राजसर्ग में) जो वस्तुएँ हैं, वे पहले (ब्राह्मण–ब्राह्मणीरूप सर्ग में) नहीं थीं, अतः उस समय उनका अनुभव हुआ यह नहीं कहा जा सकता। पूर्व अनुभव न होने के कारण संस्कार रूप वासना उस समय नहीं हो सकती, यह भाव है ॥१६॥ श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, केवल संस्कार ही वासना नहीं है, आगे मैं संस्कार से अतिरिक्त (अनादि अविद्याशक्तिरूप) वासना भी तुमसे कहूँगी। यदि संस्कार को भी तुम सृष्टि में आवश्यक मानती हो, तो सर्वज्ञ ब्रह्मा को भावी वस्तुओं का भी अनुभव हो सकता है, अतः उन्हीं का संस्कार उक्त सर्ग का कारण है, ऐसा मान लो। अपनी देह की सृष्टि आदि में तो उनका भी संस्कार कारण नहीं हो सकता है। यदि कहो कि उनसे पूर्व जो ब्रह्मा रहे, उनका संस्कार उनकी देह की सृष्टि में कारण है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे तो पूर्वकल्प की समाप्ति में ही मुक्त हो चुके ॥१७॥

जिनका इस समय स्मरण हो रहा है, उन वस्तुओं के ब्राह्मणसृष्टि में न रहने से भी उनके स्मरण का (संस्कार का) सम्भव नहीं है, ऐसा कहती है।

पहले स्मरणयोग्य पदार्थ थे ही नहीं। पूर्वकल्प के ब्रह्मा के शरीर आदि की वासना से युक्त मायोपहित चैतन्य की ही तादृश आकार से स्थिति होने से वही इस प्रकार के अपूर्व ब्रह्मा आदि के रूप से विवर्त को प्राप्त होता है ॥१८॥

पूर्व कल्प के ब्रह्मा की वासना से युक्त अविद्या का अविद्या के अधिष्ठानभूत तत्त्व के ज्ञान से बाध होने पर जो होता है, उसे कहती हैं।

पूर्वकल्प के प्रजापति से अब मैं प्रजापति हुआ, इस प्रकार काकतालीय के समान (अकस्मात्) कोई प्रतिभामय (काल्पनिक यानी मनोमय) प्राणी (ब्रह्मा) उत्पन्न होता है ॥१९॥

चूँकि ब्रह्मा स्वयं कल्पनामय है, अतएव उसका और उसकी सृष्टि का बाध होना युक्ति युक्त है, इस आशय से कहती है।

जगत् के इस प्रकार उदित होने पर भी कभी कुछ भी उदित नहीं हुआ, केवल चिदाकाश ही स्थित है ॥२०॥ पूर्व अनुभव से उत्पन्न संस्कार से जनित अथवा अनादि अविद्याशक्तिरूप अन्य वासना से उत्पन्न हिरण्यगर्भ की अथवा अन्य किसीकी स्मृतिरूप इस सृष्टि का कारण परमपद (मायाशबल ब्रह्म) है। शुद्ध ब्रह्म में तो कार्यकारणभाव आदि भेद की गन्ध भी नहीं है, ऐसा कहती हैं। चिदाकाश में यह कार्यकारणभाव एक ही है यानी अभिन्न ही है। भाव यह कि शुद्ध चिद् में कार्यकारणभाव की गन्ध भी नहीं है ॥२१॥

कार्य–कारणविकल्प अविचाररूप माया द्वारा किया गया है, विचार करने पर उसका बाध हो जाता है, यह दर्शाने के लिए विचार करती हैं।

कार्य (पट आदि) और कारण (तन्तु आदि) ताना, बाना आदि सहकारी कारणों से होंगे, क्योंकि उनकी उत्पत्ति में यदि वे उपकारण न होंगे, तो सहकारी कारण ही क्यों कहलायेंगे ? उपकारक रूप कार्य भी वैसे ही सहकारी कारणों से होगा, इस प्रकार अनवस्था हो जायेगी। उक्त अनवस्था दोषवश उपकार न होने से कार्य–कारण भावका बाध होने पर कार्यकारण–कल्पना के अधिष्ठानभूत तन्तु आदि का अभेद शान्त नहीं होता, क्योंकि भेद का कारण कोई नहीं है ॥२२॥

युक्ति से ऐसा भले ही हो, पर यह बात अनुभव में कैसे आरूढ़ हो सकती है, उसके लिए श्रीदेवीजी प्रत्यग्दृष्टि का व्युत्पादन करती हैं।

'स्मर्यतेऽनेन इति स्मरणम्' इस व्युत्पत्ति से स्मरण चित्संवलित व्यष्टि और समष्टि अन्तःकरण है, उसीको आप वेदन जानिये और वह मायाशबल ईश्वर का कार्य है। वहाँ पर मायोपाधि और अन्तःकरणोपाधिका भेद प्रतीत होने पर उससे उपहित अधिष्ठानरूप सन्मात्र में भी भेदकल्पना होने से कार्य के अस्तित्व का जन्म कारणसत्ता के अधीन है, इस भ्रम से पूर्व अवस्थावाले सद्रूप कारण को यह उत्तरावस्थावाला कार्य है, ऐसा जो तुम जानती हो, वैसा जानना ठीक नहीं है, किन्तु माया और उसके कार्य की उपेक्षा कर उन दोनों में अनुगत सन्मात्र महाचिद्रूप का ही स्मरण (वेदन) जानो। उस पूर्वोक्त लक्षणवाले प्रत्यग्दर्शन से कार्यकारणता तो बाधित हो गई, बच गया केवल कार्य और कारण शब्द। वह भी इस दृष्टि से देखने पर वास्तव नहीं है। इस प्रत्यग्दृष्टि का स्वराज्यसिद्धि में खूब स्पष्टरूप से उपपादन किया गया है।

पिण्डावस्थाघटत्वे मनसि कलयतो हेतुकार्यत्वधीः स्यात्
मृन्मात्रं यद्वदेकं स्फुटमभिमृशतो नैव हेतुर्न कार्यम्।
तद्वन्मायिप्रपंचौ झटिति कलयतो ब्रह्म विश्वस्य हेतुः
सन्मात्रं त्वेकरूपं पटु परिमृशतो नैव मायी न विश्वम्॥

(जैसे मन में मिट्टी का पिंड और घटत्व का ग्रहण (ध्यान) कर रहे पुरुष की हेतुत्व और कार्यत्व बुद्धि होती है, केवल मिट्टी का पिंड का ही ध्यान कर रहे पुरुष की दृष्टि में न कार्य है और न कारण है, वैसे ही मायावान् और प्रपंच का ध्यान कर रहे पुरुष की दृष्टि में ब्रह्म विश्व का हेतु है, यह प्रतीति होती है, एकरूप सन्मात्र का ध्यान कर रहे पुरुष की दृष्टि में न मायावान् है और न विश्व ही है।

वार्तिक में भी कहा है :

तस्मात्संभावनामात्रः संसारः प्रत्यगात्मनि।
उक्तेऽर्थे संशयश्चेत् स्यात् प्रत्यग्दृष्टया निरीक्ष्यताम् ॥

इसलिए संसार प्रत्यगात्मा में संभावनामात्र है। उक्त अर्थ के विषय में यदि सन्देह हो तो प्रत्यक्–दृष्टि से देखिये ॥२३॥

इस प्रकार प्रपंचाभाव अक्षुण्ण स्थित है, यों उपसंहार करती है।

इस तरह कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ है, जो कुछ जगत् आदि दृश्यरूप से प्रतीत होता है, यह भी चित् ही है। केवल चिदाकाश स्वात्मभूत चिदाकाश में स्थित है, क्योंकि 'स्वे महिम्नि स्थितः' (अपने स्वरूप में स्थित है) ऐसी (✍) श्रुति है ॥२४॥

प्रत्यग्–दृष्टि से प्रबुद्ध हुई लीला ने कहा।

लीला ने कहा : हे देवी, जैसे प्रातःकाल की प्रभा लोगों को जगत् की स्फुटरूप शोभा दिखलाती है, वैसे ही आपने मुझे बड़ी श्रेष्ठ दृष्टि दिखलाई है। इस समय जब तक मैं अभ्यास न होने के कारण इस दृष्टि में व्युत्पत्ति प्राप्त न कर लूँ, तबतक आप मेरी इस उत्कण्ठा को नष्ट कीजिये ॥२५,२६॥ हे देवी, जिस घर में वह ब्राह्मण ब्राह्मणी के साथ रहता था, उस सृष्टि में पर्वतीय ग्राम में मुझे ले चलिये, उसे मैं देखती हूँ ॥२७॥ श्रीदेवीजी ने कहा : सुन्दरी, परम पवित्र जो चेत्यशून्य चिन्मय दृष्टि (कारण ब्रह्मरूपता) है, उसका अवलम्बन कर इस आकारका त्याग कर निर्मल होओ। भाव यह कि उसके अवलोकन के लिए समाधि द्वारा पहले की नाईं इस शरीर का भूल जाना परम आवश्यक है। तदनन्तर तुम मायाकाशरूप चिदाकाश में स्थित उस सृष्टि को अवश्य प्राप्त होओगी जो कि भूमि में स्थित मनुष्यों के संकल्प (मनोरथ) की नाईं और आकाश के अन्तःपुर की नाईं है ॥२८,२९॥

तुम्हारे पूर्वोक्त प्रकार से निर्मल होने पर हम दोनों साथ–साथ किसी प्रकार के प्रतिबन्ध

✍ 'केचन' के स्थान में 'काचन' पाठ बहुधा उपलब्ध होता है। उक्त पाठ में ऐसा अर्थ करना चाहिए। विश्व का आत्यन्तिक विस्मरण मोक्ष कहा जाता है, उक्त अवस्था में प्रिय और अप्रिय नहीं होते, क्योंकि 'अशरीरं बाबा' ऐसी श्रुति है। क्यों नहीं होते ऐसी आकांक्षा होने पर कहती हैं– 'काचन'। मोक्षावस्था में जो चिति अवशिष्ट रहती है, वह किसकी है, विषय की है या भोक्ता की है ? जिसके कारण प्रिय और अप्रिय होंगे ? भगवती श्रुति ने भी कहा है– 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' (जिस मोक्ष दशा में इसका सब कुछ आत्मा ही हो गया, वहाँ किसको किससे देखेगा) इत्यादि।

से शून्य उस सृष्टि को देखेंगे। उस सृष्टि के दर्शनरूप महल के द्वार में यह शरीर का बड़ा भारी प्रतिबन्ध है, इस शरीर के रहते उसका दर्शन कदापि नहीं हो सकता, यह भाव है।

लीला ने कहा : हे देवी, इस शरीर से दूसरी सृष्टि क्यों प्राप्त नहीं होती ? इसमें क्या युक्ति है ? इस बात को कृपाकर आप मुझसे कहिये ॥३०,३१॥ श्रीदेवीजी ने कहा : वत्से, ये जगत् मायामय होने के कारण अमूर्त हैं, लेकिन मिथ्याज्ञान से आप लोग इन्हें मूर्तिमान् मान बैठे हैं जैसे कि सुवर्ण को लोग अँगूठी समझ लेते हैं जैसे अँगूठी का आकार धारण किये हुए सुवर्ण में अँगूठीपना नहीं है वैसे ही जगत् का रूप धारण किये हुए ब्रह्म में भी जगत् नहीं है। यह जगत् आकाश (शून्य) ही है, यहाँ पर जो कुछ दिखलाई देता है, वह ब्रह्म ही है, जैसे धूलि के विरोधी समुद्र में प्रतिबिम्बरूप धूलि दिखलाई देती है वैसे ही ब्रह्म में भ्रमवश माया दिखाई देती है ॥३२-३४॥

उक्त अर्थ में प्रमाणों की असंभावना का मूलोच्छेद करने के लिए दृढ़तर प्रमाणों को दिखलाते हैं।

यह सम्पूर्ण प्रपंच झूठा है और ब्रह्म सत्य है, अद्वितीय आत्मरूप । इस विषय में उपनिषत् वाक्य, गुरुजन और अपना अनुभव प्रमाण है ॥३५॥ ब्रह्म ही ब्रह्म को देखता है ब्रह्म से भिन्न कदापि ब्रह्म को नहीं देख सकता, ब्रह्म की ही इस प्रकार की यह आवृत-सत्ता सृष्टि के नाम से लोक में प्रसिद्ध हुई है ॥३६॥ ब्रह्म और जगतों की कारणता और कार्यता नहीं हो सकती है, क्योंकि सम्पूर्ण सहकारी कारणों का अभाव है ॥३७॥ अभ्यास न होने के कारण जबतक तुम्हारी भेदबुद्धि शान्त नहीं होती, तबतक तुम निश्चय अब्रह्मरूप (ब्रह्मभिन्न देह आदि में आत्मबुद्धि करने के कारण देह आदिरूप) हो, अतएव तुम ब्रह्म को नहीं देख सकती। ब्रह्मज्ञान का बार-बार अभ्यास करने के कारण उक्त अर्थ में (अद्वैत ब्रह्म में) जो अत्यन्त व्युत्पन्न हो गये हैं, ऐसे हम लोग उस परम पद का साक्षात्कार करते हैं॥३८,३९॥ मनोरथ से गढ़े गये नगर के समान मेरा शरीर आकाशमय (शुद्धचित्ताकाशमय) है, इस देह से मैं ब्रह्मरूपी उस परम पद को अपने अन्तःकरण में ही देखती हूँ॥४०॥ भद्रे, जैसे मैं देखती हूँ, वैसे ही ये ब्रह्मा आदि भी विशुद्ध चित्तरूपी देह से ब्रह्मदर्शन के योग्य हैं, वे ब्रह्मरूप जगत् और जगत् के व्यवहारों की ब्रह्म के एक देश में स्थिति देखते हैं। 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' (उसका एक हिस्सा सम्पूर्ण भूत हैं और अमृत तीन भाग द्योतनात्मक स्वरूप में हैं) ऐसी श्रुति है ॥४१॥

यह देह केवल अन्य सृष्टि के दरवाजे पर जाने में ही प्रतिबन्धक नहीं है। किन्तु तत्त्वज्ञान का भी प्रतिबन्धक है, ऐसा कहती हैं।

बेटी, अभ्यास न होने के कारण ब्रह्मरूपता को प्राप्त न हुआ तुम्हारा आकार कलनस्वरूप (कलन यानी अन्तःकरण में जो चिदाभास तत्स्वरूप) स्थित है, अतएव तुम प्रकरणप्राप्त ब्रह्म को और उक्त पर्वतीय ग्राम को नहीं देखती हो ॥४२॥

इस देह से उसकी जो प्राप्ति नहीं होती, उसमें हेतु है, उसका संकल्पजन्य होना इस बात

को कैमुतिक न्याय से दृढ़ करती हैं।

जब अपने संकल्प से (मनोरथ से) निर्मित नगर अपने शरीर से प्राप्त नहीं हो सकता, तब दूसरे के संकल्प से विरचित नगर को अन्य देह कैसे प्राप्त करेगी ? यानी यह संभव नहीं है ॥४३॥ हे कार्यज्ञों में श्रेष्ठ सुन्दरी, इसलिए इस देह का परित्याग कर तुम चिद्व्योमरूपिणी हो जाओ। चिद्व्योमरूपिणी होकर तुम तुरन्त उसको देखोगी, अतएव तुम शीघ्र वही कार्य करो ॥४४॥ देह से साध्य अथवा देह से असाध्य जो संकल्प नगर का व्यवहार उसके उपभोग के प्रति संकल्पनगर सत्य है, यानी व्यवहारक्षम है। पर देह से साध्य अथवा देह से असाध्य अन्य किसी व्यवहार के लिए सत्य नहीं है ॥४५॥

ब्रह्मा के संकल्प से उत्पन्न इस जगत् का हमारे संकल्प से जनित (सांकल्पिक) नगर से कोई अन्तर नहीं है क्योंकि संकल्पजन्यत्व दोनों में समान ही है फिर उनमें परस्पर विलक्षणता कैसे हो गई ? ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर अनादि नियतिरूप ईश्वर की इच्छास्वरूप मायाशक्ति से उनमें विलक्षणता हुई है – ऐसा श्रीदेवीजी कहती हैं।

प्रथम सृष्टि में यह जगत्भ्रान्ति जैसी दृढ़ता को प्राप्त हुई थी, तभी से लेकर यह ईश्वरेच्छारूप मायाशक्ति वैसे ही दृढ़ता को प्राप्त हुई है, भाव यह कि हमारे द्वारा संकल्पित नगर और ब्रह्मा द्वारा संकल्पित जगत् की विलक्षणता में अनादि ईश्वरेच्छारूप मायाशक्ति ही हेतु है ॥४६॥ लीला ने कहा : हे देवि आपने कहा है कि ब्राह्मण और ब्राह्मणी के जगत् में तुम और हम साथ ही जाते हैं, पर माता, मैं पूछती हूँ कि हम लोग साथ–साथ कैसे जायेंगे। इस शरीर को यहाँ पर रखकर शुद्ध सत्त्व का अनुसरण करनेवाले चित्त से मैं उस आकाशमय सृष्टि में जाऊँगी, पर आप अपनी इस देह से वहाँ कैसे जाओगी ? ॥४७,४८॥ श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, जैसे तुम्हारा संकल्पमय आकाशवृक्ष सांकल्पिक सत्ता से सत् होता हुआ भी वास्तविक सत्ता से शून्यात्मक ही है, न वह आवरण करनेवाली भीत आदि की नाईं मूर्तिमान् है, न वह आवरण से रोका जा सकता है और न आवरणभूत दीवार का भेदक है, क्योंकि शून्यस्वरूप जो ठहरा। शुद्ध सत्त्वगुण का कार्य हमारा शरीर आदि चिद्रूप का ही वैसा (शरीराकार) प्रतिभान है, इस कारण परब्रह्म से तनिक ही उसमें भेद है। जैसे जले हुए वस्त्र में वस्त्राकार वस्तुतः उसकी भस्म ही है वैसे ही अस्मद्देहाकार वस्तुतः ब्रह्म ही है, यह भाव है ॥४९,५०॥ मेरा यह शरीर इस प्रकार का है, अतएव तुम्हारी नाईं इसका परित्याग करके मैं नहीं जाती हूँ। जैसे वायु गन्ध को प्राप्त होती है वैसे ही इसी देह से मैं ब्राह्मण–ब्राह्मणी के उस प्रदेश को प्राप्त होऊँगी ॥५१॥

यदि ऐसी बात है तो मेरे पति की संकल्पजनित सृष्टि से इसका (मेरी देहका) संयोग कैसे हुआ, इस पर देवीजी कहती हैं।

जैसे जल जल में मिल जाता है, अग्नि अग्नि से मिल जाती है, वायु वायु से मिल जाती है, वैसे ही यह तुम्हारी देह मनोमय देहों से और अन्य वस्तुओं से मिल जाती है ॥५२॥

तब तो मेरा शरीर भी वस्तुतः मनोमात्र होने से आपके शरीर का सजातीय ही ठहरा,

इसलिए आपके शरीर से अभिन्न होकर या आपके शरीर से संयुक्त होकर वहाँ क्यों नहीं जा सकता है ? इस पर कहती हैं।

पृथिवी का विकार पार्थिव कहलाता है, पार्थिवत्व से जो जाना जाय वह पार्थिवत्वसंवित् है, यानी तुम्हारा शरीर वह अपार्थिव संवित् यानी उससे विरुद्ध चिन्मात्र स्वरूप मेरे शरीर से कदापि अभेद या संयोग को प्राप्त नहीं हो सकता। क्या काल्पनिक पर्वत और सत्य पर्वत का परस्पर आघात (टकराना) कहीं हो सकता है ? कहीं नहीं ॥५३॥

मेरा शरीर भी तो मानस ही है, इसके मानस होने से यह पार्थिव कैसे ? इस पर कहती हैं।

तुम्हारा यह चित्तमय शरीर आतिवाहिक ही है। जैसे स्वप्न में, दीर्घकालिक ध्यान में, भ्रम से संकल्प होने पर और गन्धर्वनगर में आतिवाहक चित्तमय पदार्थ आधिभौतिकरूप से प्रतीत होता है, वैसे ही तुम्हारे सरीखे लोग आतिवाहक चित्तमय देह को चिरकाल के अभ्यास से आधिभौतिक समझ बैठे हैं ॥५४,५५॥

तो कब इसके पार्थिवभाव की (पृथिवी विकारता की) निवृत्ति होगी ? इस प्रश्न पर देवीजी कहती हैं।

जब समाधि के अभ्यास से तुम्हारी वासना अल्प हो जायेगी, तब फिर आतिवाहिक भाव तुम्हारे शरीर में प्राप्त होगा ॥५६॥

अन्य लोगों के स्थूलदेह का नाश दिखलाई देता है, अतएव जीवन्मुक्त के शरीर का भी नाश ही संभावित है, उसके आतिवाहिक होने की संभावना नहीं है, इस आशय से लीला पूछती हैं।

समाधि के अभ्यास से जब 'हमारा शरीर आतिवाहिक (सूक्ष्म) है' यह प्रतीति दृढ़ हो जाती है, तब यह स्थूल देह उक्त सूक्ष्म दशा को (अतिवाहिकता को) प्राप्त होता है, अथवा विनष्ट हो जाता है ॥५७॥

तत्त्वज्ञानी का शरीर ज्ञान से बाधित हो जाता है, अतः वह जले हुए वस्त्र के समान है ही नहीं। केवल पूर्वकाल की वासनामात्र से वस्त्राभास की नाईं प्रतीत होने पर भी वासना के और सूक्ष्म होने पर उससे भी अधिक सूक्ष्म हो जाता है, इसलिए वह आतिवाहिकता (सूक्ष्मता) को ही प्राप्त होता है, विनाश को प्राप्त नहीं होता, इस आशय से देवी ने उत्तर दिया।

जो वस्तु है उसीमें नाश और नाश के अभाव का क्रम होता है जो पदार्थ वास्तव में है ही नहीं, उसका नाश कैसा ? ॥५८॥

बेटी, यथार्थज्ञान होने से रस्सी में सर्प की भ्रान्ति के निवृत्त होने पर सर्पका विनाश नहीं हुआ और हुआ यह कथन क्या प्रयोजन रखता है यानी जब सर्प था ही नहीं तब उसके विनाश और अविनाश की कथा काक दन्त गणना के समान निष्फल है ॥५९॥

जैसे सत्य के परिज्ञान से रज्जु में सर्प नहीं दिखलाई देता वैसे आतिवाहिक शरीर के ज्ञान से आधिभौतिक शरीर नहीं दिखाई देता। कल्पित दृश्य प्रपंच पहले था, ज्ञान से उसकी समूल निवृत्ति हो गई है, इस प्रकार की व्यवहार-कल्पना स्थूल दृष्टि से ही होती है, तत्त्वद्रष्टि से तो

उसकी भी संभावना नहीं है, ऐसा कहती हैं।

कल्पना यदि किसी के द्वारा समर्थित हो, तो उसकी भी ज्ञान से निवृत्ति हो जाती है, जो शिला है ही नहीं, उसका भी तो उपयोग किया ही गया है, काल्पनिक पदार्थों का भी अज्ञानदशा में उपभोग देखा ही जाता है, ज्ञान होने पर उनकी निवृत्ति हो जाती है, यह भाव है ॥६०॥

गौड़पादाचार्य ने भी कहा है :

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित्। उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥

(विकल्प– गुरु, शिष्य, शास्त्र आदि निवृत्त हो जाता है, यदि वह किसी के द्वारा कल्पित हो। जैसे यह प्रपंच रज्जू में सर्प के समान भ्रान्ति है वैसे ही शिष्य आदि भेद विकल्प भी भ्रम ही है, वह ज्ञान प्राप्ति से पहले उपदेश के लिए उपात्त है, उपदेशार्थ यह वाद यानी शिष्य, शासक, शास्त्र आदि होता है, उपदेश के कार्यभूत ज्ञान के उत्पन्न होने के उपरान्त तत्त्व के ज्ञात होने पर द्वैत नहीं रहता) ॥६१॥

तब आप लोग अपने शरीर को कैसे देखते हैं, यह प्रश्न होने पर देवीजी कहती है।

परम ब्रह्म से परिपूर्ण ये देह आदि पांच कोश, जो कि एक एक के अन्दर प्रविष्ट महिमा में स्थित परम ब्रह्म ही हैं, ऐसा हम लोग बिना किसी विघ्नबाधा के देखते हैं। हे भद्रे, तुम ऐसा नहीं देखती हो, क्योंकि तुम्हें अभी दृढ़ तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है ॥६२॥

यदि शंका हो कि चिति तो अदृश्य है, यह दृश्यसत्त्वरूपता को कैसे प्राप्त हुई, तो इस पर कहते हैं।

हिरण्यगर्भ की सृष्टि में उसे दर्शन का विषय बना रही चिति का चित्त्व धर्म होता है। जब पंचीकरण के द्वारा कल्पना से स्थूलरूप की कल्पना हूई तब सभी से लेकर एक अनुगत तत्त्व दृश्यके अनुरोध से स्वयं भी दृश्यभूत अपने को भ्रान्ति से देखता है ॥६३॥

जो पहले यह कहा था कि कलन नामक प्रथम विकार के अधीन ही तो सम्पूर्ण कल्पना होती है, उस कलना में ही लीला अनुपपत्ति की शंका करती है।

लीला ने कहा : देवी, देश और काल आदि के विभागसे रहित नित्यविद्यमान परतत्त्व में (ब्रह्म में) कलन (ईक्षण) नामक प्रथम विकार का अवसर ही कहाँ है ? भाव यह है कि पूर्वकाल में स्थित दूध उत्तरकाल में दही के आकार में परिणत होता है। दही होने पर दूध विद्यमान नहीं रहता देश–काल सम्बन्धशून्य नित्य विद्यमान ब्रह्म में कलन का अवसर ही नहीं है ॥६४॥

तुमने ऊपर जो दोष कहा है, वह विकार को सत्य मानने पर ही होता है, मिथ्या मानने पर नहीं होता, इस प्रकार लीला द्वारा उपस्थापित दोषका देवीजी परिहार करती हैं।

जैसे सुवर्ण में कटकत्व (वलयत्व) है ही नहीं, जैसे जल में तरंगत्व है ही नहीं और जैसे स्वप्न के नगर और मनोरथ से कल्पित नगर आदि में सत्यता है ही नहीं, वैसे ही सत्–चित् आनन्द ब्रह्म में कल्पनासे अतिरिक्त स्वरूप एवम् निर्दोष उसके स्वभाव से पृथक् कोई भी वस्तु नहीं है। जैसे आकाश में धूलि नहीं है वैसे ही परब्रह्ममें कलन नामक प्रथम विकार नहीं हैं। विषयशून्य, शान्त अविनाशी अद्वितीय ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है ॥६५–६७॥

जो कुछ भी यह दृश्य प्रपंच प्रतीत हो रहा है, वह सब ब्रह्म का विशुद्ध विकास है। पर जैसे श्रेष्ठ चन्द्रकान्त मणि भ्रमवश काचकी नाईं प्रतीत होती है वैसे ही ब्रह्म के विशुद्ध विकास की दृश्यरूप से प्रतीति हो रही है ॥६८॥

अब लीला उक्त भ्रम का कारण पूछती है।

लीला ने कहा : हे देवि, कृपाकर आप बतलाइए कि हम लोगों को इतने सुदीर्घ काल तक किसने द्वैत और अद्वैत के विविध विकल्पों द्वारा भ्रम में डाल रक्खा है ? ॥६९॥

विचार से बाध्य होने के कारण विचार विरोधी अविचार शब्द से वाच्य मोह ने ही उक्त भ्रम में लोगों को डाल रक्खा है, यों देवी उसका समाधान करती है।

श्रीदेवीजी ने कहा : चंचले, तुम अविचार से व्याकुल होकर चिरकाल से भ्रान्त हो। अविचार स्वभाव से उत्पन्न है, विचार से उसका विनाश होता है। विचार से अविचार पलकभर में ही निवृत्त हो जाता है। यह (अविचाररूप) अविद्या विचार से बाधित होकर ब्रह्मसत्ता हो जाती है, इसलिए अविद्या का अस्तित्व नहीं है। इसलिए न तो अविचार है, न अविद्या है, न बन्धन है और बन्धन न होने से न मोक्ष ही है, इसलिए यह जगत् केवल अबाधित शुद्ध बोध ही है ॥७०-७२॥ कितने काल तक तुमने इसका विचार नहीं किया, इसीलिए तुम्हें बोध नहीं हुआ, अतएव तुम ब्रह्म में भ्रमशालिनी हो, इसीलिए व्याकुल हो ॥७३॥ ज्ञान से द्वैतवासना का बाध होने पर तत्त्ववासना का शेष रहना ही वासना की अल्पता है, वही मुक्ति का बीज है, वह अब तुम्हारे चित्त में पड़ गया है, अतएव विवेकशालिनी तुम आज से प्रबुद्ध हो और विमुक्त हो ॥७४॥

यदि कोई कहे कि फिर द्वैतवासना का अंकुर हो जायेगा, तो उस पर कहती है।

संसार नामक यह दृश्य पहले ही जब उत्पन नहीं हुआ तब लोगों को उसकी वासना कैसे होगी ? और वासना भी क्या है ? भाव यह कि न वासना है और न जगत् ही है, फिर वासना से द्वैत का प्ररोह कैसे ? ॥७५॥ अध्ययनरूप परम निर्विकल्प समाधि के मन में आरूढ़ होने पर द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि का अत्यन्त अभाव होने पर, हृदय में इस वासनाक्षयरूप बीज के कुछ अंकुरित होने पर राग, द्वेष आदि दृष्टियाँ क्रमशः उदय को प्राप्त नहीं होंगी और संसार की उत्पत्ति भी निर्मूल हो जायेगी एवं निर्विकल्प समाधि परम स्थिरता को प्राप्त होगी। इस प्रकार निर्विकल्प समाधि के स्थिर होने से कुछ समय के बाद मायाकाश और उसके कार्यों के अधिष्ठानस्वरूप निर्मल आत्मा के अवलम्बनसे (साक्षात्कार से) तुम भ्रान्तिज्ञान रूप कालिमा से रहित अतएव कलंकशून्य होकर सम्पूर्ण प्राणियों की भ्रान्तियों का, उनकी कार्यभूत वासनाओं का और उनकी कारण अविद्या का अवसान भूत (बाध की अवधिरूप) मोक्षरूप हो जाओगी ॥७६-७९॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

बाईसवाँ सर्ग

तुरीय अवस्था, जीवन्मुक्त की स्थिति,
वासनाओं के क्षयका उपाय और उसके अभ्यास का प्रतिपादन।

परिपक्व ज्ञान होने से पूर्व कही गई स्थूल देहता की निवृत्ति और आतिवाहिकता की प्राप्ति को दृष्टान्तों द्वारा बतलाने के लिए देवीजी प्रस्तुत होती है।

श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, यद्यपि स्वप्नावस्था में स्वप्न के शरीर का अनुभव होता है, तथापि यह स्वप्न है, इस परिज्ञान से जैसे स्वप्नदेह वास्तविक नहीं रहती, मिथ्या ठहरती है, वैसे ही यद्यपि इस स्थूलदेह का पहले अनुभव होता है, तथापि वासनाओं का क्षय होने से यह स्थूल शरीर बाधित हो जाता है॥१॥ जैसे स्वप्न के ज्ञानसे स्वप्न देह लापता हो जाती है, वैसे ही वासनाओं के क्षीण होने से जाग्रत देह (स्थूलदेह) भी शान्त हो जाती है, नष्ट हो जाती है॥२॥ जैसे स्वप्न में प्रतीयमान स्वप्नदेह का और मनोरथ द्वारा कल्पित कल्पनामय देह का विनाश होने पर इस देह का (जाग्रत देह का) भान होता है, वैसे ही जाग्रद्भावना का (स्थूलदेह में अहंभावना का) समूल उच्छेद हो जाने पर आतिवाहिक देह का उदय होता है। जैसे स्वप्नावस्था के वासनारूपी बीज (✍) से निर्मुक्त होने पर सुषुप्ति का उदय होता है यानी जब तक स्वप्न में वासना रहेगी, तब तक सुषुप्ति का आविर्भाव नहीं हो सकता, वैसे ही जाग्रदावस्था के वासनारूपी बीजों से शून्य होने पर जीवन्मुक्ति का उदय होता है॥३,४॥

यदि कोई शंका करे कि जीवन्मुक्तों में भी वासना है ही, क्योंकि यदि उनमें वासना न होती, तो उनका भोजन आदि व्यवहार ही नहीं बनता, इस पर कहते हैं।

जीवन्मुक्त पुरुषों की जो वासना है, वह वासना नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण शुद्धवासनाओं के बाध के अवधिभूत अधिष्ठानसत्त्व का ही शुद्धवासना यह नाम है। जैसे कि 'जला हुआ कपड़ा' यह भस्म का ही नाम है, वह सम्पूर्ण वासनाओं में अनुगत (अनुस्यूत) सामान्य सत्ता ही शुद्ध वासनारूप से कही जाती है, यह भाव है॥५॥

मूर्छा और सुषुप्ति में अवान्तर भेद दर्शाते हैं।

जिस निद्रा में वासनाओं का उद्भव न हो या तिरोभाव हो जाय, उसका नाम सुषुप्ति है, जिस जागरण में वासनाओं का आविर्भाव न हो या तिरोभाव हो जाय, उसको घन मोह (मूर्छा) कहते हैं। भाव यह कि अनुद्भुतवासना निद्रा सुषुप्ति है और आविर्भूतवासना जागरण मोह यानी मूर्छा है॥६॥ जिसमें वासनाओं का सर्वथा क्षय हो जाता है, ऐसी निद्रा 'तुर्य' शब्द से कही जाती है, यहाँ पर 'निद्रा' पद की विवक्षा नहीं है, क्योंकि जागरणावस्था में भी परम पद

✍ श्लोकस्थ 'निर्मुक्तवासनाबीजे' का अर्थ जिसमें वासनारूपी बीज स्पष्ट नहीं है यानी तिरोहित है, ऐसा करना चाहिए न कि जिसमें वासनारूपी बीज उच्छिन्न हो गया है, ऐसा अर्थ करना चाहिए, क्योंकि ऐसा अर्थ करने से सुषुप्ति के अनन्तर पुनः स्वप्न की प्राप्ति नहीं होगी। ऐसे ही निर्वासनाबीज का अर्थ भी जिसमें सम्पूर्ण वासनारूपी बीज बाधित है, ऐसा करना चाहिए।

का ज्ञान होने पर और ज्ञान से समूल वासनाओं का विनाश होने पर तुर्यावस्था होती हैं। जीवित पुरुषों की वह जीवावस्था जिसमें कि वासनाओं का सर्वथा अभाव रहता है जीवन्मुक्ति कहलाती है, उसे अमुक्त (बद्ध) पुरुष नहीं जान पाते हैं। जैसे सूर्य के ताप से बर्फ जलरूप में परिणत हो जाती है, वैसे ही शुद्ध वासनाओं के अवधि अधिष्ठानभूत सत्त्व में संलग्न यानी समाधि के अभ्यास से चिरकाल तक उसमें स्थित तथा क्षीणवासना वाला मन आतिवाहिकता को (सूक्ष्मता को) प्राप्त होता है। आतिवाहिकता को प्राप्त, व्युत्थानकाल में और व्यवहारकाल में भी आत्मज्ञान सम्पन्न मन अन्यान्यसृष्टियों के और अन्यान्य जन्मों के चित्तों से और देव आदि के योग्यशरीरों से एकरूप में मिल जाता है, जो मन आतिवाहकता को प्राप्त नहीं है और सदा ज्ञानसम्पन्न नहीं है, वह उनसे नहीं मिलता। खूब अभ्यास करने से जब तुम्हारा यह अहंभाव (अहंकार) शान्त हो जायेगा, तब तुम्हारी स्वाभाविक चिद्रूपता, जो कि दृश्यप्रपंच की चरम अवधिभूत है, उदित हो जायेगी। जब तुम्हारा आतिवाहिकताज्ञान सर्वदा के लिए स्थायी हो जायेगा, तब तुम संकल्प से अदूषित अतएव पवित्र लोकों को देखोगी। भद्रे, इसलिए तुम वासनाओं का जैसे क्षय हो वैसा प्रयत्न करो। जब तुम्हारा वासनाक्षय चरम सीमा को प्राप्त हो जायेगा, तब तुम जीवन्मुक्त हो जाओगी ॥७–१३॥

पूर्वोक्त पर्वत का जो छोटा–सा गाँव है, उसको देखने की इच्छा से प्रतिबद्ध चित्त में बोध की पूर्ति या वासनाओं के क्षयार्थ अभ्यास नहीं हो सकता है, इस आशय से कहती हैं।

जब तक तुम्हारा यह अतिशीतल (शान्तिप्रद) बोधरूपी चन्द्रमा पूर्ण नहीं होता, तब तक तुम इस देह को रखकर अन्यान्य लोकों को देखो ॥१४॥

मेरी देह का अवस्थापन किसलिए किया जाय, आपकी देह के संसर्ग से यह भी क्यों नहीं जा सकती ? इस शंका पर देवीजी कहती हैं।

व्यवहारों में अथवा गमन आदि कर्मों में मांसनिर्मित देह मांसनिर्मित देह से ही संयोग को प्राप्त हो सकती है, मांस देह चित्तशरीरसे कदापि सम्बन्ध को प्राप्त नहीं हो सकती ॥१५॥

क्या वरदान की नाईं या शाप की नाईं आपके वचन से ही मेरा माँसमय शरीर आपके शरीर से सम्बन्ध को प्राप्त होगा ? इस शंका पर श्रीदेवीजी 'नहीं', ऐसा समाधान करती है।

अत्यन्त अनभिज्ञ बालकों से लेकर सिद्ध पुरुषों तक प्रसिद्ध सबके अनुभव से सिद्ध यथास्थित अर्थ का ही मैंने अनुवाद किया है, वर और शाप की नाईं किसी अपूर्व अर्थ का जबरदस्ती प्रतिवादन नहीं किया है ॥१६॥

यदि वस्तु का स्वभाव, जो कि लोकसिद्ध है, विपरीत नहीं हो सकता, तो वासनाओं के क्षीण होने पर भी इस स्थूलदेह की आतिवाहिकता की सम्भावना नहीं की जा सकती, ऐसी शंका कर श्रीदेवीजी कहती हैं।

ज्ञान के प्रचुर अभ्यास से सांसारिक वासनाओं का विनाश होने पर यही स्थूल देह चित्तशरीर यानी आतिवाहिक शरीर हो जाती है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥१७॥

जीवों का परलोकगमन भी आतिवाहिक देह से होता है, यह प्रसिद्ध है, मृत स्थूलदेह की

जो यहीं पर स्थिति देखी जाती है, ऐसी अवस्था में यह कैसे सम्भव हो सकता है कि एक ही काल में एक ही जीव का आतिवाहिक भाव जीवन हो और स्थूलभाव से मरण हो ? ऐसी शंका कर श्रीदेवीजी इसका समाधान करती हैं।

मरणकाल में इसी देह में उदित होनेवाली उक्त आतिवाहिकता को न तो कोई मरनेवाला देखता है और न जीवित ही देखता है, क्योंकि 'तद् यथा पेशस्कारी पेश सो मात्रामादाय' (जैसे सुवर्णकार सुवर्ण का टुकड़ा काटकर पहले की रचना से नवीन अच्छी से अच्छी दूसरी शक्ल बनाता है, वैसे ही परलोक जाने का इच्छुक यह आत्मा भी इस वर्तमान शरीर को नष्ट कर, अचेतनता को प्राप्तकर पितृलोकगमनोपयोगी, गन्धर्वलोकगमनोपयोगी या देवसम्बन्धी या प्रजापतिलोक प्रापक अथवा ब्रह्म प्रापक या अन्य भूतों के सम्बन्धी दूसरे नूतन शरीर को बनाता है) ऐसी श्रुति है। उक्त श्रुति के अनुसार पारलौकिक देहनिर्माण के लिए मर रहे पुरुष का अपने अज्ञान से कल्पित देहारम्भक भूतों के अंशों से संवलित होकर ही परलोक में गमन होता है, अतः उन मात्राओं का भी, जो कि उसको नहीं दिखाई देती, आतिवाहिक भावों से विरोध नहीं है। अज्ञान से कल्पित पंचभूतमात्र का अंश जो अज्ञान शरीर है, उसको और लोग मरता हुआ देखते हैं। यह अवास्तविक देह न तो मरती है और न जीती है। स्वप्न और संकल्प के भ्रम में मरण और जीवन क्या हैं ? यानी उनमें कुछ भी वास्तविकता नहीं है, वे भ्रममात्र हैं। इसलिए इस विषय में विरोध है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए ॥१८,१९॥ जैसे मनोरथ से कल्पित पुरुष में जीवन और मरण असत्य ही है। भाव यह कि संकल्पकल्पित पुरुष ही जब वास्तविक नहीं है, तब उसके मरण और जीवन की वास्तविकता की क्या कथा है ? वैसे ही बेटी उस शरीर में भी मरण और जीवन अवास्तविक ही प्रतीत होते हैं ॥२०॥ लीला ने कहा : देवी, आपने मुझे उस निर्मल ज्ञान का उपदेश दिया है, जिसके श्रवणमात्र से ही दृश्य रूपी महामारी शान्त हो जाती है। माँ, इस विषय में मेरे ऊपर अनुग्रह कीजिये, कृपया यह बतलाइए कि वह अभ्यास कौन है (उसका क्या स्वरूप है) और कैसा है (उसका क्या लक्षण है) तथा किस प्रकार पुष्ट होता है और उसके पुष्ट होने पर क्या होता है ?॥२१,२२॥ श्रीदेवीजी ने कहा : वत्से, जो भी प्राणी जब जब भी, किसी कार्य को करता है, अभ्यास के बिना कभी सिद्ध नहीं होता। भाव यह कि अभ्यासकी प्रत्येक कर्म में आवश्यकता है ॥२३॥

सर्वप्रथम देवीजी अभ्यास का स्वरूप बतलाती हैं।

असंदिग्धरूप से अपनी बुद्धि में जमाने के लिए उसका चिन्तन करना, अन्य ज्ञाता पुरुष की बुद्धि से संवाद करने के लिए उसकी चर्चा करना, परस्पर अज्ञात अंश के ज्ञान के लिए आपस में उसका उपदेश देना, सदा उसीमें मनोयोग देना, इसे विद्वान् लोग ज्ञान का अभ्यास कहते हैं (卐) ॥२४॥

दृढ़ वैराग्य आदि उसके लक्षण हैं, यह बात विरक्त पुरुषों की स्तुति द्वारा कहते हैं।

卐 उसका चिन्तन करने, उसकी चर्चा करने और आपस में उसी का बोधन करने से असंभावना की निवृत्ति होती है और सदा उसी में परायण रहने से विपरीत भावना की निवृत्ति होती है, ये अभ्यास के फल हैं।

जो विरक्त महात्मा पुरुष मुक्ति के लिए अपने अन्तःकरण में यत्नपूर्वक विषय वासनाओं के क्षय की भावना करते हैं (अपने अन्तःकरण में विषयवासनाओं का जैसे विनाश हो, वैसा यत्न करते हैं), वे पृथिवी में सर्वश्रेष्ठ हैं और उन्हींका जन्म सफल है। उदारतारूपी (सम्पूर्ण सामग्रीपरित्यागरूपी) सुन्दरता से एवं वैराग्य रस से सम्पन्न अतएव सदा आनन्द की वृष्टि करनेवाली बुद्धि जिन पुरुषों में उत्पन्न हुई है, वे सर्वश्रेष्ठ अभ्यासी (अभ्यासवाले) हैं ॥२५,२६॥

श्रवण आदि में निरत होना भी ज्ञानाभ्यास का लक्षण है, ऐसा कहती हैं।

जो लोग युक्ति से यानी प्रमाणतत्त्व के निर्धारण के अनुकूल तथा प्रमेयतत्त्व के निर्धारण के अनुकूल युक्ति से और अध्यात्म तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों से ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु के अत्यन्त अभाव की प्राप्ति में (बाध में) यत्न करते हैं, वे ब्रह्माभ्यासी है ॥२७॥

कालों में दृश्य के बाध ज्ञान की आवृत्ति भी ब्रह्माभ्यास है, ऐसा कहती है।

यह जगत् है, यह मैं हूँ' इत्याकरक दृश्य सृष्टि आदि में उत्पन्न ही नहीं हुई, अतः वह सदा है ही नहीं, यह ज्ञानाभ्यास कहा गया है ॥२८॥ दृश्य प्रपंच के असंभव के ज्ञान से राग, द्वेष आदि का विनाश होने पर मनन से उत्पन्न विद्या की वासना के परिपाक से उत्पन्न हुई जो आत्मरति (आत्मप्रेम) है, वह ब्रह्माभ्यास है ॥२९॥

यह सम्पूर्ण दृश्य मिथ्या है, इस प्रकार के दृढ़ज्ञान से राग आदि का विनाश होने पर ही वह (आत्मरति) ज्ञानोपयोगिनी होती है, अतः उक्त राग आदि का उच्छेद होने पर ही वह ब्रह्माभ्यास है, अन्यथा नहीं, ऐसा कहते हैं।

दृश्य के असंभव का ज्ञान हुए बिना उत्पन्न जो राग, द्वेष आदि का अपक्षय है, वह तप कहलाता है, अतएव वह ज्ञान नहीं है, वह तप वृथा द्वेषआदि के रोकने से उत्पन्न दुःख को ही बढ़ाता है ॥३०॥

अभ्यास के हेतुओं का प्रतिपादन कर अब श्रीदेवीजी अभ्यास का फल दिखलाती हुई दो श्लोकों से सर्ग का उपसंहार करती हैं।

चरमसाक्षात्काररूप ज्ञान और उसका ज्ञेय ब्रह्म भी दृश्य असंभवबोध (दृश्य का असंभव जिससे या जिसमें होता है, ऐसा बोध) कहा जाता है, उसके अभ्यास से मुक्ति होती है, इस प्रकार के अभ्यास का फल महान् अभ्युदय है ॥३१॥ वत्से, जैसे शरद् ऋतु में हिम के समान शीतल ओस के सेंक से कुहरा बिलकुल विनष्ट हो जाता है, वैसे ही चित्त में पूर्वोक्त रीति से अभ्यस्त, सम्पूर्ण तापों (त्रिविध तापों) की शान्ति के हेतु होने से बरफ के समान शीतल विवेकबोध रूपी जल के निरन्तर सिंचन से संसाररूपी कृष्ण पक्ष की (अन्धेरी) रात्रि में उत्पन्न हुई मोहरूपी गाढ़ नींद निवृत्त हो जाती है ॥३२॥ महर्षि वाल्मीकिजी के इतनी कथा कह चुकने पर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचल शिखर की ओर अग्रसर हो गये और भरद्वाज आदि मुनियों की सभा वाल्मीकिजी को प्रणाम कर सायंकाल के सन्ध्या–वन्दन आदि कृत्यके लिए स्नानार्थ चली गई एवं रात्रि बीतने पर सूर्य के उगते–उगते मुनि–मण्डली सभास्थान में आ गई ॥३३॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

पर्वत-ग्राम को देखने की इच्छा से समाधि द्वारा स्थूल देह का परित्याग कर
देवीजी और लीला का विशाल आकाश में गमन-वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, वे दोनों उत्तम देवियाँ यानी सरस्वती और लीला उस रात्रि में परस्पर प्रश्नोत्तर कर जब कि सब सेवक सो गये थे, महल के दरवाजों और खिड़कियों में मजबूत और भाँति-भाँति के अर्गल लग गये थे, ड्योढ़ियों पर पहरेदार सावधान होकर पहरा दे रहे थे, फूलों की राशियों से निर्गत एवं घनीभूत सुगन्धि से अन्तःपुर भर गया था, अम्लान मालारूपी वस्त्रों से आच्छन्न राजा के शव के समीपस्थ आसन पर बैठ गई। उनके कलंकशून्य पूर्ण चन्द्रमा के तुल्य मुखमण्डल से सारा अन्तःपुर जगमगा उठा। वे दोनों (📖) समाधिस्थ हो इस प्रकार निश्चलता से बैठ गई कि प्रतीत होता था मानों वे रत्न के खम्भे में खुदी हुई दो मूर्तियाँ हैं एवं दिवार में लटकाये गये दो चित्र हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियों को उनके विषयों से संकोच को (निवृत्तिको) प्राप्त हुई उन दोनों की सम्पूर्ण दुश्चिन्ताएँ गायब हो गई, अतएव वे सायंकाल के समयकी दो कमलिनियों की नाईं थी, जिनके चारों ओर परिमल व्याप्त रहता है। शरद ऋतु में वायु शून्य पर्वत में गिरी हुई दो मेघ पंक्तियाँ जैसे शुद्ध (सफेद), शान्त (शीतल) और कम्पन शून्य होती हैं, वैसे ही वे भी अत्यन्त शुद्ध, शान्त और स्पन्दन शून्य हुई। चूँकि उन्हें निर्विकल्प समाधि लग गई थी, अतएव उनको देह आदि अनात्मवस्तुओं का प्रतिसन्धान नहीं रह गया था। जैसे सुन्दर दो कल्पलताएँ वसन्तआदि ऋतु के प्राप्त होने पर पहले के रस का त्याग करती हैं, कारण कि पुराने पत्तों का सूखना आदि सभी को दिखलाई देता है, वैसे ही उन्होंने भी बाह्य ज्ञान का त्याग कर दिया था ॥१-७॥

दृश्य के आत्यन्तिक उपशम से (विनाश से) निर्विकल्प समाधि होने पर तत्त्वसाक्षात्कार से समूल त्रैकालिक दृश्यबाध ही परिनिष्ठित हेतु है, ऐसा कहते हैं।

पहले जब उन दोनों को 'मैं जगत्' इस प्रकार भ्रान्तिरूप दृश्य की अत्यन्ताभावरूप अनुत्पत्ति का ज्ञान हुआ, तब उन दोनों का दृश्यरूपी यह पिशाच अत्यन्त विनष्ट हो गया। जैसे समाधि में त्रैकालिक दृश्य का बाध होता है, वैसा सभी काल में त्रैकालिक दृश्य का बाध हम लोगों के अनुभव से सिद्ध है, ऐसा श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी को सम्बोधन कर कहते हैं।

अनघ, असत् (मिथ्या) होने के कारण ही हम लोंगों की दृष्टि से यह जगत् प्रतीत होने पर मृगतृष्णा में जल की नाईं और प्रतीत न होने पर खरगोश के सींग की नाईं है, क्योंकि जो पदार्थ पहले नहीं था वह वर्तमान काल में भी नहीं है, यह स्पष्ट है ॥८-१०॥

📖 देवी सरस्वती का ज्ञानदेह है, उसीसे वे विचरण कर सकती थीं, फिर उन्हें समाधिस्थ क्यों होना पड़ा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि लीला को समाधि सिखलाने के लिए वह समाधिस्थ हुई थी। उक्त योग गुरु के सिखाये बिना प्राप्त नहीं हो सकता, अतः लीला के समाधिस्थ होने में सहयोग हो, इसलिए देवीजी ने समाधि ली।

दृश्य का अस्त होने पर वे कैसे नहीं, इस शंका पर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदि सम्पूर्ण पदार्थों से अत्यन्त शून्य केवलमात्र आकाश सृष्टि के आरम्भ में यानी वायु की उत्पत्ति से पूर्व और प्रलयकालके आने पर (वायुपर्यन्त पदार्थों का प्रलय होने पर) जैसे केवलस्वभाव से स्थिर रहता है, वैसे ही वे दोनों अंगनाएँ दर्शन से विमुक्त शान्त और केवल स्वभाव हुई ॥११॥

आगे सर्ग में कहे जानेवाले आकाशगमन में देवी सरस्वती और लीला के देहवैलक्षण्य को कहते हैं।

ज्ञानदेवी सरस्वती ने पूर्वतन ज्ञानदेह से ही आकाश में विचरण किया और राजमहिषी लीला ने मानव देह के अभिमान का परित्याग कर ध्यान और ज्ञान के अनुरूप दिव्यदेह का अवलम्बन कर आकाशमें विचरण किया ॥१२॥

वह दूर आकाश में गमन की कल्पना अपने घर के मण्डप के वित्तेभर आकाश में ही हुई न कि बाहर, ऐसा कहते हैं।

सचमुच वे दोनों बहुत दूर गई सो बात नहीं है, किन्तु उन्होंने उद्‌बुद्ध हुए पूर्वसंकल्प–संस्कार–ज्ञान से बिलस्तभर गृहाकाश में ही चढ़कर सर्वगामी ज्ञान में आरोहण और आकाशगमन के अनुरूप चिदाकाशमूर्ति का अवलम्बन किया (✍) ॥१३॥ उसके अनन्तर सुन्दर नयनवाली और वनितोचित विलासों से मनोहर वे दोनों ललनाएँ विषयज्ञान के स्वभाव से (विषयानुसार व्यवहार कल्पना के कारण) यहाँ से अत्यन्त दूर आकाश में गई ॥१४॥ तदुपरान्त उसी घर में स्थित होकर 'हम लोग आकाश में संचरण करें' इत्याकारक चित्प्रधान मानस कल्पनावृत्ति से दूर से अतिदूर तथा करोड़ों योजन विस्तीर्ण आकाश में उन्होंने संचरण किया। भाव यह कि लीला और सरस्वती पहले ही अपने मन में 'हम लोग आकाशमार्ग से जायेंगे' यों संकल्प करके समाधिस्थ हुई थी। इसी कारण उन्हें समाधि अवस्था में तदनुरूप चित्तदेह के प्राप्त होने पर आकाश में उड़ने का अनुभव होने लगा ॥१५॥

चिदाकाश देह की प्राप्ति होने पर भी चित्त में स्थित पूर्व संकल्पित दृश्य के अनुसन्धान की अनुपपत्ति होती है। उक्त समाधिकाल में वे दोनों संकल्प–संस्कारोंसे पूर्ण चित्त के साथ एकी भाव को प्राप्त हो गई थी, इस कारण से वे पूर्वसंकल्पित दृश्य का दर्शन कर तृप्त हो गई, इसी को दूसरे प्रकार से कहते हैं।

समाधि अवस्था में आकाश देहयुक्त भी वे दोनों ललनाएँ पूर्वसंकल्पित दृश्य के अनुसन्धान से युक्त चित्तस्वरूपता को प्राप्त अपने स्वभाव से परस्पर अपने आकार के दर्शन स्नेहपूर्ण सखियाँ हुई ॥१६॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

✍ इस विषय में दो मत हैं एक मत यह है कि योगी लोग समाधि द्वारा स्थूल देह से बाहर निकल कर सूक्ष्म देह से बाहर पर्यटन करते हैं। दूसरा मत यह कि योगी लोग देह से बाहर नहीं निकलते, मात्र स्थूल देह के अभिमान का परित्याग कर और हृदय से लेकर कंठ तक बिलस्तभर नाड़ी में स्थित होकर या आरोहण कर सर्वव्यापी ज्ञान प्राप्त करते हैं एवं उसी ज्ञान से वे लोग स्वर्ग, मृत्यु, पाताल आदि लोकों का दर्शन करते हैं।

चौबीसवाँ सर्ग

जा रही ज्ञप्ति देवी और लीला का असीम विश्व के वैचित्र्य के
विलासों से परिपूर्ण आकाशरूप मार्ग का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्र, एक-दूसरे का हाथ पकड़कर जा रही धीरे धीरे ऊपर चढ़कर अत्यन्त दूर ऊर्ध्वस्थान में गई हुई उन दोनों सखियों ने आकाशको देखा। आकाश तरंगित प्रलयकाल के एकमात्र समुद्र के समान गंभीर, निर्मल और स्निग्ध (बाधाशून्य), मन्द, सुगन्ध और शीतल वायु के संसर्ग से सुखभोग का दाता, शून्यतारूपी जलमें अवगाहन करने से अत्यन्त आनन्ददायक अथवा जगत् शून्यतारूप ब्रह्मजलमें पहले पहल निर्गमन करने से प्राणीरूपी भ्रमरोंको आह्लादित करनेवाला कमलरूप, शान्त, अत्यन्त स्वच्छ, गम्भीर और सज्जन के मन से भी बढ़कर प्रसन्न था ॥१-३॥ चन्द्रमा के मध्य के सदृश उज्ज्वल उन दोनों ने दिशाओंमें सुमेरु आदि पर्वतोंके शिखरों में स्थित शुभ्र मेघों के विशाल कलेवर के भीतर विद्यमान महलों में विश्राम किया। कहीं पर (चन्द्रमण्डल के समीप में) चन्द्रमण्डल से निकलकर उन दोनों ने सिद्ध और गन्धर्वो के गले में पड़ी हुई मदारमालाओं की अति सुगन्धि से मनोहर, मंद और सुगन्धित वायु में विचरण किया, कहीं पर प्रचुर ताप का विनाश करनेवाले बिजलीरूपी लाल कमलों से व्याप्त तथा जल से पूर्ण होने के कारण मन्दगामी मेघमण्डल में स्नान किया जैसे कि लोग प्रचुर ताप का अन्त करनेवाले बिजली के तुल्य उज्ज्वल कमलों से पूर्ण तालाब में स्नान करते हैं ॥४-६॥ जैसे दो भँवरियाँ करोड़ों मृणालांकुरोंसे व्याप्त कमल के तालाबों में भ्रमण करती हैं, वैसे ही उन्होंने भी विविध भूतलों के हिमालय आदि पर्वतरूपी मृणालों के (कमल के पौधे का मूल) करोड़ों अंकुरों से युक्त दिशाओं में भ्रमण किया ॥७॥ कहीं पर आकाशगंगा के शीकरों को धारण करनेवाले और वायु से विकसित मेघमण्डलरूपी मण्डप में धारागृह की फुहारों की बुद्धि से उन्होंने भ्रमण किया। तदुपरान्त अपनी शक्ति के अनुसार धीरे-धीरे चलनेवाली एवं मध्य-मध्य में विश्राम ले रहीं उन दोनों ललनाओं ने शून्य देश में अनेक ब्रह्माण्डों की रचनाओं से व्याप्त आकाशमंडल को देखा। यद्यपि सरस्वती देवीने उक्त आकाशमण्डल को पहले देखा था, तथापि दोनों ने परस्पर मिलकर पहले उसे नहीं देखा था। जितने प्राणियों के हेतुभूत गर्भच्छिद्र हैं, वे सब उसीके अंश हैं, कोटि-कोटि जगतों से लगातार भरा जाता हुआ भी वह चारों ओर शून्य रहता है। उन्होंने उसे ऊपर ऊपर आदि सुन्दर विमानोंसे युक्त, विचित्र आभरणों के सदृश और अलग-अलग बने हुए अनेक विशाल भुवनों से आवृत्त देखा। मेरु आदि सात कुलपर्वतों के, जिन्होंने चारों ओर से आकाश को भर रक्खा था, पद्मरागणिके तटों के प्रकाशों, उसका मध्यभाग उन्हें प्रलयकाल की अग्नि के सदृश प्रतीत हुआ। उक्त पर्वतों की मुक्तामय चोटियों के प्रभापुंज से वह हिमालयकी चोटी के समान भली प्रतीत होती थी और स्वर्णमय मेरु पर्वत मैदानों की कान्तियों से वह स्वर्णमय मैदान के सदृश चमकता था। पूर्वों की बड़ी-बड़ी मरकतमणियों की (हरित्-मणियों की)

आभाओं से घास के हरे मैदानों की हरियाली के सदृश हरियालीसे युक्त था, कहीं–कहीं पर नयनवान् लोगों की दृष्टि का और नील,पीत आदि रूपों का विनाश करनेके लिए कटिबद्ध गाढ़ अन्धकार से अन्धकारित था। पारिजात के वनों के ऊपर उड़ रहे विमानों का स्थानभूत वह कहीं पर समीप में स्थित लोगों की दृष्टि से पारिजात वन की मंजरी–सा ज्ञात होता था और दूरस्थित लोगों की दृष्टि से वैडूर्यमणि से बने हुए भूतल के तुल्य मालूम पड़ता था। कहीं पर उसमें मनके समान वेगवाले महासिद्धों ने वायुके संचार के वेग को जीत लिया था यानी मन से भी अधिक शीघ्र चलनेवाले सिद्धों ने अपने वेग से वायु के वेग को नीचा दिखा दिया था और कहीं पर विमानरूपी घरों में बैठी हुई अप्सराओं के गायन और वादन की 'धुम्, धुम् ' ऐसी ध्वनिसे पूर्ण था। कहीं पर तीनों लोकोंके श्रेष्ठ–श्रेष्ठ प्राणियों के गमनागमन से ठसाठस भरा था और कहीं पर देवता और दैत्यों के वृन्द से, जिन्होंने कि आपस में एक दूसरे के गमनागमन को नहीं देखा था, उसमें परस्पर टक्कर लगने से बड़ी घबराहट पैदा हो रही थी। कहीं उसके कोने में कूष्माण्ड, राक्षस पिशाचों की मण्डली बैठी थी और कहीं पर आवह, प्रवह आदि वायु के भेदों के महान् वेग से वैमानिकों के (विमान से चलने वाले देवताओंका) दल बढ़ रहे थे यानी बड़ी तेजी से भ्रमण कर रहे थे। उसमें कहीं पर विमानोंके शीघ्र चलने की ध्वनि (सरसराहट और धड़धड़ाहट) का दबने से बादलों के शब्द सुनाई देता था, कहीं पर सूर्य आदि ग्रह और नक्षत्रों के घनसंचार से (एक दूसरे से सटकर गमनागमन करने से), वायु को रोकनेवाला ज्योतिश्चक्र नामक यन्त्र चल रहा था, कहीं पर निकटवर्ती सूर्य के आतप की उष्णतासे झुलसे हुए सिद्धों ने (एक प्रकार की देव योनि को सिद्ध कहते हैं), जो कि तपस्या, योग और रसायन आदि से पूर्ण सिद्ध नहीं थे, अपना–अपना स्थान छोड़ दिया था, कहीं पर सुन्दर विमान सूर्य के तीक्ष्ण ताप से जल रहे थे और सूर्य के घोड़ों के मुख पवन से अस्त–व्यस्त हो रहे थे। कहीं पर लोकपाल और अप्सराओं के पैरों से गमन और अन्यान्य अंगों से उनके तत् तत् उचित आचरणोंसे वह चलवस्तु के तुल्य चंचल था, कहीं पर देवियों के अन्तःपुर में जली हुई धूप के धुएँ से उत्पन्न मेघरूपी वस्त्र से आच्छन्न था, कहीं पर उसमें इन्द्र ,चन्द्र आदि द्वारा स्वर्गसे यानी स्वर्गशब्दवाच्य अपने अपने लोकसे बुलाई गई, अतएव औरों की उपेक्षा करके 'मैं पहले जाऊँ, मैं पहले पहुँचूं' इस अभिमान से दौड़ रहीं देवियों के अंगों से आभरण गिरे हुए थे। उन अप्सराओं को चाहनेवाले इन्द्र आदिके तुल्य अणिमा आदि विशेष सिद्धियों से शून्य अन्यान्य स्वर्गस्थ पुरुषोंके उग्र तेज को क्रोध, ईर्ष्याँ आदि द्वारा तिरोभूत करने वाले तमोबल (तमोगुण प्रबलता) के तुल्य नीला था। बलवान् सिद्धों का परस्पर टकराकर (धक्का–धुक्की के साथ) जो गमनागमन था, उससे मेघ चकनाचूर हो जाते, अतएव मानों उनके गमनागमन से होनेवाले अपने विनाश के भय से उन्होंने पास में स्थित हिमालय आदि पर्वतों के शिखरों में आश्रय ले लिया। मेघों के पर्वतों के शिखरों में जाने से पर्वत ऐसे मालूम होते थे, मानों उन्होंने वस्त्र पहन रक्खे हैं। अतएव कहीं पर उसके पासमें स्थित हिमालय, मेरु,मन्दराचल आदि सवस्त्र से प्रतीत होते थे। कहीं पर जैसे चंचल लहरों से समुद्र व्याप्त होता है, वैसे ही समूह के समूह एक

साथ उड़ रहे अतएव चंचल कौए, उल्लू, गीध, चातक आदि पक्षियों और नाच रही डाकिनियों (पिशाच योनि विशेषों) से वह व्याप्त था। कहीं पर कुत्ते, कौए, ऊँट और गदहे के तुल्य अनेक प्रकार के विलक्षण मुँहवाली निष्प्रयोजन (🙢) सैकड़ों कोस जाकर लौट रहीं गमनागमन में प्रवृत्त योगिनियों से आवृत्त था। कहीं पर लोकपालों के आगे ही स्थित (🔔) अन्धकार के तुल्य दृष्टि के प्रसार को रोकनेवाले, धुएँ के तुल्य धुमैले, मेघरूपी मन्दिर में सिद्ध और गन्धर्वोंके जोड़े सुरत क्रीड़ा कर रहे थे। कहीं पर आकाशमार्ग से चलनेवाले देववृन्द, स्वर्ग में गाये जा रहे उद्दीपन करनेवाले मनोहर गीतों और दिव्य स्तुतियोंसे उन्मत्त और कामपीड़ासे व्याप्त वे कहीं पर ग्रह–नक्षत्रों के गृहभूत ज्योतिश्चक्र के लगातार चलने पर सूर्य आदि की गति से शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष का कालविभाग उसमें दृष्टिगोचर हो रहा था। कहीं पर अनेक प्रकार के वायुसमूहों में से एक वायुसमूहरूप उक्त ज्योतिश्चक्रमें बनाये गये निखात (गड्ढे) के अन्दर गंगाजी का जल बह रहा था, कहीं पर देवताओं के बालक अनेक प्रकार के आश्चर्यमय कौतुकों के दर्शन में व्यावृत होकर घूम रहे थे , कहीं पर वज्र, चक्र, त्रिशूल, तलवार और शक्ति के अधिष्ठाता देवगण मूर्तिमान होकर संचार कर रहे थे। कहीं पर वह बिना भीत के भवनों से परिपूर्ण था, कहीं पर उसमें नारद और तुम्बुरु ऋषि गायन कर रहे थे, कहीं मेघों के संचारप्रदेश मे पुष्करावर्तक आदि महामेघों के प्रलयकालीन वृष्टि रूप महान् आरम्भ से उसमें हलचल मची थी और कहीं पर तो प्रलयकाल के मेघ चित्र में लिखित के तुल्य निश्चेष्ट और गर्जनध्वनि–शून्य थे। कहीं पर काजल के महान् पर्वतों के तुल्य सुन्दर मेघ उड़ रहे थे, तो कहीं पर सुवर्ण के द्रव के समान मनोज्ञ सूर्य के ताप को दूर करनेवाले मेघों का जमघट था और कहीं पर दिशाओं के दाह से उत्पन्न सन्ताप से पूर्ण था। ऋष्यमूक पर्वतपर पूर्व रामायण में वर्णित प्रकार से बरस रहे मेघ ही उसके वस्त्र थे। कहीं पर शून्यता रूपी जल से पूर्ण वह निश्चल सागर के सदृश था। कहीं पर उसमें वायु प्रवाहरूपी नदीं में बड़े बड़े वायुयान ही बहाये जा रहे तिनके और पत्तों के सदृश दिखाई देते थे,कहीं पर उड़ रहे भँवरों की पीठ की त्वचा की कान्ति के तुल्य कान्तिवाला और निर्मल था और कहीं पर वर्षाकाल की पर्वतीय नदियों के सदृश (समान रंगवाले) वायु में स्थित धूलि के प्रवाहों से वह मटमैला प्रतीत होता था, कहीं पर विमानों पर वैठे हुए देवताओं की कान्तिसे उसकी रूपरेखा चित्रविचित्र (चितकबरी) हो रही थी। कहीं पर निरन्तर नृत्य करनेवाले मातृमण्डल से परिवृत्त था, तो कहीं पर कभी नष्ट न होनेवाले, उन्मत्त और विक्षुब्ध योगीश्वरियों के नौ गणों से युक्त था। कहीं शान्त, समाधिस्थ अतएव परमपद में विश्रान्त (ब्रह्मनिष्ठ) मुनियों से परिवेष्टित था। कहीं पर जिसने क्रोध

🙢 योगिनियों को अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त रहती हैं, अतः उन्हें अपने स्थानमें बैठे बैठे अभीष्ट वस्तु प्राप्त हो सकती है, अतएव उनका दूरगमन प्रयास निरर्थक है।

🔔 तत् तत् दिशाओं के अधिनायक लोकपाल दिशाओं के अन्त तक रहते हैं, अतएव वह उनके सामने ही स्थित फिर भी वे उस मेघ मन्दिर के अधिक घन और काला होने के कारण उसकी क्रीड़ाएँ नहीं देख सकते थे।

आदि का अत्यन्त परित्याग कर दिया है, ऐसे साधु–महात्मा के चित्त के समान मनोहर और सम (卐) था। कहीं पर उसमें किन्नर, गन्धर्व और देवताओं की पत्नियाँ गायन कर रही थीं, कहीं पर वह अचल (स्थिर) नगरों से व्याप्त था, तो कहीं पर उसमें चल रहे सुन्दर–सुन्दर पुरों की (त्रिपुर आदि के सुन्दर पुरों की) प्रचुरता थी। कहीं पर वह शिवजीके नगरों से परिपूर्ण था, तो कहीं पर उसमें ब्रह्माजी के महान् नगर विराजमान थे। कहीं पर उसमें माया द्वारा निर्मित नगर विद्यमान थे, तो कहीं पर भविष्य में बनाये जाने वाले तो, कहीं पर चलता–फिरता चन्द्र रूपी सरोवर विराजमान था तो कहीं पर निश्चल (जो चलने फिरनेवाला नहीं है) सरोवर की छटा देखते ही बनती थी,कहीं पर सिद्धगण धूम रहे थे, कहीं पर चन्द्रोदय की शोभा छटक रही थी तो कहीं पर सूर्योदयका आनन्द अपना अनोखा समा बाँध रहा था, कहीं पर रात्रि के गाढ़ अन्धकार ने अपनी निराली छटा दिखा रक्खी थी,कहीं पर सन्ध्याकालीन किरणों से लाल हो रहा था, तो कहीं पर कुहरे से मलिन हो रहा था, कहीं पर बरफ के समान सफेद मेघों से शुभ्र था, तो कहीं पर पानी बरसा रहे मेघों से आच्छन्न था, कहीं पर भूमि के तुल्य आकाशमें (आवरणशून्य प्रदेश में) लोकपाल बैठे थे,तो कहीं पर अनेक देवता और दैत्य ऊपर नीचे जानेमें व्यावृत थे और कहीं पर पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में संचार (भ्रमण) करनेवाले देव, दानव आदि से ठसाठस भरा था। कहीं पर लाखों कोशों तक भी पर्वतों का नाम निशान नहीं था और कहीं पर (लोकालोक पर्वत के अगल–बगल में) कभी नष्ट न होनेवाले अन्धकार से आवृत्त अतएव पत्थर के भीतरी हिस्से के सामान ठोस था,तो कहीं पर उसमें महान् तेज का कभी विनाश नहीं होता था, अतएव उस भाग में वह सूर्य और अग्नि के तुल्य तेजस्वी था, कहीं पर चन्द्र आदि गृहों में बरफ की चट्टान के मध्यभाग की नाईं चारों तरफ शीतल था। कहीं पर दैत्यों के भय से उखाड़ कर ले जा रहे देवताओं के अनुचरों द्वारा कल्पवृक्ष–लताका वन पुरस्कृत था, कहीं पर दैत्यों द्वारा छिन्न–भिन्न देवताओं का उन्नत नगर गिर रहा था, तो कहीं पर स्वर्गस्थ लोगोंके, पुण्यक्षय के पश्चात्, पतन से आग की रेखा की नाईं अंकित था (📖)। कहीं पर वह सैकड़ों धूमकेतुओं के उदय और परस्पर संमर्द से वस्त्र की भाँति निबिड़ित (आच्छन्न) था, कहीं पर सूर्य, चन्द्र आदि शुभग्रहों से उसका श्रेष्ठ उर्ध्वमण्डल आक्रान्त था, कहीं पर वह रात्रि के अन्धकार से आवृत्त था, कहीं पर दिन के प्रकाश से चमक रहा था, कहीं पर उसमें जलपूर्ण मेघमण्डल अपना गर्जन–तर्जन दिखा रहा था, तो कहीं पर जलशून्य निर्मल मेघ चुप लगाये थे, कहीं पर उसमें स्थित शुभ्र मेघखण्डरूपी पुष्प शय्या वायु द्वारा अतस्ततः बिखेर दी गई थी। कहीं पर वह ज्ञानीजन के हृदय की नाईं दृश्य पदार्थों से अत्यन्त शून्य, स्वच्छ अज्ञानरूपी मेघ के व्यवधान से रहित, आनन्दरूप,

卐 महात्मा का चित्त भी सब पर सम होता है और वह भी सम यानी विषमता से शून्य (निर्बाध) था।

📖 पुण्य क्षीण होने पर स्वर्गस्थ लोग जब मर्त्यलोक में गिरते हैं तो उनके गिरने के समय उनके प्रचुर तेज से आकाश में आग की सी तेज रेखा खिंच जाती है जैसे कि ऊँचे स्थान से बड़े वेग से जलती हुई लकड़ी फेंकी जाय, तो आग की रेखा सी बन जाती है।

कोमल, शान्त और धूलिकणों से रहित था (🔥)। मानों वह आकाशवासियों का खेत था, जैसे खेतों में मेढक बोलते हैं और जल भरा रहता है, वैसे ही उसमें शुक्रशब्द से उपलक्षणविधया उक्त आकाशचारियों के वाहनरूपी मेढ़क द्वारा शब्द करते थे और शून्यतारूपी जल से वह पूर्ण था। कहीं पर विद्याधरी देवियों के वाहन मयूर, हेमचूड आदि पक्षियों से, जिन्होंने कि उसमें अपने अपने घोंसले बना रक्खे थे, व्याप्त था। कहीं पर मेघमण्डल के अन्दर कार्तिकेय के वाहन मयूरों का झुण्ड उसमें नाच कर रहा था, कहीं पर वह अग्नि के वाहन शुकों से (✍) हरी घास के मैदान के तुल्य हरा था। कहीं पर उसमें यमराज के वाहन भैंस की महिमा से (बृहत्कलेवररूप महिमा से) मेघ छोटा–सा प्रतीत होता था, कहीं पर सूर्य के घोड़ों ने हरे घास की आशंका से काले काले बादलों को निगल डाला था। कहीं पर देवताओं के नगर से व्याप्त था, कहीं पर दैत्यों के नगरों का तांता लगा था, वे लोग एक दूसरे के नगर को नहीं पा सकते थे, क्योंकि उनके नगरों के बीच में पहाड़ों में भी छेद करने में समर्थ यानी अतिबलवान् वायु का आवास था। कहीं पर कुलाचलों के (मेरु आदि सात कुल पर्वतों के) तुल्य विशाल काय नाच रहे भैरवों से जगमगा रहा था, कहीं पर पंखवाले महान् पर्वतों के तुल्य विनायक नृत्य कर रहे थे। कहीं पर पर्वत घड़घड़ाहट और वायु के झोकों के साथ पंखों से उड़ते थे, कहीं पर गन्धर्वों का नगर था, जिसमें झुण्ड की झुण्ड अप्सराएँ निवास करती थीं। कहीं पर मेघ उड़ रहे पर्वतों द्वारा छिन्न–भिन्न तथा लाखों वृक्षों द्वारा छाते के समान ऊपर ताने गये थे, कहीं पर वह माया द्वारा निर्मित आकाश कमलिनी (कमलयुक्त सरोवर) के जल से शीतल था। कहीं पर वायु चन्द्रकिरणों के संसर्ग से शीतल और आह्लादकारी था, तो कहीं सूर्यकिरणों से तप्त वायु से (लू से) पर्वत, पेड़ और मेघ जल रहे थे। कहीं पर वायु के अत्यन्त शान्त होने के कारण बिलकुल सन्नाटा छाया था, कहीं पर पहाड़ों के समान विशालकाय मेघों के सैकड़ों शिखरसमूह उदित हो रहे थे। कहीं पर उसमें वर्षाऋतु के उद्दाम और निबिड़ मेघमण्डल के गर्जन की गड़गड़ाहट हो रही थी, कहीं पर प्रवृत्त (हो रहे) देवासुरसंग्राम के कारण जाना बड़ा कठिन था। कहीं पर आकाशकमलिनी में रहनेवाली हंसी अपने मधुर स्वर से ब्रह्माजीके वाहन हंस का आह्वान करती थी, कहीं पर वायु मन्दाकिनी के तीर की कमलिनियों की सुगन्धि चुरा रहा था गंगादि पुण्य नदियों की सन्निधि होने से मछली, मगर, केकड़े, वेतस (बेंत के वृक्ष) कछुए देवताओं का शरीर धारण कर उड़ते थे। भूगोल के चारों ओर सूर्य के घूमनेपर पृथिवी की छाया भी घूमती है, जब सूर्य पाताल में जाता है, तब पृथिवी की छाया ऊपर को फैलती है, काली होने से वही काक ठहरी, उसके आक्रमणों से किन्हीं किन्हीं मण्डलों में चन्द्र और सूर्य मण्डल में ग्रहण लगा था। कहीं पर विमानचारी देवताओं द्वारा अपनी अंगनाओं के विस्मय के

🔥 ज्ञानी के हृदय में भी सम्पूर्ण विशेषण लगाने चाहिए। वह दृश्य पदार्थों में आसक्ति से शून्य, स्वच्छ, अज्ञानरूपी आवरण से रहित, आनन्दमय, कोमल, शान्त और रजोगुण से रहित होता है।

✍ यद्यपि सर्वत्र अग्नि का वाहन मेष ही प्रसिद्ध है, तथापि यहाँ के कथन से अग्नि का वाहन शुक भी है, ऐसा जानना चाहिए।

लिए रचित मायिक सृष्टि के वायुओं द्वारा मायानिर्मित फूलों का बन हिलाया जाता था, अतएव गिर रहे पुष्परूपी हिम की लगातार वृष्टि से विमानचारी देवताओं की अंगनाएँ भयभीत हो रही थीं ॥८–६४॥

इस प्रकार आकाश का वर्णन करने पर लोगों को आकाशचारियों के वैभव में राग न हो, इसलिए उन्हें तुच्छ करते हुए कहते हैं।

वे दोनों ललनाएँ जिसमें गूलर के फल के अन्दर के छोटे छोटे मशकों की नाईं त्रिजगत्–मध्यवर्ती प्राणिवर्ग घूम रहा था, ऐसे आकाश को ऊपर तक लाँघकर फिर पृथ्वीतल में जाने के लिए उद्यत हुई ॥६५॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पचीसवाँ सर्ग

सरस्वती देवी और लीला द्वारा दृष्ट सात समुद्र और सात द्वीपों से परिवेष्टि, ब्रह्माण्डरूप आवरण से युक्त अपूर्व भुवन का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्र, आकाश–मण्डल से पर्वतग्राम को जा रहीं उन दोनों ललनाओं ने अपूर्व भूमितल को देखा, जो कि सरस्वती के मन में था यानी जिसको सरस्वती लीला को दिखलाना चाहती थी ॥१॥

उसी भूमितल का ब्रह्माण्डरूपी पुरुष के हृदयकमलरूप से वर्णन करते हैं।

वह महीतल ब्रह्माण्डरूपी पुरुष का विशाल हृदय कमल था, आठों दिशाएँ उसकी पँखुड़ियाँ थी, पर्वतरूपी केसरों से ठसाठस भरा था, मन को आकर्षण करनेवाली सुगन्धि से उसकी मनोहरता कहीं अधिक बढ़ी चढ़ी थी। सरिताएँ ही उसकी अवान्तर शाखाएँ (केसर की अवान्तरशाखाएँ) थी, कारण कि वे केसररूप पर्वतों से निकली थी, हिमकण ही उनके नाल के बीच में स्थित मधुबिन्दु थे, रात्रि उसकी भँवरी थी (रात्रिरूपी भँवरी से वह भ्रमियुक्त था), असीम प्राणीवर्ग उसके मशक थे (प्राणीसंघरूप क्षुद्र पतिंगों से वह व्याकुल था)। भोग्य वस्तुओं के गुण उसके नालदण्ड के भीतर के तन्तु थे, उनसे वह व्याप्त था, जल प्रवाह को बहानेवाले पाताल आदि बिल उसके सुन्दर नालछिद्र थे, उनसे वह परिवृत्त था और सूर्य के प्रकाश से अत्यन्त कान्तिवाला था। शृंगार आदि नौ रस उसके मकरन्द थे, उनसे वह सरस था, आकाश में घूम रहा हंस (सूर्य) उसका हंस था, ब्रह्माकी रात्रिरूप रात्रि में (प्रलयकाल में) संकोच को प्राप्त होता था (📖), पातालरूपी पंक में निमग्न शेषनाग उसका मृणाल दण्ड था। कभी आश्रयभूत (🔥) महासागर के कम्पन से उक्त भुवनरूपी हृदयकमल की पँखुरीरूप दसों

📖 कमलों का रात्रि में संकोच को प्राप्त होना प्रसिद्ध है, उक्त कमल प्रलयरूपी रात्रि में संकोच को प्राप्त होता है।

🔥 'तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्' (जो जल का शर–घनीभूत भाग था वह संहत होकर पृथ्वी हुआ) यह श्रुति इसमें प्रमाण है, तथा पुराणों में भी यह बात आई हुई है कि भगवान् वराह ने पृथ्वी का उद्धार कर जल के ऊपर उसकी स्थापना की थी, इससे पृथ्वी का आश्रय महासागर कहा गया है।

दिशाएँ कम्पित हो जाती थी, नाल के अधोभाग में स्थित अनन्त दैत्य दानव ही उसके अनन्त काँटे थे, उसका मृणालकन्द सन्ततिरूपी प्राणियों की बीजभूत, संयोग से सुकुमार, असुरों के स्त्रीसमूहरूपी मृणालकलिका आदि वल्लरी द्वारा प्राप्त करने योग्य महाबीज स्थानीय मेरु आदि पर्वतों का हृदय के समान जीवन का हेतु था। उस भुवनरूप कमल में उन्होंने विशालकर्णिका को देखा, जो जम्बुद्वीप नाम से प्रसिद्ध थी। उसमें सरिताएँ ही केसर की अवान्तर शाखाओं के नालदण्ड थे, नगर और ग्राम ही उसमें केसर थे। वह जम्बुद्वीपरूपी कर्णिका उत्तुंग सात कुल पर्वतरूपी बीजों से (कमलगट्टों से) बड़ी भली लगती थी। मध्यवर्ती अत्यन्त उत्तुंग महामेरुरूपी बीज से (कमलगट्टे से) आकाश को स्पर्श कर रही थी, सरोवर उसके ओस की बूँद थे। वन और जंगल उसके पराग थे तथा कर्णिका के अगल–बगल के स्थानों में चारों ओर मण्डल के मध्य में रहनेवाला जनसमुदाय ही अलिवृन्द था। वह (जम्बूद्वीप नामक कर्णिका) प्रत्येक पूर्णिमा में उमड़नेवाले, चारों दिशाओं में स्थित तथा सौ योजन विस्तीर्ण समुद्ररूपी भ्रमरों से व्याप्त थी। आठों दिशारूपी पँखुरियों में स्थित दिक्पालों के सहित सागर उसके षट्पद थे। उसके भद्राश्व, केतुपाल आदि नौ भाइयों ने, जो कि राजा थे, नौ विभाग किये थे, तथा वह लाखों योजन विस्तीर्ण थी और रजःकणों से व्याप्त थी। अनेक जनपद (देश) समूह उसके स्थिर हिमकण के सीकर थे। वह जम्बूद्वीपरूपी कर्णिका इस द्वीप से (🔔) दुगने परिमाणवाले क्षारसमुद्र से, शंखवलय से मणिबन्ध की नाईं, चारों ओर घिरी हुई थी। तदनन्तर उससे भी दुगुने देह को धारण कर रही शाकनामक द्वीपरेखा से घिरी हुई जगद्रूप पद्मलता से व्याप्त थी, तदनन्तर उससे भी (शाकद्वीप से भी) दुगुने आकार धारण करनेवाली स्वादु और शीतल नवीन क्षीरसे पूर्ण समुद्ररेखा से यानी क्षीरसागर से व्याप्त थी। तदनन्तर क्षीरसागर से भी दुगुने आकार को धारण कर रही अनेक जनों से अलंकृत कुशनामक द्वीपरेखा से वेष्टित थी। तदनन्तर कुशद्वीप से भी दुगुने आकारवाली दधिसमुद्र की रेखा से, जो सतत देवताओं के समूहों को तृप्त करती है, वेष्टित थी, तदनन्तर दधिसमुद्र से भी दुगुने परिमाणवाली क्रौंचनामक द्विपरेखा से, नवीन राजनगरी की तरह, घिरी हुई थी। तदनन्तर क्रौंचद्वीप से दुगुने आकारवाली घृतसमुद्र की रेखा से घिरी थी, तदतन्तर घृतसमुद्र से दुगुने एवं सुरासमुद्र से परिवृत होने के कारण पापपूर्ण शाल्मलीद्वीपरेखा से वेष्टित थी। तदनन्तर जैसे शेषनाग की देहरूपी लता से भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति वेष्टित रहती है, वैसे ही पुष्प के समान अतिशुभ्र सुरासमुद्र की रेखा से वेष्टित थी, तदनन्तर सुरासमुद्र से परिमाण में दुगुनी गोभेदक नामक द्वीपरेखा से (मणिप्रधान प्लक्षद्वीपरेखा से) परिवेष्टित थी, तदनन्तर उससे भी दुगुनी इक्षुसमुद्र की रेखा से जो हिमवान् के शिखर के समान शुद्ध थी, आवृत्त थी। तदनन्तर इक्षुसागर से दुगुने परिमाणवाले पुष्करद्वीप की रेखा से घिरी हुई थी, तदनन्तर इससे भी दुगुने

🔔 'द्वीपाद द्विगुणम्' इत्यादि यद्यपि पौराणिक प्रक्रिया से विरुद्ध है तथापि अन्य ब्रह्मांड को लेकर वैसा कहा गया है यह सृष्टि को मायिक सिद्ध करने में मुख्य तात्पर्य होने के कारण वैसा कहा गया है यह समझना चाहिए।

परिमाणवाले स्वादुजल के समुद्र से घिरी हुई थी। तदनन्तर वह कर्णिका उक्त स्वादुजलसमुद्र से दशगुना अधिक परिमाणवाले पातालतलगामी गड्ढों के समूहरूप निखातवलय से (निम्नदेशरूप वलय से), जो पाताल में जानेवालों का महाभयप्रद मार्ग है, वेष्टित थी। तदनन्तर इससे भी दशगुना अधिक परिमाणवाले चारों दिशाओं में आकाशपर्यन्त गर्तों के समूह से भी अत्यन्त भयंकर, दूसरे अर्धभाग में उन्म्लान यानी सूर्य के प्रकाश के न मिलने से ग्लानि को अप्राप्त तथा दूसरे यानी ऊपर के अर्धभाग में सूर्य के प्रकाश के संयोग से अन्धकारके न रहने के कारण म्लानप्राय अन्धकाररूपिणी नीलकमलों की पंक्ति से खचित था विविध प्रकार के माणिक्यों के शिखररूपी रक्तकमल और श्वेतकमलों से युक्त लोकालोक पर्वतरूपी अतिउत्तुंग विशाल और सौरभ्यादि गुणों से श्रेष्ठ माला से परिवेष्टित थी अतएव तीनों जगतों की लक्ष्मी की लटकी रचना की नाईं सुशोभित हो रही थी। तदनन्तर इससे भी दशगुना अधिक परिमाणवाले अज्ञात जीवसंचार नामवाले अरण्य से वह आवृत्त थी। अनन्तर अज्ञातभूतसंचार नामक जंगल से भी दशगुना अधिक परिमाणवाले अपरिमित जल से, आकाश के समान, चारों दिशाओं में वह व्याप्त थी। तदनन्तर अपरिमित जल से भी दशगुना अधिक परिमाणवाले, मेरु आदि पर्वतों को भी द्रवीभूत करने में (प्रलय करने में) समर्थ भीषण ज्वालाओं से वेष्टित थी। तदनन्तर ज्वालाओं से भी अधिक दशगुने परिमाणवाले मेरु आदि पर्वतों के समूह को तिनके और धूलिकण के सदृश ले जा रहे यानी अतिसामर्थ्यवान्, बड़े- बड़े पर्वतों में विस्फोट पैदा करनेवाले, अन्य भूतों के वेग को हरनेवाले मूर्त पदार्थों से प्रतिघात न होने के कारण शब्दरहित एवं बह रहे प्रलयकाल के वायु से चारों ओर परिवृत था। तदनन्तर पूर्वोक्त सब से भी दशगुना बड़े केवल एक शून्यरूपी आकाश से चारों ओर घिरा था। तदनन्तर सौ करोड़ योजन परिमाणवाली खूब घनी दोहरी सुवर्णमय ब्रह्माण्ड की दीवारों से व्याप्त था। इस प्रकार सागर, महापर्वत, लोकपाल, स्वर्ग, आकाश और भूतल से परिवेष्टित जगत् का मध्य देखकर लीला ने तुरन्त पृथिवी में अपने मन्दिर का आधारभूत गिरिग्राम का अवकाश देखा ॥२-३५॥

पचीसवाँ सर्ग समाप्त

छब्बीसवाँ सर्ग

अपने घर में अपने पुत्र आदि आत्मीयों को देखकर और
उनका विलाप सुनकर उनके ऊपर लीला का अनुग्रह तथा जगत् के तत्त्व का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, वे दोनों ललनाएँ राजा पद्म जिसमें रहता था, उस ब्रह्माण्डमण्डल से निकल कर दूसरे ब्रह्माण्डमण्डल में, जिसमें उस वसिष्ठनाम के ब्राह्मण का घर था, पूर्वोक्त रीति से पहुँची ॥१॥ तदुपरान्त उन दोनों सिद्ध ललनाओं ने अन्य लोगों के दृष्टिगोचर हुए बिना ही ब्राह्मण का निवासभूत मण्डप अपना घर इस प्रकार देखा। गृहस्वामी के मर जाने के कारण उसमें दासियाँ शोक से व्याकुल थी, औरतों के मुँह आँसुओं की धाराओं से सराबोर थे, आँसू और धूलि से मलिन होने और आभूषण और तिलक से शून्य होने के

कारण सबके मुँह पर घनी उदासी छाई थी, अतएव सबके मुँह उस कमल के तुल्य थे, जिसकी पँखुड़ियाँ झड़ गई हों। ब्राह्मण के आस्पदभूत उस ब्रह्माण्ड के प्रायः सभी नगर उत्सवशून्य थे, अतएव वह महर्षि अगस्त्यजी द्वारा पिये गये समुद्र के समान, ग्रीष्म ऋतु से मुर्झाकर जर्जर हुए उद्यान की नाईं और बिजली गिरने से जले हुए वृक्ष के तुल्य आँखों को चीरता और वायु से छिन्न भिन्न हुए मेघ के समान तुषारपात से जले हुए कमल के समान एवं उस दीप के समान जिसका कि तेल और बत्ती चुक गई हो, अदर्शनीय था ॥२–५॥ वह घर गृहपति के वियोग से हतप्रभ हो गया था, उसकी मुखकान्ति करुणा से (शोक को बढ़ानेवाले एक प्रकार के भाव से) फीकी पड़ गई थी, अतएव वह आसन्न मृत्युवाले पुरुष की नाईं दिखाई देता था। वह चिरकाल की अनावृष्टि से धूलिधूसर देश की नाईं रूखा था और था उस बन के समान विरुप जिसके वृक्षों के पुराने सब पत्ते झड़ गये हों ॥६॥ वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अब सुन्दरी लीला निर्मल ज्ञान का चिरकालतक अभ्यास करने से देवताओं की नाईं सत्यसंकल्प और सत्यमनोरथ हो गई थी। उसने संकल्प किया कि मुझे और देवी सरस्वती को ये मेरे बन्धुबान्धव साधारण स्त्री के वेष में देखें। उसके यों संकल्प करने के उपरान्त घर के लोगों ने वहाँ पर लक्ष्मी और पार्वती के तुल्य दो अंगनाओं को देखा। उन्होंने अपनी कान्ति से उस घर को जगमगा रक्खा था, सिरसे लेकर पैर तक भाँति–भाँति की अनेक अम्लान (न कुम्हलाई हुई) मालाओं के परिवेष्टन से उनकी सहज सुन्दरता कहीं अधिक बढ़ी चढ़ी थी, अतएव दो वसन्तलक्ष्मियों के सदृश उन्होंने अपने सहज सौरभ से वन और उपवनों को सुगन्धित कर दिया था। ये दो ललनाएँ क्या थी अपनी चाँदनीरूप सुधा से सम्पूर्ण औषधियों को पूर्ण कर रहे, शीतल तथा आह्लादसुख देनेवाले उदित हुए दो चन्द्रमा थे। वे दोनों लटक रहे अलकरूपी लताओं की संनिधि में चंचल होने के कारण भ्रमररूप से परिणत लोचनों द्वारा विलोकनों से नील कमलों से मिश्रित मालतीपुष्पों के (卐) पुंजों को मानों बरसा रही थी। पिघलाये गये सुवर्ण के रस को बहानेवाली नदी के वेग के सदृश मनोहर अपने शरीर की कान्ति के प्रवाह से उन्होंने आसपास के बनों को सुवर्णमय बना दिया था। वे दोनों ललनाएँ क्या थी, शरीर की प्राकृतिक (स्वाभाविक) शोभारूपी लक्ष्मीकी क्रीड़ा के लिए बनाये गये झूले के समान विलास करनेवाले अपने सौन्दर्यरूपी समुद्र की श्रेष्ठ तरंगें थी। कमल की नाईं लाल हाथों से युक्त चंचल दो भुजलताओं से नूतन नूतन स्वर्णमय कल्पवृक्षलताओं के बन की सृष्टि कर रही थी। भाव यह कि उन दोनों में प्रत्येक भुजलताओं और उनके अग्रभाग में स्थित लाल हाथों के हिलने–डुलने के कारण प्रतिक्षण विन्यासभेद से पहले कल्पित वन की अपेक्षा नूतन कल्पवृक्षलतावन का निर्मण कर रही थी। उनके चरण क्या थे, अमृदित (न मसले हुए) और अम्लान (न कुम्हलाये हुए) फूल और कोमल पल्लव थे और स्थलकमल की पँखुरियों की माला थी। ऐसे कोमल और लाल चरणों से वे भूमितल का स्पर्श नहीं करती थी। वे अपने दृष्टिपातरूप अमृत के सेंक से सूखे हुए अतएव सफेद रंग के

卐 कटाक्षों की नील से मिश्रित शुभ्र छबि होती है, अतएव उनकी नील कमलों से मिश्रित मालती के पुष्पों के रूप से उत्प्रेक्षा की गई है।

ताल और तमाल के वृक्षों के खण्डों में नूतन नूतन पल्लवों को पैदा कर रही थी। तदनन्तर ज्येष्ठशर्मा ने घर के अन्यान्य जनों के साथ 'वनदेवियों के लिए नमस्कार' कहकर पुष्पांजलि छोड़ी। घर में उनके पैरों पर पुष्पांजलि ऐसे गिरी जैसे कमल की लता के कमलों पर हिमजल के सीकरों (छोटे छोटे बिन्दुओं) की वृष्टि गिरती है ॥७–१९॥ ज्येष्ठशर्मा आदि ने कहा : हे वन–देवियों, आप लोगों की जय हो, मालूम होता है कि आप दोनों हमारे दुःख को निवृत्त करने के लिए आई हैं, क्योंकि प्रायः दूसरों की रक्षा करना ही सत्पुरुषों का स्वभाव है ॥२०॥ ज्येष्ठशर्मा के यह कहने के बाद उन वन–देवियों ने बड़े आदर से पूछा आप लोग अपना दुःख कहिये, जिस दुःख से ये सभी लोग दुःखी दिखाई देते हैं। उन ज्येष्ठशर्मा आदि सबने क्रमशः उक्त वन–देवियों से ब्राह्मणदम्पतियों का मरणरूप दुःख कहा ॥२१,२२॥ ज्येष्ठशर्मा आदि ने कहा : हे देवियों, इस स्थान में अतिथिसत्कार करनेवाले ब्राह्मणदम्पती रहते थे, उनका आपस में बड़ा स्नेह था, वे द्विजातियों की मर्यादा के स्तम्भ के समान आधार थे और पुत्रपौत्र आदि सन्तति के जनक थे। वे हमारे माता–पिता इस समय पुत्र, इष्ट–मित्र और पशुओं के सहित घर का त्यागकर स्वर्ग में चले गये हैं। इसी कारण हमें यह सारा जगत् शून्य दिखलाई देता है ॥२३,२४॥

पूर्णः पूर्ण जगत्पश्येत् कामुकः कामुकं जगत्। आतोऽप्यार्तिमयं विश्वं लुब्धो लुब्धं स्वचित्तवत्।

(पूर्ण पुरुष अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार सम्पूर्ण जगत् को पूर्ण देखता है, कामी पुरुष अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार सारे जगत् को कामी देखता है, दुःखी पुरुष अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार सम्पूर्ण जगत् को दुःखमय देखता है और लोभी पुरुष अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार सम्पूर्ण जगत् को लोभी देखता है।) इस न्याय के अनुसार उन्होंने कहा :

हे देवियों, देखिये, पक्षी घर के ऊपर बैठकर प्रतिक्षण आकाश में अपनी देह को पटकते हुए मृतक के प्रति भक्ति से मधुर शब्दों द्वारा शोक प्रकट करते हैं। सब पर्वत दीर्घ गुर–गुर शब्दरूपी विलाप से पूर्ण गुहारूपी मुखों से युक्त और व्याकुल होकर नदीरूपी आँसूकी धाराओं से रोते हैं। दिक्पाल देवताओं के आलापरूप रोदन करनेवाली, तपे हुए निःश्वास वायु से मलिन एवं जिनके मेघों ने (स्तनों ने) आकाश का (वस्त्र का) त्यागकर दिया है, ऐसी दिशारूपी अंगनाएँ अत्यन्त कृशता को प्राप्त हुई है। ग्रामवासी सम्पूर्ण लोगों के सर्वांग मारे शोक के भूमि में लोटने, छाती पीटने आदि से क्षतविक्षत हो गये हैं, चारों ओर करुण रस का स्रोत बहानेवाले मुक्त कण्ठ रुदन से सब जर्जरित हो रहे हैं, कोई भी भोजन ग्रहण नहीं करता, सभी दीन–हीन दशा में हैं और सभी मरने के लिए प्रस्तुत हैं। प्रतिदिन वृक्षों के गुच्छरूपी लोचनकोशों से ओसरूपी अश्रुबिन्दु शोक से (धूप से) गर्म होकर नीचे गिरते हैं। जिनमें जनों का संचार शान्त है एवं धूलि से मलिन सड़कें आनन्दरहित एवं शून्य हृदय विधवा के समान हैं। कोयल और भ्रमरों के शब्द से विलाप करनेवाली, वृष्टिरूपी बाष्प से आहत और अत्यन्त उष्ण निःश्वासवाली लताएँ पल्लवरूपी हाथों से अपने शरीर को पीटती हैं। ये झरने शोक से अति सन्तप्त होकर बड़े भारी गर्त के शिलातल में अपने सौ टुकड़े करने के लिए गिर रहे हैं। गाढ़

अन्धकार (शोक) से व्याप्त, हर्ष की चर्चा से शून्य एवं जिसके अन्दर स्थित बर्तन आदि सामग्री तहस–नहस है ऐसे घर निस्सन्देह गतश्री (शोभाविहीन) होकर अरण्यरूप में परिणत हो गये हैं। भ्रमरों के गुंजार से रोदन कर रहे उद्यान के फूलों से सुन्दर आमोदनामक दुर्गन्ध निकल रही है। भाव यह कि उद्यानों के पुष्पों से यद्यपि सुन्दर सौरभ निकल रही है फिर भी नासिका को दुःखदायी होने से शोकार्त पुरुष दुर्गन्धि कह कर उसकी निन्दा करते हैं। बसन्त ऋतु के वृक्षों को सुशोभित करनेवाली लताएँ दिन–प्रतिदिन विरस और कृश होकर गुच्छरूपी लोचनों को संकुचित करती हुई शीर्ण–विशीर्ण हो रही हैं। नहर और नदियाँ सागर में अपने शरीर को डुबाने के लिए गमनाकुल होकर पृथिवी में अपने शरीर को कलकलनिनादपूर्वक दोलायमान कर रही है। ये बावड़ियाँ पहले लोगों के स्थान, जल मरना आदि व्यवहार से अत्यन्त चपलता को धारण करती थी, किन्तु अब इनमें मच्छर के गिरने से होनेवाले स्पन्दकी भी संभावना नहीं है, यों निस्पन्दभाव से स्वस्वरूप में समाधिनिष्ठ हुई जैसी स्थित है। हे देवियों, जिस प्रदेश में किन्नरियाँ, गन्धर्व, विद्याधर और देवताओं की अंगनाएँ गायन कर रही हैं, उस स्वर्ग प्रदेश को आज हमारे माता और पिता ने अलंकृत किया है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। हे देवियों, हमारे शोक का विनाश कीजिये। महानुभावों का दर्शन कभी निष्फल नहीं होता, इसलिए हमें आशा है कि आप अवश्य हमारे शोक का विनाश करोगी। जैसे जल सूख जाने पर कमलिनी नम्र होकर अपने पल्लव से मूलग्रन्थि का (जड़का) स्पर्श करती है, वैसे ही पुत्र के ऐसा कहने के पश्चात् लीला ने अपने हाथ से उसके मस्तक का स्पर्श किया। जैसे वर्षा ऋतु के मेघों के संसर्ग से पर्वत ग्रीष्म ऋतु के सन्ताप का त्याग करता है, वैसे ही लीला के उस स्पर्श से ज्येष्ठशर्मा ने दुःखदुर्भाग्यरूपी विपत्ति का त्याग किया। उन देवियों के दर्शन से घर भर के सब लोग देवताओं की नाईं दुःखरहित और लक्ष्मीवान् हो गये ॥२५–४२॥

श्रीरामचन्द्रजी को यह शंका हुई कि लीला तो सत्यसंकल्प थी, अतएव उसने पहले के (ब्राह्मण और ब्राह्मणी के जन्म के) माता के शरीर से ही पुत्र के आश्वासन के लिए दर्शन क्यों नहीं दिया ? उसी शंका को वे व्यक्त करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, लीलादेवी ने पुत्र ज्येष्ठशर्मा को माता के शरीर से दर्शन क्यों नहीं दिया ? इस विषय में मेरे मोह का (अज्ञान का) आप निराकरण कीजिये ॥४३॥

लीला के पुत्र के घर में आगमन 'प्रपंच मिथ्या है' इसकी परीक्षा के लिए हुआ था, पुत्रस्नेहप्रयुक्त तो हुआ नहीं था। पुत्र आदि संसार में मिथ्यात्व ज्ञान होने पर पुत्रस्नेह कहाँ रहा, अतः तत्त्वज्ञान के पश्चात् मूलाविद्या के बाध के अनन्तर वर्तमान शरीर से अतिरिक्त भौतिक शरीर धारण करने का कोई हेतु नहीं था। इसलिए लीलाने पूर्व शरीर धारण नहीं किया, यों उपपत्ति सहित उत्तर देने के लिए श्रीवसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, जिस अज्ञानी पुरुष ने मिथ्या पृथिवी आदि का संघातरूप शरीर पृथिवी आदि के बोध से सत्य जान लिया, उसकी दृष्टि में वस्तुतः केवल अद्वितीय चिदाकाश ही भ्रान्ति से पिण्डरूपता को धारण करता है। तत्त्वज्ञ पुरुष की दृष्टि में तो उसका

हेतु अज्ञान न होने से केवल अद्वितीय चिदाकाश ही स्थित रहता है ॥४४॥ जैसे बालक को भ्रम से पुरुष का ज्ञान न होने से, वेताल प्रतीत होता है, वैसे ही भ्रमवश पृथिवी आदि का ज्ञान होने से असत् ही पृथिवी आदि सत् से प्रतीत होते हैं (✻) ॥४५॥ जैसे स्वप्नावस्था में पृथिवी आदिरूप से प्रतीत पदार्थ यह स्वप्न है, ऐसा ज्ञान होने पर क्षणभर में अपृथिवी आदि रूप हो जाते हैं, वैसे ही जाग्रदवस्था में भी स्पष्ट है। भाव यह कि भ्रमवश जाग्रदवस्था में पृथिवी आदिरूप से प्रतीत पदार्थ ज्ञान होने के उपरान्त तुरन्त अपृथिवी आदिरूप हो जाते हैं। पृथिवी आदि यदि आकाशरूप से जाने जाय, तो ये आकाश ही हैं, ऐसा अनुभव होता है। देखिये न ! विक्षिप्त लोगों को दरवाजे के सदृश प्रतीत होनेवाली स्फटिककी दीवारों पर शून्य में जैसा उद्यम दिखाई देता है यानी उन्हें दरवाजे समझकर वे घुसने की चेष्टा करते हैं। स्वप्नावस्था में नगर शून्यरूप से प्रतीत होता है और सम पृथिवी गर्तरूप से प्रतीत होती है। स्वप्न की अंगना यद्यपि शून्य है, सत् नहीं है, तथापि वह मनुष्यों की पादसंवाहन आदि क्रिया करती है। यदि आकाश की पृथिवी आदिरूप से प्रतीति हो गई, तो आकाश क्षणभर में पृथिवी आदि हो जाता है। मूर्च्छावस्था में किसी किसी को परलोक भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है। बालक आकाश को ही वेताल, मर रहा पुरुष आकाश में वन, अन्य पुरुष उसे कुण्डलाकार केशों का गोला रूप और दूसरा पुरुष उसको मोतियों का समुदाय रूप देखता है। भयभीत, पागल, आधा सोया और आधा जागा हुआ पुरुष तथा नौका द्वारा चलनेवाले पुरुष सदा ही आकाश में वेताल, वन और वृक्ष आदि देखते हैं और तत्प्रयुक्त पलायन आदि कार्य का अनुभव करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि इन पदार्थों का अपनी अपनी भावना के अनुसार अभ्यास से उत्पन्न हुआ शरीर है, परमार्थतः कोई एक (नियत) शरीर नहीं है। लीला ने तो भ्रान्तिरूप से (मिथ्याप्रपंचरूप से) उदित हुआ आकाश ही दृश्य पदार्थरूप से प्रतीत होता है, यों पृथिवी आदि की नास्तिता (अभाव) रूप यथार्थ वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। ब्रह्मरूप एक चिदाकाशमात्र के ज्ञान से सम्पन्न मुनि के पुत्र, मित्र, कलत्र आदि कौन, कैसे, कहाँ से और कब होंगे ? दृश्य पहले ही उत्पन्न नहीं हुआ, जो प्रतीत होता है, वह अनादि अनन्त परब्रह्म ही है, इस प्रकार यथार्थ ज्ञानवाले लोगों की राग–द्वेषदृष्टियाँ कैसे हो सकती है ? ॥४६–५५॥

यदि लीला का अपने पुत्र आदि पर स्नेह नहीं था, तो उसने उनके सिरपर हाथ कैसे फेरा ? इस शंका पर कहते हैं।

ज्येष्ठशर्मा के सिर पर लीला ने जो हाथ फेरा, वह पुत्रप्रेम का फल नहीं था, किन्तु ज्येष्ठशर्मा के भावी कल्याण के लिए जिसमें पूर्वजन्म के पुण्य और उनका फल तत्त्वज्ञान स्थित है, ऐसी सर्वाधिष्ठानभूत चिति का ही विवर्तरूप फल था ॥५६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, बोध

✻ जैसे बालक को असत् ही वेताल, पुरुष में वेताल बुद्धि होने से, सत् प्रतीत होता है, वैसे ही पृथिवी आदि के न होने पर भी भ्रान्तिवश अधिष्ठानभूत ब्रह्म में पृथिवी आदि का बोध होने से असत् भी पृथिवी आदि सत्–से प्रतीत होते हैं।

पहले जैसे ही पदार्थों का चिन्तन करता है, वैसे ही पदार्थ शीघ्र आभासित होते हैं। बोध स्वयं आकाश से भी सूक्ष्म तथा अत्यन्त शुद्ध है। बोध ही सर्वत्र पदार्थसंघ है, स्वप्नों में और कल्पित नगरों में यह बात शतशः अनुभूत है ॥५७॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

सत्ताईसवाँ सर्ग

आश्चर्यमग्न लीला द्वारा फिर अपने पति के दर्शन की अभिलाषा व्यक्त करना तथा सरस्वती देवी के उपदेश से बोध प्राप्त कर अपने पूर्व जन्मों का वर्णन करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, उस पर्वतशिखर के ग्राम में उस ब्राह्मण के घर के मण्डपाकाश में ही वहाँ पर ज्येष्ठशर्मा आदि के सामने स्थित वे दोनों ललनाएँ शीघ्र अन्तर्हित हो गई। हम लोगों पर वनदेवियों ने अनुग्रह किया, ऐसा विचार कर ज्येष्ठशर्मा आदि घर के लोगों का दुःख मिट गया और वे अपने गृहकृत्य में संलग्न हो गये। तदुपरान्त गृहमण्डपाकाश में अन्य लोगों की दृष्टि में अन्तर्हित विस्मय से चुपचाप–सी बैठी हुई व्योमरूपिणी लीला से व्योमरूपा (शून्यरूप संकल्पशरीरवाली) सरस्वती ने कहा ॥१–३॥

लोक में प्रसिद्ध है कि दूसरे के संकल्पशरीर को दूसरा नहीं देख सकता, ऐसी अवस्था में संकल्पशरीरधारिणी उन दोनों का संवाद कैसे हो सकता है ? श्रीरामचन्द्रजी की इस शंका को उनकी आकृति से भाँपकर स्वयं श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

लोक में जिनका देवता के प्रसाद आदि से उषा और अनिरुद्ध की नाईं समान ही परस्परसंवादी संकल्प या स्वप्न हुआ, उनका उस संकल्प और स्वप्न में परस्पर संवाद जैसे संवाद के अनन्तर होनेवाली क्रियारूप में परिणत होता है, वैसे ही लीला और ज्ञप्तिदेवी का संवाद भी हुआ ॥४॥ जैसे स्वप्न और संकल्प में पृथिवी आदि अधिभूत और नाड़ी, प्राण आदि से उपलक्षित शरीर के बिना भी संवाद की प्रतीति होती है, वैसे ही अधिभूत (पृथिवी आदि) और अध्यात्म (नाड़ी, प्राण) आदि से उपलक्षित शरीर के बिना भी उनकी वह संवादप्रतीति हुई ॥५॥

श्रीवसिष्ठजी प्रसंगतः बीच में आई हुई शंका का समाधान कर प्रस्तुत कथा को कहते हैं।

श्रीसरस्वतीजी ने कहा : भद्रे, तुमने ज्ञातव्य वस्तु सम्पूर्णतया जान ली है, द्रष्टव्य पदार्थ देख लिये हैं, इस प्रकार की यह ब्रह्मसत्ता है। बताओ, अब और क्या तुम पूछती हो ?॥६॥ लीला ने कहा : देवीजी, मेरे मृत पति का जीव जहाँ पर राज्य करता है, वहाँ पर मुझे उन लोगों ने क्यों नहीं देखा, जैसा कि यहाँ पर मेरे पुत्र ने मुझे देखा ? इसका क्या कारण है ?॥७॥ श्रीसरस्वतीजी ने कहा : वत्से, उस समय अभ्यास न होने के कारण तुम्हारा द्वैतज्ञान (प्रपंच सत्य है इत्याकारक ज्ञान) निःशेष नष्ट नहीं हुआ था। जो पुरुष भेदक अविद्या के उच्छेद से अद्वैत को प्राप्त नहीं हुआ है, उसका सत्यसंकल्पत्व आदि क्रियाओं से कैसे सम्बन्ध हो सकता है ? धूप में बैठे हुए पुरुष को छाया में बैठे हुए पुरुष का शीतलता का अनुभव कैसे हो सकता

है ? ॥८,९॥ हे सुन्दरी, जब अभ्यास न होने के कारण मैं लीला देह ही हूँ, ऐसा तुम्हारा दृढ़ संस्कार विनष्ट नहीं हुआ था, तब तुम्हारी सत्यसंकल्पता उत्पन्न नहीं हुई थी। आज तुम सत्यसंकल्प हो गई हो, इसलिए 'मुझे मेरा पुत्र देखे' तुम्हारी यह अभिलाषा सफल हुई है ॥१०,११॥ इस समय यदि तुम अपने पति के समीप में जाओ, तो उसके साथ तुम्हारा सम्पूर्ण व्यवहार पहले की नाईं (जबकि वह जीवित था उस समय के समान) होगा ॥१२॥

यों प्रत्यक्ष दर्शन और उपदेश द्वारा सरस्वती देवीसे निर्दिष्ट अर्थ में लीला की असंभावना की शंका निवृत्त हो गई, अतएव वह मण्डपाकाश के अन्दर ही अपने पति के दोनों परलोकों की तथा हजारों ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति का अनुवाद करती हुई फिर अपने पति के मण्डल को दिखलाने की प्रार्थना करती है।

लीला ने कहा : देवि, इसी मन्दिर के आकाश में मेरे पतिदेव ब्राह्मण हुए, इसी में मरे और फिर इसी में उत्पन्न होकर राजा हुए ॥१३॥ अन्य भूमण्डलरूप उनका वह संसार भी यही मन्दिराकाश है, इसमें उनकी राजधानी के नगर में मैं उनकी (राजा पद्मकी) रूप से स्थित हूँ ॥१४॥ यहीं पर उस अन्तःपुर में मेरे पतिदेव राजा पद्म की मृत्यु हुई थी, इसी अन्तःपुराकाश में उस नगर में वे राजा हुए ॥१५॥ वे पृथिवीतल में अनेक नगरों के अधिपति हो गये। पारमार्थिक ब्रह्म में कल्पित मायिक चलन आदि विकार इस प्रकार से इस मण्डपाकाश में ही व्यवस्थित है। जैसे दोने के अन्दर सरसों की राशि रहती है, वैसे ही इसी गृहाकाश में सम्पूर्ण ब्रह्माण्डभूमियाँ स्थित हैं, ऐसा मैं मानती हूँ। कहीं पास में स्थित अपने पति के मण्डल को सदा अतिनिकटवर्ती समझती हूँ, उसे मैं यहाँ पर जैसे देखूँ, वैसा उपाय आप कीजिये ॥१६-१८॥

इस मण्डपाकाश में केवल आधुनिक पदार्थ ही नहीं है, किन्तु अतीत, आगामी सभी पदार्थ हैं। उन पदार्थों में तुम्हारे अनेक जन्मों के अनेक पतियों के शरीर हैं, सबका दर्शन एक साथ होना तो असम्भव है, उनमें से तुम्हें कौन-सा दिखलाऊँ, इस अभिप्राय से देवीजी ने कहा।

श्रीदेवीजी ने कहा : हे पुत्रि, हे भूतल की अरुन्धती, इस समय तुम्हारे तीन पति हुए अथवा सैकड़ों पति हुए। अत्यन्त संनिकट तीन पतियों में से वसिष्ठ ब्राह्मणरूप पति तो जलकर भस्म हो गया है और पद्मराजारूप पति फूलमालाओं की राशि से ढका हुआ शवरूप से अन्तःपुर में स्थित है ॥१९,२०॥ इस संसारमण्डप में तुम्हारा तीसरा पति वसुधाधिपति है, वह संसाररूपी महासागर में प्रविष्ट होकर भ्रम को प्राप्त हो गया है ॥२१॥ भोगरूपी बड़ी बड़ी लहरों की कल्पनाओं द्वारा विक्षिप्त हो गया है, इसी कारण उसकी बुद्धि मलिन हो गई है। बुद्धि की मलिनता से बुद्धि के अन्दर प्रतिबिम्बित उसकी चित्तवृत्ति भी प्रायः शिथिल हो गई है, वह संसाररूपी सागर का कछुआ बन गया है ॥२२॥ अनेकानेक कठिनतर राजकार्यों को करता हुआ भी वह इस संसाररूपी भ्रम में सोया पड़ा है, जड़ होने के कारण जागता नहीं है ॥२३॥ मैं राजा हूँ, मैं भाँति भाँति के भोगों का भोक्ता हूँ, मैं सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ, इस प्रकार की अज्ञानरूप बड़ी रस्सी से वेष्टित होकर अस्वतन्त्रता को प्राप्त हो गया है। हे सुन्दरी, कहो,

तुम्हें उन तीनों में से, जैसे आँधी सुगन्धपरम्परा को एक वन से दूसरे वन में ले जाती है, वैसे ही किस पति के समीप ले जाऊँ ? ॥२४,२५॥ वत्से, वह अन्य ही संसार है, अन्य ही ब्रह्माण्डमण्डप है, वहाँ अन्य ही विविध व्यवहार होते हैं ॥२६॥ यद्यपि वे पूर्वोक्त संसारमण्डल इस मण्डपाकाश में अधिष्ठानभूत चिद्दृष्टि से पास में ही स्थित हैं, तथापि सांसारिक दृष्टि से उन में कोटि–कोटि योजन दूरी का अन्तर (व्यवधान) है ॥२७॥ इन संसारमण्डलो का पारमार्थिक स्वरूप तो मण्डप के मध्य में स्थित केवल चिदाकाश ही है, यह तुम पुनः पुनः अनुभव करो। इन संसारमण्डलों में एक नहीं कोटि कोटि मेरु और मन्दर पर्वत स्थित हैं। जैसे झरोखे आदि से घर के अन्दर गई हुई सूर्यकिरणों में त्रसरेणु स्फुरित होते हैं, वैसे ही महाचैतन्य के परमाणु में विभिन्न विविध सृष्टियाँ निर्बाधरूप से स्फुरित होती है। इस प्रकार (पूर्वदर्शित ब्रह्माण्ड के समान ही) वे ब्रह्माण्ड भी यद्यपि बड़े बड़े द्वीप, समुद्र, भुवन आदि से विशाल ही है, तथापि चिद्दृष्टिरूप तुला से उन्हें देखा जाय, तो वे वटबीजों के बराबर भी नहीं होते हैं। जैसे आकाश में भ्रमवश वन की नाईं विविध प्रकार के रत्नों का निर्मल प्रकाश प्रतीत होता है, वैसे ही वस्तुतः पृथिवी आदि भेद से रहित ही चिति अविद्याजनित दृढ़ वासना से जगद्रूप प्रतीत होती है ॥२८–३१॥

भ्रान्ति से जगत् की प्रतीति होने पर भी वस्तुभूत आत्मा में कभी भी कुछ भी नहीं हुआ ऐसा कहती है।

चित् का ही भ्रमवश इस जगत् आदिरूप से विकास होता है। अतः सृष्टि के आदि में ही पृथिवी आदि कुछ नहीं हुआ, अतः उससे आत्मा में कभी कुछ भी ह्रास, वृद्धि आदि विकार नहीं हुआ ॥३२॥ जैसे तालाब में लहरें हो होकर पुनः होती हैं, वैसे ही विचित्र आकारवाले काल, काल के अवयव दिन, रात्रि आदि, ब्रह्माण्ड एवं उनके अवयव भुवन आदि देश महाचिति में हो होकर पुनः होते हैं ॥३३॥ लीला ने कहा : हे जगन् माता, जैसा आप कहती हैं, यह बात ठीक वैसी है। मुझे इस समय स्मरण हुआ है कि यहाँ पर यह मेरा जन्म राजस है, तामस या सात्त्विक नहीं है। इस जन्म में दुःख और परिताप की प्रचुरता है और 'मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः' (रजोगुणप्रचुर लोग मध्यलोक में रहते हैं) ऐसी स्मृति भी है, इससे निश्चय है कि मेरा यह जन्म राजस है। इस कल्प के आरम्भ में जब अन्तःकरणरूप उपाधि की उत्पत्ति होने के अनन्तर उसमें प्रतिबिम्बरूप से मैं अवतीर्ण हुई तबसे आज तक मेरे विभिन्न योनियों में आठ सौ जन्म बीत चुके हैं, उन्हें मैं आज पुनः साक्षात् देख–सी रही हूँ यानी स्पष्टरूप से उनका स्मरण कर रही हूँ। हे देवि, पहले किसी दूसरे संसारमण्डल में विद्याधरलोकरूप कमल की भँवरी मैं विद्याधरराज की पत्नी हुई। तदुपरान्त दुर्वासनाओं से कलुषित हृदयवाली मैं मानुषी (स्त्री) हुई, तदनन्तर दूसरे संसारमण्डल में मैं पन्नगराज की कामिनी हुई। तदनन्तर मैं कदम्ब, कुन्द, जामुन और करंजों के वन में रहनेवाली, वृक्षों के पत्तों के वस्त्र पहननेवाली काली भिलनी हुई। तदनन्तर वन की वासना से मूढ़ हुई यानी धर्ममर्यादा को न जाननेवाली अतएव दुष्कर्मों के संचय से उद्धत हुई मैं फूलों के गुच्छेरूप नेत्रवाली, पत्तेरूपी हाथवाली, वन में

विलास करनेवाली पुण्य आश्रम की गुलुच्छ लता हुई, तदनन्तर मुनियों के संसर्ग से पवित्र होकर मैं वनाग्नि से जलकर उन्हीं (पहले जिनके आश्रम में लता हुई थी) महामुनि की कन्या हो गई। तदुपरान्त पुरुषत्वरूप फल देनेवाले जो कर्म मैंने किये थे, उन पहले जन्मों में संचित कर्मों के फलस्वरूप मैं सौराष्ट्र देश में पूरे सौ वर्षोंतक श्रीमान् राजा हुई। तदुपरान्त राजा के परद्रव्यहरण आदि दुष्कर्मों से तालीवृक्ष के तले स्थित किसी जलाशय प्रदेश में नौ वर्ष तक कुष्ठऔर विकलांग नेवली हुई। हे देवि, तदनन्तर मैंने आठ वर्ष सुराष्ट्र देश में दुष्ट तथा अज्ञ ग्वालों की ताड़न, अनुधावन आदि क्रीड़ा के साथ गाय योनि में जन्म लेकर बिताये। उक्त गाय योनि में जन्म का अनुभव करने में मेरा अज्ञान ही कारण हुआ। तदुपरान्त मैं पक्षियोनि को प्राप्त हुई। पक्षियोनि में मैंने अकारण वैरसे ही व्याधों द्वारा बिछाये गये जालों को दुष्ट द्वैतवासनाओं के समान बड़े क्लेश से छिन्न भिन्न किया। तदनन्तर मैं भ्रमरी हुई, मैंने कमल के मुकुलों के (कलियोंके) मध्य में भरपेट केसर खाकर कर्णिका के (कमल के छातोंके) मध्यरूप शय्या में भ्रमर के साथ एकान्त में विश्राम किया। तदुपरान्त मैं मनोहर नेत्रवाली हरिणी हुई। हरिणी योनि में मैंने किरातों द्वारा मर्माहत होकर ऊँचे ऊँचे शिखरों से युक्त रमणीय वनस्थलियों में भ्रमण किया। तदुपरान्त मैं मछली हुई। मत्स्ययोनि में समुद्र के बड़े बड़े कल्लोलों द्वारा बहाई जा रही मैं दिग्भ्रम होने पर जब मछुओं के फन्दे में आ गई, तो मैंने मछुओं द्वारा लट्ठी आदि से अपने मुँह पर किये गये प्रहारों को बड़ी बड़ी लहरों और कछुओं की पीठ की हड्डीपर गिरने से व्यर्थ होते देखा। तदनन्तर मैं पुलिन्दी हुई। उक्त जन्म में चर्मण्वती नदी के किनारे मधुर स्वर गायन कर रही मैं संभोग के पश्चात् नारियलों के रस का आसव पीती थी। तदुपरान्त मैं सारसी हुई। कमलिनी में प्रेमयुक्त भ्रमरी की नाईं निश्चल रहती हुई मैंने संभोगकाल के सीत्कार से मधुरस्वरपूर्वक यथेच्छ कामचेष्टाओं से सारसराज अपने पति सारस को खूब प्रसन्न किया। तदनन्तर चंचलवदन और चंचलनयनवाली मैंने ताली और तमालों के निकुंजों में मदयुक्त कटाक्ष दर्शन से उत्पन्न कामोद्दीपन से पति का अवलोकन किया। तदुपरान्त मैं अप्सरा हुई। स्वर्ग में भी मुझ अप्सरारूपी कमलिनी ने भ्रमररूपी देवताओं को स्वर्ण के द्रव (रस) के संघात के तुल्य मनोहर अंगरूपी पिंजरों से आलिंगन अधरपान आदि द्वारा खूब सन्तुष्ट किया। उसी अप्सरा के जन्म में मणि, सुवर्ण, माणिक्य, मोतियों से जड़ी भूमिवाले कल्पवृक्षों के वनों से पूर्ण मेरुपर्वत में युवकों के साथ रमण किया। तदनन्तर समुद्र की बड़ी बड़ी तरंगों से आकुल, जलप्राय प्रदेशों से युक्त, फूलों के गुच्छों से शोभित लताओं से वेष्टित समुद्र के तटवर्ती वनों की गुफाओं में चिरकालतक मैं कछुईरूपसे रही। चंचल लहरियों से परिपूर्ण सरोवरों में मैंने अपने चंचल वस्त्र की नाईं शुभ्र पक्षों की पंक्तियों पर कमल के भ्रम से बैठे हुए भ्रमरों के झूलने के साधन राजहंसिनीत्व का अनुभव किया यानी मैं राजहंसिनी बनी मेरे वस्त्र के समान शुभ्र चंचल परों पर कमल के भ्रम से बैठे हुए भँवरों ने झूला खेला। झूल रहे एक सेंमर के पत्ते में चंचल हुए अनेक मच्छरों में से एक मच्छर वहाँ से गिर गया, फिर वहाँ न बैठ सकने के कारण वह बेचारा झूला खेलने से वंचित रहा, उसकी यह दयनीय

अवस्था देखकर, यद्यपि मैं हँसी थी तथापि उस मच्छर की दयनीय दशा के संस्कार से ही मैं मरी अतएव मच्छर बनकर दीन हीन दशा में मुझे रहना पड़ा, क्योंकि प्राणी जिस जिस भाव का स्मरण करते हुए प्राण त्याग करता है, उसकी वासना से वासित होकर वह उसी भाव को प्राप्त होता है, ऐसा भगवान् का वचन है। तदुपरान्त मैंने जलवेतस् की लीला से यानी जलवेतस् की योनि में बड़ी बड़ी लहरियों से व्याप्त पर्वतीय नदियों में चपल तरंगों के अग्रभाग के चुम्बन द्वारा भ्रमण किया ॥३४–५६॥

स्थावरपर्यन्त अधम योनियों में जन्म कहकर अब उत्तम जन्मों को भी कहती है।

पहले मैंने गन्धमादन पर्वत में स्थित मन्दारवृक्षों के निकुंज में कामपीड़ित विद्याधर के कुमारों को अपने चरणों पर गिराया था, कामपीड़ित विद्याधर कुमारों ने मेरा अनेक प्रकार से अनुनय विनय किया था ॥५७॥

वहाँ पर भी दुःखप्रचुरता दर्शाती हैं।

जैसे चाँदनी चन्द्रबिम्ब में लोट–पोट लेती है, वैसे ही उक्त विद्याधर कुमारों के वियोगजनित दुःख से पीड़ित होकर मैं कपूर के चूर्ण से भरपूर शय्याओं में चिरकाल तक लेटी रही। तराजू के पलड़े की नाईं ऊर्ध्वगति (ऊपर उठना) और अधोगति (नीचे गिरना) से व्याकुलचित्त एवं संसाररूपी विशाल नदी की चंचल तरंगरूप मैंने वातहरिणी के (वातप्रेमीनामक एक प्रकार की हरिण जाति के) दुर्वारगमनक्रम से (✍) भाँति–भाँति के सैकड़ों दुःखों से युक्त अनेक योनियों में भ्रमण किया ॥५८,५९॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठाईसवाँ सर्ग

दृष्ट प्रपंच के असत्य होने से चिदाकाश की सत्यता और पर्वत तथा गिरिग्राम का विस्तार से वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, वज्र के समान दृढ़ पूर्वोक्त रीति से अनेक करोड़ योजन भलीभाँति पुष्ट मध्यभागवाले अत्यन्त निबिड़ ब्रह्माण्ड की दीवार से वे अबलाएँ कैसे निकली। भाव यह कि स्वप्न में मिथ्याभूत दीवार भी गमन की प्रतिरोधक देखी गई है, अतः उस प्रकार की दृढ़ और घन दीवार से निकलना असंभव प्रतीत होता है ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, कहाँ ब्रह्माण्ड है, कहाँ उसकी दीवार है और कहाँ उसमें वज्र के तुल्य कठोरता है ? राजरानी लीला और सरस्वती देवी दोनों ही वस्तुतः उसी अन्तःपुर के आकाश में स्थित थी। उसी पर्वतग्राम में उसी गृहाकाश में पूर्वोक्त वसिष्ठनामक ब्राह्मण विदूरथ होकर राज्य के ऐश्वर्यका भोग करता है। उसने राजा पद्म बनकर उसी मण्डपाकाश के कोने को जो कि केवल शून्यमात्र है, चार सागरों से परिवेष्टित भूतल समझा वह वसिष्ठ और वह अरुन्धती दोनों उस शून्यस्वरूप मण्डपाकाश में चारों समुद्र पर्यन्त पृथिवी उसमें

✍ ऐसी प्रसिद्धि है कि वातप्रेमी मृग स्वभावतः वायु की गति के अनुसार सम–विषम प्रदेशों में दौड़ता है, उसे कोई रोक नहीं सकता।

राजधानीरूप नगर और राजधानी में राजमहल का अनुभव करते हैं (📖)। वह अरुन्धती ही लीलानाम की राजरानी (पटरानी) हुई, उसने सरस्वती देवी की उपासना की। तदनन्तर वह सरस्वती देवी के साथ अद्भुत दर्शन से रमणीय आकाश को लाँघ कर गृहोदरवर्ती बिलस्तभर आकाश में ही दूसरे ब्रह्माण्ड को प्राप्त हुई और तदनन्तर पहले ब्रह्माण्ड से उसमें आकर गिरिग्राममन्दिररूप अपने घर में आई। जैसे कि शय्या में सोया हुआ पुरुष एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न को प्राप्त करता है, शय्या में ही विविध देशों में विविध स्वरूपों से भ्रमण करता है। आकाशरूप यह सब भ्रान्तिमात्र ही है, न ब्रह्माण्ड है, न संसार है, न दीवार आदि है और न दूरी है। उनका अपना चित्त ही केवल वासनामात्र से तत् तत् विविध पदार्थों के व्यवहार का स्वरूप धारण कर वैसा प्रतीत होता है। कहाँ ब्रह्माण्ड है और कहाँ संसार है ? निरावरण और निस्सीम इस चिदाकाश की ही उन्होंने अपने चित्त से कुछ (ब्रह्माण्डरूप) कल्पना की। जैसे आकाश ही स्पन्द के सम्बन्ध से वायुरूप से कल्पित होता है, वैसे ही उन्होंने चिदाकाश की ही अपने चित्त से ब्रह्माण्डरूप से कल्पना की। सभी जगह सदा अनादि अविनाशी चिदाकाश ही व्याप्त है। जिसे उसका ज्ञान नहीं है, उसकी दृष्टि में वह स्वयं चित् होने से अपने में अपने से ही जगत् सा प्रतीत होता है। जिसने उसको जान लिया, उसकी दृष्टि में यह जगत् आकाश से भी शून्य है और जिसने नहीं जाना, उसकी दृष्टि में यह जगत् वज्र के समान कठोर पर्वत के तुल्य है। जैसे स्वप्न में घर में ही दैदीप्यमान नगर की प्रतीति होती है, वैसे ही असद् ही यह जगत् चिदाकाश में प्रतीत होता है। जैसे मरुभूमि में असत् जल की प्रतीति होती है, जैसे सुवर्ण में अविद्यमान कटकत्व की प्रतीति होती है, वैसे ही असत् यह दृश्य प्रपंच आत्मा में सत् सा प्रतीत होता है। – ऐसा कहती हुई वे दोनों सुन्दर ललनाएँ सुन्दर गति से घर के बाहर निकली। उन्हें ग्रामवासी नहीं देख पाते थे और वे सामने के पर्वत को देख रही थी। वह उत्तुंग पर्वत गगनचुम्बी था, सूर्यमण्डल को स्पर्श करता था, रंग–बिरंग के सम्पूर्ण फूले हुए विचित्र वनों से निर्मल था तथा उसमें अनेक झरनों का कलकल निनाद हो रहा था और वन के पंछी चहचहा रहे थे। उसमें ऊँचे ऊँचे वृक्षों की मंजरियों के पुंजों से पिंजर (लालिमा या भूरापन लिये हुए पीलेपन से युक्त) अतएव रंग–बिरंग के मेघमण्डल थे, इसलिए वह सुन्दर मेघों से युक्त था, उसमें गुलुच्छ लताओं की डालियों में पक्षी और सारस बसेरा ले रहे थे। बड़े मजबूत जलवेंतसों की झाड़ियों से नदियों के तट सुरक्षित (गिरने से बचे) थे, चट्टानों के गड्ढे में पैदा हुई लताओं को, जिन्होंने भली भाँति वृक्षों का अवलम्बन नहीं किया था, वायु खूब हिला रहा था, नचा रहा था। शिखर के वृक्षों ने, जिनकी आगे आगे की टहनियाँ फूलों से व्याप्त थी, आकाश की दीवार के सदृश बादलों को ढक रक्खा था। वेग से बह रही

📖 वसिष्ठ नामक ब्राह्मण और अरुन्धती ही विदूरथ की वासना से उत्पन्न पद्म और लीला की अन्तरात्मता को प्राप्त हुए थे। लीला की अन्तरात्मा को प्राप्त अरुन्धती अनुभव करती है, यह मानकर वर्तमानकाल का निर्देश उत्पन्न होता है।

विशाल नदी का स्रोत ही उसकी मुक्तामाला था। उस पर्वत के नदीतट हिल रहे वृक्षों के वृन्दों से युक्त वन समूह से व्याप्त थे, अतएव सदा वायु से वेष्टित रहते थे। उसका प्रान्तभाग विविध वनों से व्याप्त था, अतएव छाया से सदा ठण्डक रहती थी ॥२–२२॥

पर्वत का वर्णन कर पर्वतग्राम का वर्णन करते हैं।

तदनन्तर उन दोनों ललनाओं ने उस समय वहीं स्वयं पर्वतग्राम को देखा, वह आकाश से गिरे स्वर्ग के एक भाग के समान रमणीय था, उसमें रहटों के चलने का शब्द हो रहा था, जहाँ तहाँ कमलों से युक्त अनेक पोखरे बने थे, पक्षियों के कलरव से सारा नगर गुलजार था और उसमें क्रीड़ा के लिए बने हुए उत्तम निम्नस्थान और जलप्रदेश थे। गोचरभूमि में चल रहीं गायों के रांभने से उसके सम्पूर्ण निकुंज शब्दायमान हो रहे थे, और कुंजों झाड़ियों, छायादार सघन हरे घास के मैदानों से वह युक्त था। उसमें सूर्य की किरणों का प्रवेश बड़ी कठिनाई से होता था, वह शिलाओं तथा नीहार से भस्मलिप्त की नाईं धूसर था। ऊँची–ऊँची मंजरियों से जटा की नाईं लम्बायमान उसकी कतिपय शिखाएँ थी। चट्टानों के मध्य में जल के टकराने से जिनमें मोती के सदृश बिन्दु उछल रहे थे ऐसे झरनों ने उसमें मन्दराचल से मथे जाते हुए क्षीरसागर के जल की शोभा का स्मरण करा रखा था। फल और फूलों से लदे होने के कारण बड़े अच्छे प्रतीत होनेवाले आँगन के वृक्षों से वह व्याप्त था। वे वृक्ष ऐसे प्रतीत होते थे मानों पुष्पराशि को लाकर खड़े हो रहे हों। उसमें चंचल तरंगों को मुखरित करनेवाले पवनों द्वारा हिलाये गये, मकरन्द से व्याप्त वृक्ष भी अतिथियों पर फूल बरसाते थे फिर प्रेमपूर्ण अतिथि सत्कार करनेवाले मनुष्यों से वह अधिष्ठित था इसमें कहना ही क्या है ? बराबर पाषाणों से गिर रहीं जल की बूँदो की टंकारध्वनि से, गुलेल और धनुष के शब्द के तुल्य होने के कारण, भय के योग्य न होने पर भी भयभीत अतएव छिपेहुए पक्षियों ने उसमें कुछ कलरव कर रक्खा था। वह नदी में उत्तुंग लहरों में बैठे हुए और तरंग के जलबिन्दुओं के आस्वादन से शान्त चित्त एवं नक्षत्रों के परिवर्तन के समान परिवर्तनवाले हंसों से परिवृत था। ऊँचे–ऊँचे ताल वृक्षों पर बैठे हुए कौओं को देखकर ये हमारे कलेवेको खा न जाये, इस प्रकार शंकित हुए बालकों द्वारा प्रातःकाल का खाना पच जाने के बाद हम इसे खायेंगे इस बुद्धि से उसमें आमिक्षा (छेना) छिपाई गई थी। उस नगर में बालकों ने फूलों के ही मुकुट आदि सिर के आभूषण और वस्त्र पहने थे, उस नगर के आस–पास खजूर, नींबु, जम्बीर के निबिड़ वन थे, अतएव वह सदा शीतल रहता था ॥२३–३३॥

उस नगर में रहनेवाली भील आदि दरिद्रों की स्त्रियों का वर्णन करते हैं।

उसमें दरिद्र, नीच और आलसी लोगों की स्त्रियाँ अलसीकी शाखाओं को ही, सुलभ होने के कारण, वस्त्ररूप में पहननेवाली, बौरों का कर्णफूल पहनी हुई एवं भूख और प्यास से कृश होकर गलियों में घूमती थी। नदियों की लहरों के आपस में टकराने के शब्द से लोगों का आलाप नहीं सुनाई पड़ता था, शिल्प आदि कार्य करने की दक्षता न होने के कारण भयभीत मूर्ख और आलसी लोग एकान्त में बैठा रहना चाहते थे। दही से मुँह, हाथ और

कन्धों को पोते हुए, कोमल कोमल छोटी लताओं को लिये हुए, गोबर और कीचड़ में सने हुए बालकों से उक्त नगर के चौतरे भरे थे। उसमें बालूमय तटभूमि नदी के तटवर्ती सिवार की लताओं को झूले के समान हिलनेवाले तरंगों से बहाये जाते हुए जल की रेखाओं से अंकित थी। उसमें दही और दूध की घन सुगन्ध से उन्मत्त होकर मक्खियाँ मन्थरगति थी और अपनी इच्छित वस्तु खाने के लिए रो रहे बेचारे पराधीन बालकों का मुँह आँसुओं की धाराओं से जर्जरित हो रहा था। दासियों के हाथ के कंकण गोबर से सने हुए थे, अतएव उनपर गुस्सा होकर खुले हुए केशों को बाँधने में लगी हुई स्त्रियों को देखकर लोग उनकी हँसी कर रहे थे। उसमें पहाड़ी कौए शान्त मुनियों द्वारा डंडे और ढेले आदि से उड़ाने से कहीं उन्हें चोट न लग जाय इस कारण फूलों अथवा पत्तों द्वारा उड़ाये जानेपर भी पूजा के अक्षत खाने के लिए फिर फिर उड़ रहे थे। घरों और गलियों के दरवाजों पर उसमें कठिन पीली कटैया के पेड़ बखेरे थे। घर के समीप के गर्तों को कुंजों से, जो प्रफुल्लित और शोभायमान थी, प्रतिदिन प्रातःकाल टखनों तक आँगनों में फूल बरसाये गये थे। उसके जंगल घास चर रहे भाँति-भाँति के मृग और पक्षियों से पूर्ण थे, गुंजाफल के निकुंजों में जमे हुए घास के हरे हरे तिनकों में मृगों के बच्चे सोये थे (卐)॥३४-४२॥ एकान्त स्थान में सोये हुए बछड़े के एक कान के कम्पन से मक्खियाँ उड़ रही थी, गोपों (गौओं को पालनेवाले अहीर आदि) द्वारा उच्छिष्ट यानी जूठा छोड़े हुए दही में और मुँह के आसपास मक्खियाँ भिनभिना रही थी। उस गाँव के सम्पूर्ण घरों में मधुमक्खियों का क्षय करके मधु संचित किया गया था, फूले हुए अशोक के वनों में लाह से रँगे हुए सुन्दर क्रीड़ामन्दिर बने हुए थे। सीकरों की (छोटे-छोटे जलकणों की) झड़ी लगानेवाले वायु से नित्य आर्द्र होने के कारण सभी वृक्ष प्रफुल्ल थे, फूलों के भार से लदे थे, कदम्बों की कलियों से उसमें सम्पूर्ण छादन तृण ओतप्रोत थे। केतकी के फूलने में जो लताएँ बाधक थी, उन लताओं के काट डालने के कारण निर्बाधरूप से फूले हुए केतकियों के समूह से सारा गाँव सफेद हो रहा था। उस ग्राम के किसी किसी प्रदेश में जल की नाली द्वारा जल गुरु गुरु शब्द करता हुआ बहता था। मेघमण्डल उसके झरोखों से निकलकर बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं में विश्राम लेते थे। जल से लबालब भरे हुए अनेक पोखरों में पूर्ण चन्द्रमा के समान खिले हुए कमलवनों से उसकी शोभा की सीमा न रह गई थी। उसमें सघन वृक्षों की छाया से शीतल साफ सुथरे हरे मैदान थे और सम्पूर्ण हरी-रही घास के सिरों पर जो ओस की बूँदें थी, उनमें तारों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। लगातार गिर रहे खिले फूलों की वृष्टि से और हिमवृष्टि से उस ग्राम के सब मकान सफेद हो गये थे। उस ग्राम के सब वृक्ष भाँति-भाँति की मंजरियों, फूलों, पत्तों और सुन्दर फलों से लदे थे। उस घर की कोठरी के अन्दर छिपे हुए बादलों में युवतियाँ सोती थी और अट्टालिकाओं में स्थित

卐 यहाँ पर गाँव का वर्णन चल रहा है। 'गाँव' शब्द गाँव की सीमा और भूमि के सहित गाँव का वाचक है, इसलिए उसके अन्तर्गत गोचरभूमि, जंगल, निकुंज आदि का वर्णन करने पर भी कोई विरोध नहीं है।

मेघ की बिजली से लोगों को दीपक जलाने की आवश्यकता न रहती थी, क्योंकि दीपक की आवश्यकता बिजली से पूरी हो जाती थी। उस गाँव में सब घर गुफाओं की वायु की झंकार से मेघ की नाईं गरजते थे, घरों के आसपास चकोर, हारीत और हिरन घूमते थे, अतएव वे बड़े मनोहर लगते थे। खिले हुए कन्दल पुष्पों से निःसृत प्रचुर सुगन्धि से परिपूर्ण मन्द–मन्द बहने के लिए उद्यत वायु द्वारा उसके वृक्ष और लताओं के पल्लव चंचल थे। सुग्गा, मैना और लवा की बोली रूपी क्रीड़ा में ललनाएँ तल्लीन थीं। चक्रवाक, कोयल, पहाड़ी कौओं के कोलाहल का चारों ओर समां बँधा था। साल, ताड़, तमाल और कमल तथा उनके नीले फलों का, जिधर देखो उधर, ताँता बँधा था। वहाँ पर लताओं के वलयाकार वेष्टन से वृक्ष परिवेष्टित थे। उक्त गिरिग्राम के मन्दिरों की शोभा का पूर्णरूप से वर्णन कौन कर सकता है ? वे चंचल पल्लववाली असंख्य लताओं के सन्तान के आश्रय थे, खिले हुए कन्दल के फूलों की सुगन्धि से सराबोर थे, उनके मण्डपों में ताली, तमाल आदि के पत्ते नाचते, बाग में खिले हुए फूलों के वृक्षों से उनमें बड़ी ठण्डक रहती थी, उनकी गौएँ रँभाती हई जल में तैरने में आकुल थी, उनके आसपास चारों ओर के लललहाते हुए धान के खेतों और फूलों के बगीचों से उनकी शोभा कहीं अधिक बढ़ गई थी, तट के वृक्षों की कतार से नदी का प्रवाह छिप गया था, फूली हुई सघन लताओं के अग्रभाग ही उसके वितान (चँदवे) थे बगीचों के कुन्द पुष्पों के मकरन्द की (पुष्परस की) भीनी–भीनी सुगन्ध से वे सुगन्धित थे, सुगन्धि से अन्धे बने हुए भ्रमरों ने गिरिग्राम के घरों के आस–पास के कमलों को आच्छन्न कर दिया था, उन घरों ने अपनी सुन्दरता से इन्द्र भवन को नीचा दिखा दिया था, कमलों के पराग से उन्होंने आकाश को सुनहला बना दिया था, उनमें वेग से बह रही गिरिनदी का घर–घर शब्द सदा बना रहता था, कुन्दपुष्प के समान सभेदमेघों की छवि से वे दैदीप्यमान हो रहे थे , अटारियों पर आरूढ़ फूली हुई विशाल लताओं के वे आश्रय थे, उन घरों में परस्पर क्रीड़ा से चंचल मधुर ध्वनिवाले पक्षियों का आवास था, तुरन्त खिले हुए पुष्पों की पँखुड़ियों से युवकों की शय्या पूर्ण थी, स्त्रियाँ पैर के अँगूठे तक लटकी हुई मालाएँ पहनी थी, सभी जगह सुन्दर–सुन्दर नूतन अंकुर उगे थे, जिनसे वे घर दन्तुल से (जिसके छोटे–छोटे दाँत निकले हो ऐसे) प्रतीत होते थे, अत्यन्त सुशोभित सुन्दर लताओं से सरकण्डे घिरे थे, उगी हुई कोमल–कोमल लताएँ और कमलों की उनमें भरमार थी, स्थिर मेघरूपी वस्त्रों से घरों के कमरे आच्छादित (वितानयुक्त) थे, ओस की बूँदरूपी मोतियों की लहरों से युक्त हरी घास के मैदानों से जहाँ–तहाँ उनकी बड़ी ख्याति थी, अटारियों में रूके हुए मेघ की बिजली से घरों में स्त्रियाँ आकुल हो रही थी, नील कमलों से निर्गत सुगन्धि से उनकी सुन्दरता कहीं अधिक बढ़ गई थी, वहाँ की गौएँ रंभाने से बड़ी भली लगनेवाली और हरी घास को चरने में संलग्न थी, घर के आँगन में सुन्दर मृग निःशंक आ जा रहे थे, उक्त घर निबिड़ जलबिन्दुओं की वृष्टि करनेवाले झरनों से युक्त थे, अतएव वृष्टि की भ्रान्ति से उनमें मयूर अपना नृत्य करते थे, वे सुगन्धि से मत्त की नाईं भ्रान्त पवन से ताड़ित अतएव विकलता को प्राप्त हुए

थे, दीवारों में उगी हुई औषधिरूपी (ज्योतिर्लतारूपी) अग्नि से वे घर दीपकों को भूल गये थे, औषधियों से ही उनमें दीपकों का काम चल जाता था, पक्षियों के कलरव से परिपूर्ण अनेक घोंसलों से वे घर व्याप्त थे, सैकड़ों झरनों के अविरत कलरव से लोगों की बोल–चाल छिप गई थी, मोतियों की लरी के समान सुन्दर बिन्दुओं के गिरने से उनके सम्पूर्ण वृक्ष, लता, तृण और पल्लव शीतल थे और उनके फूलों का विकास कभी बन्द नहीं होता था ऐसे गिरिग्राम के मंदिरों की शोभा का वर्णन कौन कर सकता है ? ।।४३–६३।।

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

उनतीसवाँ सर्ग

लीला के पूर्व जन्मों के चरित्रों की प्रत्यभिज्ञा का वर्णन तथा लोकों की राशियों से मण्डित आकाशमें गमन वर्णन।

जैसे आत्मज्ञानी अतएव शान्त पुरुष में भोगश्री और मोक्षश्री प्राप्त होती है, वैसे ही सुशीतल सुरम्य उस गिरिग्राम में वे दोनों देवियाँ पहुँची। इतने समय में उक्त अभ्यास से लीला केवल शुद्ध ज्ञानरूप देहवाली होने के कारण भूत, भविष्यत् और वर्तमानरूप तीनोंकालों को भलीभाँति देखनेवाली हो गई थी। तदनन्तर उसे संसार की प्राक्तन जन्ममरणरूप सम्पूर्ण गतियों का अनायास ही स्मरण होने लगा ।।१–३।। लीला ने कहा : हे देवि, इस देशको देखकर आपके प्रसाद से मैं यहाँ पर अनेक पूर्वजन्मों की सब विविध चेष्टाओं के स्मरण करती हूँ। पहले मैं यहाँ पर बूढ़ी ब्राह्मणी हुई थी। मेरा सारा शरीर नसों से व्याप्त और कृश था। केश सफेद थे। सूखे हुए कुशो की नोंक से छिदने के कारण मेरी हथेली जर्जरित थी। मैं अपने पतिदेव के कुल की वृद्धि करनेवाली भार्या थी। बहुत से बच्चों की माता और अतिथियों का सत्कार करनेवाली गृहिणी थी। देवता और सन्त महात्माओं की भक्त थी। मेरा शरीर घी और दही–दूध से लथपथ रहता था। मैं भात पकाने की बटलोही, यज्ञ–चरु को पकाने के पात्र, अन्यान्य पात्रों और सामग्री को मांज, धो–पोंछकर साफ–सुथरा रखती थी। मेरा प्रकोष्ठ (पहुँचा) सदा अन्न से सनी हुई एक काँच की चूड़ी से युक्त रहता था। मैं जमाई, बेटी, भाई, पिता और माता की सदा पूजा–अर्चा करती थी। देहपात होने तक घर के ही काम–धाम में मेरे दिन रात बीतते थे। मैं पुत्र, बहू और नौकर–चाकरों से शीघ्र काम करने के लिए, तुमने बहुत देरी में स्नान किया, तुमने क्यों देरी लगाई, तुम क्यों विलम्ब कर रहे हो , इत्यादि वचन कहती रहती थी और स्वयं कार्य में व्यग्र रहती थी। मैं कौन हूँ और यह संसार कहाँ तक सच्चा है ? इस बातका कभी स्वप्न मे भी मैंने विचार नहीं किया था। मेरे पतिदेव भी मेरी नाईं घर में अत्यन्त आसक्त थे, उनकी बुद्धि विशुद्ध नहीं हुई थी, वे कोरे श्रोत्रिय थे। मैं समिध, शाक और कण्डों के संग्रह में नित्य दत्तचित्त रहती थी। मेरा शिराओं से (नसों से) भरा दुबला–पतला शरीर मैले कम्बल से ढका रहता था। मैं कभी बछिया की कनपटी के कीड़े निकालने में तत्पर रहती तो कभी घर के पास से शाकके खेतों को सींचन के लिए सींचनेवाले नौकरों को पुकारती थी, कभी जल की

लहरों की अन्तिम सीमारूप तटों मे उगे हुए हरी हरी घास के तिनकोंसे बछियों की तृप्ति करती थी। प्रतिक्षण घर के दरवाजे पर लेपन और ऐपन दिया करती थी। घर के नौकर-चाकरों को विनय, सदाचार आदि सिखलाने के लिए कुछ दीनता के साथ 'ऐसे लोगों के घर में इस तरह के अविनीत नौकर-चाकर कैसे रहते हैं' ऐसा लोग कहेंगे, यों जन-निन्दा का दिग्दर्शन कराया करती थी। मर्यादा के नियमरूप समुद्र की वेलासदृश मैं स्वयं कभी भी अपने कर्तव्य से भ्रष्ट नहीं होती थी, यों अपने चरित्र से भी उन्हें शिक्षा दिया करती थी ॥४-१४॥

ब्राह्मणी जन्म में इस तरह चिरकाल से कार्य में व्यावृत लीला की बुढ़ापे के आक्रमण से कान में बहिरापन, शिरःकम्पन, कूबड़ापन, लाठी लेकर चलने की नौबत आनेपर जो दशा हुई, उसका वह वर्णन करती है।

मैं वहाँ पर पुराने पत्ते के समान वर्णवाले शरीर का जो एक कान, शिर के कम्पन से झूलने के कारण, वहीं ठहरा झूला, उसमें चढ़ी हुई सी, टेकने की लट्ठी के उठाने पर उससे ताड़न करने के योग्य सी, बुढ़ापे से भयभीत-सी, अन्तिम जीवन वृत्ति से चिह्नित सी हुई। श्रीवसिष्ठजी ने कहा : यह कहकर पर्वत ग्राम के मध्य में भ्रमण कर रही लीला ने घूम रही सरस्वती देवी को विस्मयपूर्वक दिखलाया हे देवि, पाटल वृक्षों से अत्यन्त सुशोभित यह मेरी पुष्पवाटिका है। यह मेरी उद्यान मण्डप की अशोकवाटिका खिली हुई है। यह पोखरा है, जिसके तट के पेड़ों में बछड़े बँधे हैं। यह कर्णिका नाम की मेरी बछिया है, इसने मेरे वियोग दुःख से घास छोड़ दी है। यह बेचारी मेरी पनिहारि है, मेरे वियोग-दुःख से इसे अपना काम करने की फुर्ती नहीं है, यह धूलि से पूर्ण है। आज पूरे आठ दिन हो गये हैं इसकी आँखका पानी नहीं सूखा, बेचारी लगातार रोती है ॥१५-१९॥ हे देवि, यहाँ पर मैंने भोजन किया। यहाँ पर निवास किया, यहाँ पर मैं बैठी, यहाँ सोई, यहाँ जल पिया, यहाँ दिया और यहाँ फल, अन्न आदि लाई। यह मेरा ज्येष्ठशर्मा नाम का पुत्र घर में रो रहा है। यह मेरी दुधार गाय जंगल में हरी घास चर रही है। वसन्त के आरम्भ में होली जलाने के लिए बनाया गया, भस्मसे धूसर, पाँच खिड़कियोंवाला यह बरामदा पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे युक्त मेरी देह के समान मेरा प्रिय है, इसे देखो। मानों स्वयं चढ़कर पली हुई तितलो की की लताओं से छत में वेष्टित बड़ी बड़ी नसोंसे वेष्टित मेरे शरीर के सदृश यह रसोई घर है। संसार में मेरे बन्धनरूप से बन्धुबान्धव, अग्नि और काष्ठ ला रहे हैं, सदा रोने के कारण इन बेचारों की आँखें लाल हो गई हैं और बाजूबन्दों में ये रुद्राक्ष धारण किये है ॥२०-२४॥ यह गृहमण्डप दिखाई देता है, जो कि शिलामय तट भूमि में फूलों के गुच्छों को सदा टक्कर देनेवाली, तटवर्ती लताओं के पत्तों को छूनेवाली, आस पास के हरे मैदानों तथा सुन्दर लताओं को सीकरों से व्याप्त करनेवाली एवं शिला पर टक्कर लगने से फेनयुक्त और नीलकमल की गन्ध से सुवासित जलकणों से पूर्ण लहरों से ढका हुआ है, मध्याह्न के सूर्य की किरणराशियों को भी बर्फ के सदृश शीतल करनेवाले, फूले हुए है, मध्याह्न के सूर्य की किरणराशियों को भी बर्फ के सदृश शीतल करनेवाले, फूले हुए फूलों की राशि पर मँडराने वाले भ्रमरों के गुँजार से उत्कण्ठित ऐसे बीच बीच में संनिविष्ट फूले हुए पलाश वृक्षों

की छबि से युक्त अतएव मूंगों के वृक्षों के तुल्य प्रतीत होनेवाले एवं पुष्पराशि का विकास करनेवाले तटवर्ती वृक्षों से व्याप्त ग्रामीण नहर से, जिसके प्रवाह में बह रहे आम आदि फलों को लेने में ग्रामीण लड़कियाँ अतिव्यग्र हैं, जो प्रचुर कलकल शब्द करनेवाली जलभौंरियों से मदमत्तसी प्रतीत होती है, घिरा हुआ है, बड़ी तेजी से बहनेवाले जल से जिसके पत्थर घुले हुए हैं, सघन पत्तेवाले वृक्षों की निबिड़ छाया से जो सदा शीतल है, फूली हुई लताओं के परिवेष्टन से बड़ा भला प्रतीत होता है और खिल रही गुलुच्छलता से जिसकी खिड़कियाँ आच्छन्न हैं। इसमें मेरे पतिदेव जीवाकाश होने के कारण निष्क्रिय होते हुए भी चार सागरपर्यन्त पृथिवी के स्वामी बन कर रहते थे। हाँ, मुझे स्मरण हुआ कि दृढ़ संकल्पवाले इन्होंने पहले मैं शीघ्र राजा होऊँ, ऐसी अभिलाषा की थी, इसलिए हे देवी, आठ ही दिनों में इन्होंने समृद्धिशाली राज्य प्राप्त किया, जो कि चिरकाल की प्रतीति देनेवाला था ॥२५–३४॥ जैसे आकाश में वायु अदृश्य होकर रहता है और जैसे वायु में सुगन्धि अदृश्य होकर रहती है वैसे ही इस घर के आकाश में यह मेरे पति का जीव राजा रहता है। यहीं अंगुष्ठमात्र गृहाकाश में ही स्थित परमार्थ वस्तु (परब्रह्म) को भ्रम से मैंने करोड़ों योजन विस्तृत मेरे पति का राज्य समझा। हे देवी, हम दोनों चिदाकाश ही हैं,मेरे पतिदेव का राज्य जो कि हजारों पहाड़ों से पूर्ण है, आकाश में स्थित है, यह बहुत बड़ी माया फैली हुई है। हे देवी पति के नगर में पुनः जाने की मेरी इच्छा है, इसलिए आइये वहाँ चले। उद्योगियों के लिए क्या दूर है ?॥३५–३८॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, देवी से यह कहकर नतमस्तक हुई लीला झटपट गृह मण्डप में प्रवेश कर देवी के साथ चिड़िया की नाईं तलवार के तुल्य नीले आकाश में उड़ी। पीसे हुए अंजन के ढेर के सदृश श्याम, निश्चलसागर के समान मनोहर, भगवान् श्रीविष्णु की अंगकान्ति के तुल्य श्यामल, भँवरे की पीठके सदृश निर्मल कान्तिवाले आकाशको लाँघकर, प्रवह आदि उनचास वायुओं के लोक को लाँघ कर, तदनन्तर सूर्यमार्ग और चन्द्रमार्ग का उल्लंघन कर, ध्रुवलोक के ऊपर पहुँचकर, सिद्धों के लोक में जाकर, सिद्धों के लोक को लाँघकर,स्वर्गमण्डल से ऊपर चढ़कर, ब्रह्मलोक में जाकर तुषितों (नित्यसन्तुष्टों) के लोक में (वैकुण्ठ में) पहुँचकर, तदनन्तर क्रमशः गोलोक, शिवलोक और पितृलोक का अतिक्रमण कर, विदेह और सदेह मुक्तोंके अतिदूरवर्ती लोक को पार कर अत्यन्त दूर जाकर लीला कुछ प्रबुद्ध हुई। दूर जाकर जब नीचे चन्द्रमा, तारा आदि कुछ भी नहीं दिखाई देते थे, दिशारूपी गर्तों को भरनेवाला एकमात्र सागर के सदृश, पत्थरके मध्यभाग के समान ठोस,निश्चल और गम्भीर अन्धकार ही अन्धकार था, तब उसने पीछे अतीत आकाशस्थल को देखा ॥३९–४६॥ लीला ने कहा : हे देवि, सूर्य आदि का तेज नीचे कहाँ चला गया, पत्थर के मध्यभागके समान निबिड़ अतएव मुट्ठी में लेने योग्य यह अन्धकार कहाँ से आ गया है ? कृपया यह मुझसे कहिये ॥४७॥ श्रीदेवी ने कहा : भद्रे, तुम कितने दूर आकाशमार्ग मे आ गई हो, जहाँ से सूर्य आदि तेज दिखाई ही नहीं देते हैं। जैसे बड़े भारी अन्धे कुएँ के नीचे विद्यमान जूगनूँ बहुत दूर ऊपर बैठे हुए पुरुष को नहीं दिखाई देता है वैसे यहाँ से बहुत नीचे स्थित सूर्य भी नहीं दिखाई देता ॥४८,४९॥ लीला

ने कहा : देवीजी, ओ हो ! क्या हम लोग इतने दूर मार्ग में आ गये, जिससे सूर्य तक परमाणु के समान नीचे तनिक भी दिखाई नहीं देता है। माँ, इससे आगे दूसरा मार्ग कौन और कैसा होगा और उसमें कैसे जाना होगा ? हे देवि, यह सब आप मुझसे कहिये ॥५०,५१॥ श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, इसके बाद आगे ब्रह्माण्डसंपुट के ऊपरके कपाल में तुमको जाना है, चन्द्रमा आदि जिस ब्रह्माण्डसंपुट के ऊपर के कपाल के धूलिकण से उत्पन्न हुए हैं॥५२॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, जैसे दो भ्रमरियाँ पर्वत के छिद्ररहित (ठोस) भाग को प्राप्त होती हैं, वैसे ही इस प्रकार आपस में प्रश्नोत्तर कर रहीं वे दोनों ललनाएँ ब्रह्माण्डसंपुट के ऊपरवाले खप्पर पर पहुँची ॥५३॥ वे वहाँ से, जैसे कोई आकाश से निकले वैसे ही अनायास निकली। जो वस्तु सत्यता के अध्यवसायमें स्थित हो यानी यह वस्तु सत्य है ऐसे अध्यवसाय से युक्त हो, वह वज्र के समान ठोस होती है और जो उक्त अध्यवसाय से युक्त नहीं है वह मिथ्यात्वबुद्धि से बाधित हो जाती है। लीला का विज्ञान आवरणशून्य था, अतएव उसने ब्रह्माण्डसंपुटके ऊपरवाले कपाल के बाद ब्रह्माण्ड के आर पार अत्यन्त भाखर जलादि आवरण को व्याप्त देखा। ब्रह्माण्ड से दस गुना जल वहाँ पर है, वह जैसे अखरोट के ऊपर उसका बाहरी छिलका उसे व्याप्त करके रहता है, वैसे ही ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके स्थित है। उसके बाद उससे दसगुनी अग्नि है, उसके बाद उससे दसगुना वायु था, उसके अनन्तर उससे दसगुना आकाश है तदनन्तर शुद्ध चिदाकाश है। उस परमाकाश में वन्ध्यापुत्र के वृत्तान्तों की नाईं, आदि, मध्य और अन्त की कल्पनाएँ कुछ भी उदित नहीं होती यानी वह अपरिच्छिन्न है। वह अद्वितीय, असीम, शान्त, कारण रहित, भ्रमशून्य, आदि अन्त और मध्यरहित है एवं अपनी महिमा में स्थित है। यदि उस निर्मल चिदाकाश में कल्पपर्यन्त बड़े भारी वेग से ऊपर से पत्थर नीचे को गिरे और नीचे से गरुड़ ऊपर को बड़े वेग से कल्पपर्यन्त उड़े और उनके बीच में उनका सन्धान करने में समर्थ वायु एक वेग से दाएँ–बाएँ दोनोंओर से बहे, तो वह भी उनसे मिल नहीं सकता फिर चारों ओर से उसके अन्त पाने की तो बात ही क्या है ? वह चारों ओर से असीम और अपरिच्छिन्न है ॥५४–६०॥

उनतीसवाँ सर्ग समाप्त

तीसवाँ सर्ग

जैसे ब्रह्माण्ड का पहले वर्णन किया गया है वैसे ही और उसी प्रकार के
विचित्र करोड़ों ब्रह्माण्डों को लीला ने चिदाकाशमें परमाणु के तुल्य देखा इसका वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के उत्तरोत्तर दसगुने बड़े आवरणों को एक क्षण में लाँघकर लीला ने पूर्वोक्त परिमाणसहित अविद्याशबलित चिदाकाश देखा, उक्त आकाश में जैसे यह ब्रह्माण्डरूप जगत् विस्तृत है वैसे ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों को भी उसने विस्तृत देखा ॥१,२॥ जैसे आकाश में, धूप में, करोड़ों त्रसरेणु दृष्टिगोचर होते हैं वैसे ही लीला ने सब ब्रह्माण्डों में वैसे आवरणवाली करोड़ों सृष्टियों को देखा, जो कि स्वप्रकाश

अधिष्ठान चैतन्य से भासित थी। अविद्यारूप जल से परिपूर्ण महाकाशरूपी महासागर में महाचैतन्य के स्फुरणरूप द्रवीभाव से उत्पन्न असंख्य ब्रह्माण्डरूपी बुद्बुदों को लीला ने देखा ॥३,४॥

इस प्रकार के हजारों करोड़ ब्रह्माण्ड हैं, क्योंकि प्रधान यानी अधिष्ठान चैतन्य सर्वगामी है, इसलिए वे तिरछे, ऊपर, नीचे, सब जगह स्थित हैं, इस पुराणवचन के अनुसार कहते हैं।

उसने तत्–तत् ब्रह्माण्डों के अभिमानी जीवों के ज्ञानानुसार उनमें से कुछ को नीचे गिरते हुए, कुछको ऊपर उड़ते हुए, कुछ को तिरछे चलते हुए और कुछ को निश्चलरूपसे स्थित देखा। जिन–जिनकी जहाँ–जहाँ पर जैसी भावना हुई, उन–उन की दृष्टि में वहाँ–वहाँ पर वैसा–वैसा रूप उदित हुआ। यह अनुभव करनेवालों की दृष्टि से कहा गया है, वास्तव में चिदाकाश में और ब्रह्माण्डमें भी कुछ नहीं है, न तो ऊपर का प्रदेश है, न नीचे का प्रदेश है और न ब्रह्माण्डों के गमन–आगमन ही हैं, किन्तु वाणी और मन का अगोचर दिग्विभाग आदि सब द्वैतों से रहित दूसरी ही वस्तु है, इसलिए जो ब्रह्माण्डों का वर्णन किया है, वह अज्ञानी लोगों की दृष्टि के अभिप्राय से किया है, ऐसा समझना चाहिए। स्वयं संवित् ही अविद्यासे उत्पन्न अपने संकल्पों से, बालकों के संकल्पों की नाईं उत्पन्न सी होती है और उत्पन्न होकर शान्त सी होती है ॥५–८॥

यदि अधिष्ठानतत्त्व में दिग्विभाग नहीं है, तो अध्यस्त में भी नहीं होगा, क्योंकि अध्यस्त केवल अधिष्ठान दशा में स्थित रहता है, ऐसा नियम है, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यदि अधिष्ठानतत्त्वमें ही पहले ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक् नहीं था, तो कल्पना द्वारा प्रतीत हो रहे जगत् में क्या नीचे होगा, क्या ऊपर होगा और क्या तिरछा होगा अर्थात् अधिष्ठानमें कल्पित जगत्में अधः, ऊर्ध्व और तिर्यक् का संभव कैसे है ? ब्रह्मन्, यह आप कृपापूर्वक मुझे समझाइये ॥९॥

यह जगत् मायिक है, अतः मायिक प्रपंचमें इस प्रकार के नियम का व्यभिचार दोषावह नहीं है, इस अभिप्राय से पहले श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, जैसे आकाश में भ्रमवश केशों का कुण्डलाकार गोला दिखलाई पड़ता है वैसे ही अज्ञान से दूषित दृष्टिवाले पुरुष को असीम महान् चिदाकाशमें सम्पूर्ण आवरणोंसे युक्त ये ब्रह्माण्ड प्रतीत होते हैं ॥१०॥

अथवा सब वस्तुएँ ईश्वरेच्छाधीन हैं, इसलिए पूर्वोक्त नियम का उल्लंघन दोषदायक नहीं है, इस अभिप्राय से श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

अस्वतन्त्र होने के कारण सभी पदार्थ वेग से इधर–उधर भाग रहे हैं। उनमें परस्पर आकर्षण होने के कारण वे गिरते नहीं है। भाव यह है कि जैसे कदम्ब के फूल के केसरों की आधारभूत जो कर्णिका है, उसकी अपेक्षा से ही उनके मूलदेश की कल्पना होती है, वैसे ही ब्रह्माण्डों में जितने पदार्थ हैं, उन सबकी पृथिवी मूलदेश मानी जाती है। यहाँ पर ऐसी शंका नहीं करनी

चाहिए कि वास्तविक अधो देश का अस्तित्व न होने से फल की डंठी से गिरे हुए फल के गुरु (वजनदार) होने से नीचे गिरने में कोई हेतु नहीं होगा। क्योंकि गुरुत्व विषयों का कोई अन्य गुण नहीं है, जैसे विषयों में अपनी–अपनी इन्द्रिय की आकर्षण शक्ति ही गुरुत्व है। अतएव बाह्य दिग्विभाग न होने के कारण अत्यन्त गुरुतम ब्रह्माण्ड नहीं गिरते हैं और न उनके आवरण भूत जल आदिसे उनका विश्लेषण ही होता है। इसलिए अधिष्ठान चैतन्य में दिग् विभाग की आवश्यकता ही नहीं है, इस आशय से दूसरा समाधान करते हैं।

ब्रह्माण्ड में महापृथिवीरूप जो ब्रह्माण्ड का भाग है वह सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों के नीचे है और उससे अन्य आकाश भाग ऊपर है, ऐसी कल्पना है ॥११॥

वह प्रकार ज्योतिश्चक्र के आधारभूत खगोल से भूगोल को चारों ओर से वेष्टित माननेवाले ज्योतिषशास्त्रकारों को भी मान्य है, यह दर्शाने के लिए उनके द्वारा उदाहृत दृष्टान्त करते हैं।

जैसे गोल पत्थर या ढेले में चींटियाँ चिपकी रहती हैं, जिस ओर चींटियों के पैर होते हैं वह नीचे का भाग है और जिधर पीठ रहती है वह ऊपर का भाग है, वैसे ही दसों दिशाओं में संलग्न लोगों के पैर नीचे को ही होते हैं और पीठ ऊपर को होती है, यह सब सूर्यसिद्धान्त में कहा गया है ॥१२॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी की शंका का समाधान कर प्रस्तुत ब्रह्माण्डों की विचित्रता का वर्णन करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

किन्हीं ब्रह्माण्डों के अन्दर की भूमि वृक्षों ओर वामियों से व्याप्त है। उनमें मनुष्यों का नामनिशान नहीं है और निर्मल आकाश देवताओं, नरभिन्न और नरतुल किंपुरुषों और दैत्यों से आक्रान्त है। जैसे पका हुआ अखरोट का फल त्वचा से (छाल से) वेष्टित रहता है वैसे ही कुछ ब्रह्माण्ड तुरन्त कल्पनात्मक चार प्रकार के प्राणियों के साथ ही ग्राम, नगर, पर्वतों से युक्त होकर उत्पन्न हुए हैं। जैसे विन्ध्याचल के विशाल वन में हाथी पैदा होते हैं, वैसे ही परमात्मा के मायाशबलस्थान में ब्रह्माण्डरूपी त्रसरेणु उत्पन्न होते हैं ॥१३–१५॥

जैसे ब्रह्माण्ड चिदाकाश के सामने अणुवत् सूक्ष्म है वैसे ही किसी दूसरे पदार्थ के सामने चिदाकाश भी क्यों न परमाणुतुल्य सूक्ष्म हो ? इस शंका पर कहते हैं।

स्थितिकाल में सम्पूर्ण पदार्थ चिदाकाश में रहते हैं, सृष्टिकाल में उससे उत्पन्न होते हैं, प्रलय में सब उसी में लीन हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में सब दिशाओं में सब कालो में और सब वस्तुओं में वहीं है,उससे अतिरिक्त कोई नहीं है। वही नित्य सर्वमय आत्मा है, उस प्रकार का वह किसके प्रति अणु होगा ? किसी के प्रति भी वह अणु नहीं हो सकता है, यह अर्थ है ॥१६॥ शुद्ध बोधरूप तथा परम प्रकाश के सागर चिदाकाश में ब्रह्माण्डनामक लहरें नित्य उठकर विलीन होती हैं ॥१७॥

उनमें कुछ ब्रह्माण्ड अव्याकृत ही भीतर हैं, ऐसा कहते हैं।

पूर्व कल्प के सम्पूर्ण संकल्पों के बीज लिंगरूप उपाधि का क्षय होने पर अन्धकारस्वरूप रात्रियों के समान अव्याकृत कुछ ब्रह्माण्ड भीतर स्थित हैं। जलमें तरंगों की नाईं शून्यतारूप

सागर में उनकी प्रकर्ष से तर्कना होती है। 'कैसे असत् से सत् उत्पन्न होगा ?' इत्वर्थक श्रुति युक्ति से वे हैं ऐसी तर्कना की जाती है, यह अर्थ है ॥१८॥ किन्हीं ब्रह्माण्डों के भीतर प्रलय समाप्त होनेवाला घर-घर शब्द प्रवृत्त है, स्वाभाविक अज्ञान से विषयों में प्रीति से व्याकुल हुए अन्य लोगों ने न उसे कभी सुना और न जाना ही, क्योंकि वे स्वाभाविक अज्ञान से विषयों में जो प्रीति होती है उससे आकुल हैं। अन्य ब्रह्माण्डों में प्राथमिक कल्प, युग आदि के आरम्भ में प्रथम उत्पन्न प्राणियों द्वारा दूषित न होने के कारण शुद्ध भुवनोंमें जैसे जल से सींचे हुए बीजों के कोष से सफेद अंकुर निकलता है वैसे ही सृष्टि होती है। किन्हीं ब्रह्माण्डों में महाप्रलय की प्राप्ति होने पर जैसे सन्ताप लगने से हिमकण गलते हैं, वैसे ही सूर्य, अग्नि और बिजलियाँ पहले भुवनों को जलाकर स्वयं गलने लगते हैं। कुछ ब्रह्माण्ड आधार भूमि को न पाकर कल्पपर्यन्त गिरते ही रहते हैं, जब तक कि बिलकुल चूरचूर होकर फिर न पैदा हों ॥१९-२२॥

शंका – पहले आप ब्रह्माण्डों के पतन का असम्भव कह चुके हैं, उसकी क्या गति होगी ?

समाधान – वे ब्रह्माण्डपतन संवित्मय हैं। ऐसे ब्रह्माण्डों में पतन का कोई विरोध नहीं हैं। कुछ ब्रह्माण्ड आकाश में केशों के गोले की नाईं निश्चल से स्थित हैं और स्पन्दात्मक वासना से उत्पन्न हुए कुछ ब्रह्माण्ड वायु से स्पन्दन की नाईं प्रतीत होते हैं ॥२३॥

यदि कोई शंका करे कि 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' (ब्रह्मा ने पूर्व सृष्टि के अनुसार ही ब्रह्माण्डों की रचना की) यह श्रुति सम्पूर्ण सृष्टियों की एकरूपता का वर्णन करती है, उससे विरुद्ध सृष्टियों की विलक्षणता का प्रतिपादन कैसे करते है ? इस पर कहते हैं।

उक्त श्रुति पूर्व कल्प में जैसी ब्रह्मा की सृष्टि थी वैसी ही दूसरी, तीसरी आदि सृष्टियाँ होती हैं, ऐसा प्रतिपादन करती है। वेद-शास्त्रों से सम्बन्ध रखनेवाले पूर्व जन्म के कर्म-ज्ञान के अनुष्ठानरूप सदाचार से ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए ब्रह्मा का पहले की सृष्टि के अन्य सृष्टिकर्ताओं की सृष्टि से विलक्षण रूप से उदित होने पर आगे के कल्पों की सृष्टियों का आरम्भ भी पूर्व की नाईं हो, लेकिन अन्य सृष्टिकर्ताओं का सृष्टि की अपेक्षा इसका क्रम अनियत ही ठहरा। इस प्रकार सृष्टियों की विलक्षणता सिद्ध हुई ॥२४॥

'परम पिता परमेश्वर को अपनी-अपनी तपस्या से प्रसन्न कर आपस में एक दूसरे को जीतने की इच्छा करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, शिव परस्पर से उत्पन्न होते हैं', इस प्रकार पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की कल्प के भेद से परस्पर से उत्पत्ति कही गई है। जिस कल्प में जो उत्पादक होगा, उसकी प्रधानता होने पर उनके गुणोंके भेद से कभी सत्त्वगुण की प्रधानता होगी, कभी रजोगुण की और कभी तमोगुण की प्रधानता होगी, यों सत्त्व आदि गुणों की प्रधानता के कारण भी सृष्टि में विचित्रता का होना, इस आशय से कहते हैं।

कुछ ब्रह्माण्डों के ब्रह्मा ही सृष्टिकर्ता हैं, कुछ के विष्णु ही अधिपति हैं, कुछ के रुद्र, भैरव, दुर्गा, विनायक आदि अध्यक्ष हैं, क्योंकि उनके महात्म्य का वर्णन करनेवाले पुराणों में वे भी ब्रह्मा के नियन्ता कहे गये हैं। कुछ ब्रह्माण्डों में मृग, पक्षी आदि जन्तु किसी के

नियन्त्रण के बिना ही स्वच्छन्द रहते हैं ॥२५॥ कुछ ब्रह्माण्ड विचित्र सृष्टि और विचित्र अधिपतिवाले हैं, कुछ ब्रह्माण्ड प्राणियों के कर्म और वासनाओं के विलक्षण होने से एवं सृष्टिकर्ताओं की इच्छा और ज्ञान के विचित्र होने से पशु–पक्षियों से ही भरे हैं, कुछ ब्रह्माण्ड केवल एकमात्र समुद्र से भरे हैं, कुछ जीव–जन्तुओं से शून्य हैं, कुछ ब्रह्माण्ड शिला के तुल्य निबिड़ हैं, कुछ के अन्दर कीड़े–ही–कीड़े हैं, कुछ में देवताओं का ही आवास है और कुछ में मनुष्य ही प्रचुरमात्रा में रहते हैं, कुछ कभी नष्ट न होनेवाले अन्धकार से आवृत्त हैं, उनमें वैसे ही प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, क्योंकि उल्लुओं का अँधेरे में दर्शनव्यवहार देखा जाता है; कुछ सदा प्रकाश से पूर्ण हैं, उनमें वैसे ही प्राणी दृष्ट होते हैं। कुछ गूलर के फल की तरह मच्छरों से परिपूर्ण हैं, कुछ ब्रह्माण्डों का मध्यभाग सदा शून्य रहता है, कुछ के जीव गतिशून्य हैं। पूर्वोक्त प्रकार की सृष्टिसे पूर्ण कुछ दूसरे ब्रह्माण्ड आकाश से पूर्ण पर्वत की नाईं योगियों की सविकल्पकज्ञानविषयता को भी प्राप्त नहीं होते। आकाश से पूर्ण पर्व के समान आकाश शून्य स्वभाव है और महाकाश तो वैसा विस्तृत है कि यदि विष्णु आदि अपनी आयुभर यदि कितना बड़ा है, यह जानने के लिए दौड़े तो भी उसकी सीमा नहीं जान सकते ॥२६–३१॥

यदि कोई शंका करे कि भले ही अनन्त ब्रह्माण्ड हों और परस्पर विलक्षण भी हों, लेकिन उनके बाहर स्थित जलादि आवरण को, उनको धारण न करने के कारण उनका विश्लेषण क्यों नहीं होता, ऐसी शंका कर पूर्वोक्त आकर्षण शक्ति का अवलम्बन कर उनका विश्लेषण नहीं होता, ऐसा समाधान करते हैं।

अपने स्वभाव से ही प्रत्येक ब्रह्माण्डगोलक की भूतों को आकृष्ट करनेवाली एक प्रकार की शक्ति वलय में जड़े हुए रत्न के समान चारों और से व्याप्त कर स्थित हैं, इस कारण उनका विश्लेषण नहीं होता ॥३२॥

अपनी अशक्ति स्थापन के बहाने जगत विस्तार वर्णन का उपसंहार करते हैं।

महामते, जगत् के वर्णन के विषय में हमारी बुद्धि का जो सम्पूर्ण वैभव था, उसे हम दिखला चुके हैं। उसके बाद जो जगत् है, वह हमारी बुद्धि का विषय नहीं है। उसके वर्णन की मुझमें शक्ति नहीं है ॥३३॥

मुझमें अन्यान्य जगत् के वर्णन की शक्ति न होने से इतने ही जगत् है, ऐसा नहीं सोचना चाहिए किन्तु अन्य लोगों द्वारा अदृष्ट (अज्ञात) अनन्त जगत् हैं, क्योंकि माया में अनन्त जगतों की सृष्टि करने की असीम सामर्थ्य है, ऐसा दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

भीषण अन्धकार से व्याप्त बड़े भारी अरण्य में जैसे मदोन्मत्त भूतगण परस्पर एक दूसरे के स्वरूप को देखे बिना नाच करते हैं, वैसे ही अविद्या से आवृत ब्रह्म में बहुत से महाजगत् स्फुरित होते हैं ॥३४॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतीसवाँ सर्ग

फिर लीला के अन्तःपुर को देखने की इच्छा, अन्यान्य ब्रह्माण्डों के प्रेक्षण, शूरवीरों के चिह्नों से-कवच, शिरस्त्राण आदि से-सन्नद्ध सेना के निरीक्षण का वर्णन।

अपने पूर्वजन्म के संसार से निकलकर पूर्वोक्त रीति से अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की विचित्रता को देखती हुई वे उनमें से किसी ब्रह्माण्ड में झटपट प्रविष्ट हुई वहाँ उन्होंने अन्तःपुर को देखा, वहाँ वे चिरकाल तक नहीं रही, तुरन्त ही निकल आई। उस अन्तःपुर में पुष्पराशि से परिपूर्ण महाराज का महान् शव रक्खा था, शव के पास समाधि में आरुढ़ चित्तवाला लीला का शरीर बैठा था, शोक के कारण रात्रि के बहुत दीर्घ होने से उसमें लोग थोड़ी-थोड़ी सुषुप्ति से (गाढ़ निद्रा से) युक्त थे, धूप, चन्दन, कपूर और कुमकुम की सुगन्धि से वह भरा था। उसको देखकर पति के दूसरे संसार को जाने की लीला को इच्छा हुई, लीला संकल्पमात्र देह से अन्तःपुर में ही स्थित पूर्वोक्त मण्डपाकाश में पहुँची। संसार रूप आवरण को तोड़कर और ब्रह्माण्ड के खप्पर को फोड़कर कुछ विस्तृत पति के संकल्प संसार में प्रविष्ट हुई। वह उक्त देवी से साथ फिर आवरणों से युक्त विस्तीर्ण ब्रह्माण्डमण्डप में वेग से पहुँची और उसमें प्रवेश कर जैसे सिंहिनी अन्धकार और मेघों के कारण पंकयुक्त की नाईं स्थित पर्वत की गुफा को देखती है वैसे ही उसने अपने पति देव के संकल्पजगत् को देखा जो कीचड़ से भरी हुई तलैया के समान था। चिदाकाशमय उन दोनों देवियों ने ब्रह्माण्ड के मध्यवर्ती शून्यात्मक जगत् में जैसे दो चींटियाँ पके हुए अतएव कोमल बिल्वफल में प्रवेश करती है, वैसे प्रवेश किया। वहाँ पर अन्यान्य लोकों, अनेकों पर्वतों और आकाश को लाँघकर वे विविध पर्वतों और समुद्रों से परिपूर्ण भूमितल पर आयी। तदनन्तर मेरु पर्वत से अत्यन्त सुशोभित और नौखण्डो में विभक्त जम्बूद्वीप में जाकर भारतवर्ष में लीला के स्वामी के राज्यमें पहुँची। इसी समय पृथिवी के भूषणस्वरूप उस राज्यमें किसी एक राजा ने (सिन्धुराजा ने), अपने सहायभूत सामन्तों से जिसकी शक्ति काफी बढ़ी-चढ़ी थी, आक्रमण किया था। उक्त सिन्धुराज के साथ संग्राम छिड़ने पर उक्त संग्राम को देखने लिए आये हुए तीनों लोकों के जीवों की आकाश में बड़ी भीड़ लगी थी। भय-शंका रहित होकर आई हुई उन देवियों ने आकाशचारी सिद्ध गन्धर्वों से आक्रांत उस आकाश को मेघमण्डल से घिरा हुआ सा देखा। वह सिद्ध, चारण, गन्धर्व और विद्याधरगण से युक्त था, शूर-वीर पुरुषों के ग्रहण में उतावली करने वाली स्वर्गलोक की अप्सराओं से आवृत था, उसमें उन्मत्त भूत, राक्षस और पिशाच रुधिर और मांस के लिए ताक में बैठे थे, उसमें ऐसी पुष्पवृष्टि हो रही थी कि उससे विद्याधरों की स्त्रियों के हाथ भर गये थे, युद्धदर्शन में अत्यन्त अभिलाषावाले अस्त्र-शस्त्रों केआघात से अपना बचाव करने के लिए पर्वत के तटों पर बैठे हुए वेताल (एक प्रकार के भूत), यक्ष और कूष्माण्डों से वह परिवृत था, अस्त्रों के मार्गभीत समीपवर्ती आकाश भाग से, स्वरक्षार्थ, सम्पुर्ण भूतगण उसमें भाग रहे थे, पौरुषाभिमान से क्षुब्ध योद्धागण दर्शकों का आमोद-प्रमोद कर रहे थे। सब लोग परस्पर

निकटवर्ती भीषण संग्राम की चर्चा कर रहे थे, क्रीड़ा में हास और विलासों में उत्कण्ठित सुन्दरियों ने अपने हाथों में चँवर ले रक्खे थे। अत्यन्त धर्मात्मा होने से अन्य लोगों के दृष्टिगोचर न हो सकने वाले योगबल से श्रेष्ठ मुनियों द्वारा देवताओं के स्तोत्र जगत् की शान्ति के लिए वहाँ पढ़े जा रहे थे, अनेक लोकपालों द्वारा अप्सराओं से सम्बन्ध रखनेवाली अवसरोचित स्तुतियाँ की जा रही थी, भाव यह कि अप्सराएँ हमें छोड़कर नूतन योग्य कान्तों का अनुसरण न करें, यों लोकपाल उनकी स्तुति कर रहे थे। स्वर्ग में स्थान पाने योग्य शूरवीर पुरुषों को लाने में व्यग्र इन्द्र के योद्धाओं से वह चमक रहा था, उसमें शूरवीर पुरुषों के लिए ऊँचे ऊँचे लोकपाल नामक यानी ऐरावत आदि हाथी सजाए गये थे, स्वर्ग की ओर आ रहे रणभूमि में आहत शूरों के आगत–स्वागत रूप सम्मान में गन्धर्व और चारण कटिबद्ध थे, वहाँ शूरवीर पुरुषों पर आकृष्ट होनेवाली अप्सराएँ कटाक्षों से अच्छे–अच्छे योद्धाओं को देखती थी, वह वीर पुरुषों के बाहु–दण्डों का आलिंगन करने में क्षुब्ध सहस्त्रों स्त्रियोंसे भरा था, शूर पुरुषों के शुभ्र यश ने वहाँ पर सूर्य को चन्द्रमा बना दिया था, भाव यह कि यश की शीतलता से उष्णता के दब जाने से सूर्य चन्द्र सा मालूम होता था ॥१–२२॥

प्रसंगवश शूर आदि के लक्षण को जानने की इच्छा से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, शूर शब्द कैसे योद्धा का वाचक है ? कौन योद्धा स्वर्ग का अलंकार है और कौन डिम्भाहव योद्धा है ? यद्यपि यहाँ पर डिम्भाहव योद्धा कहीं पर न तो उक्त ही और न किसी प्रकार सूचित ही है तथापि यहाँ पर उसके लक्षण के प्रश्न को, स्वर्ग के अलंकार रूपी शूर से भिन्न होने के कारण, प्रासंगिक जानना चाहिए ॥२३॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, शास्त्रों में प्रतिपादित सदाचार से युक्त राजा के लिए रणभूमि में जो युद्ध करता है, वह चाहे रण में मृत्यु को प्राप्त हो, चाहे विजयी हो, वह शूर है और शूरोचित लोक का भाजन है। पूर्वोक्त विधि से विपरीत यानी असदाचारी राजा के लिए जिसने प्राणियों का अंगच्छेदन किया है, वह यदि रण में मृत्यु को प्राप्त हो, तो वह डिम्भाहव में मारा गया कहलाता है और वह नरकगामी होता है ॥२४,२५॥

उक्त अर्थ को ही विशेषरूप से स्पष्ट करते हुए कहते हैं।

जिस स्वामी का आचरण शास्त्रानुकूल नहीं है, उसके लिए जो पुरुष रणभूमि में युद्ध करता है, वह यदि संग्राम–भूमि में मरे, तो उसको शाश्वत नरक की प्राप्ति होती है ॥२६॥ जो यथासंभव शास्त्रप्रतिपादित विधि के अनुकूल और लोकाचार के अनुकूल आचरण करनेवाला होकर रण में युद्ध करता है और वैसे ही सदाचारी स्वामी का भक्त हो, वह शूर कहलाता है ॥२७॥ सुमते, गाय के रक्षण के लिए, ब्राह्मण के रक्षण के लिए, मित्र के रक्षण के लिए, शरणागत के रक्षण के लिए युद्ध रूप उपाय द्वारा जो मृत्यु को प्राप्त होता है, वह स्वर्गालंकार है ॥२८॥ अवश्य परिपालनीय (रक्षणीय) अपने देश की मुख्यवृत्ति से रक्षण में जो राजा सदा उद्यमी है, उसकी विजय के लिए जो युद्ध करते हैं वे वीर हैं और उन्हें वीरों का लोक प्राप्त होता है ॥२९॥ प्रजाओं के प्रति सदा कुछ न कुछ उपद्रव करने वाले राजा अथवा राजा से

भिन्न जमींदार आदि राजा के लिए जो युद्ध में मरते हैं, वे निस्सन्देह नरकगामी होते हैं ॥३०॥

शास्त्रानुकूल आचरण न करनेवाले का आश्रय लेना ही नरक का हेतु है, उस पर यदि वह प्रजाओं के प्रति उपद्रव करनेवाला हो, तो उसका आश्रय लेना नरक का हेतु है, इसमें कहना ही क्या है ? इस आशय से फिर पूर्वोक्त बात को कहते हैं।

शास्त्रानुकूल आचरण न करनेवाले और प्रजा को पीड़ित करनेवाले राजाओं अथवा राजाओं से भिन्न मालिकों की विजय के लिए जो रण में छिन्न-भिन्न शरीर होकर मरते हैं, वे निश्चय नरकगामी होते हैं ॥३१॥

धार्मिक स्वामी का आश्रित होने पर भी यदि अधर्म से युद्ध करता हुआ योद्धा मारा जाय, तो उसको स्वर्ग प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

यदि धर्मपूर्वक युद्ध हो, तो युद्ध में मृत योद्धा की स्वर्ग में स्थिति होती है। यदि अधर्म्य युद्ध से मारे गये पुरुष को स्वर्ग प्राप्त हो, तब तो मत्त पुरुष परलोक के भय से रहित होकर अत्यन्त अधर्म्य युद्ध से भी दूसरे लोगों को नष्ट कर डालें ॥३२॥

यदि ऐसी बात है, तो 'परप्राणान् निजप्राणैः पणीकृत्योद्यतायुधः। यत्र यत्र हतः शूरः स्वर्गस्तत्र पदे पदे ॥'(अपने प्राणोंसे दूसरे के प्राणों की बाजी लगाकर शस्त्र को उठाकर शूर जहाँ जहाँ भी मारा जाय वहाँ उसे पद पद पर स्वर्ग है) इत्यादि साधारण लोकप्रवादों की क्या गति होगी ? इस पर कहते हैं।

शूर जहाँ-जहाँ पर भी मारा जाय, वहाँ उसे पद पद पर स्वर्ग है' इत्यादि अवश लोगों की उक्तियाँ हैं, किन्तु धर्म के लिए युद्ध करनेवाला पुरुष शूर है, शास्त्र का तो यही निश्चय है ॥३३॥ जो लोग शास्त्रप्रतिपादित आचरणवाले प्रभुओं के लिए खड्ग की धार को सहते हैं, वे शूर कहे जाते हैं शेष लोग डिम्भाहव में मारे गये कहे जाते हैं ॥३४॥ उनके लिए रणभूमिमें और आकाश में शूरता को प्राप्त महाबलशाली को प्रिय कहने वाली सुरांगनाएँ उत्कण्ठित होकर खड़ी रहती हैं ॥३५॥ विद्याधरों की अंगनाओं के मधुर और मन्द मन्द गायन से गुलजार, मंदार के फूलों की मालाओं के गूँथने में व्यग्र कामिनियोंसे युक्त और जिसमें देवता और सिद्धों के सुन्दर सुन्दर विमानों की पंक्ति विश्राम ले रही थी, ऐसा आकाश, उत्सव के लिए बहुत बढ़ी चढ़ी शोभासे युक्त सा अत्यन्त शोभित था ॥३६॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

संकल्पमय विमान में बैठी हुई सरस्वती देवी तथा लीला द्वारा देखी गई
लड़ने के लिए उत्सुक शस्त्र-अस्त्र से सुसज्जित दो सेनाओं के वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे सौम्य, तदनन्तर शूरवीर प्रिय लिए उत्कण्ठापूर्वक नृत्य कर रहीं अप्सराओं से पूर्ण आकाश में स्थित सरस्वती देवीसे युक्त लीला ने पृथिवी में अपने पतिदेव से अपने राष्ट्रमण्डल में सुरक्षित, चतुरंगिणी सेना परिवृत, सिंह, भालू, बिच्छू, राक्षस आदि

का आवास होने के कारण दूसरे आकाश की नाईं किसी विशाल वन में दो महासागरों के तुल्य परस्पर सब प्रकार से क्षुब्ध दो सेनाओं को देखा। वे मत्त सेनाएँ महान् कार्योद्योगों से युक्त थी, दोनों पक्षों के दो राजा उनमें विद्यमान थे, युद्धके लिए वे सुसज्जित थी, कवच, सिरस्त्राण, हरवा हथियार से लैस थी, अतः दैदीप्यमान अग्नि की नाईं वे बड़ी अद्‌भुत प्रतीत होती थी, पहले प्रहार–पात को देखने के लिए क्षुब्ध असंख्य नेत्र उन्हें देख रहे थे, दोनों सेनाओं में प्रहार के लिए उठाई गई चमचमाती हुई तलवार धाराएँ ही मानों जलधाराएँ ठहरी उन्हें लोग सह रहे थे, कुल्हाड़े, बर्छे, बन्दूक, तोप और मुद्‌गर आदि अस्त्र–शस्त्र चमचमा रहे थे, गरुड़ के परों से बिक्षुब्ध वन संघात के समान दोनों सेनाएँ चंचल थीं, उनमें उदयकाल के सूर्य के सुनहले आलोक (प्रकाश) के समान सोने के कवच दैदीप्यमान हो रहे थे, योद्धा और प्रतियोद्धा द्वारा एक दूसरे के मुखदर्शन से उत्पन्न हुए कोप से परस्पर अस्त्र–शस्त्र उठाये गये थे, योद्धा और प्रतियोद्धा एक दूसरे के ऊपर टकटकी लगाकर देखने के कारण भीत में लिखे गये चित्र से मालूम होते थे, खूब लम्बी खींची हुई दो सेनाओं के बीच की रेखा रूपी मर्यादा से (सीमा से) दोनों सेनाओं की स्थिति नियत कर दी गई थी, बड़ी भारी दो सेनाओं में एकत्रित योद्धाओं के अनिवार्य हल्ले–गुल्ले के कारण लोगों कों परस्पर आलाप नहीं सुनाई देता था, राजा की आज्ञा के बिना पहले वार न हो, इस शंका के कारण बहुत देरी तक दोनों सेनाओं में रणदुन्दुभी शान्त था, प्रायः अपने–अपने स्थान में श्रेणीबद्ध योद्धारूपी प्रधान अवयववाली सम्पूर्ण सहायक सेनाओं से दोनों सेनाएँ परिपूर्ण थीं, जैसे प्रलयकाल के महावायु से विक्षुब्ध एकमात्र समुद्र दो विभागों मे विभक्त होता है, वैसे ही वे दोनों सेनाएँ केवल दो धनुष परिमाण के जनशून्य मध्यभागरूपी एक पुल से विभक्त थीं, उसमें दोनों पक्षों के राजा अपने शरीर पर वेग से उपस्थित हुए संकट की चिन्ता से ग्रस्त थे, दोनों सेनाओं में डरपोक लोगों की हृदयरूपी गुफा बोल रहे मेढ़क के कण्ठ की त्वचा की नाईं फरफरा रही थी, दोनों पक्षों मे असंख्य सैनिक प्राणरूपी सर्वस्व का त्याग करने के लिए उद्यत थे, कान तक खींचे गये बाण समूहरूपी प्रवाह को छोड़ने के लिए धनुर्धारी तत्पर थे, प्रहार करने की आज्ञा की प्रतीक्षा में असंख्य सैनिक चित्रवत् निश्चल खड़े थे, परस्पर योद्धा और प्रतियोद्धा में युद्ध की उत्कण्ठा से उत्पन्न अतिशय क्रोध से बँधी हुई भ्रुकुटियों से दोनों सेनाएँ दुष्प्रेक्ष्य हो गई थीं, योद्धा और प्रतियोद्धा के परस्पर अभिघात से कवचों की कर्णकटु टंकार ध्वनि हो रही थी, वीर योद्धाओं की मुखाग्नि से जले हुए से अतएव काले मुखवाले डरपोक लोग छिपने के लिए पहाड़ों की खोह ढूँढ़ रहे थे, परस्पर युद्ध के दर्शन पर्यन्त जिनका जीवन निश्चित था, दोनों पक्षों में हाथी और मनुष्य खड़े हुए रोंगटों से व्याप्त होने के कारण ऊपर की ओर ऊँचे और अगल–बगल बढ़े हुए थे, प्रथम प्रहार की आज्ञा की प्रतीक्षा में व्यग्र चित्त होने से दोनों सेनाओं में कोलाहलका शब्द शान्त था, अतएव वे जिसके नरनारी गाढ़ नींद में सोये हैं, ऐसे नगर के तुल्य प्रतीत होती थीं, शंखों, तुरहियों और दुन्दुभियों का शब्द शान्त था, सब धूलिकण और बादल क्रमशः भूमितल और आकाश में लीन थे, भागने में तत्पर डरपोक लोगों ने सेना के अलंकाररूपी शूरवीरों को पीछे

छोड़ दिया था, बड़े–बड़े मगरों का और मछलियों का जिसमें युद्ध हो रहा हो, ऐसे सागर की नाईं उस सेनाओं की छवि छिटक रही थी, पताकाओं में लगी हुई चमकदार झालरों ने आकाश के तारों को जीत लिया था, झुण्ड के झुण्ड हाथियों द्वारा ऊपर उठाई गई सूँड़ों ने आकाश के मध्यको वन बना डाला था ॥१–१९॥ आकाश में तैर रहीं चंचल प्रकाशराशियों से सकल शस्त्र–अस्त्र पूँछ से युक्त से हो रहे थे, दुन्दुभी आदि के 'धम्, धम्' शब्दोंसे और मुखवायु से होनेवाले शंख आदि के शब्दों से दोनों सेनाओं का आकाशमण्डल शब्दायमान था ॥२०॥

अब दोनों सेनाओं के प्रवेशमार्ग के भेद से विभिन्न व्यूहरचना का वर्णन करते हैं।

कहीं पर चक्राकार व्यूह का निर्माण करनेवाले पुरुषों से, दूर्दान्त दैत्यों पर आक्रमण किये हुए देवताओं की नाईं, दोनों सेनाएँ दैदीप्यमान थीं, कहीं पर उनमें गरुड़व्यूह के निर्माण से सर्पों के समूह (श्लेषवश हाथियों के झुण्ड) वेग के साथ भाग रहे थे, श्येन के व्यूह से प्रतिपक्षियों का सेनाशिविर दो भागों में विभक्त किया गया था, अतएव दोनों सेनाओं में गगनभेदी कलकलशब्द हो रहा था, कहीं पर परस्पर बाहुओं में जोर की टक्कर लगने के कारण वेग से सबके सब समूह भूमि में गिर रहे थे, कहीं पर व्यूहरचना से आगे निकले हुए वीरों के विविध सुन्दर शब्द हो रहे थे, कहीं पर हाथों द्वारा उठाने से उत्पन्न हुए उल्लास से मत्त की नाईं मुद्गर नाच रहे थे, कहीं पर काले–काले शस्त्रास्त्रों की किरणों से मानों उत्पन्न हुए मेघों ने सूर्य को तिरोहित कर दिया था, कहीं पर वायु द्वारा कँपाये गये पल्यूलों के (एक प्रकार की घास के) सूत्कार के (वायु के संघर्ष से उत्पन्न सूत् इत्याकरक शब्द के) समान बाणों की ध्वनि हो रही थी, प्रलय करने में समर्थ अनेक पुष्करावर्त आदि मेघों से मानों दोनों सेनाएँ अग्रभाग में संघीभूत होकर स्थित थी, वे दोनों सेनाएँ प्रलय के वायु के विक्षुब्ध एकमात्र सागर के समान उदित हुई थी, तुरन्त कटे हुए, अतएव फड़फड़ाते हुए महामेरु के दो परों के समान थी, अत्यन्त शोभायुक्त वायु से कँपाये गये चचंल पर्वत के समान थी, पातालरूपी गर्त से निकले हुए क्षुब्ध अन्धकार की नाईं थी, पर्वत के समान थी, पातालरूपी गर्त से निकले हुए क्षुब्ध अन्धकार की नाईं थी, उन्मत्त नृत्य से चंचल और दैदीप्यमान तटवाले लोकालोक पर्वत की नाईं थी और पृथिवी को तोड़कर उदित हुए महानरकों के संघात की नाईं थी। मानों वे दोनों सेनाएँ चंचल बर्छे, मूसल, तलवार और कुल्हाड़ों के किरणों से काले से प्रतीत हो रहे सूर्यप्रकाशरूपी जल के प्रवाह से सम्पूर्ण भूवनकोष को एकमात्र अगाध सागर बनाने के लिए उद्यत थी ॥२१–२८॥

बतीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतीसवाँ सर्ग

संकल्पजनित विमान में स्थित सरस्वती और लीला द्वारा देखे गये दोनों सेनाओं के संग्राम का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन् इस युद्ध का कुछ संक्षेप से मुझसे वर्णन कीजिए, क्योंकि इन उक्तियों से श्रोता के कानों को बड़ा आनन्द मिलता है ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा :

रामचन्द्रजी, तदुपरान्त वे देवियाँ उस संग्राम को देखने के लिए वहीं पर रोके गये मन से कल्पित सुन्दर स्थिर विमान पर चढ़ी। इसी बीच में उन दोनों सेनाओं की परस्पर मुठभेड़ होने पर शत्रु की सेना से प्रलयकालीन सागर के कल्लोलकी नाईं निर्भय योद्धा निकला। कोई योद्धा पर उसके प्रहार करने की इच्छा करने पर लीला के पूर्वजन्म के पति राजा विदूरथ ने, उसके व्यवहार को सहन करने में असमर्थ होकर, पर्वत के शिखर पर पत्थर के समान उसकी छाती पर मुद्‌गर से प्रहार किया। तदुपरान्त दोनों सेनाओं में प्रलयकाल के सागर के वेग से अग्नि की (अग्नि सदृश शस्त्रास्त्रों) और बिजली की (बिजली की तरह शस्त्रों की कान्ति की) वृष्टि करता हुआ शस्त्रसंपात होने लगा ॥२–५॥ ऐसा घमासान युद्ध हुआ कि आकाश में तैर रहे अस्त्र–शस्त्रों की चंचल धार के अग्रभाग से आकाशमण्डल रेखांकित सा प्रतीत होता था, उसमें हो रहे कण–कण शब्द के बीच में धनुषों के टंकार का शब्द सुनाई देता था, वीरों के हुंकार से मिलने के कारण अधिकाधिक गम्भीर होता हुआ उसका शब्द ग्रीष्म ऋतु के अन्त के मेघ के गर्जनशब्द को अपने में छिपा देता था, धनुष से छूटी हुई बाणधारा के अग्रभाग में प्रतिबिम्बित सूर्य की किरण उसमें वितान का काम दे रही थी, बाण और तलवार के वारों से बज रहे कवचों से टंकार के साथ आग की चिनगारियाँ उड़ती थी, रण–स्थल के आकाश में परस्पर आघात से छिन्न–भिन्न हुए तलवार आदि शस्त्रों के टुकड़े पक्षियों की भाँति उड़ रहे थे, वीरों की भूजारूपी वृक्षों के इतस्ततः संचार से युद्ध भूमिका नभस्तल जैसी प्रतीत होती थी, मानों उसमें चलने फिरनेवाले बन घूम रहे हों। उसमें धनुषों की राशियों के टंकार से देवंगनाएँ मारे भय के भाग रही थीं, उसने बड़े भारी कोलाहल शब्द से मेघ के शब्द को भँवरे की गूँजार सा छोटा कर दिया था, जैसे परमात्मभावापन्न होने से निर्विकल्पसमाधि पुरुष बाह्य शब्द आदि का अनुभव नहीं करते है, वैसे ही वह रणसंग्राम भी बाह्य शब्द आदि का अनुभव नहीं करता था, (कहा भी है : योगी समाधि में जब तक बाह्यशब्द आदि का अनुभव करता है तब तक वह सविकल्प समाधि है उसके बाद यानी जब बाह्य शब्द आदि का अनुभव नहीं करता, वह निर्विकल्प समाधि है) ॥६–१०॥ उसमें अर्धचन्द्राकार नोकवाले बाणों की लगातार वृष्टि से शूरवीरों के सिर और हाथ काटे गये थे, परस्पर के कन्धों की टक्कर से बज रहे कवचों से वह युद्धस्थल डरावना था, शस्त्रों के भीषण संघट्ट से उत्पन्न कर्णकटु टंकार ध्वनि वीरों के हुँकार से मन्द पड़ गई थी – तिरस्कृत हो गई थी, खड्‌गधारा तरंगरूपी मेघों से उस युद्धभूमि के सभी दिंगमुख दन्तुर से (कुछ ऊँचे से) मालुम पड़ते थे, उस घमासान युद्ध में तलवार के प्रहार से शत्रु को क्रोध होने पर उसके सर को काटने के लिए प्रवृत्त हुए हाथ को सिर के न मिलने से झग्–झग् शब्द मुष्टि में पकड़ने के योग्य–सा होता था, वहाँ पर चिरकाल तक बाहुओं पर ताल ठोंकने वाले शूरवीर लोगों के ताल ठोंकने से चट–चट शब्द मानों गिर पड़ते थे, वहाँ पर शीघ्रता से म्यान से निकल रही तलवारों का लोहे की म्यान के संघर्ष से उत्पन्न हुए सीत्कार शब्द से युक्त जल रहे स्फुल्लिगों की सण् सण् ध्वनि होती थी, तेजी से लक्ष्यदेश की ओर जा रहे लक्ष्य देश में

जाकर फैलनेवाले शरोंकी उसमें खर–खर ध्वनि हो रही थी, वीरों के कटे हुए कण्ठों से धग् धग् शब्द के साथ प्राण और और खून निकल रहा था, कटे हुए बाहुओं, सिरों और तलवार के टुकुड़ों से आकाश पट गया था, कवच में टक्कर लगने से निर्गत दीप्त अग्नि की जटातुल्य ज्वालाएँ वीरों के केशों का स्पर्श कर रही थी, परस्पर टक्कर लगने से बज रही और कटकर गिर रहीं तलवारों का जो झण–झण शब्द हो रहा था, उसने शूरों के चित्त को प्रफुल्लित और शरीर को रणोत्साह से दुगना बना दिया था, बर्च्छा से छिन्न–भिन्न हाथियों की देह से उत्तरंगित रक्त प्रवाह बहता था, हाथियों के दाँतों के टूटने से हुए दीर्घतम चीत्कारशब्द से वह अत्यन्त भीषण प्रतीत होता था, मूसल के प्रहारसे चूर–चूर हुए लोगों की कष्टमय कातर हाहाकार ध्वनि हो रही थी, कटकर आकाश में तैर रहे शूरों के सिर रूपी पद्मों के समूह से आकाश बिलकुल आच्छन्न था, कटकर आकाश में फेंकी गयीं वीरभुजाएँ ही उसमें सर्पराज थे और चारों ओर आच्छन्न धूलिमय ही मेघ थे, जिनके अस्त्र–शस्त्र कट गये थे, ऐसे पुरुषों द्वारा अस्त्र–शस्त्र के काटने का बदला चुकाने के लिए केशाकेशि युद्ध हो रहे थे, परस्पर द्वारा परस्पर के नखों से आँखें, नाक, कान, ओठ और कन्धे नोचे जा रहे थे, जिन महामल्लों के अस्त्र कट चुके थे, वे क्रीड़ापूर्वक बाहुयुद्ध से विजय प्राप्त कर रहे थे, शस्त्रों की चोट से गिर रहे मदोन्मत्त हाथियोंसे कंपाये गये घायल होने के कारण दौड़ने में असमर्थ लोग पृथिवी में वेग से लोट रहे थे, शब्दायमान रथ के वेग से बने हुए मार्गों में क्षत–विक्षत योद्धाओं के शरीर से निकल रहे खून की नदी बह रही थी ॥११–२१॥ चतुरंगिणी सेना के संचलन से उड़ी हुई धूली से वहाँ पर चारों ओर कुहरा छा गया था, चमचमा रहे अस्त्र–शस्त्र चल रहे थे, एकत्रित प्रचुर कोपयुक्त सेनारूपी सागर का प्रतिक्षण गर्जन हो रहा था, उन्मत्त हास और विलासवाले काल से असंख्य योद्धा चबाए जा रहे थे, मदोन्मत्त पर्वत तुल्य विशालकाय गजराजों ने अपने गर्जन के सामने सागर के गर्जन को तुच्छ बना दिया था, वहाँ वृक्ष, गर्त और तटोंके सहारे शत्रुओं पर वार कर रहे लोगों को मारने के लिए छोड़े गये शक्ति, तलवार और मुद्‌गर वृक्ष, गर्त आदि में रुक जाते थे, योद्धारूपी पर्वत के मध्यभाग बाणरूपी मकड़ी के जालों से निरन्तर गूँथे हुए थे, मेघों के आक्रमणों से या मेघों में विश्रान्त बिजली आदि से पताकाओं के वस्त्र और चँवर छिन्नभिन्न हो गये थे, वहाँ पर क्षेपणीयन्त्रों से (एक प्रकार के गुलेलोंसे) फेंके गये पत्थरों और चक्रों से पक्षी आदि आकाशचारी बहुत दूर भाग गये थे, मरने के लिए छटपटा रहे क्षतविक्षत शरीर (बुरी तरह घायल) योद्धाओं के कराहने से वहाँ तेज घर घर शब्द हो रहा था, कुठारों के आघातों से योद्धाओं के मस्तक कट रहे थे, बहुत ऊँचे आकाश में उड़े हुए चमचमा रहे खड्‌गों के टुकड़ों से आकाश तारों से भरा प्रतीत होता था, पूरे बल से छोड़े गये शक्ति नामक आयुधों के संघात से काटे गये हाथियों से भूमि पट गई थी ॥२२–२७॥ वहाँ सेनादर्शन से व्याकुल हुई वेतालों की स्त्रियाँ मुद्‌गर छोड़ रही थी, आकाश में ऊँचे उठाये हुए शूरवीरों के तोमर (गँड़ासे) तोरणमाला से प्रतीत होते थे, भुशुण्डी से छिन्नभिन्न तलवरों के टुकड़ों का समूह आकाश का केशजाल सा मालूम होता था, वहाँ पर दैदीप्यमान भालों

की छबि भालों के समूहरूप वेणुवन में छोड़ी हुई वनाग्नि के सदृश आकाश में चमक रही थी ॥२८,२९॥ वहाँ पर अपने सैनिकों की तलवार और छूरियों की कुशल वृष्टि से सन्तुष्ट हुए राजाओं द्वारा उनका सम्मान किया जा रहा था, शूलों पर टँगे हुए अच्छे अच्छे शूरों को ग्रहण करने के लिए अप्सराएँ उद्यमशील थी, हिमवृष्टि से गल रहे कमलों के तुल्य गदाओं के गिरने से योद्धाओं के मुँह गिर रहे थे, भालों से जबरन् कुचल दिये गये योद्धाओं की दुःखप्रद चेष्टाओं से भीषण दृश्य हो रहा था, चक्रों और आरों के प्रहार से घोड़े, मनुष्य और हाथी छिन्न भिन्न किये गये थे, अनेक कुल्हाड़ो के वारों से मदोन्मत्त हाथियोंका समूह गिर रहा था। वहाँ पर बड़ी–बड़ी लट्ठियोंसे गौओं की भाँति हाँकने से कोई योद्धा छिप गये थे, कोई भाग रहे थे, तथा वृक्ष, भीत और ढालसे अपने को ओझल कर रहे थे, क्षेपणीयन्त्र से फेंके गये पत्थरों से रथों और वृक्षों में लगी हुई पताकाएँ चूरचूर हो गई थी, तलवार से जिनके दण्ड काटे गये थे ऐसे छत्रों और वीरोंके कर्णाभरण रूप कमलों से सारा रणस्थल सफेद था, अस्त्रों के क्षेपणजनित क्षोभ से सैन्यक्षोभ शान्त हो गया था, सैनिकों के क्षोभ की वहाँ कोई गिनती नहीं थी, कबन्धों के (सिर कटने पर भी चलनेवाले धड़ों के) आलिंगनों से जीवित रथ नायकों के गिरने से नियन्त्रण न होने के कारण बे राह चलनेवाले रथ आदि से आसपास चलनेवाले अनेक योद्धा पीसे जा रहे थे, अंकुशयुक्त महावतों के अंकुश के आघात से आहत होने पर भी युद्ध में प्रहार करनेवाले वीर हाथियों को भगा रहे थे, कुल्हाड़ों के वार से मदोन्मत्त असंख्य हाथी गिर रहे थे, पाशों के युद्ध में विशारद वीर चारों ओर अपने प्राणों की बाजी लगा रहे थे, छूरों से पेट को काटने के कारण हृदयकमल गिर रहे थे और योद्धा धराशायी हो रहे थे, त्रिशूलों के बल से उन्मत्त शूरवीर प्रबल योद्धा नाच कर रहे थे, दौड़ रहे धनुर्धारियों के सम्पूर्ण दल अस्फूट और मधुर गीत गा रहे थे, भिन्दिवाल के अयालों के आडम्बर और अहंकारपूर्ण वचनों से वहाँ पर नट नृसिंहवेष का अनुकरण कर रहे थे, मल्ल लोगों की वज्रमुष्टि से पीसे गये अन्य योद्धाओं का वहाँ पर तांता लगा था, सुन्दर पट्टिश आकाशमार्ग में बाज की नाईं उड़ रहे थे, शूर पुरुषों के रथों, हाथियों और घोड़ों की पताकाएँ अंकुशों से खींची जा रही थी, शत्रुओं के बीच में अचल रहने वाले शूरवीर योद्धा हलों द्वारा किये जा रहे युद्ध में मारे गये और काटे गए लोगों की अवहेलना करने में व्यग्र थे ॥३०–४०॥ बड़े–बड़े ताड़ के वृक्षों के समान ऊँचे पुरुषों से, जो कि हाथ में कुदाली लिए थे, वनभूमियाँ खोदी गई और सम की गई थी, जहाँ तक बाण फेंका जा सकता है, उससे केवल दूने प्रदेश में युद्ध संचार के सुभीते के लिए लोग हटा दिये गये थे, चट्टानों की पंक्तियाँ काट छाँटकर बराबर कर दी गई थी। आरों के दोनों बगलों से मत्त मातंग काट डाले गये थे, संग्रामरूपी ऊखलमूसल से योद्धारूपी धानों को कूटनेवाले मुसलयुद्ध प्रवृत था। वहाँ अस्त्रों की कान्ति की श्रृंखलारूप जाल में सेनारूपी पक्षी फाँसे गये थे, चंचल तलवार को हाथ में लिए हुए वीरों की तलवारों से वे वैवस्वत के यानी यमराज के घरों में पहुँचाये गये थे, अर्थात् यम ही व्याधों का राजा है, यदि ऐसा न होता तो सेनारूप पक्षी उसके आँगन में क्यों पहुँचाए जाते।

युद्धभूमि में गिरे हुए श्रेष्ठ योद्धाओं को गणशः ले जा रहे व्याघ्र आदि हिंसक जीवों के घोर गर्जन से रण-स्थल पूर्ण था, नख जिसमें प्रधान हैं, ऐसे अंगुष्ठों से निकाले जा रहे बाणों के वेग के रण रण शब्दों से, जैसे मिर्च से चटनी में जायका आ जाता है वैसे ही, अन्य सम्पूर्ण शब्द रंजित हो रहे थे, सैनिकों द्वारा घड़े में भरकर फेंकी गई अग्नि से तनिक जले हुए प्रतिपक्ष के योद्धा शस्त्र-अस्त्र तानकर खड़े हो रहे थे और प्रति-पक्ष के सैनिकों द्वारा फेंकी गई उक्त अग्नि से अधिक जल जाने के कारण योद्धा अशक्ति से शस्त्र त्याग कर रहे थे, प्रतिपक्ष सैनिकों द्वारा घड़े में रखकर छोड़े गये तपे हुए अंगारों से योद्धाओं की आँखें जाती है उक्त सैनिकों द्वारा छोड़े गये घड़े में स्थित विषमिश्रित जल से योद्धा गिर रहे थे। लोहे के बाणों की वृष्टि रूप सुन्दर जल को वर्षाने वाले वीरसंघरूपी मतवाले मेघों के विलास से कबन्धरूपी मयूर जिसमें नाच करते थे और वेग से घूम रहे मत्त मातंगरूपी पर्वतों से परिवेष्टित वह संग्राम-संघर्ष प्रलयकाल के सदृश हुआ ॥४१-४७॥

तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

चौंतीसवाँ सर्ग

संग्राम दर्शकों के मुँह से प्रकारान्तर से पुनः युद्ध के ही चमत्कार का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वहाँ युद्ध लिप्त राजाओं, युद्धेच्छु योद्धाओं, मन्त्रियों और आकाशमार्ग से संग्राम को देखने वाले देव, गन्धर्व आदि के मुँह से ये वचन प्रादुर्भूत हुए ॥१॥ जिसमें हंस, सारस आदि पक्षी उड़ रहे हैं और कमल हिल रहे हैं ऐसे तालाब के समान शूरवीर पुरुषों के मस्तकों से व्याप्त आकाश तारांकित सा (सितारों से व्याप्त सा) मालूम पड़ता है ॥२॥ देखिये, रुधिरबिन्दुओं की राशिरूपी सिन्दूर से लाल हुए वायु के कारण ये मेघ और सूर्य किरण मध्याह्न में सायंकाल के से (लाल से) प्रतीत होते हैं ॥३॥

कोई दर्शक दूर से बाणसमुदाय पराल की भ्रांति होने से पूछता है।

भगवन्, यह आकाश परालराशि से परिपूर्ण हुआ है क्या ? नहीं, भगवन यह पराल नहीं है, ये वीर पुष्षों के बाणराशिरूप मेघ हैं ॥४॥ रुधिर से पृथिवी में जितने रणरेणू (रणभूमि के धूलिकण) सींचे जाते हैं, उतने हजार वर्षो तक योद्धाओं का स्वर्ग में आवास होता है। भाई, मत डरो, नील कमल की पंखुड़ी के तुल्य कान्तिवाली ये तलवारें नहीं हैं, ये वीरों के निरीक्षण करनेवाली जयलक्ष्मी के नेत्रविभ्रम हैं ॥५,६॥ वीर पुरुषों का आलिंगन करने के लिए सस्पृह सुरांगनाओं के जघनस्थल में स्थित मेखलाओं को शिथिल करने के लिए कामदेव तत्पर हो गया है ॥७॥ सुन्दर भुजलताओं से मनोहर, लाल पल्लवों के सदृश कोमल हाथों से युक्त, पारिजात आदि, पुष्पमंजरियों के दर्शन से जिनके नेत्र आह्लादित हैं, आसव की अत्यन्त सुगन्धि से सुगन्धित, मधुर सुर से गा रही नन्दनवन की देवियाँ तुम्हारे आगमन की आशंका से नाचने के लिए तत्पर हो गई हैं ॥८,९॥ जैसे ग्रामीण सुन्दरी अपने कटाक्ष निरीक्षणों से अपने पति के अन्तःकरण को अधीर कर देती है, वैसे ही यह सेना कठिन कुल्हाड़ों से

प्रतिपक्षी सेना को काट रही है। खेद है, मेरे पिताजी का दैदीप्यमान कुण्डल से युक्त सिर भाले से काल के अष्टग्रह की नाईं सूर्य के निकट भेज दिया गया है ॥१०,११॥ पैरों तक लटकी हुई जंजीर में गूँथे हुए दो बड़े बड़े पत्थरों से युक्त चित्र दण्डनामक चक्र को वेग से घुमा रहा ऊपर को बाहू फैलाया हुआ यह योद्धा यम की नाईं प्रतीत होता है, दक्षिण दिशा से चारों ओर सेना का संहार करता हुआ इधर आता है, अतः चलो, जहाँ से हम आये थे वहीं चलें (यह डरपोक की डरपोक के प्रति उक्ति है) ॥१२,१३॥ देखिये, तुरन्त कटे हुए कण्ठच्छिद्रों में डुबकी लगा रहे सफेद चीलों से व्याप्त, युद्ध के बाजे के ताल से उछल रहे कबन्ध रणभूमि में नाच रहे हैं ॥१४॥ देवगणों की गोष्ठियों में परस्पर यह चर्चा चली थी कि कौन धीर पुरुष, कब, कैसे और किसलिए स्वर्ग आदि लोकों में जायेंगे ॥१५॥ अहो, यह विक्रान्त योद्धा, जैसे सागर मत्स्य और मगर के समूहों से युक्त नदियों को निगल जाता है वैसे ही मत्स्याकार और मकराकार व्यूहवाली सन्मुख आई हुई सेनाओं को निगलता है ॥१६॥ हाथियों के गण्डस्थलोंमें बिखरे हुए धाराकार बाणों की पंक्तियाँ पर्वतों के शिखरों पर गिरी हुई सम्पूर्ण वृष्टियों के समान शोभित होती हैं ॥१७॥ हा, भाले ने मेरा सिर काटा, ऐसा कहने की इच्छा कर रहे मेरे कट कर उड़े हुए सिर ने स्वर्गारोहण के उत्सव को देखने से मैं जी गया न कि मरा, यों हर्षपूर्वक जो आकाश में वचन कहा, उसे पक्षी के विरूत की नाईं लोगों ने सुना। जो यह सेना क्षेपणीयन्त्रसे निकले हुए पत्थरों की वृष्टि से हमें सींचती है, उसे जंजीरों के जाल से जबरदस्ती बाँध दो, ऐसा एक योद्धा दूसरे योद्धा से कहता था ॥१८,१९॥ पहले की पत्नी अप्सरा बन कर रणभूमिमें मारे गये पति को वलीपलित से निर्मुक्त यानी देवभूत जानकर ग्रहण कर रही है, यह देवताओं की उक्ति है ॥२०॥ भालों के समूहों की प्रभाएँ मानों वीरों के स्वर्ग में चढ़ने के लिए बनाई गई स्वर्ग पर्यन्त फैली हुई सीढ़ियाँ हैं ॥२१॥ जो योद्धा की पत्नी स्वतः सुन्दर और स्वर्णाभरणों से सुन्दर पति के वक्षःस्थल में मरी हुई देखी गई थी, वह यह अप्सरा होकर भर्ता की खोज में तत्पर दिखाई देती है। जैसे महाप्रलय के कल्लोलों से सुमेरु पर्वत आहत होता है, वैसे ही उद्धत मुष्टिवाले योद्धाओं से हमारी सेना मारी जाती है, बड़ा खेद है, यह कातर पुरुष की उक्ति है। हे मूढ़ों, आगे बढ़कर लड़ो अपने घायल सैनिकों को ले जाओ, अधमों, इन बेचारों को पैरों के प्रहार से मत कुचल डालो केशपाश की रचना में व्यग्र अत्यन्त उत्कण्ठित अप्सराओं के समुदाय में दिव्य शरीर से समीप में प्राप्त हुए इस योद्धा को देखिये। जिनमें सुवर्णसदृश कमल विकसित हुए हैं, ऐसे मन्दाकिनी के तटों में छाया, जल और वायु से दूर से आये हुए इस रणयोद्धाओं को विश्राम कराओ ॥२२–२६॥ विविध आयुधों की चोट लगने से टुटी हुईं असंख्य बड़ी–बड़ी हड्डियाँ, जो कि कणत्कार से (कण–कण शब्द से) शब्दायमान हैं, आकाशमें व्याप्त तारिका सी प्रतीत होती हैं। जीवरूपी नदी प्रवाह वाले, बाणरूपी जलवाले तथा चक्ररूपी आवर्तवाले आकाशरूपी सागर में बड़े बड़े पर्वत भी अणुरूपताको प्राप्त हो रहे हैं ॥२७,२८॥ ग्रहों के मार्ग में घूमनेवाले राजाओं के सिरोंने आकाशको जिसमें बह रहे

वायु से कमल चंचल हैं, ऐसा कमलों का तालाब बना दिया है। देखिए न, अस्त्र-शस्त्रों की किरणें ही उक्त सिररूपी कमलों की लताओं के नालदण्ड है, उनसे लगी हुई तलवारें उनके पत्ते हैं, त्रिशूल, भाले आदि उनके काँटे हैं, पताकाओं के वस्त्र उनके मृणालों के अंगभूत बड़े पत्ते हैं और बाणरूपी भँवरे उनमें लगे हैं ॥२९,३०॥ जैसे पर्वतों में पिपीलिकाएँ लीन हो जाती हैं तथा जैसे पुरुषों के वक्षस्थलों में स्त्रियाँ लीन हो जाती हैं, वैसे ही मरे हुए हाथियों के ढेर में डरपोक लोग लीन होते हैं ॥३१॥ विद्याधरों की अंगनाओं के अलकों को अनुकूलरूप से हिलानेवाले अतएव अभूतपूर्व उत्तम सौन्दर्य से सम्पन्न कान्त के मिलन के सूचक मन्द मन्द वायु बहते हैं। भाव यह कि वायु घर से आ रही विद्याधरों की अंगनाओं के अलकों को उल्लासित करने के कारण अनुकूल होने से शकुनरूप हैं। अतएव मनोरथसिद्धि के सूचक हैं ॥३२॥ उड़ रहे आकाश में स्थित छत्रों ने मानों चन्द्रमा का सम्पादन किया, यशरूप मूर्ति से चन्द्रमा ने भूमि में शुभ्र छातों का सम्पादन किया ॥३३॥ जैसे सोया हुआ पुरुष एक निमेष में स्वप्ननगर को प्राप्त होता है, वैसे ही योद्धा भी मरणकाली न मूर्छा के बाद एक निमेष में अपने कर्मरूपी शिल्पी द्वारा निर्मित दिव्य शरीर को प्राप्त हुआ ॥३४॥ आकाशरूपी सागर में त्रिशूल, शक्ति, तलवार और चक्रों की व्यग्र वृष्टियाँ मछलियों और मगरों से व्याप्त-सी स्थित हुई ॥३५॥ बाणों से काने गये सफेद छत्ररूपी कलहंसों से आकाशस्थल संचित लाखों पूर्णेन्दु-बिम्बों से आवृत सा प्रतीत होता है। आकाश में उड़े हुए सुन्दर घर-घर शब्द करने वाले चँवरो से आकाश वायु के वेग से जिनकी स्थिरता क्षुब्ध हो गई हो, ऐसे तरंगों के समूह की कान्तिवाला बनाया जा रहा है। अस्त्र-शस्त्रों से काटे गये तथा आकाशरूपी खेत में फेंके गये छाते, चँवर और पताका-वृन्द यशरूपी धानों के पेड़ों की नाईं दिखाई देते हैं॥३६-३८॥ हे कुशलिन्, जैसे फलने के लिए तैयार धानों की शोभा को आकाशमें उड़ रहे टिड्डियों का दल नष्ट कर देता है, वैसे ही समीप में आ रही शक्तियों की वर्षा आकाश में उड़ रहे बाणों से नष्ट की गई है, देखो ॥३९॥ कठिन कवच से उत्पन्न हुई यह भूजदण्डों को फैलाये हुए योद्धा के तलवार की वार की ध्वनि ही मानों मृत्यु की हुंकार है ॥४०॥ इस जनक्षय के अवसर में तलवार आदि अस्त्र-शस्त्र रूपी प्रलयकाल के वायु से परास्त, दाँतरूपी झरने के जल से युक्त (झरनों की नाईं दाँत बाहर निकले रहते हैं और सफेद होते हैं अतः झरनों के साथ दाँतों की तुलना की गई है) घायल हाथी ही पर्वतों की तरह प्रतीत होते हैं ॥४१॥ हा, खेद है, रुधिर के महान् तालाब में चक्र, रथारोही वीर, सारथि और घोड़ों से युक्त तथा शस्त्रास्त्र से परिपूर्ण रथरूपी नगर रुद्धगति होकर छटपटा रहा है। नाच रही कालरात्रि, वीरों की भुजाओं, हाथियों की सूँड़ों और कवचरूपी वीणा के तारों में तलवार के आघात से उत्पन्न वादनशब्दों से मानों वीणा बजाती है ॥४२,४३॥ मनुष्य, हाथी, घोड़े और गदहों से जो खून के झरने निकले उनके बिन्दुओं से सराबोर वायु से लाल हुई दिशाओं को देखो ॥४४॥ जैसे मेघ में बिजली का प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही कालीजी की केशराशि के समान काले अस्त्र-शस्त्रों की किरणरूपी मेघ से युक्त आकाश में बाणरूपी कलियों के

समुदाय की माला प्रादुर्भूत हुई है ॥४५॥ असंख्य, रुधिर से लथपथ, टूटे–फूटे भूखण्डों और अस्त्र–शस्त्रों से व्याप्त भुवन अग्निलोक की नाईं चारों ओर से उठी हुई ज्वालाओं से युक्त सा प्रतीत होता है। उस युद्ध स्थल में परस्पर एक दूसरे को काटने और छेदन के लिए उद्यत हस्तसमूहों से भुशुण्डी (एक प्रकार का अस्त्र) शक्ति, त्रिशूल, तलवार, मूसल और भालों की वृष्टियाँ गिरती थी ॥४६,४७॥ हटने में असमर्थ अनेक योद्धाओं में एक शूरवीर द्वारा अतिशय हस्तलाघव से प्रहार करने के कारण जिसमें राक्षसों की माया के तुल्य शूरों की चेष्टाएँ हैं, क्रोध से निरीक्षण करनेवाली योद्धाओं की बुद्धि है, ऐसे रण को स्वप्न के समान सामने देखता हूँ। स्वप्न पक्ष विनाश के अनुकूल छेदन, भेदन, संचलन आदि से रहित स्वाप्निक पदार्थों में एकमात्र जागरण से प्रहार किया जाता है यानी बाधा पहुँचाई जाती है, इसलिए वह राक्षसों की माया के तुल्य मिथ्या है और उसमें आत्मप्रज्ञा आवेश से दर्शन करती है। घायल योद्धाओं के क्षोभ से प्रसन्न हुआ रणभैरव अन्यान्य शब्दों के संमिश्रण से रहित निरन्तर अन्योन्य के प्रहार से उत्पन्न झंकारों से मानों गायन करता है ॥४८,४९॥ कटे हुए छाते ही जिसमें तरंग से प्रतीत हो रहे हैं, ऐसा परस्परयुद्ध में प्रयुक्त अस्त्र–शस्त्रों के प्रचुर चूर्ण से परिपूर्ण रणभूमिरूप सागर बालूकामय ही हो गया है ॥५०॥ जिसने मधुर फैलनेवाले और तुरही आदि बाजों की प्रतिध्वनियों से वेग के साथ लोकपालों के लोक को भर दिया है, ऐसा रणरूपी यह पर्वत प्रलयकाल में युद्ध में कठोर हुए दो सेनारूपी परों के प्रबल परस्पर प्रतिकूल संचलन से आकाश में उड़ने के लिए तैयार हुआ–सा प्रतीत होता है ॥५१॥ बड़े खेद की बात है, अत्यन्त कठिन कवचों को बिना तोड़े ही कवचों में उनके टकराने से आकाश में उड़ी हुई बिजली के सदृश अग्नि की ज्वालाओं से तपे हुए बाण जो कि क्रेंकार ध्वनि के साथ विस्तारित प्रत्यंचा से छोड़े गये हैं, अतएव शब्द कर रहे हैं, समीपवर्ती पर्वत की शिलाओं को छेदकर धारण करते हैं। कठिन कवचों पर निष्फल हुए अपने प्रबल बाणों के लिए शोक कर रहे वीरों की यह उक्ति है ॥५२॥ हे मित्र, युद्ध से हुई थकावट से आपकी युद्धेच्छा शान्त हो गई है, अतः आपसे मैं निर्दोष हित की बात करता हूँ उसे सुनिए। जब तक जल रही अग्नि से उज्ज्वल बाण हम लोगों के अंगो को भंग नहीं करते, तब तक चलो, शीघ्र दौड़कर इधर से चले जायें, क्योंकि यह चौथा प्रहर यम का ही दिन है ॥५३॥

चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतीसवाँ सर्ग

समुद्र, वन, प्रलय आदि विविधरूपकों से चतुरंगिणी सेना के संग्राम का विस्तार से वर्णन।

पहले समुद्र के रूपक से संग्राम का वर्णन करने के लिए वसिष्ठजी कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मानों उड़ने के लिए तैयार घोड़े ही जिसमें तरंग का रूप धारण किये हुए थे, ऐसा वह संग्रामरूपी सागर उद्धत ताण्डव नृत्य करनेवाले उन्मत्त के तुल्य हुआ ॥१॥ उक्त रणसागर में इधर–उधर बिखरे हुए छातेरूपी समुद्रफेन

में अटके हुए सफेद बाणरूपी छोटी–छोटी मछलियों के समूह थे, घुड़सवार सैनिक रूपी उछल रही चंचल कल्लोलोंसे (बड़ी लहरों से) उसके कोटरों में हलचल मची थी, भाँति–भाँति के अस्त्रशस्त्ररूपी नदियों में बने हुए सैनिकरूपी आवर्त (जलभौंरी) उसमें भ्रमण कर रहे थे, उसमें मदोन्मत्त हाथियों के दलरूपी आमूल चंचल मन्दराचल थे, चमचमा रहे सैकड़ों चक्ररूपी आवर्तों के भ्रमण से उनसे (चक्रों से) काटे गये सिररूपी तिनके उसमें घूम रहे थे, धूलिरूपी बादलोंने उक्त रणसमुद्रमें चल रही तलवारों की प्रभारूपी जल को पी डाला था (卐) ॥२–४॥ मकराकार व्यूहों के (एक प्रकार के सेना संनिवेशों के) विस्तार से योद्धासमुदायरूपी नौकाएँ भग्न और अभग्न थी, जैसे जल–सागर में बड़े विशाल मगरों के कारण कुछ नौकाएँ नष्ट और कुछ अनष्ट रहती हैं, वैसे ही उक्त रणसागर में मकराकार सेना व्यूह के विस्तार से कुछ योद्धा भग्न थे और कुछ अभग्न थे। बड़ी भारी गड़गड़ाहट करनेवाले रथादिरूपी आवर्त के शब्द से उक्त रणसागर में बड़ी बड़ी पर्वतों की कन्दराएँ प्रतिध्वनित हो रही थी ॥५॥ जैसे सागर में मछलियों के समूहों से उत्पन्न हुए सर के (काश के) बीजों के ढेर की नाईं सरसों के आकार के सफेद अण्डे बिखरे रहते हैं, वैसे ही उक्त संग्रामभूमि में मरे हुए लोगों के समूह से उन्हें छिन्न–भिन्न कर निकले हुए बाणरूपी सरसों की छिमियाँ बिखरी थी, अस्त्र–शस्त्ररूपी प्रधान लहरों ने पताकारूपी छोटी लहरों के मण्डल को छिन्न–भिन्न कर दिया था, तलवार आदि शस्त्र रूपी जलसे निर्मित मेघ के समान अस्थिर आवर्त उक्त रणसागर के कुण्डल थे, मारे क्रोध के शीघ्र चलनेवाली सेना ही उसमें तिमि और तिमिंगिल (卍) (महामत्स्य जाति) थे, वह रणसागर लोहमय कवचों को धारण की हुई इधर–उधर चलती हुई सेनारूपी जल से भीषण था, कवचरूपी जल के आवर्त की पंक्ति के मध्य में सैनिकों के भूषण प्रतिबिम्बित थे ॥६–८॥ बाणरूपी जलकणों के कुहरे से दसों दिशाएँ अन्धकार पूर्ण थी, उस रणसागरने अपने निर्घोष से सम्पूर्ण शब्दों को असंवेद्य कर दिया था, अतएव उसमें एकमात्र निबिड घुंघुम शब्द होता था। गिरने और उछलने से व्यग्र सिरों के खण्ड ही उसमें जलकण थे, आवर्तरूपी चक्रों के समूहों में योद्धारूपी काष्ठ घूम रहे थे ॥९,१०॥ क्लेशकारक टंकारवाले धनुषरूपी सर्पों के छेदन में योद्धा तत्पर थे, निशंक होकर पाताल से मानों निकल रहे सैनिकरूपी लहरों से युक्त था ॥११॥ गमन और आगमन में तत्पर अनन्त पताका और छत्र ही उसमें फेन थे, बह रही रुधिर की नदी के वेग में रथरूपी वृक्ष बहाये जा रहे थे ॥१२॥ रुधिर के बड़े–बड़े बुद्‌बुद्

卐 जैसे सागर के जल को मेघ पी डालते है, वैसे ही वहाँ पर धूलिपटल ने घूम रही तलवारों की प्रभा को पी डाला था, यानी छिपा दिया था। यहाँ पर आच्छादन की नीलरूप से कल्पना की गई है।

卍 अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तृतः। भरतधृतवाक्य। अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम तथा चास्ति तिमिंगलः। तिमिंगिनिलोऽप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राधवः॥ रामायणवाक्य।

(यानी तिमि नाम की मछली सौ योजन की है, उसको निगलनेवाली मछली का नाम तिमिंगिल है और तिमिंगिल को निगलनेवाली मछली भी है, जो राधव कहलाती है।)

हाथी के सदृश हो गये थे, सेनारूपी प्रवाह में हाथी–घोड़े–रूपी जल–जन्तु वहाँ इधर–उधर चल रहे थे ॥१३॥ वह रणसागर संग्रामयुक्त अम्बरग्राम के (गन्धर्वनगर के) सदृश मनुष्यों के लिए बड़ा आश्चर्यकारी हुआ। वह संग्राम क्या थे, एक प्रकार का प्रलय ही था, प्रलयकाल के भूकम्प से कँपाये गये पर्वतों के सदृश चंचल था, उसमें पक्षी तैरती तरंगों के समान थे, गजघटारूपी तट गिर रहे थे। भयभीत हरिण रूपी सेना का घुघुर शब्द प्रलयकालीन वज्रनिर्घोष के तुल्य था, इधर से उधर सरसराते बाणों की पंक्ति से सैकड़ों शलभों के (पतंगों के) समान सैनिक गिर रहे थे, दौड़ते हुए घोड़े ही जिसमें मृग थे, बाणों के संघात ही अथवा बाणधारी योद्धा ही उसमें वनपूर्ण भूमि थी, उसमें चल रहे सैनिकरूपी भ्रमरों का गुंजार हो रहा था, बज रहीं तुरहीरूप गुहाओं से उसका विस्तार कहीं अधिक बढ़ा चढ़ा था, सेनायुक्त गज आदि ही उसमें मेघ थे, लुढ़क रहे योद्धा ही उसमें सिंह थे, चतुरंगिणी सेना के संचार से उड़ी हुई धूलि मेघरूप में परिणत हो गई थी, सैनिकरूपी पर्वत उसमें गल रहे थे, महारथों के अवयव चूरचूर होकर गिर रहे थे, तलवारें अपना प्रताप दिखा रही थी, पदचिह्नरूपी फूलों की राशियाँ उड़ रही थी, पताकाओं और छातों ने मेघों का रूप धारण कर रक्खा था, हाथी बह रही रुधिर की नदी के प्रवाह में गिरने के कारण चिंघाड़ रहे थे, इस प्रकार का वह समररूपी प्रलय जगत को निगलने में बड़ी तत्परता से प्रवृत हुआ। उसमें ध्वजाओं, छत्रों और पताकाओं से युक्त रथरूपी नगर इधर–उधर अस्त–व्यस्त हो रहे थे, वीरों के ऊपर गिर रहे अस्त्र–शस्त्रों के समूहरूपी अनेक दैदीप्यमान सूर्य तप रहे थे, घोर प्राणपीड़ा से सब लोगों के मन सन्तप्त हो रहे थे, वीरों के धनुषरूपी पुष्करावर्तों (प्रलयकाल के मेघों) से निकली हुई बाणवृष्टिरूपी मूसलाधार वृष्टि से वह चारों ओर व्याप्त था, चमचमा रहीं तलवारों की सान में तीखी की गई धाररूपी बिजली से सारा आकाश परिवेष्टित था, उसमें कटे लोगों के शरीरों से निकले हुए रुधिर के समुद्र में हाथी रूपी पर्वत डूब गये थे। आकाश में फैले हुए नीचे गिर रहे अन्य रुधिरबिन्दुओं से मिलकर स्थूल हुए (रूधिरबिन्दु) ही उसमें तारे थे, अनेक चक्रों की परम्परारूपी छोटी नदियों से, जो कि मेघप्रदेश में घूमने पर प्रचुर भौंरीवाली प्रतीत होती थी, आकाशमण्डल और मेघ भरे थे, वहाँ अस्त्रशस्त्ररूप प्रलयाग्नि से जले हुए सैनिक परलोकगमन कर रहे थे, शस्त्रास्त्रों की वृष्टिरूपी वज्र से भूतलरूपी निर्मल पर्वत आच्छन्न थे, उसमें गजराजरूपी पर्वतों की राशियों के गिरने से जनसमूह चूर–चूर हो गया था ॥१४–२५॥ सैनिकरूपी मेघों ने निबिड बाणवृष्टिरूपी वर्षा से महीतल और आकाशमण्डल को आच्छन्न कर दिया था, क्रमशः महासेनारूपी सागर के संक्षोभ से (क्रोध से) उत्पन्न संघट्ट से चारों ओर पलायन होने लगा ॥२६॥ जैसे उग्र झंझावात से उड़ाये गये जल के साँपों से समूद्र के गर्भ में स्थित पर्वत व्याप्त होता है, वैसे ही परस्पर एक दूसरे को काटने में व्यग्र, मानों शस्त्र बरसानेवाले प्रलयोत्पात में उत्पन्न हुए शस्त्रों से रणभूमि व्याप्त थी ॥२७॥ परस्पर एक दूसरे को काटने से शब्द कर रहे और झुण्ड के साथ दसों दिशाओं में घूम रहे दैदीप्यमान त्रिशूल, तलवार,

चक्र, बाण, शक्ति, गदा, तोप, भाले आदि ने प्रलयकाल के तीक्ष्ण वायु से कँपाये जा रहे (झकझोरों के साथ हिलाये जा रहे) पत्थर, वृक्ष, शस्त्र आदि पदार्थों के विलास को धारण किया ॥२८॥

पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

छत्तीसवाँ सर्ग

समान अस्त्र-शस्त्रों से द्वन्द्वयुद्ध और पूर्व आदि देशों के साथ
उन देशों के अधिपतिरूप सहायकों का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मेघपंक्तियाँ जिनमें विश्राम ले रही थी ऐसे हाथियों के शवरूपी पर्वतों में अति उन्नत होने के कारण स्थित बाणराशियों के शिखरसदृश होने पर, घायल हुए सम्पूर्ण डरपोक योद्धाओं के दसों दिशाओं की ओर भागने पर, यक्ष, राक्षस और पिशाचों के रुधिर के समुद्रों में जलक्रीड़ा करने पर, गर्ज रहे मेघों की नाईं सच्चरित्रता, तेजस्विता और बल से परिपूर्ण, धर्मनिष्ठ, शुद्ध, अपने कुल के कमलरूप यानी अपने यश आदि से कुल की प्रतिष्ठा बढ़ानेवाले और युद्ध में पीठ न दिखानेवाले महावीरों के द्वन्द्व युद्ध हुए। वे द्वन्द्व युद्धों के कर्ता वीरगण नदियों के प्रवाहों के समान परस्पर मिलते थे ॥१-४॥ जैसे पंजर पंजर के साथ मिलता है, हाथियों का झुण्ड हाथियों के झुण्ड के साथ बड़े वेग से मिलता है, जैसे वन से युक्त पर्वत वन युक्त अन्य पर्वत के साथ मिलता है, वैसे ही दोनों पक्षों के वीर परस्पर बड़े वेग से मिले ॥५॥ जैसे सागर में तरंगों के समूह से तरंगों का समूह शब्दपूर्वक मिलता है वैसे ही उस युद्ध में घोड़ों के समूह से घोड़ों का समूह शब्दपूर्ण वेग से मिला ॥६॥ जैसे वायु से चंचल बाँसों का समूह वायु से हिलनेवाले बाँसों के समूह के साथ लड़ता है वैसे ही नरसेना ने अपने समान आयुधवाली नरसेना से लड़ाई की ॥७॥ जैसे उड़ा हुआ असुरनगर देवनगर से अपने अंग-प्रत्यंगों को चूरचूर करे, वैसे ही रथों के समूह ने रथों के समूह से अपने अंग-प्रत्यंगों को खूब चूरचूर किया ॥८॥ जिसने बाणों से आकाश पाट दिया है ऐसे धनुर्धरों की सेना से सरसराते हुए असंख्य बाणों की मूसलाधार वृष्टिसे अद्‌भुत मेघों का निर्माण करते हुए युद्ध किया ॥९॥ जब उन विषमायुधवाले युद्धों में युद्धरूपी प्रलयाग्नि भड़की तब भयभीत चित्तवाले योद्धा लोग किसी न किसी बहाने से भागने लगे ॥१०॥ परस्पर युद्ध के लिए संगत हुए चक्रधारी लोगों ने चक्रधारी लोंगों से, धनुर्धारियों ने धनुर्धारियों से, तलवार से लड़नेवाले लोगोंने तलवारधारियों से, भुशुण्डी धारण करनेवाले लोगों ने भुशुण्डी-धारियों से, मुसलों से युद्ध करने में विशारद योद्धाओं ने मुसलधारियों से, भाले धारण करनेवालों ने भाला धारण किये हुए योद्धाओं से, ऋष्टि नामक हथियार से लड़नेवालों ने ऋष्टिधारियों से, बल्लोंसे लड़नेवालों ने बल्लधारियों से, मुद्‌गरधारियों ने मुद्‌गरधारियों से, गदाधारण किये हुए योद्धाओं ने गदाधारियों से, शक्ति से युद्ध करनेवालों ने शक्तिधारियों से, शूल चलाने में दक्ष योद्धाओं ने शूलधारियों से, प्रासों को (भालों को) चलाने में निपुण योद्धाओं ने प्रासधारियों

से, कुल्हाड़ों के वार में प्रसिद्धि प्राप्त योद्धाओं ने कुल्हाड़ाधारी योद्धाओं से, दण्डधारियों ने बाँसों के बड़े–बड़े डण्डों को हाथों में उठाये हुए योद्धाओं से, पत्थरों से लड़नेवाले योद्धाओं ने पत्थरों से लड़नेवाले योद्धाओं से, पाश (जाल) धारी योद्धाओंने पाशधारियों से, कील धारण करनेवाले योद्धाओं ने कील धारियों से, छूरे धारण करनेवाले योद्धाओं ने छूरी धारण करनेवाले योद्धाओं से, भिन्दिपाल धारण करनेवाले योद्धाओं ने भिन्दिपालधारियों से, वज्ररूप मुष्टि को धारण करनेवाले योद्धाओं ने वज्ररूपी मुष्टि को धारण करनेवाले योद्धाओं से, अंकुशों से उद्यत यानी अंकुशयुद्ध में विशारद योद्धाओं ने अंकुशधारी योद्धाओं से, हल से युद्ध करने में अभिज्ञ योद्धाओं ने हलधारियों से, त्रिशूलधारियों ने त्रिशूलधारियों से, कवच की नाईं लोहे की जंजीरों के जालीदार कोट शृंखलाजाल कहलाता है, उसको पहने हुए घुड़सवार योद्धाओं ने जालदार कवच पहने हुए घुड़सवारों से ऐसे युद्ध किया जैसे कि प्रलयकाल में विक्षुब्ध महासागर की आकाश–पाताल एक करनेवाली बड़ी–बड़ी लहरों की घटाएँ आपस में टकराती हैं ॥११–१७॥ वह युद्धाकाशरूपी एकमात्रसागर अति सुशोभित हुआ। उसमें वार करने के लिए व्याकुल चक्रों की राशियाँ ही आवर्त थे, वायु बाणरूपी जलकणों से युक्त थे, आयुधरूपी मगर इधर–उधर घूम रहे थे ॥१८॥ पृथिवी और अन्तरिक्ष का मध्यभाग रूपी वह सागर अमर (जीवित) लोगों से दुस्तर हुआ, उसमें चमचमा रहे हथियाररूपी तरंगों की शाखा–प्रशाखाओं से जलचररूपी योद्धा व्याकुल थे ॥१९॥ आयुध विद्या, बुद्धि, बल, शूरता, अस्त्रशस्त्र, घोड़े, रथ और धनुष ये आठ जिनके अप्रतिहत हैं, ऐसे योद्धाओं की सेना पूर्व में प्रतिपादित द्वन्द्वशः मिले हुए दो पक्ष होने से दोनों की सेनाओं में आधे–आधे भाग में कुपित होकर स्थित रही, क्योंकि दोनों राजा विदूरथ और सिन्धुराज उनके अनुकूल ही स्थित रहे। अथवा यह मानना चाहिए यक्ष, राक्षस पिशाच और असुर एक ओर, देवता, गन्धर्व, किन्नर और विद्याधर एक ओर यों आठ दिव्य पुरुषों का समूह भावी जय और पराजय के अनुसार दो पक्षों में बँटकर सम्पूर्ण सेना के आधे आधे भाग से कुपित होकर स्थित हुआ, क्योंकि वे दो राजे भी तदनुरूप अदृष्ट से युक्त थे ॥२०॥

अब विदूरथ और सिन्धुराज के सहायक लोगों का पूर्व आदि दिशाओं के भेद से क्रमशः वर्णन करने की श्रीवसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, मध्यदेश आदि की गणना में पूर्व दिशा से लीला के स्वामी महाराज पद्म की सहायता के लिए आये हुए नीचे कहे जानेवाले देशों के अधिपतियों को मैं आपसे कहता हूँ, आप सुनिये ॥२१॥ पूर्व दिशा के कोशल, काशी, मगध, मिथिला, उत्कल, मेखल, कर्कर, मुद्र, संग्रामशौण्डक, मुख्य, हिम, रुद्रमुख्य, ताम्रलिप्त, प्राग्ज्योतिष, अश्वमुख, अम्बष्ठ, पुरुषादक, वर्णकोष्ठ, सविश्वोत्र, कच्ची मछली खानेवाले, व्याघ्र सदृश मुखवाले, किरात सौवीर और एकपादक इन चौबीस देशों के सहायक आए थे। माल्यवान् नामक पर्वत, शिवि, आंजन, वृषल, ध्वज, पद्म तथा उदय पर्वत इस सात पर्वतों के सहायक आये। पूर्व–दक्षिण दिशा से लीला के पति पद्म के विन्ध्य पर्वत के पूर्वभाग के देश, चेदि, वत्स,

दाशार्ण, अंग, बंग, उपबंग, कलिंग, पुण्ड, जठर, विदर्भ, मेकल, शवरानन, शवरवर्ण, कर्ण, त्रिपुर, पूरक, कण्टकस्थ, पृग्दीपक, कोमल कर्णान्ध्र, चौलिक, चर्मण्वती के निकटवर्ती, काकक, हेमकुड्य, श्मश्रुधर, बलिग्रीव, महाग्रीव, किष्किन्धा और नारिकेली इन सत्ताईस देशों और चार पर्वतों के निवासी वीरगण सहायक थे ॥२२–२९॥ हे रामजी, दक्षिण दिशा में लीला के पति के सहायक वीर नरपतियों का मैं उल्लेख करता हूँ, सुनो। विन्ध्य, कुसुमापीड़, महेन्द्र, दर्दुर, मलय, सूर्यवान, समृद्धिशाली अनेक गणराज्य, अवन्तीनाम से प्रसिद्ध, शाम्बवती, दशपूरक, कथाचक्रार, ईषिक, आतुरकच्छप, वनवासोपगिरि, भद्रगिरि, नागर, दण्डक, गणतन्त्रराज्य, जनतन्त्रराज्य, साह, शैव, ऋष्यमूक, कर्कोट, वनबिम्बल, पम्पानिवासीगण, कैरकदेशीय, कर्कवीरक, स्वेरिक, यासिक, धर्मपत्न, पांचिक, काशिक, तृणखल्लूल, याद, ताम्रपर्णक, गोनर्द, कनक, दीनपत्तन, ताम्रीक दम्फर, आकीर्णक, सहकार, ऐणक, वैतुण्डक, तुम्बवनाल, अजिनद्वीप, कर्णिकाकार, कर्णिक, शिवी, कोंकण, चित्रकूट, कर्णाट, मण्टवटक, महाकटकिक, आन्ध्र, कोलपर्वत, आवन्कि, विचेरिक, चण्डायत्त, देवनक, क्रौंच, वाह, शिलाक्षारोद, भोनन्द, मर्दन, मलय इन तिरसठ देशों और छः पर्वतों के निवासी तथा लंका के राक्षस ॥३०–३९॥ पश्चिम और दक्षिण दिशा के मध्य में महाराज्य, सुराष्ट्र, किन्थुस सौवीरस शूद्र, आभीर, द्रविड़, कीकट, सिद्धखण्ड, कालिरूहस सुमेरु पर्वत, रैवतक पर्वत, यकज्छ, मयवर, जिसमें यवन रहते थे, ये चार पर्वत, बाह्लीकस मार्गणावन्त, धम्र, तुम्बक, लाजगण और उक्त दिशा के पर्वत के निवासी, तथा समुद्रतट के और तोकनि देश के निवासी, हे श्रीरामचन्द्रजी, ये सब पूर्वोक्त लीला के पति के पक्ष के थे ॥४०–४३॥ अब हे श्रीरामचन्द्रजी, लीला के पति के विपक्ष में स्थित वीरों और उनके देशों को मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये। पश्चिम दिशा में ये बड़े–बड़े पर्वत हैं – मणिमान्, शैलेन्द्र, कुरापर्णगिरि, बन, अर्कह , मेघफल, चक्रवान् और अस्ताचल ॥४४,४५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, काश तथा ब्राह्मण के समूहों के अन्तक पंचननामकजल और भारक्षतथ, पारक, शान्ति, शैब्य, आरमरकार, अच्छ, अगुहुत्व, अनियम, हैहय, सुह्मगाय, ताजिक और हुणक, दक्षिण और उत्तर में कतक देश के निकट में कर्क, गिरिपर्ण और अवम इन्होंने सब वर्ण धर्मों की मर्यादा का सवर्था त्याग कर दिया है, इसलिए ये म्लेच्छ कहलाते हैं ॥४६–४८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उसके अनन्तर दो सौ योजन तक पृथिवी जनपदों से शून्य है, और उसके अनन्तर महेन्द्रपर्वत है, जिसकी भूमि मुक्तमयी तथा मणिमयी है ॥४९॥ सैकड़ों पर्वतों से युक्त आश्वनामक पर्वत है, उसके अनन्तर भयंकर महासमुद्र है, जिसके तट पर पारियात्रनामक पर्वत है ॥५०॥ पश्चिम और उत्तर दिशा के अन्तराल भाग में, जो पर्वतप्राय है, वेणुपति और नरपति देश है, जहाँ नित्य उत्सव हुआ करते हैं ॥५१॥ फल्गूणक, माण्डव्य, अनेकनेत्रक, पुरुकुन्द, पार, भानुमण्डल, भावन, वन्मिल, नलिन और इसके पश्चात् दीर्घ केश, अंग, हस्त पाल आदि से युक्त मनुष्यवाले होने के कारण दीर्घनाम के देश हैं तथा रंग, स्तनिक, गुरुह और लुह नामवाले देश हैं, इसके अनन्तर अतुल स्त्रीराष्ट्र है, जहाँ गाय, बैल तथा सन्तान को भी खा जाते हैं। इसके अनन्तर उत्तर

दिशा में हिमवान, क्रौंच और मधुमान् नाम पर्वत हैं ॥५२–५४॥ इनके अनन्तर कैलास, वसुमान् और मेरुपर्वत हैं, उनके सहायक पर्वत श्रेणियों में ये मनुष्य रहते हैं–मद्र, वारेव, यौधेय, मालव और शूरसैनिक ॥५५॥ इसके अनन्तर ये क्षत्रिय और देश हैं, राजन्य, अर्जुनातनय, त्रिगर्त, एकवाद, क्षुद्र, आमबल और अस्ताचलवासी, अबल, ब्रखल, शाक, क्षेम, धूर्ति, दश प्रकार के नाग, अवसनी, अदण्ड, अहन्यसह, धानद, सरक, वाटधान, अनन्तर द्वीप के निवासी, गान्धारस वन्ति और सुर, इसके अनन्तर दक्षशिला, बीलव, गोधनी, इसके अनन्तर पुष्करावर्त देश की यशोवती नाम की पृथिवी है। इसके अनन्तर नाभिमती भूमि है और उसके वाद तिक्षा तथा कालवराभूमि है और काहक तथा सुरभूतिपुर नामक नगर हैं, तदनन्तर रतिकादर्श, अन्तरादर्श पिंगल एवं पाण्डव्य के निवासी जन और यमुना के तीरवासी यातुधानक, नांगन, हेमताल, स्वमुख तथा हिमालय, वसुमान्, क्रौंच और कैलास ये पर्वत हैं। तदुपरान्त देशरहित अस्सी योजन विस्तृत भूमि है। तदनन्तर पूर्व और उत्तर दिशा के अन्तराल के क्रमशः इन देशों को सूनिये कालूत, ब्रह्मपुत्र, कुणिद, खादिन, मालव, रन्ध्रराज्य, वन, राष्ट्र, केडवस्त, सिंहपुत्र, वामन सावाकत्, जापलवह, कामिर, दरद, अभिसासद, जार्वाक, पलोल, कुवि, कौतिुक, किरात, यामुपात, दील तदुपरान्त स्वर्ण भूमि है, तदनन्तर अतिसुशोभित देवस्थल भूमि है, उसके बाद गन्धर्वराज विश्वावसु का उत्तम मन्दिर है, तदनन्तर कैलासभूमि है, तदनन्तर मंचुवन नामका पर्वत है, तदनन्तर विद्याधर और देवगणों की विमान के सदृश अभिराम भूमि है ॥५६–६७॥

छतीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतीसवाँ सर्ग

देशों के नामों के साथ मध्यदेशीय लोगों का तथा उनके जय और पराजय का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, वेग से काटे गये मनुष्य और हाथियों से भीषण रण में, जिसमें सैनिक लोग 'पहले मैं पहले मैं' इस होड़ से झुण्ड के झुण्ड विपक्ष सेना में टूट रहे थे, प्रयत्न से प्रवेश कर रहे पूर्वोक्त और उनसे अतिरिक्त भी अनेक लोग अग्नि में प्रवेश कर रहे पतींगों के समान भस्म हो गये। इस युद्ध में दूसरे यानी मध्य देश के लोग मैंने नहीं कहे, लीला के स्वामी के पक्षभूत उन लोगों को मैं कहूँगा, आप सुनिए। वे थे तद्देहिक, शूरसेन, गुड़, अश्वघनायक, उत्तमज्योतिभद्र, मदमध्यमिकादि, सालूक, अकोद्यमालास्य, दौर्ज्ञेय, पिप्पलायन, माण्डव्य, पाण्डुनगर, सौग्रीवादि, गुरुग्रह, पारियात्र, कुराष्ट्र, यामुन, उदुम्बर, राज्यनामक, उज्जिहान कालकोटिक, माथुर, पांचाल, धर्माख्य तथा उत्तर और दक्षिण पांचालक, कुरुक्षेत्र और सारस्वतनिवासी वीर सैनिक गण ॥१–७॥

जो पहले ये और दूसरे रण में भस्म हो गये, ऐसा कहा था, उसी को देशों के नामों का विभाग कर सर्ग की समाप्ति पर्यन्त कहते हैं।

उज्जयिनी की रथपंक्ति कुन्तिदेशवासी और पंचनददेशवासियों द्वारा छोड़े गये शस्त्रों से

भयपूर्वक काँपती और दौड़ती हुई बड़े भारी पर्वतप्रपातों में गिर पड़ी ॥८॥ वस्त्रवती के लोगों द्वारा काटे गये अतएव भूमि में गिर रहे कोशब्रह्म की सीमा के लोग हाथियों द्वारा कुचल दिये गये ॥९॥ बाण की भूमि के लोगों ने दाशपुर के शूरों को, जिनके कन्धे और पेट शस्त्रों से काट डाले गये थे, जीतकर आठ कोश तक उनका पीछा किया और संयोगवश मार्ग में प्राप्त तालाब में उन्हें डुबा दिया ॥१०॥ विदीर्ण (फाड़े गये) पेट से निकली हुई अपनी अँतड़ीरूपी रस्सियों में उलझे हुए अतएव मन्दगति हुए शान्तिदेशवासियों को मार्ग के पिशाचों ने चबा डाला ॥११॥ प्रचण्ड रणघोष करनेवाले भद्रगिरिनिवासियों ने, जो कि संग्रामरूपी यज्ञ में दीक्षित थे, मरदेशवासी योद्धाओं को कछुओं की भाँति पृथिवी के गड्ढों में फेंक दिया। जिन्होंने पहले बड़े–बड़े शत्रुओं को भगाया था, ऐसे दण्डिकानगरी निवासियों को, जिनके शरीरों से रुधिर बह रहा था, हैहयवंशियों ने यों भगाया जैसे कि वायु के वेग से वातप्रेमीनामक हरिण भागते हैं। हाथियों के दाँतों से विचूर्णित दरददेशनिवासियों को, जिन्होंने अपने शत्रुओं को विनष्ट कर दिया था, रुधिर की महानदी पेड़ के पल्लवों की भाँति बहा ले गई। अर्धचन्द्राकार बाणों से छिन्नभिन्न घायल अधमरे चीननिवासियों ने अपने लिए भारस्वरूप बने हुए अपने शरीरों को सागर के अर्पण कर दिया ॥१२–१५॥ कर्णाट देश के दक्ष योद्धाओं द्वारा वायु में फेंके गये भालों से जिनके कन्धे कट गये थे, ऐसे नलददेश के शूर तारों के समूह की नाईं विशीर्ण हो गये ॥१६॥ मगरों के समूह के सदृश गजराजों ने जिनके शस्त्रास्त्र बड़े वेग से छिन्न भिन्न कर दिये थे, ऐसे दाशक और शक केशाकेशि युद्ध के लिए (एक दूसरे का झोटा पकड़ कर जो युद्ध होता है उसे केशाकेशि युद्ध कहते हैं) सन्नद्ध होकर सिंहनाद करते थे ॥१७॥ पाशदेशवासियों द्वारा छोड़े गये श्रृंखलाजाल से भयभीत दाशार्ण लोग जैसे बेंत की झड़ियों की जड़ों में रहनेवाली मछलियाँ कीचड़ में छिप जाती है वैसे ही रक्त रूपी कीचड़ में छिप गये। तंगण लोगों के ऊपर उछले हुए खड्गों और शंखशतनामक शस्त्रों ने रणभूमि में गुर्जरसेना के विनाश से गुर्जरस्त्रियों के केशों का लुंचन करा दिया ॥१८,१९॥ जैसे वीरों के आयुधों के सदृश कान्तिवाले मेघ अपनी बूँदों से जंगलों को सींचते हैं, वैसे ही जिन्होंने कानों की भाँति अस्त्र–शस्त्रों को खड़ा किया था, ऐसे सैनिकों के संघ से निकली हुई वीरायुधप्रभारूपी बिजलीसे मेघवत् प्रतीत हो रहे निगुड़देशियों ने गुहदेशीय योद्धाओं के प्रति बाणों की धाराएँ बरसाई ॥२०॥ भुशुण्डीनामक हथियार के मण्डल की कान्ति से कालिमा को प्राप्त सूर्य ही ठहरा एक उत्पात (✍) (अशुभ सूचक चिह्न), उससे भयभीत आभीर देशवासियों पर शत्रु ऐसे टूटे, जैसे हरी घास पर गौओं का झुण्ड टूट पड़ता है ॥२१॥ वत्स श्रीराम, ताम्रों (एक प्रकारके यवनों) की संग्राम के लिए तत्पर सेनारूपी कान्तकांचनप्रिया (जिसे पति और सुवर्ण प्रिय है) नायिका गौड़देश योद्धाओं द्वारा नखक्षत और भासकदेशवासियों ने रणभूमि में वृक्षों और पहाड़ों को तहस नहस कर देने

✍ यदि चन्द्र इवाऽऽदितयः सच्छिद्रों रश्मिमणडलः। कृष्णरक्तान्तपर्यन्तस्तज्जनक्षयलक्षणम् ॥ यदि सूर्य चन्द्रमा की नाईं हो, या किरणमण्डल में छेद दिखाई दे अथवा रवि मण्डल चारों ओर काला या लाल हो जाय, तो उसे मनुष्यों के विनाश का हेतु समझना चाहिए।

वाले शब्दायमान असंख्य चक्रों के वारों से या चक्रों द्वारा छेदन से तंगणदेशवासियों को किनका–किनका बनाकर कंक (सफेद चील) और गीधों में बिखेर दिया। गौड़ सैनिकों के अस्पष्ट बोल के शब्द को, जो बड़ी–बड़ी लाठियों के भ्रमण से उपलक्षित था, सुनकर गोतुल्य गान्धरदेशवासी द्रविड़ों की नाईं भाग गये ॥२२–२४॥ पर्वतों से नदी की नाईं उतरते हुए शकों के समुदाय ने, जो कि काली पोशाक पहनने के कारण आकाशस्थित सागर के तुल्य था, पारसियों को रात्रि के निबिड़ अन्धकार का भ्रम कर दिया ॥२५॥ वहाँ पर सफेद पोशाक पहने हुए पारसियों के साथ युद्ध करनेवाले शकों के हथियार मन्दर पर्वत के आलोडन से ऊपर को उछले हुए अत्यन्त स्वच्छ क्षीरसागर के मध्य में मन्दराचल के वनों की नाईं दिखाई दिये और दर्शक लोगों को शत्रुरूपी हिमालय के शिखर में हिमालय के वनों की नाईं दिखाई दिये ॥२६॥ भूमिस्थित लोगों ने शस्त्रसमुदाय को मेघों की नाईं आकाशमण्डल में उड़ा देखा, आकाश में स्थित लोगों ने उसे सागर में अन्य तरंगों के प्लवन (तैरने) की नाईं देखा। लोगों ने आकाशरूपी वन को सफेद छातों से सैकड़ों चन्द्रों से युक्त सा देखा, बाणों से टिड्डियों से अत्यन्त व्याप्त सा देखा और शक्तियों से निरवकाश देखा ॥२७,२८॥ केकयदेशवासियों ने अपने शत्रुओं को वीरपान में (📖) रोदन करनेवाले बना दिया, क्योंकि अपने सगे–सम्बन्धियों का विनाश होने से वीरपान के समय उनका रोना स्वाभाविक हुआ और कंक देशवासियों ने अपने शत्रुओं को चीलों के झुण्ड से आक्रान्त आकाश में उद्धूलित मस्तकवाले बना दिया ॥२९॥ विजयप्राप्ति पर कोलाहल करनेवाले अंगदेशवासियों ने किरात सैनिकरूपी कन्याओं की विदेहता को (अंगरहितत्व और कामप्राबल्य को) प्राप्तकर भैरवों की नाईं अत्यन्त गर्जना की ॥३०॥ माया से पक्षी बने हुए अदृश्य समुद्री मनुष्यों ने फैलाये हुए अपने परों से तद्देहकवासी लोगों पर ऐसा आक्रमण किया जैसा कि क्षुभित झंझावात धूलिकणों पर आक्रमण करता है ॥३१॥ युद्ध से उन्मत्त, खूब कँपाये गये और शस्त्रास्त्र तथा रण की पोशाक का त्याग किये हुए नर्मदातीरवासियों ने ऐसा नृत्य, हास और गान किया, जिससे मनोविनोद होता था। समीप में आई हुई शक्तियों की वृष्टि, जिसमें छोटी छोटी घण्टियाँ बज रही थी, साल्वदेशवासियों के बाणरूपी वायु से कम्पित होकर बिन्दुओं के आकार में परिणत हो गई। शैव्यदेशवासी गणों को कुन्तिदेशवासी वीरगण घुमाये जा रहे भालों से विघटित, विखण्डित और विनष्ट कर विद्याधरों के तुल्य स्वर्ग में ले गये ॥३२–३४॥ धरा पर यानी युद्धभूमि पर आक्रमण करनेवाली धीरप्रकृति अहीनदेश की सेना ने अपने सोल्लास गमन से ही पाण्डुनगर के वीरगणों को लुण्ठित कर दिया ॥३५॥ मदोन्मत्त की नाईं चलनेवाले पंचनददेश के वीरों ने तद्देहकवासी योद्धाओं को, जो भालों, हाथी के दाँतों और वृक्षरूपी हथियारों से युद्ध करनें में कुशल थे, जैसे हाथी पर्वतों को खोद डालते हैं वैसे ही कतल कर दिया ॥३६॥ नीपदेशवासियों द्वारा चक्रों से काटे गये अतएव घोड़ों के साथ पृथिवी में गिरे हुए ब्रह्मावत्सनदेश के सैनिक आरों से काटे गये, फूले हुए वृक्षों की नाईं प्रतीत होते थे। जठरदेशीय योद्धाओं से प्रेरित (फेंके गये) कुल्हाड़ों ने श्वेतकाकदेश

📖 रणसमाप्ति में या रण के आरम्भ में जो आसवपान होता है, वीरपान कहा जाता है।

के योद्धाओं के सिर काट डाले और जठरदेशीयों की सेना को पास में स्थित मद्रदेश के राजा ने बाणरूपी अग्नि से जला डाला ॥३७,३८॥ काष्ठदेशीय योद्धारूपी पंक में (कीचड़ में) बन्धनस्तम्भ के बिना ही फँसे हुए अतएव जर्जर हुए मतंगजदेशीय सैनिकरूपी मतंगज (हाथी) युद्धभूमि के चारों ओर ऐसे विनाशको प्राप्त हुए जैसे कि अग्नि में डाले हुए काष्ठ भस्म होते हैं ॥३९॥ त्रिगर्तदेश के योद्धाओं से पकड़े गये मित्रगर्तदेशीय योद्धा तिनके की नाईं ऊपर को घूमकर नीचे मस्तक हो भागने के लिए पाताल के अन्तस्तल में प्रविष्ट हुए। मन्दगति वनिलदेशीय वीर मन्दवायु से अस्थिर हुए महासागर के तुल्य स्फूर्तिमान् मगधदेश की सेना में ऐसे निःशेषरूप से मग्न हो गये जैसे कि कीचड़ में बूढ़े हाथी मग्न हो जाते हैं ॥४०,४१॥ समरभूमि में चेदिदेशीय वीरों ने जैसे मार्ग में गिरे हुए फूलों की सुकुमारता को धूप हर लेती है वैसे ही तंगणदेश के योद्धाओं की चेतना को हर लिया यानी उन्हें निष्प्राण बना दिया। पौरवदेश के योद्धाओं के शब्दको भी सहन न करनेवाले और उन्हें यमराज की नाईं पीट रहे कोसलदेशवासियों पर पौरवों ने गदाओं, भाले, बाणों, शक्तियों की अतिवृष्टि की। उनमें से जो भालों से अंगों के कटने पर भी शत्रुओं के शौर्य के विषय में किसी प्रकार के विस्मय से रहित अतएव गीले और गाढ़े रुधिर से बालसूर्य से हुए, वे पर्वत में मूँगे के वृक्षों की नाईं दौड़ते थे ॥४२-४४॥ उसमें से अर्द्धचक्राकार बाणों के समूह आदि प्रबल हथियाररूप वायु से जिनके शरीर कम्पित हो गये थे, वे भँवरों के दल से सुशोभित मेघों की नाईं घूमते थे ॥४५॥ बाणरूपी मूसलाधार वृष्टि की धाराओं को धारण करनेवाले मेघों के तुल्य, बाण समूहरूपी ऊन से परिपूर्ण भेड़ों के सदृश, बाणव्यूहरूपी अतएव गर्जनकारी हाथी घूमते थे। कन्दाक स्थल के मनुष्य, हाथी आदि प्राणी वनराज्य नामक देशके वीरों से ऐसे निर्बल कर दिये गये कि केवल खिंचनेमात्र से धागे के समान टूट गये। जन्तु खूब जोर से खींचे गये कच्चे सूत की नाईं टूट गये, छिन्न-भिन्न हो गये ॥४६-४७॥ खाईरूपी गड्ढे में टकराने से रथों के चक्रों के टूटने पर इन रथों के मस्तकों पर प्रहार करनेवाले शत्रुओं के समूह ऐसे टूटे जैसे वनपूर्ण पर्वतों पर मेघ गिरते हैं ॥४८॥ शाल का वन और तालका वन युद्ध में परस्पर दो जनसमूहों के सम्मेलन से महावनरूप में परिणत युद्धस्थान को प्राप्त होकर और वहाँ बाहुच्छेदन और मस्तकच्छेदन को प्राप्त होकर क्रमशः ऊँचे तालवृक्षप्राय और स्थाणुओं का वन हुआ। भाव यह कि शालों के चारों ओर की शाखाओं के काटने पर ताल सरीखे पेड़ हो जाते हैं और तालों की चोटी काट देने से स्थाणुता ही बच जाती है,अतः शालका वन जो तालवन बना और जो तालवन स्थाणुओं का वन बना वह ठीक ही बना ॥४९॥ उन्मत्त यौवनवाली नन्दनवन की सुन्दरियाँ सुमेरु पर्वत के वन और उपवनों में धीर वीर पुरुषों से संगत होकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं ॥५०॥ प्रचुर कोलाहल (सिंहनाद) से पूर्ण उत्तम सेनारूपी वन तभी तक शोभित हुआ जब तक कि प्रलयकाल की अग्नि की ज्वाला के सदृश ज्वालावाला शत्रुदल नहीं आया। कामरूप आदि देशों के योद्धाओं के साथ, जिनमें पिशाचों का आधिक्य था, युद्ध के लिए संगतहुए दाशार्ण देश के योद्धा, पिशाचों द्वारा शस्त्रों के हर लेने और घायल होने पर बछड़ों की भाँति भागते हुए राह में

कर्णदेश के योद्धाओं को मार कर निकल गये ॥५१,५२॥ जिसने तालाबों को भरनेवाले झरनों को सुखा दिया ऐसे ग्रीष्म, ऋतु के प्रभाव से जैसे कमल अपनी कान्ति को खो बैठते हैं वैसे ही तांजिगीयवनदेशीय योद्धाओं के प्रताप से काशिदेश के योद्धाओं ने, जिनके कि स्वामी मर चुके थे, कान्ति खो दी। मेखल देशवासियों ने तुषाकदेशीय योद्धाओं के ऊपर बाण, शक्ति, तलवार और मुद्‌गरों की वृष्टि की। नरकदेशीय योद्धाओं द्वारा शस्त्रास्त्रों से आक्रान्त कटकच्छेलनदेश के योद्धा भी भाग गये ॥५३,५४॥ अपने स्थान में ही बैठकर युद्ध करनेवाले धीर वीर प्रस्थवासदेश के वीरों से आवृत (घेरे गये) कौन्तक्षेत्र के योद्धा दुष्ट पुरुषों से आक्रान्त सद्‌गुणों की नाईं अत्यन्त अशक्तता को प्राप्त हुए ॥५५॥ द्विपिदेश के योद्धा, जिन्होंने कमल तोड़े हैं उन पुरुषों की नाईं, अपने भालों से बाहुधानदेश के योद्धाओं के मस्तक को एक क्षण में लेकर (काट कर) भागकर तुरन्त चले गये ॥५६॥ सरस्वती नदी के तीरवर्ती देशों के योद्धा शामतक लगातार परस्पर युद्ध करते हुए शास्त्रार्थ में पण्डितों की नाईं न तो श्रान्त हुए (थके) और न पराजित ही हुए। खर्वदेशवासी क्षुद्र योद्धा यद्यपि भाग कर चले गये थे तथापि लंका में रहनेवाले सहायभूत राक्षसों द्वारा परावतिर्त हुए, फिर तो वे जैसे बुझी हुई अग्नि लकड़ियों से भड़क उठती है वैसे ही परम प्रताप को प्राप्त हुए ॥५७,५८॥ श्रीवसिष्ठजी प्रस्तुत संग्राम वर्णन का उपसंहार करते हुए कहते हैं : हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं कितना कहूँ, यह श्रेष्ठ इतना विस्तृत है कि वासुकि (शेषनाग) भी आकुलतापूर्वक (शीघ्रता से) अपनी दो हजार जिह्वाओं से इसका पूर्ण वर्णन करने के लिए समर्थ नहीं है ॥५९॥

सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तीसवाँ सर्ग

सायंकाल में दोनों सेनाओं के युद्ध से निवृत्त होने पर
भूत-प्रेतों से भीषण और बीभत्स रणभूमि का विस्तार से वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, भुजास्फोट करने वाले विजयी वीरों से पराजित योद्धाओं के त्रास से परिपूर्ण अतिभीषण संग्राम में अन्धकार के आगमन से सूर्य भगवान् के वृद्ध होने पर, शरीर के घावों से रुधिर प्रवाह को रोकनेवाले कठिन लौह कवचों के रुधिरक्लेद को बहाने पर, पत्थर रूपी ओलों से स्वच्छ पाषाणवृष्टि के एक पक्ष में ऊपर जाने और दूसरे पक्ष में नीचे गिरने पर, नदियों में कमलपंक्तियों के संकुचित होने पर, परस्पर फल के (बाण की नोक में लगे हुए लोहे के टुकड़े के) अग्रभाग में हुए आघात से उत्पन्न अग्नि कणरूपी सीकरों को (जलकणों को) धारण करनेवाली बाणनदियों के समीप में और दूर जाने पर, आयुधों की राशिरूपी मन्दाकिनियोंसे, जिनमें कटे हुए सिररूपी पद्म बह रहे थे, जो चक्ररूपी आवर्तों से पूर्ण और तरंगयुक्त थी, आकाशरूपी सागरके भर जाने पर, वायु के समान शब्द कर रहे शस्त्रों से परिपूर्ण होने के कारण अत्यन्त निबिड़ बैठने की जगह की लालिमा को बढ़ाने के कारण वर्षा ऋतु के आरम्भ के सन्देह से वानरों को काम पीड़ा देनेवाले मेघों से सिद्धों को

प्रलय का सन्देह होने पर, आठवें भागरूप अवस्था में हुई लालकान्ति से वीर की नाईं तनुता (क्षीणता) को प्राप्त हुआ। सेनाएँ, जिनके घोड़े और हाथी थक गये थे और हथियारों की कान्ति क्षीण हो गई थी, दिन के साथ ही मन्दप्रतापवाली हो गई यानी जैसे दिन का प्रताप मन्द हुआ वैसे ही सेनाओं का प्रताप भी मन्द पड़ गया ॥१-७॥ तदुपरान्त सेनापतियों ने मन्त्रियों के साथ विचार कर एक दूसरे के पास रण बन्द करने के लिए दूत भेजे ॥८॥ रणभूमि में श्रमवश सभी के यन्त्र, शस्त्रास्त्र तथा पराक्रम मन्द पड़ गये थे, सभी ने समय पर रणसमाप्ति का अनुमोदन किया ॥९॥ तदुपरान्त दोनों सेनाओं का एक एक योद्धा महान् रथ के पताकदण्डकी चोटी पर रक्खे हुए लम्बे बाँस के खम्भे पर ध्रुव की नाईं चढ़ा ॥१०॥ जैसे रात्रि सम्पूर्ण दिशाओं में किरणों से विशाल शुभ्र चन्द्रमा को घुमाती है, वैसे ही उसने चारों ओर सफेद वस्त्र हिलाया जो 'युद्ध बन्द कीजिये' इसका सूचक था ॥११॥ तदुपरान्त महाप्रलयकी निवृत्ति होने पर पुष्करावर्तनामक मेघों की नाईं दुन्दुभियाँ बजने लगीं, उनके निनाद से सम्पूर्ण दिक्मण्डल मुखरित हो उठा ॥१२॥ विशाल आकाशमण्डल में स्थित बाण आदि अस्त्र-शस्त्रों की नदियाँ मानस सरोवर से सरयू आदि नदियों की नाईं बेरोकटोक गिरने लगी ॥१३॥ जैसे भूकम्प के बाद वनस्पन्द मन्द पड़ जाता है और जैसे शरद् ऋतु में समुद्र का लहराना कम हो जाता है, वैसे ही वीर योद्धाओं के बाहुरूपी वृक्षों के संचार धीरे धीरे मन्द हो गये ॥१४॥ तदनन्तर जैसे प्रलय के अन्त में प्रलयकालीन एकमात्र समुद्र जलप्रवाह चारों दिशाओं में बहता है, वैसे ही दोनों सेनाएँ रणभूमि से निकलने लगी ॥१५॥ जिससे मन्दराचल निकाला गया है, ऐसे क्षीर समुद्र के समान प्रशान्त और आवर्तों से (जलभौंरियों से) रहित सेना धीरे धीरे अव्याकुलता को प्राप्त हुई ॥१६॥ थोड़ी देर में जैसे जैसे सैनिक निकलते गये, वैसे वैसे रणभूमि पूतनेश्वरी के पेट के समान भीषण और अगस्त मुनि द्वारा पिये गये सागर के समान शून्य (रिक्त) ही हो गई। सारी रणभूमि मुर्दों से पटी थी, जहाँ तहाँ रुधिर के नद बह रहे थे, घायल एवं मरणासन्न सैनिकों के रोदन और कराहने से वह पूर्ण थी अतएव वनमक्खियों की भनभनाहट से भरे हुए वनमक्खियों के वन के सदृश लगती थी, बह रही रुधिर नदियों के प्रवाह और तरंगों के शब्द से उसमें घर घर ध्वनि हो रही थी, रो रहे, चिल्ला रहे अधमरे लोगों द्वारा पुकारे गये जीवित पुरुष बड़े व्यग्र थे, मरे हुए और अधमरे लोगों के शरीरों से चू रहे खून के झरने बह रहे थे, सजीव (अधमरे) पुरुषों की पीठ में पड़े हुए शवों (मुर्दो) में स्पन्दन का भ्रम होता था, मत्त मातंगों के शवों के ढेर की चोटी पर मेघखण्ड विराजमान थे, वहाँ अनेक रथ जहाँ तहाँ बिखरे थे, अतएव वह रणस्थल उस महावन के तुल्य प्रतीत होता था, जिसमें आँधी से वृक्ष ढह गये हों, वहाँ बह रही रुधिर नदी के प्रवाह में हाथी, घोड़े बह रहे थे, बाण, शक्ति, ऋष्टि, मुसल, गदा, भाले और तलवारों से सारी रणभूमि पटी थी, काठी, शरीर के रक्षक चमड़े के टुकड़े और कवचों से सारा भूतल व्याप्त था, शवों के शरीर, पताका, चँवर और घाव बाँधने की पट्टियों से आच्छन्न था, साँपकी फन के समान जिनका आगे का हिस्सा ऊँचा था और जिनमें छलनी के समान चारों ओर छिद्र किये गये थे ऐसे तरकसों में वायु इस प्रकार शब्द करता था जैसे कि

कीचक की (एक प्रकार के बाँस की) झाड़ियों में करता है, वहाँ पर पिशाच शवों की राशिरूप पुआल के बिछौने पर सोये थे ॥१७–२४॥ सिर पर धारण किये हुए शिरोरत्नों और अंगदों (बाजू–बन्दों)की जगमगाहट से सैकड़ों इन्द्रधनुष उसके चारों ओर उगे थे, कुत्ते और सियार अपने पंजों से खून से लथपथ अँतड़ीरूपी लम्बी रस्सी को खींच रहे थे, जिनका जीवन कुछ कुछ शेष है, ऐसे दाँतों से चिरे हुए पुरुष वहाँ पर रुधिर से परिपूर्ण खेत में घर् घर् शब्द कर रहे थे, सजीव नररूपी मेंढक रुधिरके कीचड़ में सर्वथा निमग्न थे, चित्रकंचुक के सदृश सैंकड़ों आँखों के समूह वहाँ पर निकले हुए पड़े थे, वहाँ पर सैकड़ों रक्तनदियाँ बह रही थी जो भुजा और जंघा रुपी काष्ठ समूह से बड़ी भीषण थी, रो रहे बन्धुओं से सारी रणभूमि व्याप्त थी, जहाँ देखो वहीं मरे और अधमरे मनुष्यों का ढेर लगा था, बाण, अस्त्र–शस्त्र, रथ, घोड़े, हाथी और काठियों से सारी रणभूमि आच्छन्न थी, वहाँ नाच रहे कबन्धोंके बाहुदण्डमण्डल से आकाशमण्डल नीचा किया गया था, हाथियों के मद, मेदा और वसा की गन्ध से नाक में पीड़ा होती थी और नाक बहने लगती थी, जिन्होंने अपने तालू (जबड़े) ऊपर को किये थे ऐसे अधमरे हाथी और घोड़ों से अपने अल्पजीवित की रक्षा की जा रही थी, बह रही रुधिर नदी की लहरों के हार से नगाड़े बज रहे थे, मरे हुए हाथी एवं घोड़े रूपी मगर खून की सैकड़ों नदियों में ऊपर तैर रहे थे, वहाँ पर मर रहे नरों के फूत्कार से मुखमें भरे हुए खून के फव्वारे बाहर निकाले जा रहे थे, जिनका जीवन थोड़ा शेष है और मुँह और नेत्रों में बाण भरे हुए हैं, ऐसे लोग वहाँ पर रो चिल्ला रहे थे वहाँ पर खून पिण्डभार्या के (🔔) वसा की दुर्गन्धि से युक्त और वायु लगने से धनीभूत हुआ था, ऊपर की ओर सूँड़ किये हुए अधमरे गजराजों की सूँड़ों से कबन्ध आक्रान्त थे, सवारों के मर जाने के कारण अनियन्त्रित (नियन्त्रणरहित) हाथी, घोड़ों ने ऊँचे–ऊँचे कबन्धों को गिरा दिया था, रो रहे, चिल्ला रहे और गिर रहे शवों से खूब खून उछल रहा था, मरे हुए पति के गले में आलिंगन करके स्थित कुलांगनाओं ने दैवात् प्राप्त शस्त्रघात से प्राण त्याग किया था, अग्निसंस्कार आदि के योग्य शवों के लाने के लिए स्वामी का आदेश पाकर शिविरों में प्रविष्ट सेना में से गये हुए रणभूमि में अलग–अलग प्रवेश करने में भयभीत होने के कारण इकट्ठे हुए बड़ी जल्दी से कार्य कर रहे बहुत से बटोहियों ने अपने–अपने आत्मीयों के शवों को वहाँ पर पहचाना। शवों को ले जाने–वाले लोगों की स्वभीष्टशवान्वेषणत्वरा से सारी रणभूमि, जिन्होंने अपने हाथों से सजीव लोगों को खींचा है ऐसे सेवकों से, व्याप्त थी ॥२५–३५॥ वहाँ पर सैकड़ों रुधिर–नदियाँ बह रही थी, उनमें केश ही सेवाल थे, मुख ही कमल थे, चक्र ही आवर्त थे। रक्त के महानद बह रहे थे जो ऊपर तैर रही बड़ी–बड़ी तरंगों से पूर्ण थे, अधमरे मनुष्य शरीर में लगे हुए हथियारों को निकालने में व्यग्र थे, विदेशमें मरे हुए लोगों के अंगभूषण, हाथी और घोड़े शोक से रोदनपूर्वक दिये गये थे। वहाँ पर लोग मरते समय पुत्र, इष्ट मित्र, माता, देवता और परमेश्वर का स्मरण करते, 'हा हा ही ही' आदि कराहना मर्मपीड़ा को सूचित करता था, पराक्रम दर्शाये बिना ही मर रहे दुर्भाग्य

🔔 पेट की बाईं ओर स्थित एक मांस की ग्रन्थि पिण्डभार्या कही जाती है।

से आक्रान्त कितने ही शूरवीर अपने भाग्य को कोस रहे थे, हाथियों के साथ युद्ध करने में असमर्थ हाथियों के आगे स्थित मृतप्राय शरीरवाले योद्धा कहीं कुचल न जायें, इस भय से देवताओं की प्रार्थना करते थे ॥३६-३९॥ मर रहे योद्धाओं पर अशुर लोगों ने पादाघातादिरूप महती अवज्ञा से जो अपराध किया, उससे वे भाग रहे थे, अतएव वे रुधिर के आवर्तों से युक्त होने के कारण भीषणतम स्थानों में भी बिना किसी हिचक के जाने को तैयार थे ॥४०॥ मर्मच्छेद करनेवाले बाणों के प्रहार से उत्पन्न पीड़ा से जन्मान्तरों की पापराशि का अनुमान होता था, भाग रहे कबन्धों को बाँधकर वेतालों ने रुधिरपान के लिए अपने मुखों को प्रवृत्त किया था, रुधिर के बड़े-बड़े तालाबों में तैर रहे छत्र, ध्वज और सुन्दर चँवर ही वहाँ पर कमल थे, रक्त के तालाबों में संध्याकाल की लालिमा के प्रतिबिम्बित होने पर लाल तेजसमूह रूप रक्त कमल को वह (समरभूमि) चारों ओर बिखेर रही थी। वह रणभूमि क्या थी, आठवाँ रुधिरपूर्ण समुद्र था, रथ और रथों के पहिए उसमें क्रमशः पर्वत और आवर्त थे, पताकारूपी फेन-समूह से वह युक्त था, सुन्दर चँवर ही उसमें बुद्बुद थे। उसमें रथ औंधे गिरे हुए थे, अतएव वह भूमिके कीचड़ में धँसे हुए नगर के तुल्य प्रतीत होता था, जिसमें उत्पात वायुसे (भीषण अन्धड़ से) वृक्ष तोड़े-मरोड़े गये हों ऐसे घने वन के समान, प्रलयकाल में जले हुए जगत् के सदृश और महामुनि श्रीअगस्त्यजी द्वारा पिये गये समुद्र के समान लगता था, अतिवृष्टि से उजड़े हुए देश के तुल्य उससे मनुष्य हट गये थे ॥४१-४५॥ आभूषणों, बाणों, भालों से सारा युद्धस्थल व्याप्त था, भुशुण्डी के समूहों का वहाँ चारों ओर ढेर लगा था, वहाँ पर सैकड़ों मदोन्मत्त हाथियों के आकार के मुर्दे और सैकड़ों महान् अजगरों के आकार के तोमर और मुद्गर थे ॥४६॥ बह रही रुधिर की नदी के अगल बगल लगे हुए मुर्दों पर गड़े हुए कुन्त ही उन्नत वृक्ष थे, वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानों चट्टानों के ऊपर उगे हुए घने ताल के झुरमुट हों। हाथियों के विभिन्न अंगों में चुभे हुए हथियारों के समूह रूपी वृक्षों के किरण रूपी फूल वहाँ पर जहाँ तहाँ बिखरे थे, सफेद चीलों द्वारा खींची गई अंतड़ीरूपी रस्सियों से युद्ध भूमिका आकाशमण्डल मानों जालों से छा गया था ॥४७,४८॥ रुधिर की नदी के तीर पर लगे हुए ऊँचे ऊँचे भाले ही उसमें ऊँचे ऊँचे वन वृक्ष थे और रुधिर के कुण्डों के ऊपर स्थित पताकाएँ ही कमलवृन्द थे। रुधिर के कीचड़ में फँसे हुए जन अपने अपने मित्रों को पुकारते थे। मत्त मातंगों के शवों से कुछ निकले हुए अंगभग्न लोगों द्वारा युद्धभूमि कातर दृष्टि से देखी गई थी, हथियारों से जिनकी लताएँ कट गई थी ऐसे वृक्षों से कबन्धों का सन्देह होता था, रुधिर की नदियों में बह रहे हाथियों के मस्तक और अम्बारी ही वहाँ पर नौकाएँ थी ॥४९-५१॥ रुधिर के प्रवाह में चमक रहे सफेद वस्त्र ही वहाँ पर फेन समूह था, चलने के लिए आज्ञप्त और शीघ्रता करनेवाले सेवकों द्वारा वहाँ पर मनुष्य पहिचाने जा रहे थे ॥५२॥ कबन्ध और नये नये दानव इधर उधर गिर रहे थे। ऊपर को खड़े हुए बड़े बड़े छेदवाले चक्रों के समूह द्वारा सेना से भाग रहे पुरुष काटे गये थे। वहाँ पर रुधिरके शब्द से युक्त 'भन् भन्' और 'फूत्कार' रूप अधमरे प्राणियों के शब्द हो रहे थे, चील आदि पक्षी शिलाओं पर गिर रही रक्तधारा को पीने के लिए अपने परों की धूलि उड़ा

रहे थे। वहाँ पर सुन्दर ताड़ के वृक्षों के समान और ताड़ से भी ऊँचे वेतालों ने ताल शब्द के साथ ताण्डव नृत्य आरम्भ कर दिया था अतएव वह स्थान और संकटपूर्ण हो गया था, औंधे गिरे हुए (अस्त-व्यस्त) रथों की लकड़ियों के अन्दर जीवित योद्धा थोड़ा बहुत छिपे हुए थे ॥५३-५५॥ शवों के ढेर के अन्दर विद्यमान जीवित योद्धा से स्पन्दयुक्त शव वहाँ पर स्पन्दन की भीति देते थे यानी मालूम होता था कि शव में स्पन्दन क्रिया हो रही है। रुधिर के कीचड़ से जिनका मुँह भरा था और थोड़ा सा जीवन जिनमें शेष था, ऐसे शवों पर वहाँ बड़ी तरस आती थी ॥५६॥ जिन योद्धाओं में कुछ ही जीवन शेष था, उन्होंने खाने के लिए गर्दन उठाए हुए कुत्ते और कौओं को बड़े क्लेश से देखा यानी उन्हें भक्षणोन्मुख देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ, जहाँ तहाँ एक ही मांसपिण्डों को खाने के लिए उत्सुक कौए, कुत्ते, गीदड़ आदि का युद्ध एवं तज्जनित कोलाहल हो रहा था और जहाँ तहाँ एक ही मांस-पिण्ड के लिए युद्धेच्छा से मरे हुए मांसाहारी जीव कौए, कुत्ते, गीदड़ आदि बिखरे पड़े थे ॥५७॥ वह रणभूमि क्या थी मृत्यु का उद्यान था। मर कर इधर उधर गिरे हुए असंख्य घोड़े, हाथी,नर, नरपति, रथ और काटी गई ऊँटों की गरदनों से निकले हुई रुधिर के प्रवाह से सुन्दर अनेक नदियाँ वहाँ पर बह रही थी, खून से लथपथ (गीले) हथियार ही लताएँ थी। उक्त रणोद्यान प्रलयकाल में शैलयुक्त जगत् के समान सम्पूर्ण विध्वस्त हो गया था ॥५८॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

उनतालीसवाँ सर्ग

सूर्य के अस्तसमय का, राक्षस और वेतालों से परिपूर्ण सन्ध्या का और
रात्रि में अत्यन्त बीभत्स रणभूमि का वर्णन।

श्रीवशिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, तदुपरान्त अस्त्र-शस्त्रों के तेज से जिसका पराक्रम मन्द पड़ गया है, ऐसे रक्त से लथपथ वीर के समान स्वच्छ आकाश में मन्द प्रतापवाले अस्तचलोन्मुख अतएव लाल सूर्य को काल ने समुद्र में डुबा दिया ॥१॥ पहले आकाशरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित रणभूमि के रुधिर की कान्ति ने सूर्यरूप अश्वारोही का सिर कटने पर आकाश का त्याग कर दिया। क्षणभर के लिए सन्ध्या ने आगमन किया ॥२॥ पृथिवी, पाताल, आकाश और दशों दिशाओं से प्रलयकाल के समुद्र की जलराशि के तुल्य वेताल आये, जो सम्पूर्ण दिशाओं का परिवेष्टन करने से वलयाकार प्रतीत होते थे और खूब करताल बजा रहे थे। सान में रखकर खूब तेज की गई अन्धकाररूपी तलवार से दिनरूपी गजराज का मस्तक काटने पर सन्ध्यारागरूपी रुधिर से लाल तारामण्डलरूपी गजमौक्तिक बिखर पड़े ॥३,४॥ जैसे प्राणरहित, मोह से अन्धकारमय और जीवनावस्था में जीवन से प्रेम करनेवाले मृतकों के हृदयों में प्राणों द्वारा शब्दायमान कमल संकोच को प्राप्त होते हैं, वैसे ही हंस आदि जीव जिनसे हट गये हैं, अन्धकार से अन्धे बने हुए जलपूर्ण तालाबों में पहले भँवर आदि के कारण शब्द कर रहे कमल संकोच को प्राप्त हो गये ॥५॥ जिनके पंख देह से सटे थे और जो क्लेश से

ऊपर को अपनी गर्दन किये थे, ऐसे पक्षीगण मृत योद्धाओं के शरीरों में आयुधों की नाईं घोंसलों में क्षणभर में निद्रादेवी की गोद में पहुँच गये थे ॥६॥ जैसे वीरों के पक्ष में विजयलक्ष्मी का हृदय खिल जाता है, वैसे ही समीपवर्ती चन्द्रमा के सुन्दर आलोक (चाँदनी) से युक्त कुमुद आदि फूलों का हृदय खिल उठा। जैसे रणभूमि रुधिर रूपी जल से परिपूर्ण होती है, उसमें योद्धाओं के अंगों में बाण छिपे रहते हैं और मुखरूपी कमल म्लान रहते हैं, वैसे ही कमलों के तालाब सन्ध्या की लालिमा के प्रतिबिम्बित होने से लाल जल से भरे थे, कमलों में भँवरे बन्द थे और उनके मुख के तुल्य कमल संकुचित हो गये थे ॥७,८॥ ऊपर आकाशरूपी तालाब तारारूपी कुमुदों से (कुँईयों से) विभूषित हुआ और नीचे का जलतालाब कुमुदरूपी ताराओं से चमकने लगा ॥९॥ जैसे बाँध से रहित जल चारों ओर फैल जाता है, वैसे ही अन्धकार में पहले बिछुड़े हुए फिर मिलने पर भी पहिचान न सकने के कारण एक दूसरे से डरे हुए जीव चारों ओर भागते थे। गा रहे वेतालों के झुण्ड से रणस्थली परिपूर्ण थी और उसमें जहाँ–तहाँ नर कंकालों के अंक में बैठे हुए और बस रहे सफेद चील और कौए अठखेलियाँ करते थे। रणभूमि में काष्ठ की अनेक चिताएँ जल रही थी, उनकी ज्वालाओं से युक्त वह तारागणों से परिवेष्टित आकाशमण्डल के समान दमक रही थी, वहाँ पर पक रहे तथा पच–पच शब्द कर रहे मेदा और मांस से पूर्ण अग्नि थी, सर्वांग की हड्डियों के टूटने से शब्द करती हुई अनेक चिताएँ वीरों की नाईं प्रधानरूप से प्रकाशमान थी, वेतालों की स्त्रियाँ जल–क्रीड़ाओं की तरह चिताओं में छिर रही थी। वह कुत्ते, कौए, यक्ष और वेतालों के कर्णकटु कोलाहलों से भीषण थी, प्राणियों के गमन और आगमन से उड़ते हुए वनों की तरह थी, डाकिनियाँ वहाँ पर रुधिर, मांस, चर्बी, और मेदा के हरण में व्यग्र थी। वहाँ पर पिशाचों ने जो मांस खाया था, वह उनके ओठों से गिर रहा था, बीच–बीच की चिताओं में पिशाचों द्वारा खून से भरे हुए शव देखे जा रहे थे, पूतनाएँ अपनी गोद में बड़े–बड़े शवों को ले जा रही थी। वहाँ पर उद्धत नृत्य में उग्र कुष्माण्डों के (ऊँचे पेटवाले पिशाचों के) मण्डल के बड़े–बड़े उदर थे, शवों के मुख के पास प्रलाप की नाईं 'छम–छम' ज्वाला के शब्द हो रहे थे, मेदा और रुधिर के गीले धुएँ से वह रणभूमि मेघयुक्त सी थी। वहाँ पर रूपिका (एक प्रकार की पूतना) बह रही रुधिर नदी के वेग में जमकर खड़ी हुई अतएव भूचरी सी मालूम पड़ रही थी। वहाँ पर नाना प्रकार के वेताल शवपिंजरों को खींचने में अपने कुल के अनुरूप किलकारियाँ भर रहे थे। मरे हुए हाथियों के उदररूप पालने में वेतालों के बालक सो रहे थे। एकान्त रण–प्रदेश में राक्षस अपनी पानक्रीड़ा में व्यस्त थे ॥१०–१९॥ मदोन्मत्त वेतालों में परस्पर कलह होने पर चिताओं के आधे जले काष्ठों द्वारा हुए उनके संग्राम से सारी रणभूमि जगमगा उठी। वहाँ वायु बह रहे रुधिर और वसा की मिश्रित गन्ध से युक्त था एक प्रकार की पूतनाओं की पेटिकाओं से निकले हुए रट–रट शब्द हो रहे थे। आधे पके हुए शव के आस्वादन में लुब्ध यक्षों का कलह बढ़ रहा था। बंग, कलिंग, अंग, तरंग आदि देशों के पुरुषों के ऊँचे–ऊँचे शरीरों में राक्षस और चील आदि पक्षी (मांसभक्षणार्थ) चिपट रहे थे। तारापात के तुल्य दाँतों से हँस रही रूपिकाएँ संमुखस्थित

मूर्तिमती ज्वालाओं से युक्त–सी प्रतीत हो रही थी। रुधिर के मारे उछलकर भूमि में गिर रहे वेतालों के बीच में खून पीनेवाली पूतनाएँ परिहास कर रही थी। वहाँ पर योगिनीगण के नायक पिशाचों द्वारा आहत होकर समीप में आ रहे थे, चारों ओर बिखरी हुई आँतड़ीरूपी महावीणाओं द्वारा वादन किया जा रहा था। वहाँ पर पिशाचों की वासना से पिशाच बने हुए मनुष्य उछल कूद रहे थे, पूतना के दर्शन से जनित अपूर्व भय से अच्छे–अच्छे योद्धा मृतप्राय हो रहे थे, कहीं पर वेतालों और राक्षसों के आनन्दोत्सव मनाये जा रहे थे, पूतनाओं के कन्धों से गिरे शवों से निशाचर भी भयभीत हो रहे थे, आकाशसे टकरानेवाले अपूर्व भूतों के पिटारों से सारी रणभूमि व्याप्त थी। वहाँ मर रहे मनुष्य के मांस को बड़े प्रयत्न से छीन रहे थे, भक्ष्यकी अपेक्षा रखनेवाले अपने पक्षों में वहाँ पर शवों की राशि बिखेरी गई थी। लोमड़ियों के मुख से निकली हुई अग्नि की ज्वालाओं से पूर्ण संज्ञा को प्राप्त हुए और खून से लथपथ पुरुषों से चारों ओर रणभूमि ऐसी प्रतीत होती थी, मानों नये–नये अशोक–पुष्पों के गुच्छे उड़ रहे हों ॥२०–२८॥ वहाँ पर वेतालों के बालक कबन्धों के कटे हुए कन्धों में क्रीड़ा–व्यग्र थे। यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि के आकाश में उड़ रहे उल्मुक (अर्धदग्ध काष्ठ) दीप्त हो रहे थे ॥२९॥ वहाँ पर आकाश, पर्वतों के निकुंज और गुफाओं के मध्य में पिण्ड के समान घने तमोरूप मेघों का समूह था। चंचल प्राणियों के वेग से आकुल अतएव प्रलयकाल के वायु से लोक, लोकोंमें रहनेवाले जल और उनके उपकरण जिसमें कँपाये गये हैं, ऐसे ब्रह्माण्डों के तुल्य वह रणांगण था ॥३०॥

उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चालीसवाँ सर्ग

राजा विदूरथ के सोने पर सरस्वती और लीला का गृहप्रवेश और आतिवाहिक देह का तत्त्व वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, निशाचरों के कारनामों से अत्यन्त घोर रणांगण में यमदूतों और निकृष्ट श्रेणी के जीवों की (भूत, पिशाच आदि की) चेष्टाओं के दिन में मनुष्यों के यथोचित आचरण की नाईं पूर्वोक्त प्रकार से सम्पन्न होने पर हाथ से पकड़ने के योग्य यानी निबिड़ अन्धकार राशि से जिस में साफ साफ दीवारें बनी थी ऐसे रात्रि रूपी घरमें भक्ष्य पदार्थों की प्रचुरमात्रा में प्राप्ति होने पर वस्त्र पसार कर माँगना जिनसे कोशों दूर भाग गया था ऐसे भूतगणों के क्रीड़ा करने पर निद्रा से आक्रान्त दशों दिशाओं में अन्धकार का संचार होने पर कुछ खिन्न से हुए उदाराशय लीलापति ने प्रातःकाल के कार्य में सलाह देने में दक्ष मन्त्रियों के साथ भी विचार किया, तदन्तर चन्द्रमा के सदृश आकारवाले बर्फ के सदृश शीतल शयन पर नेत्र कमलों को बन्दकर एक क्षण में निद्रा की गोद में विश्राम लिया ॥१–५॥ तदनन्तर उन दोनों ललनाओं ने पूर्वोक्त मण्डपाकाश को छोड़कर उस घर में जैसे वायु सुराखों से कमल की कली के अन्दर प्रवेश करता है, वैसे ही झरोखों के सुराखों से प्रवेश किया ॥६॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : विद्वन्मूर्धन्य, इतना बड़ा चार हाथ का यह स्थूल शरीर कमल की ताँत के समान सूक्ष्म सुराख से कैसे जल्दी प्रवेश कर गया ? ॥७॥ श्रीवसिष्ठजी ने

कहा : हे अनघ, जिसको यह भ्रम रहता है कि यह शरीर आधिभौतिक है, उस पुरुष का यह शरीर सूक्ष्म छिद्र से नहीं जा सकता ॥८॥ इस शरीर ने मुझे यहाँ प्रवेश करने से रोक दिया, अतः इस छिद्र में मैं नहीं समा सकता, क्योंकि मनुष्य शरीर का स्वभाव ऐसा ही है। जिसकी ऐसी बुद्धि पैनी आत्मा को स्थूल देह स्वरूप समझती है, वह अगमन का ही अनुभव करता है ॥९॥ किन्तु जिस पुरुष को, स्थूल मनुष्य देह में तादात्म्यबुद्धि न होने और मेरा एकमात्र आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर है, यह निश्चय होने के कारण, पहले की दृढ़वासनाओं से अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र में भी जाने में समर्थ हूँ, ऐसा सैकड़ो बार अनुभूत है, वह पुरुष उत्तरकाल में स्थूल देह की अनुरुप निरोध आदि क्रियाओं से युक्त कैसे हो सकता है ? क्योंकि वह अतिसूक्ष्म छिद्र में गमन करनेवाले चेतन का अंशस्वरूप ही है ॥१०॥

बाहर भी वस्तुशक्ति का स्वभाव वैसे ही एकरूप देखा गया है, ऐसा कहते हैं।

जैसे जल कभी ऊपर को नहीं जाता और अग्नि कभी नीचे को नहीं जाती, वैसे चिति का भी जैसा स्वभाव है, वैसी ही वह रहती है ॥११॥

स्थूल देह में आत्मबुद्धि न रखनेवाले योगी, पिशाच आदि को भी जब स्थूलदेहजनित निरोधदुःख नहीं होता, तब द्वैतमात्र के अध्यास से रहित तत्त्वज्ञानियों को वह दुःख नहीं होता, इसमें तो कहना ही क्या है ? इस आशय से कहते हैं।

छाया में बैठे हुए पुरुष को ताप का अनुभव कहाँ से हो सकता है ? परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर उससे अतिरिक्त पदार्थ का किसी को अनुभव नहीं होता ॥१२॥

अधिष्ठान रूप ज्ञान में स्थूलता, सूक्ष्मता आदि शक्तियों का आविर्भाव होने पर भी चित्त में स्थूलत्व आदि कैसे प्राप्त होते हैं ? इस पर कहते हैं।

जैसी संवित् है, वैसा ही चित्त है, संवित् ही चित्तरूपता को प्राप्त हुई है। यदि किसी को यह सन्देह हो कि उसका अन्यथाभाव (संवित् आकारता) कैसे होता है ? तो इस पर कहते हैं। बड़े भारी प्रयत्न से वह फिर अन्य अवस्था को प्राप्त की जाती है ॥१३॥

ज्ञानप्रयत्न से अन्यथाभाव का उदाहरण देते हैं।

यह 'रज्जू' है, यों प्रयत्नपूर्वक रज्जुपदार्थ का निश्चय होने पर रज्जू में सर्पज्ञान निवृत्त हो जाता है, अन्यथा (प्रयत्न न होने पर) वह ज्यों-का-त्यों बना रहता है ॥१४॥

जैसे चित्त संवित्-शक्ति का अनुसरण करती है, वैसे ही चेष्टा भी चित्त का अनुसरण करती है, यह भी प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

जैसी संवित् होती है, वैसा ही चित्त होता है और जैसा चित्त रहता है वैसी चेष्टाएँ भी होती हैं, यह बालक तक को सुविदित है, फिर दूसरे को यह क्यों न सुविदित होगा ? ॥१५॥

स्थूल शरीर के समान आतिवाहिक चित्तशरीर का भी निरोध क्यों नहीं होता इस पर कहते हैं।

जो स्वप्न के पुरुष की नाईं और मनोरथ निर्मित प्रतिमा की नाईं केवल आकाशमात्रशरीर है (शून्यात्मकशरीर है) उसे कौन कैसे रोक सकता है ? ॥१६॥

यदि कोई शंका करें कि भौतिक शरीर ज्ञानबलसे चित्त शरीर कैसे बन जाता ? इस शंका पर कहते हैं।

वास्तव में सभी लोगों का सभी जगह चित्तमात्र ही शरीर है, किन्तु कहीं पर हृदय में स्थित ज्ञान के बल से वह कहीं आता हुआ–सा प्रतीत होता है। आता हुआ–सो प्रतीत होता है, वह भ्रम है, वास्तव में प्राणी चित्त से अतिरिक्त नहीं है, यह भाव है ॥१७॥

प्राणियों की चित्त से पृथक् सत्ता नहीं है, इसका उपपादन करते हैं।

परमात्मा की इच्छा के अनुसार ही सब प्राणियों के उत्पत्ति, विनाश आदि होते हैं, जो कि आदि सृष्टि में स्वाभाविक अज्ञान अथवा स्वाभाविक कर्म से उत्पन्न होते हैं, स्थूल भूत और भौतिक पदार्थ द्वैत कहलाते हैं, उनका मेल यानी एकदेहभावना ऐक्य होता है। उसमें कारण है पंचीकरण, वह बाद में होता है ॥१८॥

चित्त और अव्यक्त का भी शुद्ध चित्त से पृथक् अस्तित्व नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप चित्ताकाश, चिदाकाश और तीसरा भूताकाश इन तीनों को एक ही समझिए, क्योंकि अधिष्ठानसत्ता के बिना उनका स्फुरण ही नहीं होता। यानी जिसका स्फुरण जिसकी सत्ता के अधीन है, वह उससे अतिरिक्त नहीं होता, ऐसा नियम है, यह भाव है ॥१९॥

यद्यपि स्थूलशरीर और चित्तशरीर दोनों ही अधिष्ठान सत्ता के अधीन सत्तावाले हैं, फिर भी स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर में विशेषता है, वह यह कि वह निरोध का हेतु नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप इस चित्तशरीर को ऐसा समझिये कि इसने सम्पूर्ण पदार्थों में आविर्भावशक्ति प्राप्त की है। कहीं पर भी इसके लिए रोकटोक नहीं हो सकती, क्योंकि उसका उदय (आविर्भाव) संवेदन यानी पूर्व वासना और कर्म का अनुसरण करनेवाले पदार्थों की स्फूर्ति के अनुसार होता है, उसका स्वभाव बाहर की वस्तु का अनुसरण करना नहीं है, क्योंकि संवेदन के अनुसार ही उसकी इच्छा होती है। भाव यह कि वह रजतरूप से ज्ञात शुक्ति (सीप) की भी इच्छा करता है, शुक्ति का अनुसरण कर उसकी उपेक्षा नहीं करता ॥२०॥

निष्कर्ष यह कि स्थूल शरीर बाह्य वस्तुओं का अनुसरण करता है, अतः उसका निरोध होने पर भी संवेदनेच्छामात्र के अनुसारी चित्तशरीर का निरोध नहीं हो सकता सब पदार्थों में उसका आविभार्व प्राप्त ही है, यह जो कहा था, उसीका विस्तार से प्रतिपादन करते हैं।

चित्तशरीर त्रसरेणु के भीतर प्रविष्ट हो जाता है, आकाश के मध्य में स्थित होता है, अंकुर के कोष में लीन हो जाता है और पल्लव में रस बन जाता है। जलवीचियों में (लहरों में) उल्लास करता है और शिलाओं के मध्य में नाचता है। मेघ बन कर जल बरसाता है, शिला बन कर एक जगह स्थिर होता है, जब इच्छा होती है तब आकाश में जाता है, पर्वतों के अन्दर स्थित होता है, जिसमें तनिक अवकाश नहीं है ऐसा परमाणु बन जाता है, वह

रूप रंगों को धारण कर रहा पर्वत बन जाता है ऐसा पर्वत कि जो पृथिवी को धारण करता है, दृढ़मूल है और आकाशचुम्बी है, ऐसा पर्वत केवल बाहर ही नहीं होता, किन्तु देह के अन्दर भी होता है (卐) कभी आकाश बन जाता है, कभी जैसे समुद्र अपने से अभिन्न आवर्त (पानी का भँवर) रचनाओं को धारण करता है, वैसे ही यह चित्तशरीर अपने स्वरूप से अभिन्न करोड़ों ब्रह्माण्डों को चारों ओर धारण करता है ॥२१–२५॥ जिसका कर्मानुसारी प्रबोध उद्वेग से विपर्यस्त नहीं हुआ ऐसा चित्तशरीर सर्ग के आदि में आकाशादि क्रम से महान् (ब्रह्माण्डात्मा) होकर तदुपरान्त प्रारब्ध कर्मानुसारिणी प्रवृत्ति को जानता है ॥२६॥ जैसे मृगमरीचिका आदि में मिथ्या जल का उदय होता है एवं जैसे स्वप्न में यह स्फुरण वन्ध्यापुत्र हे ऐसे भ्रम का उदय होता है, वैसे ही यह आकाशात्मा भी स्वनिष्ठ असत्यबुद्धि द्वारा महान् (ब्रह्माण्डात्मा) होकर प्रस्तुतता को प्राप्त हुआ है ॥२७॥

सूक्ष्मतम चित्त ही सम्पूर्ण जगत् है, सर्वशक्तिशाली है उसको जब तक तत्त्व का परिज्ञान हो जाता है, तब वही व्यवहार में सर्वत्र अप्रतिहत और स्वतन्त्र हो जाता है, ऐसा आपने कहा। इस पर हमारी जिज्ञासा है कि क्या हम लोगों का प्रत्येक चित्त ऐसी शक्ति रखता है या नहीं ? प्रथम पक्षमें प्रत्येक पुरुष के चित्त में भिन्न–भिन्न रूप से विद्यमान जगत् सद् हो जायेगा। द्वितीय पक्ष में चित्त से उत्पन्न न हुआ जगत् चित्त से विलक्षण ही होगा, क्योंकि वैसे ही सब लोग देखते हैं, या ऐसी परिस्थिति में ज्ञान से चित्त का विनाश होने पर भी जगत् की अनुवृत्ति ही होगी, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

महाराज, जो शक्ति आपने कही उस शक्ति से युक्त हम लोगों का चित्त है अथवा नहीं ? पहले पक्ष में प्रत्येक चित्त में भिन्न जगत् सद्रूप क्यों नहीं होगा और दूसरे पक्ष में वह चित्त से अतिरिक्त क्यों न होगा, क्योंकि ऐसा ही सब लोग देखते हैं ॥२८॥

पूर्वोक्त पक्षों से प्रथम पक्ष का ही अंगीकार कर श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, हर एक का जो चित्त है वह इस प्रकार की शक्ति से सम्पन्न है, प्रत्येक चित्त में जगत् का भ्रम पृथक् पृथक् रूप से उदित हुआ है। क्षण के तुल्य अनेक जगत् किसी की दृष्टि में निमेष भर में उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं और किसी की दृष्टि में कल्प से उत्पन्न और विनष्ट होते हैं इसमें आप क्रम सुनिये ॥२९,३०॥ जिस मृत्युरूपी मूर्छा का हरेक आदमी अनुभव करता है, हे सुमते, उसे आप महाप्रलयरूपी रात्रि समझिये, महाप्रलयरूपी रात्रि का अन्त होने पर सभी लोग अलग अलग सृष्टि का विस्तार करते हैं। जिसका जैसा ज्ञान और जैसे कर्म होते है, वह तदनुरूप सृष्टि का दर्शन और अनुभव करते है, भाव यह कि जैसे रोगी चित्त–व्यामोह से पर्वतों का नृत्य देखता है, वैसे ही जीव अनादिस्वाभाविक अविद्या के प्रभाव से उत्पन्न तीन अवस्थाओं के संकल्पों को देखता है ॥३१,३२॥ महाप्रलयरूप रात्रि का अवसान होने पर जैसे समष्टिचित्तशरीर

卐 देह के अन्दर पर्वतभाव आदि स्वप्न में प्रसिद्ध ही है, इन्द्रजाल आदि में बाहर भी चित्त शरीर का पर्वतभाव देखा जाता है।

हिरण्यगर्भ समष्टिभोग्यप्रपंच का विस्तार करते हैं, वैसे ही व्यष्टिचित्त शरीर प्रत्येक जीव भी मृत्यु के अनन्तर अपने–अपने भोग्य स्वप्नादि व्यष्टि–प्रपंच का विस्तार करता है यानी अनुभव करता है ॥३३॥

'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' (जिसका मन से स्मरण करता है, उसे वाणी से बोलता है, उसे कर्मेन्द्रियों से करता है) इस श्रुति से और सब लोगों के अनुभव से स्मृति के तुल्य सम्पूर्ण क्रियाएँ एकवस्तुविषयक हैं, यह निश्चित है, स्मृति भी यदि स्मृति का कारण अनुभव सत्य हो तो यथार्थ होती है और उसके कारणभूत अनुभव के मिथ्या होने पर असत्य होती है। ऐसी परिस्थिति में हम लोगों में भ्रान्ति प्रचुरमात्रा में विद्यमान है और हम लोगोंका संकल्प असत्य है, अतः हमारी स्मृति के यथार्थ होने के कारण उससे उत्पन्न कतिपय स्वप्न आदि प्रपंच भले ही मिथ्या हों, किन्तु हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) सर्वज्ञ होने से भ्रान्ति शून्य हैं और सत्यसंकल्प हैं, अतः उनकी स्मृति यथार्थ कदापि नहीं हो सकती, फिर उनके द्वारा सृष्ट प्रपंच मिथ्या कैसे ? इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, जैसे व्यष्टि जीवों को मरने के बाद तुरन्त स्मृति से अपने द्वारा रचित सर्ग का अनुभव होता है, वैसे ही समष्टि जीव (ब्रह्मा) भी चिरकालिक महाप्रलय के बाद अपनी यथार्थ स्मृति से सृष्ट प्रपंच का अनुभव करते हैं, अतः 'उनकी स्मृति से उत्पन्न प्राक्तन सत्य पदार्थ ही था, कल्प के सत्य विश्व के कारण हो सकते हैं, अतः विश्व अकारण नहीं है। विश्व ब्रह्मा से अतिरिक्त कारण से शून्य है, ऐसी जो पहले प्रतिज्ञा की थी, उस मत का व्याघात हुआ, यह भाव है ॥३४॥

जैसा आप (श्रीरामचन्द्रजी) कहते हैं, वैसा होता, यदि ब्रह्मा की आदि सृष्टि यथार्थ अनुभव से उत्पन्न सृष्टि की हेतु स्मृति होती तो पहले पहल हिरण्यगर्भपद को प्राप्त हुए उपासक को उक्त स्मृति नहीं हो सकती, कारण कि उसकी स्मृति उपासना से प्राप्त संस्कार से उत्पन्न है, यथार्थ अनुभव से उत्पन्न नहीं है। पूर्व जन्म की उपासना व्यष्टि की ही है। व्यष्टिका समष्टिभाव चिन्तन यथार्थानुभव नहीं है। इसलिए यथार्थ उपासना के संस्कार से उत्पन्न स्मृति से जन्य होने के कारण आदि सर्ग में सत्यत्व का प्रसंग नहीं आ सकता। पहले कल्प के कोई भी सर्वज्ञ पुरुष द्वितीय कल्प में नहीं कर सकते, क्योंकि सभी पहले कल्प में ही मुक्त हो चुके। द्वितीय कल्प में आदि सृष्टि की हेतुभूत स्मृति पूर्वकल्प की सृष्टि में अनुभूत मिथ्या पदार्थ विषयक ही है, इसलिए कहीं भी सृष्टिसत्यता का प्रसंग नहीं हो सकता, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, महाप्रलय में सभी हरि, हर आदि विदेह मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं, अतः पूर्वसर्ग की स्मृति का संभव ही कहाँ है ? ॥३५॥ तत्त्वज्ञानी हम लोग भी अवश्य मुक्त हो जाते हैं फिर ब्रह्मा आदि क्यों न विदेहमुक्त होंगे ? श्रीरामजी, इस लोक में आपके सदृश जो अन्य जीव हैं, उनकी मृत्यु और उत्पत्ति के हेतुभूत सृष्टि में पूर्वजन्म के मिथ्या पदार्थों के वासनानुभव से जन्य ही स्मृति कारण होती है, क्योंकि

उनका मोक्ष नहीं होता ॥३६,३७॥

यदि श्रीरामचन्द्रजी को यह शंका हो कि हिरण्यगर्भ की सृष्टि प्रकृति से महत्, अहंकार आदि क्रम से होती है, ऐसा पुराण आदि में सुना जाता है। जीव की सृष्टि की समता कैसे हो सकती है, तो उसमें भी प्रकृति, महत् आदि के भ्रम का उपपादन करते हैं।

मृत्युरूपी मूर्च्छा के अव्यवहित उत्तर क्षण में अन्दर तनिक तनिक उन्मेष होता हुआ (स्फुरित होता हुआ) भी बाहर जो जीव उन्मेषरहित ही रहता है, पुराण आदि शास्त्रों में उसकी वह अवस्था 'प्रधान' यानी मूलप्रकृति कही गई है ॥३८॥

'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' (आकाश में ही वह ओत और प्रोत है) इत्याति श्रुति से आकाशादि शब्द भी उसमें प्रसिद्ध हैं, ऐसा कहते हैं।

पूर्वोक्त मूलप्रकृति आकाश प्रकृति नाम से भी शास्त्रों में कही गई है, यह अव्यक्त यानी मूल प्रकृति जड़ भी है और अजड़ भी है। चित् का प्रतिबिम्ब पड़ने और न पड़ने से जड़ाजड़ है अर्थात् स्वभावतः जड़ है और चित्प्रतिबिम्ब पड़ने से अजड़ (चेतन) है। वह विश्वबीज मूलप्रकृति ही संस्मृति और अस्मृति की यानी सृष्टि और संहार की भी मूल कारण है और वही भव के उदय और अन्त की अवधि है ॥३९॥ वही व्योमात्मक प्रकृति जब प्रबुद्ध यानी चित्प्रतिफलित होती है अर्थात् जब उसके अहंकार का उदय होता है तब तदवस्थ आकाश से पाँच तन्मात्रा, दिशा, काल, भूत आदि सम्पूर्ण सूक्ष्म भाव उत्पन्न होते हैं ॥४०॥ तदनन्तर वे ही कुछ स्थूल होकर पाँच इन्द्रियरूप से उद्बुद्ध होते हैं। वे ही स्वप्न और जाग्रत में देहरूपसे ज्ञात होते हैं, वही जीव का आतिवाहिक स्वरूप है ॥४१॥ चिरकालिक प्रत्यय से कल्पना द्वारा स्थूल हुआ वह आतिवाहिक स्वरूप बालक की नाईं मैं आधिभौतिक हूँ, इस प्रतीति को धारण करता है ॥४२॥ तदुपरान्त स्थूल देह के आश्रित चक्षु आदि के आधीन स्थित हुई तत्-तत् देश और काल के पदार्थों की कल्पनाएँ उदित न होती हुई भी वायु की स्पन्दन क्रिया के तुल्य प्रादुर्भूत होती हैं ॥४३॥ मिथ्या ही यह जगत्-भ्रम इस प्रकार बुद्धि को प्राप्त हुआ है। यद्यपि स्वप्न में स्त्रीसंगम के तुल्य इसका अनुभव होता है तो भी यह असत् ही है।

शंका : यदि यह असत् ही है तो इसका अनुभव कैसे होता है ?

समाधान – जैसे स्वप्न में स्त्री के संगम का अनुभव होने पर भी वह असत् है, वैसे ही यद्यपि इसका अनुभव होता है फिर भी यह असत् ही है ॥४४॥

जहाँ पर वह प्राणी मरता है, वहाँ उसी को शीघ्र देखता है, वहीं पर इस भुवनाभोग को इसी प्रकार से स्थित देखता है ॥४५॥ आगन्तुक देह आदि रूप से आत्मवान् हुआ सा व्योमरूपी जीव आगन्तुक देह आदि को आत्मा समझकर निर्मल चिदाकाश में ही 'यह मैं हूँ,' 'यह जगत् है' इस व्योमरूपी भ्रम का अनुभव करता है ॥४६॥

उक्त जगद्भ्रम का ही विस्तार से प्रतिपादन करते हैं।

उस जगद्भ्रम का अनुभव करता है, जो इन्द्र आदि देवताओं, अमरावती आदि श्रेष्ठ नगरों, मेरु आदि उनके पर्वतों, सूर्य, चन्द्र और सितारों से बड़ा मनोहर है, जरा (बुढ़ापा),

मरण, दुश्चिन्ताएँ, शारीरिक क्लेश आदि से परिपूर्ण मर्त्यलोकरूप खोखले से युक्त है, इसमें अपनी इष्ट वस्तु के संपादन में और अनिष्ट वस्तु के निवारण में स्थूल सूक्ष्म चर–अचर सभी प्राणी उद्योगशील हैं, दिन, रात, कल्प, क्षण और प्रलय समुद्र, पर्वत, नदियों और उनके अधिपतियों (अधिष्ठाता देवों) से युक्त हैं। जिस जगद्भ्रम में मैं इस स्थान में इस पिता से उत्पन्न हुआ हूँ, ऐसा निश्चय रहता है, यह मेरी माता है, यह मेरी धन–सम्पत्ति है, ऐसी दृढ़ वासना जागरुक रहती है, यह मेरा पुण्य है, यह पाप है, ऐसी कल्पना बद्धमूल रहती है, मैं पहले बच्चा था, किन्तु आज युवक हूँ, ऐसी प्रतीति रहती है, यों हृदय में विलास को प्राप्त हो रहे जगद्भ्रम को देखता है ॥४७–५०॥

अब प्रत्येक जीव के उसी संसार का वनसमूह रूपसे वर्णन करते हैं।

यह संसाररूपी वन समूह प्रत्येक जीव में उदित हुआ है। उक्त संसार रूप वनखण्ड में तारे ही फूल हैं, काली मेघघटा ही चंचल पल्लव हैं, इधर उधर चल फिर रहे मनुष्य ही मृगों के झुण्ड हैं, देवता और दैत्य ही पक्षीगण हैं, आलोक्य प्रकाशपूर्ण दिन ही फूलों का रज यानी पराग है, रात्रि ही बड़े घने कुंज (लतागृह) हैं। वह समुद्ररूपी बावड़ी से पूर्ण है, सुमेरु आदि पर्वत उसके ढेले हैं, चित्तरूपी कमलबीज यानी कमलगट्टे के भीतर संस्काररूप से बैठी हुई चित्तवृत्तियाँ ही उसमें अंकुर हैं ॥५१–५३॥ जहाँ पर यह जीव मरता है, वहीं पर इस प्रकार से वर्णित वनखण्ड को एक क्षण में देखने लगता है। इस प्रकार प्रत्येक जीव में उदित हुए जगद्रूप वनखण्डों में पर्वतश्रेणियों, समुद्रसमुदायों, द्वीपों और लोकों को ब्रह्म के अन्दर देखनेवाले अनेक करोड़ ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, देवता, विष्णु और सूर्य चले गये हैं यानी नष्ट हो गये हैं ॥५४,५५॥ इस प्रकार ये मिथ्या ब्रह्माण्ड की सृष्टियाँ अनेक बार बीत चुकी हैं, बीतेगी और बीतती हैं, जो ब्रह्म में आविर्भूत हुई हैं, उन्हें गिनने की किस में सामर्थ्य है ? ॥५६॥

इस प्रकार प्रपंच के आरोपक्रम का वर्णन कर अब क्रमशः अपवाद का वर्णन करते हैं।

इस प्रकार कुड्यमय (दीवार के तुल्य स्थूल) जगत् मन के संकल्परूप मनन से अतिरिक्त है ही नहीं, क्योंकि 'त्रीणि रूपीणीत्येव सत्यम्' ऐसी श्रुति है। (🔥)

शंका – स्थूल पदार्थ स्थिर स्वभाववाले होते हैं और मन तो चंचल है, ऐसी अवस्था में विश्व की मनोमात्रता कैसे ?

समाधान – यद्यपि बाहर विश्व स्थिर प्रतीत होता है तथापि मनन करने में मन से

🔥 छान्दोग्योपनिषद् ६-४-१ में कहा है – त्रिवृत्कृत अग्नि का जो लाल रूप लोक में प्रसिद्ध है उसे अत्रिवृत्कृत तेज का रूप जानो, जो, अग्नि का शुक्लरूप है, उसे त्रिवृत् न किये गये जल का रूप जानो और जो अग्नि का काला रूप है, उसे अत्रिवृत्कृत पृथ्वी का रूप जानो। ऐसी अवस्था में जिसे तुम तीन रूपों से अतिरिक्त 'अग्नि'समझते थे, उस अग्नि का अग्नित्व गया यानी उक्त तीन रूपों का विवेक होने से पहले जो तुम्हारी अग्निबुद्धि थी वह अग्निबुद्धि गई और अग्निशब्द भी गया क्योंकि वह नाममात्र है, तीन रूप ही सच हैं। जैसे उक्त स्थल में तीन रूप से पृथ्वी अग्नि नहीं है, वे तीन रूप ही सत्य है, स्थूल अग्नि सत्य नहीं है, वेसे ही प्रकृत में मन से अतिरिक्त स्थूल विश्व नहीं है।

अपनी इच्छानुसार जाना जाता हुआ भीतर अस्थिरस्वभाव ही प्रतीत होता है, मनसे मलिन होने पर मलिन सा और मनोरथ आदिमें उत्पन्न कर दूसरी जगह रक्खा जाता हुआ सा सभी लोगों द्वारा अनुभूत होता है, उसी का इस समय आप अपने अनुभव से विचार कीजिए ॥५७॥

मन के स्वरूप का जब विचार करते हैं, तब वह साक्षी से अतिरिक्त नहीं ठहरता और साक्षी भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है, यों एकमात्र परिपूर्ण चित् का ही परिशेष रहता है, ऐसा कहते हैं।

जो अखण्ड आनन्दस्वरूप चिदाकाश है, वही मन कहा गया है, चिदाकाश से अतिरिक्त मन नहीं है और जो चिदाकाश है वही परम पद है ॥५८॥

उक्त बात का ही दृष्टान्तों से समर्थन करते हैं।

जो जल है वही आवर्त है यानी आवर्त जल से अतिरिक्त नहीं है, किन्तु आवर्त वस्तु सत् (यथार्थ) नहीं है, वैसे ही द्रष्टा ही दृश्य की नाईं स्थित है दृश्य कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है ॥५९॥ चिदाकाश का अभूत असत्य अथवा अनादि मायाकाश में अथवा सूक्ष्म भूतों के कार्यभूत चित्ताकाश में जो जीवरूप से स्फूरण है, वही नाम और रूप से नानास्वरूप को प्राप्त होनेवाला जगत् कहा जाता है। जैसे कि ऐन्द्रजालिक की मणिका आकाश में कचन (स्फुरण) बहुत प्रकार के गन्धर्वनगररूप छिद्रों से युक्त सा होता है। भाव यह कि उक्त चिदाकाश ही तत्त्व यानी परमार्थ वस्तु है ॥६०॥ मुझसे जिसका अर्थ (अधिष्ठान सन्मात्र) ज्ञात है वह जगत् शब्द परम अमृत (नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अमृत, अद्वय, ब्रह्म) है और आपसे जिसका अर्थ (आरोपितसत्ता) ज्ञात है ऐसा जगत्–शब्द परम अमृत है ही नहीं। जो 'त्वम्' और 'अहम्' शब्द की अभिलाषा करते है, वह जगत् प्रमाता भी मुझसे जाना गया परम अमृत है और आपका जाना गया जगत् प्रमाता अमृत है ही नहीं ॥६१॥

उक्त का उपसंहार कर उसका प्रकृत में सम्बन्ध जोड़ते हैं।

इससे यह निश्चित हुआ कि लीला और सरस्वती देवी का शरीर आकाशवत् सूक्ष्म था अतएव सर्वत्र जा सकती थी। उनके अत्यन्त सूक्ष्म छेद में भी प्रवेश करने में कोई रोकटोक नहीं हो सकती थी, वे दोनों निष्पाप और परमात्मा के तुल्य विशुद्ध थी ॥६२॥ अपनी स्पृहा और कामना के अनुसार सदा यत्र तत्र आकाश में आविर्भूत होती थी, इस कारण से राजा विदूरथ के घर में उनका गमन हुआ ॥६३॥ चिदाकाश का सर्वत्र सम्भव है, कहीं पर भी उसका प्रतिरोध नहीं होता। वही कलन होकर यानी मानसिक विषयों का अवधारण करने तक बाहर प्रसरण करनेवाला बनकर यथार्थ ज्ञान होता है। उस आतिवाहिक देह को सूक्ष्म ही कहते हैं, उसे कौन पुरुष किसलिए और किस प्रकार से रोक सकता है, यानी उसका निरोध किसी प्रकार भी नहीं हो सकता ॥६४॥

चालीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतालीसवाँ सर्ग

सोकर जागे हुए राजा द्वारा घर में प्रविष्ट हुई देवियों का पूजन तथा
राजा के वंश का पूर्वजन्म की स्मृति का और ज्ञप्ति द्वारा आत्मोपदेश का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी,उन दो देवियों के प्रविष्ट होने पर राजा पद्म के घर के भीतरी भाग दो चन्द्रमाओं के उदय होने पर जैसा प्रकाश होता है, वैसे प्रकाश से वह सुन्दर हो गया ॥१॥ उसमें स्पर्श होने पर बड़े भले लगनेवाले और निर्मल सुगन्धिवाले मृदु मन्दार पवन बहने लगे। उन देवियों के प्रभाव से राजा के सिवा घर के अन्य नर नारी निद्रायुक्त हो गये ॥२॥ वह सुन्दरता में नन्दन वन के तुल्य हो गया, व्याधि, पीड़ा उससे दूर हो गई, वसंत के उल्लाससे युक्त वन की नाईं और प्रातः काल के खिले हुए कमल की नाईं रमणीक हो गया ॥३॥ चन्द्रमा के द्रव के समान शीतल उनकी देह के कान्ति पटल से, अमृत से सिक्त हुए की नाईं, आह्लादित होकर वह राजा जाग उठा ॥४॥ उसने दो आसनों पर बैठी हुई मेरु के दो शिखरों पर उदित हुए दो चन्द्रबिम्बों की नाईं, दो अप्सराओं को देखा। राजा को बड़ा विस्मय हुआ, एक क्षणभर अपने मन में विचारकर जैसे शेषशय्या से चक्रपाणि भगवान् गदाधर उठते हैं, वैसे ही वह शयन से उठा ॥५,६॥ उसने सोते समय इधर-उधर अस्त-व्यस्त हुए माला, हार और धोती को अपने-अपने स्थान पर ठीक किया, सिरहाने के पास रक्खी हुई फूल की टोकरी से दास की नाईं स्वयं ही खूब फूले हुए फूल अंजलि में लिये और भूमि में ही पद्मासन बाँधकर बड़े विनयभाव से देवियों से यह कहा ॥७,८॥ हे देवियों, आपकी जय हो, आप दोनों जन्म, दुःखमयजाल और त्रिविध तापरूपी दाह-दोष को दूर करने के लिए चन्द्रकान्ति (चाँदनी) हैं, बाह्य और आभ्यन्तर अन्धकार के विनाश करने के लिए सूर्य के प्रकाशरूप हैं ॥९॥ यह कहकर राजा ने, जैसे कमल थे वैसे ही, उनके चरणकमलों पर पुष्पांजलि अर्पित की ॥१०॥ देवी सरस्वती ने, लीला के प्रति राजा का जन्मवृत्तान्त कहने के लिए, संकल्प से पास में स्थित मन्त्री को जगाया। जागे हुए मन्त्री ने अप्सराओं के सदृश मनोहररूपवाली दो देवियों को देखर उन्हें प्रणाम किया और उनके चरणों में पुष्पांजलि अर्पित कर बड़े विनय से उनके आगे उपस्थित हुआ ॥११,१२॥ देवी ने राजा से कहा : हे राजन्, आप कौन हैं, किसके पुत्र हो और कब यहाँ उत्पन्न हुए ? इस प्रश्न को सुनकर मन्त्री ने उत्तर दिया ॥१३॥ हे देवियों, यह आप लोगों का ही प्रसाद है कि जो मैं आपके सामने भी बोलने में समर्थ हो रहा हूँ। अतः हे देवियों, आप लोग मेरे स्वामी का जन्म सुनिए ॥१४॥ पहले ईक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए राजा श्रीमान् कुन्दरथ थे, 'उनके कमल के सदृश विशालनेत्र थे और उन्होंने अपने बाहुओं की छाया से आच्छादित की नाईं शत्रुओं और दरिद्रता से जनित दुःख के निवारण द्वारा पृथिवी का पालन किया। उनका चन्द्रमा के सदृश सुन्दर मुख वाला भद्ररथ नाम का लड़का हुआ। उसका विश्वरथ नाम का लड़का हुआ। विश्वरथ का बृहद्रथ नाम का लड़का हुआ। उसका सिन्धुरथनामक लड़का हुआ। सिन्धुरथ के लड़के का नाम शैलरथ पड़ा। शैलरथ से कामरथ

नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। कामरथ से महारथ पैदा हुआ। महारथ का विष्णुरथ लड़का हुआ। उसका लड़का नभोरथ हुआ। ये हमारे स्वामी राजा नभोरथ के महान् पुण्यपुंजों से समुद्रसे चन्द्रमा की नाईं उत्पन्न हुए हैं, पूर्ण चन्द्रमा के समान इनकी निर्मल आकृति है, जैसे चन्द्रमा अपनी अमृतस्त्राविणी किरणों से लोगों को आह्लादित करते है, वैसे ही इन्होंने अमृततुल्य अपने स्नेह, मधुरता, उदारता, दया आदि गुणगणों से लोगों को तृप्त कर दिया है। ये माता सुमित्रा की कोख से उनके महान् पुण्यपुंजों से, श्रीपार्वतीजी से गुह की नाईं, उत्पन्न हुए हैं। इनका शुभ नाम विदूरथ है। इनके विरक्त और मोक्षेच्छु पिताश्री, जब ये दस ही वर्ष के थे, इन्हें राज्य देकर तप करने के लिए वन में चले गये थे ॥१५-२०॥ हे देवियों, तभी से लेकर ये धर्मपूर्वक भूतल का पालन कर रहे हैं। आज हमारे पुण्यरूपी वृक्ष के फलने पर आप यहाँ प्राप्त हुई हैं ॥२१॥ हे देवियों बड़े भारी तप आदि सैकड़ों क्लेशों से भी आपके दर्शन मिलना कठिन हैं। इस प्रकार दर्शनप्रदानरूप आपके प्रसाद से ये महाराज श्रीमान् विदूरथ आज अत्यन्त पवित्र हो गये हैं, यह कहकर जब मन्त्री चुप हो गये और राजा नीचे मुखकर भूमि में पद्मासन बाँधकर चुपचाप बैठे थे तब 'राजन्, आप विवेक से स्वयं अपने पूर्वजन्म का स्मरण कीजिए' यह कह रही सरस्वती ने उनके मस्तक पर हाथ से स्पर्श किया। देवी के स्पर्श करने के अनन्तर पद्म का हृदयान्धकार यानी माया विनष्ट हो गई ॥२२-२५॥ देवी सरस्वती के स्पर्श करने पर राजा पद्म का हृदय बाहर-भीतर प्रकाशपूर्ण हो गया। राजा ने अपने पूर्व जन्मों के वृत्तान्त का, जो कि स्फुरित होता हुआ सा अन्तःकरण में स्थित था, स्मरण किया ॥२६॥ राजा ने लीला के विलास (कर्तव्य) के साथ-साथ शरीर और एकच्छत्र राज्य के त्याग को, कभी पहले अनुभवपथ में आरूढ़ न हुए भी देवी सरस्वती के वृत्तान्त को, लीला की अत्युन्नति को और अपने वृत्तान्त को जाना। उसे जानकर राजा समुद्र में गोते लगाता हुआ सा विस्मय में पड़ गया। उसने अपने मन में कहा, बड़े खेद की बात है कि संसार में यह माया फैलायी गई है ॥२७,२८॥ इस समय इन देवियों की कृपा से मुझे इसका परिज्ञान हुआ है। राजा ने कहा : हे देवियों, यह क्या बात है कि मुझे मरे एक ही दिन हुआ है, पर यहाँ मेरी आयु बीत चली है, मुझे पैदा हुए सत्तर वर्ष व्यतीत हो गये हैं। मुझे इस जन्म के अनेक कार्यों का जो स्मरण हो रहा है मुझे अपने पितामह की जो याद आ रही है, मैं अपनी बाल्यावस्था का जो स्मरण करता हूँ, युवास्था का जो स्मरण करता हूँ, मित्रों की मुझे जो स्मृति हो रही है, बन्धुबान्धव आदि परिवार का जो स्मरण हो रहा है, सो कैसे ?

अधिष्ठान चिन्मात्र ही सम्पूर्ण प्रपंच का तत्त्व है यानी यथार्थ स्वरूप है, वही अपना स्वरूप है उससे अतिरिक्त सब मायामात्र है, यों तत्त्व उपदेश करने के लिए पहले दूर देश और काल में स्थित अन्य लोक में गमन भ्रम का निवारण कर रही सरस्वती देवी ने कहा :

राजन्, मरणरूपी महामोहमयी मूर्छा के बाद तुरन्त उसी क्षण में तुम्हारे इसी घर के, उसके अधिष्ठानभूत चिदाकाश के मायारूप आवरण से तिरोहित होने पर, गिरिग्रामवाले ब्राह्मण के घर के अन्दर स्थित होने पर उक्त पद्मलोकान्तर में उसी राजमहल में उसमें भी

प्रधान राजसदन के अन्दर आकाश में ही यह ब्रह्माण्डमण्डप है। उस ब्रह्माण्डमण्डप के अन्दर यह प्रत्यक्ष देखा जाता हुआ तुम्हारा जन्म आदि आपाततः प्रतीत हो रहा है ॥२९–३३॥

शंका – तो क्या वही ब्रह्माण्ड जगत् इस प्रकार प्रतीत होता है ?

समाधान – नहीं, प्रत्येक यानी भिन्न–भिन्न जगद्–रुपी घर ब्राह्मणगृह के अन्दर है और मेरे भक्त तुम्हारा जीव भी ब्राह्मण के घर के अन्दर है ॥३४॥

उसी ब्राह्मणगृह में उसी मण्डप में उसका (तुम्हारे जीव का) भूतल है उसी घर के अन्दर यह परिदृश्यमान पाद्मसंसारमण्डल है। वहीं पर तुम्हारा यह महा–समृद्धिशाली घर स्थित है, वहीं पर निर्मल आकाशके तुल्य निर्मल तुम्हारे चित्तमें व्यवहार भ्रम का विस्तार करनेवाला यह दृश्य प्रपंच प्रतीति को प्राप्त हुआ है। व्यवहारभ्रम परम्परा की विस्तारकता का, जो कि सबको अनुभूत है, उल्लेख करते हैं। जैसे कि यह मेरा जन्म है, मेरा इक्ष्वाकु कुल है, ये इस नाम के मेरे पिता, पितामह आदि पहले हुए थे। मैं उत्पन्न हुआ, बालक रहा, जब मैं दस वर्ष का था, मेरे पिता यहाँ पर राज्य में मेरा अभिषेक कर संन्यासी हो बन को चले गये। तदुपरान्त दिग्विजय करके राज्य को कण्टकशून्य (शत्रुविहीन) बनाकर इन मन्त्रियों और नागरिकों के साथ मैं पृथिवी का पालन करता हूँ, यज्ञक्रिया करते और धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते–करते मेरी अवस्था के सत्तर वर्ष व्यतीत हो गये हैं। इस समय शत्रुसेना ने मेरे ऊपर चढ़ाई कर रक्खी है। उसके साथ मेरा भीषणयुद्ध चल रहा है, युद्ध करके मैं घर आया हूँ, इस घर में यथापूर्व स्थित हुआ हूँ। ये देवियाँ मेरे घर में प्रकट हुई हैं, मैं इनका पूजन करता हूँ। यह निश्चित बात है कि पूजित देवता मनोकामना पूरी करते हैं। इन दोनों में से एक देवी ने जैसे सूर्य की प्रभा कमल को विकास देती है वैसे ही मुझे यहाँ पर ऐसा ज्ञान दिया जो पूर्व जन्मस्मृतिप्रद है, इस समय मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, मेरे सन्देह कट गये हैं ॥३५–४४॥ मैं सम्पूर्ण दुःखों के उपरत होने से शान्त होऊँगा, निरतिशय सुख की समृद्धि होने से मुक्त होऊँगा, केवल एकरस सुख ही होकर मैं स्थित होऊँगा, इस प्रकार की प्रचुर शाखा–प्रशाखाओं से युक्त भ्रान्ति, जो कि नाना प्रकार के आचार विहारों और लोकान्तर में गमन से युक्त है, फैली है। पहले जिस मुहूर्त में तुम मृत्यु को प्राप्त हुए, उसी समय यह प्रतिभा अपने–आप तुम्हारे हृदय में उदित हुई। जैसे नदी का प्रवाह एक आवर्त का त्यागकर शीघ्र ही दूसरे आवर्त का ग्रहण करता है यानी बनाता है, वैसे ही चित्तप्रवाह भी एक सृष्टिका त्यागकर दूसरी सृष्टि का ग्रहण करता है। जैसे आवर्त भी अन्य आवर्त से मिला हुआ और कभी बिना मिला हुआ प्रवृत्त होता है वैसे ही यह सृष्टि भी जाग्रत में अन्य जीवों की सृष्टि से युक्त और स्वप्न में अमिश्र यानी अन्य जीवों की सृष्टि से रहित है, उस मरण मुहूर्तमें चिद्रूप सूर्य जो तुम हो तुम्हारी प्रतिभा को प्राप्त हुआ असद्रूप यह जगज्जाल उपस्थित हुआ है। जैसे स्वप्न के एक मुहूर्त के अन्दर सैकड़ों वर्षों की भ्रान्ति होती है ॥४५–५०॥ जैसे मनोरथ में जीवन और मरण होते हैं, जैसे गन्धर्वनगर में भीत और भीत को शोभित करनेवाले चित्रों की प्रतीति होता है, जैसे नौका के वेग से चलने पर वृक्ष और पर्वतों का कम्पन (चलन) प्रतीत होता है, जैसे अपने वात, पित्त आदि धातुओं का सन्निपात

होने पर पर्वतों का चलना प्रतीत होता है और जैसे स्वप्न में अपने शिर का काटना दिखाई देता है, जो पूर्व में कभी अनुभूत नहीं है और जो अव्यवहार्य है, वैसे ही विस्तृत रूपवाली अतएव दुरुच्छेद्य यह प्रपंच भ्रान्ति भी मिथ्या ही है ॥५१–५३॥

तब परमार्थ वस्तु क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर देवी कहती है।

वास्तव में न तो तुम कभी उत्पन्न हुए हो और न तुम कभी मरे हो, किन्तु विशुद्ध विज्ञानस्वरूप शान्त तुम अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित हो ॥५४॥

दृश्य के मिथ्या होने पर दृश्यसंवलित चिदाभासरूप दृश्यदर्शन भी मिथ्या ही है, यों विषयशून्य केवल चिन्मात्र का शेष है, इस अभिप्राय से देवी कहती है।

तुम इस समस्त प्रपंच को देखते से हो, वास्तव में कुछ भी नहीं देखते, क्योंकि विषयी जीव ही नहीं है, तब देखोगे क्या ? किन्तु तुम ही निर्मल महामणि के समान और भास्कर सूर्य आदि के समान अपने स्वरूप में अपने से नित्यसर्वात्मभाव से प्रदीप्त होते हो। वस्तुतः न तो यह भूतल सत् है, न यह तुम (प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा विदूरथदेह) सत् हो, न ये पर्वत हैं, न ये ग्राम हैं, और न ये तुम्हारे परिजन, शत्रु ही सत् हैं, न हम लोग ही सत् हैं ॥५५,५६॥

अल्पतर में महत्तर वस्तुका न समा सकना ही प्रपंच के मिथ्यात्व का कारण है, इस आशय से कहते हैं।

गिरिग्राम के ब्राह्मण के मण्डपाकाश में सभार्य लीलापति से युक्त यह भास्वर (दैदीप्यमान) जगत् प्रतीत होता है। उसमें बहुत से भवनों से सुशोभित लीला की राजधानी है। उक्त ब्राह्मण के गृहाकाशमें इस प्रकार से जाना गया यह जगत् है। जिस घर में इस समय हम लोग बैठे हैं, वह उस जगत् में प्रतीत होता है। इस प्रकार मण्डपों का जो आकाश है, वह आकाश आदि से शून्य निर्मल (ब्रह्म) ही है। उसी प्रकार मण्डपों में न पृथिवी है और न नगर ही है, न वन है, न पर्वतश्रेणियाँ हैं, न मेघ, नदियाँ और सागर ही हैं। केवल चिन्मात्रपूर्ण उस ब्रह्मरूप मिथ्या घर में मिथ्या पुरुष विहार करते हैं। न लोग देखते हैं, न राजा हैं और न पर्वत हैं ॥५७–६१॥

लोग नहीं देखते हैं, इस कथन से मन्त्री, सेवक आदि स्वप्न में ऐसे देखे गये लोगों के तुल्य हो जायेंगे, पर यह तो संभव नहीं है, ऐसी शंका से राजा ने पूछा।

विदूरथ ने कहा : हे देवि, यदि ऐसा है, तो मेरे ये अनुचर यहाँ पर कैसे सत्य हैं ॥६२॥ वे मेरे सदृश्य सत्यस्वभाव आत्मा में जीवभाव से युक्त हैं अथवा नहीं। जगत् स्वप्न के पदार्थ की नाईं प्रतीत होता है। मेरे स्वप्ननर आदि सत्स्वभाव मुझ में कैसे सत्य होंगे और कैसे न होंगे ? यह आप मुझसे कहिये ॥६३॥

यदि अज्ञानियों की दृष्टि से जीवभाव से उनकी सत्यता पूछते हो, तो वह सत्यता तुम्हारी भी नहीं। तत्त्वदृष्टि से अधिष्ठान चिन्मात्ररूप से उनकी सत्यता पूछते हो, तो वह उनकी भी है ही, इस आशय से देवीजी ने उत्तर दिया।

श्रीसरस्वतीजी ने कहा : हे राजन्, जिन लोगों को ज्ञातव्य वस्तु ज्ञात हो चुकी है और

जो शुद्ध बोधस्वरूप हैं, ऐसे चिदाकाशरूपी पुरुषों की दृष्टि से यह जगत् समबन्धी कुछ भी पदार्थ सत् नहीं है। जो शुद्ध बोधस्वरूप है, उसे जगद्भ्रम कहाँ से हो सकता है ? रस्सी में सर्प भ्रम के निवृत्त हो जाने पर फिर सर्पभ्रम कहाँ से होगा ? जगद्भ्रम असत्य है, यह जब भलीभाँति ज्ञात हो गया, फिर उसकी सत्ता कैसे ? मरुभूमि में प्रतीत होनेवाले मृगजल के स्वरूप का परिज्ञान होने पर फिर उसमें जलबुद्धि कैसे हो सकती है ? स्वप्नकाल में, जाग्रत से अपने स्वरूप के परिज्ञात होने पर अपना मरण कैसे सत्य हो सकता है ? अपनी स्वप्नावस्था में अमृत पुरुष को ही अपने मरण का भय होता है। मेघरूप आवरण का विनाश होने पर जैसे शरत्कालीन आकाशकी शोभा स्वच्छ हो जाती है, वैसे ही आत्मज्ञान से अज्ञानरूप आवरण का विनाश होने पर जिसका हृदय स्वच्छ और स्फुरित होती हुई आत्मप्रभासे धवल और आत्मैक्यापत्ति से पूर्णता रूप विस्तार को प्राप्त हुआ है, ऐसे शुद्ध और तत्त्ववेत्ता पुरुष की बुद्धि में अज्ञानियों की दृष्टि में होनेवाली 'मैं' और 'जगत्' ऐसी प्रतीति वस्तुतः नहीं है, वह केवल वाचिक व्यवहारमात्र है। महर्षि वाल्मीकिजी के इतनी कथा कह चुकने पर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचल–शिखर की ओर अग्रसर हो गये और भरद्वाज आदि मुनियों की सभा वाल्मीकिजी को प्रणाम कर सायंकाल के सन्ध्यावन्दन आदि कृत्य के लिए स्नानार्थ चली गई एवं रत्रि बीतने पर सूर्य के उगते उगते मुनिमण्डली सभा स्थान में आ गई ॥६४–६९॥

इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त

बयालीसवाँ सर्ग

अज्ञानावस्था में जगत् और स्वप्न की सत्यता का तथा वरदानपर्यन्त अवशिष्ट कथा का वर्णन।

तत्त्वज्ञ की दृष्टि से जगत् की असत्यता का विस्तार से वर्णन कर उसको दृढ़ करने के लिए अज्ञानियों की दृष्टि से उसकी अत्यन्त दृढ़ सत्ता कहते हैं।

जिस पुरुष की आत्मतत्त्व में दृढ़ व्युत्पत्ति नहीं हुई और बुद्धि में बोध का उदय नही हुआ उसके लिए यह जगत् असत् भी परमार्थ सत् है; क्योंकि लोक में जो अर्थ क्रियाकारी है, उसीकी सत्यरूप से प्रसिद्धि होती है, यह भाव है ॥१॥

असत् पदार्थ की अज्ञानी के प्रति अर्थ क्रियाकारिता कहाँ देखी गई है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं।

जैसे असत् वेताल भी बालक को मृत्यु पर्यन्त सब दुःखों का देनेवाला है, वैसे ही मूढ़मति को सत् की नाईं प्रतीत हो रहा यह असत् जगत् मृत्युपर्यन्त सब दुःखों का देनेवाला है। जैसे मरूभूमिस्थित सूर्य का प्रकाश ही अज्ञ मृगों की दृष्टि में सत्यजलरूप से प्रतीत हुआ मृगों के भ्रम का कारण होता है, वैसे ही असत्य ही यह जगत् मूढ़मतिकी दृष्टि में सत्य–सा प्रतीत होता है ॥२,३॥ जैसे प्राणियों की असत्य स्वप्नमृत्यु ही सत्यरूपिणी होकर अर्थक्रियाकारिणी शोक, रोदन आदि अर्थक्रियाकारिणी होती है वैसे मूढ़बुद्धियों को यह जगत शोक, मोह आदि देनेवाला

है ॥४॥ जिस पुरुष को कटक, कुण्डल आदि में अनुगत सुवर्ण का परिज्ञान नहीं है, उसको जैसे कनक के कटक में कटक–ज्ञान ही होता है, सुवर्णज्ञान नहीं होता, वैसे ही अज्ञपुरुष की नगर, गृह, पर्वत गजराज आदि से व्याप्त वह दृश्यदृष्टि ही है, अन्य परमार्थदृष्टि (सर्वानुगत ब्रह्मदृष्टि) नहीं है ॥५,६॥ जैसे विकृतदृष्टिवालों को आकाश में मुक्तावली (मोतियों की माला), मोर पंख से और कुण्डलाकार केशों का गोला आदि असत्य होते हुए भी सत्य से प्रतीत होते हैं, वैसे ही अज्ञानियों को यह जगत् असत्य होता हुआ भी सत्य–सा प्रतीत होता है ॥७॥ अहन्ता आदि से युक्त इस विश्व को दीर्घ स्वप्न समझो, यहाँ पर अपने से अतिरिक्त सत्य जन स्वप्नदृष्ट अन्य पुरुषों के तुल्य हैं।

शंका – यदि ऐसा है, तो ये शास्त्र–प्रतिपादित याजन, प्रतिग्रह, उपदेश आदि अर्थक्रियायोग्य सत्य हैं, ऐसा शास्त्र में क्यों स्वीकार किया गया है ?

समाधान – जैसे वे सत्य हैं, वैसा सूनो, कहते हैं– सर्वाधिष्ठान शान्त और निरतिशय सत्य निर्मल अचेत्य–चिन्मात्र वपू सर्वत्र व्याप्त परमाकाश है। वह सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, सर्वात्मक स्वयं जहाँ–जहाँ जैसे–जैसे उदित होता है (जैसी अर्थक्रियाकारिता के योग्य आविर्भूत होता है) वहाँ–वहाँ वैसे रहता है ॥८–१०॥

जाग्रत में जैसे शास्त्रीय अर्थक्रिया के योग्य वह आविर्भूत हुआ, किन्तु स्वप्नमें वैसे अर्थक्रिया के योग्य आविर्भूत नहीं हुआ, यह अवान्तर विशेष होने पर भी उसके सद्रूप में कोई विशेष नहीं है, ऐसा कहते हैं।

इस कारण द्रष्टा स्वप्नपुर में जिन पुरवासियों को नर रूप से जानता है, वे तुरन्त ही उसके नर ही हो जाते हैं ॥११॥ स्वप्न का विकास यानी सुषुम्नानाड़ी का छिद्र, उसके भीतर स्थित स्वप्नाध्यस्त विपुलाकाशमें परिवर्तन और चित्तकी वासना के अनुसार तत्–तत् पदार्थों के रूप से विवर्तता को प्राप्त हुआ द्रष्टा का जो चित् स्वरूप है, वही भावित होता हुआ 'नर' यों नाम को प्राप्त हुआ है ॥१२॥

स्वप्न और जाग्रत दोनों अवस्थाओं में भी आत्मा में नरता आदि के अवबोध में और अध्यस्त सत्यतावबोध में अन्योन्यतादात्म्यसंसर्गाध्यास ही हेतु है, ऐसा कहते हैं।

सत्य स्वप्रकाश अपरोक्ष चैतन्य के तादात्म्य से जनित संसर्गाध्यास से नरता सी ज्ञात होती है, अतः चित् के बल से स्वप्न और जाग्रत में अध्यस्त तत्–तत् धर्मों की आत्मा में सत्यता प्रसिद्ध होती है ॥१३॥

इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत् के दृश्यपदार्थ परस्पर मिलित माया और उसके अधिष्ठानात्मक सत्य और अनृत हैं, ऐसा कहा गया, ऐसी अवस्था में स्वप्नपदार्थ केवल अनृतमात्र हों, उनमें सत्यांश के प्रवेश से क्या लाभ है ? ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, यदि जाग्रत–पुरुष अधिष्ठान की सत्ता से सत्य न हों तो व्यवहार में विसंवाद और कर्मकाण्ड का अप्रामाण्य आदि दोष होंगे, इसलिए वे सत्य हों, परन्तु केवल मायास्वरूप स्वप्न में कल्पित स्वप्न पुरुष उस प्रकारके सत्य न हों, तो क्या दोष है ?

तात्पर्य यह है कि भगवान् व्यासने 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनाऽनभि–व्यक्तस्वरूपत्वात्' (स्वप्न केवल मायास्वरूप ही है, क्योंकि उसकी साकल्येन अभिव्यक्ति नहीं होती) इस सूत्र से स्वप्न को केवल मायामात्र कहा है, ऐसी अवस्था में जाग्रत् जगत् की स्वप्नतुल्यता कैसे ? ॥१४॥

स्वप्नपदार्थ ब्रह्म के तुल्य वस्तुतः सत्य नहीं हैं, इतना ही कहा जा सकता है अधिष्ठानरहित होने के कारण अधिष्ठान सत्यता से सत्य नहीं होते, ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से विरोध है, ऐसा श्रीवसिष्ठ जी कहते हैं।

स्वप्न में स्वप्ननगरवासी लोग वस्तुतः सत्य नहीं हैं, इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मुझसे सुनो, अन्य प्रमाण को जानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अत्यन्त असत् पदार्थ वन्ध्यापुत्र आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु स्वप्नपदार्थों का प्रत्यक्ष होता है, अतः वे अत्यन्त असत् नहीं हैं ॥१५॥

स्वप्न यदि अत्यन्त असत् है, तो जाग्रत् प्रपंच के असत्त्व का निवारण नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह भी तो हिरण्यगर्भ का स्वप्नरूप ही है, इस आशय से कहते हैं।

सृष्टि के आदि में स्वयं प्रजापति स्वप्नसदृश आभास से सम्पन्न थे, वे ही अनुभवरूपी हिरण्यगर्भ है यानी संस्कारीभूत ज्ञान समष्टिरूपी है, अतएव उनके संकल्प से उत्पन्न हुआ यह विश्व भी स्वप्नसदृश है ॥१६॥

इस प्रकार जगत् की स्वप्नतुल्यता और पूर्वोक्त सत्यता हुई, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार यह विश्व स्वप्न है, उसमें जैसे मेरी दृष्टि में आप सत्य हैं क्योंकि अपनी सत्यता का आप अपलाप नहीं कर सकते, वैसे ही अन्य लोग भी आपकी दृष्टि और मेरी दृष्टि से सत्य हैं, इसी प्रकार स्वप्न में अन्य मनुष्यों की भी अपने अपने अनुभव के अनुसार स्वप्न सत्यता सिद्ध है। ये नगर और नगरवासी स्वप्न में यदि सत्य न हों, तो स्वप्नाकार इस जाग्रत् में भी वे तनिक भी सत्य न होगे। तुम्हारी दृष्टि में मैं जैसे सत्यात्मा हूँ, मेरी दृष्टि में वैसे ही सब सत्य हैं, स्वप्नसदृश संसारमें पदार्थों की परस्पर सिद्धि के लिए ऐसी प्रमा है। जैसे इस विपुल स्वप्न रूपी संसारमें तुम्हारी दृष्टि में मैं सत्य हूँ और मेरी दृष्टि में तुम भी सत्य हो, वैसे ही सारे स्वप्नों में क्रम हैं ॥१७–२०॥

यदि ऐसा है, तो स्वप्नदृष्टा के जागने पर भी स्वप्न प्रपंच की जाग्रत्प्रपंच की नाईं अवस्थिति होगी ? ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, स्वप्नदृष्टा की नींद खुलने पर दृष्टा का वह स्वप्नपत्तन सद्रूप होने से वैसा ही रहता है। आपके कथन से मेरी ऐसी धारणा हो गई है ॥२१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, जैसा आप कहते हैं, वह ठीक है, सत्यरूप होने से स्वप्नपत्तन स्वप्नद्रष्टा के जागने पर भी वैसा ही रहता है, क्योंकि वह अधिष्ठान सन्मात्रस्वभाव यानी सत्य ही है ॥२२॥

अगर ऐसा है, तो जाग्रत–पदार्थ की नाईं स्वप्नपदार्थों का भी अन्य स्वप्नों में व्यवहार संवाद होगा, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी की जिज्ञासा को चिह्नों से ताड़कर देशान्तर और कालान्तर

की अनुवृत्ति से अनेक जाग्रत्–पदार्थों में भी असंवाद है ही, पृथ्वी, आकाश, नाम, जाति आदि कतिपय पदार्थों की अनुवृत्ति का संवाद स्वप्न में भी है ही, इसलिए जाग्रत और स्वप्न में कोई भी अन्तर सिद्ध नहीं किया जा सकता, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी कहते हैं अथवा स्वप्न के पदार्थ यदि सत्य हों, तो जाग्रत में भी उनकी अनुवृत्ति होनी चाहिए। – श्रीरामचन्द्रजी की ऐसी शंका को ताड़कर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

आपकी शंका रहे, यदि आप स्वप्न के पदार्थों की जाग्रत्काल के बाहरी देश और काल में अनुवृत्ति नहीं होती, इसलिए उन्हें असत्य समझते हैं, तो जिसे आप जाग्रत् मानते हैं, उसकी भी तो आभ्यन्तर स्वप्न देश और काल में अनुवृत्ति नहीं होती यानी वह भी स्वाप्निक देशकाल का पूरक नहीं होता, ऐसी अवस्था में दोनों की स्वप्नतुल्यता समान ही है ॥२३॥

इस प्रकार अधिष्ठानसत्ता से स्वप्न और जाग्रत् के सत्य होने पर भी सम्पूर्ण यानी जाग्रत् और स्वप्न देश तथा काल के पूरक न होने से स्वतः उनकी सत्यता नहीं है, इसलिए दोनों का मिथ्यात्व तुल्य है, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार यह सब स्वप्न और जाग्रद्रूप प्रपंच सत्य नहीं है, किन्तु अधिष्ठान सत्ता से सत्य सा प्रतीत होता है। स्वप्नस्त्रीसंगम की नाईं मिथ्या ही अपने में आसक्ति कराकर जीव को मोहित करता है ॥२४॥

संवित् सम्पूर्ण यानी स्वप्न और जाग्रत् देश और काल की पूरक होने से सत्य है और मायाशक्ति से सर्वत्र सर्वपदार्थरूप से स्फुरण सामर्थ्य भी उसमें है, ऐसा कहते हैं।

सब वस्तु देह के अन्दर और सर्वत्र विद्यमान है संवित् जैसा जानती है, वह वैसे अपने को ही देखती है ॥२५॥ जैसे कोश में जो धन रहता है, उसको उसका द्रष्टा अवश्य जानता है, वैसे ही चिदाकाश में सब कुछ है, उसका चिदाकाश ही अनुभव करता है ॥२६॥

तदुपरान्त देवी सरस्वती ने राजा विदूरथ को ज्ञानरूपी अमृत के सेंक से विवेक युक्त बनाकर उनसे यह कहा : राजन्, यह सब पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान लीला की प्रीति के लिए ही मैंने तुमसे कहा। तुम्हारे इच्छित पदार्थ की सिद्धि हो, लीला ने पूर्वोक्त जगन्मिथ्यात्व की दृष्टान्तभूता मण्डप के अन्दर तुम्हारी ब्रह्माण्डकल्पनारूपी दृष्टियाँ देख ली हैं ॥२७,२८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीमान्, मधुर अक्षरों से युक्त वाणी से देवी सरस्वती से 'तुम्हारे ईच्छित पदार्थ की सिद्धि हो' यह कहने पर उक्त कथन के तात्पर्य को जाननेवाले राजा विदूरथने श्रीदेवीजी से कहा ॥२९॥ देवीजी, मैं साधारण मनुष्य हूँ, थोड़ा सा दान दे सकता हूँ, फिर भी किसी याचक को मेरा दर्शन हो जाय, तो वह निष्फल नहीं जाता। आप तो महाफल देनेवाली हो, फिर आपका दर्शन कैसे निष्फल हो सकता है ? हे देवी, जैसे मनुष्य एक स्वप्न से दूसरे स्वप्नमें जाता है, वैसे मैं अपनी पूर्वतन देह का त्याग कर दूसरे लोक में शीघ्र आऊँगा। हे माता, आपकी शरण में आया हूँ, मुझे आप दयापूर्ण दृष्टि से देखिये। हे वरदायिनी, महान् लोगों की भक्त पर अवहेलना शोभा नहीं देती। जिस लोक में मैं जाऊँगा, उसी लोकमें मेरा यह मन्त्री और यह अविवाहिता कन्या आवें, ऐसी मेरे ऊपर दयादृष्टि कीजिये ॥३०–३३॥

श्रीसरस्वतीजी ने कहा : हे पूर्वजन्म के मण्डलपति, आइये और लीला की भक्ति और भाग्य के अनुरूप पदार्थों की समृद्धि से अत्यन्त मनोहर राज्य का आप निशंक होकर भोग कीजिये। हम लोगों ने कभी भी याचकों की अभिलाषा का प्रत्याख्यान नहीं किया और न किसी ने उसे देखा ही है ॥३४॥

बयालीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतालीसवाँ सर्ग

अभीष्ट वरदान, राजधानी पर शत्रुपक्ष का आक्रमण और नगरदाह तथा
जल रहे नगरवासियों की विविध चेष्टाओं का वर्णन।

राजा द्वारा जिज्ञासित भावी बात को भी स्पष्ट कह रही देवी सरस्वती ने अवशिष्ट वरदान देने के लिए कहा।

श्रीसरस्वती जी ने कहा : राजन्, इस समय इस भीषण रण में आपको अवश्य मरना होगा और पूर्वजन्म का राज्य आपको मिलेगा, यह सब तुम्हें प्रत्यक्ष ही होगा ॥१॥ राजन् अविवाहित राजकुमारी को और मन्त्री को पूर्वजन्म का नगर प्राप्त होगा और आपको शवरूप वह शरीर प्राप्त होगा ॥२॥ राजन्, हम लोग जैसे आये थे, वैसे ही जाती हैं, लेकिन आप, राजकुमारी और मन्त्री मरकर वायुरूप होकर यानी आतिवाहिक देहरूप होकर उक्त पूर्वजन्म के प्रदेश में आओगे ॥३॥

अश्व आदि की गति के समान देशदैर्ध्य की अपेक्षा नहीं होती, इस आशय से देवीजी कहती हैं।

यह आतिवाहिक देह की गति मनोरथ की गति के सदृश मण्डप के अन्दर संवृत आकाश में भी सुदूर सी हो सकती है। घोड़े की गति अन्य प्रकार की है, गधे और ऊँट की गति दूसरे प्रकार की है, जिसके गण्डस्थल से मदधारा बह रही हो ऐसे मदोन्मत्त हाथी की गति दूसरे ही प्रकार की है। भाव यह कि आतिवाहिक देह की गति मनोरथ की गति की नाईं दूर देश में भी और अदूर देश में भी अदृश्य है। अश्व आदि की गति वैसी नहीं है, क्योंकि अश्व आदि स्थूल और परिच्छिन्न हैं ॥४॥ मधुर भाषण करनेवाले श्रीसरस्वती देवीजी और राजा में परस्पर यह वार्तालाप हो ही रहा था कि एक भयचकित पुरुष ने वहाँ राजा के पास प्रविष्ट होकर और ऊँचे स्थान पर खड़े होकर कहा : महाराज, तरंगाकुल सागर के समान बाण, चक्र, तलवार, गदा और मुद्‍गरों की वृष्टि करनेवाली बड़ी विशाल शत्रुसेना हमारी राजधानी पर चढ़ आई है। वह बड़े उत्साह से सम्पन्न है और प्रलय की वायु से उड़ाये गये कुल पर्वतों की शिलाओं के सदृश गदा, शक्ति और भुशुण्डियों की वृष्टि करती है ॥५-७॥ पर्वताकार नगर में आग लगी है उसने अपनी ज्वालाओं से चारों दिशाओं को व्याप्त कर रक्खा है। वह चट चट शब्दों से उत्तम नगरी को जलाती हुई तहस नहस कर रही है। आकाश में प्रलयकाल की मेघ घटा के सदृश धुएँ के महान् पर्वत छाये हुए हैं,

मालूम होता है कि वे अपनी पूरी ताकत से उड़ने के लिए तैयार हुए गरूड़ हैं ॥८,९॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वह पुरुष राजा से यह सब कह ही रहा था कि बाहर दारुण चीत्कारों से परिपूर्ण बड़ा भारी कोलाहल पूरी ताकत के साथ कानों तक खीचें गये बाणों की वृष्टि करनेवाले धनुषों का था, चिंघाड़ रहे अत्यन्त मदोन्मत्त और बलवान् हाथियों का था, नगर में चट चट शब्दों के साथ खूब जल रही आग की ज्वालाओं का था, जिनकी स्त्रियाँ और बालबच्चे जल गये थे ऐसे पुरवासियों के महान् हाहाकार, स्पन्दमान अग्निज्वालाओं की प्रज्वलित शिखाओं के धग्-धग् शब्द, इधर उधर तैर रहे अंगारों के शब्दों के साथ लोगों द्वारा उच्चारित टंकार उत्पन्न हुआ ॥१०-१३॥ तदुपरान्त दोनों देवियों ने यानी सरस्वती देवी तथा लीला ने, मन्त्री और राजा विदूरथ ने अपने महल के झरोखे से घोर रात्रि में अपने नगर को देखा जिसमें बड़े भारी कोलाहल हो रहे थे ॥१४॥ वह नगर प्रलयकाल में अत्यन्त विक्षुब्ध पूर्ण समुद्र के सदृश वेगवाले भीषण हथियाररूपी मेघतरंगों से पूर्ण शत्रु के दलबल से भरा था प्रलयकालीन अग्नि से जल रहे मेरुपर्वत के सदृश खूब चमकदार और आकाश को छूनेवाली बड़ी बड़ी ज्वालाओं की शिखाओं से जल रहा था ॥१५,१६॥ उक्त नगर लूटने के समय दूसरों को डराने के लिए महामेघों की गर्जना के सदृश अपनी डाँटफटकार से बढ़े-चढ़े कोलाहल से पूर्ण डाकुओं के शोरगुल से भयानक था। पुष्करावर्त मेघों के सदृश विशाल और भयावह धुएँ के बादलों से उसका आकाश आच्छन्न था। आकाश में उड़ रहे और स्वर्ण के सदृश अग्रकान्ति वाले ज्वालापुंजों से वह ठसाठस भरा था यानी तिल रखने को भी ऐसी जगह नहीं थी, जहाँ ज्वाला न हो, इधर से उधर छनक रहे आधे जले हुए काष्ठरूपी उग्र यानी उत्पातसूचक तारों से उसका आकाशचंचल था, वहाँ पर ज्वालाओं के परिवर्तन से हुए अन्योन्य देश के विनिमय से गृहों के समूहरूपी बड़े-बड़े अग्नि के पर्वत जल रहे थे ॥१७-१९॥ उस नगर में मरे हुए सैनिकों में से बचे हुए कुछ सैनिकों का नगर प्रवेश हो रहा था, जिनमें अंगारे फैले हुए थे ऐसे मेघच्छिद्रों से वह नगर उपलक्षित था, जिन्होंने बड़े हृदयविदारक रोदन के साथ जनसमूहों को जला डाला था, ऐसे शत्रुओं द्वारा उस नगरमें जोर जोर से गर्जना की जा रहा थी, वह आग की चिनगारियों और अर्धचन्द्राकार बाणों से अत्यन्त निरवकाश था, वहाँ बहुत से शस्त्रों और शिलाओं से अधजले पुरवासियों के झुण्ड गिर रहे थे, रणभूमिमें हाथियों की टक्कर से शूरवीर योद्धा चूरचूर हो गये थे, नगर के मार्ग, भाग रहे चोरों का सिर काटने से उनके द्वारा रखे गये धन से आकीर्ण थे, वहाँ अंगारों के समूहों से गिर रहे नर-नारियों का हृदयविदारक रोदन हो रहे था, जले हुए काठ के टुकड़े चट चट शब्द के साथ इधर-उधर गिर रहे थे, बड़े-बड़े अलात यानी जले हुए काष्ठों के चक्राकार समूहोंसे आकाशतल ऐसा मालूम पड़ता था, मानों उसमें सौ सूर्य उगे हों, अँगारों की आग से सम्पूर्ण पृथिवीतल व्याप्त था, जले हुए अग्निकाष्ठों (अगर) के साथ बाँस के बड़े-बड़े डंडे केंकार शब्द कर रहे थे, जले हुए जीवों के करुणक्रन्दन से सब सैनिकों का हृदय दहल रहा था, वहाँ पर

राज्यश्री का ऐसा दाह होने पर, जब कि केवल धूलि ही शेष रह गई थी, अग्नि प्रबल और तुप्त हुई, सर्वभक्षी अग्नि पूर्वोक्त प्रकार से सम्पूर्ण नगर को ग्रास करने में बड़ी उद्योगशील थी वहाँ पर अकस्मात् ही दैवयोग से प्राप्त सर्वस्वहरण और दस्युओं द्वारा कुण्ठन से और कठिनतम (क्रूरतम) अग्नि से घर रोदन कर रहे थे, असंख्य लोगों के भोजन के लिए पर्याप्त अन्न के अग्नि द्वारा भस्म हो जाने पर वहाँ पर किसी की अवशिष्ट इन्धनमात्र में स्पृहा हो रही थी ॥२०–२७॥ तदुपरान्त राजा विदूरथ ने वहाँ पर योद्धाओं की तथा उन लोगों का, जिनका देखते देखते स्त्री, पुत्र, घर, द्वार आदि सर्वस्व स्वाहा हो गया था और इधर–उधर भाग रहे थे, वाणियाँ सुनी ॥२८॥ उनमें से किसीने किसीको सम्बोधन कर कहा : खेद है, अधिक रस होने से (जलाधिक्य से) हरे–भरे अतएव सन्ताप को दूर करनेवाले ऊँची जगह के हमारे घररूप वृक्षों को या हमारे घर के समीप के वृक्षों को उखाड़ फेंकने के लिए विपत्तिरूप प्रचण्डवायु रण से खड़खड़ शब्द के साथ आई ॥२९॥ हाय, पहले तुषार की ठण्ड से ठिठुरी हुई, बाद में आग की झपटों से झुलसी हुई स्त्रियाँ हाथियों के शरीरों में लीन हो गई, जैसे कि जिन्होंने ज्ञानाग्नि से स्थूल आदि देह जला डाले हैं और त्रिविधसंताप दूर करने के कारण हिम से भी शीतल हैं ऐसी विज्ञानसूक्तियाँ महान् पुरुषों के मन में लीन होती हैं ॥३०॥ हाय हाय, युवतियों के केश बन्धन रूपी तिनकों में लगी हुई और वीररूपी वायु द्वारा फेंकी गई शस्त्राग्नि सूखे हुए पत्ते के ढेर की नाईं जलती है॥३१॥ देखो, आवर्तों से और नदी के प्रवाहभेदों से विशाल, ऊपर को बहनेवाली धुम्ररूपी यमुना आकाशगंगा से मिलने के लिए दौड़ी जा रही है ॥३२॥ देखो, यह ऊपर को जानेवाली धुम्रनदी, जिसमें अधजले काठ जल रहे हैं और चिनगारियाँ ही बुद्बुदों की तरह प्रतीत हो रही हैं, विमानों से यात्रा करनेवाले देवता, गन्धर्व आदि को अन्धा बना रही है ॥३३॥ हे पुत्री, इस बेचारी के माता, पिता, भाई, जमाई और दूध पीने वाले बच्चे इस घर में जल गये हैं। इसे भी अग्नि के न रहने पर भी उनके विरहरूपी अग्नि में जली हुई ही समझो ॥३४॥ जल्दी निकलो, तुम्हारा अँगार की नाईं जला हुआ यह घर, प्रलयकाल में सुमेरु की नाईं अपने स्थान से गिरने के लिए तैयार है॥३५॥ अहा, बाण, पत्थर, शक्ति, भाले, प्रास, तलवार, आदि शस्त्रास्त्र झरोखों के जालरूपी सन्ध्याकालीन मेघवृन्द में टिड्डियों की नाईं घुस रहे हैं ॥३६॥ जैसे समुद्र से जलप्रवाह खूब धधकती हुई ज्वालाओं से युक्त बड़वानल में प्रवेश करते हैं, वैसे ही मारे भय के आकाशमें उड़ने की इच्छा करनेवाली नगरी में शस्त्रास्त्रों की वृष्टियाँ प्रवेश कर रही हैं ॥३७॥ अग्नि की ज्वालाएँ ऊँचे–ऊँचे महलों के शिखरों में स्थित बड़े–बड़े मेघों को धुआँ–सा बना रही हैं, नगरी में सजल तालाब, बावड़ी और उद्यान आदि रागियों के हृदय की नाईं सूख रहे हैं॥३८॥ हाथी चिंघाड़ते हुए इन वृक्षपंक्तियों को ये हमारे बन्धनस्तम्भ के सजातीय हैं, इस रोष से मानों कटकट शब्द के साथ गिरा रहे हैं॥३९॥ घरों के आस–पास के वृक्षों के फूल, फल और लता आदि जल गये हैं, उनमें शोभा नाममात्र को भी नहीं रह गई है। वे उन गृहस्थों की

नाईं, जिनका कि सर्वस्व जल गया है, दीनता को प्राप्त हो गये हैं। हाय, माता–पिता से बिछुड़े हुए घने अन्धकार में अपने घरों को खोज रहे बालक बाणों से परिपूर्ण सड़कों पर दीवार के गिरने से मर गये। रणभूमि में वायु से उड़ाये गये और अँगारों को बरसानेवाले घर के छप्पर से हथिनियाँ भीषण चिंघाड़ के साथ डरती थी ॥४०–४२॥ हाय हाय, बड़ा कष्ट है किसी पुरुषके तलवार से कटे हुए, कड़े उल्मुक(अधजले काठ) से युक्त कन्धे में वज्र की नाईं यह यन्त्रपाषाण गिरा ॥४३॥ हाय हाय, व्याकुल हुए भीषण गाय, घोड़े भैंस, हाथी, ऊँट, कुत्ते, सियार और भेड़ो ने मार्ग को रोकनेवाला युद्ध सा आरम्भ कर दिया है, जरा देखिये तो सही ॥४४॥

आग की ज्वालाओं से झुलस जाने के भय से गीले वस्त्र पहनकर घरों से निकल रही स्त्रियों का वर्णन करते हैं।

जलबिन्दुसमूहरूपी भ्रमरों से परिवेष्टित अतएव पटपट शब्द करनेवाले वस्त्रों से युक्त और हाथ, पैर और मुँह रूपी स्थलकमलों से बनी हुई सी स्त्रियाँ रोती हुईं जाती हैं ॥४५॥ देखो, अशोक के फूलों की कान्ति को धारण कर रही ज्वालाओं की लपटें स्त्रियोंके अलकों को ऐसे चाट रही है, जैसे ऊँट लटकी हुई पेड़ों की शाखाओं को या दैवात् उसमें लटकी हुई सर्पिणियों को चाटता है। हा हा , खेद है, अग्नि की शिखा मृगछौने के नेत्रों के तुल्य नेत्रवाली नायिकाकी भ्रमरों के परोंके सदृश काली नेत्रराजियों पर जैसे कोई कुमार्गों में विश्राम ले वैसे विश्राम लेती है ॥४६,४७॥ स्वयं जल रहा भी पुरुष अपने स्त्री–पुत्र आदिके बिना घर से नहीं निकलता। ओहो बड़ा खेद है कि प्राणियों का स्नेह बंधन कटना कठिन है ॥४८॥ जिसने बल के वेग से जल रहे अँगारों से सना हुआ अपना बन्धनस्तम्भ तोड़ डाला, अतएव उसको खींचने के समय जिसकी सूँड़ जल गई थी; ऐसा हाथी क्रोध से भाग कर लोगों को पुष्कर देनेवाले यानी कमल देनेवाले तालाब में जाकर वहाँ डूब गया। (✍) धुआँ मेघों के मार्ग में यानी वृष्टि करने के अधिकारी आकाशस्थान में पहुँचकर और मध्य में चंचल अग्निज्वालारूपी तड़ित–लता से युक्त होकर जलरहे अँगाररूपी बाणों की वृष्टि करता है। राजन्, आकाशमें जिसमें चिनगारियाँ चमक रही हैं, आवर्त (जलभौंरी) की सी वृत्तियाँ हो रही हैं, शिखररूपी तरंगें उछल रही हैं, ऐसा धुआँ आकाश में रत्नों से भरा हुआ, आवर्तों से व्याप्त और तरंगमालाओं से घिरे हुए समुद्र के तुल्य प्रतीत होता है। ज्वालाओं की कोटियों के प्रकाशसे उज्जवल हुआ आकाश ऐसा प्रतीत होता है मानों मृत्यु ने उत्सव के लिए कुमकुम केसर से रँगा हुआ सन्दूक दिशारूपी बहुओं को दिया है। सच्चारित्र्य से विपरीत यह बड़ा अनुचित हो रहा है कि हाथों में आयुध लिये हुए शत्रुवीरों द्वारा राजरानियाँ भी पकड़ी जा रही हैं। इन राजरानियों की दशा का क्या वर्णन करें, ये मार्ग में खूब फूलों की वृष्टि करनेवाली चंचल मालाओं और पुष्पराशिसे

✍ पुष्कर सूँड़ को भी कहते है और कमल को भी। चूँकि उसका पुष्कर (सूँड़) जल गया था, अतएव उसका पुष्कर (कमल) देनेवाले तालाब में पुनः पुष्कर प्राप्ति के लिए जाना उचित ही है, यह श्लेषमूलक उत्प्रेक्षा है।

युक्त हैं, अधजला केशभार इनके वक्षस्थल और स्तनमण्डल पर बिखरा है। वायु के कारण फरफरा रहे वस्त्र से इनकी कमर और जंघाएँ कुछ खुली दीख रही हैं, गिर रहे माणिक्यजड़ित कड़ोंसे इन्होंने पृथिवीमण्डल को आच्छन्न कर दिया है। इनके टूटे हुए हारों से निर्मल मोती बिखर रहे हैं, इनके पहले कभी न देखे गये स्तनमण्डल के समीप में उदित हो रही सुवर्णकान्ति दृष्टिगोचर होती है। कुररी के शब्द की नाईं कर्कश इनकी रोदनध्वनि से रण का शब्द फीका पड़ गया है। धारावाहिक रूप से निरवच्छिन्न निकली हुई रोदनध्वनियों से इनकी पेट की पसलियाँ टूट सी गई हैं, अतएव ये इस समय क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है, इसका विवेक करने में असमर्थ हैं। इनके ये कहीं भाग न जाय, इस भय से एक दूसरे से बँधे हुए हाथ रक्त, कीचड़ और आँसुओं से सने हुए हैं। काँख में हाथ डाले हुए पुरुष इन्हें जबरदस्ती ले जा रहे हैं। इस संकट के समय कौन हमारा प्राणकर्ता होगा, यों कातरदृष्टियोंसे ये नीलकमलों की वृष्टि कर रही हैं, इन्होंने दया से अपने पक्ष के सैनिकों को रुलाया है। भसींड़े के समान स्वच्छ और निर्मल जँघामूल से जो कि स्वच्छ वस्त्रों के अन्दर कुछ–कुछ दिखाई दे रहे हैं आकाश नलिनी सी प्रतीत हो रही है, इनकी मालाएँ, वस्त्र, आभूषण और अंगराग सभी अस्थिर हैं, लम्बी–लम्बी और चंचल अलकलताएँ (केश) आँसूओं से सनी हुई है, ये आनन्द यानी विषयसुखरूपी मन्दराचल से मथे जा रहे कामरूपीसागर से उत्पन्न हुई मानों राजाओं की मूर्तिमती सम्पत्तियाँ हैं, अथवा राजा अर्थात् चन्द्रमा उससे युक्त लक्ष्मियाँ हैं ॥४९–६१॥

तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चौवालीसवाँ सर्ग

अन्तःपुर की बरबादी को सुनकर राजरानी को भयभीत देखकर राजा का युद्ध के लिए घर से निकलने का और लीला के तत्त्व का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इसी बीच में राजरानी, जिसके शरीर के रोमरोमसे यौवन छलक रहा था, जैसे लक्ष्मी कमल के कोटर में प्रवेश करती हैं, वैसे ही राजा के घर में प्रविष्ट हुई, जिसमें लीला और सरस्वती देवी स्थित थी। राजरानी की मालाएँ और वस्त्र चंचल थे, छिन्न–भिन्न हारलता से वह व्याकुल थी, सखियाँ और दासियाँ उसके पीछे चल रही थी और वह भयविह्वल थी। चन्द्रमा के तुल्य सुन्दर उसका मुँह था, सम्पूर्ण अंग भसींड़े के समान गौर थे, उसका स्तनमण्डल श्वासोच्छ्वास से हिल रहा था, उसके दाँत सितारों से मिलते जूलते थे, वह मूर्तिमती बिजली के तुल्य थी ॥१–३॥ राजमहल में प्रविष्ट होने के अनन्तर जैसे अप्सरा भूतसंग्राम में संलग्न देवराज से निवेदन करे, वैसे ही उसकी एक सखी ने राजा से निवेदन किया ॥४॥ महाराज, देवी, (पट्टरानी) अन्तःपुर से हम लोगों के साथ भागकर जैसे वायु के झोंके से विताड़ित लता वृक्ष की शरण लेती है, वैसे ही आपकी शरण में आई है। महाराज, आपकी अन्यान्य रानियों को, जैसे महासागर की बड़ी–बड़ी लहर तटवर्ती वृक्षों में आश्रित लताओं को हर ले जाती हैं, वैसे ही अस्त्रशस्त्र से सुसज्जित बलवान् शत्रु हर

ले गये हैं। अचानक आये हुए उद्धतशत्रुओं ने अन्तःपुर के संरक्षार्थ नियुक्त अधिकारियों को ऐसे चकनाचूर कर डाला जैसे कि सहसा झौंके के साथ आई हुई भीषण आँधी सुन्दर वृक्षोंको चकनाचूर कर डालती है ॥५-७॥ वर्षाऋतु के बढ़ने के कारण विपुल कलकल नाद करनेवाला जलप्रवाह जैसे कमलों को छिन्न-भिन्न कर मटियामेट कर डालता है, वैसे ही दूर से निःशंक होकर आये हुए शत्रुओं ने रात्रि के समय हमारे नगर को लूटखसोट डाला है ॥८॥ धुएँ की वृष्टि कर रही, तेज धक्-धक् शब्द करनेवाली तथा साँप की नाईं लपलपा रही ज्वालाओं से युक्त अग्नि ने तथा तलवारों को लिये हुए असंख्य शत्रुसैनिकों ने हमारे नगर में प्रवेश किया। उनके अत्याचार का कहाँ तक वर्णन करें जैसे धीवर रो रही चिल्ला रही कुररी को (एक प्रकार के मृग या पक्षी को) जबरदस्ती पकड़ कर ले जाता है, वैसे ही वे क्रूर शत्रुसैनिक विविध हावभावों से सम्पन्न रानियों को, जो रो रही और चिल्ला रही थी, जबरदस्ती घसीट ले गये हैं ॥९,१०॥ महाराज, इस प्रकार जो यह शाखा-प्रशाखाओं के विस्तार से युक्त आपत्ति हम लोगों के ऊपर आई है, उसका समूल निवारण करने में केवल महाराज ही समर्थ है। महारानी की सखी के मुँह से यह सुनकर राजा ने देवियों की (सरस्वती और लीला की) ओर देखकर कहा : देवियों, चूँकि ऐसा विपत्तियोंका पहाड़ हमारे परिजनों पर टूट पड़ा है, अतः मैं युद्ध करने के लिए समरभूमि में जाता हूँ। आप क्षमा करें। मेरी अनुपस्थिति में मेरी यह पत्नी आप लोगों के चरणकमलों की सेवा करेगी, आप इसकी रक्षा करना, ऐसा अभिप्राय है ॥११,१२॥ ऐसा कह कर राजा, जिसकी आँखें शत्रुओं के अत्याचार से लाल हो गई थी, जैसे मत्त हाथियों ने जिसका वन छिन्न भिन्न कर दिया हो ऐसा सिंह गुहा से निकले वैसे घर से निकला ॥१३॥ प्रबुद्ध लीला ने अपनी आकृति के तुल्य आकृतिवाली सुन्दरी लीला को दर्पण में प्रतिबिम्ब को प्राप्त हुई सी देखा ॥१४॥ प्रबुद्ध लीला ने कहा : हे देवी, जो मैं हूँ, वही यह कैसे ? जो मैं युवावस्था में थी वही मैं इस रूप में कैसे स्थित हूँ ? इसमें क्या रहस्य है ? यह कृपाकर मुझसे कहिये। भाव यह है कि मैं अपने आपसे भिन्न नहीं हो सकती और अतीत अवस्था की स्थिति का भी सम्भव नहीं है, फिर यह अघटित घटना कैसे ? ॥१५॥

दूसरी यह बात मुझे संशय में डाल रही है कि मन्त्री आदि में भेद प्रतीति और वे ही ये हैं, ऐसी प्रत्यभिज्ञा भी विरुद्ध है, ऐसा कहती है।

हे देवि, ये मन्त्री आदि नागरिक तथा बल और वाहन से युक्त योद्धा सभी वे ही हैं, ये लोग सभी जैसे यहाँ पर स्थित हैं, वैसे ही वहाँ पर भी स्थित हैं ॥१६॥ हे देवि, जैसे दर्पण में बिम्बप्रतिबिम्बरूप से वस्तु बाहर और भीतर भी रहती है, वैसे ही ये सभी वहाँ पर और यहाँ पर कैसे स्थित हैं ? क्या वे चेतन हैं ? भाव यह कि ये दर्पण में स्थित प्रतिबिम्ब की नाईं वे ही यदि यहाँ प्रतिबिम्बित हुए हैं, तो अचेतन होंगे, चेतन कैसे हो सकते हैं ? ॥१७॥

चितिशक्तियाँ अचिन्तनीय हैं, तुल्य कर्मों से उद्बोधित पदार्थों का कहीं पर समान ही आविर्भाव होता है, यों देवी दृष्टिसृष्टिवाद का अवलम्बन कर समाधान करती है।

श्रीदेवी ने कहा : हे लीले, भीतर जैसा ज्ञान उदित होता है, वैसा ही क्षणभर में बाहर

पदार्थों का अनुभव होने लगता है। जैसे मन स्वप्न आदि में चित्त द्वारा अनुभूत जाग्रत् पदार्थों के आकार को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही चिति अध्यास द्वारा चेत्याकारता को प्राप्त होती है ॥१८॥

जैसा संस्कारात्मक जगत् स्वरूप चित्तमें और चितिमें है, वैसा ही वह उदित होता है। भोगकर्ता के अदृष्ट से उद्‌बोधित (प्रेरित) मायासंवलित चित्‌शक्ति अघटित वस्तु को गढने में समर्थ है, यह भाव है। ऐसी परिस्थिति में देशकालकी स्वल्पता और विपुलताका विरोध भी हट गया, ऐसा कहती है।

देश और काल की अल्पता या विपुलता तथा विचित्रता पदार्थ जन्य नहीं है। यदि वह पदार्थजन्य होती, तो पदार्थ के स्वभाव के विरुद्ध नहीं होती ॥१९॥ बाह्य पदार्थ आभ्यन्तर से प्रतीत होते हैं, इसके लिए दृष्टान्त खोजने के वास्ते दूर भटकने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय में स्वाप्निक पदार्थ दृष्टान्त है, जो सभी को अनुभूत है। चैतन्य में अध्यस्त होने के कारण चैतन्य का आभ्यन्तर जगत् बाह्य सा प्रतीत होता है, इस विषयमें स्वप्न पदार्थ दृष्टान्त है, क्योंकि स्वप्न चेतन आत्मा ही पदार्थाकार हो जाता है। जो स्वप्न और मनोरथ के नगर का भीतर स्फुरण होता है, वह चेतन का ही स्फुरण है ॥२०॥

चिरकाल से अभ्यास होने के कारण यह जगत् बाह्य नाम से ही व्यक्त होकर सत्यका–सा स्थित है, उस समय जैसी वासनावाला तुम्हारा पति उस नगर में मरा था, उसी भावना से युक्त होकर उसी पदार्थ को यहीं पर प्राप्त हुआ है। वे प्राणी बारबार अनुभूत होते हुए भी उसी आकार के अन्य ही हैं। इस राजा की चित्‌सत्ता से ये स्वप्न और संकल्प की सेना की नाईं सद्रूप ही हैं। स्वाप्न वस्तु से जाग्रद्वस्तु की इतनी ही विलक्षणता है कि वह अविसंवादिरूप से सब पुरुषों के लिए समानरूप से अर्थक्रियाकारिता में समर्थ है।

केवल इतने से जाग्रत् की सत्यता की सिद्धि नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

क्योंकि चन्द्रमा की प्रदेशिका (बिलस्तभर दिखना) और इन्द्रजाल आदि में भी सब को असंवादी यथार्थ प्रतीति होती है, पर वह सत्य नहीं है ॥२१–२३॥

भला बताओ तो सही जाग्रत पदार्थों की सत्यता कैसी ? उत्तरकाल में (जाग्रत् में) बाधित होने से स्वप्न को यदि असत्य कहो तो जाग्रत में उक्त असत्यता समानरूप से विद्यमान है, क्योंकि नाश और बाध होने पर वस्तु में कोई अन्तर नहीं आता।

तात्पर्य यह कि स्वप्न पदार्थों का जाग्रत काल में बाध होता है, तो जाग्रत्–पदार्थों का उत्तरकाल में नाश होता है, एक का नाश होता है और दूसरे का बाध होता है पर असत्यता में कोई अन्तर नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

यदि यह कहो कि उत्तरकाल में (जाग्रत में) भंगुर (बाधित) होने से स्वाप्न पदार्थ असत् है, ऐसा तो यह सारा ही जाग्रत जगत् है, इसलिए इस जाग्रत् जगत् में अनास्तिता (सत्यता) क्या अधिक है ? स्वप्न में जैसे जाग्रत् असत्‌रूप है, वैसे ही जाग्रत् में स्वप्न भी असद्रूप है ॥२४,२५॥

दूसरी बात यह भी है कि परस्पर काल में असत्ता भी दोनों मे समान है, यानी जाग्रत्‌काल

में जैसे स्वप्न की असत्ता है वैसे ही स्वप्नकाल में जाग्रत् की भी असत्ता है, ऐसा कहा है।

नाश में भी बाध की नाईं परस्पर के काल में न रहना समान है, ऐसा कहते हैं।

जन्मसमय में मृत्यु असद्रूप है और मृत्युसमयमें जन्म भी असन्मय है, नाश में अवयवों के विसरणशील होने के कारण द्रव्य का विनाश होता है, बाध में अनुभूति के बल से द्रव्य विनष्ट होता है, इस प्रकार निमित्त भेद होने पर भी विशरण में विशेष नहीं है, यह भाव है ॥२६॥

पहले दोनों की सत्यता का उपपादन किया था, यहाँ पर असत्यता का उपपादन किया, यों दोनों की ही अनिर्वचनीयता तुल्य है ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार यह स्वप्न और जाग्रत् जगत् न सत् है और न असत् है, केवल भ्रान्तिमात्र ही प्रतीत होता है।

इस प्रकार सृष्टिकाल और प्रलयकालमें अवशिष्ट सद्रूप ब्रह्म सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं।

महाकल्प का अन्त होने पर और आज भी और आगे भी यानी अतीत वर्तमान और अनागत युगों में भी जो कभी भी नहीं था, नहीं है और नहीं होगा, वह स्वरूपतः नहीं है, किन्तु उसका कल्पना का अधिष्ठान ब्रह्म ही है; अतः वही जगत् है, भासमान अब्रह्मरूप जगत् नहीं है। उसी ब्रह्म में ये सृष्टिनामक भ्रान्तियाँ विकास को प्राप्त होती हैं, जैसे कि आकाशमें केशोण्ड्रक (केशों का वर्तुलाकार गोला) प्रतीत होता है, पर वास्तव में वह आकाश से अतिरिक्त नहीं है, आकाश रूप ही है। ये सृष्टियाँ परब्रह्म में वास्तव में स्फुरण को भी नहीं सी प्राप्त होती हैं।

चिदाकाश को नहीं ही प्राप्त होती हैं, ऐसा कहना चाहिए था, सदृशार्थक 'इव' शब्द का प्रयोग प्रपंच के समान ब्रह्म से अतिरिक्त प्रपंच का अभाव भी मिथ्या है, यह सूचन करने के लिए है।

जैसे समुद्र में लहर उत्पन्न होती हैं, वैसे ही परब्रह्म में ये सृष्टियाँ उत्पन्न हो होकर महापवन में (आँधी में) धूलिकणों के समान लीन हो जाती है। इसलिए त्वम्, अहम्, जगत् इस प्रकार विभागस्वरूप भ्रान्तिमय प्रतीत होनेवाले, मृगतृष्णा जलरूप तथा जलाये गये वस्त्र की भस्म के तुल्य प्रपंच में कौन सा आदर है ?

शंका : पूर्वोक्त रीति से अत्यन्त तुच्छ विषयों का बाध होने पर भी भ्रान्तिरूप ज्ञान के स्वरूप का बाध न होने से उससे द्वैत होगा ही।

समाधान : विषय बाध होने पर भ्रान्तियाँ (भ्रम–ज्ञान) ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं रहती, वे भ्रान्तियाँ परम पद रूप ब्रह्म ही हैं। भाव यह है कि निर्विषय ज्ञानों का परस्पर से और ब्रह्म से भेद करानेवाला कोई है नहीं, इसलिए वे ब्रह्ममात्र ही हैं ॥२७–३१॥ जैसे घने अँधेरे में बालक को जो भूत की भ्रान्ति होती है, वह अन्धकार ही है, भूत नहीं है, वैसे ही जन्म, मरण और मोहरूप यह जगत् अज्ञान (आवरण और विक्षेप) ही है और उसीसे विस्तार को प्राप्त हुआ है। यह सब महाकल्प से अर्थात् ब्रह्मज्ञान से सब पदार्थों के बाधरूप वैज्ञानिक प्रलय से बाध्य है। इस सबके शान्त होने पर जो अवशिष्ट रहता है, वही ब्रह्म है। जगत् ब्रह्म से पृथक् अतिरिक्त सत्य नहीं है एवं ब्रह्मरूप होने के कारण अत्यन्त असत्य भी नहीं है। भाव यह कि

अधिष्ठानभूत ब्रह्म की सत्ता ही दृश्य के सत्य, असत्य आदि सम्पूर्ण पक्षों को रोकती है। अथवा यह जगत् सत्य और असत्य दो रूपवाला भी नहीं हो सकता, क्योंकि एक वस्तु दो विरुद्ध रूपवाली नहीं हो सकती। उक्त तीनों विरुद्ध पक्षों में ब्रह्म का, विरोध के बिना, सम्भव होने से, यह जगत ब्रह्म ही है। आकाश में, परमाणु के मध्य में और द्रव्य आदि के अणु के अतिसूक्ष्म अन्तर्भाग में जहाँ–जहाँ जीवाणु स्थित होता है, वहाँ–वहाँ इस जगत को अपना शरीर जानता है ॥३२–३४॥

वासना के बल से आत्मा में अनात्मा का अध्यास होनें मे दृष्टान्त कहते हैं।

पहले अग्नि से भिन्न होता हुआ भी उपासक 'मैं अग्नि हूँ' इस प्रकार उपासनरूप अपनी भावना के क्रम से उदित हुआ यानी उपासना के फलरूप से आविर्भूत उष्णता का जैसे अनुभव करता है, वैसे ही विशुद्ध चैतन्य आत्मा इस जगत् को आत्मभूत देखता है। जैसे सूर्योदय होने पर घरमें त्रसरेणु घूमते हैं, वैसे ही परमाकाश में ये ब्रह्माण्डरूपी त्रसरेणु घूमते हैं। जैसे वायु में स्पन्द और आमोद (गंध) स्थित है और आकाश में शून्यता स्थित है, वैसे ही स्थूलता से शून्य यह विश्व परब्रह्म में स्थित है। अवयवों से शून्य ब्रह्म के आविर्भाव, तिरोभाव, उपादान, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, चर और अचर ऐसे भाग हैं। इस समय साकार विश्व के निराकारत्वज्ञान के लिए उन्हें आपको वैसी अपनी आत्मा से अभिन्न से यानी आत्मा के अनवयव से आपको जानना चाहिए। इस प्रकार अपनी भावना के क्रम से उत्पन्न हुआ यह विश्व यथास्थित है ॥३५–४०॥ अनन्य (अभिन्न) रूप से ब्रह्म में स्थित यह विश्व विश्वशब्द के अर्थों से रिक्त नहीं होगा। भाव यह है कि विश्वशब्द का पर्यवसान पूर्णार्थता में है और पूर्ण रिक्त नहीं हो सकता है। रज्जु में सर्प भ्रान्ति के समान न यह सत्य है और न असत्य है, किन्तु अनिर्वचनीय है, मिथ्याज्ञान से यह सत्य प्रतीत होता है और विचारपूर्वक देखने से असत्य ही है, भाव यह है कि भ्रान्तिज्ञान से अनुभूत पदार्थ सत्य नहीं होता और वस्तुतत्त्व का निर्धारणात्मक ज्ञान, जो कि मर्मज्ञान से अनुभूत पदार्थ का बाधक है, सत्यका निषेध नहीं करता, जिससे कि असत्य हो। परम कारण ही स्वरूपभूत चैतन्य से माया से आवृत होनेके कारण जीवत्व को प्राप्त हुआ, अतः जीवत्व भी अनिर्वाच्य है ॥४१,४२॥ हे रामचन्द्रजी, चिरकाल के विचाराभ्यास से हुए दृढ़ अनुभव से जीवत्व को वैसा ही स्पष्टरूप से जानता है। यह संसार सत्य हो अथवा असत्य हो, चिदाकाश में ही यह स्फुरित हो रहा है, चिदाकाश के सिवा अन्य कोई भी वस्तु कहीं भी सत् नहीं है ॥४३॥

जीव की जो भोगेच्छा है, वही संसार की उत्पादिका है। इस अंश में सत्यत्व और मिथ्यात्व की उपयोगिता नहीं है, विषय चाहे सत्य हों, चाहे असत्य हों उनकी अनुरंजना ही संसार की उत्पत्ति और स्थिति की मूल कारण है, जीव पहले स्वेच्छा से उत्पन्न विषयों की अनुभूति से अनुरंजित होता है, तदनन्तर पूर्वानुभूत सब विषयों का पुनः अनुभव करता है, ऐसा कहते हैं।

जीवाणु स्वेच्छाभूत अनुभूतियों से इस जगत् को रंजित करता है। कुछ अनुभूतियाँ पूर्व अनुभूतियों से ही शीघ्र अनुभव में आती हैं, कुछ पूर्व में अनुभव न होने पर भी समान प्रतीत

होती हैं और कुछ कहीं पर असम ही प्रतीत होती हैं। वे ही ये हैं, यों कभी कहीं पर अर्धसम भी वे प्रतीत होती हैं ॥४४,४५॥ असत्य अनुभूतियाँ जीवाकाश में सत्यसी प्रतीत होती हैं। वैसे ही कुलवाले, वैसे ही सदाचारवाले, वैसे ही उच्च जन्मवाले, वैसी ही चेष्टावाले वे ही मन्त्री और पुरवासी तुम्हारी प्रतीति में आते हैं। वे परमार्थस्वरूप आत्मा में वे ही हैं, यों अत्यन्त सत्य हैं और अपने अपने देश, काल और चेष्टा की दृष्टि से तुल्य हैं ॥४६,४७॥

सभी जगह ऐसी ही चैतन्य की स्थिति है, ऐसा कहते हैं।

जिसका आत्मस्वरूप सर्वगामी है, ऐसी प्रतिभा की यही स्थिति है।

शंका : ईश्वर की प्रतिभा के अनुसार पदार्थों का निर्माण पहले सुना गया है, जीवप्रतिभा तो अर्थानुसार ही उदित होती है, यदि ऐसा न माना जाय,तो मनोरथ से कल्पित पदार्थ सबके प्रति समानरूप से सत्य हो जायेंगे। इसलिए केवल राजा की प्रतिभामात्र से पदार्थों की सिद्धि कैसे होगी और उसमें अन्य जीवों की समानरूप से व्यवहार योग्यता कैसे होगी ?

समाधान : राजारूप आत्मा में जैसी सन्मयी यानी सर्वसाधारण के लिए सत्यपदार्थवाली प्रतिभा उदित होती है, वैसे ही उससे पहले सर्वसाधारण भोक्ताओं के अदृष्ट से अव्याकृत आकाशरूप ईश्वर में सत्यसंकल्परूप प्रतिभा उत्पन्न होती ही है, इसलिए पूर्वोक्त दोष के लिए अवकाश नहीं है ॥४८॥

पूर्वोक्त रीति से प्रतिभा के प्रतिबिम्ब से उत्पन्न हुई यह लीला तुम्हारे सरीखे शील, सदाचार, कुल और शरीर से युक्त प्रतीत होती है। सर्वव्यापक संवित्‌रूपी दर्पणमें प्रतिभा प्रतिबिम्बित होती है। वह जहाँ पर जैसी होती है, वहाँ पर वैसी ही सदा उदित होती है, उसका अन्यथाभाव कदापि नहीं होता। सर्वान्तर्यामी ईश्वर की प्रतिभा जो भीतर है, वही स्वयं बाहर भी कार्य करती है, इसलिए चित् रूपी दर्पण में प्रतिबिम्ब होने से यह तुम्हारे सदृश स्थित है। तात्पर्य यह है कि उसी के बाह्य होने के कारण सम्पूर्ण पदार्थों में सामान्यदृश्यता की उपपत्ति होती है। आकाश, उसके अन्तर्गत भुवन, भुवन के अन्तर्गत पृथिवी, उसके अन्तर्गत यह तुम मैं और राजा ये सब चिन्मात्रस्वभाव में यानी प्रत्यग्रूप ही हैं। इसी प्रकार और भी तत्त्वज्ञ पुरुष सब पदार्थों को चिदाकाशरूपी बिल्वफल की सत्तामात्र जानते हैं, वे सब चिदाकाश से अतिरिक्त नहीं हैं। हे लीले, तुम भी वैसे ही जानो। उक्त ज्ञान से स्वस्वभाव में स्थित होकर तुम यहाँ अत्यन्त होकर (विक्षेपशून्य होकर) रहो ॥४९-५२॥

चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतालीसवाँ सर्ग

लीला को दूसरे वररूप राजा पद्म की प्राप्ति तथा जीवों को
अपने-अपने संकल्पों के अनुसार फल-प्राप्ति का वर्णन।

श्रीसरस्वतीजी ने कहा : भद्रे, तुम्हारा पति यह विदूरथ रणभूमि में देह का त्याग कर उसी अन्तःपुर में पहुँच कर राजा पद्मरूप होगा ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी,

श्रीदेवी का यह वचन सुन कर देवी के सामने बैठी हुई उस नगर में रहनेवाली लीला ने नम्रतापूर्वक हाथ जोड़ कर देवी से कहा : भगवती सरस्वती देवी की मैंने नित्य ही पूजा परिचर्या की है। सरस्वती देवी जब तब सदा रात में मुझे स्वप्न में दर्शन देती है। हे देवी, जैसी वह है, ठीक वैसी ही आप हैं, अतः मालूम होता है कि वही आप हैं। इसलिए हे वरानने, दीन के ऊपर दया करके मुझे आप वर प्रदान कीजिये ॥२–४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, द्वितीय लीला के यों कहने पर देवी सरस्वतीजी ने उसके भक्तिभाव से किये गये ध्यान और पूजन का स्मरण कर, प्रसन्न होकर उस नगर में रहनेवाली लीला से यह कहा : भद्रे, तुम्हारी जीवनभर की अनन्यभक्ति से, जो कभी भी विच्छिन्न नहीं हुई, मैं तुमसे सन्तुष्ट हूँ, तुम्हें जो इच्छा हो, वह वरदान मुझसे माँगो। उस प्रदेश में रहने वाली लीला ने कहा : हे देवि रणभूमि से देह का परित्याग कर जहाँ पर मेरे पति रहेंगे, मैं इसी देह से वहाँ पर उनकी पत्नी होऊँ ॥५–७॥ श्रीदेवीजी ने कहा : हे पुत्री, तुमने चिरकालतक अनन्यभक्ति से प्रचुर पुष्प–धूप–दीप–युक्त पूजन–सामग्री से मेरा सांगोपांग पूजन किया है, अतः जैसा तुम चाहती हो, वैसा ही होगा ॥८॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, तदनन्तर उस वर के लाभ से उस देश में रहनेवाली लीला के सन्तोष से प्रफुल्लित होने पर उसकी स्थूल शरीर से पतिलोकप्राप्ति और मेरी स्थूलदेह का त्याग कर पतिलोकप्राप्ति हुई, यह अन्तर कैसे ? इस सन्देह से जिसकी चित्तवृत्ति चंचल हो गई थी, ऐसी पूर्वलीला ने देवी से कहा : हे देवी, जो लोग आपके सदृश सत्यकामनावाले और सत्यसंकल्प ब्रह्मरूपी हैं, उनके सब अभीष्ट शीघ्र ही सिद्ध होते हैं। हे ईश्वरी, आपने सत्यकामता के बल से उसी स्थूल शरीर से मुझे गिरिग्रामरूप इस लोकान्तर में क्यों नहीं पहुँचाया ? ॥९–११॥

मुझमें स्वतः कोई कामना नहीं है, क्योंकि मैं पूर्णकाम हूँ। प्राणियों के कर्म के अनुसार होनेवाली मेरी कामना प्राणियों के कर्मों से ही व्यवस्थित है, इस आशयसे देवी लीला की शंका का समाधान करती है।

श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, मैं किसी का कुछ भी नहीं करती, जीव स्वयं अपने सम्पूर्ण ईच्छित पदार्थों को शीघ्र सम्पादित करता है ॥१२॥ संविन्मात्र की अधिष्ठात्री देवी मैं सरस्वती प्राणियों के भावी शुभ फल को वरदान द्वारा प्रकाशित करती हूँ। प्रत्येक जीव में पूर्वजन्म के काम, कर्म और वासना से अवच्छिन्न चिदात्मरूप जीवशक्ति–स्वरूपिणी तत्–तत् कार्य की बीजभूत माया से संवलित जो चित्–शक्ति है, वही फल का उत्पादन करती है ॥१३॥

उसीके अनुसार ही मैं फल देती हूँ, ऐसा कहती है।

जिस जिस जीव की जो शक्ति जैसे जैसे उदित होती है,उस–उस को वैसा वैसा फल देनेवाली वह कर्मानुष्ठान की हेतुभूत कामना के विषयरूप से स्फुरित होती है। मेरी आराधना कर रही तुम्हारी तब यदि 'इस संसार में मेरी मुक्ति होती, तो क्या ही अच्छा होता' ऐसी चिरकाल तक जीवशक्ति उदित हुई ॥१४,१५॥ भद्रे, पूर्वोक्तभिन्न प्रकार से मेरे द्वारा प्रबोधित हुई तुम उक्त युक्ति से बोध द्वारा जिसका अज्ञानरूपी आवरण निकल गया है ऐसे निर्मल

आत्मावस्थितिरूप भाव को प्राप्त की गई हो ॥१६॥ 'मैं मुक्त होऊँ' इस प्रकार की भावना से चिरकाल तक युक्त तुम इस पूर्वप्रदर्शित युक्ति द्वारा मुझसे प्रबोधित हुई हो, अपनी चितिशक्ति के प्रभाव से उस यानी सदा भावित अर्थ को ही प्राप्त हुई हो ॥१७॥ जिस–जिस का पुरुषप्रयत्न चिरकाल तक जैसा उदित होता है, वह समय पाकर उस उस को वैसा–वैसा फल देता है ॥१८॥ अपनी चित्–शक्ति ही तपस्या बन कर या देवता का रूप धारण कर स्वेच्छा से आकाश से फल गिरने की नाईं (मिथ्यारूप) फल देती है ॥१९॥ स्वसंवित् (जीवशक्ति) प्रयत्न के बिना कभी कुछ भी फल नहीं दे सकती, इसलिए तुम जैसा फल चाहती हो वैसा कर्म करो, कर्मानुसार ही फल मिल सकता है ॥२०॥ यह निश्चित है कि सर्वान्तर्यामी चिद्भाव (चित्सत्ता) ही पहले रम्य यानी शास्त्रविहित अथवा अरम्य यानी शास्त्रनिषिद्ध जिस कर्म का विचार करता है और प्रयत्न करता है, बाद में उसीकी फलरूप श्री उदित होती है, ऐसा तुम विचार करो और विचार से जो पवित्रतम पद है, उसको जानकर उसमें स्थित होओ ॥२१॥

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

छियालीसवाँ सर्ग

राजा विदूरथ का विराट् सेना के साथ युद्ध के लिए प्रयाण और
रणभूमि में प्रवेश पूर्वक युद्धारम्भ का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, उस राजमहल के अन्दर जब वे तीन ललनाएँ इस प्रकार की बातचीत कर रही थी, तब क्रोध के साथ घर से निकल कर राजा विदूरथ ने क्या किया ? ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, राजा विदूरथ अपने महल से निकला और जैसे चन्द्रमा तारामण्डल से परिवेष्टित होता है, वैसे ही वह सेनारूप परिवार से परिवेष्टित हुआ, उसके सम्पूर्ण अंग–प्रत्यंग कवच और अस्त्र–शस्त्रों से सुसन्नद्ध थे, हारआदि आभूषण अपने–अपने स्थानों में शोभा पा रहे थे, वह जयकार की तुमुल ध्वनि के साथ महेन्द्र के समान घर से निकला। योद्धाओं को तत् तत् कार्य का आदेश देता हुआ, मन्त्रियों के मुँह से व्यूहरचना की स्थिति या देश की रक्षा–व्यवस्था को सुनता हुआ और वीरगणों का निरीक्षण करता हुआ रथ पर चढ़ा। सुमेरु पर्वत के शिखर के आकार के समान उस रथ का आकार था। मोती और मणियों से वह विभूषित था और पाँच पताकाएँ उसमें फहरा रही थी, अतएव तह उत्तम स्वर्गलोक के विमान के सदृश था, उसमें पहिये और अगल बगल की भीत में जड़ी हुई सोने की कीलें चमक रही थी, मोतियों की झनकार से उसका विशाल अग्रभाग बड़ा सुन्दर प्रतीत हो रहा था ॥२–६॥ वह रथ आठ घोड़ों से जुता हुआ था, वे घोड़े सुन्दर गर्दनवाले थे, अश्वों के सम्पूर्ण शुभ लक्षणों से युक्त थे, उत्तम जाति के थे, फुर्तीले और दुबले पतले थे, जबसे यानी उड़ने के वेग से मानों वे आकाश में देवताओं का प्रवहन कर रहे थे, वेग में वायु को न सहनेवाली अपनी विविध तीव्र गतियों से अपने पिछले देह भाग को आगे के देह भाग से मानों ले जा रहे थे, मानों आकाश को पी रहे थे,

सम्पूर्ण पूनम के चन्द्र के समान चँवरों की कान्ति से युक्त थे और अपनी हिनहिनाहट से दिशाओं के अन्तराल को पूर्ण कर रहे थे ॥७–९॥ तदुपरान्त मदोन्मत्त हाथी रूपी मेघों के चिंघाड़ से बढ़ा चढ़ा हुआ और पर्वतों के शिखरोंमें गूँजने से कठोर नगाड़ों का शब्द होने लगा ॥१०॥ उक्त ध्वनि मदोन्मत्तसैनिकों द्वारा किये गये कोलाहल से, हथियारों को टकराने से प्रचुरमात्रा में हो रही रथ आदि में लगी हुई छोटी–छोटी घंटियों की ध्वनियों से, धनुषों की टंकारसे, बाणों की सरसराहट से, परस्पर के शरीरसे टकराये हुए कवचों की झनझनाहट से, जल रही अग्नि की कड़कड़ाहट से, दुःख भरी रोदन ध्वनि से, योद्धाओं में से एक दूसरे को पुकारने से और बन्दियों द्वारा वीरों का उत्साह बढ़ाने के लिए निन्दा करने से युद्ध के बिना ही हुए मानसिक घाव से कातर हुए लोगों के रोदन से व्याप्त थी । उसने सम्पूर्ण ब्रह्माण्डरूपी बिल को पत्थर के समान ठोस बना दिया था यानी सारा ब्रह्माण्डमण्डल उक्त ध्वनि से भर गया था और उसने दसों दिशारूपी निकुंजों को पूर्ण कर दिया था, अतएव वह भीषण ध्वनि हाथ से पकड़ने के योग्य सी हुई ॥११–१४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर अतिस्थूल बन कर आदित्य के मार्ग को ढ़ाँकने की इच्छा करनेवाला भूमण्डल ही धूलि के वेष से आकाश में उड़ने को तत्पर होकर उठा यानी आकाशमें घनी धूलि छा गई ॥१५॥ उक्त धूलिपटल से वह महान् नगर मानों गर्भवास को प्राप्त हुआ । रजोगुण की अधिक मात्रावाले यौवन से स्वभाविक मूढ़ता की नाईं उक्त रजसे अन्धकार निबिड़ हो गया ॥१६॥ जैसे दिवस के आविर्भाव से दीपों की कान्ति नष्ट हो जाती है, वैसे की तारागण कहीं विलीन हो गये, रात्रि में होनेवाले चंचल भूत – पिशाचों की कतार ने बल पकड़ा । उस महायुद्ध को दो लीलाओं ने तथा राजा विदूरथ की कन्या ने, जिन्हें देवी सरस्वती ने दिव्यदृष्टि दी थी, विदीर्ण हो रहे हृदय से बड़े क्लेश से देखा ॥१७,१८॥ जैसे एकमात्र समुद्र के जलप्रवाहों से बड़वानल शान्त हो जाता है वैसे ही राजा विदूरथ के प्रयाण के अनन्तर नगर को लूट–खसोट रहे राजा सिन्धु के सैनिकों के हथियारों और बाणों से उद्‌भुत हो रहे कटकट शब्द शान्त हो गये ॥१९॥ अपनी सेना को शत्रुवाहिनी के साथ भिड़ाने के लिए ले जा रहे राजा विदूरथको अपनी सेना और शत्रु सेना का बलाबल ज्ञात नहीं हुआ । जैसे अपने परों से उड़ा हुआ सुमेरु पर्वत प्रलयकालीन एकार्णव में प्रवेश करे, वैसे ही उसने भी शत्रु के और अपने बल का अन्तर जाने बिना ही शत्रु के दल–बल में प्रवेश किया ॥२०॥ राजा विदूरथ के परबल में प्रविष्ट होने के उपरान्त 'चट' 'चट' शब्द के साथ साफ सुनाई दे रही प्रत्यंचाध्वनि होने लगी, शत्रुओं की सेना के झुण्ड के झुण्ड, जिन्होंने अपने हथियारों की कान्ति के मेघ बना डाले थे, इधर–उधर घूमने लगे ॥२१॥ अनेक शस्त्रास्त्ररूपी पक्षीगण आकाश का आश्रय कर यानी आकाशमें उड़कर इधर–उधर घूमने लगे । जिन्होंने शत्रुओं के प्राण ले लिये थे, अतएव पाप से मानों जो मलिन हो गई थी, ऐसी शस्त्रों की चमचमाहट इधर–उधर फैलने लगी । शस्त्रों के परस्पर टकराने से उत्पन्न हुई आग अधजले काठ की नाईं जलने लगी । बाणरूपी धारा–प्रवाहों की वृष्टि कर रहे वीररूपी जलधर गर्जने लगे । आरों के समान निष्ठुर हथियार वीरों के अंग

प्रत्यंगों में घुसने लगे। तलवारों के प्रहार पट पट शब्द के रूप से आकाश में उड़े। शस्त्रास्त्रों की अग्निरूपी दीपमालाओं से अन्धकार तुरन्त विनष्ट हो गया। सारी सेनाएँ नूतन बाण रूपी रोंगटों से व्याप्त हो गई। यम की आराधनारूप यात्रोत्सव के लिए कबन्धरूपी नटों की पंक्तियाँ उठने लगी। रणोत्सव की आभूषणरूप युवती पिशाचियाँ रण की भीषणता का खूब ऊँचे स्वर में गान करने लगी ॥२२-२६॥ हाथियों के दाँतों के परस्पर टकराने से उत्पन्न हुए टंकार बड़ी तेजी से ऊपर को गये, आकाश में क्षेपणी से निकले हुए पत्थरों की महानदियाँ बहने लगी। आँधी द्वारा फेंके गये सूखे वनपत्तों के समान शव गिरने लगे, मृत्यु की वृष्टि करनेवाले रणरूपी पर्वत से लाल नदियाँ निकलने लगी ॥२७,२८॥ खून के पनालों से धूल के कण शान्त हो गये और हाथियों के टकराने से उत्पन्न अग्नि से अन्धकार मिट गया, एक मात्र युद्ध का ही ध्यान करने से अन्योन्य की वाणियाँ शान्त हो गयी और मरने के दृढ़ निश्चय से भय शान्त हो गया ॥२९॥ शब्दशून्य, भ्रमरहित अतएव वायु आदि से आकुलतारहित मेघ के समान केवल युद्ध हुआ, तलवाररूपी लहरों की टंकार ही उसमें सुनाई पड़ती थी ॥३०॥ उसमें खट-खट शब्द के साथ बाणवृष्टि बह रही थी, टक टक शब्द के साथ भुशूण्डियाँ गिर रही थी, झण झण शब्द के साथ महान्-महान् शस्त्र टकरा रहे थे, उक्त शस्त्रों से अतिरिक्त तिम-तिम शब्द से युक्त वह दुस्तर युद्ध हुआ ॥३१॥

छियालीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतालीसवाँ सर्ग

सिन्धुदेश के राजा का शत्रुपर विजय पाने में हेतुकथन, सूर्योदय और रण का क्रम वर्णन तथा दोनों राजाओं का विविध मन्त्रास्त्रों द्वारा युद्ध वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, जब कि उक्त भीषण समर-संगम हो रहा था, दोनों लीलाओं ने भगवती सरस्वती देवी से फिर यह पूछा ॥१॥ हे देवि, आपके सन्तुष्ट होने पर भी हमारे पति इस रणभूमि में, जिसमें से हाथी भाग रहे हैं, अकस्मात् विजय क्यों नहीं प्राप्त करते, कृपा कर कहिये ॥२॥ श्रीसरस्वतीजी ने कहा : पुत्रियों, राजा विदूरथ के शत्रु इस राजा सिन्धु ने विजय के लिए चिरकाल तक मेरी आराधना की थी, राजा विदूरथ ने विजय की कामना से मेरी आराधना नहीं की थी, इसलिए यही (राजा सिन्धु ही) विजय प्राप्त करेगा और राजा विदूरथ पराजित होगा। सम्पूर्ण प्राणियों के हृदयान्तर्गत संवित् ही मैं (ज्ञप्ति) हूँ। उस ज्ञप्तिरूप मुझे जो पुरुष जब जैसा प्रेरित करता है, यानी काम, कर्म और वासना के बल से बल देने में प्रवृत्त करता है, तब उसका वैसा फल सम्पादन करती हूँ यानी तत्-तत् फलरूप से विवर्तित होती हूँ ॥३,४॥

उक्त अर्थ को ही स्पष्ट करती हैं।

जो मुझे जैसे प्रेरित करता है, उसके लिए में तत्फलस्वरूप होकर स्थित होती हूँ। मेरा यह स्वभाव अग्नि की उष्णता के समान अन्यथा नहीं होता ॥५॥ बाले, राजा विदूरथ ने

'मैं मुक्त ही होऊँ' इस बुद्धि से मेरी, जो कि प्रतिभारूपिणी है, आराधना की है, इसलिए वह मुक्त होगा ॥६॥

बाले से अप्रबुद्ध लीला को सम्बोधन किया गया है। प्रबुद्ध लीला को 'बाले' से सम्बोधन सम्भव नहीं है क्योंकि लीला प्रबुद्ध हो चुकी है।

राजा विदूरथ का शत्रु जो सिन्धुनामक राजा है, उसने स्वयम् 'मैं जय से शत्रु को पीड़ित करूँ' इस संकल्प से मेरी पूजा की थी ॥७॥ हे बाले, इसलिए राजा विदूरथ उस देह को पाकर तुम्हारे और इस भार्या के साथ समय आने पर मुक्त होगा और इसका शत्रु राजा सिन्धु इसको मारकर विजयी हो पृथ्वीतल में स्वयं राज्य करेगा ॥८,९॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, दो देवियाँ यों कह रही थी कि जूझ रही दो सेनाओं का आश्चर्यमय युद्ध देखने के लिए मानों भगवान् भास्कर उदयाचल में आरूढ़ हुए ॥१०॥ जिन तिमिर संघातों ने (अन्धकार समुदायों ने) रात्रि में (सन्ध्या में) तारों की भाँति राक्षस, पिशाच आदि जीव संघों को वैरिरूपी विदूरथ की सेना की नाईं प्रकट किया था, वे न मालूम कहाँ चले गये ॥११॥ नीला आकाश और पर्वतश्रेणियाँ धीरे–धीरे प्रकट होने लगी। सम्पूर्ण भुवन काजल के सागर में से निकाला हुआ–सा शोभित हुआ ॥१२॥ रणभूमि में श्रेष्ठवीरों पर रुधिर छटा की नाईं शैलों पर सुवर्ण के द्रव समान सूर्य किरणें गिरी ॥१३॥ तदुपरान्त आकाश और रणभूमि दोनों आकाश में उड़ी हुई और भूमि पर गिरी हुई वीरों की भुजाओं से ऐसे प्रतीत होते थे, मानों उनमें सर्प घूम रहे हैं, परस्पर प्रभा से दोनों ऐसे प्रतीत होते थे कि मानों उनमें सोना बिखेरा है, आकाश में उड़ रहे और भूमि पर गिरे हुए कुण्डलों से आकाश और धरती तक ऐसा मालूम पड़ता था मानों उनमें रत्नराशियाँ बिखेरी हों, सिरों से कमलपूर्ण तालाब– से प्रतीत होते थे, हथियारों से मानों गैंड़ों से निबिड़रूप से भरे से मालमू होते थे, बाणों से ऐसे लगते थे कि मानों वे टिड्डियों के दल से व्याप्त हों, रक्तकान्ति से वे स्थिरसन्ध्या से युक्त से मालूम होते थे, शवों से सिद्ध पुरुषों से पूर्ण हारों से साँप की केंचुल से भरे से, कवचों से प्रदीप्त और संकटग्रस्त से प्रतीत होते थे। आकाश में उड़ रही और भूमि में गिरी हुई पताकाओं से मानों उनमें लताएँ लहलहा रही हों, जंघाओं से मानों उनमें वन्दनवार बनाये गये हों, हाथ और पैरों से वे पल्लवयुक्त से प्रतीत होते थे, बाणों से शर के वन के सदृश लगते थे, शस्त्रों की किरणों से हरी दूब से हरे भरे मैदान से प्रतीत होते थे, शस्त्रों के समूहोंसे केतकी के फूलों से युक्त से प्रतीत होते थे, हथियारों के समूहों से व्याप्त वे उन्मत्त भैरव से प्रतीत होते थे, शस्त्रास्त्रों के टकराने से उत्पन्न हुई अग्नि से प्रफुल्ल अशोक के वन के तुल्य प्रतीत होते थे, समुद्र की नाईं 'घुं घुं' महाशब्दवाले, प्रातःकाल के सूर्य से प्रतीत आयुधवाले भाग रहे सिद्ध नायकों से सौवर्ण नगराकार प्रतीत होते थे, प्रास, तलवार, शक्ति, चक्र, ऋष्टि और मुद्‌गरों के उत्पतन और निपतन से आकाश प्रतिध्वनित हो रहा था, बह रही रुधिर नदी के प्रवाह से शवों के झुण्ड के झुण्ड बहाये जा रहे थे, भुशुण्डी, शक्ति, कुन्त, तलवार, शूल तथा पत्थरों के उत्पतन और निपतन से आकाश और रणभूमि पट गई थी, शूल और अन्यान्य शस्त्रास्त्रों के आघात से आच्छन्न कबन्ध वहाँ पर गिर रहे थे

और काल के सदृश कराल ताण्डव करनेवाले वेताल हल–गल शब्द कर रहे थे ॥१४–२२॥

इस प्रकार आकाश और रणभूमि का वर्णन कर सिन्धु और विदूरथ का द्वैरथ (जिसमें केवल दो ही रथ हैं) युद्ध का वर्णन करते हैं।

परस्पर के युद्ध से अपने–अपने योद्धाओं का विनाश हो जाने से शून्य रणभूमि में जैसे स्वर्ग में आकाश के चिह्नभूत सूर्य और चन्द्रमा दिखाई दें, वैसे ही राजा विदूरथ और राजा सिन्धु के प्रदीप्त और चंचल दो रथ दिखाई दिये। वे दोनों रथ चक्र, शूल, भुशुण्डी, ऋष्टि, प्रास और अन्यान्य हथियारों से खचाखच भरे थे और उनमें प्रत्येक में एक–एक हजार वीर सवार थे। विस्तृत शब्दवाले अपने–अपने पैतरों से अपनी इच्छानुसार घूमते थे, उनके चीत्कार युक्त महान् पहिये से अनेक मृत और घायल सैनिक चूर–चूर किये गये थे, मदोन्मत्त हाथी की चाल से वे रुधिरनदियों को, जो केशरूपी सेवाल से पूर्ण थी, रथों के चक्र ही जिनमें चक्रवाक और जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र थे, तैरते थे, उन्होंने चल रहे पहियों के आघात से हुई व्यथावश घायल हाथियों को गिरा डाला था, उनमें मणि और मोतियों के झनकार ही रण में प्रवृत्त कूबरों के (रथ के अग्र भाग के) शब्द हो रहे थे, वायु के आघात से फरफरा रही पताका के अग्रभाग में पट–पट शब्द हो रहे थे, जिन वीरों के सैनिक कातर थे ऐसे अनेक महावीर उनके पीछे चल रहे थे, वे रणभूमिमें चल रहे भाले, बाणों, धनुषों, शक्तियों, प्रासों, कीलों और चक्रों की धाराओं को उगल रहे यानी वृष्टि कर रहे थे ॥२३–२९॥ रणभूमि के कुण्डल के समान अलंकाररूप रथों के परिवर्तनरूप मण्डल में एक क्षणभर आवृत्ति कर युद्ध में वे दोनों संमुख परस्परकी क्रिया के व्यत्यास से शोभित होते थे। बाणरूपी धारासमूह और प्रास रूपी ओलों के गिराने और उनको सहने के लिए की गई ध्वनि होने पर दोनों ही परस्पर तरंगित सागर और मेघों की नाईं गर्जते थे। परस्पर आघात–प्रतिघात कर रहे उन दोनों भूमि के नरश्रेष्ठों के पत्थरके मूसल के सदृश बाण आकाश में फैलते थे ॥३०–३२॥ उन बाणों में से कुछ के मुँह तलवार के सदृश थे, कुछ के मुँह मुद्‌गरके सदृश थे, कुछ के मुँह चक्रों के तुल्य थे, कुछ के मुँह कुल्हाड़े के सदृश थे, कुछ के मुँह शूल और शिलाओं के सदृश थे, कुछ के मुख त्रिशूलाकार और कोई महाशिला के समान स्थूलाकार थे, वे सब बाण आकाश में फैलते थे ॥३३,३४॥ उस समय प्रलयकालीन वायु से गिराये गये पत्थरों के समूहों की नाईं बाण उन पर गिरते थे। सिन्धुराज और विदूरथ का परस्पर संमिलन प्रलयकाल में बढ़े हुए दो समुद्रों के परस्पर संमिलन विलास के तुल्य हुआ ॥३५॥

सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तालीसवाँ सर्ग

सिन्धु और विदूरथ के संग्राम का, जो कि विचित्र माया को
उत्पन्न करनेवाले मन्त्रास्त्रों से विश्व को मोहित करनेवाला था, विस्तार से वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, राजा विदूरथ सामने खड़े हुए उन्नत मस्तक

राजा सिन्धु को पाकर मध्याह्नकालीन सूर्य के तुल्य कोप से व्याप्त हुआ ॥१॥ जैसे प्रलयकालीन वायु का आघात सुमेरु के तन को टंकार से युक्त करता है, वैसे ही राजा ने अपने धनुष को, जिसने चिरकाल से दिक्मण्डल को मुखरित कर रक्खा था, टंकार से युक्त किया यानी ताना ॥२॥ जैसे प्रलयकालीन सूर्य अपनी किरणों को छोड़ता है, वैसे ही रोष के आवेग से प्रवृत्त राजा ने तरकसरूपी रात्रि में बँधे हुए बाणों की परम्परा को छोड़ा ॥३॥ उसकी प्रत्यंचा से एक ही बाण जाता था, पर वह आकाशमें जाते–जाते हजार हो जाता था और लाख होकर गिरता था, भाव यह कि राजा का हस्तलाघव इतना बढ़ा–चढ़ा था कि एक बाण के बाद ही पलकभर में हजार बाण आाकाश में दिखाई देते थे और गिरने तक उनकी संख्या लाखों तक पहुँच जाती थी ॥४॥ राजा सिन्धु की भी शक्ति और हस्तलाघव राजा विदूरथ के समान ही थे। उनकी ऐसी आश्चर्यमय धनुर्युद्ध में कुशलता स्वाभाविक नहीं थी, किन्तु वर देने वाले भगवान् श्रीविष्णु के वरदान से वह प्राप्त हुई थी ॥५॥ प्रलयकालीन वज्रों की नाईं प्रचण्डशब्द करनेवाले मूसलाकार मूसलनाम के उन बाणों ने आकाशतल को आच्छन्न कर दिया ॥६॥ आकाश में शब्दायमान सोने के बाणों की कतार प्रलयकालीन पवन से पीड़ित अतएव शब्द कर रही और गिर रही तारावली के समान शोभित हुई ॥७॥ जैसे समुद्र से जलप्रवाह सदा निकलते रहते हैं और जैसे सूर्य से किरणें निरन्तर निकलती रहती हैं, वैसे ही राजा विदूरथ से बाणों की मूसलाधार वृष्टि निरन्तर निकलती गई ॥८॥ विदूरथ से वे ऐसे निकलते थे, जैसे आँधी से खूब हिलाये गये महावृक्ष से फूल गिरते हैं, जैसे खूब तपाये गये और पीटे गये लोहपिण्डों से चिनगारियाँ निकलती हैं, जैसे वृष्टि करनेवाले मेघ से धाराएँ निकलती हैं, जैसे झरने से जलकण निकलते हैं और जैसे उसके नगर में पूर्वोक्त अग्नि महादाह से चमकदार चिनगारियाँ निकले ॥९,१०॥ उन दोनों योद्धाओं के धनुषों के चट–चट शब्द को सुन रही दोनों सेनाएँ शान्त सागरके समान स्तब्ध हो गई ॥११॥ जैसे सागर की ओर गंगाप्रवाह बहते हैं, वैसे ही युद्ध में राजा सिन्धु की ओर घरघर शब्द से युक्त वेग वाले बाणों के प्रवाह बहते थे ॥१२॥ धनुषरूपी मेघ से चमक रहे सोने के फाल (अग्रभाग) वाले बाणों की वृष्टि 'शव'–'शव' शब्द करती हुई निरन्तर निकलती थी ॥१३॥ उस नगर में रहनेवाली लीला ने राजा सिन्धु को (सागरको) भरने के लिए जा रहे बाणों की गंगा के उस प्रवाह को झरोखे से देखकर और उस बाणसंघीत से अपने पति में विजय की आशा कर मारे आनन्द से विकसित मुखारविन्दवाली होकर देवी से निम्नलिखित वाक्य कहा ॥१४,१५॥ हे देवि, आपकी जय हो, ये हमारे स्वामी विजय प्राप्त कर रहे हैं, आप देखिये, इस बाणवृष्टि से, औरों की तो बात ही क्या है, मेरु भी चूर–चूर हो सकता है ॥१६॥ पति में गाढ़ प्रेम होनेके कारण आकुलतापूर्वक उसके ऐसा करने पर तथा युद्धदर्शन में व्यग्र दो देवियों के मनुष्य देह में आत्मबुद्धि करनेवाली उस नगर में निवास करनेवाली लीला के ऊपर हँसने पर जैसे जह्नुऋषि ने गंगाजी को पी डाला था, वैसे ही सिन्धुरूपी बड़वानल ने अगस्त्य स्थानापन्न हुए बाणरूपी दाह से राजा विदूरथ के बाणसागर को पी डाला ॥१७,१८॥ राजा सिन्धु ने अपनी बाणवृष्टि से उस बाण समूह रूपी महामेघ को

कणशः काट कर फिर उसे महीन धूलि बनाकर आकाशरूपी सागर में फेंक दिया। जैसे बुझे हुए दीप की गति नहीं जानी जाती यानी दीपक कहाँ गया, यह ज्ञात नहीं होता, वैसे ही उस बाणसमुदाय की गति किसीको ज्ञात नहीं हुई ॥१९,२०॥ राजा सिन्धु ने बाणों की उस वेगवती वृष्टि को तहस-नहस कर रण में अतिशय अनुराग होने से शरीर (शवशरीर) रूपी जल को धारण करनेवाले सैकड़ों शवोंसे युक्त मेघ को आकाश में फैलाया ॥२१॥ जैसे प्रलयकालीन मत्त पवन साधारण मेघ को उड़ा देता है वैसे ही राजा विदूरथ ने भी उसे अपने उत्तम-उत्तम बाणों से तुरन्त उड़ा दिया ॥२२॥ दोनों राजाओं ने इस प्रकार बाणवृष्टि से, प्रहार और प्रतीकार से, एक दूसरे के अस्त्र को व्यर्थ करने से और एक दूसरे को लक्ष्य बनाने से एक प्रहर बिता दिया ॥२३॥ तदुपरान्त राजा सिन्धु ने गन्धर्वों की मित्रता से प्राप्त विमोहनास्त्र का धनुष में सन्धान किया, उससे विदूरथ के सिवा उसके पक्ष के सब लोग मोह को प्राप्त हो गये। विमोहनास्त्र से राजा विदूरथ के सैनिकों के अस्त्र-शस्त्र और वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये थे, मूँह से वचन नहीं निकलता था, मूँह और नेत्रों में विषाद छा गया था तथा वे मृत से हो गये अथवा चित्रलिखित से हो गये थे ॥२४,२५॥ सम्मोहनास्त्र से उत्पन्न मोह के विदूरथ से भिन्न लोगों को मन्द बनाते न बनाते राजा विदूरथ ने प्रबोधास्त्र उठाया। प्रबोधास्त्र के सन्धानसे प्रातः काल में कमलिनी की (कमलसर की) नाईं सब लोग जाग उठे, तब तो जैसे सूर्य मन्देह नाम के राक्षस पर क्रुद्ध होता है, वैसे ही राजा सिन्धु विदूरथ पर क्रुद्ध हुआ यानी लाल पीला हुआ ॥२६,२७॥ तदनन्तर उसने (सिन्धु ने) भीषण नागास्त्र उठाया, जो कि पाशबन्धन द्वारा दुखदायी था, नागास्त्र से आकाश पर्वताकार साँपों से व्याप्त हो गया। मृणालों से (कमल की जड़ों से) जैसे तालाब विलास को प्राप्त होता है,वैसे ही सफेद साँपों से भूमि विलसित हुई,सब के सब पर्वत काले सर्परूपी कम्बलों से आच्छन्न हो गये, ये सभी पदार्थ विष की गर्मी से खेद को प्राप्त हुए और पर्वतों तथा वनों की विशालता से युक्त भूमि व्याकुलता को प्राप्त हो गई। विष की विषमता के सूचक, आग की चिनगारियों से पूर्ण और हिमशीतल तथा स्निग्धपदार्थों को भी रुखे और गर्म कर देनेवाले वायु भस्म से पृथक् किये गये अंगारों से व्याप्त होकर बहते थे ॥२८-३१॥ तदनन्तर महास्त्रवेत्ता राजा विदूरथ ने सौपर्ण (गारुड़) अस्त्र को उठाया। गरुड़ास्त्र से पर्वतोंकी नाईं विशालकाय गरुड़ उदित हुए। उन्होंने सम्पूर्ण दिशाओं को सुपर्णमय (सर्पमय) बना दिया, सब दिशाएँ उनसे छा गई और परों द्वारा परवाले पर्वतों के तुल्य अपने उड़ने के वेग से उन्होंने प्रलयकाल का वायु उत्पन्न कर दिया। अपने श्वासके वेग से फुफकार मार रहे साँपों को खींच लिया तथा महान् घुर, घुर शब्द से समुद्र के कुछ हिस्सों को भर दिया था ॥३२-३४॥ जैसे महामुनि श्री अगस्त्यजी ने भूमि को भरनेवाले (प्लावित कर देनेवाले) कष्टके साथ इधर उधर सरक रहे चंचल प्रवाहवाले समुद्र को पी डाला था, वैसे ही उस गरुड़ास्त्र ने भूमि को आच्छन्न करनेवाले इधर उधर कष्ट के साथ सरक रहे सर्परूपी प्रवाह को पी डाला ॥३५॥ काले सर्परूपी कम्बलों से निर्मुक्त भूमण्डल ऐसा शोभित हुआ, जैसा कि वराह भगवान् द्वारा चिरकाल से उद्भूत अतएव वारि राशि से

निकाला हुआ भूमिमण्डल शोभित हुआ था। तदुपरान्त वह गरुड़ों की महती वाहिनी, जैसे वायु के झोंकों से दीपसमुदाय अदृश्य हो जाता है, जैसे शरद् ऋतु से मेघमण्डल लुप्त हो जाता है, जैसे वज्र के भय से पक्षयुक्त मैनाक आदि पर्वत संघात सामने से अदृश्य हो जाता है, जैसे स्वप्नदृष्ट नगर लुप्त हो जाता है और मनोरथ से कल्पित नगर तथा जलप्रवाह या नगरों की परम्परा विलुप्त हो जाती है, वैसे ही, न मालूम कहाँ चली गई॥३६–३८॥ तदुपरान्त राजा सिन्धु ने अन्धा बनानेवाले अन्धकार को पैदा करनेवाले तमोस्त्रकी सृष्टि की। उससे काला और शिला के मध्य के समान घना अन्धकार बढ़ा। अन्तरिक्ष और भूमिमण्डल के मध्य में फैला हुआ वह घना अन्धकार एकमात्र सागर सा हो गया, उसमें दोनों राजाओं की सेनाएँ मछलियाँ सी हुई और उनके अंग–प्रत्यंग में लगे हुए मणिगण तारे–से हुए॥३९,४०॥ अन्धकार के प्रसार से जगत् स्याही के पंक के सागर के तुल्य हो गया और अंजनपर्वत के उपादानरूप धूलिकणों के साथ उत्पन्न हुए प्रलयवायुओं से व्याप्त सा हो गया। सब लोग मानों अन्धे कुएँ में गिर गये थे, चारों दिशाओं के, कल्पान्तकाल की नाई, सब व्यवहार नेस्तनाबूद हो गये थे॥४१,४२॥ तदुपरान्त मंत्रों में श्रेष्ठ राजा विदूरथ ने ब्रह्माण्डमण्डल में दीपकतुल्य प्रकाश करनेवाले सूर्यास्त्र की सृष्टि कर गुप्तमन्त्रणा की कोई अपेक्षा किये बिना ही जगत् को सचेष्ट कर दिया॥४३॥ तदनन्तर सूर्यरूपी अगस्त्य ने अपने किरणों से अन्धकार के सागर को, ऐसे पी डाला जैसे निर्मल शरद् ऋतु काले मेघों को पी डालती है॥४४॥ अन्धकाररूपी वस्त्र से उन्मुक्त सुन्दर मेघों से युक्त निर्मल दिशाएँ वस्त्ररहित रमणीय स्तनमण्डल से संपन्न कान्ताओं की नाईं, राजा के सन्मुख सुशोभित हुई॥४५॥ उनके मध्य में सज्जनों के अन्तःकरण में लोभरूपी काजल–समूह से मुक्त बुद्धि के समान सम्पूर्ण वनपंक्तियाँ प्रकट हो गई॥४६॥ तदनन्तर क्रोध से व्याकुल राजा सिन्धुने एक क्षण में महाभयंकर राक्षसास्त्र का प्रयोग किया॥४७॥ राक्षसास्त्र के प्रयोग से दसों दिशाओं से बड़े भयानक और कठोर वनराक्षस निकल आये। वे पातालमें रहनेवाले दिग्गजों की फुफकार से विक्षुब्ध (तरंगित) सागरों के तुल्य थे। उनकी जटाएँ कपिल रंग की और ऊपर को खड़ी थी, चट चट शब्द कर रहे थे, उनकी भीषण जीभ लप लपा रही थी, अतएव वे ऊपर उठनेवाली लाल ज्वालाओं से युक्त, चट चट शब्द कर रही थी, जिसमें काली, कराली, मनोजव, सुलोहिता आदि सात उग्र ज्वालाएँ लपलपा रही हों, ऐसी गीले काठवाली अग्नि के समान धूम्रवर्ण के थे। वे आकाश में जलभौंरी की नाई घूमते थे, भीषण चीत्कार शब्द टंकार करते थे, अतएव वे अग्नि के सन्ताप से युक्त (जल रहे) और महान् धुएँ से चंचल उल्मुकधारियों के सदृश थे॥४८–५०॥ दाढ़रूपी मृणालों से आक्रान्त मुखों से और कीचड़ से मलिन चक्षु आदि इन्द्रियों से युक्तरोमरूपी सेवाल से युक्त शरीरवाले वे खराब पल्वलों के (छोटे तालाबों) तटों की नाईं उदित हुए थे। खराब पल्लवों के तट मृणालों और कीचड़ तथा कमलगट्टों से व्याप्त रहते हैं और सेवाल भी उनमें रहता है॥५१॥ जैसे सजल मेघ गरजता है, सूर्य, चन्द्र, तारे आदि ज्योतियों को निगल जाता है और बिजली से युक्त होता है, वैसे ही गरज रहे और लोगों को निगल रहे मानों जगत् को

निगलने के लिए ब्रह्मा द्वारा रचे गये से वे जटाजाल रूप बिजली से युक्त थे ॥५२॥ इसी समय युद्धभूमि में लीलापति राजा विदूरथ ने दुष्ट भूतों का विनाश करनेवाला नारायणास्त्र, प्रयोग करनेके लिए, उठाया ॥५३॥ इस श्रेष्ठ अस्त्र के उदित होते ही सूर्य के उदित होने पर जैसे अन्धकार विलीन हो जाता है, वैसे ही राक्षसों की वे विविध शस्त्रास्त्र परम्पराएँ विलीन हो गई। नारायणास्त्र के प्रयोगों से तीनों भुवन राक्षसों की महती सेना से शून्य हो गये। अतएव जैसे शरद ऋतु में मेघों से निर्मुक्त अतएव निर्मल आकाश शोभित होता है, वैसे ही राक्षस सेनाशून्य त्रिभुवन शोभित हुआ ॥५४,५५॥ तदनन्तर राजा सिन्धु ने आग्नेयास्त्र, जिसने आकाशको प्रज्वलित कर दिया था, छोड़ा, उससे दिशाएँ प्रलयकालीन अग्नि से जलाई गई सी जलने लगी ॥५६॥ धूम्ररूपी मेघों के संघात से आच्छन्न सम्पूर्ण दिशाएँ आकाश में गूंथे हुए पाताल के अन्धकारसे आकुल सी हो गई ॥५७॥ जले हुए पर्वत सोने के से लगते थे और फूले हुए और अत्यन्त घने चम्पा वृक्षों के वनों से युक्त से लगते थे ॥५८॥ आकाश, पर्वत और दिशामण्डल मृत्यु के उत्सव में कुमकुम से सींची गई मालाओं की नाईं अग्नि की ज्वालाओं के जाल से जटिलता को प्राप्त हो गये यानी व्याप्त हो गये। हजारों आकारवाले नौकावेगों से सागर से आये हुए और आकाशचुम्बी बड़वानल से मानों जगत् के अग्निरूपी अद्वैतकी (अग्निरूपताकी) संभावना करती हुई जनता जलाई गई ॥५९,६०॥ राजा विदूरथ ने आग्नेय अस्त्र को जीतकर रिपु सिन्धु पर भी जैसे यह अस्त्र प्रहार करे वैसे पूजा करके वारुणास्त्र का प्रयोग किया ॥६१॥ उस अस्त्र के प्रयोग से शरों के मार्ग के अवकाश में दसों दिशाओं से चारों ओर के अन्धकार के प्रवाह की नाईं, द्रवरूप पर्वतों की नाईं, आकाश के भाग की नाईं, स्थिरगति (निश्चल) बादलों की नाईं, महासागर की नाईं और ऊपर से नीचे को लुढ़काई गई कुलपर्वतों की चट्टानों की नाईं जलप्रवाह आने लगे ॥६२,६३॥ वे जलप्रवाह क्या थे मानों बाणों के मार्गभूत आकाश में उड़े हुए तमाल वृक्षों के झुण्ड थे, आपस में एक दूसरे से पिरोई हुई रात्रियाँ थी, लोकालोक पर्वत की तलहटी से निकले हुए असंख्य काजल के अन्धकार रूपी ढेर थे आकाश के दर्शनों की तीव्र इच्छावाली विशालकाय पाताल की गुफाएँ थी, जिनकी स्वभावतः विशाल देह महान् घुरघुर शब्द के वेग से और भी अधिक बढ़ गई थी ॥६४,६५॥ जैसे भुवनव्यापिनी काली रात सन्ध्या को शीघ्र ही पी डालती है, वैसे ही जल संघात ने उन्मत्त उस अग्निसंघात को पी डाला। जलराशि ने महान् विस्तार को प्राप्त उस अग्नि को पीकर जैसे व्यक्त (प्रकट) होती हुई निद्रा श्रम से श्रान्त शरीर को भर देती है, वैसे ही पहले ज्वालाओं से व्याप्त भुवनतल को भर दिया ॥६६,६७॥ पूर्व अस्त्र द्वारा की गई अपनी मलिनता को हटानेवाले तथा उनसे विरुद्ध अस्त्रवेत्ताओं ने परस्पर ऐसे मायिक अस्त्रमोह किये, जिन्हें वे अपने सामने स्वयं देखते थे और शत्रु के विनाशरूप फल द्वारा उनका अनुभव भी करते थे ॥६८॥ तदनन्तर जल से राजा सिन्धु के अपनी सेना की रक्षा करनेवाले अस्त्रशस्त्र समूह और श्रेष्ठ योद्धा तिनकों की नाईं बह चले और राजा सिन्धु का रथ भी जलप्रवाह में तैरने लगा। इसी बीच राजा सिन्धु को शोषणास्त्र का स्मरण हुआ। उसने आपत्ति से बचानेवाले तथा देव से प्राप्त शररूपी शोषणास्त्र का धनुष में

सन्धान किया ॥६९,७०॥ सूर्य के उदय से रात्रि की नाईं शोषणास्त्र से जलमयी माया शान्त हो गयी जो मर चुके थे वे, मरे ही रह गये, किन्तु भूमितल सूख गया ॥७१॥ तदनन्तर मूर्ख के क्रोध के सदृश लोगों को क्लेश पहुँचा रहा सूर्यताप, जोकि सूखे हुए पत्तों से इधर उधर चारों ओर व्याप्त विशाल वनों से अधिक कठोर हुआ था, खूब बढ़ने लगा ॥७२॥ दिशाओं की चमचमा रहे सुवर्ण के द्रव की नाईं सुन्दर शरीर शोभा ऐसी भली मालूम होती थी मानों राजाओं की उत्तम स्त्रियों के शरीर में लगा हुआ केसर आदि का अंगलेप हो। शोषणास्त्र से राजा सिन्धु के विरोधी ग्रीष्म ऋतु की वनाग्नि के खूब सन्तप्त कोमल–कोमल पल्लवों की नाईं ताप से होनेवाली मूर्च्छा को प्राप्त होने लगे ॥७३,७४॥

तदुपरान्त रणभूमि की भयंकरता के बढ़ने पर राजा विदूरथ ने क्रेंकार की (प्रत्यंचाशब्द की) शोभा से व्याप्त धनुष को तान कर उसमें पर्जन्यअस्त्र का अनुसन्धान किया। एक स्थान में ढेर लगा कर रक्खी हुई रात्रियों की नाईं जलपूर्ण होने के कारण मन्दगामिनी मेघपंक्तियाँ तमाल वनों के आकाशमें उड़ने की लीला से उदित हुई। उक्त मेघपंक्तियाँ जलराशि से नमने के कारण उन्नत नहीं थी, गर्जन और तर्जन से उनका गमन बड़ा उद्दाम था, तिरछे विस्तार से अमन्थर और स्वाभाविक विस्तार से कुण्ठित गतिकी नाईं संकुचित सम्पूर्ण दिशामण्डल मानों उनके कुण्डल हो गये थे। विकीर्ण (इधर उधर बिखेरे गये) जलबिन्दुओं और शीतलता से सुखदायक, मेघाडम्बर को भिन्न करनेवाले और मूसलाधार वृष्टि से व्याप्त वायु बहने लगे। अप्सराओं के कटाक्ष विक्षेप के तुल्य चपल बिजली आकाश में ऐसी चमकती थी, मानों सोने के साँप किसी बहुत बड़ी आपत्ति से बड़ी उतावली के साथ निकल रहे हों ॥७५–७९॥ दिशाएँ, जिनकी कन्दराएँ मेघों के गर्जन की बढ़ी चढ़ी प्रतिध्वनियों से व्याप्त थी और जिनमें मेघगर्जन सुनने के पश्चात् 'हमारे सामने यह कौन गरज रहा है, यों क्रोधपूर्वक सामने दौड़े हुए हाथियों, सिंहों और रीछों के प्रतिगर्जन से विपुल कोलाहल हो रहा था, घूमने लगी ॥८०॥ ओले गिरने की कष्टदायक टं टं ध्वनियों से कठिन खूब वेगवाली वृष्टि बड़ी–बड़ी मूसलाधारों से गिरने लगी। वह वृष्टि क्या थी मर्मस्थान और नसों को तोड़ने का ध्वनियोंसे कठिन (क्रूर) यम की ही दृष्टि थी ॥८१॥ पहले मेघों के युद्ध के लिए मानों शूरवीरता को धारण किया हुआ सा अग्नि के तुल्य गर्म पृथिवी की वाष्प पाताल से निकली ॥८२॥ तदुपरान्त परमात्मा के बोधरूप निरतिशय आनन्दप्रवाह से सांसारिक वासनाओं की नाईं मृगतृष्णा को पैदा करनेवाले आतपसन्ताप (प्रचण्ड सूर्य प्रकाश) पर्जन्यास्त्र से एक पलक भर में शान्त हो गया ॥८३॥ सारा भूमण्डल कीचड़ से सन गया अतएव उसमें चलना भी दूभर हो गया। राजा सिन्धु जलधाराओं से ऐसा पूर्ण हो गया जैसा कि जलराशि से समुद्र भर जाता है। यों जलधाराओं से व्याप्त सिन्धु राजा ने वायव्य अस्त्र का प्रयोग किया। वायव्यास्त्र ने आकाशरूपी कोटर को (खोखले को) वायु से पूर्ण कर दिया और वह स्वयं प्रलयकाल के नृत्य में मत्त और गा रहे भैरव के सदृश भीषण था यानी उसमें सांय–सांय शब्द और कम्पन प्रचुर मात्रा में हो रहा था ॥८४,८५॥ दसों दिशाओं में प्रबल आँधी बहने लगी। जैसे वज्र गिरने से लोगों के शरीर में

दर्द होता है, वैसे ही उक्त आँधी ने प्राणियों के अंगों को व्यथित कर डाला, बड़ी-बड़ी शिलाओं के टुकड़ों को तोड़-फोड़ डाला, योद्धाओं के प्रलय काल की सूचना करनेवाले एवं योद्धाओं के प्रतियोद्धाओं द्वारा किये गये बड़े-बड़े टंकारों से यानी शिलाओं को तोड़ने की ध्वनियों से टंकवाले से अर्थात् पत्थरों को तोड़ने के हथियारों से (घनोंसे) युक्त-सी थी ।।८६।।

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

उनचासवाँ सर्ग

पर्वतास्त्र, वज्रास्त्र, ब्रह्मास्त्र और पिशाचास्त्र का,
जिसमें पिशाचों की विविध लीलाएँ थी, विस्तार से वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तुषार से सने हुए वायु बहने लगे, उन्होनें वन के पल्लवों को अस्त-व्यस्त कर दिया, वन के वृक्षों को कँपा दिया और जितने मूर्तिमान् पदार्थ थे, उनके मस्तकों में धूलि को लीला से आपीड़ (शिरोभूषण) बना दिया ।।१।। उक्त वायुओं ने वृक्षों के झुण्ड के झुण्ड को पक्षियों की नाईं आकाश में उड़ा दिया, बड़े-बड़े योद्धाओं को पृथिवी में पछाड़ दिया और आकाश में उड़ा दिया बड़े-बड़े महलों की अटारियों के हिस्से को चूर-चूर कर दिया और बादलरूपी भीत को छिन्न भिन्न कर दिया। उस भीषण वायु से राजा विदूरथ का रथ भी जैसे जीर्ण पत्ता नदी के वेग से बहाया जाता है, वैसे ही बहाया गया ।।२,३।। तदुपरान्त महास्त्रवेत्ता राजा विदूरथ ने पर्वतास्त्र का त्याग किया, वह मानों मेघ-जल के साथ आकाश को भी ग्रसने के लिए उद्यत था ।।४।। उस पर्वतास्त्र के प्रहार से सर्वत्र व्याप्त वायु ऐसे शान्ति को प्राप्त हुआ जैसे कि तत्त्वज्ञान होने से, मायारूप कारण का नाश होने के कारण, उसके कार्य विराट् सूत्रात्मा शान्त हो जाता है ।।५।। जैसे अनेक लोगों के शवों के ढेर में करोड़ों कौए गिरते हैं, वैसे की पहले वायु के कारण आकाश में गई हुई वृक्षपंक्तियाँ पृथिवी में गिरी ।।६।। दिशाओं के सूत्कार (निःश्वास के शब्द), डात्कार (लूटपाट के शब्द), भांकार (भीषण शब्द) और उत्कार शब्द शान्त हुए, नगर, गाँव, वन और लताओं के निरर्थक वर्णनवचन विध्वस्त होते हैं ।।७।। जैसे सागर ने प्राचीन कालमें अपने ऊपर इधर-उधर उड़ते हुए पंखवाले मैनाक आदि पर्वतों को देखा था, वैसे ही राजा सिन्धु ने आकाश से पत्ते के तुल्य गिर रहे पर्वतों को देखा ।।८।। तदुपरान्त राजा सिन्धु ने दीप्त वज्रास्त्र की सृष्टि की। उससे जैसे अग्नि लकड़ियों को जला डालती है वैसे ही बड़े-बड़े पर्वतरूपी अन्धकार को गिरा रहे वज्रों के झुण्ड के झुण्ड निकले ।।९।।

उन्होंने (वज्रों ने) अपने करोड़ों मुखों द्वारा कर्तन से (काटने से) पर्वतों के शिखरों को ऐसे गिरा दिया जैसे कि आँधी फलों को गिरा देती है ।।१०।। तदनन्तर राजा विदूरथ ने वज्रास्त्र की शान्ति के लिए अन्यान्य अस्त्रों का अतिक्रमण कर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। उसके अनन्तर ब्रह्मास्त्र और वज्रास्त्र दोनों एक साथ शान्त हो गये ।।११।। फिर तो राजा सिन्धु ने अँधियारी रात्रि के समान काले पिशाचास्त्र का प्रयोग किया। उससे अत्यन्त भीषण पिशाचों

की पंक्तियों की पंक्तियाँ निकली। उन पिशाचों की पंक्तियों से जैसे सन्ध्या के समय कोई आदमी भयभीत हो काला हो जाता है, वैसे ही दिन भी भय से मानों काला हो गया। अन्धकार के समूह की तरह पिशाच भुवन में व्याप्त हुए। उनमें से कोई भस्म के (जले हुए) स्तम्भों के तुल्य काले थे, कोई ताड़ के पेड़ के सदृश ऊँचे थे, किन्हीं का कोई रूप ही न था यानी अदृश्य थे। किन्हीं के केश ऊपर को खड़े थे, कोई बड़े दुबले पतले थे, कोई मूछ–दाढ़ीवाले थे, कोई काले थे, किन्हीं का शरीर ग्रामीण पुरुषों की नाईं बड़ा गन्दा था, कोई आकाशचारी थे, कोई केवल अपवित्र लोगों के दृष्टिगोचर होते थे, किन्हींके हाथ में हड्डी, नर–मुण्ड आदि वस्तुएँ थी, कोई चंचल थे, कोई दीन–हीन थे, कोई वज्र और तलवार से भी बढ़कर क्रूर थे, कोई ग्रामीण दरिद्रों की नाईं दीन–हीन थे, वृक्ष, कीचड़, रथ्या (जलप्रवाह) के भीतर और शून्य घर में उनका निवास था और वे बड़े चंचल थे। उनमें से कोई अपनी जिह्वाओं को लपलपा रहे थे, किन्हीं का स्वरूप प्रेतों के तुल्य था, किन्हीं का अंग काला था, कोई बिजली के तुल्य स्वरूपवाले थे यानी कभी दिखाई देते थे और कभी छिप जाते थे। मदोन्मत्त उन लोगों ने मरने से बचे हुए शत्रु के सैनिकों को पकड़ना आरम्भ किया। वहाँ पर उसके सैनिकों की बुरी हालत हुई। किन्हीं के अस्त्र–शस्त्र, छिन्न –भिन्न हो गये थे और किन्हीं की चेतना शक्ति नष्ट हो गयी थी, किन्हींके हथियार कवच अलग हो गये थे, कोई मारे भय के दुबके हुए थे और कोई बारबार ठोकर खाकर चल रहे थे। वे सब नयन, मुख, पैर और अन्यान्य अंगों से भाँति भाँति की भूताविष्ट–चेष्टाएँ कर रहे थे। उनमें से कुछ ने कौपीन और वस्त्रों का त्याग कर दिया था, कुछ के ऊपर के और नीचे के वस्त्रहीन अंग संकुचित थे, कुछ खड़े होकर मल–मूत्र का त्याग कर रहे थे और कुछ ने नाचना आरम्भ कर दिया था॥१२–२०॥ राजा सिन्धु की पिशाचसेना जब राजा विदूरथ के ऊपर आक्रमण करना चाहती थी, तभी राजा विदूरथ ने, जो बड़ा बुद्धिमान था, उसे माया जान लिया॥२१॥ राजा विदूरथ पिशाचों से संग्राम करने की माया को जानता था, उस माया द्वारा उसने पिशाचों की उस सेना को शत्रु सेना से भिड़ा दिया॥२२॥

तदनन्तर राजा विदूरथ के अपने सैनिक तो स्वस्थ हो गये और शत्रु के सैनिक पिशाचों से आविष्ट होकर उनकी सी गतिविधिवाले हो गये। राजा विदूरथ ने कोप से उसके सहायक दूसरे रूपिकास्त्र का प्रयोग किया॥२३॥ खड़े हुए केशवाली गड्ढे से घुसी हुई विकराल नेत्रवाली तथा चंचल कटिभाग और स्तनमण्डल से युक्त रूपिकाएँ (अनेक पूतनाएँ) भूतल और आकाश से उत्पन्न हुई। उनमें से किसी की जवानी उभरी हुई थी, कुछ बुढ़ियाँ थी, कुछ बड़ी मोटी थी और कुछ का शरीर जीर्ण–शीर्ण यानी कृश था, किन्हींके जघन अपने स्वरूप के अनुरूप थे और किन्हींके स्वरूप के अनुरूप नहीं थे, किन्हींकी नाभियाँ बड़ी घृणित थी, गुप्त अंग भी आवृत नहीं थे, कुछने अपने हाथों में नररक्त से पूर्ण खप्पर ले रक्खा था, अतएव उनका शरीर सन्ध्याकाल के मेघ के समान लाल था, आधा चबाये हुए माँस और खून को बहा रहे ओठों के प्रान्तों से उनका मुँह व्याप्त था॥२४–२६॥ वे पिशाचियाँ विविध प्रकार की अंगचेष्टाएँ कर रही थी, वे भाँति–भाँति के अनम्र लोगों को नवाने में समर्थ थी और उनके मुँह, जंघा,

कमर, पसली, भुजाएँ और अन्यान्य अंग शिलाओं की नाईं कठोर और साँपों की नाईं टेढ़े मेढ़े थे। उन्होंने बच्चोंके शवों की नरमाला पहन रक्खी थी, हाथ से वे मनुष्यों की आँत रूपी रस्सी को खींचती थी, उनमें से किसी का मुँह कुत्ते जैसा किसी का कौए जैसा और किसी का उल्लू जैसा था। उनके मुँह, चिबुक (ठोड़ी) पेट गहरे थे ॥२७,२८॥ उन्होंने उन दुर्बल पिशाचोंको दुष्ट बच्चों की नाईं पतिरूप से पकड़ लिया, तदुपरान्त रूपिकाओं और पिशाचों की वह सेना एक में मिल गई ॥२९॥ वे क्रीड़ारस में अत्यन्त मग्न, नाचने के कारण उठाने मुँह, अंग और नयनवाले थे, परस्पर एक दूसरे के ऊपर आक्रमण कर रहे थे तथा परस्पर दौड़ रहे थे। उन्होंने बड़ी जिह्वा बाहर निकाल रक्खी थी, नाना प्रकार के मुँह के विकारसे युक्त थे, रुधिरमुण्ड के भार से वे आक्रान्त थे, परस्पर एक दूसरे की प्रसन्नता के लिए वे शवों को ले जा रहे थे ॥३०,३१॥ वे रुधिररूपी जलमें बार-बार डूबकर ऊपर को उबरते थे, उनके शरीर बह रहे खून से लथपथ अतएव दैदीप्यमान थे, पेट, भुजाएँ, कान, ओठ और नासिका- ये अंग बड़े लम्बे थे। रुधिर और माँस के कीचड़ में वे परस्पर लोट-पोट कर रहे थे और मन्दराचल से मथे जा रहे क्षीरसागरके से विपुल कोलाहल से वे व्याप्त थे ॥३२,३३॥ जैसे ही पहले राजा विदूरथ ने राजा सिन्धु की माया का संचार (उसकी माया को लौटाकर उसी के ऊपर डालना) किया था, वैसे ही राजा सिन्धु ने भी जानकर बड़ी शीघ्रता और फुर्ती के साथ उसकी माया का संचार उसी के ऊपर कर दिया ॥३४॥

तदुपरान्त पिशाचास्त्र से उत्पन्न पिशाच और रूपिकाओं की सेना की सहायता के लिए राजा सिन्धु ने वैतालास्त्र का प्रयोग किया, उससे वेतालों के आवेश से चलाये गये मुर्दों के झुण्ड के झुण्ड, जिनमें कुछ तो सिर रहित थे और कुछ सिर सहित थे, उत्पन्न हुए ॥३५॥ तदनन्तर पिशाच, वेताल, रूपिका और भीषण कबन्धों से परिपूर्ण वह भीषण सेना पृथिवी को निगलने में समर्थ हुई ॥३६॥

तदुपरान्त राजा विदूरथ ने भी पहले प्रयोग करने के कारण शिक्षक तुल्य राजा सिन्धु पर उस माया को लौटाकर राक्षसास्त्र की सृष्टि की, उक्त राक्षसास्त्र तीनों लोकों को ग्रसने में तत्पर हुआ। चारों ओर से पर्वताकार महाकाय राक्षसों का आविर्भाव हुआ, मालुम होते थे कि मानों नरक ही देहधारण कर पाताल से निकले हों। तत्पश्चात् देवता और असुरों को भयभीत करने वाली बड़ी भीषण राक्षससेना, जिसमें गरज रहे राक्षसों के महान् सिंहनादरूपी बाजे से कबन्ध नाच रहे थे, उत्पन्न हुईं। वह सेना मेदा और मांसरूप उपदंश से (मद्य के ऊपर रुचनेवाली वस्तु यानी चाट से) भरी थी, रुधिररूपी मद्य से रंगी थी और मत्त कूष्माण्ड, वेताल और यक्षों के ताण्डव से (नृत्य से) बड़ी भली लगती थी ॥३७-४०॥ कूष्माण्डों के उद्धतनृत्य में दण्डपाद से (पैरों को इधर उधर नचाने के एक प्रकार से) विक्षुब्ध रुधिर की उठी हुई तरंगों से सींचे गये प्राणियों से उक्त सेना ने रुधिर के प्रवाह पर पुल बाँध रक्खा था, उक्त पुलकी कान्ति संध्याकाल के मेघ की प्रचुर लालिमा से भी करोड़ गुना अधिक था ॥४१॥

उनचासवाँ सर्ग समाप्त

पचासवाँ सर्ग

दो वैष्णवास्त्रों का युद्ध, दोनों राजाओं का रथरहित होना और राजा विदूरथ की मृत्यु का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, समयोजित प्रतिभा रखनेवाले लोगों में सर्वश्रेष्ठ, महान् उदार और अधिक धैर्यशाली राजा सिन्धु ने उस समय जब कि वह भीषण संग्राम हो रहे थे, शत्रु की सम्पूर्ण सेना के विनाशके लिए तथा अपनी सेना की पिशाचों से हुई पीड़ा की शान्ति के लिए सब अस्त्रों के राजा असाधारण श्रीवैष्णवास्त्र का, जो कालरुद्र के समान संहारकारी था, स्मरण किया ॥१,२॥ राजा सिन्धु ने वैष्णव अस्त्र से अभिमन्त्रित कर जो शर अपनी प्रत्यंचा से छोड़ा उसके फल के अग्रभागसे उल्मूक (उल्का) आदि निकलने लगे। उससे निकली हुई बड़े, बड़े चक्रों की पंक्तियों ने दिशाओं को सैकड़ों सूर्यों से युक्त सा बना दिया, अभिमुख आ रही गदाओं की पंक्तियों ने आकाश को सैकड़ों गदाकार बाँस के नये अँकुरों (पौधों) से युक्त कर दिया, सौ धारवाले वज्रों की पंक्तियों ने आकाश को तिनकों के समूह से व्याप्त बना दिया, कमलदलों के कलियों के आकार की अनेक शाखाओं से युक्त पट्टिशों की पंक्तियों ने आकाश को कटे हुए वृक्षों से व्याप्त सा कर दिया, चोखी धारवाले बाणों की पंक्तियों ने आकाश को फूलों की जाली से युक्त सा कर दिया और काली आकृतिवाले खड्गों की कतारों ने आकाश को पत्तों की राशि से व्याप्त कर दिया ॥३-६॥ तदनन्तर दूसरे राजा ने यानी विदूरथ ने भी वैष्णव अस्त्र की शान्ति के लिए वैष्णव अस्त्र का ही, जो कि शत्रु की पराक्रम स्थितिके अनुरूप था, प्रयोग किया ॥७॥ उससे भी बाण, शक्ति, गदा, प्रास, पट्टिश आदिरूप जलवाली अस्त्रों की नदियाँ निकलीं, जिन्होंने पहले के वैष्णवास्त्रप्रयुक्त अस्त्र-शस्त्रों को छिन्न-भिन्न कर दिया था। आकाश में उन शस्त्रास्त्रों की नदियों का द्युलोक और पृथिवी के मध्यवर्ती अवकाशका भी विनाश करनेवाला तथा श्रेष्ठ कुलपर्वतों को भी चूर-चूर कर देनेवाला युद्ध हुआ ॥८,९॥

उक्त शस्त्रास्त्रों की नदियों के ही युद्ध का विस्तारसे वर्णन करते हैं।

उस युद्ध में शर से (वैष्णवास्त्र से अभिमन्त्रित बाण से) निकले हुए शूल, तलवार और कटार से पट्टिश (किर्च के आकार के एक प्रकार के लोहे के हथियार) चूर चूर हो गये थे, मूसलों के विस्तार तथा प्रास और शूल से शक्तियाँ (शक्ति नाम का शस्त्र) काट कर टुकड़े-टुकड़े की गईं थी और बाण समूह रूप जलनिधि के मंथन में समर्थ मुद्गर ही मन्दर का काम कर रहे थे। वहाँ गदाओं के मुखसदृश अग्रभागों से टक्कर लग रही थी तथा जिनके अस्त्रों का निवारण करना महाकठिन था, उन प्रतियोद्धाओं के अनुरूप प्रमाण और प्रभाववाली तलवारें थी। उस युद्ध में अपनी-अपनी सेनाओं के विध्वंसरूप अशुभ की शान्ति के लिए भालेरूपी चन्द्रमण्डल घूम रहे थे, यम वहाँ पर प्रासों के प्रसार से कुपित थे, अतएव उन्होंने लोगों का क्षय करना आरम्भ कर दिया था। उस युद्ध में चक्रों से ऊपर को खड़े किये गये अस्त्र-शस्त्र कुण्ठित किये गये थे, सम्पूर्ण आयुधों का क्षय हो रहा था, उसके शब्द से ब्रह्माण्ड

मानों फूटता था, प्रहारों से कुलाचल भी छिन्न–भिन्न हो रहे थे। जैसे मैंने विश्वामित्र के अस्त्र का निवारण किया था, वैसे ही परस्पर एक दूसरे के घात–प्रतिघात का निवारण करनेवाले लड़ रहे उन दो वैष्णवास्त्रों की बाणवृष्टि ने सब प्रकार के शस्त्रों के समूह को काट डाला, वज्रों ने अकाट्य पर्वतों को काटकर जीर्ण–शीर्ण कर दिया ॥१०–१४॥ वहाँ पर शूल और पत्थर कीलों की नाईं तीक्ष्ण थे, शत्रुभेदन रूप कार्य से उनकी खूब प्रशंसा होती थी और वे तेज दौड़ने से हुई फुफकार से सुशोभित थे। वहाँ भुशुण्डियों ने (एक प्रकार के शस्त्रों ने) भीषण भिन्दपालों के घने ढेर पर विजय पाई थी। सबका संहार करने में समर्थ भगवान् शंकर के तुल्य पराक्रमशाली शिवशूल को उसके तुल्यही दूसरे शूलने कुण्ठित कर डाला था, निकलते ही तुरन्त काटे गये हथियारों की टेढ़ी–मेढ़ी गतियाँ हो रही थी। फूट रहे चट–चट शब्द ने गंगाजी के प्रवाह को रोक दिया था और अस्त्र–शस्त्रों के चूर के ढेर रूपी महान् धूम्र से चँदवा तन गया था ॥१५–१७॥ वहाँ पर परस्पर के शस्त्रास्त्रों के टकराने से घूम रहे जाल की नाईं बिजलियाँ प्रदीप्त होती थी, कलकल शब्द से ब्रह्माण्ड मानों फूटा जा रहा था, प्रहार से बड़े–बड़े कुलपर्वत छिन्न–भिन्न हो गये थे, परस्पर जूझ रहे अस्त्रों की शरवृष्टि ने शस्त्रास्त्रों के ढेर को काट कर गिरा दिया था पर्वत की नाईं निश्चल राजा विदूरथ मेरे द्वारा विश्वामित्र के अस्त्रों के निवारण की नाईं केवल अस्त्रनिवारणमात्रसे स्थित थे,उनकी ऐसी स्थिति केवल कालक्षेप का उपाय था ॥१८,१९॥ मेरे सामने इसकी क्या हस्ती है, यों राजा विदूरथ की अवहेलना से राजा सिन्धु के स्थित होने पर राजा विदूरथने सिंधु के ऊपर वज्र–निर्घोषयुक्त अग्नेय अस्त्र छोड़ा। उक्त आग्नेय अस्त्र ने सूखी हुई घास के ढेर की नाईं राजा सिन्धु के रथ को जला दिया। इसी बीच में जब कि अस्त्र–शस्त्रों से आकाश ऐसा पट गया था कि कहीं पर भी सुराख दृष्टिगोचर नहीं होता था, जो राजा सन्नद्ध था वह तो वर्षा ऋतु की नाईं बाणों की वर्षा करता था और जो दूसरा राजा था वह मेघ से बढ़ाई गई नदी की नाईं बहता था। दोनों राजाओं के पहले प्रयुक्त दो बलवान् वैष्णवास्त्र क्षणभर के लिए परस्पर भीषणतम युद्ध कर दो बलवान् योद्धाओं की नाईं शान्त हो गये। इसी बीच में जैसे वनाग्नि वन को जलाकर गुहा से निकले हुए सिंह को प्राप्त होती है, वैसे ही आग्नेयास्त्र की अग्नि राजा सिन्धु के रथ को जलाकर सिन्धु को प्राप्त हुई। राजा सिन्धु ने हस्तलाधव से आग्नेयास्त्र को वारुणास्त्र से शान्त कर दिया और अपने जले हुए रथ को छोड़कर पृथिवी पर आकर ढाल और तलवार से लैस हो गये। राजा सिन्धु ने नेत्रों के पलक गिरने भर में शत्रु के रथ के घोड़े के खुरों को कमलनाल की नाईं बड़ी फुर्ती से काट दिया। अब तो राजा विदूरथ भी रथ रहित हो गये, अतएव उन्होंने भी हाथ में ढाल–तलवार ली ॥२०–२६॥ अब तो दोनों के हाथों में एक से हथियार हो गये और उत्साह भी दोनों का एक– सा था, वे दोनों अपने–अपने वार के लिए समय ढूँढ़ने के लिए पैंतरे बदलने लगे। परस्पर प्रहार कर रहे उन दोनों की तलवारें वार करते करते आरों के तुल्य हो गई थी। दोनों सेनाओं में तलवारें यम की दन्तपंक्तियों के सदृश प्रजा को (सैनिकों को) चबा रही थी। राजा विदूरथ ने उक्त

तलवार का त्याग कर शक्ति ली और उसे शत्रु के ऊपर छोड़ा। वह शक्ति मथे जा रहे समुद्र के जल की नाईं गम्भीर घर–घर शब्द से युक्त प्रलय आदि बड़े–बड़े उत्पातों को सूचित करने वाली वज्रपात के समान आई और राजासिन्धु की छाती पर गिरी, वह ऐसी गिरी जैसे कि अप्रिय पति के वक्षस्थल पर उसे न चाहनेवाली भार्या गिरती है, उस शक्ति के प्रहार से राजा सिन्धु के प्राण गये नहीं, किन्तु केवल उसकी छाती से हाथी की सूँड़ से जलधारा की नाईं खून की धारा बही चन्द्रमा से नष्ट किये गये अन्धकार की नाईं उसे (सिन्धु को) राजा विदूरथ से भग्न किया हुआ देखकर उस देशकी लीला बड़ी प्रसन्न हुई उसके आनन्द का पार न रहा। उसने पूर्वलीला से कहा : हे देवी, देखो, नृसिंह रूप हमारे पति ने हिरण्यकशिपुरूपी महाबलवान् इस सिन्धु को शक्ति के शिखरमयी नखों से मार दिया है। जैसे तालाब के बीच में खड़े हुए हाथी की सूँड़ से फुफकारपूर्वक जलधारा गिरती है, वैसे ही इसके चूर्ण–विचूर्ण वक्षस्थलसे 'चुल–चुल' शब्द के साथ खून निकल रहा है। हा बड़े दुःख की बात है कि लाये गये रथ पर चढ़ने के लिए वह ऐसा तैयार हो गया है, जैसे कि सोने के मेरुशिखर पर पुष्करावर्त मेघ चढ़ता है। हे देवि देखो, इसका यह रथ मुद्गर से चूर चूर कर दिया गया है। हे देवि, ये हमारे स्वामी लाये गये रथ में बैठने के लिए उद्यत हैं। अर्जुन की बाणवर्षा से निवातकवचनामक दानवों की सुवर्ण निर्मित नगरी की नाईं घूम रहे उस रथ को आप देखिये ॥२७–३६॥ हा बड़े खेद की बात है कि जैसे इन्द्र अपने शत्रु पर प्रहार करने के लिए वज्र को देखते हैं यानी ग्रहण करते है, वेसे ही सिन्धु ने हमारे स्वामी पर प्रहार करने के लिए मूसल को देखा यानी ग्रहण किया। हमारे स्वामी मूसलरूप हथियार वाले राजा सिन्धु को चकमा देकर बड़ी फुर्ती से रथ पर सवार होकर वेग से हट गये हैं। हाय बड़ा कष्ट उपस्थित हुआ। इस राजा सिन्धु ने बड़े वेग से हमारे स्वामी के रथ को, जो कि सेवाल आदि से हरे रंग के तालाब की नाईं हरा है और वृक्ष की नाईं ऊँचा है और पताका से चिह्नित होने के कारण प्लव से (एक प्रकार के पक्षी से) युक्त है, पीड़ित कर यानी बाणवृष्टि से छिन्न–भिन्न कर बाणों की वृष्टियों से हमारे पति विदूरथ को व्यथित कर दिया ॥३७–३९॥ यह हमारे पति को, जिनके रथ की पताका कट गई है, रथ ध्वस्त हो गये है, घोड़े मर गये हैं, सारथि कट गया है, धनुष और कवच कट गये हैं और सब अंग–प्रत्यंग छिन्न–भिन्न हो गये हैं अतएव बड़े घबराये हुए हैं, शिलाफलक के समान दृढ़ (जिसका फटना संभव नहीं है) हृदय में और स्थूलतम मस्तक में वज्र के समान कठोर बाणोंसे घायलकर पृथिवी पर गिरा रहा है ॥४०,४१॥ बड़े क्लेश से होश में आकर सारथि द्वारा लाये गये अन्य रथ में चढ़ रहे हमारे पति के सिन्धु द्वारा तलवार से काटे गये कन्धे को देखो। कन्धा कटने के कारण हमारे पति, जैसे घन से तोड़े गये पद्मरागमणिके पर्वत से लाल कान्ति निकलती है वैसे ही, खूब रुधिर बहा रहे हैं। ओ हो, अब तो बड़ा भारी कष्ट आया, जैसे आरे से वृक्ष काटा जाता है वैसे ही इस सिन्धु ने तीखी तलवार की धार से हमारे पति की पिण्डलियाँ काट डाली। हा, मैं मारी गई हूँ, जलाई गई हूँ, मर गई हूँ और लथेड़ी गयी हूँ। मेरे पति की दोनों जंघाएँ

कमलनाल की नाईं काट दी गई हैं।' – ऐसा कहकर पति की अवस्था को देखकर दुःखी हुई और पति के प्रति उसका जो अत्यन्त प्रेम था, उससे और भय से कातर होकर वह कुल्हाड़े से काटी गई लता की नाईं मूर्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़ी। यद्यपि विदूरथ की दोनों जंघाएँ कट गयी थी, तथापि शत्रु पर प्रहार करता हुआ ही वह छिन्नमूल (जिसकी जड़ कट गई हो) वृक्ष की भाँति रथ के नीचे गिरने को तैयार हुआ। वह गिरना ही चाहता था कि सारथि उसे सँभालकर रथ से ही घर की ओर भगा ले गया (📖)। जब सारथि राजा विदूरथ को भगा ले गया तब उद्दण्ड राजा सिन्धु ने विदूरथ के कंठ में तलवार से वार किया। तलवार के वार से उनका आधा कंठ कट गया तदनन्तर आधे कटे गलेवाले विदूरथ का सिन्धु ने पीछा किया। राजा विदूरथ जैसे सूर्य की किरणें कमल में प्रवेश करती हैं, वैसे ही अपने घर में प्रविष्ट हुआ, लेकिन राजा सिन्धु सरस्वती के प्रभाव से परिपूर्ण उस घर में ऐसे प्रवेश नहीं कर सका जैसे कि मदोन्मत्त मच्छर महाज्वाला के भीतर नहीं घुस सकता ॥४२–४९॥

सारथि ने राजा विदूरथ को, जिसके वस्त्र, कवच और शरीर तलवार से काटे गये गले के छेद से बुद्‌बुद ध्वनि के साथ निकल रही रक्तधाराओं से सने थे, घर में ले जाकर सरस्वती के सामने सुखपूर्वक मरण के योग्य कोमल बिस्तर में रखा और शत्रु भी घर में प्रवेश न कर सकने के कारण लौट गया ॥५०॥

पचासवाँ सर्ग समाप्त

इक्यावनवाँ सर्ग

राजा विदुरथ के वध से राष्ट्रविप्लव तथा सिन्धु के राज्य में
प्रतिष्ठित होने पर फिर राज्य की सुव्यवस्था का विस्तार से वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, युद्ध में प्रतिद्वन्द्वी राजा सिन्धु के हाथ से राजा विदूरथ मारे गये–राजा विदूरथ मारे गये, इस प्रकार का शोरगुल मचने पर सारा राष्ट्र भयभीत हो गया। वहाँ भाँडे–बर्तन आदि सामग्री से लदी हुई गाड़ियों पर गाड़ियाँ इधर उधर भाग रही

📖 सारथि की राजा को भगा ले जाने में जो प्रवृत्ति हुई, उसका कारण है। वह यह कि यदि राजा रण में अभिमुख मरता तो 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राडयोगयुक्तश्च रणे चाऽभिमुखो हतः॥ (इस लोक में दो पुरुष सूर्यमण्डलभेदी है, कौन दो ? योगयुक्त परिव्राट और रणमें शत्रु के सामने लड़ता हुआ मारा गया योद्धा) इस स्मृतिवचनसे रण में अभिमुख मरे हुए सूर्यमण्डलभेदी विरक्त सूर की मुक्ति होने पर और सूर्यमण्डलभेदी अविरल शूर की 'ब्रह्मणा सह ते सर्वं संप्राप्ते प्रतिसंचरे; परस्याऽन्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति परं पदम्॥'(प्रलय प्राप्त होने पर वे सब ब्रह्मा के साथ कृतार्थ होकर परमपद में प्रवेश करते हैं यानी मुक्त हो जाते हैं।) इस वचन के अनुसार क्रम मुक्ति होने पर 'इमं मानवमावर्त नावर्तन्ते ' (मनुष्यलोकरूप आवर्त में नहीं लौटते) इस श्रुति के अनुसार दूसरे कल्प में उसकी पुनरावृत्ति न होने पर पूर्वजन्म में पद्मशरीर से अवशिष्ट प्रारब्ध के भोग की सिद्धि नहीं होगी, इस कारण सरस्वती के संकल्प और वरदान के बल से ही सारथि की राजा के यश और मोक्ष के प्रतिबन्धरूप भगाने में प्रवृत्ति हुई।

थी, रो रहे भूखे प्यासे स्त्री और बालबच्चों को लेकर भाग रहे नागरिकों की अपार भीड़ लगी थी, राष्ट्र उत्पात मचने के कारण भाग रही और रो रही अनेक युवतियाँ मार्ग में डाकुओं द्वारा हर ली गई थी, आपस में एक दूसरे को लूटने खसोटने में व्यग्र हुए लोगों को आपस का भी बड़ा भारी भय लगा रहता था, शत्रु के राष्ट्र की असैनिक जनता और सैनिकों के विजयप्रयुक्त ताण्डवकी वृद्धि से सारा विदूरथ राष्ट्र कोलाहल युक्त था, स्वामियों के मर जाने के कारण निरंकुश हुए हाथी, घोड़े और वीरों की टक्कर से असैनिक जनता गिर रही थी, कोषगृह का (खजानों का) विनाश करते समय किवाड़ों को तोड़ने से उत्पन्न हुआ 'घर घर' शब्द आकाश में फैला हुआ था, वहाँ पर प्रबल परपक्षी योद्धाओं ने लूटे गये असंख्य रेशमी वस्त्रों को लपेटकर कोषगृह के रक्षक सैनिकों को तिरस्कृत कर दिया, मरी हुई राजरानियाँ चोरों द्वारा छूरों से काटी गई खून से लथपथ अपनी आँतड़ियों से उलझी हुई थी, राजा के अन्तःपुर में डोम–चाण्डालों के झुण्ड के झुण्ड विश्राम ले रहे थे, राजगृह से लूटपाट द्वारा हस्तगत किये गये राजा के भोजनयोग्य स्वादु अन्नों के भोजन में गँवार लोग जुटे थे, सोनेकी सिकड़ियों को पहने हुए बालक योद्धाओं की लातें और ठोकरें खा कर रो रहे थे, अपरिचित युवक अन्तःपुर की महिलाओं के केशपाश को खींच रहे थे, चोरों के हाथों से मार्ग में गिरे हुए बहुमूल्य रत्नों से बटोही लोग दन्तुर–से (ऊँचे दांतवाले की नाईं से) उज्ज्वल हो रहे थे। हाथी, घोड़े और रथों को छीनकर लाने में सामन्त लोग व्याकुल हो रहे थे, राजा सिन्धु के पुत्र के राज्याभिषेक कार्य का आदेश देने में मन्त्री आदि ऊँचे राजकर्मचारी बड़े तत्पर थे, राजधानी के निर्माण केलिए अच्छे अच्छे कारीगर सन्नद्ध थे, बनाये गए झरोखों के छेदों में सिन्धुराज की रानियाँ अपूर्व नगर की सुन्दरता देखने के लिए प्रवेश कर रहीं थी, सैकड़ों 'जय जय' उद्घोषों के साथ नगर में प्रवेशित सिन्धुराज के पुत्रका, जिसका तुरन्त अभिषेक हुआ था, उस राष्ट्र में बड़ा प्रभाव था, राजा सिन्धुने वहाँ पर जो नई राजव्यवस्था चलाई थी, उसे सिन्धुपक्ष के राजाओंने शिरोधार्य कर लिया था, अन्यान्य गाँवों में छिपकर रहनेवाले पूर्व राजा के पक्षपाती (प्रीतिपात्र) लोग शत्रु को पता लगने पर वहाँसे भी भाग रहे थे, चोरों के बड़े भारी गिरोहने लूटपाट करने के लिए मार्गों में लोगों का आना–जाना रोक रक्खा था, महाप्रतापी राजा विदूरथ के विरह से दिनमें धूप तुषार से सनी हुई–सी ठण्डी मालूम होती थी, मरे हुए बन्धु–बान्धवों के लिए रोने–धोने से और मरे हुए जनों के लिए किये गये तूरे शब्द से पिण्ड के सदृश हाथसे पकड़ने योग्य शब्द वहाँ हो रहा था ॥१–१४॥ तदुपरान्त वहाँ पर पृथ्वी के एकच्छत्र अधिपति राजा सिन्धु की जय हो, ऐसी घोषणा करते हुए प्रत्येक नगर में लोग भेरियाँ बजाने लगे ॥१५॥ पुत्र के राज्याभिषेक के बाद जैसे प्रलय के अन्त में जगत् की सृष्टि करने के लिये मनु भगवान जगत् में प्रवेश करते हैं, वैसे ही राजा सिन्धु ने, जो कि विजयजनित गर्व से उन्नत मस्तक था, दूसरे मनु की नाईं राजधानी में प्रवेश किया ॥१६॥ राजा सिन्धु के नगर में प्रवेश करते ही सिन्धु के नगर में दसों दिशाओं से कर (भेंट) हाथी घोड़े से यों प्रवेश करने लगे (आने लगे) जैसे समुद्र में रत्नों की राशियाँ प्रवेश करती हैं। मन्त्रियों ने प्रत्येक दिशा में और प्रत्येक सामन्त (अधीन राजा) के पास

राजकीय नियम, चिह्न और आदेश तुरन्त भेज दिये ॥१७,१८॥ थोड़े ही समय में देश देश में नगर नगर में जीवन, मरण और सम्मान के विषय में यमके-से कठोर नियम बन गये ॥१९॥ नियम बनने के उपरान्त पलक भर में, देश में उपद्रव के बादलों की जो घटा छाई थी, वह उत्पात वायु (अंधड-बवंडर) के समाप्त होने पर जैसे वायु के जोर से होनेवाले तृण, पत्ते और धूल का घूमना शान्त हो जाता है, वैसे ही सब शान्त हो गई ॥२०॥ महाप्रलय से मथने के समय भीषण जलभौंरियों से भरा हुआ तरंगित क्षीरसागर मन्दराचल को निकाल देने से जैसे शान्त हो गया था वैसे ही अराजकता के समय उत्पातपूर्ण सारा देश दसों दिशाओं के साथ शान्त (विनयपूर्ण) हो गया ॥२१॥ सिन्धु के देश की सुन्दरियों के मुखरूपी कमल की भ्रमरपंक्तियों के तुल्य अलकों को धीरे धीरे हिला रहे वायु मुखकमल के मधुबिन्दुरूप स्वेदजल के कणों को लेने से मत्त और मन्दगति होने के कारण आकुल होकर उक्त सुन्दरियों के मुखकमलों की शीतलता और सुगन्धि आदि मंगलमय गुणों से सम्पूर्ण देश से सन्ताप, दुर्गन्धि आदि अशुभ गुणों को नष्ट करते हुए बहने लगे ॥२२॥

इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त

बावनवाँ सर्ग

राजा विदूरथ की मृत्यु, संसार की असत्यता और उस देश की लीला की वासनारूपता का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस बीचमें, अपने सामने मृत्युशय्या पर लेटे हुए मूर्च्छित अपने पति को श्वासमात्रशेष (जिसमें जीवित के चिह्नों में केवल श्वास ही शेष रह गया था) देखकर देवी सरस्वती से कहा : माँ, यह मेरा पति यहाँ पर देह का त्याग करने के लिए उद्यत है। श्रीसरस्वतीजी ने कहा : भद्रे, इस प्रकार के महान् उद्योग से परिपूर्ण, राष्ट्र में उथल पुथल मचा देनेवाले, अत्यन्त अद्‌भुत व्यापारों से भरे हुए इस संग्राम के शुरु होने, चलने और समाप्त होने पर कहीं पर न तो राष्ट्र या महीतल कुछ भी रहा और न नष्ट हुआ। इस प्रकार का यह स्वप्नरूप जगत् है। पूर्वोक्त गिरिग्राम के ब्राह्मणगृह के मण्डप के अन्दर रक्खे हुए राजा पद्म के शव के निकटवर्ती मण्डपाकाश में तुम्हारे पति का यह पृथ्वीरूपी राष्ट्र प्रतीत होता है, अन्तःपुर के घर के अन्दर अनेक राष्ट्रों से युक्त यह ब्रह्माण्ड है ॥१-५॥ विन्ध्याद्रि के ग्राम में वसिष्ठनामक ब्राह्मण के घर का मध्यभाग स्थित है, वसिष्ठनामक ब्राह्मण के घर में शवयुक्त गृहरूप जगत् स्थित है, शवगृहरूप जगत् के पेटमें यह घर रूपी ब्रह्माण्ड स्थित है। इस प्रकार यह त्रिजगत्, जिसमें अनेकानेक व्यापार होते रहते हैं, भ्रम ही है तथा विन्ध्याद्रि के छोटे से ग्राम में घर के अन्दर आकाशकोशमें सागर और पृथ्वी दृष्टिगोचर होते हैं, तथा यह भ्रम तुमसे, मुझसे, इससे (दूसरी लीला से) तथा तुम्हारे पति से युक्त है, एक के भीतर दूसरा उत्पन्न हुआ, यह भी कल्पना ही है, वस्तुतः चैतन्य में ही यह विकास को प्राप्त हुआ है। अपना आत्मा ही इस जगत्‌रूप से व्यर्थ विकास को प्राप्त होता है अथवा कहीं भी इस जगत्‌रूप से विकास को प्राप्त नहीं होता। भाव यह कि विषय के मिथ्या होने से चैतन्य में विषयसंवलित

रूप भी है ही नहीं। ऐसी अवस्था में निर्विषय चैतन्य ही अवशिष्ट रहता है, वही मुख्य ज्ञातव्य है, इसलिए तुम नाश और उत्पत्ति से शून्य उस परम पद को जानो ॥६–९॥ स्वयंप्रकाश, शान्त, निर्विकार वही (चैतन्य ही) मण्डपघर के अन्दर अपने चिन्मात्र स्वभाव से उदित अपनी आत्मामें जगत्–रूप से प्रतीत हुआ है, उससे अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं है, ऐसी विद्वानों में प्रसिद्धि है ॥१०॥

मण्डप के अन्तर्गत आकाश में भी जब जगत् नहीं है, तब शुद्ध चिदाकाश में जगत् नहीं है, इसमें तो कहना ही क्या है ? इस आशय से कहते हैं।

इस प्रकार अनेक व्यापारों से पूर्ण प्रतीत होनेवाले उन मण्डपों के भी अन्दर शून्य आकाश ही है, जगद्भ्रम नहीं है ॥११॥

अति क्षुद्र वस्तु के अन्दर विशाल वस्तु का समावेश नहीं हो सकता, अतएव अल्पवस्तु में बृहत्पदार्थ की प्रतीति यदि भ्रम है, तो अत्यन्त बृहत् ब्रह्म का मण्डप के अन्दर समावेश होना सम्भव नहीं है, फिर शास्त्र और आचार्य के उपदेश से वहाँ पर ब्रह्म की प्रतीति भ्रम क्यों नहीं होगी ? ऐसी शंका कर उपजीव्यविरोध होने से ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं।

जब भ्रम का कोई द्रष्टा ही नहीं है, तब भ्रम में भ्रमता ही कैसे होगी, इसलिए भ्रम की सत्ता है ही नहीं और जो है, वह निर्विकार परम (चैतन्य) ही है ॥१२॥

भ्रम को देखनेवाला दूसरा नहीं है, तो भ्रम ही भ्रम को देखे ? इस पर कहते हैं।

भ्रम असत् दृश्य है। दृश्य द्रष्टा पुरुष के व्यापार के फल का आधार होता है यानी द्रष्टा जो कुछ व्यापार करता है उस व्यापार का फल जिसमें रहता है, वह दृश्य है। अपने में अपने आप कोई भी व्यापार नहीं कर सकता, क्योंकि एकमें कर्तुत्व भी रहे और कर्मत्व भी रहे, यह विरुद्ध है, इसलिए दृश्य भ्रम की द्रष्टा और दृश्य दो दशाएँ नहीं हो सकती हैं। द्रष्टा के अभाव में दृश्य की सत्ता और स्फूर्ती भी सिद्ध नहीं हो सकती। यह द्रष्टा और दृश्य के क्रम का अभाव द्वैतदशा में दूषण है और अद्वैतदशा में तो वह भूषण है, ऐसा कहते हैं। अद्वैत में द्रष्टा और दृश्य के क्रम का अभाव होने से वहाँ पर स्वभावतः है ॥१३॥ आप उस परम पद को, जो नाश और उत्पत्तिरहित, स्वयंप्रकाश, शान्त, आदि और निर्विकार है, जगत्–रूप से प्रतीत जानो ॥१४॥

अति अल्प स्थान में बृहत्तर वस्तु का समावेश न हो सकना भी दृश्यका ही दूषण है। सर्वाधिष्ठान चैतन्य का दूषण नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

मण्डप गृह के भीतर अपने स्वभाव से उदित आत्मारूप अपने घर में लोग अपने अपने व्यवहार के अनुकूल प्रशस्त प्रदेश की व्यवस्था कर विहार करते हैं, संचार करते हैं, यह कम आश्चर्य नहीं ॥१५॥ वहाँ पर तत्त्वज्ञ पुरुषों को न तो जगत् की प्रतीति होती है और न किसी सृष्टि का ही अनुभव होता है, उक्त तत्त्वज्ञों के अनुभवरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से यह निश्चित होता है कि अहंकार का साक्षीरूप अविनाशी चिदाकाश ही अज्ञानी की दृष्टि से जगत्–रूप से स्थित है ॥१६॥

अनुमान प्रमाण से भी उक्त बात को सिद्ध करते हैं।

मेरू आदि पर्वतों के समुदाय से युक्त वह सम्पूर्ण दृश्य निराकार ज्ञानरूप ही है, यह जैसा दिखाई देता है, वैसा स्थूलरूप नहीं है, क्योंकि उसका जहाँ पर समावेश नहीं हो सकता, अत्यन्त अल्प प्रदेश में तत्त्वज्ञों को उसकी प्रतीति हुई है, जैसे देह के अन्दर स्वप्न में देखा गया महानगर ॥१७॥

स्वप्न में सबके अनुभव से सिद्ध व्याप्ति को दिखलाते हैं।

'स्वप्नः कण्ठे समाविशेत्' इस श्रुति के अनुसार कण्ठ से लेकर हृदय तक बिलस्त भर स्थान में आत्मचैतन्य को ही पर्वतसमुदायों से पूर्ण वज्र की नाईं कठिन लाखों जगत् के रूप में स्वप्न में सभी देखते हैं ॥१८॥ जैसे बहुत से केले के कोमल पत्ते तह के साथ अल्प स्थान में संनिविष्ट रहते हैं, वैसे ही अत्यन्त सूक्ष्म चैतन्य में अनन्त जगत् रह सकते हैं ॥१९॥ जैसे देह के अन्दर स्वप्नमहानगर दिखलाई देता है, वैसे ही चिदणु में तीनों जगत् हैं, उसके अन्दर भी चिदणु है, उनमें भी प्रत्येक में जगत् है ॥२०॥ हे भद्रे, उनमें से जिस जगत् में यह पद्म राजा शवरूप में स्थित है, वहाँ तुम्हारी सौत यह लीला उसके पहले ही चली गई है ॥२१॥ यह लीला ज्यों ही तुम्हारे सामने मूर्छा को प्राप्त हुई, त्यों ही तुम्हारे पति राजा पद्म के शव के निकट जा पहुँची है ॥२२॥ लीला ने कहा : हे देवि, यह लीला वहाँ पर पहले देहधारिणी कैसे हो गई, जिस स्थिति में यह मेरी सौत है, उस स्थिति को प्राप्त होकर यह कैसे स्थित है। राजा पद्म के राजमहल में रहने वाले लोग इसका कैसा रुप देखते हैं और इसको क्या कहते हैं, यह सब संक्षेप से आप मुझसे कहिये ॥२३,२४॥ श्री देवीजी ने कहा : भद्रे, सुनो, जैसे तुमने मुझसे पूछा है, वह सब में संक्षेप से तुमसे कहती हूँ, यह तुम्हारा ही, जो दूसरी लीला बनी हुई हो, वृत्तान्त है, इससे तुमको निश्चय हो जायेगा और इससे मरण, परलोकगमन आदि को भी, जिनको देखना कठिन है, तुम देख सकोगी। तुम्हारा पति महाराज पद्म नगर आदि के रूपसे दिखाई दे रही जो यह जगन्मय भ्रान्ति है, खूब विस्तार को प्राप्त हुई इस जगन्मय भ्रान्ति को ही उसी शवगृह में देखता है ॥२५,२६॥ यह जो युद्ध तुमने देखा है, यह स्वप्नयुद्ध के समान भ्रान्तियुद्ध ही था, यह लीला भी, जिसके बारे में तुमने पूछा है, भ्रान्ति ही है, ये जो लोग हैं, वे जन्म आदि विकार से रहित आत्मा ही हैं, यहाँ जो मरण होता है, वह भ्रम ही है और यह संसार भी इस प्रकार भ्रमात्मक ही है। इसी भ्रम से राजा पद्म की लीला भार्यारूप से स्थित रही। तुम और वह दोनों सर्वांग सुन्दरी ललनाएँ स्वप्नमात्र ही हो। जैसे राजा की आप दोनों सुन्दरियाँ स्वप्नमात्र हैं, वैसे ही आपका पति यह राजा पद्म और स्वयं मैं भी स्वप्नमात्र ही हूँ। भद्रे, यह सम्पूर्ण जगत् की शोभा ऐसी ही (भ्रममात्र ही) है। यहाँ पर यह सब दृश्य भी भ्रान्तिमात्र ही कहा गया है। यदि यह जान लिया जाय, तो पुरुष दृश्य शब्द के अर्थ का (दृश्य में द्रष्टा के कर्मत्व का) त्याग कर देता है ॥२७-३०॥ इस प्रकार यह (लीला), तुम, यह संसार स्थिति और यह राजा ये सब भ्रान्तिरूप ही हुए हैं, आत्मा की पूर्णता होने से केवल मैं आत्मा सत्यता को प्राप्त हूँ। ये राजा लोग और हम परस्पर अनुग्राह्य और अनुग्राहकरूप से परिचलित होकर इस प्रकार महाचिद्घन की मिथ्या कल्पना स्थिति से बन गये हैं, वैसे ही यह लीलारूप रानी बन गई है,

क्योंकि महाचिद्घन (परम चेतन) की स्थिति सर्वात्मक है। यह लीला, जो कि मनोहर हासरूपी विलास से अलंकृत है, हावभावरूप लीला से चंचल मुँह से युक्त है, नव यौनव से सुशोभित है, बड़ी दक्ष, सुन्दर आचरणों से मन को लुभानेवाली, मीठे और अनमोल वचन बोलनेवाली, कोकिला के सुर के सदृश सुन्दर सुरवाली, यौवन मद से मन्दगति, नीले कमल की पंखुड़ियाँ के तुल्य विशाल नेत्रवाली, गोल और विशाल छाती से युक्त, सोने के सदृश गोरे अंगोंवाली, पके हुए बिम्बफल के सदृश लाल ओठवाली और बड़ी रमणीय है, तुम्हारे संकल्परूप पद्म की जब मनोवृत्ति से उसकी वासना हुई, तब तुम्हारे सदृश आकारवाली यह चैतन्य रूप चमत्कार में स्थित हो गई ॥३१–३६॥ तुम्हारे पति के मरने के अनन्तर ही तुरन्त तुम्हारे संकल्परूप तुम्हारे पति ने इसे अपने सामने देखा ॥३७॥

यदि यह वासनामयी थी, तो मेरे पतिने इसको सत्यरूप से कैसे अनुभव किया, इस पर कहती हैं।

जब चित्त अभ्यासवश दृढ़वासना से आधिभौतिक (व्यावहारिक) पदार्थ का अनुभव करता है, तब अनुभव से वह परमार्थ सत्य हो जाता है, परन्तु वस्तुतः दृश्य ही प्रातिभासिक है ॥३८॥ जब चित्त आधिभौतिक (व्यावहारिक) पदार्थों को विवेकज्ञानाभ्यास से परमार्थसत्य नहीं जानता, तब उसकी वासना से सत्य (दृढ़) प्रपंच में प्रातिभासिकता का निश्चय होता है ॥३९॥ मरणज्ञान से पुनर्जन्मरूप भ्रम होने पर तुमको इस राजा ने पत्नीरूप से जाना और वासनामय अन्य लीलारूपता को प्राप्त हुई तुमसे संगत हुआ ॥४०॥ इस प्रकार इस राजा ने तुमको अपनी वासनारूप ही देखा और तुमने राजा को अपनी वासनामय ही देखा। तुम भी आत्मा में पहले जैसे तीन ब्रह्माण्डों की ब्रह्म में स्थिति दर्शाई है, वैसे ही स्थित हो, क्योंकि आत्मा सर्वत्र व्यापक है यानी सब वासनाओं में व्याप्त है, इसलिए ब्रह्म का सर्वाकार विवर्त उत्पन्न होता है ॥४१॥ चूँकि ब्रह्म सर्वव्यापक है, अतएव जब जहाँ पर जैसी वासना होती है, तब वहाँ पर वह तुरन्त वैसा ही हो जाता है और विक्षेप शक्ति से (वैसा ही) उसका अनुभव करता है। ब्रह्म सर्वत्र सम्पूर्ण शक्तियों से युक्त है, अतएव जहाँ पर जिस जिस रूप से भोक्ता के अदृष्टवश जिस शक्ति का आविर्भाव कराता है, वहाँ पर वह वैसा ही होता है और दृढ़ आग्रहरूप वासना के कारण वैसी ही उसकी प्रतीति होती है ॥४२,४३॥ जब इन दो दम्पतियों का मरणानुकूल मूर्च्छा का क्षण आया, तभी इन्होंने सबका, जो आगे कहा जायेगा, वासना के जाग्रत् होने के कारण अपनी कल्पना से अनुभव किया कि ये हमारे पिता है और ये हमारी माताएँ हैं, यह हमारा देश है, यह हमारी धनसम्पति है, यह हमारा कर्म है और ऐसा कर्म हमने पूर्वजन्म में किया था। इस प्रकार हम लोगों का विवाह हुआ और इस प्रकार हम दोनों एकता को प्राप्त हुए। इनकी वह जनता भी, जो कि कल्पनात्मक ही है, भोगकर्ता के अदृष्ट से सत्यता को (अर्थक्रियाकारिता को) प्राप्त हुई है, वैसी ही स्वप्नप्रतीति यहाँ पर प्रत्यक्ष दृष्टान्त है, स्वाप्निक पुरुष भी स्वप्नकाल में सत्यता को (अर्थक्रियाकारिता को) प्राप्त होते ही हैं। लीले, इस प्रकार के अभिप्राय से युक्त लीला ने मेरी आराधना की

थी कि मैं कभी विधवा न होऊँ और मैंने भी उसे वरदान दिया था। इस कारण वह बालिका यहाँ पर पहले ही मर गई है ॥४४–४८॥

इस वासनात्मक लीला ने और मैंने क्यों आपकी आराधना की और क्यों आप हमपर प्रसन्न हुई ? इस पर कहती है।

मैं, व्यष्टिचेतन जो आप लोग हैं, आपकी समष्टिचेतना (हिरण्यगर्भचेतना) हूँ और आप लोगों की कुलदेवी होने से सदा पूजनीय हूँ, अतएव स्वतः ही सब कुछ करती हूँ ॥४९॥

पहले यह कैसे प्राप्त हुई इसका उत्तर देकर अब यह देहधारिणी कैसे हुई ? इस अंश का उत्तर देती है।

वासनामय इस लीला के देह से निकलने की इच्छावाले अंगुष्ठपरिमाण वाले जीवने प्राणवायु का रूप धारण किया (卐) तदनन्तर मन से तत् तत् पदार्थों की प्राप्ति के लिए उत्सुक होकर नाडीमार्ग से देहका परित्याग किया यानी 'तस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा' (उसके हृदयका अग्रभाग प्रद्योतित (प्रकाशित) होता है, उस आत्मज्योतिरूप प्रद्योतन से यह आत्मा नेत्रों से, सिर से अथवा अन्यान्य शरीरभागों से निकलता है) इस श्रुति में कहे गये क्रम से नाडीमार्ग द्वारा देह का परित्याग किया। तदनन्तर वासना के कारण पूर्वजन्म के स्मरण से मरणमूर्छा के बाद जीवरूप से स्थित इस लीला ने इसी (ब्रह्माकाश या भूताकाशरूप) घर में बुद्धि में संकल्पित आगे कहे जानेवाले शरीर में गमन और कुमारीरूप प्राप्ति आदि पदार्थ देखे ॥५०,५१॥ चन्द्रमण्डल के सदृश मुखकान्तिवाली और मृग के तुल्य विशाल नेत्रवाली यह लीला, जिसकी सूर्य की किरणों से कमलिनी की नाईं वासनारूपी कलियाँ खिल गई थी, जो लावण्यमयी होने के कारण स्वयं पति के लिए उपभोग की वस्तु थी और स्वयं भी सुन्दर पति का उपभोग करना चाहती थी, भावनावश पूर्वदेहकी स्मृति से, स्वप्न में जैसे, पद्मब्रह्माण्डमण्डल के भीतर जाकर पति से संयुक्त हो गई ॥५२॥

बावनवाँ सर्ग समाप्त

तिरपनवाँ सर्ग

लीला के गमनमार्गका, स्वामी पद्म की प्राप्तिका तथा आकाशमार्ग में अज्ञानियों की गति के अभाव का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तदुपरान्त यह (लीला), जिसे सरस्वती देवी से वरदान मिला था, पूर्व वर्णित वासनामय शरीर से ही अपने स्वामी राजा पद्म को पाने के लिए आकाशमार्ग से आगे कहे जानेवाले भुवनों में जाती है, स्मरण से देहादिभाव को प्राप्त कर

卐 'प्राणं तेजसा युक्तः सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नमति' (प्राण तेज से युक्त होकर आत्मा के साथ संकल्पानुसार तत्-तत् लोक को जाता है) इस श्रुति से यह सिद्ध होता है कि उत्क्रमण प्राणों के अधीन है 'प्राणं तर्हि वागप्येति' (तब वाणी का प्राण में लय होता है) इत्यादि श्रुतियों से सब करणों का प्राण में लय होने से उसने प्राणवायु का रूप धारण किया।

पतिमिलन की सम्भावना से प्रबल कामवेदनावाली तथा छोटे से आकारवाली वह आनन्दपूर्वक आकाश में चिड़िया की नाईं उड़ी। वहाँ पर उसको सरस्वती देवी के द्वारा भेजी गई उसकी कन्या ऐसे मिली, मानों वह उसके संकल्परूपी महान दर्पण से उसके सामने निकल आई हो ॥१–३॥ कुमारी ने कहा : हे सरस्वती देवी की सखी, मैं तुम्हारी कन्या हूँ, हे सुन्दरी, आपका स्वागत हो। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में ही यहाँ आकाशमार्ग में स्थित हूँ ॥४॥

लीला ने कहा : हे देवता के शरीर को प्राप्त हुई वत्से, हे कमललोचने, मुझे मेरे पति के समीप में ले जाओ।

यदि कुमारी कहे कि तुम्हें पति की चाह है, तो तुम भले ही मेरे पिताजी के पास जाओ मैं वहाँ क्यों जाऊँ ? इस पर लीला कहती है।

महान् लोगों का दर्शन कभी भी निष्फल नहीं जाता, मेरी भलाई के लिए मैंने जो कहा उसे करो, यह तात्पर्य है ॥५॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, 'देवी ! आइए, वहींपर हम दोनों जाते हैं, यह कहकर वह कुमारी लीला के आगे हो गई और आकाश में मार्ग दिखलाने लगी ॥६॥ उस कुमारी के पीछे–पीछे चलती हुई लीला, जैसे होनेवाले शुभ और अशुभ को सूचित करनेवाली ब्रह्माकी रची हुई हस्तरेखा प्राणियों के हाथ के तलवे को प्राप्त होती है, वैसे ही ब्रह्माण्ड के छिद्ररूप निर्मल आशा को प्राप्त हुई। तदनन्तर लीला पहले मेघमार्ग को लाँघकर प्रवह, आवर आदि वायुसमूह के मार्ग में पहुँची, तदुपरान्त सूर्यमार्ग से निकलकर, नक्षत्र मार्ग को लाँघकर और शीघ्रता से वायु, इन्द्रदेव और सिद्धों के लोकों का तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिवजी के लोकों का भी अतिक्रमण कर वह ब्रह्माण्डकपाल में पहुँची ॥७–९॥ जैसे घड़े के भीतर रक्खे हुए हिमजल की शीतलता घड़े के फूटे बिना भी बाहर निकल आती है, वैसे ही वासनामयी वह लीला भी ब्रह्माण्ड से बाहर निकल गई ॥१०॥

लीला का यह गमन केवल उसकी मन की कल्पना ही थी, इसका स्मरण कराते हैं।

संकल्पमात्रदेहवाली लीला को अपने संकल्प के स्वभाव से उत्पन्न इस प्रकार के गमनरूप भ्रम का अपने अन्दर ही अनुभव करती है ॥११॥ ब्रह्मा आदि के लोकों को लाँघकर ब्रह्माण्ड के कपाल में पहुँचकर तदुपरान्त ब्रह्माण्ड के पार पहुँची हुई लीला जल आदिरूप आवरणों को पारकर अपार मायासंवलित चिदाकाश के मध्य में पहुँची। वह इतना विशाल है कि यदि गरूड़ अत्यन्त वेग से सदा उड़ते रहें तो वे भी सैकड़ों करोड़ कल्पोंमें उसके ओर–छोर का पता नहीं लगा सकते तो, औरों की बात ही क्या है ? उसमें लाखों ब्रह्माण्ड लाखों क्या असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, वे ऐसे ही हैं जैसे महान् वन में असंख्य फल होते हैं, उन ब्रह्माण्डों ने भी आपस में एक दूसरे को कभी नहीं देखा ॥१२–१४॥ उनमें से एक में, जो कि उसके सामने था और विस्तृत आवरण से युक्त था, जैसे छोटा कीड़ा बेर को छेदकर भीतर घुसता है, वैसे ही उसे छेदकर वह उसमें प्रविष्ट हुई। फिर ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु आदि के दैदीप्यमान लोकों को लाँघकर आकाश के नीचे राजा पद्म के समृद्ध भूमण्डल में पहुँची ॥१५,१६॥ भूमण्डल में राजा पद्म के राज्य में

और उसके नगर में पहुँचकर तत्पश्चात उस मण्डप में प्रविष्ट होकर फूलों से ढके हुए शव के समीप में बैठ गई ॥१७॥ इतने में ही सुन्दरी लीला ने कुमारी को नहीं देखा, जैसे ज्ञान होने पर माया कहीं चली जाती है, वैसे ही वह कहीं चली गई ॥१८॥ शवरूपी अपने पति का मुख देखकर लीला ने अपने तर्क से उसे सत्य समझा। संग्राम में सिन्धु के हाथ से मारा गया वह मेरा स्वामी वीरों को प्राप्त होनेवाले इन लोकों में पहुँचकर क्षण भर के लिए आराम से सोता है ॥१९,२०॥ मैं श्रीदेवीजी के वरदानरूप प्रसाद से सदेह ही (अपने प्राक्तन स्थूल देह से युक्त ही) इस प्रकार यहाँ पर आई हुई हूँ। मैं बड़ी धन्य हूँ, मेरे समान दूसरी कोई भी भाग्यशालिनी नहीं है, ऐसा विचारकर अपने हाथ में सुन्दर चँवर लेकर लीला जैसे द्युलोक चन्द्र से भूमिमण्डल को पंखा झलता है वैसे ही, झलने लगी यानी अपने पति के ऊपर चँवर डुलाने लगी ॥२१,२२॥ प्रबुद्ध लीला ने कहा : हे देवि, वे नौकर–चाकर, वे दासियाँ और वह राजा उसे कैसे जान पाये ? वे उसे किस बुद्धि से क्या कहते थे और वह बुद्धि कैसे उत्पन्न हो सकती है यानी वे उसको किस नाते से पुकारते थे और वह नाता कैसे सिद्ध हो सकता है ? यह सब हमसे कहिये। भाव यह है कि राजा को यदि अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त का विस्मरण न भी हुआ हो तो भी अविवाहित स्त्री का ग्रहण शिष्ट पुरुषों द्वारा गर्हित होने के कारण राजा उसका ग्रहण नहीं कर सकते, यह सब कथा मुझसे आप कहिये ॥२३॥

यदि सभी को ऐसी प्रतीति हो कि यह कोई नई आई है तभी उक्त दोष आ सकता है। सत्यसंकल्पवाले हमारे प्रभावसे वैसी प्रतीति ही नहीं होगी, इस प्रकार देवी पूर्वोक्त शंका का समाधान करती है।

वह राजा, वासनामयी लीला और उनके नौकर–चाकर सभी आपस में एक दूसरे को एकमत से ही देखते हैं यानी जैसे राजा की रानी के प्रति 'यह मेरी पत्नी है', यह बुद्धि है, वैसे ही रानी की राजा के प्रति 'यह मेरा स्वामी है', यह मति है और जैसे नौकरों के प्रति उनकी ये हमारे नौकर हैं, एसी मति है वैसे ही नौकरों की भी ये हमारे मालिक हैं, ऐसी मति है, क्योंकि उनकी ऐसी प्रतीति होने में चार हेतु हैं – पहला हेतु है – सत्यसंकल्पवाले हम दोनों का प्रभाव, दूसरा हेतु है–साक्षीरूप चिदाकाश का ऐसा स्फूरण जिससे कि सबकी एकमति हो और जो प्रत्येक की बुद्धि के, जल में सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान, भीतर पैठा है, तीसरा हेतु है – ब्रह्मचैतन्य का भोक्ता के अदृष्ट के अनुसार तत् तत् रूप में विवर्त होना और चौथा हेतु 'उनका महानियति के (इसे ऐसा ही होना चाहिए, इस प्रकार के ईश्वर के संकल्प के) अधीन में रहना, यानी सत्य संकल्पवाले इन लोगों के प्रभाव से सबकी बुद्धि में प्रतिबिम्ब की नाईं स्थित चिदाकाश के ऐकमत्यानुकूल स्फुरण से, भोक्ता के अदृष्टानुसार ब्रह्मरूप महाचैतन्य का तादृश विवर्त होने से और 'इसको ऐसा ही होना चाहिए' इस प्रकार के भगवान् के संकल्प के अधीन होने से उनकी परस्पर एक मति थी। यह मेरी सहज (साथ उत्पन्न हुई) पत्नी है, यह मेरी सहज रानी है, यह मेरा सहज नौकर है। इस आश्चर्यमय वृत्तान्त को आदिसे लेकर अन्त तक पूरे–का–पूरा तुम्हारे, मेरे और इसके (विदूरथ की पत्नी लीला के) सिवा दूसरा

कोई भी नहीं जान पायेगा ॥२४–२७॥ प्रबुद्ध लीला ने कहा : हे देवी, यह मधुरभाषिणी लीला, जिसे आप पति के पास पहुँच गई कहती है, आपके वरदान के प्रताप से इस स्थूल शरीर से ही पति के पास क्यों नहीं गई ? ॥२८॥ श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे जैसे छाया धूप को नहीं पा सकती, वैसे ही अज्ञानी (आत्मा के ज्ञान से शून्य) लोग पुण्यों के प्रभाव से प्राप्त हुए शुभ लोकों को नहीं पा सकते। प्रथम सृष्टि में सत्यसंकल्पवाले ईश्वर, हिरण्यगर्भ आदि ने ऐसी मर्यादा कर छोड़ी है, जैसे कि सत्य वस्तु मिथ्या वस्तु से तनिक भी नहीं मिलती है, जैसे कि भाष्य है–जहाँ (सत्य पदार्थ में) जिसका (मिथ्या पदार्थ का) अध्यास है, वह (सत्य) अध्यस्त (मिथ्या पदार्थ) के गुण और दोषों से अणुमात्र भी लिप्त नहीं होता ॥२९,३०॥

यदि लीला यह पूछे कि इसे आपके वरदान के बल से अस्थूल आत्मा का ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? इस पर देवीजी कहती हैं।

जब तक बालक के मन में वेताल का निश्चय रहता है, तब तक उसमें वेताल के अभाव की बुद्धि का उदय कैसे हो सकता है ? ॥३१॥ जब तक आत्मा में अज्ञानरूपी ज्वर की गर्मी रहती है, तब तक विवेकरूपी चन्द्रमा की शीतलता पूर्वरूप से कैसे उदित हो सकती है ? ॥३२॥ मेरा शरीर पृथिवी आदि से निर्मित है, मेरी आकाश में उत्तम गति नहीं हो सकती, जिसके अन्तःकरण में ऐसे निश्चय की जड़ जमी हुई है, उसमें अन्य प्रकार का (उक्त निश्चय से विपरीत) निश्चय कैसे हो सकता है ? ॥३३॥ अतएव लोग विवेकज्ञान से, प्रचुर पुण्य से और वरदान से इस (तुम्हारे सदृश) पुण्य शरीर से परलोक में जाते हैं ॥३४॥

आतिवाहिक देह के मिलने पर स्थूल में अहंभाव की निवृत्ति कैसे होती है ? इस शंका पर देवीजी कहती हैं।

जैसे सूखा हुआ पत्ता जल रही अग्नि में गिरते गिरते तुरन्त ही जल जाता है, वैसे ही यह स्थूल देह अहंकार–वासनामय आतिवाहिक देह को प्राप्त होते ही नष्ट हो जाता है ॥३५॥

वर और शाप भी पूर्वजन्म की वासना और कर्म के अनुसार ही कर्म और वासना के उद्बोधकरूप से प्राणियों को मिलते हैं, यह बात स्मृति के दृष्टान्त से श्रीदेवीजी कहती हैं।

जैसे पहले से खूब अभ्यस्त होने पर भी तुरन्त संस्कार का उद्बोध न होने से चिरकाल तक जिसमें चिन्तन करने की आवश्यकता होती है, ऐसे अनुवाद आदि को जब कोई आदमी प्रतीक के कथन द्वारा स्मरण कराता है, तब जिसे स्मरण होता है वह पुरुष कहता है–जैसा आपने स्मरण कराया वैसा ही मैंने उसका स्मरण किया, यों जैसे स्मरण होता है वैसे ही वर और शाप के अभ्युदय से वासना और कर्म की स्मृति होती है ॥३६॥

यदि कोई शंका करे कि अर्थक्रियाकारी स्थूल देह का तत्त्वज्ञान से कैसे बाध होता है ? इस पर तत्त्वदृष्टि से स्थूलदेह में अर्थक्रिया का ही अभाव है, ऐसा श्रीदेवीजी कहती हैं।

रस्सी में जो सर्प की भ्रमात्मक प्रतीति होती है, वह सर्प का कार्य कैसे कर सकती है ? जो पदार्थ स्वस्वरूप से है ही नहीं, उसकी कार्यकारिता कैसे हो सकती है ? ॥३७॥

यदि स्थूल देह है ही नहीं, तो यह देह मर गई, ऐसा सबको क्यों अनुभव होता है ?

इस पर कहती हैं।

'यह मर गया' इत्याकारक मिथ्या पदार्थ का जो सबको अनुभव होता है वह अनुभव खूब बढ़े हुए पूर्व जन्म के अभ्यास के संस्कार से होता है ॥३८॥ जब यह जगत्–जाल खूब अनुभूत हो जाता है, तब भ्रमात्मक स्मरण बराबर अभ्याससे सुगम हो जाते हैं। इस प्रकार का यह सृष्टि का अभ्यास वर या शाप देनेवाले हिरण्यगर्भ या ईश्वर द्वारा हमारे वासना, कर्म आदि से निरपेक्ष होकर नहीं बनाया गया है अर्थात् हमारी वासना और कर्म से सापेक्ष होकर ही बनाया गया है ॥३९॥

यदि किसी को यह शंका हो कि संसार यदि आन्तर वासनामय है, तो वह बाह्य कैसे प्रतीत होता है, तो उसका दृष्टान्तपूर्वक समाधान करते हैं।

जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है यानी जो अज्ञानी हैं और जो बाहर भूतसमूह को देखते हैं, उनको संसार का भीतर ही अनुभव होता है, जैसे कि दूर में प्रतीत हो रहा अध्यस्त दूसरा चन्द्रबिम्ब भी आन्तर अनुभूत होता है इसी युक्ति से कल्पित ये संसृतियाँ भी आन्तर ही हैं, बाह्य नहीं हैं ॥४०॥

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

चौवनवाँ सर्ग

सब पदार्थों की नियति, मरणक्रम, भोग और कर्म, गुण एवं आचार के अनुसार आयु के मान का वर्णन।

श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, इसलिए जो लोग तत्त्वज्ञानी हैं अथवा जिन लोगों ने योग के अभ्यास से जन्य परम धर्म का आश्रय लिया है, वे ही आतिवाहिक लोकों को प्राप्त होते हैं, अन्य लोग नहीं ॥१॥

यदि कोई शंका करे कि आतिवाहिक ब्रह्मादि के लोकों में भी यहाँकी नाईं चिरकाल के अभ्यास आदि से भौतिक देहता का उदय क्यों नहीं होता ? तो इस पर कहती हैं।

आधिभौतिकदेहता मिथ्या (भ्रमरूप) है, वह स्थूल की अपेक्षा सत्य (✍) यानी पुण्य के उत्कर्ष से प्राप्त आतिवाहिकरूप सत्य में कैसे स्थिति को प्राप्त हो सकती है ? छाया धूप में कैसे रह सकती है ? भाव यह कि जैसे धूप में छाया की स्थिति नहीं हो सकती, वैसे ही आतिवाहिकरूप सत्य में आधिभौतिक देहता नहीं रह सकती ॥२॥

यदि ऐसा है तो लीला का पद्म की प्राप्ति के बाद आधिभौतिक शरीर कैसे उत्पन्न हुआ ? इस शंका पर कहती है।

लीला को न तो तत्त्वज्ञान ही हुआ था और न उसने योगाभ्यास से उत्पन्न परम धर्म का ही

✍ 'अपागादग्नेरग्नित्वं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' (अग्नि से अग्नित्व गया, शुक्ल, कृष्ण और लोहित ये तीन रूप ही सत्य हैं।) 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यः' (प्राण सत्य हैं, प्राणों का यह सत्य है) इत्यादि श्रुतियों से कहा गया है कि सूक्ष्म में त्रिवृत्करण आदि से स्थूल अध्यस्त है, अतः स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म सत्य है।

अवलम्बन किया था, इसलिए वह केवल पति के कल्पित नगर में गई ॥३॥

देवी के उक्त कथन को स्वीकार कर राजा की मृत्यु देखने से सूचित जीवन के नियम और अनियम की अनुपपत्ति देख रही लीला ने कहा ।

प्रबुद्ध लीला ने कहा : हे देवि, यह लीला राजा पद्म के पास चली गई, ऐसा जो आपने कहा, यह आपके कथनानुसार वैसा ही हो, इसमें मुझे कोई अनुपपत्ति नहीं दिखती । जरा अपनी आँखों से देखिये, यह मेरे पति प्राणों का त्याग करने लगे हैं, इस विषय में इस समय क्या करना चाहिए यानी इसकी उपपत्ति कैसे है ? ॥४॥

यहाँ पर प्रश्न का 'इस समय मुझे क्या करना चाहिए ।' ऐसा अभिप्राय नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से एक तो अन्य प्रश्नों से असंगति आती है और दूसरा प्रश्न के उत्तर में देवीजी ने लीला के कर्तव्य कार्य का उपदेश नहीं दिया है ।

देह आदि भाव पदार्थों के जीवन, सौख्य आदि तथा दुःख दौर्मन्य (दौर्बल्य) आदि अभावों में पहले नियम कैसे आया और फिर मरण, जन्म आदि से सूचित अनियम भी कैसे आ गया ॥५॥

यदि कोई कहे कि नियम न हो, अनियम ही रहे, तो इस पर कहते हैं ।

यदि अनियम मानोगे, तो जल का शीतलता ही स्वभाव, अग्नि का उष्णता ही स्वभाव इत्यादि की सिद्धि कैसे होगी ? घटादि पदार्थों में रहनेवाली सत्ता (भावरूपता का नियम) कैसे होगी, अग्नि आदि में उष्णता और पृथ्वी आदि में स्थिरता कैसे होगी ? हिम आदि में शीतलता कैसे होगी, काल, आकाश आदि की नित्यता कैसे होगी, भाव का (सत्य रजत आदि का) ग्रहण, अभाव (शुक्ति रजत आदि का) त्याग कैसे होगा ? पृथिवी आदि की स्थूलता और मन, इन्द्रिय आदि की सूक्ष्मता ही है, इन नियमों का दर्शन कैसे होगा ? अपनी ऊँचाई के कारण के रहते भी तिनका, झाड़ी, मनुष्य आदि वस्तुओं शाल, तमाल आदि वृक्षों के तुल्य अत्यंत ऊँचाई को नहीं पाती, इष्ट अनिष्ट सभी जगह नियमन होने से सर्वत्र अविश्वास ही क्यों न होगा ? ॥६–८॥

सभी जगह ऐसा ही नियम होता, यदि जगत केवल सत्य स्वभाव होता और सभी जगह अनियम ही होता, यदि जगत असत्य (मायामात्र स्वभाव) होता किंतु जगत की सत्य और असत्य से सम्मिलित माया प्रकृत है, इसलिए नियम भी सत्य और असत्य स्वभाव होकर भोगकर्ता के अदृष्ट के अनुरूप चित्–विवर्त की व्यवस्था से रहते हैं, ऐसा समाधान करने की इच्छावाली देवीजी उसके लिए शुद्ध चित् के विवर्त का क्रम कहती है ।

श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, महाप्रलय होने पर, जब कि सब पदार्थों का विनाश हो जाता है, अनन्त चिदाकाशरूपी शान्त सत् बुद्धरूप ब्रह्म ही केवल रहता है । पर वह जैसे स्वप्न में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य सर्पता तथा आकाशगमन आदिका अनुभव करता है, वैसे ही चिद्रूप होने के कारण मैं तेज का कण (शुद्ध चित् से व्याप्त होने के कारण चमकदार सूक्ष्म भूत) हूँ, ऐसा समझता है ॥९,१०॥ वह तेज का कणरूप ब्रह्म अपने से अपने में स्थूलता को प्राप्त करता है यानी अपनी कल्पना से स्थूलता का लाभ करता है, वही स्थूल यह दृश्यमात्र

ब्रह्म कहा गया है, जो असत्य होता हुआ भी सत्य-सा प्रतीत होता है ॥११॥ उक्त ब्रह्माण्ड के भीतर स्थित हिरण्यगर्भनामक ब्रह्म 'सहसिद्धं चतुष्टयम्' इस पूर्वोक्त स्मृति के अनुसार अन्तुर्मुखतारूप अंश से यह मैं ब्रह्म हूँ, यह जानता है और बाह्यवासनारूप दूषित अंश से प्राणियों के कर्म के अनुरूप सृष्टि के संकल्परूप से मनोराज्य करता है, वही सत्यसंकल्परूप मनोराज्य यह जगत् है ॥१२॥ उस पहली सृष्टि में जो संकल्पवृत्तियाँ जहाँ पर जैसे (नियम-अनियमरूपसे) विकास को प्राप्त हुई वे वहाँ पर वैसी ही आज भी ज्यों-की-त्यों निश्चल (बिना हेर-फेर के) स्थित है ॥१३॥

भाँति-भाँति की वासनाओं से भरे हुए मन में, वैसा संकल्पोदय होने पर भी आत्म-चैतन्य का मन के संकल्पानुसार विवर्त कैसे होता है ? इस शंका पर देवीजी कहती हैं।

चित्त जिस जिस प्रकार से स्फुरित होता है, चैतन्य भी स्वयं ही उस प्रकार से स्फुरित होता है, क्योंकि आत्मचैतन्य का यह स्वभाव ही है कि वह स्वच्छ उपाधि में प्रतिफलित होता है। इसलिए कुछ भी पदार्थ अनियत स्वभावरूप से उत्पन्न नहीं होते ॥१४॥

मायाशबल ब्रह्म में अनादिकाल से नियतरूप से स्थित विश्व के आविर्भाव से भी 'नियति' की सिद्धि होती है, इस आशय से कहते हैं।

प्रलयकाल में भी विश्वरूपी (विराट्) सम्पूर्ण वस्तुओं से शून्य नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो जाय तो उसमें कारणता ही नहीं रहेगी, कारण कि सोना कटक, कंकण, कुण्डल, रुचक, पिण्डत्व आदि सब आकारों का त्याग करके कैसे रह सकता है ? भाव यह है कि सब आकारों का उसमें अन्तर्भाव है, अतः वह किसीका भी त्याग नहीं कर सकता ॥१५॥ सृष्टि के आरम्भ में स्वयं ही आत्मचैतन्य जैसे अपनी सत्ता से (शीतलता, उष्णता आदिरूप से) अपने में हिम, अग्नि आदि के आविर्भाव को प्राप्त हुआ वह वैसे ही आजतक ज्यों-का-त्यों अविचलरूप से स्थित है ॥१६॥

यदि मायाशबल ब्रह्म अपनी अधिष्ठान-सत्ता का त्याग करेगा, तो मायान्तर्गत नियमों की असत्ता हो जायेगी, लेकिन यह अशक्य है, ऐसा दिखलाती हुई देवीजी उपसंहार करती है।

इसलिए माया शबल ब्रह्म अपनी सत्ता का त्याग करे, यह संभव नहीं है, जब चिति है, तब उसीसे (चित् की सत्ता से ही) इस नियति का अपलाप नहीं किया जा सकता ॥१७॥

नियति के अविपर्यास में (उलटफेर न होने में) पृथ्वी आदि की स्थिति ही दृष्टान्त है, इस आशय से कहती हैं।

यद्यपि पृथ्वी आदि दृश्य प्रपंच आकाशरूपी (शून्य) है, तथापि वह सृष्टि के आरम्भ में जहाँ पर जिस रूपसे आविर्भूत हुआ था, वह आज भी अपनी मर्यादा से तनिक विचलित नहीं हो सकता ॥१८॥

जीवननियति का मरणनियति से जो विपर्यास है, उसके सभी को दिखाई देने से कहती है।

जीवननियम का मरणनियम से जो विपर्यास है, उसके सिवा जो चिति जहाँ जिस प्रकार आविर्भूत हुई है, वह अभ्यासवश दृढ़ प्रतीति होने के कारण स्वयं विचलित नहीं होती यानी

ज्यों–की–त्यों बनी रहती है ॥१९॥

ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह मायिक दृष्टि का अवलम्बन करके कहा गया है परमार्थ दृष्टि से तो जब जगत् की ही सत्ता नहीं है, तब नियति की क्या कथा है ? इस आशय से कहती हैं।

जगत् पहले उत्पन्न ही नहीं हुआ।

शंका – यदि जगत् उत्पन्न नहीं हुआ, तो उसका अनुभव कैसे होता है ?

समाधान– जो कुछ यह अनुभव में आ रहा है, यह चिदाकाश का ही तादृशरूप से विकास है, स्वप्न में स्त्रीसंग की नाईं यानी स्वप्न में जैसे अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का ही तादृश आकार से स्फुरण होता है, वैसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिए ॥२०॥ इस प्रकार असत्य होता हुआ भी सत्य के तुल्य प्रतीत होनेवाला यह प्रातिभासिक जगत् स्थित है, इस प्रकार का नियति का स्वभाव है और ऐसे जीवन मरण आदि पदार्थों के अनुभव हैं ॥२१॥

नियति शब्द के अवयवार्थपर ध्यानपूर्वक विचार करने से भी यही अर्थ सिद्ध होता है, ऐसा कहती है।

सृष्टि के आरम्भ में जो चेतनविकासपरम्परा जैसे आविर्भूत हुई (बद्धमूल हुई) उसे आज तक भी कोई दूसरा टससे–मस नहीं कर सका, अतएव वह नियति कही जाती है ॥२२॥

उक्त अर्थ को ही उदाहरण देकर दर्शाती है।

सृष्टि के आरम्भ में चिदाकाश, जिसने आकाशरूप से स्फुरण को स्वीकार किया था, आकाशरूपता को प्राप्त हुआ, कालरूप से स्फुरणका स्वीकार कर चिदाकाश ही कालरूपता को प्राप्त हुआ, जलरूप से स्फुरण का स्वीकार कर चिदाकाश ही ऐसे जल के रूप में स्थित हुआ जैसे कि स्वप्न में पुरुष अपने में ही जलत्व को देखता है। स्वप्न की नाईं चिति ही तत्–तत् रूप को प्राप्त हुई है। तत् –तत् रुप को प्राप्त होने पर भी वह ज्यों–की–त्यों बनी रहती है यानी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होती, क्योंकि चित् के चमत्कार की यानी माया के चातुर्य से यह प्रपंच असत्य होता हुआ ही अपने में सत्यता की बुद्धि उत्पन्न कराता है ॥२३–२५॥ जैसे स्वप्न, संकल्प और ध्यान में असत् वस्तु को ही अन्तःकरण अपनी कल्पना से जानता है, वैसे ही आकाशत्व, जलत्व, पृथिवीत्व, अग्नित्व और वायुत्व भी असत् है, चिति स्वयं अपनी कल्पना से इनका अनुभव करती है ॥२६॥

इस प्रकार अन्य नियमों की व्यवस्था करके जीवननियति भी कर्मों के भेद से नियत अवधिवाली ही ईश्वर के संकल्प से रची गई है, इसलिए मरने के पश्चात उसका भंग नहीं होता है, यह दिखलाने के लिए कर्मफलों के अनुभवक्रम का निरूपण करने के लिए प्रतिज्ञा करती है।

मरण के बाद (मरने तक जिनका फल प्रारब्ध है, उन कर्मों के प्रतिबन्धक होने के कारण उस देह के संचित कर्म फल देने में समर्थ नहीं होते, मरने पर प्रतिबन्धक के हट जानेसे वे फल उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं, यह सूचित करने के लिए 'मरणानन्तर' कहा गया है) कर्मफलों के अनुभव का क्रम सुनो, इसके सुनने से तुम्हारे सब सन्देह मिट जायेंगे और तुम्हारे मुँह से लोक में प्रसिद्ध होकर यह और लोगोंमें आस्तिक बुद्धि उत्पन्न करके मरने पर उनके लिए भी

कल्याणकारी सिद्ध होगा ॥२७॥ पहली सृष्टि में सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग में पुरुषों की क्रमशः चार सौ, तीन सौ, दो सौ और एक सौ वर्ष की जो आयु स्थिर हुई थी, उसके न्यूनाधिक होने में भी अवान्तर नियम सुनो ॥२८॥ आयु के निमित्तभूत अपने कर्मों की देश, काल, अनुष्ठान और द्रव्य की अशुद्धि और शुद्धि तथा न्यूनता और अधिकता मनुष्यों की आयु में कारण है। आयु के हेतुभूत कर्मों में देश आदिकी अशुद्धि से वैगुण्य आने से फल की न्यूनता होती है और देश आदि की अधिक शुद्धि से अधिक फल होता है, यह भाव है ॥२९॥

इसी प्रकार विहित कर्मों का अनुष्ठान न करना भी आयु के ह्रास का कारण है, ऐसा कहती हैं।

अपने कर्मरूप धर्म का ह्रास होने पर मनुष्यों की आयु क्षीण होती है, स्वकर्मधर्म की वृद्धि होने पर बढ़ती है, स्वकर्मधर्मका शास्त्रानुसार (जितना शास्त्र में कहा गया है उतना ही) अनुष्ठान होने पर उसमें कमी–बेशी न करनेपर सम ही (उस युगमें जितनी नियत है उतनी ही) रहती है ॥३०॥

विहित का आचरण न करने के समान निषिद्ध का आचरण करना भी आयु के ह्रास का हेतु है, ऐसा कहती हैं।

बाल्यावस्था में मृत्यु देनेवाले कर्मों से देही बाल्यावस्था में ही मर जाता है, युवावस्था में मृत्यु देनेवाले कर्मों से युवावस्था में मर जाता है और वृद्धावस्था में मृत्यु देनेवाले कर्मों से वृद्ध होकर मरता है ॥३१॥ जो पुरुष शास्त्र में जैसा कहा गया है, उसका उल्लंघन किये बिना आरम्भ किये गये अपने धर्म का अनुष्ठान करता है, वह पुण्यात्मा शास्त्रमें वर्णित पूर्ण आयु का भाजन होता है ॥३२॥ इस प्रकार अपने कर्मों के अनुसार जीव अन्त्य दशा को प्राप्त होता है, आयु की समाप्ति को प्राप्त हुए पुरुष को मर्मको पीड़ा पहुँचानेवाली वेदनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव होता है ॥३३॥ प्रबुद्ध लीला ने कहा : हे चन्द्रमुखी देवि, मुझसे आप संक्षेप से मरण का वृत्तान्त कहिये, क्या मरण सुखरूप है अथवा दुःखरूप है और मरने के बाद क्या होता है ? लीला के पूछने का मतलब यह है कि पूर्ववर्णित मरणदुःख सबको समान होता है या किसीको सुख भी होता है और मरने के बाद क्या सबकी एकसी गति होती है या योगियों की विशिष्ट गति होती है ? ॥३४॥ श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, मुमूर्षु (मरने के इच्छुक) पुरुष तीन प्रकार के होते हैं–मूर्ख, धारणा का (नाभि में, हृदयमें, कण्ठमें, भौंहों के बीचमें और ब्रह्मरन्ध्र में नियत अवधि तक प्राण और मन के निरोध का) अभ्यासवाला तथा युक्तिमान यानी जिसे अपनी इच्छा के अनुसार उत्क्रमण में (निर्गमन में), परकायप्रवेश में, अपने अभीष्ट लोक की प्राप्ति के मार्गभूत नाड़ी द्वारा विशेष प्रकार से निकलने और प्रवेश करने में निपुणताका अभ्यास हो गया हो। उनमें बिचला धारणानिष्ठ पुरुष क्रम से युक्ति का अभ्यास कर देह का त्याग कर देह के अन्त में सुखपूर्वक जाता है, युक्तिमान् पुरुष वैसा ही रहकर सुख को प्राप्त होता है और जिस पुरुष को न तो धारणा का अभ्यास है और न युक्ति ही उसके पास है, ऐसा मूर्ख पुरुष विवश होकर दुःख को ही

प्राप्त होता है ॥३५-३७॥ वासना के आवेशवश पराधीनचित्त हुआ अतएव विषयों का ही चिन्तन करनेवाला पुरुष कटे हुए कमल की नाईं अत्यंत दीनता को प्राप्त होता है, जिसकी बुद्धि शास्त्रों से संस्कृत नहीं है और जो असज्जनों की संगति करता है, वह मरने पर अग्नि में गिरे हुए पुरुष की नाईं अन्तर्दाह का अनुभव करता है। उस अविवेकी का कण्ठ जब कफ से 'घर, घर' शब्द करता है और दृष्टि तथा वर्ण विरूप हो जाते हैं, तब वह बड़ा दयनीय होता है ॥३८-४०॥ वह परम अन्धकार को प्राप्त होकर प्रकाश से वंचित रहता है, क्योंकि दिन में उसके लिए तारे उगे रहते हैं, उसका आकाश अत्यन्त तिमिराच्छन्न रहता है, उसके चारों ओर दसों दिशाओं में मेघ व्याप्त रहते हैं, मर्मपीड़ा से वह व्याप्त रहता है,उसकी दृष्टि चक्कर खाती रहती है, पृथिवी उसके लिए आकाश बन जाती है, आकाश पृथिवी बन जाता है, दिशाएँ उसे घूमती हुई प्रतीत होती हैं, समुद्र में बहाया जाता हुआ-सा, आकाशमें ले जाया जाता हुआ-सा, अंधे कुएँ में गिरा हुआ-सा, शिला के अन्दर घुसाया-हुआ-सा, प्रबल निद्रा को प्राप्त होता हुआ-सा पराधीन रहता है। अपने दुःखों को कहने की इच्छा होने पर भी वाणी का स्तम्भ हो जाने से उसके मुँह से अक्षर नहीं निकलते, वह हृदयमें काटा हुआ-सा, आकाशमार्ग से गिरता हुआ-सा, प्रबल आँधी में डाला हुआ-सा, तेज दौड़नेवाले रथमें बैठा हुआ-सा, हिमशिला की नाईं गलता हुआ-सा, अपने को उदाहरण बनाकर लोगों में संसार-दुःख का व्याख्यान करता हुआ-सा, पत्थर को फेंकने के यन्त्र से घुमाया हुआ-सा, वायुयन्त्र में रक्खा हुआ-सा, भ्रमियन्त्र (चर्खी आदि) में घुमाया हुआ-सा, रस्सीसे खींचा हुआ-सा, जल की भौंरी में घूमता हुआ सा, शस्त्रयन्त्र (आरे आदि में या अन्य प्रकार की काटने की मशीन) में रखा हुआ-सा, तृष्णाकी नाईं जलाया जाता हुआ-सा, बह रहे पर्जन्यवायु में बैठकर जलप्रवाह के साथ समुद्र में गिरता हुआ-सा, चक्रआवर्तरूप असीम आकाशरूप छिद्र में गिरता हुआ-सा, पृथिवीकी विपर्यास दशा का अनुभव करता हुआ-सा स्थित होता है। निरन्तर चारों ओर से नीचे गिरते हुए और ऊपर उछलते हुए समुद्र की नाईं अस्थिर रहता है, निःश्वास के शब्द के श्रवण से उसके सब इन्द्रियरूपी व्रण उद्भ्रान्त हो जाते हैं ॥४१-५०॥ जैसे सूर्य के अस्त होने पर मन्द-मन्द प्रकाशवाली दिशाएँ काली हो जाती हैं, वैसे ही उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियों की शक्तियाँ धुँधली पड़ जाती हैं यानी उनकी तत्-तत् विषयों को ग्रहण करने की शक्ति मन्द पड़ जाती है ॥५१॥ जैसे पश्चिम सन्ध्या के (सायंकाल की सन्ध्या के) बाद नष्ट हुई नेत्रशक्ति आठों दिशाओं में पूर्वापर को नहीं जानती, वैसे ही क्षीणता को प्राप्त हुई उसकी स्मृति पूर्वापर को नहीं जानती ॥५२॥ उसका मन मोह होने के कारण कल्पना शक्ति का त्याग करता है, इसलिए अविवेकवश महामोह में गिरता है ॥५३॥ जब देही अल्प मूर्च्छा को प्राप्त होता है, तब उसके प्राण अंग-प्रत्यंगों को नहीं थामते जब वह प्राणों को भी नहीं चला सकता तब वह गाढ़ मूर्छा को प्राप्त होता है ॥५४॥ मोह यानी अपने स्वरूप का परिचय न रहना, संवेदन यानी विषयवासनाएँ और भ्रम यानी अन्यथा ज्ञान ये जब एक दूसरे से पुष्ट होते हैं,

तब इनसे जीव पाषाणता को (पाषाण की नाईं जड़ता को) प्राप्त होता है, यह नियम आदि सृष्टि से चला आ रहा है। प्रबुद्ध लीला ने कहा : हे देवि, सिर, हाथ, चरण, मलमूत्रके द्वार, नाभि और हृदय इन आठ अंगों से युक्त यह देह भी पीड़ा, मोह, मूर्छा, भ्रम, व्याधि और अचेतना को क्यों प्राप्त होता है ? ॥५५,५६॥ श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे ! ईश्वर ने, जिनमें क्रियाशक्ति की प्रधानता है, इस प्रकार संकल्परूप कर्म का विधान किया है, वह यह कि इस समय में (बाल्यावस्था में, युवावस्था में, और वृद्धावस्था में) इतने काल तक भोगने योग्य इस प्रकार का दुःख मुझसे अभिन्न जीवको हो ॥५७॥ 'वह मुझे प्राप्त हो' इस अपने संकल्प के स्वभाव से उत्पन्न दुःख को स्वयं ही जीवरूप से देहादि उपाधि में अपने चित्त के स्वभाव से कल्पित वृक्षों के झुरमुट की नाईं प्रवेशकर उसका भोग करता है। उसके दुःखभोग में दूसरा कारण नहीं है ॥५८॥ जब नाडियाँ पीड़ावश हुए संकोच-विकास से खाये और पीये गये पदार्थों के रस को विषमता के साथ ग्रहण करती हैं, तब समान नाम का वायु खाये-पीये गये पदार्थों के रस के समीकरणरूप अपने काम को छोड़ देता है ॥५९॥ जब नाड़ियों में प्रविष्ट वायु बाहर नहीं आते और बाहर निकले हुए वायु उनमें प्रवेश नहीं करते तब नाड़ियों के व्यापार के रुकनेपर पुरुष नाड़ी शून्य हो जाता है अतएव चक्षु आदिका स्पन्दन न होने से स्मरण ही भीतर रहता है, इन्द्रियज्ञान नहीं रहता ॥६०॥ जब वायु न तो प्रवेश ही करता है और न बाहर ही निकलता है, तब शरीर की नाड़ियों से शून्य हो जाने के कारण पुरुष मृतक कहलाता है ॥६१॥ मुझे इतने काल में नाश को प्राप्त होना चाहिये इस प्रकार की पूर्वजन्म के संकल्प से युक्त और नियति द्वारा प्रेरित जो संवित् है, वह भी नाश को प्राप्त हो जाती है ॥६२॥

यदि कोई कहे कि उक्त नियति का नाश होने पर जगत् के व्यवहार का ही भंग हो जायेगा। इस पर कहती है।

'इस प्रकार का जो मैं हूँ, मुझे इस स्थान में इस प्रकार जन्म लेना होगा, इस आकारवाली आदि सृष्टि में उत्पन्न हुई सत्यसंकल्प के संस्कार से युक्त माया कभी भी नाश को नहीं प्राप्त होती, मुक्ति होने पर काल के साथ ही उसकी भी निवृत्ति होती है, उससे पूर्व नहीं, यह भाव है ॥६३॥

अविद्यायुक्त जीवचैतन्य के स्वरूप का विचार करने पर भी यही प्रतीत होता है कि जबतक मोक्ष न हो जाय, तब तक जन्म, मरण आदि की निवृत्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

संवित् का वेदन यानि स्वभाव व्यतिरेकरहित (विश्लेषशून्य) है, इसलिए जन्म और मरण स्वभावसंवति् से पृथक् नहीं है यानी जब तक आविधक जीवचैतन्य रहेगा, तब तक जन्म और मरण से छुटकारा नहीं है, वे उसके स्वभावरूप ही हैं, हाँ, मुक्ति होने पर काल के साथ ही उनसे छुटकारा होता है ॥६४॥

सांसारिक जीव के संवित् प्रवाह का वर्णन करते हैं।

जैसे नदी में जल कभी आवर्तयुक्त यानी अस्थिर अतएव मैला होता है और कभी स्थिर

अतएव निर्मल हो जाता है, वैसे ही यह चेतन (सांसारिक जीव) भी कभी सौम्य (निर्मल) और कभी राग द्वेष आदि से कलुषित हो जाता है ॥६५॥ जैसे लम्बी दूब आदि की लताओं के बीच–बीच में गाँठें होती हैं, वैसे ही चेतनसत्ता के मध्य में जन्म और मरण होते हैं ॥६६॥ ऊपर जिसका वर्णन किया है, वह सब भ्रान्तदृष्टि है, परमार्थदृष्टि तो यह है कि चेतन पुरुष न तो कभी जन्म लेता है ओर न कभी मरता है, क्योंकि श्रुति ने कहा है– 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (परमार्थदर्शी न तो जन्म लेता है और न मरता है) भ्रान्त पुरुष ही स्वप्नकाल के भ्रम के तुल्य इसे (जन्म, मरण आदि को) देखता है ॥६७॥

चेतन की अमरणस्वभावता का युक्ति से उपपादन करते हैं।

चेतनामात्र ही तो पुरुष है, वह कब और कहाँ नष्ट हो सकता है ? यदि पुरुष को चेतन से अतिरिक्त मानो, तो बताओ क्या देह पुरुष होगा या प्राण पुरुष होगा या इन्द्रियाँ पुरुष होगी अथवा मन पुरुष होगा या बुद्धि, अहंकार, चित्त पुरुष होंगे या उनके अधिष्ठाता देवता पुरुष होंगे अथवा अविद्या पुरुष होगी ? इन सभी पक्षों में पुरुषरूप से माने गये देह आदि जड़ों द्वारा चेतनरूप पुरुष से जन्य प्रकाश से होनेवाले सम्पूर्ण व्यवहार न हो सकेंगे। अतएव चेतनामात्र ही पुरुष है, यह पक्ष अटल रहा ॥६८॥

चेतन का मरण सिद्ध नहीं हो सकता, जिसने चेतन का मरण देखा हो, ऐसा कोई साक्षी ही नहीं है, फिर जिसका कोई साक्षी ही नहीं है, उसकी सिद्धि कैसे हो सकती है ?

इतना संसार बीत गया, आजतक चेतन को मरा हुआ किसने देखा ? जरा उसका नाम तो बतलाइये क्या चेतन का मरण विनाश है या दूसरी देह की प्राप्ति है ? यदि उसका मरण विनाश है, तो वह अपने आप होता है या दूसरे से ? प्रथम पक्ष तो बन नहीं सकता, क्योंकि विनाश विरोधी करता है, अपनेमें अपना विरोध कैसे ? दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि असंग चेतना का दूसरे से विनाश हो ही नहीं सकता। यदि चेतनका मरण अन्य देह की प्राप्ति है, तो वह भी कोई मरण है ? देह तो लाखों मरते हैं और चेतन ज्यों–का–त्यों अविनाशी बना रहता है ॥६९॥

यदि चेतन की मृत्यु हुई तो बड़ा भारी अनर्थ प्राप्त होगा, यों दर्शाते हुए चेतन की मृत्यु का खंडन करते हैं।

प्रत्येक देह में भिन्न–भिन्न चेतन हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्युत 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इस श्रुतिरूप प्रमाण से सब देहों में एक ही चेतन है, वह सिद्ध होता है। वह एक चेतन यदि मर जाय, तो समष्टि और व्यष्टि का चित्त, जिसकी सत्ता और स्फूर्ति उसीके अधीन है, कैसे नहीं मरेगा ? यानी अवश्य मर जायेगा। समष्टि और व्यष्टि के चित्त के मर जाने पर चित्तमात्ररूप जगत् की उपादानशून्य सत्ता नहीं रह सकती। इसलिए एक के मरने पर यहाँ सब भूतों की मृत्युरुप दोष अनिष्ट नहीं होगा क्या ? ॥७०॥

यदि कोई पूछे तब जन्म–मरण, जिनका सबको अनुभव होता है, क्या हैं यानी उनका स्वरूप क्या है ? इस पर कहते हैं।

जिसका यानी जन्म–मरण का जीव अनुभव करता है, वह केवल वासना का चमत्कार है। उसीके (वासनाचमत्कार के ही) जीवन और मरण दो नाम रख दिये हैं ॥७१॥ इस प्रकार न तो कोई मरता है और न कोई पैदा होता है। केवल जीव अपनी वासनारूपी जलभौंरी के गड्ढे में गिरता है ॥७२॥ दृश्य का सर्वथा असंभव होने से यह वासना है ही नहीं, इस प्रकार के विचार से दृढ़ (मजबूत) ज्ञाता (अन्तःकरण) अवश्य नष्ट हो जाता है ॥७३॥ वैराग्य आदि साधनों से सम्पन्न अधिकारी जीव गुरुमुख से श्रवण आदिके अभ्यास से प्रतीत हो रहे जगत्–प्रपंच को यह परमार्थरूप से उदित नहीं हुआ है, यों तत्त्वज्ञान से देख कर मूल के (अज्ञान के) कटने से सर्वथा द्वैतवासना से शून्य होकर विमुक्त हो जाता है, यों विमुक्त आत्मस्वरूप ही यहाँ परमार्थ वस्तु है, उससे अतिरिक्त सब असत् है ॥७४॥

चौवनवाँ सर्ग समाप्त

पचपनवाँ सर्ग

आदि सृष्टि से लेकर जीव की विचित्र संसारगतियों का तथा
जीवकर्मानुसारी ईश्वर की स्थिति का वर्णन।

प्रबुद्ध लीला ने कहा : हे देवेशि, जैसे जन्तु (प्राणी) मरता है और जैसे फिर पैदा होता है, उसीको (पूर्वकथित को ही) फिर आप मुझसे विस्तार से कहिये। उसका परिणाम यह होगा कि बारबार सुनने से वैराग्य बढ़ेगा और उससे ज्ञान की वृद्धि होगी। श्री देवीजी ने कहा : भद्रे, नाडियों की गति रूक जानेपर जब कि प्राणी प्राणवायुओं की विसंस्थिति (चलनस्वभाव से विपरीत स्थिति) अर्थात् गत्यवरोध को प्राप्त होता है, तब उसकी चेतना शक्ति, अन्तःकरणरूप उपाधि का लय हो जाने से, शान्त–सी हो जाती है ॥१,२॥

वस्तुतः चेतना कहीं शान्त नहीं होती है, ऐसा कहते हैं।

चेतन मल के सम्पर्क से रहित तथा नित्य है, न तो उसका उदय होता है और न विनाश। वह चर–अचर सब जीवों में, आकाश में, पर्वत में, अग्नि में और वायु में स्थित है। मतलब यह कि कोई पदार्थ या स्थान उससे शून्य नहीं है ॥३॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि मरण देह का धर्म है, आत्मा का धर्म नहीं है, ऐसा मानते हैं।

प्राणवायु की गति रुकने से जब शरीर में स्पन्द (चेष्टा) शान्त हो जाता है, तब यह देह, जिसका दूसरा नाम जड़ है, 'मृत' कहलाती है ॥४॥ जब यह देह मुर्दा बन जाती है, प्राणवायु अपने कारणरूप महावायु में लीन हो जाता है, तब वासनारहित चेतन आत्मतत्त्व में लीन हो जाता है यानी प्राण तेज के साथ प्राज्ञ आत्मा में लीन हो जाते हैं, उपाधि का विनाश होने पर जीव भी वासनाओं के साथ परमात्मरूप से स्थित हो जाता है ॥५॥

यदि जीव परमात्मरूप से स्थित हो जाता है, तो वह मुक्त होकर ब्रह्म ही हो गया, फिर उसे जीव कैसे कहते हैं? इस पर कहते हैं।

पुनर्जन्म में बीजभूत वासना से युक्त सूक्ष्म (अणुपरिच्छिन्न) है, उसका नाम जीव कहा

जाता है, वस्तुतः जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अतएव वासनावश उसको अपने स्थान में ही परलोक गमन आदि का भ्रम होता है।

वास्तव में उसका परलोकगमन आदि नहीं होता। इस आशय से मण्डपाकाशन्याय का स्मरण कराते हैं।

वह वहीं पर राजा पद्म के शवागार में मण्डपाकाश में ही रहता है ॥६॥ देह के मरण से ही लौकिक व्यवहार करनेवाले लोग उसे प्रेत कहते हैं। चेतन वासनाओं से युक्त होकर पुष्प आदि की सुगन्ध से मिले हुए वायु के समान रहता है। इस (पूर्वजन्म के) देह आदि दृश्य का त्याग कर अन्य देह आदि के दर्शन में जब रहता है, तब वह जीव स्वप्न की नाईं तथा मनोरथ की नाईं स्वयं ही परलोकगमन, परलोक, वहाँ के भोग्य आदि वासनामय नाना आकारों को धारण करता है ॥७,८॥

उसी भ्रम को नये सिरे से क्रमशः कहना आरम्भ करते हैं।

उसी प्रदेश के अन्दर पूर्व जन्म की नाईं जब उसे स्मृति होती है तभी (तुरन्त) मरणकाल की मूर्छा के बाद अन्य शरीर को देखता है ॥९॥

यदि कोई कहे कि छोटे से मरण–प्रदेशमें यथा कथंचित् अन्य शरीर की कल्पना हो सकने पर भी दूरगमन, विस्तारयुक्त परलोक आदि का समावेश वहाँ कैसे हो सकता है ? तो इस पर कहते हैं।

आत्मा में विपुल एक आकाश अथवा आकाश और पृथ्वी दोनों ही या करोड़ों लाख ब्रह्माण्ड एक साथ एक ही समय समा सकते हैं, फिर आत्मा में इस सम्पूर्ण प्रपंच का सम्भव क्यों नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य है ही, क्योंकि आत्मा असीम है और माया अघटितघटनामें पटु है। ऐसी स्थिति में आत्मस्वरूप का विचार कर अत्यल्प प्रदेश में भी अन्य लोक का (परलोक आदि का) समावेश कहा गया है, केवल उसी प्रदेश के अभिप्राय से नहीं कहा है (卐)।

अब भिन्न–भिन्न गति को कहने के लिए देवीजी प्रेतों का विभाग करती हैं –

हे सुन्दरी, प्रेत छः प्रकार के होते हैं, उनके आगे कहे जानेवाले भेद को सुनो–साधारण पापी, मध्यम पापी और बड़े भारी पापी, साधारण धर्म वाले, मध्यम धर्मवाले तथा उत्तम धर्मवाले। इनमें से प्रत्येक में किसी के दो भेद होते हैं और किसीके तीन भेद होते हैं ॥१०–१२॥

उनमें से पहले और तीसरे की गति कहते हैं।

कोई बड़ा भारी पातकी एक वर्ष तक मरणमूर्छा का अनुभव करता है, पत्थर के मध्य की नाईं ठोस और मूढ रहता है ॥१३॥ बहुत समय के बाद चेतना को प्राप्त होकर चिरकाल तक वासनारूपी नायिका के उदर से उत्पन्न होकर कभी नष्ट न होनेवाले नारकीय दुःख का भोगकर

卐 इस श्लोक का द्वितीय अर्थ यों है – यदि उस प्रदेश में मार्ग, परलोक आदि हैं, तो उन्हें दूसरे लोग क्यो नहीं देखते, मृतक ही क्यों देखता है ? आकाश और पृथ्वी दो, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदि से युक्त सारा जगत् मृत परुष की आत्मा में मेघघटा की नाईं खूब पुष्ट हुआ है, अन्य की दृष्टि से तो केवल आकाश ही है, अतः अन्य को नहीं दिखाई देते हैं।

एक दुःख के बाद दूसरे दुःख को प्राप्त होता हुआ वह महापापी सैकड़ों योनियों को खूब भोगकर कभी संसाररूपी स्वप्न में शान्ति को (महापापों के फलकी समाप्ति को) प्राप्त होता है, यानी उसके पापफलों का अन्त होता है ॥१४,१५॥ अथवा वे मृत्यु–मोह के अन्त में सैकड़ों जड़–दुःखों से व्याकुल वृक्ष आदि योनियों का, जो कि उसके हृदय में स्थित है, भोग करते हैं और फिर नरक में अपनी–अपनी वासनाओं के अनुरूप विविध दुःखों का अनुभव कर चिरकाल तक भूतल में विविध योनियों में उत्पन्न होते हैं ॥१६,१७॥

मध्यम पापी की गति को कहते हैं।

और जो मध्यम पापी है, वह मरणमूर्छा के पश्चात् पत्थर के उदर की (मध्य भाग की) नाईं घनी मूर्छा का कुछ कालतक अनुभव करता है। तदुपरान्त जब उसे चेतना प्राप्त होती है, तब वह कुछ काल में या उसी समय तिर्यग् आदि क्रम से योनियों को भोगकर संसार में प्राप्त होता है ॥१८,१९॥

साधारण पापी की गति बतलाते हैं।

कोई साधारण पापी मरते ही अपनी वासनाओं के अनुसार प्राप्त हुए अविकल मनुष्य शरीर का अनुभव करता है, क्योंकि 'उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्' (पुण्य और पापों से मनुष्यलोक को प्राप्त होता है) ऐसी श्रुति है ॥२०॥ वह स्वप्न की नाईं और मनोरथ की नाईं, वैसा अनुभव करता है और उसी क्षण में उसकी स्मृतियाँ (जैसा कि पहले कहा गया है) उदित होती है ॥२१॥

सर्वश्रेष्ठ महापुण्यात्माओं की गति कहते हैं।

किन्तु जो सर्वश्रेष्ठ महापुण्यात्मा हैं, वे मरणजनित मूर्छा के बाद पुण्य वासना के उदय से स्वर्गलोक, विद्याधरलोकका सुख भोगते हैं। महापुण्य के फल के उपभोग के बाद थोड़ा–बहुत पापकर्म यदि हो, तो उसके अनुरूप फल को इलावृत्त, किंपुरुष आदि खण्डों में भोगकर मनुष्य लोक में सज्जनों के धनवान् घर में जन्म लेते हैं ॥२२,२३॥

मध्यम धर्मात्माओं की गति कहते हैं।

जो मध्यम धर्मात्मा हैं, वे मरणमूर्च्छा के बाद आकाश–वायु से वेष्टित होकर भाँति–भाँति के वृक्ष, लता और पल्लवों से व्याप्त नन्दनवन, चैत्ररथ आदि दिव्य उद्यानों में किन्नर, किंपुरुष, यक्ष आदि के शरीर से जाते हैं, वहाँ पर अपने पुण्यकर्मों का सुन्दर फल भोगकर वायु, वृष्टि आदिसे पृथिवी में धान, गेहूँ, जौ आदि में प्रवेशपूर्वक अन्न बनकर ब्राह्मण आदि के हृदय में प्रवेशकर वीर्यरूप से स्त्रियों के गर्भ में प्राप्त होते हैं ॥२४,२५॥

इससे साधारण धर्मात्मा की भी गति प्रायः कही गई, ऐसा मानते हुए उपसंहार करते हैं।

प्रेत अपनी वासना के अनुसार मरणमूर्च्छा के अन्त में अपने हृदय में इस अवस्था का क्रम से और क्रम के बिना भी अनुभव करता है ॥२६॥

अब उनका मरण आदि अध्यारोपक्रम विशेषरूप से दर्शाते हैं।

प्रेत पहले हम लोग मरे, तदनन्दर दाह, दशाहकृत्य आदि के क्रम से हम लोगों का शरीर बना, यह जानते हैं। तदनन्तर वे जानते हैं कि हाथों में कालपाश लिए हुए ये यमदूत हैं, इन

यमदूतों द्वारा ले जाया जा रहा मैं, जो कि पाथेय श्राद्ध आदि से तृप्त किया गया हूँ, एक वर्ष में यमपुरी को जाता हूँ ॥२७,२८॥ उनमें से जो महापुण्यवान होते हैं, वे बड़े मनोहर देवलोक के विमान और उद्यानों को 'ये हमारे कर्मों से बार–बार प्राप्त होते हैं', ऐसा जानते हैं ॥२९॥ महापापी पुरुष बर्फ की चट्टानें, काँटे, गड्ढे और तलवार की नाईं तीक्ष्ण पत्तों से भरपूर वन, जो कि हमारे दुष्कर्मों से उत्पन्न हैं, हमें प्राप्त हो रहे हैं, ऐसा जानते हैं ॥३०॥ मध्यम पुण्यवाले पुरुष जानते हैं कि यह मार्ग, जिसमें बड़े आनन्द के साथ पैदल चला जा सकता है, ठण्डी और हरी–हरी दूब जमी है, मनभावनी छाया से युक्त है और स्थान–स्थान पर बावडियाँ बनी हैं, मेरे सामने स्थित है ॥३१॥ मध्यम पापीजनों को यह अनुभव होता है कि यह मैं यमपुरी में आ पहुँचा, ये सर्वलोकप्रसिद्ध यमराज हैं और यहाँ चित्रगुप्त आदिने मेरे कर्मों का विचार किया ॥३२॥

यह अध्यारोपक्रम स्वप्न के समान प्रत्येक पुरुष का भिन्न भिन्न है, ऐसा कहते हैं।

जैसे प्रतीत होते हैं, वैसे ही स्थित यानी सत्य–से सब घट, पट आदि पदार्थ और उनकी तत्–तत् अर्थ क्रिया (जल का आनयन आदि) से देदीप्यमान, विशाल संसारभाग प्रत्येक को प्राप्त होता है ॥३३॥

परमार्थदृष्टि से यदि देखा जाय, तो आत्मा से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

आकाश की नाईं स्वरूपरहित में स्थित जगत्–प्रपंच, जिसमें लम्बे देश, लम्बे काल और लम्बी क्रियाओं की प्रतीति होती है, कुछ भी नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण अध्यारोपों से शून्य आत्मा ही है ॥३४॥ 'मुझे यमराज ने अपने कर्मों के फलों का भोग करने के लिए इस दिशा में जाने की आज्ञा दी है, इसलिए यमसभा से मैं शीघ्र सुन्दर सुन्दर भोगों से युक्त स्वर्ग में जाता हूँ या नरक में ही जाता हूँ ॥३५॥ यमराज ने जिस स्वर्ग का भोग करने के लिए मुझे आज्ञा दी थी उस (स्वर्ग) का मैंने भोग कर लिया है अथवा यमराज ने जिस नरक का भोग करने के लिए मुझे आदेश दिया था उसका मैंने भोग कर लिया है। यमनिर्दिष्ट ये पशु आदि योनियाँ मैंने भोग ली हैं। इस समय मैं मनुष्य संसार में आविर्भूत होता हूँ ॥३६॥ यह मैं कभी धान का अंकुर हुआ, फिर बढ़कर पौधा हुआ, पत्ते लगे, गाभ हुआ, धान की बाल हुआ, इस क्रम से बीज बनकर रहा।

शंका–स्वर्ग, नरक और विविध योनियों के भोग की नाईं व्रीह्यादिभाव (धान के अंकुर आदि होना) भी क्या उसका अनुभव सिद्ध है ?

समाधान – नहीं, भविष्यकाल में प्राप्त होनेवाले मनुष्य शरीर में श्रुति, पुराण आदि से उत्पन्न बोध से उसे अपने व्रीह्यादिभाव का परिज्ञान होता है ॥३७॥

यदि किसीको शंका हो तो उस समय उसे अपने व्रीह्यादिभाव का अनुभव क्यों नहीं होता ? इस पर कहते हैं।

उस अवस्था में शरीर न होने से उसकी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण मूर्च्छित रहता है। उसी अवस्था में वह पिता के शरीर में भुक्त अन्न द्वारा प्रवेश कर वीर्य बनता है। तदुपरान्त वह माता के उदर में गर्भ बनता है। अपने पूर्वकर्मों के अनुसार सुख, सौभाग्य, आरोग्य और सुन्दर

स्वभाव से युक्त अथवा दुःख, दुर्भाग्य, रोग तथा विषम स्वभाव से युक्त मनोहर आकृतिवाला बालक होता है ॥३८,३९॥ तदुपरान्त वह चन्द्रमा के समान घटने बढ़नेवाले चंचल और मनोहर तथा कामोन्मुख (नारीपरायण) यौवन का अनुभव करता है, फिर कमल के मुँहमें गिरे हुए तुषाररूपी वज्रकी नाईं बुढ़ापे का अनुभव करता है यानी जैसे कमल के उपर तुषाररूपी वज्र गिरकर उसे मुरझा देता है, वैसे ही बुढ़ापे से जर्जर हो जाता है ॥४०॥ उसका इतने में छुटकारा नहीं होता, उसके बाद भी व्याधिरूपी मरण का अनुभव करता है फिर वह मरणजनित मूर्छा को प्राप्त होता है, तदनन्तर बन्धुओं द्वारा दिये गये पिण्डों से स्वप्न के समान प्राप्त देहग्रहण का अनुभव करता है ॥४१॥ फिर वह पूर्वोक्त रीति के अनुसार यमलोक में जाता है, फिर वैसे ही विविध योनियों की प्राप्ति में भ्रमक्रमका पुनः पुनः अनुभव करता है ॥४२॥ आकाश में आकाशरूपी जीव इस प्रकार के वेगवान परिवर्तन का मोक्ष होने तक पुनः पुनः अनुभव करता है ॥४३॥

त्वं पदार्थ जीव में भ्रान्ति हो सकती है, इसलिए उसमें भले ही यह अध्यारोपक्रम हो, तत्पदार्थ ईश्वर में तो भ्रान्ति हो नहीं सकती, अतः उसमें जगत् का अध्यारोपक्रम कैसे ? इस प्रकार तत्पदार्थ ईश्वर की शुद्धि को जानने के लिए लीला पूछती है।

प्रबुद्ध लीला ने कहा : हे देवि, आदि सृष्टि में जैसे यह भ्रम होता है, वैसा मुझसे कृपापूर्वक पुनः कहिये, जिससे कि मेरे बोध की वृद्धि हो ॥४४॥

ईश्वर की भ्रान्ति से जगत् का अध्यारोप नहीं होता, किन्तु परमार्थघन ईश्वर का ही माया अध्यारोपित रूप से विवर्त होता है। अनावृत चैतन्य को जो अध्यस्त का भान होता है, वह भ्रम नहीं है, किन्तु असत्य की सत्यरूप से प्रतीति भ्रम है। सर्वज्ञ होने के कारण ईश्वर को सदा पदार्थों की प्रतीति होने पर भी उनमें सत्यताकी प्रतीति नहीं होती, क्योंकि वे ईश्वर के प्रति स्वस्वरूप के परिज्ञानरूप बोध से बाधित रहते हैं। इस प्रकार तत्पदार्थ में अध्यारोप होने से कोई दोष नहीं है, इस आशय से देवी तत्पदार्थ में अध्यारोप का उपपादन करती हैं।

पर्वत परमार्थघन चैतन्य हैं, वृक्ष परमार्थघन हैं, पृथिवी परमार्थघन है और आकाश परमार्थघन है ॥४५॥ सर्वस्वरूप होने के कारण उस चिदात्मा परमेश्वर का जहाँ पर जैसा विवर्त होता है, परमाकाश शुद्धस्वरूप वह ईश्वर ही वहाँ वहाँ पर हम लोगों की दृष्टि से स्वप्न की कल्पना करनेवाले पुरुष की नाईं जीवसमष्टिरूप आदि प्रजापति बनकर सृष्टि करने योग्य पदार्थों के संकल्परूप से जैसे भी आदि लोकरूप विवर्त से स्फुरित हुआ, वैसे ही आज भी व्यवस्था ज्यों-की त्यों स्थित है ॥४६,४७॥

यदि यह माना जाय कि संकल्प से उत्पन्न हुई जगत्सत्ता से यह जगत्सत्ता भिन्न है, तो इस पक्ष में भी उसकी (संकल्पजनित जगत्-सत्ता की) प्रतिबिम्बतुल्य होने के कारण वह मिथ्या ही है, ऐसा कहती है।

संकल्पजनित स्फुरण रूप पदार्थों का पहला विवर्त बिम्बरूप ठहरा, उससे जो प्रतिबिम्ब हुआ वह आज भी वैसा ही स्थित है ॥४८॥

जगत्सृष्टि में स्थावर–जंगम विभाग जैसे हुआ, उसमें निमित्त कहती है।

देहों का जो छिद्र स्थान है, उसमें प्रविष्ट हुआ वायु शरीरों में चेष्टा उत्पन्न करता है, उससे यह जीता है, ऐसा कहा जाता है। सृष्टि के आदि में ही जंगम प्राणियों में इस प्रकार की यह स्थिति उत्पन्न हुई, इसी कारण चेतन होते हुए भी वृक्ष आदि चेष्टाशून्य हैं। भाव यह कि उनमें छिद्र नहीं है, अतएव वायु उनमें प्रविष्ट हो चेष्टा उत्पन्न नहीं करता, इसलिए वे चेतन होते हुए भी निश्चेष्ट हैं ॥४९,५०॥

इसी प्रकार चेतन और अचेतन के विभाग की कल्पना करने में भी निमित्त कहती हैं।

यह चिदाकाश ही (ईश्वर ही) प्रतिबिम्ब होकर आविर्भूत औपाधिक जीव विभाग को करता है, वही अंश संवित् (चेतन) होता है, शेष अध्यारोपित है, वह चेतन नहीं है, किन्तु अचेतन ही है ॥५१॥

उसका बुद्धि के द्वारा स्थूल में प्रवेश और स्थूल में चक्षु आदि की प्राप्ति होने से बाह्य व्यवहार की क्षमता आती है, ऐसा कहती है।

बुद्धि में प्रविष्ट हुआ चिदाकाश बुद्धि के लिए मनुष्यशरीररूप दूसरे उपाधिभूत नगर में प्रविष्ट होकर अपने में अधिरूढ़ बुद्धि को चक्षु आदि के गोलक में पहुँचता हुआ चाक्षुष आदि बुद्धिवृत्तियों द्वारा बाह्य पदार्थों का अनुभव करता है।

शंका – चक्षु आदि ही साक्षात् चित् में अध्यस्त होने से चित् (चेतन) है, अतः वे जीवभूत शरीर में रहकर व्यवहार करें, बुद्धिरूप उपाधि से युक्त जीव मानने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान – नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ स्वयं ही चेतन जीवभूत नहीं है, क्योंकि चैतन्य में अध्यारोपमात्र से ही कोई चेतन नहीं होता। यदि ऐसा माना जाय, तो घट आदि पदार्थ को भी चेतन मानना होगा ॥५२॥

बुद्धि ही जीव की उपाधि है, अन्य नहीं है, इस नियममें तो सम्पूर्ण पदार्थों की शक्ति का व्यवस्थापक चित्तका संकल्प ही कारण है, इस आशय से देवीजी कहती हैं।

आकाश शून्यता शक्ति से युक्त होकर स्थित है, पृथिवी सब पदार्थों को धारण करने की शक्ति से स्थित है, जल सब पदार्थों को तर करने की शक्ति से युक्त है। तात्पर्य यह कि चितिशक्ति स्वेच्छा से जिसका जैसा संकल्प करती है, वह अपने शरीर को वैसा ही जानता है ॥५३॥ इस प्रकार सर्वात्मक चेतन ही जंगमरूप से जंगम का (चरका) और स्थावररूप से स्थावरका (अचर का) संकल्प करता हुआ सबके स्वरूप से स्थित है ॥५४॥ इसलिए जो जंगम् जगत् है, उसको उसने अपने संकल्प के अनुसार जैसा जाना वैसा ही वह आज तक स्थित है ॥५५॥ जिन वृक्ष, शिला, पेड़–पौधों, तृण आदि को स्थावररूप से जड़ जाना, वे आज भी वैसे ही स्थित हैं। न तो जड़ कोई पृथक है और न चेतन ही पृथक् है, इस प्रकार तत् पदार्थ का भेद नहीं है, यह भाव है। इन पदार्थों में उत्पत्ति, स्थिति और नाश में भेद नहीं है, क्योंकि जो वस्तु असत् है, उसमें भेद कैसा ?

शंका – जड़ वस्तु में अनुगत जो सद्वस्तु है, उसमें भेद हो।

समाधान – सत्तासामान्य में भी भेद नहीं है ॥५६,५७॥

यदि कोई कहे कि सब वस्तु केवल चिदेकरस ही है, फिर उसमें उससे विरुद्ध जाड्य, रूप, नाम आदि भेदों का अनुभव सबको कैसे होता है ? तो इस पर कहती हैं।

जो अन्तःकरण में स्थित संवित् है, उन्हीं के वृक्षों के, पर्वतों के जाड्य, नाम और रूप आदि भेदों की रचना की है, ऐसी यथार्थ स्थिति है। तत्–तत् पदार्थों के भीतर स्थित प्रत्यक् चैतन्य में अविद्या अध्यस्त बुद्धि की कल्पना से ही यह स्थावर, जंगम आदि या जाड्य, नाम, रूप आदि भेद होते हैं, यह भाव है ॥५८॥ प्रत्यक् चैतन्य ही उक्त स्थावर, आदि बुद्धि के 'मैं स्थावर हूँ' यों व्यवस्थित रूप से अन्दर रहने के कारण 'हम जंगम पदार्थों से भिन्न यानी स्थावर हैं' इस कथन और अभिमान के विषय होकर अन्य (वृक्ष, पर्वत आदि) संकेतों से स्थित है। यानी प्रत्यक्–चैतन्य ही 'मैं स्थावर हूँ' इस वासना से स्थावर नाम आर अभिमान को प्राप्त है। अपनी अपनी आन्तरिक संवित् (प्रत्यक् चैतन्य) ही बुद्धि का रूप धारण करती है, वह बुद्धि ही तत्–तत् कृमि, कीट, पतंग आदि विविध अर्थ और उनके वाचक शब्दों की कल्पना के भेद रूप से स्थित है ॥५९,६०॥ जैसे उत्तर सागर के तीर में निवास करनेवाले लोग दक्षिण सागर के किनारे पर रहनेवाले लोगों के विषय में कुछ नहीं जान सकते, वैसे ही प्रत्यक्चैतन्य के बिना किसी भी पदार्थ में सत्ता और स्फूर्ति नहीं आ सकती। ये सब संविद्रूप ही हैं उससे भिन्न नहीं है। जैसे दक्षिण सागर और उत्तर सागर की जनता का दृष्टान्त दिया गया है, वैसे ही सब स्थावर और जंगम पदार्थ अपने प्रत्यक्–साक्षिक अनुभव में लीन हैं अतएव वे अन्य की बुद्धि से कल्पित पदार्थों का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। जब वे परस्पर एक दूसरे से व्यवहार करते हैं, तब उन्हें आपस में संकेत की आवश्यकता पड़ती है ॥६१,६२॥

इस प्रकार सच्चित्रूप ब्रह्म में असत्त्व, जाड्य, वायु, आकाश आदि की कल्पना की भी उपपत्ति हो सकती है, उसका होना असंभव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे पत्थर के मध्य में उत्पन्न हुए मेढक और पत्थर से बाहर स्थित मेढक एक दूसरे की कल्पना में असत् और जड़ हैं, वैसे ही परस्पर स्थावर पदार्थों में भी समझना चाहिए। जैसा यह दृष्टान्त है, वैसे ही प्रलयकाल में माया में लीन सर्वात्मक और सर्वगत समष्टि चित्त, जो कि जगत् की सूक्ष्मावस्थाका रूप है, सर्वप्रत्यक्रूप चिदाकाश से सृष्टि के आरम्भ में जिस प्रकार स्फुरित हुआ, वह आज भी जैसा–का–तैसा स्थित है। जो स्पन्दनरूप से स्फुरित हुआ वह वायु है और वह आज भी यहाँ पर स्थित है। जो छिद्ररूप से स्फुरित हुआ वहा आकाश है, उसमें स्पन्दरूप सर्वक्रियाशक्तिस्वरूप वायु स्थित है। उक्त वायु से सब पदार्थों की चेष्टाएँ ऐसे होती हैं जैसे कि सुखे हुए तिनके, पत्ते आदि पदार्थों में वायु से कम्पन होता है ॥६३–६५॥

वस्तुतः स्थावर और जंगम दोनों पदार्थों में चित्त समानरूप से विद्यमान है, पर वायु के स्पन्दन और स्पन्दन के अभाव से उनमें विशेष है, ऐसा कहते हैं –

चित्त तो परमार्थरूप से स्थावर और जंगम दोनों में स्थित है, पर जंगम में वायु से स्पन्दन

(चेष्टाएँ) होते हैं और स्थावर में नहीं होते ॥६६॥

इस नियम में भी पूर्वकथित नियति ही हेतु है, ऐसा कहते हैं।

भ्रान्तिमय विश्व में इस प्रकार के चेष्टायुक्त या चेष्टाशून्य सब पदार्थ सृष्टि के आदि से संवित् में किरणों की नाईं स्फुरित हुए थे, वे आज भी वैसे ही स्थित हैं ॥६७॥

प्रस्तुत विषय को कहने के लिए पूर्वपृष्ठ प्रसंगप्राप्त तत्त्वज्ञान का उपसंहार करते हैं।

सम्पूर्ण पदार्थ स्वभाव के विलास और असत्य होने पर भी जैसे सत्य–से प्रतीत होते हैं, वह सब मैंने तुमसे कह दिया है। देखो मैं समझती हूँ कि यह राजा विदूरथ मरकर फूलों की माला से आच्छादित शवभूत राजा पद्म के हृदय में स्थित पद्मकोश में प्रवेश करनेकी इच्छा से जाता है ॥६८,६९॥ प्रबुद्ध लीला ने कहा : हे देवी, किस मार्ग से यह शवमण्डप में जाता है, इसको देखती हुई ही हम दोनों शीघ्र जावें ॥७०॥ श्री देवीजी ने कहा : भद्रे, पद्मशरीर में 'अहम्' वासनारूप अन्तःकरण में स्थित मार्ग का अवलम्बन कर यह चिन्मय 'मैं दूसरे लोक में जाता हूँ', ऐसी भावना से जाता है। जिस मार्ग से जाना तुम्हें सहमत हो, उसी मार्ग से हम दोनों जाती हैं, एक दूसरे की इच्छाका विघात स्नेह–सम्बन्ध का हेतु नहीं होता है ॥७१,७२॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, श्रेष्ठ राजा की पुत्री लीला के विशुद्ध हृदय में परमार्थदृष्टिरूप आत्मतत्त्व के पूर्वोक्त कथा द्वारा सब सन्तापों के निवृत्त होने पर विबोधरूप सूर्य के आविर्भूत होने पर राजा विदूरथ चित्त के परमात्मा में विलीन होने से जड़ (अनुसन्धानरहित) यानी मरण के लिए मुर्छित हो गया ॥७३॥

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

छप्पनवाँ सर्ग

राजा विदूरथ का वासनामय यमपुरी में गमन, लीला और सरस्वती देवीजी द्वारा उसका अनुगमन और पूर्व शरीर की प्राप्ति का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस बीचमें राजा विदूरथ के नेत्र स्पन्दशून्य हो गये थे, ओठ सूख गये और सफेद हो गये थे। तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों के मूर्छित होने पर केवल एक तनिक प्राण ही उसके शरीर में अवशिष्ट रह गया था। उसकी कान्ति पुराने पत्ते के समान पीली पड़ गई थी और मुख की छबि नष्ट हो गई थी तथा भँवरे की ध्वनि के तुल्य श्वासध्वनि से वह मुखरित था। मरणमूर्छारूपी महान् अन्धकारपूर्ण कुएँ में उसका मन डूब गया था, उसकी नेत्र आदि सम्पूर्ण इन्द्रियों की वृत्तियाँ अन्दर लीन हो गई थी, वह चेतनाशून्य था। चित्रलिखित पुरुष की नाईं उसका केवल आकार ही शेष रह गया था। पत्थर में खुदी हुई मूर्ति की नाईं उसके सम्पूर्ण अवयव निश्चेष्ट थे। बहुत क्या कहें, जैसे आकाश में उड़नेवाला पक्षी गिरनेवाले अपने निवासभूत वृक्ष को छोड़ देता है, वैसे ही प्राण ने उत्क्रमण करने के लिए अवलम्बित थोड़े से ही प्रदेश से उस राजा के शरीर को छोड़ दिया ॥१–५॥ जैसे घ्राणवृत्ति से उपहित संवित् वायु में स्थित सूक्ष्म गन्ध का अनुभव करती है, वैसे ही दिव्यदृष्टिवाली उन

दोनों देवियों ने आकाश में गये हुए उस जीव को देखा ॥६॥ वह जीवसंवित् गगनमण्डल में अतिवाहिक प्राणवायु से मिलकर वासना के वशवर्ती होकर आकाश में दूर जाने लगी ॥७॥ तदुपरान्त उन दोनों स्त्रियों ने जैसे भँवरियाँ वायु में मिले हुए सुगन्धलेश का अनुगमन करती हैं, वैसे ही उसी जीवसंवित् का अनुगमन किया ॥८॥ तदनन्दर मुहूर्तभर में मरणमूर्छा के शान्त होने पर जैसे वासनामय शरीर से स्वप्न आविर्भाव होता है, वैसे ही आकाश में वासनामय देह से जीवचेतन प्रबुद्ध हुआ ॥९॥ उसने यम के दूतों को और उनसे ले जाये जा रहे अपने वासनामय शरीर को देखा तथा बन्धुओं के और्ध्वदेहिक पिण्डप्रदान से उत्पन्न हुए–से अपने स्थूल शरीर को देखा। तदनन्तर वह अतिदूर (जिसकी यात्रा एक वर्षमें पूरी होती है) दक्षिण मार्ग में स्थित तथा प्राणियों के कर्मफलों को प्रकट करनेवाली यमपुरी में पहुँचा, जो कि बहुत से प्राणियों से घिरी थी ॥१०,११॥ उसके यमपुरी में पहुँचने के पश्चात् यम ने उसके कर्मों पर विचार कर आज्ञा दी कि इसने पापकर्म कभी किये ही नहीं यानी इसका एक भी पाप कर्म नहीं है। सदा लोभ आदि दोषों के सम्पर्क से रहित तथा पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करनेवाला यह श्रीसरस्वती देवीजी के वरदान से बढ़ाया गया है यानी इसके पुण्यों की वृद्धि की गई है। इसका पूर्वजन्म का मुर्दा शरीर फूलों से वेष्टित मण्डपाकाश में है, यह वहाँ जाकर उस शरीर में प्रवेश करे और आप लोग मेरी आज्ञा का अनुसरण करनेवाले चित्त से इसे छोड़ दें ॥१२–१४॥ तदनन्तर क्षेपणीयन्त्र (एक प्रकार के गुलेल) से गिरे हुए पत्थर के समान आकाशभाग में उसे छोड़ दिया। फिर तो जीवकला, लीला और श्रीसरस्वती देवी ये तीनों मूर्तिमती थी, तथापि राजा विदूरथकी जीवकलाने उन्हें नहीं देख पाया, वे दोनों तो राजा की जीवकला को देखती ही थी। उक्त जीवकलाका ही अनुगमन कर रही वे दोनों आकाश को लाँघकर अन्यान्य लोकों का अतिक्रमण कर जगद्रूपी घर से (ब्रह्माण्ड से) निकलकर दूसरे जगत् के (ब्रह्माण्ड में) पहुँची। दूसरे ब्रह्माण्ड के भूलोक से आकर अपने सत्यसंकल्प से रूप धारण करनेवाली वे दोनों देवियाँ राजा विदूरथ की जीवकला के साथ राजा पद्म के नगरमें पहुँचकर जैसे कमलमें वायु और सूर्य की प्रभा प्रवेश करती है और सुगन्धि वायु में प्रवेश करती है, वैसे ही एक क्षण में स्वच्छन्दता के साथ लीला के अन्तःपुर के मण्डप में प्रविष्ट हुई ॥१५–१९॥

राजा विदूरथ की पत्नी द्वितीय लीला के जीव को उसकी लड़की ने मार्गप्रदर्शन कराया यह पहले कहा गया है, राजा विदूरथ के जीव को किसने मार्ग दर्शाया यह नहीं कहा। यदि कोई मार्गपरिदर्शक नहीं था, तो उसे मार्ग का परिज्ञान कैसे हुआ? यह सन्देह होने पर श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, राजा विदूरथ का जीव शव के निकट घर में कैसे पहुँचा? उस मृत शरीरवाले को मार्ग का परिज्ञान कैसे हुआ? ॥२०॥

पूर्व शरीर की वासना के पूर्ण होने के पहले ही बीचमें बलवान् प्रारब्ध से अन्य जन्म की सृष्टि हो गई, भोग से उस प्रारब्ध का क्षय होने पर पूर्व वासना के उद्‌भव से जैसे आया था वैसे मार्ग की प्रतीति होती है, अतः मार्गदर्शक की अपेक्षा नहीं है ऐसा उत्तर देतै हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, उस जीवकी वासना के अन्दर शवरूप पद्मशरीर में अहंभाव था, अतएव उसके हृदय में वह सब मार्ग आदि स्फुरित हो जाता है, इसलिए वह उस घर को कैसे प्राप्त नहीं होगा ? जैसे वट का बीज मिट्टी, जल आदि अंकुरोत्पत्ति की सामग्री मिलने पर स्वयं अंकुररूप से उत्पन्न हो रहे वटवृक्ष का अपने भीतर ही अनुभव करता है, वैसे ही सूक्ष्म जीवोपाधिभूत अन्तःकरण के अन्दर आविर्भूत वासनाओं के रूप से स्थित भ्रान्तिरूप असंख्य जगत् को कौन नहीं देखेगा ? उसको दिखाने के लिए किसी परिदर्शक की आवश्यकता नहीं है, यह भाव है ॥२१,२२॥ जैसे सजीव वटबीज अपने अन्दर अंकुर का अनुभव करता है, वैसे ही चित्कला जीव भी अपने स्वभावभूत त्रैलोक्य का (तीनों लोकों का) अपने अन्दर अनुभव करता है ॥२३॥ जैसे अन्य स्थान में स्थित पुरुष दूर देशान्तर में स्थित अपने निधान की (भूमि में गाढे हुए धन की) निरन्तर सदा मन से भावना करता हुआ भलीभाँति देखता रहता है, वैसे ही सैकड़ों जातियों से युक्त भी और भ्रम में पड़ा हुआ भी जीव अपनी वासना के अन्दर अन्तर्हित अपने अभीष्ट को देखता है ॥२४,२५॥

पहले जो यह कहा था कि जीवने बन्धुओं के पिण्डप्रदान से उत्पन्न हुए अपने शरीर को देखा, उसे सार्वत्रिक न समझते हुए श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : गुरुवर, जिसे पिण्ड नहीं दिया जाता, उसमें पिण्डदानादि वासना का हेतु नहीं है, अतएव पिण्डदानादि वासना से रहित आकृति वाला वह जीव कैसे सशरीर होता है ? ॥२६॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, बन्धुओं द्वारा पिण्ड चाहे दिया जाय अथवा न दिया जाय, परन्तु यदि प्रेत में 'मुझे पिण्ड दिया गया' ऐसी वासना उदित हो जाय, तो उक्त वासना से ही पुरुष को पिण्डदान का फल शरीर लाभ हो जाता है। शास्त्र में पिण्डप्रदान की विधि पिण्डप्रदान को बन्धुओं का कर्तव्य कहती है यानी मृतक के बन्धुओं को अवश्य पिण्डप्रदान करना चाहिए, यह बतलाती है। वस्तुतः वह विधि बन्धुओं को फल देती है, पर मृतक को भी वासनारूप फल मिलता है, इस शास्त्रसंवाद से दोनों को ही उसका फल प्राप्त होता है, यह प्रसिद्ध है ॥२७॥ जैसा चित्त होता है, वैसा ही जन्तु होता है, इसमें 'यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत् सनातनम्' (जैसा चित्त होता है, तदनुरूप ही चित्तमय पुरुष होता है यह सनातन रहस्य है) इत्यादि श्रुतियाँ तथा विद्वानों के अनुभव प्रमाण हैं, जो विदेह और सदेह योगियों में प्रसिद्ध हैं अथवा जीवित और मृत जीवों में कहीं पर भी इस नियम में उलट फेर नहीं होता, इसलिए चित्त ही संसार है, उसकी प्रयत्नपूर्वक शुद्धि करनी चाहिए ॥२८॥ मुझे मेरे बन्धुबान्धवों ने पिण्ड दिया, इस बुद्धि से जिसे पिण्ड नहीं दिया गया, वह भी पिण्डप्रदान के फल का भागी होता है। मुझे बन्धु बान्धवों ने पिण्ड नहीं दिया, इस बुद्धि से पिण्डप्रदान करने पर भी पिण्ड प्रदान का फल नहीं मिलता ॥२९॥ इन पदार्थों की सत्यता भावना के अनुसार होती है और भावना भी अपने कारणभूत पदार्थों से उत्पन्न होती है। बन्धुओं द्वारा पिण्डप्रदान करनेपर अवश्य ही मृत पुरुष में पिण्डदान किया, ऐसी भावना उदित होती है, यह बात शास्त्र बतलाते हैं ॥३०॥

जैसे प्राणी की वासना से (गरुड़ की उपासना करनेवाले पुरुष की अपने में गरुड़भावना करने से) सर्पका विष भी अमृत बन जाता है यानी पच जाता है, वैसे ही असत्य पदार्थ भी, सत्यरूप से भावना करने से, सत्य हो जाता है, यानी काँटा चुभनेपर यदि यह भ्रम हो जाय कि मुझे साँपने काट लिया, तो असत्य भी सर्पदंश मरण आदि कार्य कर डालता है, यह भाव है ॥३१॥ वत्स श्रीरामचन्द्रजी, आप अपने मन में यह अटल निश्चय कर लीजिये कि कारणभूत भावना के बिना कभी भी किसी पदार्थ की प्रतीति नहीं होती,जिसको जब जो पदार्थप्रतीति होगी, वह किसी न किसी भावना से होगी, कारण यदि सत्य हो, तो कार्य की सत्यता हो सकती है पर भावना तो सत्य नहीं है, सत्य कारण के बिना उत्पन्न हुआ कार्य भी नहीं ही है, अतएव शुद्ध ब्रह्म ही वस्तुतः है, ऐसे निश्चयवान् होओ ॥३२॥

कारण की असत्ता में कार्य क्यों उत्पन्न नहीं होता, इस विषय में कहते हैं।

कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति महाप्रलयपर्यन्त न तो कहीं देखी गई और न सुनी गई है। सर्वथा कार्य की सत्ता कारण की सत्ता के अधीन है, यही बात सब प्रमाणों से सिद्ध होती है, यह भाव है।

शंका – तो क्या ब्रह्म सत्ता भी कारणाधीन है ?

समाधान – नहीं, जो स्वतः उदित यानी नित्य स्वप्रकाश ब्रह्म है, उसको छोड़कर अन्य सब वस्तुएँ कारणाधीन हैं। भाव यह है कि अनित्य सत्ता में ही कारणसत्ता की अपेक्षा होती है, नित्य सत्ता में नहीं होती ॥३३॥

इस प्रकार शुद्ध चिन्मात्र ही भ्रान्ति से वासना और वासनाजन्य जगद्रूपसे भासित होता है, यह कहते हैं।

चिन्मात्र ही वासना का रूप धारण करता है, चेतन जैसे स्वप्न में पदार्थों का रूप धारण कर लेता है, वैसे ही वह चिति ही पदार्थों के रूप को धारण करती है। वही कार्यकारणता को प्राप्त होती है, वही गमनरहित होकर स्थित होती है यानी स्थावररूप से स्थिर होती है ॥३४॥

'सपिण्डोऽस्मीति संवित्या' (मैं सपिण्ड हूँ यानी पिण्डप्रदान से युक्त हूँ, इस भावना से) इत्यादि से पहले जो यह कहा था कि प्रेत की वासना के अनुसार ही प्रेत को शरीर आदि फल प्राप्त होता है, उसमें आगे किये जानेवाले आक्षेपों की गुंजाइश होने से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, जो मैंने पुण्यकर्म नहीं किये, अतः मेरे पास धर्म नहीं है, इस भावना से युक्त होकर मरा, उसके बन्धु–बान्धव यदि प्रचुर कर्म करके उसके अर्पण कर दें, तो वह धर्म, प्रेतवासना से विरोध होने के कारण, निष्फल हो जायेगा। अथवा बन्धु–बान्धुवों की वासना के प्रबल होने से निष्फल नहीं होगा। उन दोनों वासनाओं में सुहृद–वासना, धर्म होनेसे, सत्य है और प्रेत की वासना असत्य है, वासना की प्रबलता में प्रयोजक क्या है ? भोक्तृनिष्ठता या सत्यार्थता यानी भोक्ता में स्थित वासना बलवती है या सत्य वासना बलवती है। प्रथम पक्ष में यानी प्रेत की वासना को प्रबल मानो, तो कृतहानि दोष होगा यानी बान्धवों द्वारा किया गया धर्म निष्फल हो जायेगा। यदि बन्धु–

बान्धवों की वासना प्रबल है, तो अर्थ की सत्यता हुई और वासना कोई वस्तु नहीं रही। वासना से ही सब कुछ होता है, यह जो पूर्व में कहा था, उसका व्याघात होगा, इस प्रकार उभयतः पाशा रज्जु है, यह आशय है ॥३५,३६॥

शास्त्रोक्त देश और काल में शास्त्रोक्त अनुष्ठान से शास्त्रानुसारिणी सुहृदवासना शास्त्रप्रमाण से प्रबल है। प्रेतवासना केवल लौकिक होने से दुर्बल है, इसलिए शास्त्र ही वासना की प्रबलता में कारण है, अर्थसत्यता प्रबलता में हेतु नहीं है, यों गूढ़ अभिप्रायवाले श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

श्रीरामजी ! देश, काल, कर्म और द्रव्य की सम्पत्ति से भावना उत्पन्न होती है, वह जिस फलरूप विषय में उत्पन्न होती है, दोनों में से वही विषय विजयी होता है ॥३७॥

धर्म–दान के प्रतिपादक शास्त्रप्रमाण से यह कल्पना होती है कि प्रेत के अन्तःकरणमें उसी समय (धर्मसमर्पणकाल में ही) 'मैं अमुक धर्मवान हूँ' ऐसी वासना उत्पन्न होती है, ऐसा कहते हैं।

धर्म देनेवाले की वासना हुई हो, तो उस भावना से क्रमशः प्रेत की मति पूर्ण होती है यानी शास्त्रवचन के प्रामाण्य से ही दाता की वासना के अनुसार प्रेत को अवश्य फल मिलता है ॥३८॥

शंका – प्रेत यदि पाखण्डी हो और वेद के ऊपर द्वेष, नास्तिकता आदि अशुभवासना से उसका अन्तःकरण दूषित हो, तो बन्धु–बान्धवों द्वारा धर्मसमर्पण करनेपर भी उसे फल मिलता है या नहीं ?

समाधान – नहीं मिल सकता, यदि प्रेत की बुद्धि शुभ हो, तो तभी उसे बन्धुओं द्वारा समर्पित धर्म का फल मिल सकता है। यदि वासना की प्रबलता में अर्थसत्यत्व हेतु हो, तो उसे भी धर्मफल की प्राप्ति होगी, यह भाव है।

इसलिए पूर्व प्रकरण में मैंने पुरुषप्रयत्न की प्रबलता को सिद्ध कर शुभ कर्मों का अभ्यास ही सदा करना चाहिए, यह कहा है, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार परस्पर के विजय से अतिबलवान् पुरुषप्रयत्न जीतता है, इसलिए शुभ प्रयत्न द्वारा शुभाभ्यास करना चाहिए ॥३९॥

यदि देश, काल आदि सहकारी कारणों के बल से धर्म और उसकी वासना आदि का उदय माना जाय, तो 'सदेव समोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्' (हे सोम्य, यह पहले एक और अद्वितीय सत् ही था) इस श्रुति से आदि सृष्टि में देश, काल आदि सहकारी कारण तो थे ही नहीं, उनके अभाव में वासना की उत्पत्ति कैसे होगी ? वासना की उत्पत्ति न होने से वासनामय जगत् की उत्पत्ति ही नहीं होगी। ऐसी परिस्थिति में 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (उसने संकल्प किया कि मैं प्रजारूप से बहुत होऊँ) इत्यादि श्रुतियों से विरोध होगा, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन् देश, काल आदि से यदि वासना उत्पन्न होती है, तो महाकल्प के अनन्तर की सृष्टि में देश, काल आदि कहाँ थे ? सहकारी कारणों से वासनारूप

कारण के रहने पर ही यह जगत् उत्पन्न होता है। महाकल्प के बाद होनेवाली सृष्टि के आदि में देश, काल आदि सहकारी कारण तो थे नहीं, फिर वासना होगी कहाँसे ॥४०,४१॥

आपने जो मेरे प्रति कहा वह अभीष्ट ही है, विरुद्ध नहीं है। 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक :। न मुमुक्षुर्नवै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥' (न प्रलय है, न सृष्टि है, न कोई बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है, यही परमार्थता है) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमन पर' (कारण रहित, कार्यरहति, अस्थूल) अनणु और अह्रस्व ब्रह्म है) इत्यादि अनेक श्रुतियों का जगत् की अनुत्पत्ति में तात्पर्य दिखाई देता है, बड़े भारी प्रयत्न से इसी अर्थ का बोध कराना अभीष्ट भी है। 'सोऽकामयत बहु स्याम्' इत्यादि सृष्टिप्रतिपादक श्रुतियों का भी प्रतीत हो रहे द्वैत की असत्यता का उपपादनपूर्वक पहले उपक्रान्त मुक्तिफल देनेवाले निष्प्रपंच आत्मा का ज्ञान कराने में ही तात्पर्य है। सृष्टि आदि में तात्पर्य नहीं है, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी के कथन का अनुमोदन करते हुए श्रीवसिष्ठजी ने कहा।

श्रीरामचन्द्रजी, जो तुम यह कहते हो, वह ठीक ऐसा ही है, महाप्रलयरूप सृष्टि के आदिभूत परमार्थ सत्य आत्मा में कोई भी देश, काल कभी नहीं थे। सहकारी कारणों का अभाव होने पर यह दृश्यप्रतीति नहीं है, न तो यह कभी उत्पन्न हुई, न कभी इसका स्फुरण होता है; यों दृश्य का सम्भव न होने से ही यह जो कुछ भी दिखाई देता है, वह स्वचिद्रूप निर्विकार ब्रह्म ही इस रूप में है, ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस बात को हम आगे आपसे सैकड़ों युक्तियों से कहेंगे ही, इसीलिए यह हमारा प्रयास है। फिलहाल आप वर्तमान कथा को पूरी सुन लीजिये ॥४२-४५॥

पूर्ववर्णित प्रणाली से राजा पद्म के नगर में आयी हुई लीला और सरस्वती देवीजी ने राजा पद्म के महल को देखा। उसका भीतर का भाग अत्यन्त मनोरम था, चारों और फूलमालाएँ बिखरी थी, अतएव वसन्त के समान शीतल था, राजधानी के लोगों से, जिनकी राजकार्य करने की फूर्ती ढीली पड़ गई थी, वह राजप्रासाद युक्त था। उस राजमहल में उन राजकर्मचारियों के साथ रक्खे हुए मन्दार, कुन्द आदि की मालाओं और फूलों से ढँके हुए शव को भी उन्हों ने देखा, उस महल में मन्दार और कुन्द के फूलों की मालाओं से ढँका हुआ वस्त्रों से लपेटा हुआ शव रक्खा था, शव की शय्या के सिरहाने पर सुन्दर पूर्ण कुम्भ आदि मांगलिक पदार्थ रक्खे थे, घर के दरवाजे और खिड़कियों की अर्गलाएँ बन्द थी, दीपकों का उजियाला मन्द पड़ रहा था, अतएव स्फटिक की भाँति साफ सुथरी गृहभित्तियाँ कुछ मैली हो गई थी, घर के एक भाग में, सोये हुए लोगों के मुख के निःश्वास से वह महल व्याप्त था ॥४६-४९॥ वह महल सम्पूर्ण चन्द्रमा के कलासहित उदय प्रकाशित होने के कारण बाहर बड़ा सुन्दर था, उसने अपनी सुन्दरता से इन्द्रभवन की सौन्दर्यसमृद्धि को जीत लिया था और भीतर ब्रह्मा के उत्पत्तिकमल के (भगवान के नाभिकमल की कौंढ़ी के) मध्य के समान सुन्दर था शब्दशून्य होने के कारण मूक-सा (गूँगे सा) स्थित था और चन्द्रमा के समान रमणीय था ॥५०॥

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सत्तावनवाँ सर्ग

दूसरी लीला का दर्शन, लीला के देह की असत्यता और
योगियों के शरीर में आतिवाहिकता के उदय का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, श्रीरामजी, तदुपरान्त वहाँ पर उन्होंने विदूरथकी शवशय्या के एक छोर पर स्थित लीला को देखा, जो पहले मरी थी और उनसे पहले आ गई थी, उसका हूबहू पहले का–सा वेष, पहले का–सा आरचण और पहले का–सा ही शरीर था, क्योंकि पहले उसमें वैसी ही वासनाएँ थी। उसकी आकृति भी पूर्वजन्म की आकृति से सर्वथा मिलती थी, रूपवान् सम्पूर्ण अंग–प्रत्यंगों से वह युक्त थी, पहले के जैसे उसके अवयव और चेष्टाएँ थी, जैसे पूर्वजन्म में उसने वस्त्र पहन रक्खे थे, वैसे ही वस्त्रों से उसका तन ढका था, पूर्वजन्म के ही सदृश आभरणों से वह विभूषित थी, केवल अन्तर इतना ही था कि पहले वह राजा विदूरथ के घर में थी, अब राजा पद्म के घर में स्थित थी। वह चँवर लिए हुए थी और बड़ी सुरुचि से राजा के ऊपर चँवर डुला रही थी, जिसमें चन्द्रमा उदित हो रहे हों, ऐसे द्युलोककी नाईं वह पृथिवी को जगमगा रही थी, वह मौन थी, उसने अपने चन्द्रवदन को बायें हाथ की हथेली के सहारे लटका रक्खा था, अतएव वह एक ओर को कुछ नमी हुई थी, आभूषणों के किरणरूपी पत्र, लता और पुष्पों से वनस्थली–सी थी, अपने दर्शनों से (दृष्टिपातों से) मानों मालती के फूल और नीलकमलों की वृष्टि कर रही थी, अपने अंग–प्रत्यंगों के लावण्य से आकाश में उदित सब चन्द्रमाओं की सृष्टि कर रही थी, राजा पद्मरूपी विष्णु की लक्ष्मी के सदृश थी, पुष्पों की राशि से उदित हुई वसन्तशोभा के तुल्य थी, अपने पति के मुखकमल को टकटकी लगाकर देख रही थी, उसकी सभी चेष्टाएँ रम्य थी, मुखचन्द्र कुछ मलिन था, अतएव वह जिस रात्रिमें चन्द्रमा मलिन हो, उस रात्रिके तुल्य थी ॥१–८॥ उन दोनों ने उस सुन्दरीको (द्वितीय लीला को) देखा, पर उसने उनको नहीं देखा, क्योंकि वे दोनों सत्यसंकल्प थी, पर वह सत्यसंकल्परूप से आविर्भूत नहीं हुई थी ॥९॥

लीला ने पहले जिस स्वरूप को छोड़ा था, उसे उसीका अन्वेषण करना चाहिए था, क्योंकि वह आवश्यक था, उसे छोड़कर विदूरथ और लीला के दर्शन का ही पहले वर्णन क्यों किया ? इस प्रकार सन्देह होने पर श्रीरामचन्द्रजी जिज्ञासा करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : प्रभो, पूर्वलीला उस राजमहल के एक भाग में अपनी स्थूल देह को रखकर ज्ञप्ति के साथ ध्यान से (समाधि से) गई, ऐसा पहले वर्णन हो चुका है। इस समय वहाँ पर लीला की उस देह का वर्णन क्यों नहीं किया ? उस देह का क्या हुआ अथवा वह कहाँ गई ? यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥१०,११॥

आतिवाहिकता बुद्धि का उदय होने से एवं तत्त्वज्ञान से उस देह के बाधित होने के कारण ही लीला द्वारा अपनी देह के दर्शन का वर्णन नहीं किया। जिनकी (अज्ञानियों की) दृष्टि से वह बाधित नहीं हुआ, उनकी दृष्टि से अग्रिम सर्ग में उस देह के मरण, दाह आदि का वर्णन किया

जायेगा। इस प्रकार वक्ष्यमाण उस देह के मरण, दाह आदि को छिपाकर तत्त्वज्ञान कराने के लिए उसकी असत्यता का ही प्रतिपादन कर रहे श्रीवसिष्ठजी ने उत्तर दिया।

श्री वसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, लीला का वह शरीर था ही कहाँ ? फिर उसकी सत्यता की बात ही कैसे ? मरूभूमि में जलबुद्धि (जल की भ्रान्ति) के तुल्य वह भ्रान्ति ही थी। यह सम्पूर्ण जगत आत्मा ही है, ऐसी दशा में देह आदि की कल्पना कैसी ? जो कुछ आप देखते हैं वह आनंदरूप सद्ब्रह्म ही है, वही चित् है ॥१२,१३॥ जैसे-जैसे यह पूर्वलीला क्रमशः बोध में परिपक्वतारूप परिणाम को प्राप्त हुई, वैसे-वैसे बोध से परब्रह्म में उसका शरीर हिम की नाईं गल गया यानी बाधित हो गया ॥१४॥ (आतिवाहिक देहवाले को समय पाकर रस्सी में सर्प की नाईं 'मैं आधिभौतिक देहवाला हूँ ।' ऐसा भ्रम उदय हुआ है।) (📖)

केवल उसी देह की आधिभौतिकता बाधित नहीं हुई, किन्तु भूमि आदि सम्पूर्ण वस्तुओं की भी आधिभौतिकता नष्ट हो गई। 'अपागादग्नेरग्नित्वं त्रीणि रुपाणीत्येव सत्यम्' (अग्नि की अग्निता गई, शुक्ल, कृष्ण और रक्त-ये तीन रूप ही सत्य हैं, यानी इन तीन रूपों से अतिरिक्त अग्नि में जो अग्नित्व की प्रतीति तुम्हें हुई थी, वह नहीं रही) इस श्रुति से उनकी स्थूलता का बाध होने से केवल आतिवाहिकता अवशिष्ट रहती है, इस आशय से कहते हैं।

आतिवाहिकताबुद्धि से यानी सूक्ष्मतम समष्टिमनोमात्रत्वबुद्धि से तत्त्वदृष्टि द्वारा लीला ने जो दृश्य देखा, उसीका पहले भ्रान्ति से पृथिवी आदि नाम रक्खा, वही आधिभौतिक है ॥१५॥ भूमि आदि रूप आधिभौतिक प्रपंच खरगोश के सींग की नाईं वास्तविक रूप से न शब्दतः और न अर्थतः ही सत्यस्वरूप है ॥१६॥ जिस मनुष्य को स्वप्न में मैं हरिण हूँ, ऐसी बुद्धि हुई, वह क्या अपनी मृगता का विनाश होने पर मृग को खोजता है। भाव यह है कि बाधित वस्तु के अन्वेषण में किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती ॥१७॥ भ्रान्त पुरुष की दृष्टि में भ्रमवश असत्य वस्तु का तुरन्त आविर्भाव होता है और सत्य वस्तु तिरोहित होती है, परन्तु सर्प की भ्रान्ति के मिट जाने पर भी क्या फिर रस्सी में सर्प का भ्रम हो सकता है ? कदापि नहीं ॥१८॥

यों अज्ञ मन की समष्टि ने ही इस आधिभौतिक प्रपंच की कल्पना कर रक्खी है, ऐसा फलितार्थ कहते हैं।

प्रत्येक ब्रह्माण्ड के भिन्न-भिन्न असंख्य मनसमूहों के मध्य में किसी एक मन-समूह की यह यानी इस ब्रह्माण्ड की स्थूलत्वभ्रान्ति वृथा प्रसिद्धि को प्राप्त हुई है और वह मिथ्या एवं निर्बीज है ॥१९॥ सभी अज्ञ पुरुष, जो कि जन्म और मरण से युक्त देहको ही आत्म समझते हैं, स्वप्न के तुल्य प्राप्त होनेवाली इस सृष्टि का अनुभव करते रहते हैं, जैसे कि चक्कर काटता हुआ बालक भूमि के मण्डल के भ्रमण का अनुभव करता है ॥२०॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, जीवितावस्थामें वर्तमान, अपने आत्मस्वरूपको प्राप्त हो रहे अथवा मरे हुए योगी के आतिवाहिकता को प्राप्त शरीर को सब लोग देखते हैं यह कैसा व्यवहार है। श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का आशय यह है कि यदि योगी का शरीर आधिभौतिक

📖 कुछ पुस्तकों में यह पाठ अधिक है।

नहीं है तो जब वह जीवित रहता है या आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है यानी मुक्ति को प्राप्त होता है अथवा मर जाता है, तो आतिवाहिकता को प्राप्त हुए उसके शरीर को लोग कैसे देखते हैं ? न तो आतिवाहिक शरीर लोगों के दृष्टिगोचर होता है और न मुक्तिकाल में अवशिष्ट ही रहता है ॥२१॥

योगियों का मरना दो प्रकार का होता है एक तो प्रारब्धभोग के लिए अपनी इच्छानुसार विविध शरीरों की कल्पना और दूसरा सम्पूर्ण प्रारब्ध का विनाश होने पर विदेहकैवल्य की प्राप्ति । प्रथम मरण में पूर्वशेष नहीं रहता, ऐसा कहते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, जैसे स्वप्नों में, आतिवाहिक देहमें एक देह का (मृग भावका) त्याग कर अन्य देह की (मनुष्यादि भाव की) कल्पना, जो कि अनित्य है, पूर्वदेह के परिशेष के बिना ही होती है वैसे योगियों को भी प्रारब्ध भोग के लिए एक देह से दूसरी देह की प्राप्ति सदा पूर्वदेह के परिशेष के बिना ही होती है ॥२२॥

दूसरे में भी पूर्वदेह का परिशेष नहीं रहता है, यह दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं ।

जैसे धूप में हिमकण, शरत्काल के आकाश में सफेद मेघ यद्यपि दिखाई देता है वैसे ही योगी का शरीर भी दिखाई देता हुआ भी अदृश्यताको प्राप्त होता है यानी उसके भी परिशेष का भ्रम स्वल्पकालव्यापी होता है ॥२३॥

धीरे–धीरे क्षय को प्राप्त होता है और अन्य लोग उसे देखते हैं, इसमें भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि किन्हीं योगियों के 'इसका तुरन्त नाश हो' इस प्रकार के संकल्प से उसका तुरन्त नाश होना भी असंभव नहीं है, ऐसा कहते हैं ।

'तुरन्त नष्ट हो जा', ऐसे संकल्प से किसी योगी का शरीर, आकाश में अपने सामने से वेग के साथ उड़े हुए पक्षी के समान योगियों को भी नहीं दिखाई देता साधारण लोगों की तो बात ही क्या है ? जीवनावस्था में भी 'ये मुझे ऐसा देखें' ऐसे उसके (योगी के) सत्यसंकल्पवश ही लोग योगी की देह को देखते हैं न कि उसकी देह के आधिभौतिक होने के कारण देखते हैं, यह तात्पर्य है ॥२४॥

अथवा इस विषय को यों हृदयंगम करना चाहिये कि यद्यपि योगी जनों को अपनी दृष्टि से अपने शरीर की आतिवाहिकता का ही अनुभव होता है किन्तु उस शरीर के दर्शनसुख का उपभोग करानेवाले अदृष्ट से युक्त अज्ञानी लोगों की वासना से उसकी भौतिकता, मृत्यु आदि की कल्पना हो सकती है, इसलिए कोई विरोध नहीं है, इस अभिप्राय से श्रीवसिष्ठजी कहते हैं ।

कोई पुरोवर्ती पुरुष कभी कहीं पर अपनी वासना से उत्पन्न भ्रम से 'यह मर गया' यों देखते हैं, कोई जीवित देखते हैं । अतएव विदेहमुक्त श्रीशुकदेवजी का परीक्षित की सभा में दर्शन होना और भागवतकथा का उपदेश देना संगत होता है ॥२५॥

दूसरी बात यह है कि योगियों को जब ज्ञानप्राप्ति होती है, उसी समय उनकी देह आदि का बाध हो जाता है, इसलिए उनकी दृष्टि से उनकी जीवितदशामें भी उनका शरीर नहीं

रहता है, ऐसा कहते हैं।

देह में आत्मबुद्धि केवल भ्रान्ति ही है, आत्मतत्त्व का ज्ञान होने से उनकी अपने में वह भ्रान्ति रस्सी का ज्ञान होने से रज्जु में सर्पबुद्धि के समान नष्ट हो जाती है ॥२६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जरा ध्यान देकर विचार तो कीजिये देह क्या थी, किसकी थी, किसकी सत्ता रही, किसका विनाश हुआ और कैसे हुआ ? जो वस्तु वास्तव में थी, वही केवल रह गई, एकमात्र अज्ञान चला गया। भाव यह कि ज्ञान होने पर जो वस्तु शेष रह गई वही वास्तविक है और जो चली गई, वह सब अज्ञान ही (भ्रम ही) था ॥२७॥

श्रीवसिष्ठजी के उक्त कथन से श्रीरामचन्द्रजी को यह शंका हुई कि यदि योगियों की देह बाधित होती है तो बाधित का अन्य रूप में परिणाम हो नहीं सकता, अतः कहना होगा प्रारब्ध भोग के लिए दूसरा ही आतिवाहिक शरीर उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में उसका दूसरा जन्म हो गया फिर वह जीवन्मुक्त कहाँ रहा ? इतना ही नहीं 'न स भूयोऽभिजायते' (वह फिर जन्म नहीं लेता) इत्यादि शास्त्र से विरोध भी हुआ। उक्त शंका के समाधान के लिए वे गुरुजी से पूछते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, क्या योगी का आधिभौतिक शरीर ही आतिवाहिक बन जाता है अथवा दूसरा ही आतिवाहिक शरीर उत्पन्न होता है। यदि प्रथम पक्ष मानिये, तो बाधित शरीर का दूसरे शरीर में परिणाम होना सभी प्रमाणों से विरुद्ध है। यदि दूसरा पक्ष मानिये तो ज्ञान का फल मुक्ति है, यह शास्त्रसिद्धान्त बाधित होता है। दोनों ही प्रकारों से अनुपपत्ति होने के कारण मैं सन्देहरूपी तेज धारा में बह सा रहा हूँ, कृपया मेरे संशय को दूर कीजिये ॥२८॥

त्रिवृत्करण श्रुति सूक्ष्मदेह से उपहित ब्रह्म में स्थूल शरीर के अध्यास का बाध कराती है 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इस श्रुति से स्थूल का बाध होने पर सूक्ष्म का परिशेष कहा गया है, इसलिए जो दोष आपने दर्शाया उसके लिए वहाँ अवकाश ही नहीं है। हमने बहुत बार पहले भी आपको यह विषय समझा दिया है, उसका भी जरा स्मरण कीजिये, यों उक्त शंका का समाधान करते हुए श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सुनिये, जिसे आप आधिभौतिक शरीर का आतिवाहिकरूप से परिणाम कहते हैं, वह परिणाम नहीं है, किन्तु ज्ञानोत्पत्ति से स्थूल देह के बाधित होने पर पहले से सिद्ध स्थूल शरीर के अधिष्ठानभूत सूक्ष्म शरीर का अवशेष है। हे श्रेष्ठतम, यह बात मैं आपसे बहुत बार कह चुका हूँ, इसे आप क्यों हृदयंगम नहीं कर रहे हैं ? केवल आतिवाहिक ही देह है, यहाँ आधिभौतिक देह है ही नहीं ॥२९॥ आतिवाहिक देह के ही अभ्यास से वह आधिभौतिकता बुद्धि प्राप्त होती है। जब आधिभौतिकता बुद्धि शान्त हो जाती है तब पहले विद्यमान आतिवाहिकता ही रह जाती है ॥३०॥ तब प्रबुद्ध पुरुष के निर्मल बोध से गुरुता, कठिनता इत्यादि का जो असत् आग्रह है वह भी, स्वप्न देखनेवाले मनुष्य के निर्मल बोध से स्वप्न के नगर के गुरुत्व, कठिनत्व आदि के समान चला जाता है ॥३१॥ जैसे

स्वप्न में यह स्वप्न है, इस ज्ञान से क्लेश आदि का भार हल्का हो जाता है वैसे ही तब योगी का शरीर हल्का रूई के फाहे के सदृश हो जाता है यानी वह सर्वत्र गमन में समर्थ हो जाता है ॥३२॥ जैसे स्वप्न में यह स्वप्न है, इस परिज्ञान से शरीर हल्का हो जाता है वैसे ही बोध होने से स्थूल के सदृश प्रतीत हो रहा यह शरीर आकाश में गमनसमर्थ हो जाता है ॥३३॥

जब दृढ़तर स्थूल वासनावाले अज्ञानी पुरुषों को भी स्थूलशरीर के शव होकर दाह आदि द्वारा नष्ट होने पर पूर्ववर्ती सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति होती है तब वासनाशून्य ज्ञानी जनों को स्थूल शरीर का बाध होने पर स्वाभाविक सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति होती है, इसमें कहना ही क्या है ? ऐसा कहते हैं।

जैसे अनेक दिनों के संकल्प से प्राप्त देह को आत्मा समझनेवाले और उसी देह में दृढ़ आत्माभिमान करनेवाले लोगों को इस देह के शव होकर जलाये जाने पर अवश्य सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है वैसे ही योगियों को जीवितावस्था में ही अतिशय ज्ञान होने से सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है ॥३४,३५॥ स्वप्न में संकल्पात्मा ही हूँ स्थूलस्वरूप नहीं हूँ, ऐसी (卐) स्मृति के उदित होने पर जैसे (यानी अपनी इच्छा के अनुसार आकाश में विहार करने में समर्थ) शरीर प्राप्त होता है वैसे ही यह सूक्ष्म शरीर भी योगी को बोध से प्राप्त होता है ॥३६॥

यदि किसीको यह शंका हो कि अपनी देह तो सबको परम प्रिय है, उसका नाश करनेवाला ज्ञान अनर्थ नही है, तो और क्या है ? उस पर कहते हैं।

जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति भ्रान्ति है, वैसे ही यह स्थूलदेहप्रतीति भ्रम ही है। उस भ्रम के नष्ट होने पर अपना क्या नष्ट हुआ और उत्पन्न होने पर अपना क्या उत्पन्न हुआ ? भाव यह कि शुक्तिरजत का विनाश होने पर क्या कभी कोई शोक करता है ?॥३७॥

इस प्रकार प्रासंगिक वस्तु का निर्णय होने पर प्रस्तुत कथा के विषय में ही श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

हे प्रभो, पूर्व लीला और नूतन लीला का पद्म के घर में समागम होने के बाद पद्म के घर में रहनेवाले लोग लीला को, जो आतिवाहिक देह होने के कारण दिखाई नहीं दे सकती थी, ये लोग मुझे देखें, इस सत्यसंकल्प के कारण यदि देखते हैं, तो उसके बाद उसे क्या समझते हैं ? क्या यह वही पूर्व पद्मपत्नी है, यह जानते हैं, अथवा कोई अपूर्व देवी आ गई है, यों ज्येष्ठशर्मा आदि के समान विस्मययुक्त हुए, *यह अर्थ है*॥३८॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वे लोग यह रानी यहाँ दुःख-पूर्वक स्थित है, इसकी यह दूसरी सखी कहीं से आ गई है, ऐसा जानते हैं ॥३९॥

यदि यह शंका हो कि दूसरी लीला पहले-पहल आई थी, अतः उसके विषय में यह कौन है, कहाँ से आई है, यह सुचरित्र है या व्यभिचारिणी है, सत्य है या असत्य है, ऐसा सन्देह उन लोगों को क्यों नहीं हुआ ? उस पर कहते हैं।

卐 ऐसी स्मृति स्वप्न में योगियों को ही होती है, उन्हींके अनुभव से सिद्ध है। पामर पुरुषों के अनुभव से सिद्ध नहीं है।

यहाँ पर इनको सन्देह कौन–सा होगा ? क्योंकि पशु तो अविवेकी होते ही हैं, जैसा देखा उसीके अनुसार व्यवहार करने लगते हैं। इनको विचार ही कहाँ ? ॥४०॥

उनके विचार के अनुदय में हेतु क्या है, ऐसा यदि कोई कहे, तो स्थूल में अभिनिवेश तथा सार, दाढर्य, सूक्ष्मता आदि से शून्यता हेतु है, ऐसा दृष्टान्त से सूचित करते हैं।

जैसे वृक्ष को नष्ट करने के लिए जोर से फेंका गया ढेला वृक्ष में पहुँचकर स्वयं अपना ही नाश करता है बाण की नाईं भीतर नहीं घुसता और न कीचड़ के पिण्ड की नाईं वृक्ष से चिपट जाता है और न पत्थर के समान तनिक भी आघात पहुँचाकर स्वयं फिर उपघात के योग्य ही बना रहता है, किन्तु शीघ्र नष्ट हो जाता है, वैसे ही वे लोग भी, ज्ञान न होने के कारण, वस्तुतः पशु (अजारूप पशु) यानी विचार करने में असमर्थ हैं, क्योंकि 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते' (जो अन्य देवता की उपासना करता है, यह अन्य है और मैं अन्य हूँ इस प्रकार वह पशु की भाँति अज्ञानी है) ऐसी श्रुति है। उनके विचार के अनुदय में केवल अज्ञान ही कारण नहीं है, किन्तु शरीर, काम, कर्म, वासना आदि भी उनके पशु के तुल्य ही होते हैं, इसलिए उनमें विचार का उदय न होना ठीक ही है ॥४१॥

जो विचार करते हैं, उनमें क्रमशः आधिभौतिकता की प्रतीति बोध से बाधित हो जाती है, अतः उनमें आधिभौतिकता की प्रतीति रहती नहीं फिर सन्देह आदि की प्रसक्ति तो दूर रही, इस आशय से उपसंहार करते हैं।

जैसे स्वप्नशरीर बोध से (जागरण से) न जाने कहाँ चला जाता है, अतः वह असत्य ही है वैसे ही आधिभौतिक भी बोध होने पर कहीं चला जाता है यानी विलीन हो जाता है, अतः वह भी असत्य ही है ॥४२॥

दृष्टान्त प्रसंग से श्रीरामचन्द्रजी स्वाप्नविषय का मूलाज्ञान के बाध के बिना आत्यन्तिक बाध नहीं है, वह कहाँ छिपकर रहता है, वह स्थान कौन है, ऐसा पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, वह स्वप्नरूपी पर्वत बोध होने पर कहाँ रहता है, मेरे इस सन्देह को जैसे वायु शरत्काल के मेघ को नष्ट कर देता है, वैसे ही आप दूर कीजिये ॥४३॥

स्वप्न जगत् और मनोरथजन्य प्रपंच जाग्रत् वासना से संचित अविद्या से उपहित जीव की संवित् से उत्पन्न है, इसलिए जिससे उसकी उत्पत्ति है, उसीमें उसका तिरोभाव होता है, ऐसा श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

स्वप्नभ्रान्ति में और मनोरथ में पर्वत आदि पदार्थ से स्पन्दन (गति) वायु में अन्तर्भूत होते हैं वैसे ही संवित् के अन्दर विलीन हो जाते हैं ॥४४॥ जैसे स्पन्दरहित वायु के अन्दर वह स्पन्द विलीन हो जाता है वैसे ही अनन्यस्वरूप (अन्य तात्त्विक स्वरूपहीन) ये स्वाप्निक पदार्थ संवित् के मलकी नाईं आवरक अपने उपादानभूत अज्ञान में ही प्रवेश करते हैं ॥४५॥ स्वप्न आदि पदार्थों के अवभास से संवित् ही खूब स्फुरण को प्राप्त होती है स्फुरण को प्राप्त न होती हुई वह संवित्, जो कि स्वप्न पदार्थरूप है, पदार्थों के साथ एकता को प्राप्त होती है ॥४६॥ जैसे द्रवत्व और जल में भेद नहीं है और जैसे स्पन्द (चलन) और वायु में भेद नहीं

है वैसे ही संवित् और स्वाप्न पदार्थों में भेद कदापि नहीं पाया जाता है। भाव यह है कि संवित् ही अज्ञात होकर कर्मवश कभी स्वाप्निक पदार्थों के रूप में स्फुरित होती है, विवेक होने पर स्वाप्न पदार्थ और संवित् में कोई अन्तर नहीं रहता ॥४७॥

जो उसमें अन्य–सा प्रतीत होता है, वह अविद्या ही है, वही संसार है, ऐसा कहते हैं।

जो उसमें अन्य–सा प्रतीत होता है, वह सबसे बढ़कर अज्ञान है, उसे ही 'संसार' कहा गया है, वह मिथ्याज्ञानरूप ही है ॥४८॥ सहकारी कारणों का अभाव होने से स्वप्न में संवित् और स्वप्न के पदार्थों का भेद निरर्थक ही है। भाव यह कि स्वाप्निक पदार्थ लोकप्रसिद्ध दण्ड, चक्र आदि सहकारी कारणों से उत्पन्न न होने के कारण भी असत् है ॥४९॥

यदि ऐसी बात है तो सहकारी कारणवाले जगत् प्रपंच में सत्यता प्राप्त हुई ? इस शंका का समाधान करते हैं।

जैसा संवित्रूप स्वप्न है वैसा ही यह जाग्रत् भी संवित्रूप ही है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। स्वप्न में असत्य नगर की प्रतीति होती है और सृष्टि के आदि में असत् जगत् का भान होता है। भाव यह है कि यद्यपि इस समय सहकारी आदि हैं तथापि आदि सृष्टि में अज्ञानोपहित हिरण्यगर्भ की संवित् से अतिरिक्त कुछ नहीं था, अतः जगत् की स्वप्नतुल्यता हो गई ॥५०॥

प्रपंच को यदि सत्य मानो, तो उसमें भी संवित् के समान चित्त्व हो जायेगा, ऐसी स्थिति में उसमें चिद्विषयत्व का व्याघात हो जायेगा, ऐसा कहते हैं।

स्वप्नता यानी स्वरूप के अज्ञान से उदित हुए प्रपंच को यदि सत्य मानो, तो वह संविद्–भास्य नहीं होगा और दूसरी बात यह भी है कि संवित् का सत्ता से व्यभिचार नहीं है और पदार्थों का उससे व्यभिचार होता है, इसलिए वे सत्य नहीं हो सकते, ऐसा कहते हैं। संवित् की नित्यसत्यता और स्वप्न पदार्थों की असत्यता है, अतएव प्रपंच सत्य नहीं हो सकता है ॥५१॥

'तत्त्वज्ञान से बाध्य होने के कारण भी यह प्रपंच सत्य नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे जागरण होने पर स्वप्न का पर्वत तुरन्त शून्यता को प्राप्त हो जाता है, तनिक भी अवशिष्ट नहीं रहता, वैसे ही तत्त्वज्ञान होने पर आधिभौतिक (प्रपंच) बोधाभ्यास क्रम से या सहसा ईश्वर के अनुग्रह से असत् यानी शून्य हो जाता है ॥५२॥

ऐसी अवस्था में श्रीशुकदेवजी का सूर्यमण्डलगमन और दधीचि आदि ऋषियों के मृतक शरीर का दर्शन लोगों को कैसे हुआ ? इस शंकापर कहते हैं।

निकट स्थित लोग आतिवाहिकता को प्राप्त हुए (यानी जिसका आधिभौतिक शरीर बाध हो चुका है, ऐसे) तत्त्वज्ञानी को 'यह उड़ गया अथवा यह मर गया' ऐसा देखते हैं, क्योंकि वे स्वाभाविक अज्ञान से विनष्टप्राय हैं। भाव यह कि अपने अज्ञान से कल्पित देह को ही वे देखते हैं, ज्ञानी की देह को नहीं देखते ॥५३॥

उक्त अर्थ को अनुमानप्रमाण से भी दृढ़ कर रहे श्रीवसिष्ठजी दो श्लोकों से प्रकरण का उपसंहार करते हैं।

ये द्वैतदृष्टिवाली (द्वैतदर्शनवाली) सृष्टियाँ मिथ्या दृष्टियाँ हैं, क्योंकि मोहदष्टियाँ हैं

यानी अज्ञान से उनका दर्शन होता है। ऐन्द्रजालिक की केवल माया का दर्शन करनेवाले की भ्रान्ति (उसमें सत्यत्वभ्रम) सबको होती है और स्वप्न में जिनका अनुभव होता है, वे पदार्थ अर्थशून्य हैं, यह भी सबको प्रसिद्ध है ॥५४॥ पूर्व-पूर्व पदार्थों के भेदरूपी भ्रम का दर्शन करनेवाले पुरुष में दृढ़तर भेदसंस्कार का उदय होने से प्राणों के उत्क्रमण के पूर्व क्षण में उत्पन्न भावी भोगों के अनुकूल पदार्थों की प्रतीति होने पर बिलकुल स्पष्ट जो ये सृष्टिकी प्रतीतियाँ हैं, ये यद्यपि केवल मनोमात्रनिष्ठ हैं, तथापि मृगतृष्णा की नदी के प्रवाह की नाईं मिथ्या उदित हुई हैं और भ्रान्ति से बाह्य-सी प्रतीत होती हैं, वे वास्तव में मन के बाहर नहीं हैं ॥५५॥

सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठावनवाँ सर्ग

समय, समाधि में स्थित लीला की देह का विनाश,
लीला के साथ सम्भाषण और राजा पद्म के पुनः जीने का वर्णन।

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के प्रासंगिक प्रश्नों का समाधान कर प्रकृत कथा के अवशिष्ट अंश का वर्णन करनेवाले श्रीवसिष्ठजी सर्ग की समाप्ति तक की कथा के लिए भूमिका बाँधते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इसी बीच में श्रीसरस्वती देवीजी ने अमूर्त मन की चेष्टा के समान राजा विदूरथ के जीव का अपने सत्यसंकल्प से निरोध किया ॥१॥ लीला ने कहा : हे देवि, इस पाद्म सृष्टि में इस मन्दिर में मेरी समाधि में और राजा पद्म की शवावस्था में कितना समय व्यतीत हुआ ? ॥२॥ श्रीसरस्वती देवीजी ने कहा : भद्रे, इस सृष्टि में, इस राजमहल में एक महीना व्यतीत हुआ। ये तुम्हारी दो दासियाँ, जो तुम्हारी देह की रक्षा के लिए सावधान थी, अब सोती हैं ॥३॥

लीला के शरीर का, जो अज्ञान से कल्पित तथा लीला को स्वानुभवसिद्ध था, यद्यपि तत्त्वज्ञान से बाध हो चुका था, फिर भी वह शेष प्रारब्ध के भोग के लिए प्रतीत हो रहा था। पहले उसकी आतिवाहिकता का वर्णन किया गया, अब दूसरों के अज्ञान से कल्पित और दूसरों के अनुभव से सिद्ध लीला के शरीर का वृत्तान्त कहते हैं।

हे सुन्दरी, यहाँ पर तुम्हारी देह का क्या वृत्तान्त हुआ ? इसे तुम सुनो। तुम्हारा शरीर पन्द्रह दिनों में पसीने से तर होकर प्राणायाम से प्रदीप्त हुई जठराग्नि से तपकर भाप बन गया। तदनन्तर सूके हुए पल्लव के समान निर्जीव होकर भूमि में गिर पड़ा, फिर काष्ठ और दिवार के समान निर्जीव और बर्फ के समान शीतल शव (मुर्दा) बन गया ✻। तब मन्त्रियों ने आकर शिथिल अंग प्रत्यंग और खुला मुँह देखने से 'यह स्वयं ही मर गई' ऐसा निश्चयकर उस शव को घर से बाहर किया। बहुत क्या कहें, उसे श्मशान में ले जाकर चन्दन के काष्ठों से बनी

✻ राजा के शरीर में विकार न आने का कारण देवी सरस्वती का 'यह ऐसा निर्विकार बना रहे।' ऐसा सत्य संकल्प और राजा का उस शरीर से भोग्य अदृष्ट है, यह समझना चाहिए।

चिता में रखकर घृत के साथ उसे सहसा जला डाला ॥४–७॥ तदनन्तर तुम्हारे परिवार ने महारानी मर गई, यों जोर से रो–पीटकर सम्पूर्ण और्ध्वदेहिक क्रिया की। इस समय यहाँ पर तुमको सशरीर आई हुई देखकर उन्हें यह परलोक से लौट आई, ऐसा महान् आश्चर्य होगा ॥८,९॥ हे पुत्री, तुम अपने सत्यसंकल्पवश अत्यन्त स्वच्छ आतिवाहिक शरीर से, जिसे मनुष्य नहीं देख सकते, दिखाई देती हो, इसलिए तुम्हारे दर्शन से लोगों को और आश्चर्य होगा ॥१०॥

यदि किसीको यह शंका हो कि दिव्य शरीर पूर्वदेह के आकारवाला नहीं होगा, तो लोगों को उसमें 'यही वह है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकेगी, इसलिए उसका पूर्व शरीर के सदृश आकार होना आवश्यक है, उसके पूर्व शरीर के आकारवाला होने में क्या बीज है ? इस शंका की निवृत्ति के लिए उसके पूर्व शरीराकार होने में हेतु कहती है।

हे वत्से, अपने शरीर के प्रति तुम्हारी जैसी वासना थी, वही तुम्हें रूप प्राप्त हुआ, इसलिए तुम्हारा शरीर पूर्व शरीर के सदृश हुआ ॥११॥

यदि मुझे उस देह की वासना थी, तो राजा की नाईं मुझे वही देह क्यों नहीं मिला ? इस पर कहती हैं।

सब लोग अपनी वासना के अनुसार ही सब पदार्थों को देखते हैं, इस विषय में बालक का वेतालदर्शन अनुरूप दृष्टान्त है, जैसे अपनी वासनाके अनुसार स्तम्भ आदि में बालक को वेताल की भ्रान्ति होती है, वैसे ही तुम्हें अपनी वासनाके अनुसार यह शरीर प्राप्त हुआ है और राजा को अपनी वासना के अनुसार वही शरीर मिला। हे सिद्धसुन्दरी, इसमें कारण यह है कि तुम आतिवाहिक देहवाली हो गई हो। पूर्वजन्म के देह को तो तुम भूल चुकी हो, अतएव उस पर तुम्हारी वासना नहीं रही। जिस ज्ञानी पुरुष की आतिवाहिक दृष्टि बद्धमूल हो जाती है, दूसरों को आधिभौतिकरूप से दिखाई देता हुआ भी उसका शरीर आकाश में शरत्काल के मेघ की नाईं शान्त हो जाता है ॥१२–१४॥ जिनमें आतिवाहिकता बद्धमूल है, ऐसे सभी शरीर जलरहित शरत्कालीन मेघ के तुल्य और गन्धहीन पुष्प की तरह होते हैं ॥१५॥ वासनायुक्त (♨) पुरुष में आतिवाहिकभाव के बद्धमूल होने पर जैसे यौवनावस्था में गर्भ में निवास विस्मृत हो जाता है, वैसे ही आधिभौतिक देह का विस्मरण हो जाता है। आज इकतीसवें दिन हम इस मण्डपाकाश में प्राप्त हुई हैं। इस समय प्रभातकाल होने पर मैंने ही इन दासियों को निद्रा से मोहित कर दिया है ॥१६,१७॥ हे लीले, आओ, तबतक अपने सत्य संकल्प के विलास से इस लीला को अपना स्वरूप दिखायें और हमारा मानवोचित व्यवहार प्रवृत्त हो ॥१८॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इन हमको (लीला और सरस्वती देवी को) विदूरथ की पत्नी लीला देखे, यों सरस्वती देवी के चिन्तन करते ही वहाँ पर सरस्वती और लीला दृश्य हो गई ॥१९॥ उनके दृश्य होने के बाद विदूरथ–लीला

♨ वासना का अत्यन्त उच्छेद होने पर आतिवाहिक देह की कल्पना भी नहीं हो सकती है, यह सूचन करने के लिए वासनायुक्त कहा है।

की आँखोंमें चकाचौंध हो गई। उसने अपने घर को उनके तेजःपुंज से दैदीप्यमान देखा ॥२०॥ द्रव से शीतल दीप्ति के कारण चन्द्रमा के बिम्बसे निकाले गये–से और उनकी कान्तिरूपी द्रवसे युक्त भित्तिवाला होनेके कारण सोने के द्रव से (पानी से) धोये गये–से घर को देखकर और आगे लीला और सरस्वती देवीजी को देखकर बड़े वेगसे उठकर वह उनके चरणोंपर गिर पड़ी ॥२१,२२॥ हे देवियों, आप मेरी विजयके लिए यानी कल्याणके लिए आई हैं और आप जीवन देनेवाली हैं आपकी जय हो। आपकी सेविका मैं यहाँ पर पहले प्राप्त हुई हूँ। उसके ऐसा कहने पर पूर्ण यौवनवाली वे तीनों मानिनियाँ जैसे मेरुके शिखरों में लताएँ बैठती हैं, वैसे ही सोने के आसनों पर बैठ गई ॥२३,२४॥ श्रीसरस्वती देवी ने कहा : हे पुत्रि, पहले से आरम्भ कर तुम यह बताओ कि तुम यहाँ कैसे आई, रास्ते में कहाँ पर क्या आश्चर्यकारी घटना घटी और तुमने क्या देखा ? विदूरथ की लीला ने कहा : हे देवि, उस समय विदूरथ के गृहप्रदेश में कल्पान्त की ज्वाला से मुर्छित द्वितीया तिथि की चन्द्रकला के समान मैं मूर्च्छित हो गई तदनन्तर चंचल नेत्रपलकवाले नेत्रों को बन्दकर मूर्छा में पड़ी हुई मुझको भला या बुरा कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ ॥२५–२७॥ हे परमेश्वरी, तदनन्तर मरणमूर्छाके बाद मैं क्या देखती हूँ कि वासना से परिकल्पित देह के तुल्य देहसे मैं अध्यास से आविर्भूत हुई हूँ, भूताकाश में उड़ी हूँ, तदनन्तर भूताकाश में वायुरुपी रथ में बैठी हूँ। तदनन्तर सुगन्धि के लेश की नाईं वायुरूपी रथ मुझे यहाँ इस घर में लाया ॥२८,२९॥ तदुपरान्त मैंने इस महल को देखा जो नायक (शवरूप राजा पद्म) से अलंकृत था, इसमें दीपक जलते थे, बड़ा स्वच्छ और बहुमूल्य शयन से युक्त था, जब मैं इस पति को देखने लगी तो क्या देखती हूँ कि यह विदूरथ फूलों से आच्छादित होकर फूलों के वनमें वसन्त के समान सोता है। मैंने सोचा अधिक संग्राम करने से उत्पन्न परिश्रम से यह खिन्न है, अतः यह गाढ़ नींद में सोता है, इसलिए उसकी इस निद्रा में मैंने विघ्न नहीं डाला यानी इसे नही जगाया। इसके बाद ही इस भूमि में आप दोनों देवियों का शुभागमन हुआ इत्यादि जैसा मेंने अनुभव किया था, हे कृपाकारिणि, वैसा ही आपसे कह दिया है ॥३०–३३॥ श्रीसरस्वती देवीजी ने कहा : हे हंस के समान गमनवाली और सुन्दर लोचनवाली दोनों लीलाओं, हम शवशय्या से इस राजा को उठावें, ऐसा कहकर सरस्वती देवी ने जैसे कमलिनी सुगन्धि छोड़ती है वैसे ही पूर्व संकल्प से रोके हुए राजा के जीव को छोड़ा। वायु के सदृश आकारवाला जीव उसकी नासिका के निकट गया। जैसे वायु बाँस के छेद में प्रवेश करता है, वैसे ही उसने नासिकारन्ध्र में प्रवेश किया। जैसे सागर अपने अन्दर अनन्त मणियों को धारण करता है, वैसे ही अनन्त वासनाओं को वह धारण करता था। जैसे अनावृष्टि होने पर मुरझाया हुआ कमल अच्छी जलवृष्टि होने पर मनोहर कान्ति से युक्त हो जाता है, वैसे ही जीव के अन्दर जानेपर पद्म का पहले मुरझाया हुआ मुख कान्तियुक्त हो गया ॥३४–३७॥ उसके सब अंग सरस (हरेभरे) होकर ऐसे शोभित होने लगे, जैसे कि पर्वत की लताएँ वसन्त आने पर शोभित होती हैं ॥३८॥ पूर्णचन्द्रमावाली पौर्णमासी की रात्रि में सोलहों कलाओं से पूर्ण चन्द्रमा की नाईं शोभित हुआ

और मुखरूपी चन्द्रकिरणों से पृथिवी को खूब प्रकाशित करता था ॥३९॥ जैसे वसन्त सुवर्ण के तुल्य उज्ज्वल कान्तिवाले अपने पल्लवों को संचालित करता है, वैसे ही राजा पद्म ने अपने हरे भरे (सजीव) कोमल अंगों को संचालित किया ॥४०॥ निर्मल चंचल तारिकावाले अपने सुन्दर नेत्रों को उसने यों खोला जैसे भुवन (भुवनात्मा हिरण्यगर्भ विराट्) अपने नेत्ररूपी चन्द्रमा और सूर्य को उन्मीलित करता है ॥४१॥ राजा, जिसका शरीर शोभित हो रहा था, विन्ध्याचल के समान बुद्धिमान था, उठा और मेघ के घोष के समान गम्भीर ध्वनि से उसने 'कौन है ?' कहा : दोनों लीलाओं ने उसके आगे जाकर 'महाराज आज्ञा कीजिये' कहा ॥४२,४३॥ उसने नम्र दो लीलाओं को अपने सामने उपस्थित देखा। उन दोनों का एक–सा व्यवहार एक–सा आकार, एक–सी रूप रेखा, एक–सी मर्यादा, एक–से वचन, एक–सा उद्योग, एक–सा आनन्द और एक–सा अभ्युदय था ॥४४॥ उसने देखते हुए तुम कौन हो और यह कौन है तथा यह कहाँ से आई है, ऐसा पूछा, उससे पूर्व लीला ने कहा : हे देव, जो मैं कहती हूँ, उसे आप सुनें, मैं आपकी पूर्व जन्म की सहधर्मिणी लीला हूँ जैसे शब्द अर्थ का वाचक होने से अर्थसे मिलती है, वैसे ही मैं आपसे संबद्ध होकर स्थित हूँ ॥४५,४६॥ यह लीला तुम्हारी दूसरी पत्नी है, मैंने तुम्हारी क्रीड़ा के लिए (उपभोग के लिए) इसका उपार्जन किया है, यह सुन्दरी प्रतिबिम्बमयी है ॥४७॥ हे देव, यह स्वर्णसिंहासन के सिरहानेपर बैठी हुई है, इसकी आप रक्षा कीजिये। यह सरस्वती देवीजी हैं, जो तीनों लोकों की जननी और कल्याणकारिणी है ॥४८॥ हम लोगों के पुण्यों की प्रचुरता से यह साक्षात् यहाँ पर उपस्थित हैं। हे राजन्, ये ही हम दोनों को परलोक से यहाँ लाई हैं ॥४९॥ कमल के तुल्य विशाल नेत्रवाला राजा यह सुनकर उठकर देवी के चरणों में गिर पड़ा। उसके वस्त्र और मालाएँ लटक रही थी, हे देवि, हे सबका कल्याण करनेवाली देवी, सरस्वतीजी आपको नमस्कार है, हे वरदायिनी, बुद्धि दीजिये, दीर्घ आयु दीजिये और धन दीजिये।

राजा के यह कह चुकने पर देवी सरस्वतीने अपने हाथ से उसका स्पर्श किया।

श्री सरस्वतीजी ने कहा : हे पुत्र, दीर्घायु, धन आदि ईच्छित पदार्थों से खूब सम्पन्न होओ। तत्त्वबुद्धि से प्राप्त अपने पारमार्थिक स्वरूप स्थिति से युक्त होओ। सम्पूर्ण आपत्तियाँ और समस्त पापबुद्धियाँ विनाश को प्राप्त हों, अनन्त सुख तुम्हें प्राप्त हों, तुम्हारे राज्य में सम्पूर्ण जनता सदा आनन्दित रहे और सकल सम्पत्तियाँ स्थिर होकर सदा विलास करें ॥५०–५३॥

अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

उनसठवाँ सर्ग

राजा के जी उठने के हर्ष से नगर और अन्तःपुर में उत्सव, जीवन्मुक्त राजा पद्म और दो लीलाओं का चिरकाल तक राज्यभोग और तदुपरान्त मुक्तिका प्रतिपादन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, देवी सरस्वती पूर्वोक्त प्रकार से राजा ने जो वर माँगा था, 'उसे ऐसा ही हो' यह कहकर यानी देकर वहीं पर (राजमहल में ही) अन्तर्धान को प्राप्त हो

गई तथा प्रातःकाल में कमलों के साथ सब लोग जागे ॥१॥ राजा ने उस लीला का बारबार आलिंगन किया और लीला ने भी मरकर फिर वापिस आये हुए राजा का बार–बार बड़े आनन्द से आलिंगन किया। उस समय उस राजमहल का क्या कहना था। उसमें सभी लोग आनन्द में मस्त थे, गाने और बाजों की ध्वनि से वह गूँज रहा था, उसमें सभी लोगों में मद और काम ने अपना सिक्का जमा रक्खा था। जय–जयकार की ध्वनि और मांगलिक पुण्याहवाचन के घोष से वह मुखरित था, सन्तुष्ट और हृष्टपुष्ट लोगों से भरा था, राजपुरुषों से उसका आँगन ठसाठस भरा रहता था, उस पर सिद्ध और विद्याधरों से छोड़ी गई हजारों पुष्पवृष्टियाँ बरसती थी, वहाँ ढोल, पखावज, काहल (कार्णाल नाम का एक प्रकार का बाजा यानी बड़ा ढोल) शंख और नगारे बजते रहते थे, अपनी बड़ी–बड़ी सूँडों को उठाये हुए हाथियों के झुण्ड की चिंघाड़ से वह भीषण लगता था। उसका आँगन उद्धत नृत्य करनेवाली नर्तकियों से पूर्ण था अतएव उसमें विचित्र ध्वनि हो रही थी। परस्पर एक को दूसरे की टक्कर लगने से राजा के लिए उपहार ला रहे लोगों के उपहार वहाँ पर गिर रहे थे, गिर रहे उपहारों से वह नीचा ऊँचा हो गया था, फूलों की सिर की मालाओं और उत्सव के साज–बाजों से भरपूर विविध लोगों के इधर उधर आने जाने से वह बड़ा भला लगता था, मंत्रियों, अधीन राजाओं और नगरवासियों से बिखेरे गये फूलों, मालाओं और मोतियों से चारों ओर आच्छन्न होने के कारण ऐसा लगता था, मानों उसे रेशमी वस्त्र पहनाये गये हों, नर्तकियों के लाल–लाल हाथों से, जो आकाश में नाच रहे थे, बड़े–बड़े कमलोंवाले तालाब के सदृश प्रतीत होता था। खूब प्रसन्न (सुखी) स्त्रियों के कानों के कुण्डल, उनके विशेषरूप से गर्दन घुमाने से, झूल रहे थे, इधर उधर चलने–फिरनेवाले लोगों के पैर पड़ने से फूलों का कीचड़ बड़ा भला प्रतीत होता था ॥२–९॥ वहाँ पर शरत्काल के तुल्य सफेद रेशमी वस्त्रों के चँदवे तने थे, रूपवती ललनाओं के मुखों से उक्त महल के आँगनों में लाखों चन्द्रमा नाच रहे थे यानी सुन्दरियों के प्रतिबिम्बित मुखरूपी लाखों चन्द्रमा उसके आँगन में नाच रहे थे। पूर्व लीला परलोक से रानी को यानी दूसरी लीला को और महाराज पद्म को लाई। इस प्रकार की सैकड़ों प्रबन्धों के रूप में प्रस्तुत गाथाओं का देश देशान्तर में लोग गान करते थे ॥१०,११॥

राजा पद्म ने अपने मरण आदि की कथा को, जो संक्षेप से कही गई थी, सुनकर नौकरों द्वारा लाये गये चार सागरों के जल से स्नान किया। तदुपरान्त राज्यप्राप्ति के लिये अनेक प्रयास करनेवाले नहुष को गिराकर जिसने फिर राज्य प्राप्त किया था, ऐसे देवराज का देवताओंने जैसे अभिषेक किया था, वैसे ही राजा पद्म का ब्राह्मणों ने, मन्त्रियों ने और राजाओं ने अभिषेक किया (*) प्रथम लीला, द्वितीय लीला और राजा, जो जीवन्मुक्त और महाज्ञानी थे, सुरतों की नाईं पूर्ववृत्तान्तों की कथाओं द्वारा रमण करते थे। राजा पद्म

(*) जैसे चिरकाल के प्रवास से आये हुए राजा का पुनः राज्याभिषेक मंगल के लिए होता है, वैसे ही परलोक से लौटे हुए राजा पद्म का पुनः अभिषेक मंगलार्थ किया गया।

को पूर्वोक्त रीति से सरस्वती के प्रसाद से और अपने पौरुष से वह तीनों लोकों का कल्याण प्राप्त हुआ। राजा ने जो सरस्वती की प्रसन्नता, पुनर्जीवन और राज्य प्राप्त किया, वह तो दैव से ही मिला, अपने पौरुष से मिला नहीं, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी की शंका को ताड़कर श्रीवसिष्ठजी की यह उक्ति है। सरस्वती की आराधना आदिरूप अपने पौरुष से सरस्वती का प्रसाद प्राप्त हुआ। उसका प्रसाद काकतालीय के समान आकस्मिक नहीं है, यह भाव है ॥१२–१५॥ दोनों लीलाओं से युक्त प्रशंसनीय राजा पद्म ने, जिसे श्रीसरस्वती देवीजी द्वारा उपदिष्ट ज्ञान से भलीभाँति आत्मतत्त्व का ज्ञान हो चुका था, वहाँ पर अस्सी हजार वर्ष तक राज्य किया। वे जीवन्मुक्त, जिनका आत्मतत्त्वज्ञान खूब बद्धमूल हो गया था, इस प्रकार अस्सी हजार वर्ष तक राज्य करके विदेहमुक्ति को प्राप्त हुए ॥१६,१७॥ अपने राज्य का, जो प्रजाओं के नित्य अभ्युदय से दोषरहित था, शास्त्रानुसारी होने के कारण विद्वानों के भी मन को हरनेवाला था, अपनी कुलपरम्परा की मर्यादा के योग्य था, भोग, यश और धर्म देनेवाला होने के कारण अपने लिए भी हितकर था, लोगों के चित्त के अनुरंजन में दक्ष था, अतएव सम्पूर्ण लोगों को सन्तोष देनेवाला था, चिरकाल तक पालनकर वे सुन्दर दम्पती विमुक्त हो गये ॥१८॥

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

साठवाँ सर्ग

लीलोपाख्यान के प्रयोजन का विस्तार से वर्णन और काल आदि की
समता और विषमता के कारण का निर्देश।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, यह पवित्र लीलोपाख्यान, दृश्यरूप दोष की निवृत्ति के लिए, मैंने आपसे कहा। यानी दृश्य नहीं है, इस प्रकार के ज्ञान से यदि मन से दृश्य का परिमार्जन हो गया, तो परम निवृत्ति प्राप्त हो गई, ऐसी जो प्रकरण के आरम्भ में प्रतिज्ञा की गई थी, उसकी सिद्धि ही लीलोपाख्यान का मुख्य प्रयोजन है। अब आप जगत् की सत्यता का त्याग कीजिये ॥१॥

यदि किसी को यह शंका हो कि जगत् में सत्यता के त्यागमात्र से उसकी निवृत्ति कैसे होगी ?

दृश्य की सत्ता शान्त ही है यानी है ही नहीं, जब दृश्यसत्ता है ही नहीं, तब उसके शमन का क्या उपयोग ? विद्यमान के मार्जन के लिए प्रयास किया जाता है, जो है ही नहीं, उसके परिमार्जन के लिए प्रयास कैसा ? ॥२॥ ज्ञानी पुरुष आकाशरूप ज्ञान से ज्ञेयस्वरूप दृश्य को पूर्वोक्त रीति से अपवाद द्वारा अखण्ड ब्रह्म में एकरसता को प्राप्त हुआ जानकर आकाश के सदृश निर्मल रहता है ॥३॥

दृश्य तो जड़ है, उसकी ज्ञानघन ब्रह्म में एकरसता कैसे ? ऐसी आशंका कर आदि सृष्टि में चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्माने अपने में ही दृश्यरूप विवर्तकी कल्पना की, इसलिए जैसे

जलरूप ओलों में कठिनता का विरोध नहीं है, वैसे ही दृश्य की चिद्रूपता में विरोध नहीं है, ऐसा कहते हैं ।

पृथिवी आदि से रहित प्रकाशरूप ब्रह्म ने यदि इसकी कल्पना की तो अपने में ही की, उससे अतिरिक्त उसका दूसरा उपादान है नहीं, इसलिए इसके चिद्रूप होने में कोई विरोध नहीं है ॥४॥

यदि कोई कहे कि जैसे ओलों की कठिनता प्रयत्न के बिना ही शान्त हो जाती है, वैसे ही प्रयत्न के बिना ही दृश्य का विनाश क्यों नहीं होता ? इस पर कहते हैं।

सृष्टिवेत्ता (सृष्टिकर्ता) ब्रह्मचैतन्यरूप नदी में उसकी एक भागरूप जो जीव संवित् है, वह जिस प्रकार की प्रवृत्ति के प्रवाह से जिस तरह के कार्यकारणफलभाव के लिए प्रयत्न करती है, वैसे कार्यकारण के फलभाव से छोड़ी गई वह अपने प्रयत्न के अनुसार वैसे ही व्यवस्थित होती है, जब तक उससे विरुद्ध निवृत्ति प्रयत्न से वह रोकी नहीं जाती, तब तक निवृत्त नहीं होती है ॥५॥

यदि कोई शंका करे कि इस जगत् की रचना ब्रह्माजी ने की है, जीव की क्या ताकत कि इसे रोक दे, महाराजाधिराज ने जिस कार्य के लिए आज्ञा दे दी हो, भला वह साधारण आदमी के यत्न से रोकी जा सकती है ? इस पर कहते हैं।

यद्यपि चिदाकाशरूप स्वच्छ ब्रह्म में चिदाकाश का जो मायिक अवभास है, वही जगत्‌रूप से प्रतीत होता है, इसलिए जगत् ब्रह्म से रचा गया है, तथापि वह जगत् जिसका ब्रह्मभाव अपरिच्छिन्न है, उस पुरुष के प्रति वैसा प्रतीत नहीं होता, किन्तु बुद्धि आदि परिच्छिन्न उपाधियों के कारण अत्यन्त परिच्छिन्न जीव के प्रति ही वह वैसा प्रतीत होता है, क्योंकि उसके प्रयत्नों से उत्पन्न कर्मफलों के भोग के लिए ही वह ब्रह्म में कल्पित है और जब उसके प्रयत्न से बोध होता है, तब दृश्य का परिमार्जन अवश्य होता ही है ॥६॥

ऐसी परिस्थिति में सत्ता, नियति, वासना आदि से भी जगत् की रक्षा नहीं हो सकती , इस आशय से कहते हैं।

इस प्रकार इस व्यर्थभ्रमरूप दृश्य की क्या सत्ता है, कौन–सी वासना है, कौन आदर है, क्या नियति है और क्या अवश्यम्भाविता कही जाय। भ्रम के सत्ता आदि की क्या संभावना है, यह भाव है ॥७॥ यह सब यद्यपि मायादृष्टि से जैसा दिखाई देता है, वैसे ही ज्यों–का–त्यों स्थित है, तथापि परमार्थदृष्टि से इसका संभव नहीं है, माया से उत्पन्न होने के कारण यह सम्पूर्ण सृष्टि माया ही है और माया भी तो वास्तविक नहीं है ॥८॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आपने मुझे, जैसे वनाग्नि से जले हुए तृणों की दाह की शान्ति होने पर, फिर पनपने के लिए चन्द्रमा की कला उगती है वैसे ही, संसारताप से सन्तप्त लोगों को शान्तिविवेक की प्राप्ति के लिए यह दृष्टि दर्शाई है ॥९॥ हर्ष की बात है कि आज चिरकाल में अखण्ड ज्ञातव्य पदार्थ जिस प्रकार जाना जाता है, जैसा उसका स्वरूप है, जिस तरह का वह है, जिन प्रमाणों से ज्ञेय होता है, जब जाना जाता है, यह सब मुझे ज्ञात हुआ ॥१०॥ हे द्विजश्रेष्ठ, जगत्तत्त्वका

विचार कर रहा मैं उपाधि के शान्त होने से शान्त–सा हो रहा हूँ, नित्य निर्वाणस्वरूप की प्राप्ति से आनन्दसागर में डूब–सा रहा हूँ, यह आश्चर्यमय लीलोपाख्यान श्रुति द्वारा प्रदर्शित ज्ञानो में उपबृंहणरूप है यानि श्रुति द्वारा प्राप्त ज्ञान को बढ़ानेवाला है ॥११॥ भगवन्, कृपा करके आप मेरे इस सन्देह को निवृत्त कीजिये, क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं। आपके वचनरूपी अमृत कर्णरूपी पात्रों से पीकर मैं तृप्त नहीं होता यानी मुझे उसे पीने की इच्छा बनी रहती है ॥१२॥ वह पूर्वोक्त काल, जो लीला के पति के तीन जन्मों में बीता, वह कहीं तो (गिरिग्राम में तो) आठ दिन–रात रूप कहा गया है, कहीं (पद्म–जन्म में) एकमासरूप कहा गया है, कहीं (विदूरथजन्म में) बहुत वर्षवाला कहा गया है, इस प्रकार क्या विभिन्न ब्रह्माण्ड हैं या एक ही ब्रह्माण्ड में मनुष्यों का वर्ष, देवताओं का दिन (अति अल्पकाल) होता है, किसीको (क्षुद्र जन्तुओं को) वह बड़ा विशाल प्रतीत होता है, और किसीको (ब्रह्माको) क्षण प्रतीत होता है, यों क्या एक ही काल, देश, लोग आदि के भेद से विरुद्धरूप से (छोटे बड़े रूप से) स्थित है क्या ? पदार्थसत्ता के एकरूप होने पर प्रतीति में भेद कैसे आता है ? यह भाव है। हे भगवन्, यह सब आप अनुग्रहपूर्वक यथार्थरूप से मुझसे कहें, जैसे ढेले में गिरा हुआ जलबिन्दु कहीं विलीन हो जाता है, वैसे ही 'देशदैर्घ्यं यथा नास्ति कालदैर्घ्यं तथैव हि' इत्यादि से आपके कह चुकनेपर भी एक बार के श्रवण से वह स्थिरता को नहीं प्राप्त होता है ॥१३–१५॥

यदि जैसी पदार्थों की सत्ता है, उसीके अनुसार प्रतीति हो, तो यह विरोध हो सकता है, अनिर्वचनीय पदार्थों की सत्ता ही प्रतीति के अनुसारिणी होती है उसमें जितने द्रष्टा (देखने वाले) हैं, उनके प्रति पदार्थ भिन्न भिन्न होते हैं, कालवैषम्यरूपभेद नहीं है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, जिस–जिस पुरुष को जिस समय जिस प्रकार से जिस–जिस पदार्थ की प्रतीति होती है, वह–वह उस समय उस प्रकार से उस–उस पदार्थ का अनुभव करता है। सदा ही यह जीवन का साधन है, यह ज्ञात होने से विष भी अमृतता को प्राप्त होता है, देखिये न यह हमारे जीवन का साधन है, इस प्रकार की दृढ़ प्रतीति होने से विष के कीड़े विष से ही जीते हैं, यदि कहिये कि प्रमाद से यह हमारा खाद्य है, यह सोचकर जो आदमी विष खा लेता है, वह क्यों मरता है ? सुनिये, विष के कीड़ों की नाईं उसका विष में यह हमारा जीवन का साधन है, ऐसा चिरकाल से दृढ़ विश्वास नहीं है, दूसरी बात यह भी है कि उसको ऐसा पक्का संस्कार रहता है कि विष खाने से मृत्यु होती है। विष में जीवनसाधनता के दृढ़ निश्चय का अभाव और मरणहेतुता का निश्चय होने से उसकी मृत्यु होती है। यह मित्र है, ऐसी दृढ़भावना करने से शत्रु भी मित्रता को प्राप्त हो जाता है ॥१६,१७॥ इन पदार्थों के स्वरूप की जैसी भावना की, वही (भावित स्वरूप ही) चिरकाल के अभ्यास से नियति के वश में आ गया है। चिरकाल से अभ्यस्त भावना का अनुसरण करनेवाली पदार्थों की अर्थक्रियाकारिता नियति है ॥१८॥ चिति का स्फुरण स्वभाव है, जैसे और जिस रूप में उसका स्फुरण होता है, वह शीघ्र उसी रूप में हो जाती है, क्योंकि वैसा होने में उसका स्फुरणस्वभाव होना ही एकमात्र

कारण है। *भाव यह कि चित् स्फुरणस्वभाव ही है, उसके पदार्थविशेषाकार होने में द्रष्टा का संस्कार कारण है। यों एक ही संवित् में किसीका संस्कार के अनुसार क्षण का आरोप होता है और किसीका कल्प आदिका आरोप होता है, इस प्रकार कोई विरोध नहीं है।* यदि किसी पुरुष को एक क्षण में सैकड़ों कल्पों की प्रतीति होती है, तो क्षण ही उसके लिए कल्प होता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। यदि किसीको कल्प में निमेषता का ज्ञान हो जाता है, तो कल्प ही उसके लिए निमेष बन जाता है, क्योंकि चित् स्फुरणरूपा है ॥१९-२१॥

लोक में भी यह प्रकार प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

दुःखी (वियोगी) पुरुष को जो रात्रि कल्प-सी लम्बी प्रतीत होती है, वही रात्रि सुखी पुरुष को क्षण के तुल्य हो जाती है। स्वप्न में एक क्षण कल्प बन जाता है और कल्प क्षण बन जाता है। जरा ध्यान दीजिये एक क्षण के स्वप्न में पुरुष देखता है-मैं मर कर पैदा हुआ, जवान हुआ, यौवनावस्था में स्थित हुआ, मैं सौ कोश गया, ऐसा स्वप्न में सबको अनुभव होता है ॥२२,२३॥ राजा हरिश्चन्द्र को एक रात्रि बारह वर्ष की प्रतीत हुई थी, लवणासुर ने एक रात्रि में सौ वर्ष की आयु का भोग किया था। जो मनु की आयु है, वह आत्मा का मनन करनेवाले प्रजापति का एक मुहूर्त है। जो ब्रह्मा की आयु है, वह आत्ममननशील विष्णुका एक दिन है, विष्णु की जो आयु है, वह शिवजी का एक दिन है, पर जिस पुरुषने ध्यान से अपने चित्त पर विजय पा ली है यानी जो निर्विकल्प समाधि में स्थित है, उसके लिए न दिन हैं और न रात्रियाँ। आत्म के चिन्तन में मग्न योगी की दृष्टि में न पदार्थ सत्य हैं और न जगत् ही सत्य है। मधुर पदार्थ की भी यदि यह तीखा है, यह तीखा है, ऐसी भावना की जाय, तो वह भी तीखा हो जाता है, यदि तीखे की यह मधुर है, यह मधुर है, इस प्रकार की भावना की जाय, तो वह मधुर हो जाता है। हे महाबाहो, शत्रु ही क्यों न हो यदि यह मित्र है, मित्र है, यों मित्रबुद्धि से उसकी भावना की जाय, तो वह मित्र बन जाता है, मित्र ही क्यों न हो, यह शत्रु है, ऐसी बुद्धि से उसकी भावना की जाय तो शत्रु बन जाता है। यह सारा जगत् भावना का खेल है, जैसी भावना होती है, वैसा ही दिखाई देता है। शास्त्राध्ययन, जप आदि जिन पदार्थों का पहले अभ्यास नहीं रहता, उनमें भावना के अभ्यास से स्वाधीनता प्राप्त होती है। नौका से यात्रा करनेवाले चक्कर आने से पीड़ित लोगों की भावना से पृथिवी घूमती है। भावनाभ्रमजनित पीड़ा से रहित तट में स्थित लोगों की दृष्टि से तो वह नहीं घूमती, जैसे स्वप्न देखनेवालों की दृष्टि में शून्य स्थान भी जनाकीर्ण प्रतीत होता है, वैसे ही भावना करने से भी शून्य स्थान लोगों से भरा हुआ-सा प्रतीत होता है ॥२४-३१॥ भावना से आकाश पीला, नीला या सफेद प्रतीत होता है, मोहवश उत्सव भी आपत्ति के सदृश दुःखदायी होता है। छोटे-छोटे बालक अपने खेल कूद के उत्सवों में कभी-कभी रोते दिखाई देते हैं ॥३२॥ अविचारी पुरुष का जहाँ पर दीवार खड़ी है, वहाँ पर भी शून्य का (दीवाररहित का) सा व्यवहार देखा गया है, अविद्यमान भी यक्ष मूढ़ लोगों के प्राणों को हर लेता है। भाव यह कि जो पदार्थ असत्य है, उनमें कार्य करने की क्षमता लोक में प्रसिद्ध है, वेताल वस्तुतः है नहीं, पर वह मूढ़ लोगों के प्राणहरणरूप कार्य को कर ही लेता

है ॥३३॥ देखिये न, स्वप्न में देखी गई स्त्री भावनावश जागरण काल की तरह आनन्ददायिका होती है, जो पदार्थ जिस रूप में आभासित हुआ, वह उसी रुप में स्थिर होता गया। जगत् असत् ही है।

शंका – यदि जगत् असत् ही है, तो उसे सरासर मिथ्या ही कहना चाहिए।

समाधान – सरासर झूठा भी नहीं है, किन्तु अव्याकृत आकाशरूप है, क्योंकि कार्य कारण से अतिरिक्त नहीं है। वह अव्याकृत आकाश ही अपने अधिष्ठानभूत चिदात्मा में सौ हाथ के मिथ्या नटके, जो मेघ की छाया से कल्पित है, नाच के (एक प्रकार के अभिनय के) सदृश जगत् की विलक्षणता के रूप से विस्तार को प्राप्त हुआ है ॥३४,३५॥

सम्पूर्ण मन की समष्टि और व्यष्टि का कार्य होने से भी जगत् असत्य ही है, ऐसा कहते हैं।

जिस बालक ने अपने मिथ्याज्ञान से पिशाच की कल्पना कर रक्खी है, उसका जो स्पन्ददर्शन है, उसके तुल्य मनोमात्र आकृतिवाला यह जगत् आकाश में मानस स्पन्द ही है, वास्तविक नहीं है ॥३६॥ यह जगत् वस्तुतः मूर्तिमान् नहीं है, अतः किसी दूसरे का अवशेष नहीं करता, जो इसका अवरोध करे, ऐसी दूसरी वस्तु भी इसमें नहीं है और मायामात्र ही है, ऐसा होने पर भी स्पष्टरूप से प्रतीत हो रहा है, इसलिए तत्त्वज्ञानी लोग इसे न सोये हुए पुरुष को हुआ अपूर्व स्वप्नदर्शन मानते हैं। जैसे अपने स्फुरण के अनुकूल व्यापार से रहित स्तम्भ अपने स्वरूप में प्रतिमारुप को प्रकट करता है, वैसे ही परमार्थ महास्तम्भ (सर्वाधिष्ठान चैतन्य) भी वैसा होकर, वैसी ही सृष्टि को सृष्टिकाल में देखता है ॥३७,३८॥ जैसे स्वप्न में मेरे समीप में महायोद्धाओं से छेड़ा गया पुरुष जागने पर भी सुषुप्त के सदृश अज्ञानमात्रस्वभाव ही है, वास्तविक नहीं है, वैसे ही ब्रह्मा की सृष्टि भी जाग्रत् होने पर भी सुषुप्त के सदृश ही है ॥३९॥ जैसे शिशिर ऋतु के अन्त में (वृक्ष आदि के पत्र गिरने के समय) आगे वसन्त में पत्र, पुष्प आदि के रूप मे होनेवाले तिनके, पत्ते, झाड़ी, लता आदि से युक्त रस अपनी उपादानभूत भूमि में स्थित होता है, वैसे ही परम पद में यानी सच्चिदानन्दघन परब्रह्म में यह सृष्टि स्थित है ॥४०॥ जैसे सोने के अन्दर द्रवत्व विद्यमान है, पर लोगों को दृष्टिगोचर नहीं होता, अग्नि का संयोग होने पर प्रकट हो जाता है, वैसे ही अत्यन्त सूक्ष्म परम पद में यह सृष्टि स्थित है। प्राणियों को उनके कर्मोंका फलभोग कराना ही उसका प्रयोजन है, जब प्राणियों का भोगजनक अदृष्ट उदित होता है, तब यह सृष्टि प्रादुर्भूत हो जाती है। जैसे अंगों का (अवयवों का) गठन आत्मरूप अंगी से अभिन्न है यानी अंगों की अंगी से पृथक् सत्ता नहीं है, वैसे ही आत्मरूप अखण्ड ब्रह्म से यह जगत् भी अनन्य (अभिन्न) है। जैसे स्वप्न में किसी आदमी का किसी दूसरे आदमी के साथ युद्ध हुआ। स्वप्न काल में स्वप्न देखनेवाले के प्रति सद्रूप और अन्य के प्रति असद्रूप भी वह युद्ध स्वप्नद्रष्टा का आत्मा ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही मायाकाश में स्थित आत्मरूप यह जगत् भी मायिक दृष्टि से सत् होता हुआ भी तात्त्विक दृष्टि से असत् ही है ॥४१–४३॥ महाकल्प और सृष्टि के आदि में यह जगत् चित्स्वभाव ही है, असत् पदार्थ ही पीछे कारण में लीन

होता है, वास्तविक नहीं, इससे यह सिद्ध हुआ कि जगत् असत् है, उसका कारण चित् ही महाप्रलय और सृष्टि में रहता है, उससे अतिरिक्त सत् कुछ नहीं है ॥४४॥

सम्पूर्ण जगत् के आकार में परिणत पूर्व–पूर्व हिरण्यगर्भ में अहंबुद्धि की कल्पनारूप उपासना के संस्कार से उत्पन्न स्मृति से कल्पित होने से भी जगत् अधिष्ठानभूत सन्मात्रसे अतिरिक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं।

इस ब्रह्मा के मुक्त होने पर यदि स्मृति से उत्पन्न हुआ अन्य ब्रह्मा हो, तो भी स्मृतिरूप ज्ञान से उत्पन्न सृष्टि में ज्ञप्तिमात्रता है ही ॥४५॥

जैसे अन्यान्य ब्रह्माण्डों में रहनेवाले प्राणियों के अलग–अलग वासना, कर्म आदि हैं, वैसे ही एक नगर में रहनेवालों में प्रत्येक प्राणी के भी वासना कर्म आदि विचित्र हैं, इसलिए स्वप्न के तुल्य जाग्रत में भी क्रम की विलक्षणताका आरोप क्यों नहीं होता ? यानी सभीको भिन्न–भिन्न क्रम से प्रतीति क्यों नहीं होती, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

भगवन्, नगरवासी, मन्त्री आदि सभी को विदूरथ के कुल का क्रम एक–सा ही क्यों प्रतीत हुआ ? इसमें क्या कारण है ?॥४६॥

सृष्टिकर्ता के संकल्प से विहित अन्य जीवों की प्रतीति प्रधान जीव की प्रतीति की अनुवर्तनी हो, इत्याकारक जो नियति है, वही सबको विदूरथकुलक्रम के एक–सा प्रतीत होने में हेतु है, ऐसा कहते हैं।

जैसे छोटे–मोटे वायु के झोंके बड़े बवंडर का अनुसरण करते हैं, वैसे ही सब प्रतीतियाँ मुख्य चित् का ही अनुवर्तन करती हैं ॥४७॥

उसके अनुरूप फल देनेवाला भोक्ता के अदृष्ट का संयोग भी उसमें हेतु है, ऐसा कहते हैं।

सबका एकरूप से सम्पादन करनेवाले अदृष्टने इन सब संविदों का राजा प्रजा, नगरवासी और मन्त्रियोंका परस्पर के अनुसार स्फुरण किया है ॥४८॥ इस प्रकार के उच्च कुल से उत्पन्न हुआ यह हमारा स्वामी है, राजा विदूरथ के नगर के पदार्थ और उनका भोग करनेवाले लोग मानों इस प्रकार स्फुरित हुए थे ॥४९॥

यदि कोई शंका करे कि चित् तो उदासीन है। उसके अध्यस्त पदार्थ प्रतीतिरूप स्फुरण में क्या हेतु है, तो यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें स्फुरण स्वाभाविक है, जिनका स्फुरण स्वाभाविक नहीं है, उन्हीं विषयों के स्फुरण में हेतु का अन्वेषण ठीक है। जैसे उदासीन चिन्तामणि के प्रकाशों के प्रसार में हेतु की अपेक्षा नहीं है, किन्तु उससे विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करने में ध्यान करनेवाले लोगों के मनोरथ की विचित्रता की अपेक्षा है, वैसे ही यहाँ भी है, ऐसा कहते हैं।

चित् के स्फुरण के लिए हेतु खोजने की जरूरत नहीं है, क्योंकि वह स्वभावतः होता है, जैसे महामणि से (चिन्तामणि से) कान्तियों का प्रसार अपने आप होता है, वैसे ही चित् का स्फुरण भी स्वतः होता है। जिन वस्तुओं का स्फुरण स्वतः नहीं होता जैसे कि चिन्तामणि से विविध विचित्र पदार्थों की प्राप्ति। उसमें प्रार्थी लोगों के विचित्र मनोरथों की अपेक्षा होती है यानी चित् के स्फुरण में कोई कारण नहीं है, किन्तु विचित्र पदार्थों के रूप से स्फुरण में जीवों

का अदृष्ट कारण है ॥५०॥

पहले तदनुकूल संकल्पवैचित्र्य की उत्पत्ति भी पूर्वोक्त रीति से ही होती है, ऐसा कहते हैं।

मैं इस प्रकार के कुलाचार में इस प्रकार का राजा होऊँ, यह जैसे चिन्तामणि से कान्ति स्वतः निकलती है, वैसे ही विदूरथरूपी जीव चैतन्य से मनोरथ उत्पन्न हुआ। जिस जिस सृष्टि में जब जब जो जो और जितने जीव हुए होंगे और हैं, वे सब चेतन के सर्वव्यापक होने के कारण अन्योन्य के लिए दर्पणरूप हो गये। भाव यह है कि जैसे दर्पण एक दूसरे के अन्दर पड़े हुए प्रतिबिम्बों को ग्रहण कर लेते हैं, वैसे ही अनेक जीवचैतन्यो में समान विषय के आरोपक्रम से परस्पर के अन्तर्गत प्रतिबिम्बग्राहकता आ जाती है ॥५१,५२॥

ऐसी अवस्था में बिम्ब के रहते प्रतिबिम्ब हटाया नहीं जा सकता, फिर निर्विकल्पतारूप मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी, ऐसी आशंका कर कहते हैं।

पूर्वोक्त जीवसंविदों में जो ही जीवसंवित् यानी ब्रह्माकारवृत्ति तीव्र वेगवाली और विषयदोष से अविचलित होकर मोक्षपर्यन्त एक रूपवाली होती है, वही सर्वोत्कृष्ट परमस्थिरतारूप (ब्रह्मरूप से स्थिरत्वरूप) मोक्ष को प्राप्त होती है अन्य नहीं ॥५३॥ बलवान् चिद्–विलासों की परस्पर अनुवृत्ति से स्वभाव चित्तरूपी आदर्श में अपने आप प्रतिबिम्बित होते हैं। जगदाकार अथवा ब्रह्माकार के जीवचैतन्यप्रतिबिम्बित होने में तीव्रवेगवत्तारूप बलवान् तत्–तत् आकार के चिद्विलास ही नियामक हैं, यह भाव है ॥५४॥

यदि कोई शंका करे कि यदि ऐसी बात है, तो जगत् के प्रति आकर्षण चिरकाल से अभ्यस्त है, उसीमें तीव्र वेग होगा, ऐसी स्थिति में मोक्ष के प्रति आशा दुराशा ही हो जायेगी, इस पर कहते हैं।

यह व्यवहार में सभीको अनुभूत है कि जो वेग किसी प्रकार के प्रयत्न के बिना उत्पन्न होता है, उसकी अपेक्षा प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाला वेग प्रबल होता है, इसलिए प्रयत्न से संपादित ब्रह्माकार वेग ही जगदाकार चिद्विलास पर विजय पाता है। सत्यसंविद् और असत्यसंविद्–इन दोनों में सत्यंसंवितों में ही प्रबलता दिखाई देती है, अतः ब्रह्माकार संवित् ही जगदाकार वेग को ग्रहण कर लेती है, जैसे सागरगामिनी महानदी अपनी सहायक छोटी–मोटी नदियों को अपने अधीन कर लेती है, वैसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिए ॥५५॥

यदि कोई कहे कि भले ही ब्रह्माकार संवित् की, अतिवेगवत्ता होने से, विजय हो, लेकिन जब मन्द अधिकार और मध्य अधिकारवश चित्त स्थिर न होने से बीच–बीच में ब्रह्माकारता और विषयाकारता का उदय होगा, तब दोनों के समबल होने से किसीकी भी जयपराजय की आशा नहीं करनी चाहिए, इस पर कहते हैं।

जो अधिकारी उक्त दोनों आकारों में समानवेगवाले हैं, वे भी दोनों आकारों में सदा समानवेगवाले नहीं रह सकते, किन्तु इन दोनों आकारों में जब एक यानी ब्रह्माकार स्थिर होकर उत्कर्ष को प्राप्त होता है और दूसरा बाह्याकार विलीन हो जाता है, तब वे लोग श्रवण आदि की आवृत्तिरुप प्रयत्न करते हैं। तब उन्हें भी क्रमशः अभ्यास बढ़ने से ब्रह्माकार में तीव्र

वेग का उदय होने एवं विषयाकार के विलीन होने से अन्य का विजय सिद्ध हो जाता है ॥५६॥

इस प्रकार प्रसंगप्राप्त मोक्ष के अभाव की आशंका का निवारण कर जो विषय छिड़ा था उसीका यानी प्रत्येक जीव में सम, विषम सकल विचित्रताओं का ही अवलम्बन कर कहते हैं।

उपाधिवश प्राप्त हुई परिच्छिन्नता का अपने में आरोप करने से परमाणुकणरूप जीवसमूह के प्रति पूर्वोक्त प्रकार की सम, विषम हजारों सृष्टियों के भ्रान्तिवश उत्पन्न होने पर, स्थित होने पर और विनष्ट होने पर वास्तव में किसी जीवरूपी कण को न तो दौड़ धूप करने से कुछ वस्तु प्राप्त हुई और न उदासीन होकर बैठे रहने से ही कुछ वस्तु अप्राप्त हुई। भाव यह कि जो वस्तु है ही नहीं, वह न तो प्राप्ति के योग्य है और न अप्राप्ति के योग्य। अतः (जब कुछ वस्तु है ही नहीं तब) यह सब व्यवधानरहित (निरावरण) शान्त चिदाकाश ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है।यह स्वप्न प्रतीत होता है, ऐसा स्वप्न कि जिसमें विवेकदृष्टि का अभाव है और निद्रा भी नहीं है, इसके अधिष्ठानरूप आत्मा का साक्षात्कार होने पर तो पहले भली भाँति अनुभूत होता हुआ भी यह असन्मय ही हो जाता है ॥५७-५९॥

विवेकदृष्टि से प्रपंच की पृथक् सत्ता का अभाव कह कर मायिक दृष्टि से भी उसकी पृथक् सत्ता नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे पत्ते, फूल, शाखा आदि अंशों से युक्त वृक्ष एकरूप से ही स्थित है, वैसे ही अनन्त सर्वशक्तिरूप परमात्मा एकरूप से ही स्थित है ॥६०॥

जीवों की दृष्टि से भी बोध होने तक ही वह भिन्नरूपवाला प्रतीत होता है, बोध होने पर विस्मृति के कारणभूत अज्ञान के हट जाने से वह एकरूप ही रहता है, ऐसा कहते हैं।

बोध होने तक ही प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण आदि मायिक रूपवाला अविनाशी अज पर (परब्रह्म) जब जान लिया जाता है, तब विस्मृति के हेतु अज्ञान के हट जाने से फिर कभी किसीको भी विस्मृत नहीं होता, एक अद्वितीयरूप से प्रतीत होता है ॥६१॥

माया से भेद के अवभासित होने पर भी शुद्ध की वास्तविक एकरूपता से स्थिति का कोई विरोध नहीं है, इस आशय से उपसंहार करते हैं।

जैसे निर्मल जल चाहे तरंगित हो चाहे निश्चल, दोनों अवस्थाओं में जल के स्वरूप में कोई भेद न आने से एकरूप ही है, वैसे ही साक्षीरुप से अज्ञान को प्रकाशित करनेवाला, दिशा और कालरूपी होता हुआ भी परमार्थरूप से सदा शुद्ध, जिसमें सम्पूर्ण विकारों के उदय और नाश नहीं रह गये हैं ऐसा आत्मरूप पदार्थ आदि, अन्त और मध्य से रहित होकर एकरूप से स्थित है॥६२॥ केवल विशुद्ध बोधमात्रस्वरूपवाले ब्रह्म की स्वरूपभूत विभा (प्रकाश) ही जैसे आकाश में उसकी अपनी शून्यता (आकाश की शून्यता) ही तन्मलिनता, मोतियों के समूहरूप, बालों के वर्तुलाकार गोले की आकारता और बड़े-बड़े कड़ाहों की आकारता से प्रतीत होती है, वैसे ही द्वैत और ऐक्यविषयक संकल्पविकल्प करनेवाले मन से और उसके मूलभूत अविद्या, काम, कर्म, वासना आदि वश 'अहं मम त्वं तव' इत्यादि जगत् के रूप से प्रतीत होती है ॥६३॥

साठवाँ सर्ग समाप्त

इकसठवाँ सर्ग

तत्त्वज्ञान प्राप्तिरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए एवं जगत् के पदार्थों में
वैराग्य होने के लिए सृष्टि की असारता और असत्यता का अन्यान्य युक्तियों द्वारा वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, परब्रह्म को मैं देह हूँ, इत्याकारक अहंभाव से रहित देह में अहंभाव के कारण के बिना भी 'अहम्' ऐसी भ्रान्ति और परमाणु तथा क्षण के मध्य में इस जगत् की, जो कि बड़ा विस्तृत और चिरकालव्यापी प्रतीत होता है, स्थिति का कोई कारण नहीं है, फिर भी उसमें 'जगत्' ऐसी भ्रान्ति जैसी कल्पना और युक्ति से उदित होती है, इसे आप मुझसे फिर ऐसे ढंग से कहिये कि मेरी समझ में आ जाय ॥१॥

यद्यपि 'महाकल्पान्तसर्गादौ चित्स्वभावमिदं वपुः' इत्यादि से इसे आप कह चुके हैं, तथापि जिन युक्तियों के द्वारा ठीक ठीक समझ में आ जाय, उन युक्तियों से मुझसे कहिये, यह भाव है। जितनी भी भ्रान्तियाँ हैं, वे सब स्वरूपचैतन्य के मध्य में सन्निविष्ट हैं, इसी मुख्य युक्ति को पहले श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि ज्ञानी सब प्रकार की सकल भ्रान्तियों को स्वरूपचैतन्य के अन्दर ही स्थित सदा जानता है, कभी भी उससे अतिरिक्त कोई भी भ्रान्तियाँ नहीं है, अतः सब सर्वात्मक ही है। वह समता ही है। सबके सर्वात्मक होने पर तनिक भी विषमता शेष नहीं रहती। जब विषमता नहीं है, तब जन्म आदि विकारों की उपपत्ति कहाँ ? इसलिए अज (परमात्मा) ही वस्तुतः है, इस जगत् की भ्रान्ति कारण बिना हुई है, ऐसा जो कहा, वह ठीक ही कहा, यह भाव है ॥२॥

यदि किसीको यह शंका हो कि चैतन्य के अन्दर प्रतीत होनेमात्र से सब पदार्थों की सर्वात्मता कैसे सिद्ध हो सकती है ? उसका उत्तर यह दिया जाय कि एकमात्र चित् के (चैतन्य के) तादात्म्य से पदार्थों का स्फुरण होता है, अतः सब पदार्थ सर्वात्मक (चैतन्यात्मक) हैं, तो यह उत्तर भी ठीक नहीं जँचता, क्योंकि घटज्ञान, पटज्ञान इस प्रकार विभिन्न विषयों के तादात्म्य से चैतन्य में भी भेदज्ञान होता है, अतः वह भी भिन्न हो जायेगा, इस आशंका के समाधान के लिए कहते हैं।

चित् का भेद नहीं है। सब बोध, चाहे वे अर्थों के हों चाहे शब्दों के, ब्रह्म ही है। चित् भी ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है। विषयनिष्ठ भेद के सम्बन्ध से चित् में भेद प्रतीत होता है, विषय का निस्सारण होने पर चित् में भेद नहीं रहता।

शंका – उक्त अनुभव में विषयाकारता की प्रतीति होती है, अतः उसमें विषय के तुल्य भेद क्यों नहीं होता ?

समाधान – सम्पूर्ण विषयरूप शब्दार्थ और उनके अवयवरूप जो तत्–तत् आकार हैं, वे बोधों के नहीं हैं, क्योंकि चित् में जड़ आकार के रहने में कोई युक्ति नहीं है। जो आकार अनुभव में आता है, वह वृत्ति का ही है; बोधों का नहीं, यह तात्पर्य है ॥३॥

पूर्वोक्त रीती से चिद् में भेद का निरास होने पर जड़ के भेद का निरास करना भी कठिन नहीं है, क्योंकि जड़ भेद की सत्ता और स्फूर्ति चित् से अतिरिक्त नहीं है, ऐसा दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

जैसे कटकता सुवर्ण से पृथक् नहीं है और जैसे तरंगता जल से पृथक् नहीं है, वैसे ही जगत् भी ईश्वर से पृथक् नहीं है ॥४॥

जगत् के चित् से अभिन्न होने पर भी यदि कोई प्रश्न करे कि कारण के बिना जगत् कैसे उत्पन्न हुआ उसके उत्तर में यही कहना होगा कि जैसे कटक आदि का कनक कारण है, वैसे ही जगत् का कारण चित् है, इस शंका पर कहते हैं।

ईश्वर (चित्) ही जगद्–रूप हुआ है, यह जगत् ईश्वर का विवर्त है। यदि जगत् का ईश्वर से भेद होता, तो ईश्वर उसके प्रति कारण नहीं हो सकता, यह भाव है।

शंका – तो क्या जगद्रूप ही ब्रह्म है।

समाधान – नहीं, ईश्वर में जगद्रूप ही नहीं है। भाव यह कि विवर्त की पृथक् सत्ता नहीं होती। इसी प्रकार कटक कुण्डल आदि भी सुवर्णात्मक ब्रह्म के विवर्त ही हैं, सुवर्ण में कटक आदि पृथक् नहीं हैं, क्योंकि विवर्तकी पृथक् सत्ता नहीं होती, यह ऊपर कहा गया है ॥५॥

यदि कोई शंका करे कि एक की अनेकात्मता में विरोध होगा, तो उस पर समानसत्तावाले अनेक अवयवों के साथ एक अवयवी का समानसत्तावाला तादात्मय लोक में जब विरुद्ध नहीं है, तब कल्पित (न कि वास्तविक) अनेकों से वास्तविक ब्रह्मैक्य अविरुद्ध है, इसमें तो कहना ही क्या ? इस आशय से कहते हैं।

जैसे अनेक अवयवों का समुदायभूत अवयवी का रूप लोक में अविरुद्ध है, वैसे ही अनवयवभूत यानी नित्य चित् की एकात्मता कल्पित अनेक रूपों से अविरुद्ध है। एकात्मा होने पर सबको सर्वात्मता का लाभ होने से अनेकता हट जाती है, इससे भी विरोध का अभाव ही है ॥६॥

तो सबके अनुभव से सिद्ध 'जगत्' और 'अहम्' ऐसी भेदप्रतीति कैसे होती है ? इस पर कहते हैं।

सब प्राणियों में अन्दर स्थित समानकालिक जो ब्रह्मस्वरूपमात्र का अज्ञान है, वही परम ब्रह्म में 'जगत्' और 'अहम्' इस प्रकार भेद से प्रतीत होता है यानी यह भेदप्रतीति अज्ञानकल्पित है, वास्तविक नहीं है ॥७॥ जैसे स्फटिकशिला के भीतर, भेद न होने पर भी प्रतिबिम्बित वनपंक्तियों की स्थिति विरुद्ध नहीं है, वैसे ही चिद्घन परब्रह्म में उससे अभिन्न 'जगत्' और 'अहम्' भेदप्रतीति विरुद्ध नहीं है। भाव यह कि स्फटिकशिला में प्रतिबिम्बरूप वनपंक्तियाँ स्फटिकशिला से अतिरिक्त नहीं है, फिर भी भेद से उनका सन्निवेश उनमें प्रतीत होता है, जिसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है, वैसे ही ब्रह्म से अभिन्न ही यह जगत् ब्रह्म में भेद से प्रतीत होता है ॥८॥ जैसे तरंगशून्य जल के अन्दर तरंगें स्थित हैं, वैसे ही सृष्टिशब्दार्थ से शून्य परब्रह्म के अन्दर सृष्टियाँ स्थित हैं ॥९॥

यदि किसीको यह जिज्ञासा हो कि जैसे विलीन तरंगें महाजल में अवयवरूप से रहती हैं अथवा अवयवी समवायसम्बन्ध से अवयवों में रहता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् की स्थिति तो नहीं है ? इस पर कहते हैं।

न तो सृष्टि में समवायसम्बन्ध से परब्रह्म रहता है और न सृष्टि ही अवयवरूप से परब्रह्म में रहती है। वास्तव में अवयव और अवयवी में भी परस्पर की आधारता उत्पन्न नहीं होती है। विचार कीजिए, अवयवों में समवायसम्बन्ध से रहता हुआ प्रत्येक अवयव में सर्वांश से रहता है अथवा कुछ अवयवों को लेकर ? प्रथम पक्ष में प्रत्येक अवयव में अलग–अलग अनेक अवयवी हो जायेंगे। ऐसी स्थिति में गाय के कान में भी सम्पूर्ण गाय रहेगी, अतः उसके दोहन आदि कार्य होने लगेंगे और अवयवों का विश्लेषण होने पर भी अवयवी का जाति के समान नाश नहीं होगा। दूसरे पक्ष में अनवस्था से अनन्त अवयव होने के कारण मेरु और सरसों में साम्य हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि जब प्रत्येक अवयव में कुछ अवयवों को लेकर अवयवी रहता है, ऐसा यदि माना जाय, तो जिन अवयवों को सद्भाव मानना पड़ेगा, फिर उन उन अवयवों में भी मानना होगा, ऐसी स्थिति में अनवस्थित अनन्त अवयव मानने होंगे, फलतः मेरु और रसों में समान परिमाण की प्रसक्ति होगी, क्योंकि दोनों के अवयव अनन्त हैं। इसी प्रकार अवयव भी अवयवी में क्या एक भाग में रहते हैं या सर्वांशमें ? पहले पक्ष में अनवस्था दोष होगा। द्वितीय पक्ष में अन्य अवयवों का समावेश न होने से तथा अद्वितीय ब्रह्म में अवयवों का सम्बन्ध नहीं होने से सम्पूर्ण द्रव्यों की निरवयवत्वापत्ति हो जायेगी, इसलिए अवयव और अवयवी की अनवयवों से ही यह सत्ता है, यह सिद्धान्त है ॥१०॥

दृष्टि–सृष्टिवाद के उपपादनक्रम से भी जगत् की चित् से अभिन्नता का अनुभव श्रीवसिष्ठजी करा रहे हैं यद्यपि चैतन्य निष्क्रिय (व्यापारशून्य) है, तथापि अविद्या में उसके प्रतिबिम्बित होने से वह अन्यथा अपनी कल्पना करता है, ऐसा कहते हैं।

परमार्थ चिद्रूप ब्रह्म, दर्पण में आँखों का प्रतिघात होने से अपने मुँह की नाईं, अविद्या में प्रतिबिम्बित अपनी संवित् से अपने चिन्मात्रस्वरूप प्रपंच के रहस्यभूत अज्ञानावृत अपने स्वरूप की ही ऐसी कल्पना करता है, जैसे कि वायु अपने में स्पन्द की कल्पना करता है ॥११॥

उसी समय अपने कारण में लीन हुए शब्दतन्मात्रा का आकाशरूप से आविर्भाव होता है।

यह शब्दतन्मात्रा, जो पहले अपने कारण में लीन थी, सर्वशक्तिमती माया से संवलित ब्रह्मरूप को धारण कर चित्त से अन्तःकरण में उसी क्षण में संकल्प के समान चिद्रूप आकाश के तुल्य स्फुरित होती है, वही आकाश की उत्पत्ति है ॥१२॥

वही (आकाशता को प्राप्त हुआ ब्रह्म ही) स्वयं अपने में स्वसत्तात्मक वायुता का, जिसके अन्दर स्पर्शतन्मात्रा का संस्कार उद्बुद्ध हो गया, ऐसे अनुभव करता है, जैसे कि पवन अपने में स्वयं स्पन्दता का (स्पन्दनक्रिया का) अनुभव करता है ॥१३॥ पवनात्मा को प्राप्त हुआ ब्रह्म ही स्वयं अपनी सत्तात्मक तेजस्ताको, जिसके मध्य में तेजस्तन्मात्रा का उन्मेष हो चुका है, ऐसे प्राप्त होता है, जैसे कि तेज स्वयं प्रकटता को प्राप्त होता है ॥१४॥ तेजस्ता को प्राप्त

हुआ ब्रह्म ही स्वयं निजसत्तात्मक जलत्व को, जिसके अन्दर रसतन्मात्रा स्थित है, ऐसे प्राप्त होता है, जैसे जल स्वयं द्रवता को प्राप्त होता है ॥१५॥

यदि कोई शंका करे कि जिस क्षण में नेत्रों के पलक खोलते हैं, उसी क्षण में तुरन्त ही जगत् का भान होता है। इस भान में आरोपक्रम की प्रतीति नहीं होती, ऐसी अवस्था में दृष्टिसृष्टि की उपपत्ति कैसे ? इस पर कहते हैं।

यह चित् का चमत्कार ऐसा है कि इसकी प्रतीति का तराजू में जोखे हुए की नाईं कठिनाई से लक्ष्य करने योग्य निमेष के लाखवें हिस्से के तुल्य है, इस तरह का भी जो संवित् का जगदाकार स्फुरण है, वह करोड़ों कल्पों तक रहनेवाली सृष्टियों की परम्परा बन जाता है। चित् के स्फुरण में काल से अपरिच्छिन्न निमेष के लक्षतम (लाखवें) हिस्से का आरोप अथवा करोड़ों कल्पों का आरोप मायिक है, इसलिए वास्तविक में उसमें कोई विरोध नहीं है, यों आरोपक्रम की कल्पना हो सकती है, यह भाव है ॥१६,१७॥

जो अशुद्ध, जड़, देश और काल से परिच्छिन्न, दोषयुक्त, उत्पत्तिविनाशशील और काल में स्थित है, वह काल से परिच्छिन्न होता है, ब्रह्म तो ऐसा है नहीं, इसलिए कहते हैं।

एक बार प्रकाशित न कि बीच बीच में रुक रुककर प्रकाशित यानी नित्य स्वप्रकाश, सृष्टि और प्रलय जिसके अन्तर्गत हैं, जन्म और विनाश से रहित तथा विक्रिया आदि दोषशून्य ब्रह्म निराधार स्थित है ॥१८॥

यदि कोई कहे कि उसके मध्य में यदि सृष्टि और प्रलय निहित है, तो अपवर्ग भी सृष्टियुक्त या प्रलययुक्त, यों विविध प्रकार का होना चाहिए, एक प्रकार का नहीं, इस पर कहते हैं।

परमार्थ सत्य वस्तु के ज्ञात होने पर अपवर्ग होता है। उक्त परमार्थ वस्तु सृष्टियुक्त होने पर भी विषमता से रहित ही है। यदि उसका परिज्ञान न हो, तो परमार्थतः सृष्टिशून्य भी वह सृष्टिरूप होती है ॥१९॥ चैतन्यरूप जो ब्रह्म है, उसको ज्ञानी लोग अपने आत्मरूप से अपने में जैसा जैसा जानते हैं, वैसा–वैसा यानी उस उस प्रकार का वह ब्रह्म आत्मा में होता है यानी माया से तत् तत् सब आकारों को धारण करता है, क्योंकि वह सर्वानुगुण मायारूप शक्ति से युक्त है ॥२०॥

जगत् भी यदि शास्त्रीय चिद्विलासरूप दृष्टि से देखा जाय, तो परमार्थ सत्य ब्रह्म ही है। ब्रह्म भी यदि बहिर्मुख चक्षु आदि और मन से उत्पन्न वृत्ति से देखा जाय, तो असत्य जगत् ही है ऐसा कहते हैं।

यदि जगत् परमार्थदृष्टि से देखा जाय, तो चिद् का विलास होने से तथा चित्यानुभवरूप होने से वह सत्य ही है। यदि ब्रह्म भी मन से संयुक्त ज्ञानेन्द्रियों से देखा जाय, तो वह भी असत्य ही है, क्योंकि वह सम्पूर्ण नामों को प्राप्त हुआ है। भाव यह है कि वाणी के अगोचर ब्रह्म का वाणी का गोचर वह रूप सत्य नहीं हो सकता ॥२१॥ जैसे वायु में चलन से पहले असत् के तुल्य वायु में आविर्भाव होने से सत् के तुल्य स्थित है, चलन के समय वायु की सत्ता का परिज्ञान होने से सत्य वायु में केवल स्थिरता से रहने के कारण असत्य–सा स्थित रहता है,

वैसे ही यह सृष्टि भी असत्रूप मूल अज्ञान में अधिष्ठानसत्ता से सत्कल्प तथा सत्य भी अधिष्ठान में असत्य मायारूप होने से असत्य सी स्थित है ॥२२॥ जैसे तेज के अन्दर आलोकता (चमक) अनन्य (अभिन्न) होती हुई भी भिन्न प्रतीत होती है, वैसे ही चिद्घन ब्रह्म में असत्यरूप विश्व की शोभा सत्य प्रतीत होती है ॥२३॥ जैसे खिलौना बनाने के लिए तैयार की गई गीली मिट्टी में न बनाये गये खिलौने रहते हैं, जैसे खिलौने बनाने के लिए प्रस्तुत काठ में खिलौने स्थित हैं और जैसे स्याही के चूर्ण में अक्षर स्थित रहते हैं, वैसे ही परब्रह्म में सृष्टियाँ स्थित हैं। ब्रह्मतत्त्वरूप मरुभूमि में त्रिजगत्रूपी मृगतृष्णा यद्यपि असत्य है, फिर भी मायावश सत्य-सी प्रतीत होती है यानी जैसे मरुभूमि में मृगतृष्णा अनन्य (अभिन्न) होती हुई भी अन्य-सी स्फुरित होती है वैसे ही ब्रह्मतत्त्व में असत्य भी यह त्रिजगत् सत्य प्रतीत होता है ॥२४,२५॥ भ्रमवश चिदाभासरूप जीव बना हुआ ब्रह्म सर्ग को ही अपना आत्मा जानता है और तत्त्वदृष्टि से परब्रह्म से अनन्य (अभिन्न) होने के कारण नहीं जानता है, जैसे कि बीज अपने अन्दर स्थित वृक्ष को नहीं जानता ॥२६॥ जैसे दूध में मिठास, मिर्चे में कडुवापन, पानी में तरलता (द्रवता) और वायु में चलन अभिन्नरूप से रहता है, वैसे ही परमात्मा में यह असत् विनाशिस्वरूप सर्ग चिद्रूप होकर स्थित है। यद्यपि यह परमात्मा से भिन्न नहीं है, तथापि अज्ञानवश भिन्न-सा लगता है। परब्रह्मरूपी सर्ग का जगत् के रूप से जो स्फुरण हुआ है, यह अकारण है, इसलिए वह ब्रह्मरूपी मणि से भिन्न नहीं है ॥२७-२९॥

यदि यह जगत् अकारण ही है, तब तो उत्पन्न ही नहीं हुआ, फिर उसका अनुभव कैसे होता है ?

वासना, चित्त, जीव आदि का अनुभव उत्पन्न हुआ है।

शंका – उसके उदय न होने का क्या उपाय है ?

समाधान– मन का नाश होने से वह उदित नहीं होता यानी मनोनाश ही उसके अनुदयका हेतु है।

शंका–मनोनाश कैसे होता है ?

समाधान– मनोनाश ज्ञानयोग में दृढ़ अभ्यासरूप पुरुषप्रयत्न से होता है ॥३०॥ कोई भी वस्तु कहीं भी और कभी भी न तो पैदा होती है और न नष्ट होती है। सब शान्त अविनाशी चिद्घन शिला के समान ठोस ब्रह्म ही है, इस श्लोक से अभिनयपूर्वक ज्ञानयोग का आकार दर्शाया ॥३१॥

जब तक चित्त रहेगा, तब तक परमाणु के पेट में भी सृष्टि की परम्परा का निवारण नहीं किया जा सकता, ऐसा कहते हैं।

परमाणु में चित्त से भ्रान्तिमय हजारों सृष्टियों के समूह के समूह उत्पन्न होते हैं, उनमें भी प्रत्येक परमाणु में सृष्टियाँ होती हैं, पर परमाणु के अन्दर सृष्टियों के समूह की समावेशपूर्वक स्थिति कैसे हो सकती है ? यानी परमाणु के अन्दर सृष्टियों के समूह की स्थिति असंभव है। वह कभी किसी प्रकार भी युक्त नहीं है, अतः मिथ्या ही है, यह अर्थ है ॥३२॥

अनिर्वचनीय मायाशक्ति के रूप से स्थिति तो तरंग आदि दृष्टान्त में भी समान है, ऐसा कहते हैं।

जैसे जल के भीतर तरंग आदि गुप्त और अगुप्त रहते हैं, वैसे ही जीव में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि शक्तियाँ भीतर स्थित हैं ॥३३॥

यदि पुरुष की भोगों के प्रति तनिक भी अरूचि हो गई, तो वह उतने से ही ऊँचे पद को प्राप्त हो गया, ऐसा श्रुति कहती है। स्मृति को भी उद्‌घृत करते हैं।

पुरुष जैसे–जैसे विरक्त होता है वैसे वैसे मुक्त होता है, इसलिए (ज्ञान–वैराग्य की दृढ़ता से) 'अहम्' इस प्रकार देह आदि का ज्ञान न करता हुआ यानी उनको न देखता हुआ कौन जन्ममरण भ्रान्ति को प्राप्त होगा, कोई भी नहीं ॥३४,३५॥ जो लोग परा (ईश्वर–चैतन्यरूप) अपरा (जीवचैतन्यरूप) क्रमशः ईश्वरचैतन्यरूप परा चिति को नामरूपात्मक जगत्कल्पनारूप उपाधि से रहित और जीवचैतन्यरूप अपरा चिति को चराचर देह आदिरूप निकृष्ट उपाधियों से शून्य और जन्म आदि विकारों से शून्य जानते हैं, वे संसारपर विजय पाते हैं यानी मुक्त हो जाते हैं ॥३६॥

परब्रह्म में व्यष्टि जीवरूप प्रकट अद्वितीय 'चिति' ऐसे रहती है, जैसे द्रवभूत जल के अन्दर आवर्त की रेखा रहती है, वही अहंकार से युक्त होकर इन जगतों को धारण करती है, परमात्मा में न तो जगत् सद्रूप है और न असद्रूप है। व्यष्टि के तुल्य समष्टि में भी अहंकार और संकल्प से–इन दोनों के कारण ही–अपने भीतर संसार की कल्पना होती है, ऐसा दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं ॥३७॥

अहंकारमयी पद्मयोनि की भावनारूपी चिति संकल्प के भेद से जगत् की रचना करती है।

शंका – समष्टि चिति में व्यष्टि चिति की अपेक्षा क्या विशेष है ?

समाधान – समष्टिचिति हम लोगों के समान बहिर्मुख नहीं है, किन्तु अन्तर्मुख ही है, अनन्त (विष्णु) भगवान् के निमेष के करोड़वें हिस्सेरूप काल में युगान्तरूप (बहत्तर हजार यानी सात करोड़ बीस लाख दिव्यवर्षरूप) अपनी आयु का अनुभव करती है, अहो माया क्या नहीं कर सकती ! ॥३८॥

इकसठवाँ सर्ग समाप्त

बासठवाँ सर्ग

पहले जगत् की भ्रान्तिमात्रताका वर्णन तदुपरान्त जीवन्मुक्ति आदि की
सिद्धि के लिए महानियति का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, परमाणु के लाखवें हिस्से की कल्पनामें हजारों ब्रह्माण्ड और निमेष के लाखवें हिस्से की कल्पना में हजारों कल्प दिखाई दे रहे हैं जो इस ब्रह्माण्ड के समान ही सर्वथा सत्य–से प्रतीत होते हैं ॥१॥ उनमें भी हर एक के अन्दर प्रत्येक परमाणु में इसी प्रकार की ब्रह्माण्डकल्पना और कल्प–कल्पना होती है, फिर उनके अन्दर

इस प्रकार इस कल्पना की कहीं समाप्ति नहीं है, यह अनन्त है, अतएव यह भ्रान्ति ही है, वह भ्रान्ति ही जगद्रूप से भासित हो रही है। वर्तमान, आनेवाली और अतीत सृष्टि–परम्पराएँ, जैसे जलराशि अपने अन्दर आवर्तों की परम्पराओं को धारण करती है तथा बहती है वैसे ही प्रातिभासिक सत्ता को धारण करती हैं और बहती हैं ॥२,३॥ इस महामरुरूपी जगत् में जैसे मरूभूमि में तटवर्ती वृक्षों और लताओं से गिरे हुए फूलों की कतार से भरी हुई मिथ्या नदी प्रतीत होती है, वैसे ही सृष्टि शोभा भी मिथ्या ही है यानी मरूभूमि में पहले जलनदी ही मिथ्या है फिर उसके तटवर्ती वृक्ष और लताएँ एवं उनके द्वारा बरसाये गये फूलों का समुदाय कहाँ ? सारी की सारी परम्परा मिथ्या है, वैसे ही यह सृष्टिशोभा भी मिथ्या परम्पराओं से पूर्ण है ॥४॥ स्वप्न और इन्द्रजाल के नगर के तुल्य, औपन्यासिक नगर और पर्वत के तुल्य, मनोरथ से कल्पित पुर और पर्वत के सदृश अथवा संकल्प के तुल्य असत्य ही यह सृष्टियों के अनुभव की भूमि प्रतीत होती है ॥५॥

तत्त्वज्ञान होने से सम्पूर्ण भ्रान्तियों के निवृत्त होने पर तत्त्वज्ञानियों की देहस्थिति का संभव नहीं है, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ, पूर्वोक्त प्रकार के सम्यक् विचार से एक अद्वितीय ब्रह्म के अभेद से निर्विकल्प आत्मज्ञान होने पर तत्त्वज्ञानियों के भी शरीर यहाँ पर किसलिए रहते हैं ? यदि कहिये दैव से आक्रान्त राजा बलि आदि के समान वे यहाँ रहते हैं, तो वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि तत्त्व–ज्ञानियों के ऊपर दैव की क्या दाल गल सकती है, क्योंकि 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' (तत्त्वज्ञानी पुरुष का अकल्याण करने में देवता समर्थ नहीं होते क्योंकि वह देवताओं का आत्मभूत ही है) यह श्रुति तत्त्वज्ञानी के विषय में देवताओं की असामर्थ्य कहती है। कृपया बतलाइए कि उनके शरीरों की स्थिति में कौन प्रबल कारण है ? ॥६,७॥

प्राणियों की अदृष्ट शक्ति को साथ लेकर ईश्वरसंकल्परूप महानियति ही जैसे सम्पूर्ण व्यवहारों की व्यवस्था करती है, वैसे ही वही विद्वानों (ब्रह्मवेत्ताओं) के शरीर की भी स्थिति में कारण होती है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, यहाँ पर सम्पूर्ण जगत् के सुव्यवस्थित व्यवहार से रूपवती–सी ब्राह्मी चित्शक्ति है, जिसे नियति कहते हैं, वह अवश्यम्भाविनी और सम्पूर्ण कल्पों में रहनेवाली है ॥८॥

वह महानियति कबसे है और कैसे उसका रूप है ? इस पर कहते हैं।

सृष्टि के आदि में (अग्नि) आदि को इस प्रकार से (उष्णता, ऊर्ध्वज्वलन आदि स्वभाव से) सदा रहना चाहिए यों परमात्मा ही स्वयं संकल्पात्मवृत्तिरूप पदार्थवैचित्र्य को अप्रतिहतरूप से प्राप्त होता है, वही नियति है ॥९॥ वही नियति परमात्मा से अभिन्न होने से सम्पूर्ण जगतों की स्थिति, प्रकाश–सामर्थ्य, विवेक, क्रिया, जन्म, अर्थक्रिया आदि की हेतु होने से क्रमशः महासत्ता, महाचिति, महाशक्ति, महादृष्टि, महाक्रिया, महोद्भव, महास्पन्द नामों से कही

जाती है। सब जगत् इस प्रकार तृणों के समान परिवर्तित होते हैं, क्रूर स्वभाववाले दैत्य, सौम्य आकारवाले देवता, विशालाकार पर्वत, सर्प आदि यों उसने कल्पपर्यन्त व्यवस्था कर रक्खी है ॥१०-१२॥

परमार्थ दृष्टि से ब्रह्मसत्ता के समान व्यवहार में वह भी अव्यभिचरित है, ऐसा कहते हैं।

यद्यपि ब्रह्मसत्ता का व्यभिचार और आकाश में चित्रलेखन अत्यन्त असंभावित है तथापि उसका कभी (अज्ञानावस्था में) अनुमान हो सकता है, परन्तु नियति की स्थिति विपरीत हो, इसका तो अनुमान करना भी संभव नहीं है ॥१३॥

यह बात व्यावहारिक दृष्टि से कही गई है, तात्त्विक दृष्टि से तो ब्रह्म, नियति और सर्ग शब्द के अर्थ में कोई भेद नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

तत्त्वज्ञानी विरंचि आदि अज्ञानियों के बोध के लिए ब्रह्म ही वह नियति और यह सर्ग है, ऐसा कहते हैं ॥१४॥

यदि कोई शंका करे कि ब्रह्म अचल है और सृष्टि चंचल है, इसलिए उन दोनों की एकता कैसे हो सकती है ? उस पर कहते हैं।

जैसे आकाश में वृक्ष आकाश को पूर्ण करके स्थित है, वैसे ही यह सृष्टि आदि, मध्य और अन्तरहित तथा अचल ब्रह्म को पूर्ण करके स्थित है, अज्ञ की दृष्टि से चल के सदृश दिखाई देती है ॥१५॥

यदि कोई कहे कि हिरण्यगर्भ ने इस नियति को कैसे जाना, जिससे कि उन्होंने नियति के अनुसार ही सृष्टि की ? इस पर कहते हैं।

जैसे स्फटिकशिला के अन्दर प्रतिबिम्बित वनपंक्तियाँ रहती हैं, वैसे ही मायाशबल ब्रह्म में स्थित हिरण्यगर्भ ने जैसे सोया हुआ पुरुष अपने में स्वाप्नकल्पना के आधार आकाश को देखता है, वैसे ही नियतिरूपी भावी सृष्टि को देखा ॥१६॥ जैसे अंगी देह में अंगों को देखता है, वैसे ही हिरण्यगर्भ चित्स्वभाव होने के कारण नियति, आदिसृष्टि आदिरूप अंगों को देखता है ॥१७॥ दैव नाम से प्रख्यात यह (नियति) जो मोह से अभिभूत न होने से शुद्ध ईश्वरसंकल्परूप है, जगत् की व्यवस्थारूप से भूत, भविष्य एवं वर्तमान काल में स्थित सम्पूर्ण पदार्थों को खूब आक्रान्त कर स्थित रहती है ॥१८॥ अमुक पदार्थ में इस प्रकार स्पन्द होना चाहिए, अमुक को भोक्तृता पद प्राप्त होना चाहिए, इससे इस प्रकार अवश्य होना चाहिए, इस प्रकार दैव ही नियति है ॥१९॥ यही (महानियति ही) पुरुषचेष्टा, सम्पूर्ण तृण, पेड़, पौधे, झाड़ियाँ आदि है, यही सम्पूर्ण पृथिवी, जल, तेज वायु आकाश-पाँच भूतस्वरूप जगत् है और यही काल, क्रिया आदि स्वरूप है ॥२०॥ इससे पुरुष की अदृष्टसम्बन्धिनी सत्ता (फलावश्यम्भावरूप स्थिति) लक्षित होती है। जब तक तीन भुवन हैं, तब तक यह व्यवस्था है। प्रलय होने के पश्चात् ये दो सत्ताएँ एकात्मता से (अभेद से) स्थित होती हैं ॥२१॥ मनुष्य को अपने पौरुष से ही नियति सत्ता और पुरुषअदृष्ट सम्बन्धिनी सत्ता दोनों सत्ताओं को बनाना चाहिए। नियति और पौरुष भी इसी प्रकार प्राणी के अदृष्ट से निर्वाह्य हैं, इस क्रम से

इस प्रकार की नियति स्थित है ॥२२॥

बहुत क्या कहें, आपके शिष्यभाव से पूछने में मेरे द्वारा उपदिष्ट अर्थ के अनुष्ठान में भी नियति ही कारण है, ऐसा कहते हैं।

हे रामजी, आपको मुझसे पूछना चाहिए, इस विषय में भी दैवपौरुषनिर्णय ही हेतु है। आपको मेरे द्वारा उक्त पौरुष का पालन करना चाहिए, यह भी नियति कृत ही है। जो मुझे दैव खिलायेगा, इस प्रकार कोई मनुष्य दैव का अवलम्बन कर पौरुष प्रयत्न को न कर अजगर की वृत्ति धारण कर चुपचाप बैठा रहता है, वह भी उसके अनुरूप पूर्व जन्म के कर्मों से उद्बोधित नियति के कारण ही होता है, यह निश्चय है ॥२३,२४॥ यदि पहले भी कोई पुरुष निर्व्यापार ही रहेगा, तो बुद्धि नहीं होगी, बुद्धि से होनेवाले कार्य भी नहीं होंगे, कार्य से होनेवाले विकार नहीं होंगे और विकारों के गाय आदि से शरीरों के आकार नहीं होंगे। इस विषय में श्रुति भी प्रमाण है– 'यर्ह्येतन्न कुर्यात् क्षीयेत ह' (यदि कर्म न करेगा तो क्षीण हो जायेगा) इस प्रकार पुरुषकर्ममूलक ही कल्पपर्यन्त व्यवहारस्थिति होनी चाहिए, इस प्रकार नियति के कारण ही सब पदार्थ स्थित हैं, यह अर्थ है ॥२५॥ इसकी स्थिति ऐसी ही होनी चाहिए इस प्रकार की अवश्यभवितव्यतारूप नियति का रूद्र आदि की बुद्धि द्वारा भी उल्लंघन नहीं किया जा सकता ॥२६॥ बुद्धिमान् पुरुष ऐसा निश्चय कर पौरुष का कभी त्याग न करे, क्योंकि नियति पौरुषरूप से ही नियामिका होती है, यानी पूर्वजन्मों में किया गया पौरुष ही वर्तमान जन्म में नियतिरूप होकर 'इसे ऐसा ही होना चाहिए' ऐसा नियम करता है ॥२७॥

यद्यपि नियति और पौरुष शब्द का एक ही अर्थ है, फिर भी उपाधिभेद से उनमें भेद व्यवहार होता है, ऐसा कहते हैं।

पुरुष के प्रयत्नरूप से अविवक्षित (अनिच्छित) केवल ईश्वर के संकल्पमात्र से नियति कही जाती है, वही पुरुषप्रयत्न से सृष्टिफल से उपहित होकर पौरुष कही जाती है, क्योंकि पुरुष के प्रयत्न के आकार में परिणत न हुई नियति निष्फल है और पौरुषात्मिका सफल है। भाव यह है कि नियति पुरुषार्थ रूप फलप्रदान में असमर्थ है, अतः निष्फल है और पौरुष पुरुषार्थरूप फलप्रदान में समर्थ है अतः सफल है ॥२८॥

यदि कोई शंका करे कि जो पुरुष पौरुषशून्य होकर अजगरवृत्ति से रहे, उसको भी तो तृप्ति आदि फललाभ होता है, ऐसा देखा गया है, इस पर कहते हैं।

सचमुच देखा गया है, तथापि मुँह में ग्रास डालने और निगलने आदि कर्म से ही देखा गया है, जो नियति से मुझे तृप्ति हो जायेगी, यों सोचकर मूक बनकर अकर्मण्य होकर पौरूषशून्य रहता है, वह कदापि तृप्त नहीं हो सकता। जो वह क्षुधासे व्याकुल होकर कुछ काल तक जीता है, वह प्राणचलन आदि पुरुषप्रयत्न से ही जीता है। पौरुष के बिना कदापि तृप्ति आदि नहीं हो सकते, यह भाव है ॥२९॥ यदि निर्विकल्प समाधि में चित्त को शान्तिप्रदान करनेवाला प्राणनिरोध करता रहता है और उस प्रयत्न से साधु (तत्त्वज्ञानी) होकर यदि मुक्ति पा जाता है, तो वह मुक्तिप्राप्ति भी प्राणनिरोध आदि पौरुष का ही फल है, इसलिए पौरुष के बिना

किसी भी फल की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥३०॥ इसलिए शास्त्रीय पौरुष में तत्पर होना श्रेयका कारण होने से साधनरूप से श्रेयस्कर है और अत्यन्त अकर्मण्यतारूप मोक्ष फलरूप से श्रेय है–इन फल और साधनरूप श्रेयों की अपेक्षा ज्ञानियों का पक्ष सबल है, यानी कार्यसहित अविद्या के विनाश में समर्थ है, इस तरह दुःखरहित ही उनकी नियति है ॥३१॥ जो यह दुःखरहित नियति है, वह यदि ब्रह्मसत्ता की आभा में यानी स्फूर्ति में प्रयत्न से स्थिर की जाय, तो वही परम शुद्ध नामक परमगति जिसे श्रुति 'सा काष्टा सा परा गतिः' कहती है, प्राप्त ही हो गई, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥३२॥ जैसे पृथ्वी के अन्दर स्थित जलकी सत्ता (द्रवता) तृण, लता, वृक्ष, झाड़ियोंसे स्फुरित होती है, वैसे ही सर्वव्यापक ब्रह्म ही पूर्वोक्त नियति के विलासों से, जो कभी नष्ट नहीं होते, स्फुरित होता है ॥३३॥

बासठवाँ सर्ग समाप्त

तिरसठवाँ सर्ग

ब्रह्म मायाशक्ति के विलास से जिस प्रकार सर्वस्वरूप से और
सर्वतः स्फुरित होता है उसका प्रतिपादन।

'नित्यादिविलासैर्ब्रह्मैव विस्फूर्जति' ऐसा जो कहा, सो किसके कारण ? इस शंका पर कहते हैं।

श्रीवशिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, चूँकि यह मायाशबल ब्रह्म सम्पूर्ण वस्तुओं के रूपसे, सम्पूर्ण कालों में सम्पूर्ण देशों में सब पदार्थों का रूप धारण करने में सामर्थ्य युक्त है अतएव सर्वाकार सर्वज्ञ होने के कारण सबका नियमन करने में समर्थ है अतएव सर्वेश्वर, सर्वव्यापक और सर्वस्वरूप है ॥१॥

दूरत्व और तटस्थता का वारण करने के लिए 'सर्वगम् सर्वम्' ये दो विशेषण हैं।

यदि कोई शंका करे कि उसमें विप्रकर्ष और तटस्थता क्यों नहीं है, इस पर कहते हैं–

यह आत्मा है और सर्वशक्तिशाली है यानी आत्मा होने से और सर्वशक्तिशाली होने से यह विप्रकर्ष और तटस्थता से शून्य है।

शंका – यदि वह सबका आत्मा और सर्वशक्तिशाली है तो सबको सर्वत्र प्रकट क्यों नहीं करेगा ?

समाधान – सबको सर्वत्र–प्रकट नहीं करता, क्योंकि सर्वशक्तिशाली होने पर भी कहींपर यानी अन्तःकरणरूप उपाधि में जीवरूप से प्रवेश होने पर चित्शक्ति को प्रकट करता है, कहीं पर (सात्त्विक उपाधि में) प्रवेश करने से शान्ति को प्रकट करता है, कहीं पर (तामस उपाधि में) प्रवेश करने से जड़शक्ति को प्रकट करता है, कहीं पर (राजसोपाधि में) राग, लोभ आदि वृत्तियों का उल्लास प्रकटता है, कहीं पर कुछ यानी मिश्रित गुणों का कार्य होने से विशेष रूप से कथन के योग्य प्रकट करता है और सुषुप्ति और प्रलय में कुछ भी प्रकट नहीं करता ॥२॥

विभिन्न स्थानों में उसके विभिन्नरूपसे प्रकट होने में उसकी सत्यसंकल्पता ही कारण है, ऐसा कहते हैं।

जिस स्थान में, जिस काल में जिसकी जिस प्रकार से यह भावना करता है, वहाँ पर उस समय उसको वैसा ही देखता है ॥३॥

शक्तियों के आर्विभाव के अनुरूप ही इसकी विचित्ररूप से स्थिति है, ऐसा कहते हैं।

सर्वशक्तिमान् परमात्मा से जो जो शक्ति जैसे उदित होती है वह वैसे ही स्थित है। तब वह शक्ति स्वभाव से ही नाना प्रकार के रूपवाली होती है।

शंका – यह शक्ति और शक्तिमान् के भेद की कल्पना व्यवहारदृष्टि से ही है या परमार्थरूप से भी है ?

समाधान – शक्ति और शक्तिमान् के भेद की कल्पना व्यवहारदृष्टि से ही है परमार्थदृष्टि से नहीं। परमार्थदृष्टि से तो ये शक्तियाँ आत्मरूप हैं। बुद्धिमानों ने लौकिक व्यवहारकी सिद्धि के लिए इस प्रकार भेद की कल्पना कर रक्खी है, आत्मा में तनिक भी भेद नहीं है ॥४–६॥

जैसे सागर में छोटी–बड़ी तरंग और जल का, कंकण, बाजूबन्द से सोने का और अवयव तथा अवयवी का परस्पर भेद वास्तविक नहीं है, वैसे ही यह आत्मभेद वास्तविक नहीं है, किन्तु व्युत्पादक पुरुष की बुद्धि से परिकल्पित है ॥७॥ क्योंकि रज्जु आदि पदार्थ जिस प्रकार से यानी सर्प के आकार से प्रतीत होता है, वह उसी प्रकार का विवर्तरूप से होता है, न कि परमार्थरूप से, क्योंकि यह सर्प आदि रज्जु आदि के न तो बाहर उदित होता है और न भीतर ॥८॥ सर्वसाधारण को प्रकाशित करनेवाला साक्षिचैतन्य भोक्ता के अदृष्ट से उद्‌बुद्ध होकर कहींपर कुछ ही वस्तु को भ्रान्ति से देखता है, न तो सब ठौर उसीको देखता है और न स्वरूप को ही देखता है ॥९॥ यदि परमार्थदृष्टि से देखा जाय, तो यह विस्तृत प्रपंच ब्रह्म ही है। किन्तु मिथ्याज्ञानवाले व्यक्तियों ने शक्ति और शक्तिमान्, अवयव और अवयवी, इस प्रकार से भेद की कल्पना कर रक्खी है, यह भेद पारमार्थिक नहीं है ॥१०॥ इस प्रकार मिथ्याज्ञान से उपहित चिति, चाहे शास्त्रानुकूल हो, चाहे शास्त्र–विरुद्ध, जिसका कर्तव्यत्वेन संकल्प करती है, उस विषय में उद्युक्त होती है, अभिनिवेश से तत्–तत् विहित या निषिद्ध कर्म करके उसके फलभोगकाल में उसको देखती है। प्रथम सृष्टिसंकल्प से लेकर भूत–भौतिक देहों से भोग्य आदि सृष्टि से पुरुषभोगपर्यन्त सकल प्रपंचरूप ब्रह्मचिति ही प्रतीत हो रही है, अन्य कुछ भी नहीं है ॥११॥

तिरसठवाँ सर्ग समाप्त

चौसठवाँ सर्ग

भोग्य की विचित्र शक्तियों के आविर्भाव का निरूपण तथा भोक्ता की जीवत्वप्राप्ति के क्रम का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जो यह घट–घटव्यापी स्वयंप्रकाश, कारणों का भी कारण, महामहिमाशाली, विशुद्ध, जन्म और विनाश से रहित आत्मज्ञानान्दरूप

परमात्मा है, शुद्ध चैतन्यस्वरूपी इसी परमात्मानन्द से 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस श्रुति से नामरूपविस्पष्टकरणरूप जगत्–सृष्टिसे पहले जीवोपाधि लिंगसमष्टि की उत्पत्ति से जीव उत्पन्न होता है, वही उपाधि की प्रधानता से चित्त कहलाता है, उससे यह जगत् उत्पन्न हुआ है ॥१,२॥

अखण्ड अद्वितीय स्वप्रकाश ब्रह्म में सखण्ड सद्वितीय जीवसत्ता कैसे उत्पन्न हो सकती हैं, इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, ब्रह्म होने के कारण अत्यन्त अपरिच्छिन्नतारूप वृद्धि को प्राप्त, स्वानुभव से वेद्य अद्वितीय ब्रह्म में छोटा–सा जीव पूर्वसिद्ध ब्रह्मता से विरुद्ध पृथक् सत्ता को कैसे प्राप्त होता है ? ॥३॥

सत्यस्वरूप अविद्यासम्बन्धशून्य ब्रह्म में परमार्थदृष्टि से जीवसत्ता का सम्भव नहीं है, किन्तु अविद्यासंवलित ब्रह्म में जीवसत्ता होने में कोई विरोध नहीं है, इस प्रकार विभाग करके कहने की इच्छा करनेवाले श्रीवसिष्ठजी पहले ब्रह्म के साधारण स्वरूप को कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, यहाँ पर विशुद्ध व्यापक ब्रह्म है, जिसमें द्वैतप्रतीतियाँ असत् हैं, जो असीम चैतन्यस्वरूप, अविनाशी और आनन्दस्वरूप है। एवं जो आत्मज्ञानी नहीं है, उनके लिए उसका स्वरूप बड़ा भयंकर है। जैसे कि वृद्ध पुरुषों ने कहा है – 'अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्व योगिनाम्। योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः।' (यह अस्पर्श योग सर्वयोगियों के लिए दुर्दर्श है, भयशून्य में भय देखनेवाले योगी इससे भयभीत होते हैं) ॥४॥

उनमें से पहले को दर्शाते हैं।

उसका जो सम, परिपूर्ण, शुद्ध, चिह्नरहित सत्स्वरूप है, जिसका कि ज्ञानी भी निर्देश नहीं कर सकते, वह शान्त परम पद है ॥५॥ उसीका मोक्ष होने तक, उद्भव बीज की सत्ता होने से, उदित हुआ–सा उपाधिस्वभाव से जो चलनशक्त्यात्मक (प्राणधारणरूप) संविदात्मक सत्त्वरुप है, वह जीवशब्द से कहा जाता है ॥६॥

उसीमें सब नाम और रूपों का व्याकरण होता है, ऐसा कहते हैं।

परम आदर्शरूप चिदाकाश में अनुभवरूप इन अनन्त जगज्जालपरम्पराओंका प्रतिबिम्ब पड़ता है ॥७॥

जगत् की विचित्रता की कल्पना के अनुरूप क्रियाशक्तिप्रधान प्राण बनना ही चित् का जीवभाव है, इसमें दृष्टान्त देते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, निर्मल चिदाकाश का प्राणाधीन चलनाध्यास होने से स्वाभाविक निष्क्रियता के छिप जानेपर जो अल्पसंवेदन यानी परिच्छेद भ्रान्ति (अहम्) उदित होता है, वही जीव है ॥८,९॥

जीवात्मा का जीवत्व जबतक मोक्ष नहीं होता, तबतक स्वाभाविक है, ऐसा कहते हैं।

जैसे वायु का चलन स्वाभाविक है, जैसे अग्नि की उष्णता स्वाभाविक है और हिम की

शीतलता स्वाभाविक है, वैसे ही आत्मा का जीवत्व भी स्वाभाविक है ॥१०॥ चिद्‌घन जो आत्मतत्त्व है, उसका स्वयं अपने स्वरूप के अपरिज्ञान के कारण जो अल्पज्ञान–सा (ज्ञानस्वरूप की परिच्छिन्नता–सी) है, वही जीव नाम से पुकारा जाता है। जैसे अग्नि की चिनगारी अपने को उद्दीप्त करनेवाले घी, तेल आदि की अधिकता से अपनी स्वाभाविक प्रकाशकता को प्राप्त होती है, वैसे ही वही जीव क्रमशः वासना की दृढ़तासे अहंकारता को प्राप्त होता है ॥११,१२॥ जैसे दर्शक पुरुष द्वारा अपने नेत्रों के गोचर न होनेवाले आकाशभाग में दौड़ाया गया नेत्र जहाँ तक पहुँच सकता है, वहाँ तक नीलिमा नहीं देखता जहाँ पर पहुँच कर आगे बढ़नेमें असमर्थ होता है, वहाँसे आगे उसका मार्ग नीला न होने पर भी उसे नीला दिखाई देता है, वैसे ही अहन्ता से रहित भी जीवकी अपने अगोचर अपनी आत्मा में अहंभावना होती है ॥१३॥ जैसे आकाश अपनी निबिड़ता से (घनतासे) नीलिमा को प्राप्त होता है, वैसे ही अपने पूर्व संकल्प के संस्कार से जाग्रत हुई अपने में अध्यस्त इस इन्द्रनील शिला के सदृश निबिड़ता से जीव अहंकार को ग्रहण करता है ॥१४॥ वायु के स्पन्द के समान स्फुरित हुआ अहंभाव आत्मा का दैशिक और कालिक परिच्छेद करता है, तथा स्वयं संकल्पवश उसने देह आदि का आकार धारण कर रक्खा है ॥१५॥

पूर्वोक्त चित्त आदि भेद अहंभावाध्यासमूलक है, ऐसा कहते हैं।

वही अहंकार संकल्पोन्मुख होकर अहंकाररूपसे रुद्र, चित्तरूप से विष्णु और जीवरूप से ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध है तथा क्रमशः उनके (रुद्र आदि के) ही मन, माया, प्रकृति–ये क्रियानाम हैं। उनमें संकल्पात्मक चित्त (ब्रह्मा) संकल्प से भूततन्मात्राओं की कल्पना करता हुआ चेतनात्मक पूर्व अवस्था से अवश्य च्युत होता है और जड़ प्रपंचरूप होता है। पंचभूत तन्मात्रता को प्राप्त हुआ वह चित्त (ब्रह्मा) तेजःकण बन जाता है। ब्रह्मभाव से अत्यल्प होने के कारण उसे कण कहा है। जिसमें अभी जगत् उत्पन्न नहीं हुआ ऐसे आकाश में वह तेजःकण मन्द प्रकाशवाले तारे के सदृश प्रतीत होता है ॥१६–१८॥ जैसे बीज अपने स्पन्दन से धीरे–धीरे अंकुरित होता है, वैसे ही अपने स्पन्दन से धीरे–धीरे पंचतन्मात्राओं की कल्पना करने के बाद चित्त तेजःकणता को धारण करता है ॥१९॥

पूर्वकल्प में विराट में आत्मोपासना करने से संस्कृत हुए जीव को स्थूलसमष्टिरूप हिरण्यगर्भता प्राप्त होती है, उससे अन्यको, व्यष्टि देहमें अहंभाव का संस्कार होने से, व्यष्टिस्थूल देह में अहंभाव प्राप्त होता है, इस प्रकार अन्तर कहते हैं।

जैसे जल जमने के कारण हिमरूप से तथा ओले के रूप से घनता (कठिनता) को प्राप्त होता है, वैसे ही अण्डनाम को प्राप्त हुआ वह तेजःकण, जिसके अन्दर श्रीब्रह्मा विराजमान रहते हैं, पूर्व जन्ममें मैं अण्ड हूँ, यों अण्डरूप से आत्मभावना करने से अण्डता को प्राप्त होता है ॥२०॥ कोई (जो उपासक नहीं है) और पुण्यात्मा ही, इस प्रकार दिव्य देह आदि की भावना से झटपट देव आदि की देह को प्राप्त होता है, देवादि देह, जो 'अहम्' नहीं है, उसमें अहंभावरूप भ्रान्ति को प्राप्त होता है, तथा गन्धर्वों से या अन्य देवताओं से सुरक्षित अमरावती आदि

नगरों में निवास करता है ॥२१॥ कोई पापी पुरुष अपने संकल्प से स्वयं वृक्ष आदि स्थावर योनिको प्राप्त होता है, कोई पशु–पक्षी आदि जंगम योनियों में प्राप्त होता है, कोई राक्षस, पिशाच आदि खेचर योनियों में जाता है, अपने संकल्पानुसार सबको स्वतः ही तत्–तत् योनियाँ प्राप्त होती हैं। सृष्टि के आदि में प्रथम उत्पन्न ही ब्रह्मारूपी जीव, जिसकी सूक्ष्म देह समष्टिरूप उपाधि है और अपने संकल्प से ही जिसकी उत्पत्ति हुई है, क्रमशः विरंचिका पद प्राप्त कर अपने संकल्प से अण्ड के भीतर जगत् की सृष्टि करता है ॥२२,२३॥

ब्रह्मा की सत्यसंकल्पता में पूर्व कल्प के सत्यसंकल्प ब्रह्मा ही मैं हूँ यह उपासना हेतु है, ऐसा कहते हैं।

पूर्वकल्प के सत्यसंकल्प ब्रह्मा की तादात्म्योपासना से उत्पन्न हुए ये ब्रह्मा जिस पदार्थ का संकल्प करते हैं, उसे तुरन्त अपने सत्यसंकल्पतारूप स्वभाव के कारण उत्पन्न हुआ ही देखते हैं ॥२४॥

पहले चिदात्मा नामरूपात्मक दो धर्मवाले जगत्की प्रख्याति में कारण होता है, चलन (क्रिया), विकार आदि में पश्चात्–भावी कर्म कारण होता है, ऐसा कहते हैं।

वे यानी ब्रह्म चैतन्यस्वभाव से सर्वकारणत्व और ब्रह्मत्व को प्राप्त हुआ है, पीछे संसार के कारण होकर कर्म के निर्माण में होते हैं ॥२५॥ जैसे जल से फेन (गाज) निकलता है, वैसे ही चिदात्मा से स्वभावतः चित्त (जीव) आविर्भूत होता है, जैसे नाव आदि की रस्सियों से जलसे निकला हुआ फेन पीछे बँधता है, जल नहीं बँधता है, वैसे ही पीछे जीव ही देहबन्धक कर्मों से बन्धनको प्राप्त होता है, चिदात्मा बन्धन में नहीं पड़ता ॥२६॥

लोक में देखा जाता है कि जो कोई कर्म करता है, वह पहले संकल्प करता है, तदुपरान्त व्यापार से घट आदि की रचना करता है, इससे पूर्वोक्त क्रम की सिद्धि में कोई भी सन्देह नहीं हो सकता, इस अभिप्राय से कहते हैं।

किसी कल्पना (रचना) का मूल कारण संकल्प है, संकल्प के बिना रचना हो ही नहीं सकती, इसलिए आत्मा ही जीव बनकर निष्क्रिय (निर्व्यापार) आत्मासे क्रमशः पृथक् होकर कर्म करता है ॥२७॥

पीछे होनेवाले कर्म पहले जीव में बीज में अंकुर के तुल्य वासना रूप से स्थित का ही आविष्कार करते हैं, किसी अपूर्व का आविष्कार नहीं करते हैं, इस आशय से कहते हैं।

जैसे बीज में स्थित जीव अपने जीवित को, जिसने सूक्ष्मरूप से पहले अपने अन्दर अंकुर को धारण कर रक्खा है, धारण करता है, पीछे अंकुर, पत्ते, तना, शाखा, टहनियाँ, पल्लव, पुष्प और फल के क्रम से नानात्व को प्राप्त होता है, वैसे ही हिरण्यगर्भ जीव अनेकता को प्राप्त होता है ॥२८॥ जो अन्य व्यष्टि–जीव हैं, वे भी इसी प्रकार अपने में वासनारूप से स्थित ही आकृति को (देह आदि के आकार को) प्राप्त हुए हैं। उनमें अन्तर इतना ही है कि वे हिरण्यगर्भ जीव के संकल्प के पहले उत्पन्न हुए ब्रह्माण्ड में देह को, जिसके माता–पितादिरूप भूत आश्रय हैं, प्राप्त होते हैं ॥२९॥ तदनन्तर जन्म और मृत्यु के कारण बने हुए अपने कर्मों से

ऊपर (ऊँच योनियों में) या नीचे (नीच योनियों में) प्राप्त होते हैं। चित् का जो स्पन्दन है, वह कर्म कहलाता है। सारांश यह कि इस लोक में चित् का जो स्पन्दन (स्फुरण) है, वही शुभाशुभरूप कर्म है, वही दैव भी कहलाता है और वही चित्त है। जैसे वृक्षसे उसके अवयवरूप शाखा, पत्ते, फूल, फल आदि पहले उत्पन्न होकर फिर फिर होते हैं, वैसे ही कारणभूत ब्रह्म से चित्स्पन्दरूप शुभाशुभकर्मवश भोक्तारूप प्राणियोंका समुदाय तथा उनके आधार और भोग्य भुवनों की फिर–फिर उत्पत्ति होती है ॥३०,३१॥

चौसठवाँ सर्ग समाप्त

पैंसठवाँ सर्ग

मन का, भोग्यसमुदायका और भोक्ता के मूल का तत्त्व चिन्मात्रशेष है, यह प्रदर्शन।

सम्पूर्ण कल्पनाएँ चित् से अतिरिक्त नहीं है, यह कहने के लिए मूलभूत मन की उत्पत्ति और स्थिति कारणसत्तारूप होने से कारणमात्ररूप ही है, ऐसा कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, परमकारण से ही मन पहले उत्पन्न हुआ है, वह मनन स्वभाववाला है। जो कुछ भोग्य पदार्थ हैं, वे सब तदात्मक यानी मनोमय हैं। जो कोई दृश्य पदार्थ हैं, वे मन में ही स्थित हैं, वह मन भी परमकारण में स्थित हैं, यह इस प्रकार होता है और यह इस प्रकार नहीं होता, इस प्रकार के भाव और अभाव के विषय में वह झूले के समान दायें और बायें घूमता है। जैसे पहले अनुभव में आई हुई सुगन्ध स्मरण करने पर वहाँ पर विद्यमान न होने पर भी मनोरथ से देखी जाती है, वैसे ही उस मन से सत् और असत् के तुल्य प्रतीत होनेवाली यह सृष्टि देखी जाती है ॥१,२॥

मन ही जब भेददर्शन को कराता है तब मन के हट जानेपर केवल एक आत्मा के प्रतिष्ठित रहने से मन से कल्पित भेद भी हट जाता है, ऐसा कहते हैं।

मन के हट जाने पर ब्रह्म, जीव, मन, माया, कर्ता, कर्म, और जगत् की प्रतीतियों का कोई भेद नहीं रहता, केवल सब द्वैतों के एकमात्र आश्रय परमात्मा स्थित रहते हैं ॥३॥

भेद के नष्ट हो जानेपर अवशिष्ट आत्मस्वरूप को दिखलाते हैं।

जिसके विस्तार का आर–पार नहीं है, इस प्रकार के संवित्रूपी जल के असीम प्रसारों से चिदेकार्णव यह आत्मा स्वयं विजृम्भित (विकसित) होता है ॥४॥

चित् और जगत् का बाध होने पर कैसे सत् का परिशेष होता है ? ऐसी शंका कर जगत् स्थिर और अस्थिर इन दो अंशों से संयुक्त होने के कारण सत् और असद्रूप है, अस्थिर अंश का बाध होने पर स्थिर अंश के परिशेष रहने में कौन अनुपपत्ति है, इस आशय से कहते हैं।

अस्थिर होने के कारण असत्य तथा अवभासित होने के कारण सत्य यह मनोमय जगत् स्वप्न के समान सत् और असद्रूप है। जैसे स्वप्न के अस्थिर विषयांश का बाध होने पर स्थिर जो स्वप्नद्रष्टा है, उसका परिशेष दिखाई देता है, वैसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिए ॥५॥

यद्यपि जगत् अत्यन्त असत् है, तथापि उसका कभी बाध नहीं दिखाई दिया, ऐसी आशंका

कर उसकी बाधयोग्य अनिर्वचनीयता कहते हैं।

जगत् न तो सत् है, न असत् है और न उत्पन्न हुआ है, केवल चित्त का भ्रम है यानी मिथ्या है।

शंका – यदि वह मिथ्या है, तो उसमें बहुतों को एकाकारता कैसे प्रतीत होती है ?

समाधान – सामाजिकों को विविध बुद्धियों की एकाकारताभ्रम वैसे ही होता है, जैसे ऐन्द्रजालिक की माया से क्षुब्ध हुए अनेक लोगों को इन्द्रजाल से बनी वस्तु में एकाकारता प्रतीति होती है ॥६॥

तब यह चिरकाल तक कैसे स्थिर रहता है ? इस पर कहते हैं।

जैसे भलीभाँति न देखने से स्थाणु में (ठूँठ में) व्यर्थ ही पुरुषप्रतीति होती है, वैसे ही मन द्वारा की गई आसक्ति के बल से संसार नामका यह लम्बा स्वप्न अज्ञों को प्राप्त हुआ है ॥७॥

यदि कोई शंका करे कि आत्मा अपने परिपूर्णानन्दस्वभावसे च्युत करनेवाले तथा सम्पूर्ण दुःखों के निदानभूत अपने मनोभाव का ही क्यों शोक नहीं करता ?

जैसे बालक स्वयं वेताल की कल्पना कर उससे होनेवाले भय के भली भाँती मन में जम जाने पर भय से परिपूर्णचित्त होने के कारण भय की हेतुभूत वेताल की कल्पना पर शोक नहीं करता, वैसे ही आत्मविषयक अज्ञान तथा अनात्माओं के दर्शन से चित्तभाव को प्राप्त हुआ भी आत्मा चित्तभाव से प्राप्त हुए अनर्थों के लिए शोक नहीं करता ॥८॥

चिदात्मा का विषयोन्मुखतारूप स्वभाव ही विविध अनर्थों की जड़ है, ऐसा कहते हैं।

नामरहित, सम्पूर्ण दिशाओं को अतिक्रान्त करनेवाला यानी सर्वव्यापक आत्मा का विषयोन्मुखतारूप स्वभाव होने से उससे चित्त की उत्पत्ति होती है, चित्तसे जीवत्व की उत्पत्ति होती है, जीवत्व से अहंभाव की उत्पत्ति होती है, अहंभाव से चित्तता होती है, चित्त की विषय तन्मात्रा से इन्द्रियाँ, उनसे देह आदि का भ्रम, देह आदि में (आत्मत्वभ्रम से) 'अहं मम' इस अभिमान से बीजांकुर के समान नानाकार्यपटु देह, कर्म; उनसे स्वर्ग और नरक तथा बन्ध और मोक्ष होते हैं ॥९–११॥

यह सारी–की सारी अनर्थपरम्परा जीव और ब्रह्म में भेदभ्रम से उत्पन्न हुई है, उन दोनों की एकता के बोध से उक्त भ्रम के बाधित होने पर बाधित हो जाती है, इस अभिप्राय से भेद का निषेध करते हैं।

चिदात्मा (ब्रह्म) और जीव में जैसे भेद नहीं है, वैसे ही जीव और चित्त में भी भेद नहीं है, जैसे ही जीव और चित्त में भेद नहीं है, वैसे ही देह और कर्म में भी भेद नहीं है ॥१२॥

सम्पूर्ण शास्त्रों के विचाररहस्य को एक उक्ति से संक्षेपतः कहते हैं।

वस्तुतः कर्म ही देह है, कर्म से भिन्नसत्ताविशिष्ट देह नहीं है, और देह ही चित्त है, वह चित्त ही अहंकार विशिष्ट जीव है, वह जीव ही ईश्वरचैतन्य है, वह आत्मा मंगल और सर्वात्मक है, यह सब एक पद से कहा गया है ॥१३॥

पैंसठवाँ सर्ग समाप्त

छासठवाँ सर्ग

द्वैत की केवल मनोमात्रता तथा इष्ट वस्तु के त्याग से और
ज्ञान से अज्ञानसहित मन के क्षय का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार जैसे दीपक से अनेकता को प्राप्त हुए सौ दीपक होते हैं, वैसे ही अद्वितीय परम वस्तु (चिदात्मा) ही अनेकता को प्राप्त होता है। अथवा केवल चेत्य (विषय) ही अनेक नहीं हुआ है, किन्तु पूर्वोक्त रीति से चित् में प्रत्येक उपाधि के भेद से अनेकत्व–सा हो गया है ॥१॥

जैसे चित् के अधीन जीवत्व की कल्पना से बन्ध होता है, वैसे ही चित्त के अधीन विचार और तत्त्वज्ञान से मुक्ति भी होती है, इस गूढ़ आशय से कहते हैं।

यदि पुरुष अपने अन्तःकरण में द्वैत के आग्रह से रहित, यथास्थित (अनारोपितरूप) तथा नामरूप से शून्य आत्मा का विचार करता है, तो वह वैसा ही उसे देखता है, तब वह शोक नहीं करता ॥२॥

यदि कोई शंका करे कि विचार से चित्त की शान्ति होने पर कैसे सब द्वैत की शान्ति होती है ?

जीव चित्तमात्र ही है, चित्त से अतिरिक्त नहीं है, चित्त के हट जाने पर यह जगत् शान्त (विनष्ट) हो जाता है, जैसे जिस पुरुष के चरण जूते से आवृत्त रहते हैं, वह समझता है कि सारी पृथिवी चमड़े से आच्छन्न है वैसे ही जिसका चित्त से छुटकारा हो जाता है उसकी दृष्टि में जगत् असत् है ॥३॥ जैसे केले के वृक्ष में पत्तों को छोड़कर और कुछ भी नहीं रहता, वैसे ही जगत् में भी केवल भ्रम को छोड़कर और कुछ नहीं रहता ॥४॥ पैदा होता है, बालक बनता है, जवान होता है, फिर बुढ़ापे को प्राप्त होता है, मरण, स्वर्ग और नरक को प्राप्त होता है, यह सब भ्रमवश चित्त का नाच है ॥५॥ जैसे आकाश में अनेक हजार बुद्बुद्के आकार की भ्रान्ति उत्पन्न करने में शराबकी सामर्थ्य है, वैसे ही ब्रह्माण्डरूपी अनन्त बुद्बुद्रूप तथा आत्मा से अभिन्न संसार को उत्पन्न करने में चित्त की सामर्थ्य है ॥६॥ जैसे मल से कलुषित नेत्र एक चन्द्र में द्वित्व देखता है, वैसे ही चित्तकी कला यानी भ्रान्तिजननशक्तिसे आक्रान्त यानी पराधीन की गई जीवचिति परमात्मामें द्वित्वको देखती है ॥७॥ जैसे शराब आदि के नशे में मस्त हुआ पुरूष नशे के कारण वृक्षों को घूमते हुए देखता है, वैसे ही जीवचिति चित्त से विक्षुब्ध (कल्पित) संसारों को देखती है ॥८॥ जैसे बालक खेलकूद में भ्रमण से जगत् को कुलालके चाक के समान घूमता हुआ देखते हैं, वैसे ही जीव चित्त से इस दृश्य को देखते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। जब जीवचिति द्वित्वका अनुभव करती है, तब द्वैत और ऐक्य का भ्रम होता है। जब चिति द्वैत का अनुभव नहीं करती तब द्वैत और ऐक्यका विनाश हो जाता है ॥९,१०॥ जिसका अनुभव होता है, वह चित्से अतिरिक्त जड़रूप नहीं है, यानी प्रतीतिकाल में भी द्वैतसत्ता नहीं है।

शंका : तब चित्त की शान्ति कैसे होती है ?

समाधान : चित्त से अतिरिक्त जड़रूप कुछ नहीं है, यों दृश्यकी शान्ति होने पर विषय न रहनेपर निरिन्धन (काष्ठशुन्य) अग्नि के समान चित्त स्वयं शान्त हो जाता है ॥११॥

पुरूष जीवन्मुक्त कब होता है, इस शंका पर कहते हैं।

जब पुरूष चिद्घन परमात्मा से एकता को प्राप्त होकर निश्चल रहता है, चाहे वह समाधिमें लीन हो चाहे व्यवहार करता हो, तब संशान्त कहा जाता है ॥१२॥

अल्पज्ञ जीवकी चिद्घन के साथ एकता होने पर सर्वज्ञता ही होगी निर्विषयतारूप संशान्ति नहीं होगी, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं।

अत्यल्प चिति विषय का अनुभव करती है, घन चिति विषय का अनुभव नहीं करती है, जैसे कि थोड़ा पागल पुरूष का चित्त चमक उठता है, लेकिन अत्यन्त पागल व्यापारशुन्य होकर रहता है।

भाव यह है कि चित्की सविषयता केवल चित्त्वसे नहीं होती किन्तु अविद्याविक्षेपयुक्त चित्त्ववश होती है।

उक्त सविषयता ज्ञान तथा समाधिकी दृढ़ता से उद्बुध्ध हुई चिद्घन की एकता से अविद्याविक्षेपके हट जानेपर दूर हो जाती है। जो ईश्वर आदिकी सर्वज्ञता है, वह भी मायिक ही है, वास्तविक नहीं है, अतः कोई दोष नहीं है ॥१३॥ जिसका ध्यान निरन्तर चिद्घन के सिवा अन्य विषयमें नहीं रहता है, अतएव चिद्घनरूप परमपदमें आरूढ़ यानी निर्विकल्प समाधि तथा आत्मसाक्षात्कार से युक्त चित्तका नैरात्म्य (स्वरूपशून्यता), शून्यवेद्य (निर्विषयता) आदि पर्यायशब्दोंसे प्रतिपादन होता है ॥१४॥

चित् में चेत्यता, जड़ता, संसारिता आदिकी कल्पना भी चित्त के कारण ही होती है, चित्तके शान्त होने पर चित्में उक्त चेत्यता, जड़ता आदि दूर हो जाते हैं ऐसा कहते हैं।

चिति चित्त के व्यापार द्वारा ही चेत्यताको प्राप्त होती है और 'मैं उत्पन्न हूँ, जीवित हूँ, देखती हूँ, संसार को प्राप्त होती हूँ', इस प्रकारके असत्य भ्रमको देखती है ॥१५॥

चेतन चित्त के व्यापारस्वभावसे अतिरिक्त नहीं है, वह समाधि तथा ज्ञानके अभ्यास से भले ही उपरत हो जाय, किन्तु चित्त कहाँ उपरत हुआ ? यानी अनुपरत ही रहा, ऐसी शंका पर कहते हैं।

चेतन चित्त के स्वभाव से अतिरिक्त नहीं है, जैसे कि स्पन्द को छोड़कर वायु का दूसरा स्वभाव नहीं है। जैसे उष्णता के हट जाने पर अग्नि शान्त हो जाती है, वैसे ही व्यापार के नष्ट हो जाने पर चित्त अवशिष्ट नहीं रहता, क्योंकि चेतनव्यापार के सिवा चित्त के अन्दर किसी दूसरे स्वरूप का कोई अनुभव नहीं करता ॥१६॥

इस प्रकार चित्त के हट जाने पर चित् में चैत्य का प्रकाश न होने से और जो वस्तु प्रकाशमान नहीं है, उसका साधक कोई दूसरा न होने के कारण उसकी असिद्धि होने से वह नष्ट रूप ही है, ऐसा कहते हैं।

चित् से जिस किसीका अनुभव होता है, वह चेत्य है, रज्जु में सर्पभ्रम के तुल्य प्रतीत होनेवाले उसे अविद्याभ्रम कहते हैं ॥१७॥ इस संसारनामक व्याधिका केवल ज्ञानमात्र से प्रतीकार हो सकता है, यह चित्तका एक व्यापारमात्र है, इसमें किसी प्रकारका आयास नहीं है। यदि आप सबका परित्याग कर वासनामय चित्त से रहित होकर स्थित हों, तो एक ही पलक में मुक्त हो जायेंगे, उसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ॥१८,१९॥ जैसे सम्यग्–दर्शन से रज्जु में सर्पभ्रम निवृत्त हो जाता है, वैसे ही प्रत्यक्मुख होकर स्वतत्त्वदर्शन से यह संसार नष्ट हो ही जाता है ॥२०॥ जिस वस्तु की अभिलाषा हो, उसका सर्वथा त्याग कर यदि पुरुष से रहा जा सके, तो मोक्ष उसे प्राप्त ही है, केवल इतने में कौन–सी दुष्करता यानी कठिनाई है ॥२१॥ जब इस संसार में महामहिमाशाली पुरुष अपने प्राणों का भी तृण के समान परित्याग कर देते हैं, तब जिस वस्तु की केवल अभिलाषा है, उस वस्तुका परित्याग करने में कृपणता कैसी ? जिस वस्तु की अभिलाषा हो, उस वस्तु का अपने चित्त से परित्याग कर प्राप्त वस्तु का कर्मेन्द्रियों से आसक्तिरहित होकर ग्रहण करते हुए और नष्ट वस्तु का शोक न करते हुए आप स्थित रहिए ॥२२,२३॥ जैसे हाथ में रक्खा हुआ बिल्वफल अथवा सामने स्थित पर्वत सबके प्रत्यक्ष ही रहते हैं, तिरोहित नहीं रहते, वैसे ही उक्तलक्षण तत्त्ववेत्ता की जन्मादि विकारशून्य ब्रह्मता अत्यन्त प्रत्यक्ष ही है, किसीसे तिरोहित नहीं है ॥२४॥ जैसे प्रलयकालीन एक असीम समुद्र तरंगों से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है, वैसे ही अप्रमेय आत्मा ही जगद्रूप से आविर्भूत होकर अज्ञ लोगों की दृष्टि से प्रतीत हो रहा है, वही ज्ञान से अभिव्यक्त होकर मोक्षरूप पुरुषार्थ को देता है और अज्ञात होकर पहले तो सम्पूर्ण अनर्थों के कारणभूत चित्तता (मनोभाव) के लिए होता है, तदनन्तर चिरबन्धन के लिए होता है ॥२५॥

छासठवाँ सर्ग समाप्त

सड़सठवाँ सर्ग

भोक्ता जीव के स्वरूपका प्रतिपादन।

समष्टि की प्रधानता से उक्त जीव को व्यष्टि की प्रधानता द्वारा स्पष्टरूप से जानने की इच्छा करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी फिर पूछते हैं।

भगवन्! मन की सृष्टि करके 'मैं मन हूँ' यों मन के तादात्म्य का अपने में अध्यास करने से मनस्ता के योग्य यह जीव परमात्मा का क्या है ? क्या परमात्मा का अंश है ? अथवा कार्य है ? किंवा वह (परमात्मरूप) ही है ? यदि परमात्मा ही है, तो अपने में वह कैसे उत्पन्न हुआ ? यानी क्या परिणाम से उत्पन्न हुआ या विवर्त से ? यदि अपने में परिणाम से उत्पन्न हुआ है तो अनित्य हो जायेगा। यदि विवर्त से उत्पन्न हुआ है, तो वह बाध्य हो जायेगा। यदि अपने में उत्पन्न नहीं हुआ है, तो भोक्ता की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि परमात्मा से अतिरिक्त द्वितीय कोई है नहीं और परमात्मा में अशना (भूख) आदि का अभाव श्रुति स्वयं कहती है, इसलिए परमात्मा को भोक्ता कह नहीं सकते। यदि भोक्ता कोई अन्य है, तो वह कौन है ?

क्या परमात्मा सजातीय है या विजातीय है यों एक भी पक्ष संगत नहीं होता, इसलिए मेरे सन्देह को हटाने के लिए आप पुनः कहिए ॥१॥

जिसकी अनन्त और अचिन्त्य शक्तियाँ हैं, ऐसी मायाशक्ति से युक्त ब्रह्म, जो कि परमार्थरूप से अविकृत और अद्वितीय है, मायावश द्वितीयता को (भेद को) प्राप्त हुए-से अपने में विविध औपाधिक विकारों का आरोप कर असंख्य जीवों के वेश से और सर्वज्ञ ईश्वररूप से क्रीड़ा करने में समर्थ है, इसलिए पूर्वोक्त कोई भी दोष प्राप्त नहीं होता इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी समाधान के लिए भूमिका बाँधते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, सदा सब शक्तियों से परिपूर्ण ब्रह्म सब कुछ करने के लिए समर्थ है। वह जहाँपर जिस शक्ति से प्रस्फुरित होता है, वहाँ पर वह अपने को उसी शक्ति से सम्पन्न देखता है ॥२॥ सबका आत्मा ब्रह्म अनादिकाल से जिस चेतनरूपिणी को यानी चित्त के संस्कार से उपहित (उपाधियुक्त) चैतन्य को (जीवशक्तिको) स्वयं जानता है, वह इस समय 'जीव' नाम से पुकारी जाती है और वही संकल्परूपिणी है ॥३॥

अपने में स्वाभाविक द्वितीयता (भेद) ही आगे होनेवाले संसार की प्रवृत्तिका मुख्य कारण है, पहले-पहले के संकल्पों की वासनाओं से युक्त जीवचैतन्य तो केवल पीछे होनेवाली विचित्रता का कारण है, ऐसा कहते हैं।

आत्मा में स्वाभाविक द्वितीयता संसार का मुख्य कारण है, पूर्व पूर्व संकल्पों की वासनाओं से वासित जीवचिति तो पीछे जन्म, मरण आदि नाना भावों की कारण होती है ॥४॥

इसीसे मेरे प्रश्न के अवशिष्ट अंशका भी उत्तर हो चुका, यों सोच रहे श्रीरामचन्द्रजी उक्त जीवके जन्म-मृत्यु आदि के हेतु दैव, कर्म आदि को वस्तुतः जानने के लिए पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, आपके कथनानुसार जीवके स्वरूप के हृदय में प्रतिष्ठित होने पर मैं आपसे पूछता हूँ कि दैव किसको कहते हैं, कर्म किसे कहते हैं तथा कारण क्या कहा जाता है ? ॥५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे आकाश में स्पन्दस्वभाववाला और अस्पन्दस्वभाववाला वायु ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, वैसे ही इस संसार में स्पन्दस्वभाववाला (रजोगुणप्रधान माया से उपहित) तथा अस्पन्दस्वभाव-वाला (शुद्ध) चिन्मात्र ही है, उससे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, वह चेतन स्पन्द से उल्लासयुक्त (सृष्टि में तत्पर) होता है और स्पन्द न होने से शान्त ही रहता है ॥६॥

उक्त दो प्रकार के चिन्मात्रों में से प्रथम यानी स्पन्दस्वभाव (रजोगुणप्रधान माया से उपहित) चित् का विवरण करते हैं।

चित् द्वारा अपने स्वाभाविक चित्त्व की ही अविद्यावश यदि विषय के आकार में कल्पना (भावना) की जाय, तो चित्ताकार (विषयाकार) बना हुआ अपना स्वाभाविक चित्त्व ही विद्वानों द्वारा स्पन्द कहलाता है, यदि चिति अपने स्वाभाविक चित्त्वकी दृश्यत्वरूप से भावना नहीं करती है, तो उक्त स्वाभाविक चित्त्व अस्पन्द कहलाता है ॥७॥

स्पन्द से चित् की प्रपंचरूपता और अस्पन्द से निष्प्रपंचरूपता ऐसा निष्कर्ष होने पर

स्पन्द का ही जीव, कारण, कर्म, दैव आदि नाम से निर्देश होता है, ऐसा तात्पर्यार्थ कहते हैं।

चिति स्पन्द से सृष्टिरूप में स्फुरित होती है और स्पन्द के अभाव से अविनाशी ब्रह्मरूप है। जीव, कारण, कर्म आदि चित् के स्पन्द के ही नाम हैं। भाव यह कि वह चैतन्य ही प्राणस्पन्द की विवक्षा (प्रयोजन) से जीव कहलाता है, अपने भीतर स्थित कार्यों के आविर्भावरूप स्पन्द की विवक्षा से कारण कहा जाता है, शरीर आदि के स्पन्द की विवक्षा से कर्म कहलाता है। कर्म ही, जो कि सूक्ष्म अवस्थावाला, चिरकाल से स्थित और फल के आरम्भ में तत्पर होता है, दैव कहा जाता है ॥८॥

जीव, कारण, कर्म और दैव की ज्ञानरूप ब्रह्म की सत्ता के अवलम्बन से ही सत्ता और अपना कार्य करने की क्षमता है, ऐसा कहते हैं।

फलतः जो ही ज्ञानरूप है, वही उक्तरूप से चित् का स्पन्द (स्फुरण) है और वही जीव, कारण और कर्म नामवाला है एवं वह संसार का बीज है ॥९॥

जो यह पूछना था कि यदि जीव परमात्मा ही है, तो वह परमात्मा में कैसे उत्पन्न हुआ ? उसका उत्तर कहते हैं।

जिसने भेद की कल्पना कर रक्खी है, ऐसे चिदाभास के कारण (बुद्धि में आत्मा के प्रतिबिम्ब के कारण) चित्स्पन्द सृष्टिकाल में तत्–तत् विविध कर्मों के अनुसार पहले मरने के समय बुद्धि में प्राप्त हुए देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के शरीरों को और पूर्व के संकल्पों के अनुसार विविध भोग्य पदार्थरूपता को प्राप्त होता है। चित् का आभास यानी स्वीय अविद्या में प्रतिबिम्ब स्फुरित होकर जो द्वैत होता है उसी द्वैत से अर्थात् उक्त द्वित्वभाव से शास्त्र में उक्त क्रम से शरीर की उत्पत्ति होती है, इसलिए चित्स्पन्द ही अपने संकल्प के अनुसार सृष्टि के आदि में विविध भोग्य आकारों को प्राप्त होता है, यह भाव है ॥१०॥

विविध हजारों योनियों को देनेवाले कर्म, कारण और दैव को प्राप्त हुआ कोई चित्स्पन्द, जिसकी शास्त्रीय प्रवृत्ति मन्द है, चिरकाल में मुक्ति पा जाता है, किसीको मुक्ति पाने में हजारों जन्म बीत जाते हैं और कोई, जिसे ज्ञानाधिकार प्राप्त हो गया है, एक ही जन्म में मुक्त हो जाता है ॥११॥ जिस प्रकार की उपाधि से मिल जाय उस रूप से स्फुरण चित् का स्वभाव है जैसे कि प्रकाश नीले कपड़े में नीला, लाल में लाल और पीले में पीला होता है। उक्त स्वभाव के कारण ही चिति देह के जन्म के कारण अन्नरसों से, उनके द्वारा पिता–माता के शरीरों से ऐक्य को प्राप्त होकर धीरे धीरे स्वर्ग मोक्ष, नरक, वध, बन्ध आदि के कारणभूत देहभाव को प्राप्त होती है ॥१२॥ सुवर्ण में कटकत्व, केयूरत्व आदि के समान काठ और ढेले के समान जड़ देह में जन्म, वृद्धि आदि छः भावविकारों से उत्पन्न भेद रहता है। देह आदि उपाधियाँ पंचमहाभूतों की विकार हैं, पंचभूतों में भी पीछे–पीछे के पंचमहाभूत पूर्व पूर्व महाभूतों के विकार हैं, यों उनके अखण्डाकाशमात्र होने पर सत्य भेद का अवकाश नहीं है, इस आशय से सुवर्ण–कटक दृष्टान्त दिया गया है ॥१३॥

इस प्रकार भेद के मिथ्या होने पर भी जो जन्म आदि भेदज्ञान होता है, वह मन का भ्रम ही

है, ऐसा कहते हैं।

न तो यह नानात्व (भेद) अभी उत्पन्न हुआ है और न इसका स्वरूप ही सत् है तथापि मनका भ्रम इसे देखता है, जैसे भ्रम से पीड़ित पुरुष धूमते हुए नगर के पतन का अनुभव करता है, वैसे ही मनोभ्रम में भी मैं उत्पन्न हुआ, स्थित रहा, मरा इस प्रकार अनुभव करता है ॥१४॥

जितने भेदज्ञान हैं, उनका मूल 'अहम्, मम' यह भेदकल्पना ही है, उसके भी परमात्मा के स्वरूपका अज्ञान और भोग की आशाका संस्कार क्रम से मूल हैं, इस अभिप्राय से कहते हैं।

परमार्थ वस्तु का दर्शन न होने के कारण विवश हुआ चित्त 'अहम्, मम' इत्यादिरूप संसार को देखता है, जो असद्रूप ही है ॥१५॥

उक्त विषय में आगे कहे जानेवाले लवणोपाख्यान का दृष्टान्तरूप से निर्देश करते हैं।

जैसे मथुराधिपतिराजा लवण का अपने में 'मैं चाण्डाल हूँ' ऐसा भ्रम हुआ था, वैसे ही यह जगत्-स्थिति, जो कि चित्त की भ्रान्तिरूप है, स्फुरित होती है ॥१६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे जल तरंगरूप से स्फुरित होता है, वैसे ही मन की भ्रान्ति का प्रचुर उल्लासरूप यह सब जगत्‌रूप से स्फुरित होता है ॥१७॥ जैसे सौम्य (निश्चल यानी तरंगरहित) समुद्र से पहले थोड़ा थोड़ा जल का संचलन होता है यानी तरंग उठती हैं, वैसे ही मंगलमय कारणभूत परमात्मासे पहले चैतन्यकल्पनोन्मुखी (सृष्टि के उन्मुख) चिति (चेतनशक्ति) उदित होती है ॥१८॥ चिति-रूपी जल ब्रह्मरूपी समुद्र में स्फुरण से (संचलन या स्पन्दन से) जीवरूपी आवर्तता को धारण करता है तथा चित्तरूपी तरंगों को धारण करता हुआ बुद्‌बुद् रूपी सृष्टियों की रचना करता है ॥१९॥ हे सौम्य श्रीरामचन्द्रजी, अपने बोधमात्र से मायाबन्धनका विनाश करनेवाले या सिंह के सदृश अचिन्तनीय शक्तिवाले ब्रह्म का जो माया से देहधारण है, वही आत्मस्थित संविदाभास जीव के सदृश स्थित है, वही स्वयं विषयरूप-सा होकर स्थित है, उससे पृथक् नहीं है, *यह भाव है*॥२०॥

जिन उपाधियों से जीव, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि शब्दों का भेद है, उनको कहते हैं।

वह चिति ही चिदाभास से जीव, संकल्प करने से मन, निश्चय करने से बुद्धि, स्मरण करने से चित्त, अभिमान करने से अहंकार तथा विक्षेपशक्तियुक्त होने से माया कहलाती है ॥२१॥

उनमें संकल्पप्रधान मन पहले शब्द आदि सूक्ष्म भूतों की (तन्मात्राओं की) कल्पना कर जगत् की कल्पना करता है, ऐसा कहते हैं।

मन पहले भूततन्मात्राओं की कल्पना करता है, तदनन्दर इस जगत् का विस्तार करता है, जो कि गन्धर्वनगर के तुल्य असत्य होता हुआ भी सत्य-सा प्रतीत होता है ॥२२॥

मन से कल्पित वस्तु मनसूबों से बनी हूई वस्तु के समान मिथ्या ही है, ऐसा कहते हैं।

जैसे आकाश में दृष्टि के विस्तार से मोतियों की मालाओं का दर्शन होता है और जैसे स्वप्न में नगर आदि का भ्रम होता है, वैसे ही यह चित्त से कल्पित संसार भ्रम ही है ॥२३॥

जगत् का साक्षी तो नित्य शुद्ध ही है, ऐसा कहते हैं।

विशुद्ध, क्षुधा, पिपासा आदि के अभाव से नित्यतृप्त–सा, शान्त तथा समस्थित आत्मा इस चित्तनामक स्वप्नभ्रमको न देखता हुआ भी देखता–सा है ॥२४॥ उस शुद्ध आत्मा का इन्द्रियों द्वारा बाहर निकलना जाग्रत कहा गया है, भीतर अहंभाव से युक्त उसीका हृदयसे कण्ठ तक निकलना स्वप्न कहा गया है, स्मरण के बीज वासनामात्र से हृदय में स्थिति सुषुप्ति है, केवल चिन्मात्ररूप से स्थिति तुर्यावस्था है ॥२५॥ इस प्रकार शोधित प्रत्यगात्मा की अत्यन्त शुद्ध सन्मात्र ब्रह्मात्मा में परिणति से निर्विकार जो स्थिति है, वही तुर्यातीत पद है, उस पद में स्थित पुरुष फिर शोक नहीं करता है ॥२६॥

अशोधित तत्पदार्थमें स्थिति की शंका का निवारण करने के लिए उसका शोधन 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' इस श्रुति से परिदर्शित रीति के अनुसार दिखलाते हैं।

उसमें यह सब उदित होता है, उसीमें रहता है और उसीमें लीन हो जाता है, न तो यह ब्रह्म जगत्–रूप है और न उसमें जगत् का सम्बन्ध है, जैसे दृष्टि के विस्तार से आकाश में मुक्तावली का भ्रम होता है, वैसे ही मायावश इस जगत् का भ्रम होता है ॥२७॥

यदि उसमें जगत् का कोई संसर्ग नहीं है, तो श्रुति ने उसे जगत् का हेतु कैसे कहा ?

जैसे वृक्ष की उन्नति में (वृद्धि में) अवरोधक (रुकावट डालनेवाला) न होने से आकाश वृक्ष की उन्नति का कारण है, वैसे ही चैतन्यसमुद्र परमात्मा जगत्–सृष्टिका कर्ता न होने पर भी उसका अवरोधक न होने से कर्ता कहा जाता है। भाव यह कि माया द्वारा रचित सृष्टिका केवल निवारण न करनेमात्र से उसमें कर्तृत्व का उपचार होता है ॥२८॥ जैसे लोहे का बना हुआ दर्पण सन्निधिमात्र से प्रतिबिम्बका हेतु होता है, वैसे ही चेतनमय परमात्मा सन्निधिमात्र से पदार्थप्रतीति में कारण होता है। जैसे बीज, अंकुर, पत्ते आदि के क्रम से फल होता है, वैसे ही चिन्मात्र चित्त, जीव आदि के क्रम से मन होता है ॥२९,३०॥

यदि किसीको शंका हो कि प्रलयकाल में सबका लय होने पर चिति सदा वैसी ही स्वस्थ क्यों नहीं रहती, तो इस पर कहते हैं।

स्वर्गप्राप्ति के लिए किये गये पुण्य कर्म का स्वर्ग में भोग कर चुकने पर उसमें से जो अवशिष्ट अंश रह जाता है, वह अनुशय है। जैसे उक्त अनुशयवाले जीव से युक्त वृष्टि का जलबिन्दु वृक्ष, धान, गेहूँ के पेड़–पौधों में प्रविष्ट होकर फिर बीज होता ही है, उदासीन (बीज होने से विरत) नहीं होता, वैसे ही जीव की वासना से वासित चिति भी चेत्य, चित्त आदि की सृष्टि के रूप से फिर होती ही है, उसे छोड़कर स्वस्थ नहीं होती ॥३१॥

यदि कोई शंका करे कि जैसे बीज में सूक्ष्मरूप से स्थित वृक्षका और उसके बीज का बोध हो चाहे न हो, पर उसमें जो वृक्षजननशक्ति है, वह नष्ट नहीं होती वैसे ही चित्तात्मता को प्राप्त हुए जगत् और ब्रह्म का भी तत्त्वतः बोध हो चाहे न हो कोई अन्तर न होगा, ऐसी परिस्थिति में बोध की विफलता होगी, इस पर कहते हैं।

यद्यपि वृक्ष तथा बीज का बोध हो अथवा न हो, परन्तु सूक्ष्मरूप से बीज के मध्य में

स्थित जो वृक्ष और बीज हैं, उनकी वृक्षजननशक्ति नष्ट नहीं होती है, यह भेद प्रत्यक्ष दिखलाई देता है तथापि चित्तभूत जगत् और ब्रह्म में यह बात है ही नहीं यानी चित्तभूत जगत् और ब्रह्म का वास्तविक बोध हो जानेपर वृक्ष और बीज के समान उनमें सृष्टिजननशक्ति नहीं रहती है। क्योंकि बीज और वृक्ष के बोधमात्र से वास्तविक अखण्डित स्वरूप व्यक्त नहीं होता, ब्रह्मबोध से तो दीपक से रूपशोभा के समान वह चिन्मात्र के आलोक से दिखाई देनेवाला तत्त्व व्यक्त हो जाता है, यानी और बातों में समानता होने पर भी उन दोनों में इतनी विलक्षणता है ॥३२,३३॥

बोध की ऐसी सामर्थ्य कैसे है ? यदि कोई ऐसी शंका करे, तो उसपर बोध, विचारजन्य होने के कारण, तत्त्वावगाही है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे धरती का जो–जो स्थान खोदा जाता है, वह आकाश हो जाता है, वैसे ही जिस–जिस आविद्यक (अविद्याकृत) घट, पट आदि का विचार किया जाता है, वह अधिष्ठानभूत सन्मात्र हो जाता है ॥३४॥ जैसे स्फटिक के अन्दर प्रतिबिम्बित वन आदि यह प्रतिबिम्ब है, ऐसा जाने बिना सत्य प्रतीत होता है, वैसे ही शुद्ध ब्रह्म के अन्दर अद्वितीय भी यह जगत् भिन्न–सा प्रतीत होता है ॥३५॥ जैसे एक अखण्ड स्फटिकशिला फल, पत्ते, लता, झाड़ी और उनके आधार तथा उनके अन्तर्गत बीजरूप से स्थित है, वैसे ही यह ब्रह्म जगद्रूप से स्थित है ॥३६॥

इस प्रकार वर्णित जीव, मन, बुद्धि और अहंकारस्वरूप जगत् की मायामात्रता को सुनकर आश्चर्यमग्न हुए, गुरुवचनों में विश्वास होने के कारण स्वयं अनुवाद द्वारा उसका अनुमोदन करते हुए पंचभूत और तन्मात्राओं के इन्द्रियों सहित समष्टि, व्यष्टि, और स्थूल–शरीरभाव के उत्पत्तिक्रम को जानने के लिए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

भगवन्, अहो बड़े आश्चर्य की बात है कि यह जगत् स्वयं असत् हो कर भी सत्–सा प्रतीत होता है, क्षुद्र होता हुआ भी यह कैसा विस्तृत, कैसा स्वस्थ और कैसा स्पष्ट प्रतीत होता है ? यह कम आश्चर्य की बात नहीं है ॥३७॥ जिस प्रकार ब्रह्म में प्रतिभासस्वरूप और ओस के बिन्दु के समान तन्मात्रारूप गुण से युक्त यह ब्रह्माण्ड स्फुरित होता है, वह मैंने आपसे सुना। पर जैसे यह यथार्थस्वभावसिद्ध आत्मवस्तु से विपुलता को यानी समष्टि, व्यष्टि, स्थूलदेहता को प्राप्त होता है और जैसे व्यष्टि, समष्टि का उपभोग करनेवाला वैश्वानररूपवाला होता है, वैसा आप मुझसे कहिए ॥३८,३९॥

पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देने के लिए सर्वप्रथम अत्यन्त असम्भावित अनिर्वचनीय स्थूलतापर्यन्त सम्पूर्ण वासनाओं से वृद्धि को प्राप्त हुए जीवभाव के आविर्भाव को दृष्टान्तपूर्वक दिखलाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, जीव अत्यन्त असंभावित, अत्यन्त अननुभूत और अनन्य होता हुआ भी पहले अनुभूत–सा प्रतीत होता है। जैसे वास्तव में विकसित अंग से शून्य वेताल भी बालक के हृदय में विकसित अंगवाला होकर स्पष्टरूप से उदित होता है, वैसे

ही स्वस्वभावरूप जीवता परब्रह्म में उदित होती है ॥४०,४१॥

जो वस्तु अनुभूत नहीं है, उसका मनन नहीं हो सकता तथा अनुभव प्रमाण और प्रमेय के अधीन है, इसलिए मनोभाव के निमित्त प्रमाण और प्रमेयकी वासनाओं की उत्पत्ति कहते हैं।

वह जीवता, जो मानमेयरूप, शुद्ध, सत्य होती हुई असत्य के समान स्थित है, ब्रह्म से भिन्न न होती हुई भी भिन्न-सी प्रतीत होती है, ब्रह्म का बृंहणात्मक जो स्वरूप है, तद्रूप है ॥४२॥ जैसे ब्रह्म शीघ्र जीव, जिसका कल्पना ही स्वरूप है, हो जाता है, वैसे ही जीव मननवासना से उत्पन्न होने के कारण मन बन जाता है ॥४३॥ वह मन पंचतन्मात्राओं का मनन करने से अपने को पंचतन्मात्रारूप में आविर्भूत देखता है, यानी पंचतन्मात्राओं का मनन करने से पंचतन्मात्रा बन जाता है, यह भाव है। अविच्छिन्न दृग्रुपवाला और अतिसूक्ष्म वह पंचतन्मात्रात्मा शीघ्र चिदाकाश में स्फुरित होता है और उसके स्वतःप्रकाशमान होने पर अपनी सूर्य के समान प्रकाशमान अपरिच्छिन्न चित् दृष्टि द्वारा ओस के बिन्दु के सदृश ब्रह्माण्डरूप और मनुष्य आदि के देहरूप को अपने में देखता है ॥४४,४५॥

उसमें पहले शब्द और अर्थ के विभाग की स्फूर्ति से मोहाक्रान्त अहन्ताध्यास और तदनन्तर संसारतत्त्वस्मरण होता है, ऐसा कहते हैं।

जीव 'मैं क्या हूँ', यों तात्त्विक रूप से या मनुष्य आदि के आकाररूप से विशेषतया ज्ञान को प्राप्त नहीं होता है, मोहाक्रान्त संवित् को पहले देखता है, तदुपरान्त पुरुषार्थविचार के साथ हजारों पूर्व जन्मों के स्मरण से गर्भ में जगत् और तत्त्वशब्द के अर्थ को तथा ज्ञान को देखता है ॥४६॥

जीव की क्रमशः इन्द्रियों की कल्पना को कहते हैं।

तदनन्तर शरीरपिण्ड में अस्फुट अहंभाव के ज्ञान से शरीर के मुखरूप एकदेश में भावी रसनेन्द्रिय और उसके विषय रस के नाम से उपलक्षित रसनेन्द्रिय का क्षणभर में वह जीव अनुभव करता है ॥४७॥ तदनन्त शरीरपिण्ड में अस्फुट अहंभाव के ज्ञान से चक्षुरिन्द्रिय और उसके विषय रूप की ओर उन्मुख हुआ जीव शरीर के एक देश चक्षुगोलक में भावी नेत्रनाम से उपलक्षित चक्षुरिन्द्रिय होता है ॥४८॥ तदनन्तर शरीरपिण्ड में अस्फुट अहंभाव के ज्ञान से घ्राणेन्द्रिय के दर्शन के संकल्प से घ्राण हो जाता है, इस प्रकार श्रोत्र आदि के भाव में भी जबतक वह स्थित रहता है, तबतक शब्द आदि दृश्य का उपभोग करने का उसका स्वभाव हो जाता है ॥४९॥ इस प्रकारका वह जीवात्मा धीरे-धीरे काकतालीयन्याय के अनुसार पूर्ववासना से कल्पित स्वयं विशिष्ट देहादिसन्निवेश का अनुभव करता है ॥५०॥

श्रोत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा उसका शब्द आदिभोग होने पर तत्-तत् इन्द्रियों में तादात्म्याध्यास के विषय में कहते हैं।

असत् होता हुआ भी सत् और सत्त्वसम्पन्न उस इन्द्रियादिसंघात के श्रोत्ररूप देहैकदेशता को श्रवण रूप क्रिया के लिए वह प्राप्त होता है। स्पर्शभावरूप त्वगिन्द्रिय-रूप देहैकदेशता को स्पर्शक्रिया के लिए प्राप्त होता है। रूपभाव यानी चक्षुरिन्द्रिय-रूप देहैकदेशता को

दर्शनरूप क्रिया के लिए देखता है, घ्राणेन्द्रियरूप देहैकदेशता को गन्धग्रहणक्रिया के लिए प्राप्त होता है ॥५१-५३॥ इस प्रकार उक्त और अनुक्त भावमय इन्द्रियों से भावमय देह में बाह्य पदार्थोंकी सत्ता को प्रकट करने में समर्थ भावी इन्द्रियनामक छिद्र को देखता है ॥५४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार आदि जीव यानी समष्टिरूप और अद्यतन (व्यष्टि) जीव का प्रतिभासस्वरूप आतिवाहिक ही शरीर उत्पन्न होता है ॥५५॥

ब्रह्म के ही अज्ञान से विविध आतिवाहिक देहों की प्राप्ति होती है और ज्ञान से आतिवाहिक देहों का नाश हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

आतिवाहिक देह की यह परा सत्ता अवर्णनीय ही है। वह सत्ता ब्रह्म के अपरिज्ञानसे मानों आतिवाहिकता को प्राप्त होती है और ब्रह्मरूप सत्य आत्मा के परिज्ञान से उसका आतिवाहिक-भाव नष्ट हो जाता है ॥५६॥ जब ब्रह्म के परिज्ञान से प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि ब्रह्मस्वरूप ही हैं, तब आतिवाहिक देहों की उक्तिका क्या प्रसंग है ? यानी वे तो ब्रह्मस्वरूप हैं ही। भाव यह है कि आतिवाहिक देहादि द्वारा अध्यारोप और अपवाद की कल्पना भी व्युत्पत्याधायक व्यवहारदृष्टि से ही है, परमार्थदृष्टि से नहीं है ॥५७॥

भेदज्ञान से आतिवाहिक ब्रह्म से अन्य प्रतीत होता है और ब्रह्मत्वज्ञान से तो वह आतिवाहिक ब्रह्म ही है। यदि ज्ञानानुसार ही वस्तु की सिद्धि है तो ब्रह्मत्वज्ञान और अन्यत्वज्ञान में विशेष क्या हुआ ? तो इस पर कहते हैं ?

ब्रह्मत्वज्ञानरूप संवित् भ्रान्तिजन्य नहीं है, अतः ब्रह्मत्वज्ञान प्रमात्मक है और अन्यत्वज्ञान भ्रमात्मक है ॥५८॥

यदि ऐसा है, तो चिदेकरस ब्रह्म में अज्ञान का सम्पर्क न होने से अज्ञान न होने के कारण जीवभेद की कल्पना ही नहीं होगी अथवा ब्रह्मैकत्व ही स्वतःसिद्ध होगा, अपने से अतिरिक्त मोक्षरूप फल और उसके प्रापक विचार का संभव हीं नहीं है, तो प्रवृत्ति कैसे होगी ? ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, अज्ञान का असम्भव होने से अथवा ब्रह्मात्मैकता की स्वतःसिद्धि होने से क्या मोक्ष है और क्या विचार है ? इसलिए भेदकल्पनाएँ विफल हैं ॥५९॥

क्या यह प्रश्न तात्त्विक वस्तु को जानकर किया गया है अथवा बिना जाने। यदि जानकर किया गया है, तो विचार की अनर्थकता से हमें कोई आपत्ति नहीं है, यदि बिना जाने किया गया है तो इस प्रश्न का अवसर ही नहीं है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, सिद्धान्तकाल में ही आपका यह प्रश्न सुशोभित हो सकता है। अकाल में उत्पन्न फूलों की माला कितनी भी सुन्दर क्यों न हो, शोभा नहीं देती। क्योंक उससे उत्पातजनित अनर्थों की आशंका से भय होता है ॥६०॥ जैसे अत्यन्त शोभायमान भी अकाल-पुष्पमाला तत्काल में उपभोग सुख देने के कारण सार्थक भी क्यों न हो, तथापि औत्पातिक अनर्थों की जननी होने के कारण लोगों को हर्षित नहीं कर सकती, अतः वह अनर्थकारिणी ही है, वैसे ही परिपाकदशा को (सिद्धदशा को) जो जीव प्राप्त न हो, उसके

विषय में अकालोत्पन्न उक्ति अनर्थकारिणी ही होती है। पूर्व श्लोक में जो बात अर्थान्तरन्यास से सिद्ध की गई थी, वह इस श्लोक में उपमा द्वारा सिद्ध की गई है ॥६१॥ इस लोक में हेमन्त आदि काल धान आदि के अंकुरों की उत्पत्ति की प्रतिकूलता और जव आदि के अंकुरों की उत्पत्ति की अनुकूलता का दाता देखा जाता है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों का काल द्वारा ही फल से सम्बन्ध होता है ॥६२॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी की मध्यपाती शंका का मखौल से ही समाधान कर 'अनाख्येयम्' यहाँ तक जो बात कही थी, उसी के अनुसार आतिवाहिक देहों की समष्टिसे उपहित हिरण्यगर्भ में पितामहत्व की कल्पना करते हैं।

इस प्रकार समष्ट्यात्मा जीवात्मा यानी हिरण्यगर्भ समय पाकर अपने में उन्नति को प्राप्त हुए पितामहत्व का अनुभव करता हुआ उपासना के परिपाक से फलीभूत उपास्यरूप से स्थित होता है ॥६३॥

वह प्रणव के उच्चारण से और उसके अर्थ के परिज्ञान से सम्पूर्ण प्रपंच की सृष्टि करता है, ऐसा कहते हैं।

ॐकार के उच्चारण और तदर्थ के परिज्ञान से जो संकल्प करता है, तुरन्त तन्मय हो जाता है अर्थात् संकल्पानुसार पदार्थों को प्रकट देखता है ॥६४॥

इस प्रकार व्यष्टि के संकल्प के अनुसार समष्टि का संकल्पस्वरूप यह जगत् मिथ्या ही है, ऐसा फलितार्थ कहते हैं।

व्यापक आकाश में यह सब तलमलिनत्व आदि के समान कल्पित है और जब मेरु आदि पर्वतों की उन्नत आकृति भी आकाश ही है, फिर छोटों मोटोंकी तो बात ही क्या है, क्योंकि वायु आदि के क्रम से सम्पूर्ण जगत् आकाश में ही आरोप द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुआ है, अतः उसमें और तलमलिनता आदि में क्या अन्तर है ? ॥६५॥

इस प्रकार सृष्टि का प्रतिपादन प्रपंच के मिथ्यात्व का बोधन करने के लिए ही है, वास्तविक सृष्टि के प्रतिपादन के लिए नहीं है, इस अभिप्राय से 'न निरोधो न चोत्पत्तिः' इत्यादि श्रुति के आशय को अभिव्यक्त करते हैं।

यहाँ न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न कोई विनष्ट होती है, ब्रह्म ही जगद्रूपी गन्धर्वनगर के आकार से स्फुरण को प्राप्त होता है ॥६६॥

जीवत्व भी जगत्कोटि में ही है, ऐसा दर्शाने के लिए जगत् की सत्ता जीवसत्ता के तुल्य है, ऐसा कहते हैं।

जैसे हिरण्यगर्भ आदि जीवों की सत्ता सदसन्मयी यानी यौक्तिक दृष्टि से विचारसहन नहीं कर सकती, वैसे ही नीचे कीट, पतंग आदि तक और ऊपर देवयोनिपर्यन्त सबकी सत्ता विचार सहन नहीं कर सकती ऐसी ही है यानी अनिवर्चनीय ही है ॥६७॥

परमार्थदृष्टि से तो कहते हैं।

ब्रह्मा से लेकर कीट, पतंगपर्यन्त प्रसिद्ध संवित्ति (वृत्त्यात्मक ज्ञान) से अनुभवारूढ भी

यह संवत्संभ्रम असत् ही है, क्योंकि इसका सम्यक् ज्ञान से बाध हो जाता है ॥६८॥

'आब्रह्मकीटसंवित्तेः' इस अंश का उपपादन करते हैं।

जैसे ब्रह्मा उत्पन्न होता है, वैसे ही कीड़ा भी उत्पन्न होता है।

शंका – कीड़े में क्षुद्रकर्मता कैसे ?

समाधान – भौतिक मालिन्य के आधिक्य से कीड़ा क्षुद्र कर्म करता है। जीव में जो ही विषयोन्मुख चैतन्यरूप जीवन है, वही उसमें पौरुष है, वही फलरूप में पर्यवसन्न होनेवाला कर्म है, वह कर्म ही पौरुष है। यानी उपाधि का अनुसरण करनेवाली जीवता है और जीवता का अनुसरण करनेवाला पौरुष है, पौरुष ही फलपर्यवसायी कर्म है और उक्त कर्म ही पौरुष है ॥६९,७०॥

उन दो में सुकृतरूप सार के उत्कर्ष की चरम सीमा का फल ब्रह्मता (ब्रह्मा का पद) है, और दुष्कृतरूप सार के उत्कर्ष की चरम सीमा का फल कीटता (कीड़े का पद) है, इस प्रकार वैचित्र्य के कारण भिन्न होने पर भी दोनों में अज्ञानचिन्मात्रप्रयुक्त जो द्वैत-भ्रान्ति है और ज्ञानमात्र से उसका विनाश होता है, ये दोनों में समान ही हैं, ऐसा कहते हैं।

ब्रह्मा का पुण्य से आविर्भाव होता है, और कीड़े का पाप से। चिन्मात्र के अज्ञान से भ्रान्ति होती है और उसके ज्ञान से भ्रान्ति का क्षय हो जाता है ॥७१॥

यदि कोई शंका करे कि जब तक प्रमाता प्रमाण से प्रमेयरूप द्वैत का अनुभव करता है, तब तक द्वैत है और उसके नष्ट होने पर ऐक्य ही है, इस प्रकार सबका क्रमशः द्वैत और ऐक्यस्वभावत्व ही वास्तविक क्यों न मान लिया जाय, इस पर कहते हैं।

द्वैत मातृ (प्रमाता) और मान (प्रमाण) से प्रमेय नहीं है, क्योंकि मातृ, मान आदिरूप द्वैत को भी अन्य मातृ, मान आदि की अपेक्षा होने के कारण अनवस्थापत्ति हो जायेगी। मातृ, मान आदिकी चिन्मात्रता होने पर द्वैत और ऐक्य के साधक अन्य का अभाव होने से द्वैत और ऐक्यवाद खरगोश के सींग और आकाशकुसुम के तुल्य हैं ॥७२॥

यदि शंका हो कि मान से मेय यदि द्वैत नहीं है, तो करोड़ों कुदालों से दुर्भेद्य भुवन आदिभाव दृढ़तारूप द्वैत कैसे प्रतीत होता है, तो इस पर कहते हैं।

ब्रह्मानन्दरूप आत्मा ही बन्धन में डालनेवाला भुवन आदि भाव की दृढ़ता रूप द्वैत है, ऐसा भ्रान्ति से प्रतीत होता है, जैसे रेशम के कीड़े द्वारा अपनी लार की दृढ़तारूप बन्धन का अनुभव किया जाता है, वैसे ही आत्मा के द्वारा भी स्वबन्धक भुवनभावदृढ़ता रूप द्वैत का अनुभव किया जाता है ॥७३॥

यदि बन्धन स्वकल्पित ही है, तो प्रत्येक पुरुष में उसकी अभिलाषा के अनुसार ही कल्पना होगी, अनिष्टकल्पना नहीं होनी चाहिए, ऐसी आशंका पर कहते हैं।

सब मनों के समष्टिरूप ब्रह्मा ने भोक्ता के कर्मानुसार जिस जिस वस्तु को जिस प्रकार स्रष्टव्यरूप से देखा और जैसे कार्य के लिए उसकी कल्पना की, वह वस्तु अन्य जीवों द्वारा वैसी ही देखी जाती है क्योंकि नियति का ऐसा निश्चय है ॥७४॥

वट के बीज से वटका अंकुर होता है, कुटज के बीज से वट का अंकुर नहीं होता और बुद्बुद कुछ ही निमेष तक रहते हैं, ब्रह्माण्ड महाकल्प तक रहता है, इस प्रकार हेतु, फल आदि की नियति के बल से भी अपनी इच्छा के अनुसार कल्पना नहीं की जा सकती, ऐसा कहते हैं।

जो वस्तु जिससे उदित हुई है, उसके बिना वह उदित नहीं होती। निमेष भर कोई रहे या कल्प भर कोई रहे, यह नियति का निश्चय है ॥७५॥

हम लोगों की अस्वतन्त्रता के प्रभाव से और नियति द्वारा निर्धारित शक्ति, काल आदि की व्यवस्था के देखने से यह जगत् सत्य ही है, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

यह जगत् मिथ्या ही उत्पन्न हुआ है और मिथ्या ही वृद्धि को प्राप्त होता है, भोगकाल में यह मिथ्या ही रोचक प्रतीत होता है और मिथ्या ही विलीन होता है ॥७६॥

तीन सर्गों में पद्यों द्वारा जो अर्थ विस्तारपूर्वक कहा गया है, उसीको गद्यों द्वारा संक्षेप से दिखलाते हैं।

शुद्ध सर्वव्यापक ब्रह्म अनन्त और अद्वितीय है, भ्रान्तिवश अशुद्ध–सा असत्–सा, नाना–सा, असर्वव्यापक–सा ज्ञात होता है ॥७७॥ जैसे जल भिन्न है और तरंग भिन्न है, ऐसी मूर्खों की कुकल्पना से अवास्तविक भेद प्रतीत होता है, वैसे ही जो यह जगत् का भेद प्रतीत होता है, वह भी अवास्तविक है केवल अज्ञानियों ने उसकी कल्पना कर रक्खी है। *जल का तरंग परिणाम है, यह माना जाय तो विवर्त स्फुट नहीं होगा, इसलिए दूसरा दृष्टान्त देते हैं।* जैसे रज्जुमें सर्प की स्थिति है, वैसे ही ब्रह्म में ही शत्रु और मित्र के समान विरुद्ध और अविरुद्ध कभी भी अपने स्वभाव का परित्याग न करनेवाली भेदाभेदशक्तियों की स्थिति है। जैसे जल तरंगों की कल्पना से द्वित्व का विस्तार करता है, जैसे सुवर्ण कटक की कल्पना से द्वित्व का विस्तार करता है, वैसे ही उसी अद्वितीय प्रत्यक् आत्माने मानों द्वित्व का विस्तार कर रक्खा है। अतः उस आत्मा से स्वयं अन्य आत्मा का अनुभव होता है ॥७८,७९॥ इस ब्रह्म से निर्विकल्प जगत् का स्फुरण हुआ, वही सविकल्पता को प्राप्त होकर मन बन गया, उसने अहंभावकी कल्पना की। यह पहले निर्विकल्प प्रत्यक्षरूप था, वह मन होता है, शीघ्र 'अहम्' शब्द के अर्थ की भावना करने से 'अहम्' होता है ॥८०॥ तदनन्तर मन और अहंकार से अनुभव के अनुसार स्मृति उत्पादित हुई, मन, अहंकार और स्मृति–इन तीनों ने स्मृति द्वारा अनुभूत यानी अनुभवानुसार स्मरण किये गये तन्मात्राओं की कल्पना की (सृष्टि की), तन्मात्राओं में चित्तरूप जीवने ब्रह्मरुप उपादानकारण से अनन्तब्रह्माण्डों से विस्तृत संसारसागर की काकतालीयन्याय से कल्पना की ॥८१॥

पूर्व में जिसका वर्णन किया गया है, उस सृष्टिक्रम का लोक भी ठीक ऐसे ही स्वप्न में अनुभव करते हैं, ऐसा कहते हैं।

मन जिस वस्तु की कल्पना करता है, उसको देखता है।

शंका – स्वप्न के पदार्थ प्रातिभासिक असत् होते हैं, वे व्यावहारिक सत् पदार्थों के दृष्टान्त

कैसे हो सकते हैं ?

समाधान – चिरकाल से उस पदार्थ की भावना से युक्त चित्त जिस वस्तु की कल्पना करता है, वह सत् हो चाहे असत् हो, उसको अवश्य देखता है। दर्शन से सत्य के समान प्रतिभासित हुआ वह शीघ्र व्यवहारोपयोगी बन जायेगा ॥८२॥

सड़सठवाँ सर्ग समाप्त

अड़सठवाँ सर्ग

कर्कटीनामक राक्षसी का तथा सम्पूर्ण प्राणियों को मारने की इच्छा से की गई उसकी उग्र तपस्या का वर्णन।

विस्तार और संक्षेप से पहले वर्णित अर्थ को दृढ़ करने के लिए 'कर्कट्युपाख्यान' नामक इतिहास द्वारा राक्षसीका किरातराज तथा मन्त्री के साथ हुए संवाद को कहने की इच्छा से कर्कट्युपाख्यान का अवतरण करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी इसी विषयमें राक्षसी द्वारा कथित अनेक प्रश्नों से युक्त इस प्राचीन इतिहास को कहते हैं, जिसमें कि तात्त्विक विचारसे सम्पूर्ण जगत् स्थित है ॥१॥ हिमालय पर्वत के उत्तर बगल में काजल के पंक से या काजल के पर्वत से बनाई गई प्रतिमा के समान काली, उग्र कर्म करनेवाली कर्कटीनाम की राक्षसी थी। उसके दो नाम थे–एक विसूचिका और दूसरा अन्यायबाधिका। वह विन्ध्याचल के समान शरीर से शुष्क और बड़ी कृशता को प्राप्त हुई थी। वह बड़ी बलवती थी, उसके नेत्र अग्नि के सदृश देदीप्यमान थे, उसका शरीर इतना विशाल था कि वह आकाश और पृथिवीके मध्यवर्ती भाग को अपने शरीर से आधा भर देती थी। वह नीले वस्त्र पहनती थी और ऐसी काली थी कि मालूम पड़ता था मानों मूर्तिमती अँधेरी रात हो। कुहरारूपी वस्त्र से वह आच्छादित रहती थी, बड़े विशाल बादल ही उसके उत्तरीय वस्त्रका काम देते थे, वह जलसे भरे मेघमण्डल के समान उल्लास को प्राप्त हुई थी, कभी नष्ट न होनेवाले अन्धकार के समान काले उसके केश थे, सदा रहनेवाली बिजली की रेखा के समान उसके नेत्र थे, उसकी पिण्डलियाँ तमाल के पेड़ के समान लम्बी थी, वैदूर्यमणि के रंग के समान रंगवाले तथा सूप के अग्रभाग के आकार के समान आकारवाले उसके नख थे, भस्म और तुषार के समान उसका हास था, मांसरहित अनेक नरकंकालरूपी फूलों की माला ही उसका अलंकार था, सर्वांगमें खूब पिरोई गई नरमाला से वह विराजमान थी, वेतालों के साथ नाचने के आवेश में उसके काले–काले नरकंकालरूपी कुण्डल दायें–बायें हिलते थे, उसका विशाल भुजमण्डल का अग्रभाग सूर्य को पकड़ने के लिए उत्कण्ठित–सा था, इससे बड़ा भयावना प्रतीत होता था ॥२–८॥ उस कर्कटी का शरीर अत्यन्त विशाल था, अपनी जाति के अनुरूप आहार उसे नहीं मिलता था, अतएव उसकी जठराग्नि वडवानल की नाईं अतृप्त–सी रहती थी ॥९॥ वह महोदरी कर्कटी वड़वानल की जिह्वा के समान कभी भी तृप्त नहीं हुई। उसने एकबार

विचार किया–यदि मैं जम्बूद्वीप में रहनेवाले सब प्राणियों को जैसे सागर जलराशि को निगलता है, वैसे ही सदा और प्रत्येक श्वास में निगलूँ, तो जैसे जल बरसने से मृगतृष्णा शान्त हो जाती है, वैसे ही मेरी क्षुधा शान्त हो सकती है। जिस युक्ति से आपत्ति में जीवित रहा जाय, वह युक्ति विरुद्ध नहीं है, परन्तु मन्त्र, औषधि, तप, दान, देवपूजा आदि से सुरक्षित सम्पूर्ण जनों को एक साथ बे–रोक–टोक कौन बाधित कर सकता है ? भाव यह है कि एक साथ सब लोगों को निगलने की युक्ति अशक्य होने से विरुद्ध ही है ॥१०–१३॥

तो मेरी सर्वजनग्रसन मनोरथ सिद्धि कैसे होगी ? इस शंका पर वह स्वयं कहती है।

कभी परिश्रान्त न होनेवाले चित्त से मैं परम तप करूँ, जो वस्तु दुर्लभ होती है, वह भी उग्र तपस्यासे प्राप्त हो जाती है, ऐसा मन में विचार कर सम्पूर्ण जन्तुओं को मारने की इच्छा से उसने हिमालय पर्वतका, जहाँ अन्य प्राणी नहीं जा सकते, तपके लिए स्मरण किया। उसके नेत्र स्थिर बिजली के समान थे, वह हाथ, पैर से युक्त आकृतिवाली काली मेघमाला के समान उस पर्वत के शिखर पर चढ़ी ॥१४–१६॥ वहाँ जाकर तप करने के लिए निश्चय कर उसने स्नान किया, तदनन्तर सूर्य और चन्द्रमा के समान प्रदीप्त और निश्चल नेत्रवाली वह कर्कटी एक पैर से खड़ी रही। पत्थर से बनाई हुई प्रतिमा के समान शीत और ताप में लीन उस कर्कटी के क्रमशः दिन, पक्ष, मास, ऋतु बीत गये। उस कर्कटीने मेघमाला के समान अपनी आकृति को स्थिर किया, उसका शरीर काला था, वह उपर को चलती थी, और उसके केश भी उपर को खड़े थे, अतः मालूम पड़ता था कि वह आकाश को निगलने के लिए उत्पन्न हुई है ॥१७–१९॥ शीत, उष्ण और धूलि से रुक्ष वायु से शिथिल हुए उसके कृश अंगों की लटक रही त्वचा ही उसका वस्त्र था, एक बड़ी सेना के सदृश उसका आकार था, शब्दायमान वायुओं द्वारा हिलाये गये और खड़े केशरूपी अन्धकारपटल से तारा रूपी मुक्तामाला को धारण कर रही उसको देखकर वर देने के लिए ब्रह्माजी उसके पास आए ॥२०॥

अड़सठवाँ सर्ग समाप्त

उनहत्तरवाँ सर्ग

कर्कटी राक्षसी को मनोवांछित वर देकर तथा गुणी लोगों की
रक्षा के लिए मन्त्र कहकर ब्रह्माजी का अपने लोक में जाना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, एक हजार वर्ष तक इस प्रकार कठिन तपस्या करने पर ब्रह्माजी उसके पास वर देने के लिए आये।

शंका : कर्कटी अत्यन्त दुःशील थी, उसको अतिदुर्लभ ब्रह्माजी का प्रसाद कैसे प्राप्त हुआ ?

समाधान : दारुण तपस्या सिद्धि के लिए होती ही है, तप की सिद्धि होने पर और तो और विषयुक्त अग्नि भी शीतल हो जाती है, तपस्या से कुछ भी असाध्य नहीं रहता, यह भाव है ॥१॥ वह मन से ही ब्रह्माजी को प्रणाम कर वैसे ही स्थित रही, उसने मन में विचार किया कि

मेरी भूख की शान्ति के लिए कौन वर उत्तम होगा ॥२॥ हाँ, जो वस्तु मुझे माँगनी चाहिए उसकी मुझे स्फूर्ति हो गई । भगवान् ब्रह्माजी से यह एक वर माँगूंगी कि मैं रोगरूपा और लोहमयी जीवयुक्त सूचिका होऊँ । ब्रह्माजी के इस वरदान से दो प्रकार की सजीव सूचिका होकर जैसे नासिका से आकृष्ट सुगन्धि प्राणियों के हृदय में अलक्ष्यरूपसे प्रविष्ट हो जाती है, वैसे ही सब प्राणियों के हृदय में एक साथ प्रविष्ट हो जाऊँगी । इस उपाय से अपनी अभिलाषा के अनुसार मैं सम्पूर्ण जगत् को अपनी क्षुधा की निवृत्ति के लिए निगल जाऊँगी, संसार में क्षुधानिवृत्ति से बढ़कर दूसरा कोई आनन्द नहीं है ॥३–५॥ इस प्रकार विचार कर रही तथा शान्ति, दम, दया आदि तपस्वियों के स्वभाव के विरुद्ध हिंसा की इच्छा होने के कारण तपस्विविपरीतस्वभाववाली कर्कटी की वज्रपात के तुल्य अभिलाषा को देखकर ब्रह्माजी ने उससे कहा ॥६॥ हे कर्कटि, तुम राक्षसरूपी कुलपर्वत की मेघमाला हो, उठो, तुम्हारे लिए मैं सन्तुष्ट हुआ हूँ । तुम्हें जो वर चाहिए, माँगो ॥७॥ कर्कटी ने कहा : भगवन्, आप अतीत, अनागत, वर्तमान सबके नियन्ता है, यदि आप मुझे वरदान देना चाहते हैं, तो मुझे ऐसा वरदान दीजिए कि जिससे मैं रोगरूपा और लोहमयी जीवयुक्त विसूचिका होऊँ ॥८॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, 'जैसा तुम चाहती हो, वैसा ही हो ।' – ऐसा कहकर ब्रह्माजी ने फिर उससे कहा : तुम उपद्रवों से युक्त सूचिका ही नहीं, किन्तु 'वि' उपसर्ग के साथ विसूचिका होओगी ॥९॥ अपनी अलक्ष्य माया द्वारा सब लोगों की तुम हिंसा करोगी, जिनका आहारविहार समुचित नहीं है, दुष्ट देशों में रहते हैं, ऐसे मर्यादारहित मूर्ख तथा दुष्ट लोगों की तुम हिंसा करोगी । प्राणों द्वारा अपान वायु के स्थान से हृदय तक प्रवेश कर हृदयपद्म, प्लीहा आदि के पीड़न द्वारा वायुरूपी विसूचिका व्याधि होओगी, शास्त्र में प्रतिपादित सदाचार में निष्ठा रखनेवाले पुरुषों को या उससे रहित पुरुषों को तुम प्राप्त करोगी ॥१०–१२॥ किन्तु सदाचारियों की चिकित्सा के लिए यह मन्त्र मैं कहता हूँ । ब्रह्माजी ने कहा : हिमालय पर्वत के उत्तर पार्श्व में कर्कटीनामक राक्षसी, जिसके विसूचिका तथा अन्यायबाधिका (अन्यायमार्ग में चलनेवाले पुरुषों को पीड़ित करनेवाली) ये दो नाम हैं, उसका मन्त्र यह है– 'ॐ ह्रीं ह्रां रीं रां विष्णुशक्तये नमः (🔥)' । परब्रह्मरूप विष्णुशक्ति को नमस्कार है । हे सबके नियमन की शक्तिवाली, हे आद्यविष्णुशक्ति, तुम दूसरी अपनी अंशभूत रोगात्मक इस विष्णुशक्तिको ॐकारवाच्य कारणस्वरूप में भलीभाँति लीन करो और अपने स्थान में ले जाओ । जैसे चावल आदि पकाने से तुरन्त कोमल हो जाते हैं, वैसे उसे कोमल करो, दही के समान उसे मथो, इस स्थान से अन्य स्थान में ले जाओ, जो प्रकार मैंने कहे हैं – उनसे अथवा उनसे अन्य प्रकारों

🔥 भगवान् विष्णु की दो शक्तियाँ हैं–पहली मायाशक्ति, जिसके अधीन अन्य सब शक्तियाँ हैं और दूसरी शक्ति माया के अधीन जो प्रत्येक वस्तु में रहती है तथा सात्त्विक आदि भेदों से भिन्न हैं, उसमें तामसी संहारशक्ति के अंशभूत प्राणियों के दुष्कर्म के फलजननशक्तिरूप रोग हैं, उनकी निवृत्ति के लिए आद्य मायाशक्ति की प्रणव, माया आदि पाँच रहस्य बीजों से सम्बोधन कर प्रार्थना की जाती है 'ॐ' इत्यादि से ।

से इसे दूर करो इस प्रकार आदि शक्ति की प्रार्थना कर अब उसके अधीन स्थित रोगशक्ति की प्रार्थना करते हैं। तुम अपने स्थान हिमालय को जाओ। तदनन्तर रोगी से कहते हैं–जो तुम अपने पूर्वजन्म के दुष्कृत से पीडित थे, रोग से तिरस्कृत थे, मृत्यु से खींचे जा रहे थे, अब मन्त्र की सामर्थ्य से अमृत से पूर्ण चन्द्रमण्डल को मेरी भावना से प्राप्त हुए हो, जैसे प्रदीप्त अग्नि में हविस् का प्रक्षेप किया जाता है, वैसे ही पूर्ण चन्द्रमण्डल में भावना द्वारा रोगी का प्रक्षेप करना चाहिए, यह मन्त्रस्थ 'स्वाहा' पदसे सूचित होता है, इस मन्त्र को मन्त्रसिद्ध पुरुष बाँये हाथ के मध्य में बाँधकर रोगी पुरुषका उस हाथ से युक्त होकर मार्जन करे। मन्त्ररूपी मुद्‌गर से पीडित, कर्कश रोदन करनेवाली और हिमालय की ओर भागी हुई कर्कटी की भावना करे ॥१३–१५॥ जिसके हृदय में रसायन है ऐसे चन्द्रमा में रोगी पुरुष की स्थिति की भावना करे और यह भावना करे कि रोगी जरा और मरण से रहित हो गया, सम्पूर्ण मानसी व्यथाओं से मुक्त हो गया और समाहित हो गया ॥१६॥ साधु पुरुष पवित्र होकर आचमन करके एकाग्र चित्त हो क्रमशः इस उपाय से सम्पूर्ण विसूचिका का विनाश करता है ॥१७॥ इस प्रकार आकाश में स्थित दिव्यरूपधारी ब्रह्माजी, जिनका सिद्धमन्त्र आकाशचारी सिद्धों द्वारा ग्रहण किया था और अपने अन्यान्य कार्यों के लिए आये हुए इन्द्र जिन्हें प्रणाम कर रहे थे, अक्षयमायावाले अपने नगर को गये ॥१८॥

उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सत्तरवाँ सर्ग

कर्कटी का क्रमशः शरीरकी सूक्ष्मतापूर्वक दो सूचिकाओं के रूप में
गमनवर्णन और उसका प्राणियों के शरीर में प्रवेश वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, तदुपरान्त पर्वत के शिखर के समान विशाल, कज्जलाकार मेघघटा के समान बड़ी काली वह राक्षसी सूक्ष्मता को प्राप्त होने लगी। पहले वह मेघाकार हुई, तदनन्तर उसका देह–प्रमाण वृक्षकी शाखा के तुल्य हुआ, तदुपरान्त वह मनुष्य के आकारवाली हुई, फिर उसका स्वरूप केवल हाथभर का बन गया, तदनन्तर वह एक बिलस्त भर का हुआ, उसके बाद वह केवल एक अंगुलमात्र रह गई, तदनन्तर उड़द की छीमी के बराबर हुई और फिर वह सूचिका बन गई। सूचिका बनने के बाद जैसे संकल्पादि अणुता को (अलक्ष्यता को) प्राप्त होता है, वैसे ही शिखर के समान विशाल आकारवाली वह रेशमी वस्त्र सीने योग्य अत्यन्त सूक्ष्म सुई बनकर पद्मकेसर के समान सुन्दरी हुई ॥१–४॥ वह सूक्ष्म लोहविकार होकर तथा अनायसी (रोगरूप) जीवयुक्ता सूचिका होकर शोभित हुई। महाभूत, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, अविद्या, काम, कर्मके संघातरूप पुर्यष्टक से चली हुई वह आकाश में जाती थी और निवास करती थी, वह सूची तो दिखाई ही देती थी, पर उसमें लोहा नाममात्र भी नहीं था। अनेक भ्रमों के बीचमें उसका यह स्वल्प–सूचीरूप से दिखाई देना भी एक प्रकारकी भ्रान्ति ही थी ॥५,६॥ मन के मनन से (भावना से) युक्त यह

सूची सूर्यकिरणों के भीतर में प्रवेश करने से सुन्दर रत्नसूचे के समान और वैदूर्यमणि की किरणलेखा के समान चिकनी दिखाई देती थी ॥७॥ वह पवन से उड़ाई गई काजल के मेघ के पिण्ड की लेखा के समान थी, उसके शरीर के अनुरूप छोटे मस्तक में अत्यन्त छोटे-छोटे सुराखों में स्थित नेत्रों की स्वच्छ ज्योतिरूपी कनीनिका विराजमान थी ॥८॥ सूक्ष्म पुच्छाग्र से अणु (परमाणु के सदृश) मुख की प्रसन्नतापूर्वक वरदान से प्राप्त होनेवाले अत्यन्त अभीष्ट अपने सूचीरूप के लिए पूर्व के अपने विशाल शरीर की निवृत्ति हो, इसलिए मानों उसने पहले मुनि की तपस्या की थी, दूरसे देखने पर खूब प्रकाशित हो रहे नेत्रों की सन्धिका ज्ञान न होने से एक दीप के समान देखी गई वह, सूचीरूप शरीर का दर्शन न होने से, केवल आकाशरूपता को प्राप्त हुई थी। पहले विपुल देहावस्था में जो आकाश उसने निगल रक्खा था, देह में स्थित उस आकाश का सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति होने पर अपने मनोज्ञ मुख से मानों वमन कर रही थी ॥९,१०॥ टिमटिमाते हुए नेत्रों से दृश्य वह दूर-दूर फैले हुए दीपक की किरणों के समान सूक्ष्म थी, अतएव बड़ी एकाग्रता के लिए जिन्होंने अपनी आँखें अत्यन्त संकुचित कर रक्खी थी, ऐसे देखनेवालों की दृष्टि से वह दिखाई देती थी। तुरन्त स्नान करने से पृथक्-पृथक् हुए बालकों के केशों के समान उसका विलास था, बाह्य संचार करने के कौतुक से मृणाल को तोड़नेपर उसके बीचसे निकले हुए तन्तु के समान और मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर बाहर निकली हुई सूर्यमण्डलाभिमुख होकर स्थित ब्रह्मनाड़ी की (सुषुम्ना नाड़ी की) तरह वह उस समय सुन्दरी प्रतीत होती थी ॥११,१२॥ उसकी चक्षु आदि इन्द्रियशक्तियाँ प्रत्येक नियत स्थान में स्थित थी, मानों उसका लिंगदेह ही बाहर सूची के आकार में स्थित था। जैसे ज्ञानियों का आलयविज्ञानसन्तान स्वमात्रगोचर होता हुआ भी अन्य से अलक्ष्य रहता है, और जैसे तार्किकों का धारावाहिक ज्ञानसन्तान, साक्षीका स्वीकार न होने से अलक्षित रहता है, वैसे ही वह भी दूसरों से अलक्षित थी ॥१३॥ अत्यन्त अलक्ष्य होने के कारण ही मानों वह शून्यवादियों के मत में प्रसिद्ध अर्थों की जननी और आकाश की जो नीलिमा है, तद्रूप थी और निःशब्द थी। इस प्रकार लोहसूचिकाका वर्णन कर अब रोगरूपिणी सूचिका उसका अनुसरण करती है। उस लोहरूप सूचिका का अदृश्य और जीवयुक्त रोगरूपिणी सूचिका, जो कि तत्-तत् पदार्थाकार मनोवृत्तिमें प्रतिफलित चिदाभास के समान धर्मवाली थी, सदा अनुगमन करती थी। जैसे विनाशावस्था को प्राप्त सूक्ष्म दीपज्योति दृष्टिगोचर नहीं होती और स्पर्श करने पर उसके अन्दर तीक्ष्ण दाहक शक्ति प्रतीत होती है, वैसे ही यद्यपि वह सूचीभाव को प्राप्त हुई राक्षसी अत्यन्त अदृश्य थी, फिर भी उसके अन्दर वासना आदि ज्यों-की-त्यों विद्यमान थी, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ था ॥१४,१५॥

अब सुखोपयोगी न होने से उस कर्कटी नामक राक्षसी के तपस्याफलका उपहास करते हैं।

वह कर्कटी जगत् के प्राणियों को निगलने के लिए सूचीरूपता को प्राप्त हुई, उसका जगत् को निगलने का वह आदर ही उपयुक्त नहीं हुआ, क्योंकि सूचिकावस्था में जब उदर ही नहीं रहा तब निगलती कैसे ? उसने इस बात का विचार ही नहीं किया, अहो यह उसकी मूर्खता की

पराकाष्ठा ही है ॥१६॥ उसने जगत् को निगलने का विचार तो किया,पर सूचीरूप तुच्छताका विचार नहीं किया। केवल एकमात्र जगद्ग्रसनरूप अभिलाषाको देख रही उसका संकल्प निरर्थक ही रहा। उस मूढ़मति कर्कटीने बिना विचारे ही सूची बनने की अभिलाषा की। निरर्थक बुद्धिवाले प्राणियों में पूर्वापर का विचार नहीं रहता ॥१७,१८॥

विचार करने योग्य चित्त के रहते उसे पूर्वापर विचारणा क्यों नहीं हुई, इस पर कहते हैं।

ईच्छित विषयमें लगा हुआ चित्त ईच्छित वस्तु में दृढ़ प्रयत्न की अनुल्लंघनीय सामर्थ्य से भावना द्वारा पूर्व निर्मल अवस्था से अन्य अवस्था को यानी कालुष्य को प्राप्त होता है, जैसे कि निर्मल दर्पण निःश्वासवायु से मलिनता को प्राप्त होता है ॥१९॥ स्थूल शरीर को छोड़कर सूचीभाव को प्राप्त हुई उस राक्षसीका महामरण भी यानी महादुःख भी सुखरूप ही हुआ, क्योंकि उसका स्वार्थ में दृढ़ अनुराग था ॥२०॥ एक वस्तु में अत्यन्त अनुराग करनेवाले लोगों की विषम अवस्था को तो देखिए,राक्षसी ने अपनी इच्छासे अपने शरीर का तृणवत् त्याग कर दिया, एक वस्तु में अत्यन्त तृष्णा होने से अन्य प्रतीतियाँ नष्ट हो जाती हैं। जगत्–ग्रास में अत्यन्त अभिलाषा होने से राक्षसी ने अपने देहविनाश को भी नहीं देखा ॥२१,२२॥ एक वस्तु में अत्यन्त अनुराग करनेवाले अज्ञानी को अपना नाश भी सुख देता है, सूचिका बनी हुई राक्षसी देहरहित होने पर भी सन्तुष्ट ही रही ॥२३॥

प्रसंगप्राप्त नीति का वर्णन कर प्रस्तुत विषय का अनुसरण करते हुए जीवयुक्त सूचिकानामक व्याधि के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

लोहमयी सूची से संलग्न जीवयुक्त विसूचिका अन्य सूचिका हुई। वह व्योमात्मिका, निराकार और आकाशके समान सूक्ष्म स्वभावयुक्त लिंग शरीरवाली थी, वह तेज के सूक्ष्म प्रवाह के समान कान्तिवाली तथा प्राणतन्तु के तुल्य, कुण्डलीनी शक्ति के सदृश तथा सूर्य और चन्द्रमा की छोटी–छोटी किरणों के समान सुन्दरी थी। उस कर्कटी की पापात्मक अतएव तलवार की धार के सदृश क्रूर मनोवृत्ति लोहमय सूची से पृथक् ही थी। वह फूल की सुगन्ध के समान अत्यन्त सूक्ष्मरूप से प्राणियों के भीतर प्रवेश कर हिंसादिचातुरी के सम्पादन से मूर्तिमती होकर जीवरूप से प्रकट होती थी। दूसरे लोगों के प्राणों का अनुसरण कर अपनी परम मनोरथ–सिद्धि में परायण थी ॥२४–२७॥ इस प्रकार उस कर्कटी की दो प्रकार की सूचिकारूप देह उत्पन्न हुई। वह कुहरेरूपी वस्त्र के सदृश सूक्ष्म और कपास के (सूती) वस्त्र के समान कोमल थी। उन दो शरीरों से मनुष्यों के हृदयों में प्रवेश कर उन्हें पीड़ित करती हुई वह क्रूर राक्षसी दसों दिशाओं में घूमती थी ॥२८,२९॥

संकल्प की अघटितघटनामें यही दृष्टान्त है, ऐसा कहते हैं।

सभी लोग अपने संकल्प से लघु होते हैं और अपने संकल्प से महान् होते हैं। इसी न्याय के अनुसार संकल्प से ही कर्कटीने अपने भीषण शरीर का त्यागकर सूचीकारूपता का स्वीकार किया। क्षुद्र चित्तवाले लोग तुच्छ पदार्थ की प्रार्थना करते हैं। राक्षसी ने सूची के स्वभाव के तुल्य स्वभाववाले पिशाचीत्व की तपस्या से अभिलाषा की ॥३०,३१॥

यदि कोई शंका करे कि तपस्या से पवित्र हुई उस राक्षसी ने दूसरे लोगों को पीड़ा पहुँचानेवाले सूचीरूप शरीर की प्रार्थना क्यों की ? अर्थात् ऐसी प्रार्थना उसके लिए योग्य कैसे हो सकती है ? इस पर कहते हैं।

पुण्यशरीरवाले जीवों की भी जाति के उचित वासना शान्त नहीं होती। इसीलिए सूक्ष्म सूचीरूपी पिशाचीत्व का कर्कटी ने उपार्जन किया ॥३२॥ उसके दिशा–विदिशामें घूमनेपर उसकी सर्वसाधारण कर्कटीदेह को, जो कि अविद्या से कल्पित थी, महावायुओं ने शरत्कालीन मेघ के समान छिन्न–भिन्न कर दिया ॥३३॥

अब विसूचिका का चरित्र विस्तारपूर्वक कहते हैं।

जो कोई जीव पहले किसी रोग से आक्रान्त होने के कारण क्षीणकाय हुआ हो या विशालकाय हुआ हो उसके अन्दर प्रवेश करके वायु में छिपी वह लोहसूची भयंकर विसूचिकारूप रोग में परिणत हो जाती है। किसी लघुकाय, स्वस्थ और बुद्धिमान् पुरुष के अन्दर जीवयुक्त सूचिकारूप से प्रवेश करके दुर्बुद्धिरूपा हो जाती है ॥३४,३५॥ इस प्रकार किसी पुरुष में दुर्बुद्धिरूप से हृदय में स्थित होकर तृप्त होती है और किसी पुरुष में मन्त्र, औषधि, तप आदि पुण्य उपाय से उसकी निवृत्ति की जाती है। दोनों शरीरों से आकाश और भूमितल में जाती हुई वह बहुत वर्षों तक इधर उधर घूमती रही ॥३६,३७॥

उसके तिरोधान का स्थान कहते हैं।

भूमि में वह धूलिकणों से तिरोहित रहती है, हाथ में अंगुलियों से तिरोहित रहती है, आकाश में प्रभा से तिरोहित रहती है और वस्त्रमें सूत से तिरोहित रहती है ॥३८॥

देह के बीच में भी इसके तिरोधान के स्थान कहते हैं।

देह के अन्दर स्थित आँतरूपी नदी में, व्यभिचार आदि दोष से दुष्ट उपस्थेन्द्रिय में, ऊसर आदि भूमि के धूलिकणों से धूसर अंगों में, हस्त, पाद आदि की रेखारूपी सूखी नदीके गड्ढों में और छोटे–छोटे रोमरेखारूपी पुराने तृणों में तिरोहित रहती है ॥३९॥ पीड़ित लोगों को उच्छ्वसित करनेवाली और अन्दर सद्भाव से रहित वह विसूचिका सौभाग्य से हीन और कान्तिरहित शरीर में, मक्खियों, रूक्ष दुर्गन्धवायुओं से युक्त हरे तृणों से आवृत्त देश में तथा बिल्व, आम्र आदि श्रेष्ठ वृक्षों से रहित देश में रहती है। पशु, मनुष्य आदिकी बड़ी–बड़ी हड्डियों से व्याप्त, आँधी आदि से नित्य कम्पन होने के कारण अत्यन्त स्फुरित होनेवाले, आत्मनिष्ठ अतएव निर्मल तथा हिम के समान दूसरों का सन्ताप हरनेवाले सत्पुरुषों से रहित मैले, कुचैले और अपवित्र वस्त्रवाले अशिष्ट लोगों के संचार में आनेवाले देश में, जहाँ पर खोखलों मे और काटे हुए वृक्षों के अग्रभाग में क्रमशः मधुमक्खियाँ और कोयल, कौए निवास करते हैं, अत्यन्त शीत होने के कारण रूक्ष तेज हवा सांय–सांय शब्द करती है, अतएव कम्प के कारण अंगुलिरूपी शाखाएँ चंचल रहती हैं तथा जहाँ पर घनीभूत कुहरे का संचार रहता है ऐसे स्थानों में, जिनकी अंगुलियाँ कटने के कारण व्रणपूर्ण हैं ऐसे लोगों के निवासस्थानो में, जहाँ पर हिमकण पिघलते रहते हैं, लोगों के पैरों के चिह्नों में युक्त स्थान

में, बामियों में, पर्वतों में, जहाँ पर जलभ्रान्ति होती है, ऐसे मरुप्रदेशों में, नखप्रधान बाघ, भालू आदि में तथा अजगर आदि में भीषण जंगलों में, जहाँ पर इधर उधर भाग रहे अत्यन्त भयभीत और जुओं से गर्हित बटोही लोग रहते हैं उन प्रदेशों में, कुत्सित स्वरूपवाले एवं सूखे हुए शरीरवाले पिशाच आदिसे पान के बीड़ों के समान चबाए गये पुराने पत्तों से भरे हुए और दुर्गन्धियुक्त जल के गड्ढों में, जिन मार्गों के बीच में कुल्या (नहर) आदि के गड्ढों में रहते हैं, शीत वायु से पूर्ण पथिकों के विश्राम–स्थानों में, चबाये जुओं के पेटमें स्थित मनुष्यों के रक्त से जिनके ओठ भरे हैं, ऐसे जंगली मनुष्य, वानर आदि के नखरूपी मुखवाले अंगुलिसमूह से आक्रान्त सम्पूर्ण देहप्रदेशमें तथा भूमि के पूर्वोक्त भिन्न–भिन्न स्थानों में वह जाती थी ॥४०–४६॥ जिन नगरों में अनेक प्रकार की हाथी, घोड़े आदि की रचना चित्र–विचित्र वस्त्र रहते हैं, उन नगरों मे वह जाती थी और वहाँ अत्यन्त लम्बे मार्ग में गमनागमन से वह परिश्रम को प्राप्त होती थी ॥४७॥ सूचिकास्वभाव होने के कारण वह नगरों में और गाँवों में सड़कों और गलियोंमें फेंके हुए यानी अव्यवस्थितरूपसे पड़े हुए कपास के सूतों और उनमें गुँथे हुए काँचमणि आदि अलंकारो को केवल धारण (ग्रथन) करती थी और ज्वर आदि से पीड़ित प्राणियों के शरीररूपी वन में साँड के समान विहार करती थी यानी जैसे हृष्टपुष्ट साँड अपने सींगों से बामी आदि को खोदता हुआ इधर–उधर घूमता है, वैसे ही वह सूचिका भी मनुष्य के शरीर का उन्मथन करती हुई घूमती थी ॥४८॥ जैसे किसीके द्वारा सीने के लिए हाथ में ली गई चिरकाल तक सीने के लिए पिरोये हुए धागे को मुख से खींचनेवाली सुई मानों थककर थोड़ी देर के लिए सीनेवाले के हाथ से गिरी हुई विश्राम करने के लिए कहीं अलक्षित होकर लीन हो जाती है, वैसे ही यह सूचिका भी थी ॥४९॥

यदि कोई शंका करे कि सीनेवाले हाथ को ही उस सुई ने क्यों नहीं छेदा ? तो इस पर कहते हैं।

वह क्रूर होती हुई भी अपने योग्य सीवनरूप कर्म में (सीने में) ही लगी रहती थी, क्योंकि सीना ही सुई का स्वभाव है, अतएव उसने सीनेवाले के हाथ को छेदा नहीं। यदि वह सुई सीनेरूप अपने स्वभाव को छोड़ दे यानी प्रगट न करे, तो अपने क्रूर स्वभाव को भी बाहर प्रगट न कर सकेगी, क्योंकि जैसे उसका सीना स्वभाव है, वैसे ही अपने क्रूर स्वभाव को प्रकट करना भी स्वभाव है ॥५०॥ जैसे बड़ी भारी शिला नाव द्वारा इधर उधर ले जाई जाती है, वैसे ही वृद्धावस्था में स्थित आशा के समान वह लोहमयी सूचिका जीवयुक्त सूचिका के सहारे दिशाओं में घूमती थी। जैसे धान आदि की भूसीका कण अपने भ्रमण को प्रगट करनेवाली पवनशक्ति से दिगन्तों में घूमता है, वैसे ही वह लोहमयी सूची भ्रमण को प्रकट करनेवाली अन्तःकरण की सत्ता से दिशाओं में घूमती थी ॥५१,५२॥ दूसरों के द्वारा गुँथे गये महीन तागे को अपने मुँह से खाती हुई–सी अतएव दूसरे लोगों के द्वारा प्राप्त कराये गये उदरपूर्ति के उद्यम से वह मानों स्वस्थ हृदय हुई ॥५३॥ सूचीने पहले भी दूसरे लोगों के वध से होनेवाले उदरपूर्ति की इच्छा से ही तपसे क्लेश को प्राप्त हुए

अपने मन को उल्लसित किया था, इसलिए मानों वह निरन्तर मुख में गिर रहे अपने इच्छित सूक्ष्म तागे में स्तम्भित रहती थी ॥५४॥

अब सूची द्वारा मूर्खतापूर्वक किया गया तप तागे से गिरे हुए चीथड़ों को पिरोने के लिए ही हुआ, अपने उदरपूरण के लिए नहीं हुआ यह उत्प्रेक्षापूर्ण अर्थ जो कहा गया था, वह लोकप्रसिद्ध सामान्योक्तिका दृष्टान्त हो गया, ऐसा कहते हैं।

चिरकाल से दरिद्रता, कृशता आदि से परिपीड़ित कुल को क्रूर लोग भी दया से पुष्ट करते हैं, इस विषय में विचार करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, यहाँ इस अर्थ में दृष्टान्त सूची द्वारा भरा गया जीर्ण शीर्ण वस्त्र प्रत्यक्ष देखा गया है ॥५५॥

सूची ने अपने उदर की पूर्ति क्यों नहीं की ? इस पर कहते हैं।

क्योंकि सूची ने तागे के अग्रभाग के भीतर अप्रवेश के योग्य छिद्ररहित (अवकाश रहित) हृदय को तपस्या से प्राप्त किया तथा तत्त्वबोधभाग्यशाली होने के कारण सूर्यकान्ति के समान अभिज्ञता के प्रकाश अपने बुद्धिप्रकाश को भी पट आदि के सीवन से ही व्याप्त किया यानी अपने भोग के लिए अर्जित नहीं किया ॥५६॥

इसलिए उसको बड़ा पश्चात्ताप हुआ, ऐसा कहते हैं।

अपनी तपस्या से, जिसने उसके पेट को क्षीण कर दिया था, अकस्मात् प्राप्त हुई सूचिरूपता से मूर्तिमती हुई वह सूचिका राक्षसी बड़ा सन्ताप करती थी ॥५७॥

यदि उसको पश्चाताप हुआ तो क्या वह प्राणियों के विघात से विरत हो गयी ? नहीं, ऐसा कहते हैं।

यद्यपि उसको पश्चात्ताप हुआ था, तथापि नदी के प्रवाह के वेग के तुल्य अपने राक्षसस्वभाव से और प्रकृत सूचीभाव से भी, जिसका प्राणियों के वेधन में आग्रह था, प्राणियों के वेधन के लिए ही अपने स्वभाव के अनुरूप प्रचारित–पहले उद्यत की गई और फिर व्यवहार में लाई गई–भी वह वेध को करती ही थी ॥५८॥

अतएव केवल सूची के स्वभाव से होनेवाले कार्यों को भी वह करती ही है, इस प्रकार के पूर्वोक्त अर्थको दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

जैसे पुत्र, कलत्र आदि में दीर्घ वासनारूप तन्तु मरण के समय में उद्बुद्ध होकर तत्–तत् वासना के अनुसार स्त्री आदि शरीरों में जीवचेतना को संचारित करता है, वैसे ही यह सूची भी निपुण वेधन से तत्–तत् वस्त्रों में सूत्र को संचारित करती है ॥५९॥ इसलिए वस्त्रों में दर्जी द्वारा वेधपूर्वक चलाई जा रही वह उनके नेत्रोंके सामने अपने मुख को वस्त्र में छिपाकर दौड़ती–सी देखी जाती है। पिशुन (चुगलीखोर), चोर आदि दुर्जन लोग अपने मुखको दिखाये बिना ही परमर्मभेदी होते हैं, अतः उसने भी यह जो काम किया, वह दुष्टोंका–सा ही है ॥६०॥ किसी समय गले में लटकाये गये दुपट्टे के सूतमें पिरोई गई वह अपने छेदरूपी नेत्र से स्त्रियोंका मुख 'इनका कैसे भेदन करूँ' इस अभिप्राय से देखती है। जो लोग क्रूर होते हैं, उनकी एकमात्र यही अभिलाषा रहती है ॥६१॥ वह मृदु और स्निग्ध कौशेय वस्त्र में तथा कठिन और रुक्ष क्षौम

वस्त्र में (वल्कल में) तुल्यवृत्ति से प्रवेश करती है। कौन मूर्ख गुण और अवगुण का विचार करेगा॥६२॥ अँगूठे की अंगुली से दबाई गई और लम्बे सूत्र को धारण कर रही वह सूची भीतर न समा रही अँतड़ियों को बाहर उगलती हुई–सी दिखाई देती है॥६३॥ सूत में पिरोई गई तीक्ष्ण भी वह सूची सरस और निरस सभी पदार्थों में हृदयशून्यतावश विशेष का अवधारण न करती हुई अतएव रसास्वाद से रहित होकर सूचीस्वभाव से ही घुसती है॥६४॥

अपराध के बिना दण्ड पाने के कारण इसकी दुर्गति को तो देखिए, ऐसा कहते हैं।

निष्ठुर भाषण आदि शब्द न करती हुई भी वह मुखमें तागे से गुँथी गई है। अन्य को सन्ताप देने में समर्थ होती हुई भी वह स्वयं ही सन्तापयुक्त बुद्धि से युक्त है, सुवेधिता यानी छिद्रयुक्त होने पर भी वह हृदयरूपी छिद्र से रहित है। जैसे कोई राजपुत्री भी अभागिनी हो जाती है, वैसे ही यह भी अभागिनी हो गई है॥६५॥

इसकी दुर्दशा होना ठीक ही है, ऐसा कहते हैं।

चूँकि वह सूचिका अपने अपकार के बिना ही दूसरों का मरण चाहती है, इसलिए उस पाप के कारण अपनी बुद्धि से ही वह तागे में बँधकर अपने कर्मरूप जाल में ही लटकती रहती है॥६६॥ भाग्यवश सीनेवाले के हाथ से गिरी हुई उसके अथवा किसी दूसरे के हाथ से स्पर्श करने के अयोग्य स्थान में कुत्सित श्याम वर्णवाले अधोरोमोंके साथ मानों मैत्री प्राप्त कर उनके साथ सोती है, अपने स्वरूप के अनुकूल मित्र किसको अच्छा नहीं लगता॥६७॥

इसलिए मूर्खों की चित्तवृत्ति के साथ भी संगति उसे अच्छी लगती है, ऐसा कहते हैं।

मूढ़ लोगों की वृत्तियों से मिली हुई वह प्राकृतजनों में रहती है, अपनी अनुरूप संगति को कौन छोड़ सकता है ? ॥६८॥

यदि कोई कहे कि उसकी अन्य लोहसूचियों के साथ भी साम्य होने के कारण, कभी उनके साथ अगर वह लोहार के पास चली जाय, तो क्या करती है ? तो इस पर कहते हैं।

लोहारों की प्राप्ति होने पर लोहारों द्वारा तपाने के लिए अग्नि में डाली गई वह सूचिका उनकी धौंकनी के वायु से इधर–उधर होकर उन्हें छोड़कर अदृश्य हो जाती है और आकाशकी ओर मुख करके भाग जाती है॥६९॥

उसका प्राणियों के प्राण आदि वायुओं द्वारा देह के अन्दर संचार होता है, ऐसा कहते हैं।

प्राण और अपान वायु के प्रवाह में स्थित होकर लोगों के हृदयकमल के अन्दर संचरण करनेवाली यह महाघोर दुःखप्रद कर्मशक्तिरूप ही मानों सजीव होकर उदित हुई है। समान वायु के विपरीत होने पर भी समान के साथ चलनेवाली, उदानवायुके विपरीत होने पर भी उदान के साथ चलनेवाली और व्यान वायु में स्थित होकर सर्वांग में संचरण करनेवाली और विविध व्याधियों को उत्पन्न करनेवाली यह सूचिका हृदयमें, कण्ठमें शुलरोगात्मक वायु में प्रवेश करके विवर्णता (पांडुरोग) और उन्माद रोग को उत्पन्न करती है॥७०–७२॥ प्रायः कम्बल आदि सीने के समय गडरियों के हाथ में स्थित वह सूचिका कभी उन लोगों के उनके टुकड़ों के खोखलों में सोती है, कभी बालकों के हाथ, अंगुली आदिरूप अपने शयन के वेधन

में कौतुक करती है ॥७३॥ पैर में घुसकर रक्तपान के उपार्जन से सन्तुष्ट होती है, फूलों के गुच्छों की माला पिरोने के समय अधिक भोजन करनेवाली भी अल्प भोजन से तृप्त हो जाती है। मलपंकयुक्त मूलाधार कोशमें बैठी हुई चिरकालतक नीचे मुख करके सोई रहती है, अपने इच्छानुरूप स्थान को पा कर कौन फिर उसे छोड़ सकता है ? क्रूरता से दूसरों के प्राणहरणपर्यन्त वेधनों से अपने को दूषित दिखलाती है।

शंका – यदि उसका कोई स्वार्थ नहीं था, तो उसकी अन्य लोगों के मारण में प्रवृत्ति क्यों हुई ?

समाधान – नीच लोगों को कलह करना उत्सव से भी अधिक सुखदायी होता है। भाव यह कि जिन दुष्टों को दूसरों को पीड़ित करने की सामर्थ्य न होने पर भी दूसरों से कलह करने में सुख होता है, उनको दूसरे को मारने में सुख हो, इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥७४–७६॥

थोड़े से रक्तकणों के आस्वाद के लोभ से इसकी दूसरों को मारने में प्रवृत्ति हो सकती है ? इस पर कहते हैं।

आधी कौड़ी की प्राप्ति से भी कृपण को बड़ा हर्ष होता है, प्राणियों का अहंकार–चमत्कार दुरुच्छेद्य है, यानी उसका विनाश नहीं किया जा सकता ॥७७॥ वह सूचिका मूढ़ अपनी आत्मा द्वारा किये जा रहे जीवसूची और लोहसूची इन दो अपनी सूचिकाओं से होनेवाले वेधन से सब प्राणियों के मरण की तर्कना करती है। मूढ़ों की आवश्यक स्वार्थमें यदि मूढ़ता उदित न हो, तो वह बड़े आश्चर्य की बात है। यह मेरा परमारणरूप कार्य पहले (वस्त्र सीने के समय) वस्त्र के तन्तुओंका भेदन करनेसे अभ्यस्त है, इस कारण यह शीघ्र सम्पन्न हो रहा है, इस प्रकार अपने चातुर्य के अनुसंधान से अपने मन में अत्यन्त प्रसन्न होती है ॥७८,७९॥ जैसे मिट्टी में घिसने के बिना चुपचाप रक्खी हुई सुई जंग लगने के कारण मलिन हो जाती है, वैसे ही सूचिका भी यदि परमारणरूप अपराध न करे, तो उसे व्याधिरूपी दुःख हो जाता है। यह सूचिका सूक्ष्म अतएव अदृश्य होकर शरीर को काटनेवाली है और क्षणभर में विस्मृति को प्राप्त हो जाती है। तीक्ष्ण भेद करनेवाली दैवचेष्टा (औत्पात्ति की चेष्टा के) समान क्रूर है ॥८०,८१॥ मर्मस्थान के आच्छादनभूत उत्तरीय वस्त्र के तन्तु के वेधनमात्र से दूसरे को मार दिया, ऐसा समझकर आप सन्तोष को प्राप्त होती है। जिस नाश को करने से दुर्जन हर्ष को प्राप्त होता है, उसी नाश से वह भी हर्ष को प्राप्त होती है, कीचड़ में वह डूबती है, आकाश में वह उड़ती है, आकाशचारी वायुओं से दिशाप्रान्तों में विहार करती है। भूतल में, वनमें और धूलिकणों में भी, अन्तःपुर के घर में पलंगपर बिछाए गये बिस्तर की नाईं सोती है, मनुष्यों के हाथ में और कान में स्थित या कानरूप कमल में और भेड़ों के रोमों की राशि में इच्छानुसार सोती है, काठ और मिट्टी की बनी हुई भित्तीयों के छिद्र में समा जाती है और प्राणियों के हृदय में ऐसे समा जाती है जैसे कि मणि, मन्त्र आदि द्रव्यों की शक्ति से और आत्मशक्ति से मायावी अथवा योगी सर्वत्र यथेच्छ विहार करता है। श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : वत्स भरद्वाज, मुनि के इतना कह चुकनेपर दिन समाप्त हो गया, सूर्य भगवान् अस्ताचलको गये, मुनियों की सभा

महामुनि को नमस्कार कर सायंकालीन सन्ध्या आदि के लिए स्नानार्थ चली गई, रात्रि समाप्त होने पर दूसरे दिन सूर्य के किरणों के साथ फिर मुनि–सभा आ गई ॥८२–८४॥

सत्तरवाँ सर्ग समाप्त

इकहत्तरवाँ सर्ग

सूचिकारूप को प्राप्त होकर अपने पूर्व शरीर का स्मरण कर रही
कर्कटी के पश्चात्ताप का विस्तारपूर्वक वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, इसके बाद वह कर्कटी नामकी राक्षसी चिरकालतक सब जाति के मनुष्यों के मांसों का आस्वादन करनेपर भी तृप्ति को प्राप्त नहीं हुई, यों तो पहले ही दिन एक रुधिरबिन्दु से वह तृप्त हो गई, क्यों कि सूचिके भीतर कितना समा सकता है ? किन्तु तृष्णापूर्ण उस सूचीका मरना अत्यन्त कठिन है। उसने विचार किया कि बड़े खेद की बात है, मैं क्यों सूची बनी, मैं बहुत छोटी हूँ, मेरी खाने की शक्ति अतिअल्प है, एक ग्रास भी मेरे पेटमें नहीं समाता, मैं बड़ी दुर्बुद्धि हूँ, मेरे वे विशाल अंग कहाँ गये, काले मेघ के समान विशाल वे मेरे अंग वन में पत्ते के समान विलीन हो गये। इस मन्दभाग्या मुझ में वसा से सुगन्धित स्वादु मांसरस का ग्रास थोड़ा भी नहीं समाता। मैं कीचड़ के अन्दर डूब जाती हूँ और पृथ्वीमें गिर जाती हूँ, मनुष्यों के पैरों के समूहों से कुचली जाती हूँ और शुक्र से मलिन हूँ; मैं मारी गई हूँ, मैं अनाथ हूँ, मुझे आश्वासन देनेवाले मित्र, बन्धु आदि नहीं है, मेरा कोई आधार नहीं है, मैं एक दुःख से दूसरे दुःख में और एक संकट से दूसरे संकट में पड़ती रहती हूँ, न मेरी कोई सखी है, न कोई मेरी दासी है, न मेरी माता है, न मेरा पिता है, न मेरा बन्धु है, न मेरे नौकर चाकर हैं, न मेरा भाई है, न मेरा पुत्र है, न मेरा शरीर है, न रहने का स्थान है, न कोई उपजीव्य है और न एक स्थान में मेरा आवास ही है। मैं वन के जीर्ण–शीर्ण पत्ते के समान घूमती फिरती हूँ, मैं आपत्तियों के सम्मुख खड़ी रहती हूँ, अत्यन्त भीषण स्थानों में प्रविष्ट हूँ, मैं चाहती हूँ कि मैं मर जाऊँ, पर वह (मृत्यु) भी मुझे प्राप्त नहीं होती ॥१–१०॥ मैं बड़ी मन्दबुद्धि हूँ, जैसे कोई मूढ़ पुरुष काँच समझकर चिन्तामणि को हाथ से छोड़ दे, वैसे ही मैंने अपना शरीर छोड़ दिया। मोह को प्राप्त होता हुआ मन पहले दुर्बुद्धिको आश्रय देता है, फिर स्वयं ही अनर्थों की परम्परारूपसे विस्तार को प्राप्त होता है ॥११,१२॥ कोई लोग कभी मुझे डोरे से पिरोकर धुएँ के घरों में रख देते हैं, ऐसी हालत में मुझे धुएँ के उपर रहना पड़ता है। कभी मैं मार्ग में गिर पड़ती हूँ और गिरने पर गदहे, ऊँट आदि के खुरों द्वारा रगड़ी जाती हूँ। कोई लोग नरकुल आदि तृणों के भीतर मुझे डाल देते हैं। मेरी दुःखपरम्परा का कोई ठिकाना है ? ॥१३॥ मैं नित्य दूसरे की चाकरी बजाती हूँ, दूसरे जब मुझे चलाते हैं, तब मैं चलती हूँ, अत्यन्त दीनता को प्राप्त हुई मैं अत्यन्त परवश हो गई हूँ, तुच्छ के यानी भीतर स्थित रक्त आदि के आस्वाद की मुझे इच्छा होती है, परन्तु वह इच्छा भी वेधनरूपिणी ही है यानी उसका फल केवल वेधन ही है, क्योंकि न मुझे पेट है और न जिह्वा है। मैं बड़ी मन्दभागिनी हूँ, मेरा

दुर्भाग्य भी बड़ा अभागा है ॥१४,१५॥

वेताल की शान्ति करनेवाला कर्म करनेपर वेतालोदय हो गया, यह लोकोक्ति मेरे ऊपर ही पूरी तरह से घटी, ऐसा कहती है।

गई तो थी वेताल की शान्ति के लिए, पर उससे विशाल वेताल उत्पन्न हो गया। तप करने के लिए प्रवृत्त हुई मेरा तपस्या से सर्वनाश हो गया। मन्दमति मैंने उस प्रकार का वह विशाल शरीर क्यों छोड़ा ? अथवा जिस प्रकार की बुद्धि होने पर सर्वथा नाश होता है, उस प्रकार की अशुभ मति नाश के समय उत्पन्न होती ही है ॥१६,१७॥ कीड़े के शरीर से भी सूक्ष्म, अवान्तर में (मार्ग में) भाग्यवश धूली में डूबी हुई और धूलिराशि से आवृत्त मेरा कौन उद्धार करेगा ? मुझे देखना ही मुश्किल है, इसलिए मेरा कोई उद्धार करनेवाला नहीं है ॥१८॥

यद्यपि स्थूलदर्शी पुरुष तुम्हारा उद्धार करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि तुम उनके दृष्टिगोचर नहीं हो सकती, किन्तु सूक्ष्मदर्शी योगी तुम्हारा उद्धार करेंगे, ऐसी यदि कोई शंका करे, तो उस पर कहती है।

जैसे पर्वत के उपर रहने वाले लोगों की बुद्धि में ग्राममार्ग के तृणों का स्फुरण होना सम्भव नहीं है, वैसे ही सूक्ष्मदर्शी योगियों की बुद्धि में मेरे जैसे हतभाग्य लोगों का स्फुरण कैसे हो सकता है ? ॥१९॥

यदि कोई कहे कि तुमको स्वयं अपना उद्धार करना चाहिए, तो इस पर कहती हैं।

अज्ञानसागर में डूबी हुई मेरा उद्धार कहाँ हो सकता है ? खद्योत (जुगनूँ) का सेवन करनेवाले अन्धे पुरुष को पदार्थों का दर्शन कदापि नहीं होता ॥२०॥ इसलिए कितने समय तक आपत्तियों से परिपूर्ण होकर मुझ मन्दभागिनी को आपत्तिरूपी गड़ढ़ों में पड़ा रहना पड़ेगा, यह मैं नहीं जानती ॥२१॥ मैं कब काजल के महाशैल की प्रतिमा के समान प्राणियों के संहार और अवष्टम्भ के द्वारा भार उतारने के लिए आकाश और पृथ्वी की स्तम्भता को प्राप्त करनेवाली होऊँगी। मेघमाला के समान भुजाओंवाली स्थिर बिजली के समान नेत्रवाली, कुहरे के समूह ही जिसके वस्त्र हैं, ऊँचे ऊँचे केशों से जिसने आकाश को नाप दिया है तथा जिसने खूब लम्बे उदररूपी मेघ के दर्शन से मयूरों को नचा दिया है इस प्रकार की, और लम्बायमान चंचल स्तनवाली, काली, श्वासवायु से जिसके स्तन हिलते हों ऐसी, अट्टहास के विलासरूपी दग्ध वन के धूलि के पटलों से आच्छादित सूर्यमण्डल को रोकनेवाली, यमराज के समान सम्पूर्ण प्राणियों के ग्रसन के लिए जिसने कार्य आरम्भ किया था, इस प्रकार की भीषण आकृति को धारण करनेवाली, अग्नि के समान देदीप्यमान, उखल के समान गहरे नेत्रवाली, सूर्य की किरणमाला का अपहरण करनेवाली तथा एक पर्वत से दूसरे पर्वतपर, एक शिखर से दूसरे शिखरपर पैर रखकर चलनेवाली मैं कब होऊँगी ? कब बड़े भारी गड्ढे के समान देदीप्यमान वह बड़ा भारी मेरा उदर होगा ? शरत्काल के मेघों के समान स्थूल मेरी नखपंक्तियाँ कब होंगी। कब मेरा हास बड़े बड़े बलवान् राक्षसों के भी हृदयको विदीर्ण करने में समर्थ होगा, कब मैं अपने नितम्बरूपी बाजों के वादन से महारण्य

में खूब प्रसन्न होकर नृत्य करूँगी, मज्जारूपी आसव के बड़े बड़े घड़ों से भरे हुए प्राणियों के मांस और हड्डियों की राशियों से कब मैं लगातार अपने विशाल उदर का पोषण करूँगी, कब मैं बड़े–बड़े जीवों के रूधिर को पीकर उन्मत्त हुई अत्यन्त आनन्द को प्राप्त होऊँगी, तदनन्तर निद्रा की गोद में सो जाऊँगी ॥२२–३०॥ जैसे सोना अग्नि में अपने देदीप्यमान स्वरूप को भस्म बना देता है, वैसे ही मैंने ही कुतपरूपी अग्नि में अपने उस श्रेष्ठ प्राचीन शरीर को भस्म कर दिया और सूचिता को स्वीकार किया ॥३१॥

कहाँ अंजनपर्वत के सदृश दिक्–तटों को पूर्ण करनेवाला मेरा वह विशाल शरीर और कहाँ मकड़ी की टाँगों के समान सूक्ष्म और तिनके के समान कोमल यह सूचिता ? अर्थात् दोनों शरीरों में महान् अन्तर है ॥३२॥ जैसे अज्ञ पुरुष स्वर्ण के बाजूबन्द को पा कर भी 'यह मिट्टी है' ऐसा समझकर उसका त्याग कर देता है, वैसे ही इस सूचिता के लोभ से मैंने अपने देदीप्यमान शरीर का त्याग कर दिया ॥३३॥ कुहरे से पूर्ण विन्ध्याचल की गुफा के सदृश हे मेरे विशाल उदर, आज तुम सिंह के सदृश अपने आविर्भाव से तुम्हारे वियोग से उत्पन्न हुई हाथी के सदृश व्यथाओं का क्यों अन्त नहीं करते हो ? ॥३४॥ अपने भार से पर्वत के शिरों को तोड़फोड़ देनेवाली हे मेरी भुजाओं ! चन्द्रमारूपी उज्ज्वल नखों से इस चन्द्रमा को देवभाग पुरोडाश समझकर तुम क्यों नहीं पीड़ित करते ? ॥३५॥ काँचमणियों की मालाओं से शून्य होने पर भी हिमालय के तटके समान सुन्दर हे मेरे वक्षस्थल, तुमने आज वह रोमों का वन नहीं धारण किया, जिस में सिंह आदि बड़े–बड़े जानवर जुओं के समान प्रतीत होते थे, इसलिए मुझे तुम्हारे लिए खेद है ॥३६॥ अँधेरी रात्रि के अन्धकाररूप शुष्क लकड़ियों को जलानेवाले हे मेरे नेत्रों, तुम आज अपनी दृष्टिरूपी ज्वालाओं की लपटों से दिशाओं को क्यों नहीं अलंकृत करते हो ? हे मेरे कन्धे, हे मेरे बन्धु, तुम पृथ्वी में नष्ट हो गये हो, मैंने तुम्हारा त्याग कर दिया है, कालने तुमको पर्वतों की शिलापर पीस डाला है एवं घिस डाला है ॥३७,३८॥ प्रलयाग्नि से दग्ध चन्द्रबिम्ब के समान मनोहर हे मेरे मुखचन्द्र, तुम आज अपनी किरणों से क्यों नहीं तप रहे हो ? ॥३९॥ वे बड़े मेरे हाथ कहाँ चले गये, इसका मुझे बड़ा पश्चात्ताप है, मैं आज मक्खियों के पैरों से हिलाई जानेवाली महासूची बन गई हूँ। उग्र करंज से युक्त, जिसमें अनेक कन्द हो, ऐसे गर्त के समान सुन्दर हे मूत्रद्वार तथा विन्ध्यारण्य के समान विशाल हे नितम्बम्बि ! मैं तुम्हारे लिए शोक करती हूँ ॥४०,४१॥ कहाँ वह मेरा गगनचुम्बी आकार और कहाँ यह अत्यन्त सूक्ष्म नवीन सूचीरूपी शरीर, कहाँ उसका द्युलोक और पृथ्वी के मध्यवर्ती रन्घ्र के तुल्य वह मुखरूपी गर्त और कहाँ यह सूचीका मुख, कहाँ बहुत से मांस के भार से विशाल पूर्व का मेरा ग्रास और कहाँ आज जल के बिन्दु से भोजन ? मैं अत्यन्त सूक्ष्म हो गई हूँ, अहो यह सब आत्मक्षय के लिए नाटक स्वयं मैंने अपने आप ही किया है ॥४२॥

इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

बहत्तरवाँ सर्ग

सूची के भीषण तप का वर्णन और उससे आश्चर्य मग्न इन्द्र का नारदोक्ति से निश्चय-कथन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, इस प्रकार शोकमग्न हुई उस सूची ने मौन होकर, अत्यन्त निश्चलतापूर्वक (एकाग्रता से) पूर्वोक्त रीति से अपने देहादिका और आगे कहे जानेवाले प्रकार का चिन्तन कर फिर उसी देह के लाभ के लिए मैं शीघ्र तपस्विनी होऊँ, ऐसा निश्चय किया। तदनन्तर पहले चित्तमें स्थित लोगों की हत्या का त्यागकर उसी हिमालय के शिखर में, जिसमें पहले वह रहती थी, तपश्चर्या के लिए गई ॥१,२॥

उसने पहले आत्मा में (अपने में) मन से कल्पित जो सूचिता है, उसीको देखा।

शंका : क्रियाशक्ति रहित आत्मा में (अपने में) सूचिता का दर्शन होने पर भी उसमें गमनक्रिया की सिद्धि कैसे हुई ?

समाधान – प्राणवायुरूप उस जीवयुक्त सूची ने अपने उपाधिभूत प्राणों से मन से कल्पित लोहसूची में प्रवेश करके अपने में ही मनोमय लोहसूची की कल्पना की, तदनन्तर उसने अपने में ही मनोमय सूचिता को देखा और प्राणवायुरूप शरीर होकर वह हिमालय के शिखर में गई। तात्पर्य यह हुआ कि लोह सूची और जीवसूचीका अन्योन्य तादात्म्याध्यास होने से यह कर्कटी प्राणवायुरूप शरीरवाली होकर क्रियाशक्ति को पाकर हिमालय के ऊपर गीध के शरीरमें प्रवेश करके गई, अतः आत्मा में क्रियाशक्ति न होने पर भी असंगति नहीं है ॥३,४॥ सम्पूर्ण प्राणियों से रहित, वनाग्नि की लपटों से पूर्ण, सूर्य के ताप से रूक्ष, धूलि से धूसरित, तृण रहित और विपुल उस विशाल-स्थान में बड़ी-बड़ी इन्द्रनीलमणि की शिलाओं के समान कान्तिवाली वह मानों अभ्युदित होकर स्थित हुई। वह मरुभूमि में अकस्मात् उत्पन्न होकर सूखी हुई तृणशिखा के समान प्रतीत होती थी। अत्यन्त सूक्ष्म एक पैर के एक सूक्ष्म हिस्से से उर्वर पृथ्वी में खड़ी हुई उसने अपनी कल्पना से एक पैररूप तप करना आरम्भ किया। भाव यह कि यद्यपि दो पैरवाले लोगों के समान एक पैर का परित्याग कर एकपादतारूप तप करना उसके लिए संभव नहीं था, क्योंकि सूची को दो पैर हैं नहीं, तथापि अपनी कल्पना से ही कल्पित दो भागों में से आगे के अर्ध भाग का परित्याग करने से एकपादतारूप -एक पैर से स्थितिरूप-तप करना उसने आरम्भ किया। अत्यन्त सूक्ष्म पैर के तलुवे से (अत्यन्त तीखे अग्रभाग से) पृथ्वी की धूलि को भी पीड़ित करनेवाली वह सूची सामने और दोनों अगल-बगलरूप तीन भागों में फैली हुई दृष्टि को सम्पूर्ण विषयों से प्रयत्नपूर्वक हटाकर उपरको मुख करके स्थित हुई ॥५-८॥

ऊपर को मुख करने पर दृष्टि के चारों ओर से हट जानेपर भी धूलिरूपी तथा छोटे-छोटे पत्थरकणरूपी संकट में उसके पैर की स्थिरता कैसे हुई ? इस पर कहते हैं।

कृष्णता (कृष्णलोहमयत्व), क्रूरता, तीक्ष्णता (तीक्ष्णताग्रत्व) सर्वांगव्याप्ति, मुख से वायु के भक्षण से और विष्टम्भरूप उक्त यत्न से रेणुरूपी तथा छोटे-छोटे पत्थरो के संकट में वह प्रयत्न से अपने पैर को स्थिर रखती थी। भाव यह कि अत्यन्त दृढ़ होने के कारण

ही उसकी स्थिरता सिद्ध हुई ॥९॥ उस सूची ने जंगल में मारे भूख के क्षुब्ध हुई अतएव अपने समीप में आनेवाले जंगल के बटोहियों को दूरसे देखने के लिए उठाई हुई गर्दन से युक्त, पुच्छ से तृण, पत्ते आदि के अग्र भाग में स्थित और वायु से भी चंचल होनेवाली ऐसी–तृणजलौका का अनुकरण किया ॥१०॥

सूचिका के छिद्र से निकली हुई धूप भी, सूचिकाकार होने के कारण, उसकी सखी हुई, ऐसी उत्प्रेक्षा करते हैं।

उसके मुख के छेद से निकली हुई सूर्य की किरण पृष्ठभाग की रक्षा करनेवाली और सूची के समान आकारवाली सखी हुई ॥११॥ अत्यंत क्षुद्र भी अपने आत्मीय जीव में लोगों को प्रेम होता है, किरण ने भी शुद्ध होने के कारण सूची में सखीभाव को धारण किया ॥१२॥ उस सूची की अपनी छाया भी दूसरी तापसी सखी हुई, सूची के समान मलिन उस छायासूची को उसने अपनी पृष्ठरक्षिका बनाया ॥१३॥

उन तीनों सूचियों के परस्पर शिर और मूल के गूँथने से परस्पर सम्बंध होने के कारण मानों उन्होंने परस्पर की अनुकूलता का आचरण किया, ऐसी उत्प्रेक्षा करते हैं।

पृष्ठरक्षक सूर्यकिरणरूप सखी का लोहसूची के साथ तथा द्वारभूत लोहसूची से भलीभाँति निकली हुई छायासूची के साथ, जिसका कि सूर्यकिरणों का गिरना ही नेत्र है, ग्रथन करने पर उन्होंने परस्पर द्वारा करने योग्य स्थिरता की सहायता में दृढ़ता की, इसलिए उनका वैसा करना उत्तम हुआ ॥१४॥ इस प्रकार तपस्या कर रही सूची को अपने सामने देखकर पेड़, लता आदि को भी सद्बुद्धि प्राप्त हो गयी। महातपस्विनी सूची को देख करके किसको तप करने की उत्कंठा नहीं होगी ॥१५॥ तप करने के लिए स्थिर अपनी मनोवृत्ति के समान उत्पन्न हुई उस सूची को पेड़, लता आदि ने अपने फल–फूलों से वासित वायु खिलाया, क्योंकि उसके मुख से झंकार शब्द निकलता था और शब्द के साथ भोजन करना पामर लोगों में प्रसिद्ध है ॥१६॥

भाग्यवश द्रुमलता आदि ने फूल के पराग से सूची के मुख को ढक दिया, ऐसी उत्प्रेक्षा करते हैं।

जो पहले उत्पन्न हुए थे, जो भविष्य में होंगे और जो देवताओं के लिए नहीं हैं वे सब फूलों के पराग इस सूची को देने चाहिए, इस उत्साह से मानों पेड़, लता आदि ने उसके मुख को भर दिया ॥१७ ॥

भाग्यवश उसके छेद में वायु से प्रेरित माँस आदि के अपवित्र कणों के प्रवेश की इन्द्र द्वारा किये गये विघ्नरूप से और प्रविष्ट हुए उनका जो बहिर्गमन है, उसकी उसके अनिगरणरूप से उत्प्रेक्षा करते हैं।

तदनन्तर इन्द्र द्वारा भेजे गये और वायु से प्रेरित आमिष (मांस) के कण को, जो कि उसके छिद्ररूपी मुख में प्रविष्ट हो रहा था, उसने नहीं निगला ॥१८॥ दृढ़ निश्चय होने के कारण उसने उन पुष्परजों को और मांसकणों को नहीं निगला, अन्तःसार होने के कारण क्षुद्र लोग भी तप में आनेवाले विघ्नों की निवृत्तिरूप प्रयोजन को प्राप्त करते हैं ॥१९॥ अपने मुँह

में स्थित फूल के परागों को भी वह नहीं पीती है, यह देखकर वायु को सुमेरूपर्वत को उखाड़ने से भी बढ़कर आश्चर्य हुआ ॥२०॥

इस प्रकार अन्य विघ्नों से भी वह अपने कार्य से विचलित नहीं हुई, ऐसा कहते हैं।

यद्यपि वह कीचड़ से सिर तक हजारों वर्षों तक ढ़की गई थी, प्रचुर जल से हजारों वर्षों तक पूर्ण की गई थी, आँधी द्वारा वह हजारों वर्ष तक उड़ाई गई थी, वनाग्नि से हजारों वर्षों तक जलाई गई थी और ओले आदि के गिरने से तोड़ी फोड़ी गई थी, बिजली के तड़कने से हजारों वर्षों तक भ्रान्त हुई थी, मेघों से हजारों वर्ष तक क्षुभित की गई थी, तथापि दृढ़ निश्चयवाली वह तपस्विनी विषमूर्छासे सोई हुई की नाईं अणुमात्र भी विचलित नहीं हुई ॥२१-२३॥

इस प्रकार तप कर रही उसके पापों का क्षय होने से और चिरकाल तक चित्त की एकाग्रता से उसको विचार-पूर्वक ज्ञान उत्पन्न हुआ, ऐसा कहते हैं।

बाह्य व्यापारों से निवृत्त हुई सत्य, सुचेतन अपने स्वरूप का विचार कर रही उसके बहुत देश-काल के बीतने पर उसकी आत्मा ही ज्ञानप्रकाशरूप अर्थात् आत्मसाक्षात्कारवृत्ति से प्रदीप्त बोधरूप हो गई। पर और अवर को देखनेवाली (परब्रह्मसाक्षात्कारवती) वह सोपसर्गा सूची निर्मल हो गई और परम पावन हो गई। तपस्या से पापों के क्षीण होने पर अपने सुख को सूचित करनेवाली उस सूचीने पैनी बुद्धि से स्वयं ही ज्ञातव्य तत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥२४-२६॥ इस प्रकार उसने ऊपर को मुख करके हजारों वर्ष तक कठोर तपस्या की, जो चतुर्दश महालोकों को सन्ताप देनेवाली थी ॥२७॥ उसकी प्रलयाग्नि के समान भीषण तपस्या से हिमालय पर्वत जल उठा, तदनन्तर उसने जगत् को प्रज्वलित किया ॥२८॥ तदनन्तर इन्द्र ने यह जगत् किसकी तपश्चर्या से आक्रान्त है, – ऐसा नारदजी से पूछा। नारदजी ने इन्द्र से सूची की तपश्चर्या कही : सात हजार वर्ष तक बड़ी भारी तपश्चर्या करनेवाली महाविज्ञानरूप देहवाली इस सूचीने तपश्चर्या की, उससे यह जगत् प्रज्वलित हुआ है ॥२९,३०॥ हे इन्द्र, भगवान् रुद्र की संहारशक्ति के समान सूची की तपस्या से हाथी निःश्वास छोड़ रहे हैं, पर्वत विचलित हो रहे हैं, विमान से चलनेवाले देवता वगैरह गिर रहे हैं, सागर तथा मेघ सूख रहे हैं तथा सूर्य के साथ दिशाएँ मलिन हो रही हैं ॥३१॥

बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

तिहत्तरवाँ सर्ग

जीवयुक्त सूची के भोगविस्तार का पुनःवर्णन,
तदनन्तर इन्द्र की प्रेरणा से चारों ओर वायु का सूची-अन्वेषण वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्र ने कर्कटीनामक राक्षसी के क्रूर वृतान्त को आद्योपान्त सुनकर फिर नारदजी से पूछा, क्योंकि उसके वृत्तान्तको सुनने में इन्द्र को कौतूहल हो गया था ॥१॥ इन्द्र ने कहा : हे मुनिवर, उक्त सूचीरूपी पिशाचता को तपश्चर्या से प्राप्त

कर के हिमालय की बन्दरी–सी उस कर्कटी ने किन–किन भोगों का भोग किया ? ॥२॥ नारदजी ने कहा : हे देवराज, अत्यन्त क्षुद्र पिशाचता को प्राप्त हुई उस जीवयुक्त सूची का लोहे की सूची आश्रय थी, लोहसूचीरूपी आश्रय का त्याग करके आकाश में चलनेवाले वायुरूपी रथ में बैठी हुई और प्राण–वायुके मार्ग से प्राणियों की देहमें प्रविष्ट हुई वह सब पापियों के मांस, मेदा, वसा और रक्त की आँतों के सूराख से भीतर चिरकालतक लीन होकर ऐसे स्थित रही, जैसे कि छिद्र से भीतर प्रवेशकर पक्षी स्थित रहता है ॥३–५॥ जिस नाड़ी में रोगों का आश्रयभूत बाह्यवायु भरा रहता है, उस नाड़ी को प्राप्त होकर उसने उस नाड़ी में अत्यन्त उत्कट शूलरूपी वेदना ऐसे उत्पन्न की, जैसे कि दक्षिणामूर्ति के विशाल वटवृक्षकी नाड़ीमें शैवशूल गाड़ा गया था ॥६॥ उसने उन प्राणियों के शरीर और इन्द्रियों से उन्हीं प्राणियों के भोजनयोग्य बहुत भोजन तथा अन्यान्य नरमांस आदि का उपभोग किया ॥७॥ पति के वक्षःस्थल में जिन्होंने मछली आदिके आकार के पत्रों को संक्रामित किया है, ऐसे कपोलों से युक्त और कान्त के आलिंगन से जिसकी मालाएँ मर्दित हो गई हों, ऐसी मुग्ध बाला के समान वह सोई रही यानी मुग्ध बाला के सुख का भी उसने अनुभव किया। कल्पवृक्षों के पुष्पों से भी श्रेष्ठ अतएव द्विगुण सुगन्धवाले कमलों से पूर्ण शोकरहित वनभूमियों में पक्षीके शरीर में प्रविष्ट हुई उसने लम्बी उड़ान मारी। भँवरी के शरीर में प्रविष्ट होकर भ्रमर के साथ विहार करती हुई उसने खूब सुगन्धित मन्दारवृक्ष के मकरन्द (पुष्परस) रूपी आसव का देवताओं के पर्वतों के वनों में पान किया, संग्राम में वेग से चमक रही तलवार की धार जैसे वीर पुरुषों को चबा डालती है, वैसे ही गीध की देहमें प्रविष्ट हुई उसने क्षतरूपी गर्तों से युक्त शवों के शरीर चबा डाले ॥८–११॥ जैसे वायु–लेखा दिशाओं में नीचे और ऊपर उड़ती है, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियों के शरीरों की नाड़ियों में तथा काँच के समान नीले आकाश में वह ऊपर नीचे उड़ती थी। जैसे समष्टि प्राणवायुका स्पन्द विराट् के हृदय में स्फुरित होता है, वैसे ही प्रत्येक देहरूपी घर में उसका स्फुरण होता था ॥१२,१३॥

यदि कोई शंका करे कि प्रत्येक देहरूपी घर में उसने कैसे विहार किया ? तो उस पर कहते हैं।

सम्पूर्ण प्राणियों के शरीरों में जैसे प्राणवायु अपना व्यापार करता है, वैसे ही चित्–शक्तियाँ भी उनमें भासित होती हैं, जैसे गृहिणी अपने घर में दीपप्रभा से भासित होकर व्यवहार करती है, वैसे ही पूर्वोक्त चित्शक्ति रूपी प्रभा से भासित होकर उसने प्रत्येक प्राणी के शरीररूपी घर में विहार किया ॥१४॥ जैसे जल में द्रवशक्ति विहार करती है, वैसे ही उसने रुधिर में विहार किया, जैसे समुद्र में आवर्तशक्ति विहार करती है, वैसे ही उसने प्राणियों के पेट में विहार किया। जैसे विष्णु भगवान् सफेद शेषनाग पर सोते हैं, वैसे ही वह सफेद मेदा में चिरकाल तक सोई रही। जैसे पाचनशक्ति अमृतका आस्वादन लेती है, वैसे ही वायुरूप हुई उसने अंग के गन्ध का आस्वादन लिया ॥१५,१६॥ वायुरूप हुई उसने वृक्ष, लता, औषधि आदि के रस (निर्यास) आदि का उपभोग किया और हिंसा से इकट्ठे

किये हुए काले, पीले आदि अशुद्ध रसों का उपभोग किया, इसके बाद 'मैं जीवमयी सूची होऊँ' इस प्रकार खम्भे के समान अटल तपश्चर्या के संकल्प से तपस्विनी वह सूची चेतना, पावनी और शुद्ध हो गई ॥१७,१८॥ मारुतरूपी तेज घोड़ेवाली, वायुरूप से बह रही, दिशाओं में व्याप्त उस लोहमयी सूचीने अदृश्य होकर अनन्त प्राणियों की देहों से पान किया, भोजन किया, विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ की, दान दिया, दिलाया, आहरण किया (छीन लिया), नाच किया, गाया और निवास किया ॥१९,२०॥ अदृश्य, शरीररहित तथा समष्टि और व्यष्टि के मन और पवनरूप देहवाली आकाशरूपी उस सूचीने जो न किया, ऐसा कोई काम नहीं है, अर्थात् सभी उसने किया। यद्यपि वह सर्वत्र भ्रमण में समर्थ थी, फिर भी कुछ प्राणियों के रक्त के आस्वाद के लोभ से मत्त हुई उसने प्राणियों के आयुष्य के लिए नियत कालरूपी आलान स्तम्भ का (बन्धन स्तम्भ का) आश्रय ले कर हथिनी की नाईं थोड़े से प्रदेश में भ्रमण किया। कल्लोलों से (बड़ी-बड़ी लहरोंसे) खूब कँपाई गई देहरूपी नदियों में बड़े वेग से प्राणियों का देह से वियोग करनेवाली उस मदोन्मत्त सूचिका ने मगर के समान खूब आचरण किया ॥२१-२३॥ मेदा और मांस को निगलने में असमर्थ हुई वह अपने हृदय में इस प्रकार रोई, जैसे कि धनाढ्य वृद्ध, रोगी आदि पुरुष भोजन की शक्ति न होने के कारण रोते हैं ॥२४॥ जैसे नर्तकी रंग-स्थल में अपने शरीर में पहने हुए कंकण, बाजुबन्द आदि को नचाती है, वैसे ही उसने अपने द्वारा पीड़ित बकरी, ऊँट, हरिण, हाथी, घोड़े, सिंह, बाघ आदि को चिरकालतक खूब नचाया ॥२५॥ बाहर उनचास वायुओं के स्तरों में और भीतर प्राणवायुओं में एकता को प्राप्त हुई अतएव वायु की गति से विवश हुई वह जैसे वायुओं के अन्दर सुगन्धि रहती है, वैसे ही उनके भीतर स्थित रही ॥२६॥ मन्त्र, औषधि, तपस्या, दान, देवपूजा आदि से आहत हुई वह पर्वतनदी की ऊँची तरंगों के समान बाहर भाग जाती थी। बुझी हुई दीपक की ज्योति के समान अन्तर्धान-गति से जिसकी गति जानी नहीं जा सकती ऐसी वह शीघ्र लोहसूची में छिप जाती है और वहाँ पर जैसे बच्चा माता की गोद में विश्रान्ति को प्राप्त होता है, वैसे ही विश्रान्ति-सुख को प्राप्त होती है ॥२७,२८॥ अपनी अपनी वासना के अनुसार सभी अपने पद की इच्छा करते हैं। राक्षसी ने सूचीको ही अपना पद बनाया, क्योंकि उसका सूची के समान तीक्ष्ण स्वभाव था। जीवसूची सम्पूर्ण दिशाओं में विहार करके भी आपत्ति में अपने ही पदभूत लोह-सूची को प्राप्त होती है, जैसे कि जड़ पुरुष आपत्ति में अपने ही स्थान को प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रयत्न करती हुई, दसों दिशाओं में घूमती हुई उस जीवसूची को मानसिक तृप्ति तो यथाकथंचित् प्राप्त हुई, किन्तु शारीरिक तृप्ति उसे कभी प्राप्त नहीं हुई। धर्मी के रहते धर्म रह सकते हैं, धर्मी के अभाव में धर्म कैसे रह सकते हैं ? जिसका शरीर रहता है, उसीका शरीर तृप्त होता है ॥२९-३२॥ इसके बाद अपने प्राक्तन तृप्त शरीर के स्मरण से उदरपूर्ति से प्राप्त होनेवाले सुखको चाहनेवाली उस सूचीका हृदय दुःखित हुआ। तदनन्तर अपने प्राचीन शरीर की प्राप्ति के लिए मैं कठोर तपस्या करूँगी,

ऐसा दृढ़ निश्चयकर, तप के लिए स्वयं देश का निर्णय कर वह आकाश में उड़नेवाले जवान गीध के हृदय में प्राणवायु के मार्ग से प्रविष्ट हुई, जैसे कि घोंसले में सोनेवाली चिड़िया घोंसले के छिद्र में प्रविष्ट होती है ॥३३–३५॥ अपने भीतर प्रविष्ट रोगसूचिता से अधिष्ठित तथा सूची से प्रेरित किया गया उक्त गीध अपने में प्रविष्ट हुई सूची के ईच्छित कार्य को करने के लिए तत्पर हुआ ॥३६॥ जैसे वायु से प्रेरित मेघ पर्वत को प्राप्त होता है, वैसे ही अपने भीतर प्रविष्ट हुई सूची द्वारा प्रेरित वह गीध सूचीरूपी पिशाची का निवृत्तिकाल उपस्थित होने पर जहाँ जानेका उसने विचार किया था, उस पर्वत में गया ॥३७॥ जैसे योगी अपनी बुद्धिवृत्ति को सम्पूर्ण संकल्पों से रहित परम पद में स्थापित करता है, वैसे ही उस गीध ने उस निर्जन महावन में उस सूची को रक्खा ॥३८॥ वह एक ही पैर के प्रान्त से स्थित लोहसूची पर्वत के शिखरपर गीध द्वारा प्रतिष्ठापित देवप्रतिमा के समान हुई ॥३९॥ धूलीकणरूपी घर में स्थित स्थाणु के सिर में एक अत्यन्त सूक्ष्म पैर से पर्वत शिखर में मयूर के समान ऊपर को गर्दन करके वह खड़ी हुई ॥४०॥ गीध–द्वारा स्थापित की गई और खड़ी हुई स्नेहमयी सूचीको देखकर जीवयुक्त सूचिका गीध के शरीर से बाहर निकलने के लिए तत्पर हुई ॥४१॥ बाहर निकलने के लिए जिसकी बुद्धि अत्यन्त उत्सुक थी ऐसी जीवसूची वायु से नासिका से प्राणवायु के साथ मिलने के लिए उत्सुक सुगन्धि के समान उस गीध के देह से बाहर निकल आई ॥४२॥ जैसे भारवाही पुरुष भार को छोड़ करके सुखी होकर अपने स्थान को जाता है, वैसे ही गीध भी विसूचिका को उतार कर अपने देशको चला गया, उस समय जिस पुरुष की व्याधि निवृत्त हो गई हो, ऐसे पुरुष के समान स्वस्थ हुआ ॥४३॥ उस जीवसूची ने तपस्या के लिए लोहसूची को आधार बनाया, पदार्थों का खूब विचार कर किया गया यथोचित विनियोग शोभित होता है ॥४४॥ अमूर्त पदार्थ की किसी आधार के बिना तपस्या आदि क्रियाएँ सिद्ध नहीं हो सकती, यह विचार कर वह जीवसूची लोहसूचीरूपी आधार में एकनिष्ठ होकर तपस्या करने के लिए प्रस्तुत हुई ॥४५॥ जैसे पिशाची सेंमर के वृक्ष को चारों ओर से व्याप्त कर लेती है और जैसे आँधी सुगन्धि के लेश को व्याप्त कर लेती है, वैसे ही जीवसूचीने लोहसूची को सर्वांश से व्याप्त कर लिया ॥४६॥ हे इन्द्र, तदनन्तर तभी से लेकर यह दीर्घ तपस्या करनेवाली सूची बहुत वर्षों से उक्त जंगल में तप कर रही है ॥४७॥ हे कर्तव्यार्थ का निर्णय करने में परम कुशल देवराज, उसको वरदान द्वारा ठगने के लिए आप प्रयत्न कीजिए, क्योंकि उसकी तपस्या चिरकाल से परिपालित लोक को जलाने में अत्यन्त समर्थ है ॥४८॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामजी, इस प्रकार उक्त सूचीका वृत्तान्त नारदजी से सुनकर इन्द्र ने सूची को देखने के लिए वायु को दसों दिशाओं में भेजा ॥४९॥ तदनन्तर वायु का दिव्यदृष्टिरूप ज्ञान उसको देखने के लिए गया यानी वायुने दिव्यदृष्टि से गन्तव्य दिशा का आलोचन किया। तदनन्तर आकाशमार्ग को छोड़कर वायु ने शीघ्रता के साथ भूमि में पर्यटन किया ॥५०॥ शीघ्रता से युक्त वायु की संविद् ने (देवताने) एक अंश से ही सम्पूर्ण दिशाओं का पर्यालोचन कर सर्वोत्कृष्ट

ब्रह्मज्योति के समान बिना किसी विघ्नबाधा के सहसा सब कुछ देख लिया ॥५१॥

सब कुछ देख लिया, यह जो कहा उसका विस्तार करते हैं।

सात समुद्रों के और भूमिके अन्त में लोकालोक पर्वत की करधनीरूप, प्राणियों से रहित स्वर्णमय भूमि को उसने देखा, तदनन्तर मणिमयाकार पुष्कर द्वीप को देखा, जो स्वादु जल के समुद्र से घिरा था और पर्वतों की सन्धि में स्थित देशों और दिशाओं से युक्त था, उसके बाद पुष्करद्वीप के अन्तर्गत पर्वतों में वृत्ताकार गोमेदद्वीप को देखा, जो सुरासमुद्र से घिरा था, उस देश में रहनेवाले जलचरों से वह व्याप्त था, इससे उस देश के प्राणियों की जल और स्थल दोनों में समानरूप से संचरण-सामर्थ्य प्रतीत होती है। तदनन्तर उसने मध्यवर्ती देशों से पूर्ण क्रौंच द्वीप को देखा, जो इक्षुदकसमुद्र से घिरा था, उपद्रवरहित था, पर्वतश्रेणियों से व्याप्त था एवं उर्वरा पृथ्वी का वह पीठस्वरूप था। तदनन्तर उसने वृत्ताकार श्वेतद्वीप को देखा, वह क्षीरसागररूप मोतियों से जटित कंकण से घिरा था, मध्य में त्रिलोकीनाथ विष्णु भगवान से अधिष्ठित था, उसमें अवान्तर प्राणी एवं भिन्न भिन्न खण्ड थे। तदनन्तर जिसके मध्यवर्ती मन्दिर, नगर घृतसमुद्र से परिवेष्टित थे ऐसे कुशद्वीप को उसने देखा, उसमें बड़े बड़े पर्वत और उनकी संधि में स्थित देश थे। तदनन्तर उसने दधिसमुद्ररूपी करधनी से सीमित आकाश ही जिसका नगर रूपी उदर है, ऐसे शाकद्वीप को देखा, जिसकी सीमा में अन्यान्य देश थे। जम्बूद्वीप में महामेरू को, जो कुलपर्वतों से परिवेष्टित था, जिसके प्रान्तमार्ग में अन्यान्य देश थे और क्षारसमुद्र से घिरा था, देखा ॥५२-५९॥ पहले वायुसंविद् (वायुदेवता) वातस्कन्धों से (उनचास वायुओं के स्तरों से) अवतीर्ण हुई। जहाँ से वायु की संवित् अवतीर्ण हुई, उसी मार्ग से वायु भी अनायास अवतीर्ण हुआ ॥६०॥ सूचिका का अन्वेषण करता हुआ वह वायु जम्बूद्वीप को देखकर हिमालय के उस शिखर में पहुँचा जहाँ पर वह तपस्विनी सूची थी ॥६१॥ अत्यन्त ऊँची शिखर की चोटी में, जहाँ वह सूची तप कर रही थी, उस महावन में वह गया, वह महावन दूसरे आकाश के समान विस्तृत था और प्राणियों के संचार से रहित था। सूर्य के अति निकट होने के कारण उसमें तृण, लता आदि के समूह उत्पन्न ही नहीं हुए थे। वह रजोगुणमयी संसार-रचना के समान रजोमय था यानी धूली से भरा था। वह मृगतृष्णारूपी नदियों के समूह से पूर्ण होनेवाले समुद्र के तुल्य था, इन्द्रधनुष के तुल्य मृगतृष्णारूपी सैकड़ों नदियाँ उसमें थी, वह इतना विस्तीर्ण और असीम था कि लोकपाल भी (इन्द्र आदि भी) अपनी दृष्टि से उसकी सीमा जानने में असमर्थ थे और उसके अवान्तर देश अनेक थे, दोनों ओर जोर के वायु के यानी आँधी के चलने से बह रहे धूलिपटल ही उसके कुण्डल थे, सूर्य के किरणरूपी केसर से उसका सर्वांग लिप्त था और चन्द्रकिरणरूपी चन्दन उसमें लगा था, वह आकाश की विलासयुक्त नायिका के समान था और आकाश को वायुरूपी सूत्कार (कान्त के आलिंगन से जनित सुख को अभिव्यक्त करनेवाले ध्वनि) सुनाती थी ॥६२-६६॥ वह वायु, जिसका विशाल शरीर व्याप्त अनन्त दिशाओं का पूरक था, सात द्वीपों से और समुद्रों से किये गये मुद्रण से ऊपर को व्याप्त हुए एकदेश के आश्रयभूत पृथ्वीरूप पीठ पर चारों ओर विहार

करके दीर्घमार्ग में चलने के कारण थका था, अतः उसने भँवर के समान शरीरवाले आकाश में लटकी हुई–सी उन्नत पर्वत स्थली को प्राप्त कर विश्राम लिया ॥६७॥

तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

चौहत्तरवाँ सर्ग

उस तपस्विनी सूची को देखकर वायु का इन्द्र के समीप में जाना,
सूची को वर देने के लिए ब्रह्मा से इन्द्र की प्रार्थना और सूची के ज्ञान का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, जिसमें पूर्ववर्णित महान् वन था, उस उन्नत शिखर की उस भूमि में उन्नत शिखर की मध्य शिखा के समान उठी हुई सूची को वायुने देखा। वह एक पैर से तप कर रही थी, अपने सिर की गर्मी से सूख रही थी और सदा निराहार थी तथा उसकी उदर–त्वचा मानों सूखे हुए पिण्ड के समान हो गई थी ॥१,२॥ एक बार खुले हुए मुख से धूप और वायु का ग्रहण कर ये मेरे अन्दर नहीं समा रहे हैं, यह दर्शाती हुई सी वह उनको बार बार बाहर निकाल रही थी, प्रचण्ड सूर्य की किरणों से वह सूख गई थी और वन के रूक्ष वायुओं से उसका शरीर जर्जर हो गया था, अपने स्थान से वह विचलित नहीं होती थी और चन्द्रमा की किरणें उसे स्नान कराती थी। अन्य को स्थान न दे रहे एक रजःकण से उसका मस्तक आच्छन्न था, अतएव उसकी रजःकण से वह अपनी कृतार्थता को प्रकाशित कर रही थी, भाव यह है कि सूची के मस्तक पर दूसरे रजःकण का समावेश तो हो नहीं सकता था इसी कारण अन्य रजोजातीय रजोगुण को और उससे सहचरित तमोगुण को स्थान न दे रहे रजःपरमाणुरूप हेतु से वह अपनी कृतार्थता का अनुमान करा रही थी ॥३–५॥ वह पूर्वोक्त महाअरण्य द्वारा वृक्ष, लता, झाड़ियाँ, मृग आदि अपने विभवरूप पदार्थों को अन्य अरण्यों को देकर चिरकाल की तपस्या द्वारा सूचीरूप से पैदा की गई शिखा के समान स्थित थी। उसके बाद योग का परिपाक होने के कारण जिन्होंने अपने मस्तक में प्राणों को स्थापित किया है, ऐसे योगियों के जटाजूट की लटके समान वह स्थित थी ॥६॥

यहाँ पर सूची की, तप के उपक्रम में अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण, उस महान् वन की शिखा के रूप से उत्प्रेक्षा (तुलना) की गई है और चिरकाल के तप से उत्पन्न तेज की वृद्धि होने पर पुंजीभाव की विवक्षा से उसकी महाअरण्य के जटाजूट के रूप से उत्प्रेक्षा की गई है।

उस सूची को देख कर वायु के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, उसको प्रणाम कर और चिरकाल तक उसे देखकर अत्यन्त भयभीत की नाईं वह उसके पास आया ॥७॥ महातपस्विनी सूची किसलिए तपश्चर्या करती है, यह पूछने का उसको साहस नहीं हुआ, क्योंकि वह उसकी तेजोराशि से अभिभूत हो गया था, भगवती महासूची का महातप अत्यन्त आश्चर्यकारी है, केवल यही सोचता हुआ वायु आकाश में चला गया ॥८,९॥ मेघमार्ग को लाँघकर और उन चास वायुओं के स्तरों का अतिक्रमण कर सिद्धों को अपने से नीचे करके सूर्यमार्ग में प्राप्त होकर विमानों से यानी वैमानिकप्रधान नक्षत्र लोक के ऊपर चढ़कर वह इन्द्रपुरी में पहुँचा।

सूची के दर्शन से अति पुनीत हुए वायु का इन्द्र ने आलिंगन किया ॥१०,११॥ इन्द्र के पूछने पर वायु ने देववृन्द से परिवृत्त और सभामें बैठे हुए इन्द्र से कहा : जिस कार्य के लिए आपने मुझे आदेश दिया था, वह सब मैंने देखा ॥१२॥ हे महेन्द्र, जम्बूद्वीप में अत्यन्त उन्नत हिमालय नाम का पर्वतराज है, जिसके साक्षात् भगवान् चन्द्रशेखर जमाई हैं, उसके उत्तर तरफ के बड़े शिखर के ऊपर महातेजस्विनी तपस्विनी सूची खड़ी होकर भीषण तपस्या कर रही है, उसकी तपस्या का बहुत क्या वर्णन करूँ ? उसने मुझसे वायु आदिका भी भोजन न हो, इसलिए अपने उदरके छिद्र को लोहपिण्ड बनाकर नष्ट कर डाला है ॥१३–१५॥ उसने शीत और वायु के निगलने की निवृत्ति के लिए मुख को, जिसके अत्यन्त छोटे छिद्र के संकोच का निवारण किया जा चुका था, खोलकर धूलिकणों से भर दिया ॥१६॥ उसकी घोर तपस्या से हिमालय अपनी हिममयता का त्यागकर अग्निमय लोहपिण्ड बनकर दुःसेव्य हो गया है, इसलिए शीघ्र उठिए, हम सभी लोकपितामह ब्रह्माजी के पास उसके वरदान के लिए जायें, यह निश्चय समझिए कि यदि उसकी उपेक्षा की जायेगी तो उसका वह घोर तप लोगों के अनर्थ के लिए ही होगा ॥१७,१८॥ इस प्रकार वायु के अनुरोध से इन्द्र देवताओं के साथ ब्रह्मलोक में गये, वहाँ जाकर उन्होंने भगवान् ब्रह्मा की प्रार्थना की ॥१९॥

मैं सूची को वर देने के लिए हिमालय के शिखर में जाता हूँ, यों ब्रह्माजी के आश्वासन देनेपर इन्द्र स्वर्ग को लौट आये ॥२०॥ इतने समय में (सात हजार वर्षों में) वह सूची अति पवित्र हो गई थी, उसने अपने तप के ताप से देवलोक को सन्तप्त कर दिया था ॥२१॥

इस सर्ग की समाप्ति में सूची के तप का वर्णन कर रहे श्रीवसिष्ठजी निर्जन वन में किये गये सूची के तप की केवल उसकी छाया ही साक्षिणी थी, ऐसा कहते हैं।

अत्यन्त बढ़ रही तपस्या में स्थित उस सूची को उसकी छायाने, विकास को प्राप्त हुई मुखरन्ध्र में प्रविष्ट सूर्यकिरणरूपी दृष्टि से, तब तक देखा जब तक तपस्या करनेका उसने संकल्प किया था ॥२२॥ रेशम के तार के समान अत्यन्त सूक्ष्म सूचीने अपनी स्थिरता से मेरू को भी जीत लिया, उसके द्वारा जीता गया वह मेरु कहीं लज्जा से समुद्र में डूबता तो नहीं है, इस अभिप्राय से उसको देखने के लिए मानों दिन के आदि और अन्त भागों में उसने दीर्घता धारण कर उसके दर्शन का त्याग किया। उसकी छायाने दोनों सन्ध्याओं में और रात्रिमें क्यों उसके दर्शन का परित्याग किया, ऐसी यदि किसीको शंका हो, तो उस पर उपर्युक्त समाधान है, यह समझना चाहिए ॥२३॥

तो मध्याह्न में क्यों वह उसके मूल में छिप जाती थी ? इस पर कहते हैं।

अन्य समय में दूर से गौरव के साथ देख रही वह मध्याह्न के समय तापके भय से मानों सूची के उदर में प्रविष्ट हो जाती थी, अतएव उस समय उसने उसके दर्शन का त्याग किया ॥२४॥ वह छाया सूची को देखती थी और बड़े तीक्ष्ण सूर्य के ताप से उसके अंगों में मग्न हो जाती थी, यह बात ठीक भी है, लोग संकट के समय गौरवप्रयुक्त सत्कार को भूल ही जाते हैं ॥२५॥ छायासूची, तापसूची और लोहसूची यों तीन रूप धारण की हुई

उसने अपनी तपस्या से पवित्र हुए परस्पर के मध्यवर्ती त्रिकोणदेशको असी, वरणा और गंगा इन तीनों के मध्य में स्थित वाराणसी के समान पवित्र बना दिया ॥२६॥ सूखने के कारण अदृश्य, श्यामा, शुक्ला–इन तीन वर्णोंवाली सूचीरूपी सरिता से परिवेष्टित जो वहाँ पर वायु, धूली–कण आदि थे, वे भी परम मुक्ति को –अपने साथ संसर्ग करनेवाले प्राणियों को मुक्तिरूप फल देनेवाली या दोषों से मुक्त करनेवाली पवित्रता को–प्राप्त हो गये ॥२७॥ हे राघव, प्रत्यग्ज्ञान का स्वयं ही विचार करके जिसने परम कारण ब्रह्मका साक्षात्कार कर लिया था, ऐसी वह सूची आज प्रबुद्ध हो गई। अपनी युक्तियों से विचार द्वारा आत्मपरिचय का अनुसरण करना ही एकमात्र मुख्य गुरु है, अन्य गुरु मुख्य नहीं है। यद्यपि 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि श्रुति है, तथापि वह 'दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया' इत्यादि अन्य श्रुति के अनुसार शिष्यप्रज्ञा का ही अनुसरण करती है ॥२८॥

चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

पचहत्तरवाँ सर्ग

ब्रह्माजी के प्रसन्न होने पर भी ज्ञान होने के कारण सूचीका वरलाभ के लिए चुपचाप रहना तथा ब्रह्माजी के वरदान से फिर उसकी देहप्राप्ति का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, बोध होने के अनन्तर एक हजार वर्ष में ब्रह्माजी उसके पास आये। उन्होंने आकाश से 'हे पुत्रि, तुम वरदान लो' – यह कहा ॥१॥ सूची केवल जीवकलामात्र से युक्त थी, उसमें कर्मेन्द्रियाँ कोई थी नहीं, इसलिए उसने ब्रह्माजी से कुछ भी नहीं कहा, केवल अपने मन में विचार करती रही ॥२॥

उसके विचार–प्रकार को ही स्पष्टरूप से कहते हैं।

मैं पूर्ण हो गई हूँ, मेरे सब सन्देह कट गये हैं, मैं वर से क्या करूँ, मैं शान्त हूँ, परम निर्वाण को प्राप्त हो गई हूँ। मुझे अब अन्य वरदान से क्या प्रयोजन है ?॥३,४॥ जैसे मैं यहाँ पर स्थित हूँ वैसे ही परमार्थरूपा मैं स्थित रहूँ, केवल परमार्थरूप सत्यकला को छोड़कर अन्य पदार्थों से मेरा क्या प्रयोजन है ? ॥५॥ जैसे कि बालिका अपने संकल्प से उत्पन्न वेताल से युक्त होती है, वैसे ही इतने समय तक मैं अपने ही संकल्प से उत्पन्न अविवेक से युक्त थी ॥६॥ इस समय मेरा यह अविवेक आत्मविचार द्वारा अपने आप शान्त हो गया है। अब प्राप्त हुए इष्ट और अनिष्ट पदार्थों से मेरा कौन प्रयोजन है ? ॥७॥ इस प्रकार के निश्चय से युक्त, कर्मेन्द्रियों से रहित, उस सूची को चुपचाप अवस्थित देखकर कर्मफल की अवश्यंभाविता का नियमन करनेवाले ईश्वरसंकल्प से युक्त भगवान् ब्रह्माजी खड़े रहे। प्रसन्न हुए ब्रह्माजी ने उस विरक्त सूची से फिर यह कहा : हे पुत्रि ! तुम वरदान लो, कुछ समय तक भूतल में विविध भोगों का अनुभव कर तदनन्तर तुम परम पद को प्राप्त होओगी। जिस नियति के स्वरूप का हम लोगों से भी परिवर्तन नहीं हो सकता, उसका तुम्हारे लिए यही निश्चय है ॥८–१०॥ फले हुए इस तप से तुम्हारा संकल्प सफल हो, फिर तुम स्थूलशरीर होकर इस पर्वत में हिमालय–वन की

राक्षसी होओ ॥११॥ जैसे पहले बीज के अन्दर रहनेवाली वृक्षत्वजाति महद्वृक्षस्वरूप व्यक्ति से वियुक्त रहती है, वैसे ही मेघ के समान आकारवाले जिस शरीर से तुम पहले वियुक्त हुई हो। हे पुत्रि! जैसे अंकुर–स्थिति जल के सिंचन से लतारूप में परिणत हो जाती है, वैसे ही अन्तर्बीजरूपिणी (सूची के अन्दर बीजरूप से अवस्थित) तुम फिर उस शरीर से युक्त हो जाओगी ॥१२,१३॥ जलशून्य होने के कारण शुभ्र स्पन्दरहित शरत्कालकी मेघमण्डली के समान ज्ञानी होने के कारण तुम लोक में किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाओगी। सदा ध्यान में मग्न रहनेवाली तुम जब कभी लीलावश निर्विकल्प समाधि से व्युत्थित होओगी, तब न्याय से भूतों की बाधा करोगी यानी प्राणियों को दुःख दोगी, तब व्यवहारात्मक ध्यान धारणा की आधारभूत, वातस्वभाववाली देह के चलन से इधर उधर घूमनेवाली और अपने राक्षसजाति के उचित अशास्त्रीय हिंसा आदि कर्मरूप स्पन्द की विरोधिनी होकर तुम अपनी क्षुधा की निवृत्ति के लिए न्यायपूर्वक प्राणियों को पीड़ित करोगी ॥१४–१७॥ तुम न्यायवृत्ति होओगी और अन्याय करनेवालों को नष्ट करोगी, जीवन्मुक्त होने के कारण अपने विवेक का एकमात्र पालन करोगी ॥१८॥ यह कहकर देवाधिदेव ब्रह्माजी आकाश से चले गये और सूची भी 'ब्रह्माजी ने जो कुछ कहा वह मुझे प्राप्त हो, उसमें मेरा क्या विरोध है और उनके वरदान के निवारण में मेरा अनुराग क्यों हो' यह विचार कर पहले अपने मन में पूर्व शरीराकार हुई यानी पूर्व शरीर का उसने पहले अपने मन में स्मरण किया ॥१९॥

मन की कल्पना के अनुसार स्थूल शरीर का आविर्भाव हुआ, यह कहते हैं।

पहले बिलस्त भर हुई, फिर उसका आकार हाथ भरका हुआ, तदनन्तर पेड़ की शाखा के तुल्य उसका शरीर बन गया, फिर वह मेघघटाकार हो गई, इस प्रकार वह सूची एक पलक भर में अपने संकल्पवृक्ष की कणिका के (बीजके) अंकुरक्रम से जिसकी अवयवरूपी लता उत्पन्न हो गई हो ऐसी बन गई ॥२०॥ उसके शरीर से अविकल शक्तिसम्पन्न तत् तत् अंग, इन्द्रियों के गोलक, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, जो पहले तिरोहित बीजसमूहरूप थी, संकल्पवृक्षों के वन के फूलों की नाईं चारों ओर से भलीभाँति उत्पन्न हुई। मन की कल्पना से उत्पन्न होने के कारण वे मिथ्या ही हैं, यह अर्थ है ॥२१॥

पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

छिहत्तरवाँ सर्ग

देह को प्राप्त करके समाधि में बैठी हुई छः महीने में क्षुधित होकर समाधि से उठी हुई कर्कटी का वायु के वचन से किरातों के देश में जाना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, सम्पूर्ण अवयवों के प्रादुर्भूत होने के बाद यह कर्कटी नाम की राक्षसी सूक्ष्म होकर भी फिर ऐसे स्थूलता को प्राप्त हुई जैसे वर्षाकाल की मेघपंक्ति सूक्ष्म होती हुई भी स्थूलता को प्राप्त होती है ॥१॥ स्वात्मभूत ब्रह्माकाश को प्राप्त करके फिर उसका अनुसन्धान कर कुछ प्रसन्न हुई उसने ब्रह्मबोध से चिरकाल से

बद्धमूल बृहद्राक्षसभाव को केंचुल के समान छोड़ दिया यानी जैसे साँप केंचुल छोड़ता है वैसे ही उसे छोड़ दिया ॥२॥ निष्प्रपंच आत्मा का अपनी वृत्तिधारा द्वारा आश्रय लेकर बद्धपद्मासन से स्थिर और आत्मध्यान में परायण वह पर्वत के शिखर के समान वहीं पर बैठी रही ॥३॥ तदनन्तर छः महीने में जैसे वर्षाकाल में बड़े भारी मेघ के निर्घोष से मयूरी बोध को (कामोद्बोधको) प्राप्त होती है, वैसे ही ध्यान से बोध को प्राप्त हुई यानी समाधि से व्युत्थित हुई ॥४॥ समाधि से जागी हुई वह बहिर्वृत्ति होकर क्षुधा से पीड़ित रही, जब तक देह रहती है, तब तक देह के स्वभाव क्षुधा, तृषा आदि की निवृत्ति नहीं होती ॥५॥

तदनन्तर चिन्तन हेतु मन से उसने विचार किया कि मैं किसे निगलूँ ? मुझे अन्याय के साथ दूसरे जीव का भोग नहीं करना चाहिए, जो सज्जनों द्वारा निन्दित है और जो न्यायोपार्जित नहीं है उस भोजन से देहियों के मरण को मैं उत्तम समझती हूँ ॥६,७॥ यदि न्यायोपार्जित भोजन के बिना इस शरीर का मैं परित्याग कर दूँ, तो कोई अन्याय नहीं होगा, क्योंकि न्यायरहित थोड़ासा भी अन्न यदि ग्रहण किया जाय, तो वह विष हो जाता है। जो वस्तु लोकसम्मत रीति से प्राप्त नहीं है, उसके भोजन से क्या फल सिद्ध होगा ? मुझे न तो जीवन से कोई लाभ है और न मरने से मेरी कोई हानि है ॥८,९॥ मैं देह आदि भ्रम जिसका भूषण है, ऐसी मनोमात्र थी, वह भ्रम (मनोमात्रत्व) मेरा शान्त हो गया, अब मेरे जीवन और मरण का भ्रम कहाँ रहा ? ॥१०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, मौन होकर बैठी हुई उसने राक्षसस्वभाव का परित्याग करने से सन्तुष्ट हुए वायु द्वारा कही गई वाणी आकाश से सुनी ॥११॥ हे कर्कटी, तुम मूढ (अज्ञानी) लोगों के पास जाओ और ज्ञान से उन्हें शीघ्र उद्बुद्ध करो, अज्ञानियों का उद्धार करना ही महान् पुरुषों का एकमात्र स्वभाव है। जो पुरुष तुम्हारे द्वारा बोध को प्राप्त कराया जाता हुआ भी बोध को प्राप्त नहीं होगा, अपने विनाश के लिए ही उत्पन्न हुआ वह तुम्हारा न्यायोचित ग्रास होगा ॥१२,१३॥

वायु के वचन को सुनकर 'आपने मेरे ऊपर अनुग्रह किया।' – यह कहकर वह धीरे से उठी और पर्वतशिखर से क्रमशः नीचे उतरने लगी। पर्वत की ऊर्ध्वभूमि का शीघ्र उल्लंघन कर और पर्वत की समीपस्थ भूमि के तट में जाकर हिमालय पर्वत के अधोभाग में स्थित किरातों के मण्डल में पहुँची ॥१४,१५॥ उसमें अन्न, पशु, जन–समुह, धन, हरे तृण, औषध और मांस प्रचुर मात्रा में था, असंख्य कन्दमूल, पेय वस्तु, मृग, कीट, पक्षी आदि की भी कमी नहीं थी ॥१६॥ तदनन्तर रात्रि में, जब कि अत्यन्त निबिड़ अन्धकार से मार्ग–भूमि व्याप्त थी, जले हुए और काजल से लिप्त पर्वत के समान आकारवाली वह निशाचरी हिमालय पर्वत की तलहटी में स्थित सुन्दर देश में गई ॥१७॥

छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सतहत्तरवाँ सर्ग

पहले रात्रि का वर्णन, तदनन्तर कर्कटी को राजा और मन्त्री का दर्शन और उनसे कर्कटी की प्रश्न करने की इच्छा का विस्तार से वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, इस बीचमें, जब कि वह किरातों के देश में गई, अत्यन्त अँधेरी रात्रि थी, उसका पिण्ड के तुल्य घनीभूत अन्धकार हाथ से पकड़ा जा सकता था, (वह रात्रि क्या थी, कर्कटीकी सखी थी) नीले मेघरूपी वस्त्रों से वह आच्छादित थी, अमृत को कोई लूट न ले, इस भय से उसके आकाश से चन्द्रमा भाग गया था, तमालों के घनीभूत वनों को वह मानों एकत्रित कर रही थी, अतएव अत्यन्त पुष्ट थी, उसके नेत्रका काजल चारों ओर उड़ता और काला कर देता था, पर्वत के गाँवों में लताएँ अति निबिड़ थी, अतः तारों की ज्योतिका भी प्रवेश नहीं होता था, अतएव अत्यधिक अन्धकार होने के कारण बुढ़िया के समान वह मन्दगति थी, घरों के आँगनोंसे अत्यन्त घने नगर में नवयुवती नायिका के समान दीपिकाओं से इधर उधर संचार करती थी, आँगनों में वायु द्वारा उसने दीपकों को टेढ़ा कर दिया था, वह पिण्डीभूत अन्धकार के तुल्य थी, झरोखों के टेढ़े छिद्रों से निकली हुई छोटी दीपरश्मियों से वह शोभित हो रही थी, वह कर्कटीकी सखी सी थी, उसमें पिशाच नाच रहे थे, मदोन्मत्त वेतालों को नरकंकालों की लूट से वह रोकती नहीं थी, अतएव प्रतीत होता था कि मानों उसने काष्ठ के समान मौन धारण कर रक्खा है, सोये हुए मृग आदि प्राणियों से और निबिड़ कुहरे से वह अलंकृत थी, उसमें मन्द मन्द वायु के स्पर्श से ओस के कण भले मालूम पड़ रहे थे। तालाबों में बड़े-बड़े गर्तों के मुँह पर वह कौओं और मेढकों से व्याप्त थी, उसमें अन्तःपुरों में क्रीडा के समय स्त्रीपुरुषों के मुख परस्पर आलाप कर रहे थे, जंगलों में प्रलयकालीन अग्नि की तरह ज्वालायुक्त वनाग्नि से वह चमक रही थी, उक्त रात्रि में खेतों में जल के सेक से अनेकों साही के पर घुस रहे थे, जो कि पुराने हो जाने के कारण उनकी पीठ से गिर गये थे। आकाश में आँखों के तुल्य प्रतीत हो रहे और स्पन्द व्यापारसे अलग-अलग हुए सैंकड़ों नक्षत्र उसमें व्याप्त थे, वनों में तेज बह रहे वायु से उसमें फूल, फल और वृक्ष गिर रहे थे और वृक्षों के खोखलों के अन्दर उल्लुओं का शब्द सुनकर उसमें कौओं की बोली बन्द हो गई थी, तस्करों द्वारा चारों ओर घिर गये ग्रामीण लोगों के रोदन से वह अति भीषण मालूम पड़ती थी, जंगल में वह जंगल के समान स्तब्ध थी और नगर में सब नागरिक उसमें सोये हुए थे। वनों में खूब वायु बह रही थी और घोंसलों में पक्षी निर्व्यापार होकर सोये थे ॥१-११॥

गुफाओं में सोये हुए सिंहों से वह पूर्ण थी, कुंजों में हिंस्रजीवों और हरिणों से भरी थी, आकाश में तुषार-कणों से वह व्याप्त थी और वन में मौनयुक्त थी उसका स्वरूप काजल के बादल के मध्यभाग के समान और काँचपर्वत के मध्य के तुल्य काला था। पंक के पिण्ड के मध्य के समान वह निबिड़ थी और इतनी निबिड़ थी कि मालूम पड़ता था मानों तलवार से वह काटी जाय। अत्यन्त अन्धकार से वह परिपुष्ट थी, प्रलयकाल के वायुसे विक्षुब्ध हुए काजल

के पर्वत के तुल्य चंचल थी, प्रलयकालीन एकमात्र समुद्र के पंक के पर्वत के मध्यभाग के समान वह स्थूल थी, कोयलों की भट्ठी के समान वह निबिड़ काली थी, महाअज्ञान के समान वह घनी थी और भौंरों की पीठ और परों के समान उसकी श्यामल कान्ति थी ॥१२–१५॥ उस समय यानी उस भीषण रात्रि में किरातों के नगर का विक्रम नामक राजा, जो बड़ा धैर्यवान् था, अपने नगर से, जिसमें सब नागरिक सो गए थे, मन्त्री के साथ बाहर निकला। वह वीरोचित रात्रि–चर्यासे दस्यु आदि के वध के लिए भीषण जंगल में गया। उस कर्कटीने जंगल में घूमते हुए उन राजा और मन्त्रीको, देखा जिन्होंने केवल धैर्यरूपी अस्त्र धारण कर रक्खा था और जो ग्राम से बाहर स्थित ग्राम के देवता वेताल के दर्शन के लिए उत्सुक थे। उनको देखकर उसने विचार किया : 'बड़े हर्ष की बात है कि आज मुझे भोजन मिल गया है, ये दोनों मूढ अतएव अनात्मज्ञ हैं, इन दोनों का शरीर पृथ्वीका भाररूप है ॥१६–१९॥

अनात्मज्ञ पुरुष इस लोक में और परलोक में विनाश और दुःख के लिए जीवन धारण करता है। इसलिए मूढ का यत्नपूर्वक विनाश कर देना चाहिए। अनर्थका परिपालन करना उचित नहीं है ॥२०॥ अपने यथार्थ स्वरूप को न देख रहे मूढ़ का मरण ही जीवन है यानी जीवन से मरण अच्छा है। मरण से इस मूढ़ का अभ्युदय होता है, क्योंकि उसे पाप की प्राप्ति नहीं होती। ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि में यह नियम कर रक्खा है कि अनात्मज्ञ मूढ़ पुरुष घातक पशुओं का भोजन हो ॥२१,२२॥ इसलिए मेरे भोज्य बने हुए इन दोनों को मैं आज ही खा डालूँगी। अभागा जीव ही हाथ में आये हुए निर्दुष्ट पदार्थ की उपेक्षा करता है ॥२३॥ शायद ये दोनों गुणयुक्त महाशय हों, गुणवान् नरका विनाश करना मुझे स्वभावतः अच्छा नहीं लगता ॥२४॥ इसलिए मैं इन दोनों की परीक्षा करती हूँ, यदि ये उस प्रकार के गुणों से युक्त होंगे, तो मैं उनको नहीं खाऊँगी, क्योंकि मैं गुणियों की कभी हिंसा नहीं करती ॥२५॥ जो पुरुष स्वाभाविक (अक्षय) सुख, कीर्ति और आयु को चाहता हो, उसे चाहिए कि वह सम्पूर्ण अभीष्ट पदार्थों के दान से गुणी पुरुषों की पूजा करे ॥२६॥ भले ही मैं इस देह के साथ नष्ट हो जाऊँ, पर गुणवान् को मैं नहीं खाऊँगी, क्योंकि गुणवान् सज्जन लोग अपना जीवन देकर भी लोगों के चित्त को सुख पहुँचाते हैं। अपना जीवन देकर भी गुणवान् लोगों के जीवनकी रक्षा करनी चाहिए, गुणवान् लोगों की संगतिरूपी औषधि से मृत्यु भी मित्र बन जाता है ॥२७,२८॥ जब राक्षसी होकर भी मैं गुणवान् की रक्षा करती हूँ, तब अन्य कौन पुरुष गुणवान् पुरुष को गले का निर्मल हार नहीं बनायेगा ॥२९॥

जो देही (प्राणी) उदार गुणों से युक्त होकर इस संसार में विहार करते हैं, धरातल के चन्द्रमारूप वे अपनी संगति से लोगों को अत्यन्त आह्लादित करते हैं ॥३०॥ गुणी पुरुषों का तिरस्कार करना मरण है और गुणवान् की संगति करना जीवन है। गुणिसंगतिरूपी जीवन से स्वर्ग, अपवर्ग आदि फल सिद्ध होते हैं, इसलिए कमल के समान नेत्रवाले इन लोगों में कितना ज्ञान है, यह जानने के लिए मैं इनकी कुछ प्रश्नों से परीक्षा करूँगी ॥३१,३२॥ पहले यह गुणवान् है या निर्गुण है, इस प्रकार गुण के सम्बन्ध का विचार कर तदनन्तर गुणीको अपने से

श्रेष्ठ समझ कर यदि वह गुणों से हीन हो, तो शास्त्रोक्त दृष्टि से भलीभाँति विचार कर उसको शास्त्रोक्त दण्ड दे। यदि गुणों से अपने से वह श्रेष्ठ हो, तो उसे दण्ड न दे ॥३३॥

सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

अठहत्तरवाँ सर्ग

भीषण वाक्यों से भी भयभीत न हुए राजा का कर्कटी को देखना और
मन्त्री द्वारा समझाई गई कर्कटी का प्रश्न करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, तदुपरान्त राक्षस–कुलरूपी महावन की मंजरीरूप वह राक्षसी अन्धकारमें मेघघटा के समान खूब जोर से गरजी। गरजने के बाद मेघगर्जन के बाद वज्रनिर्घोष के समान शब्दतः (हुंकार से) भीषण होने पर भी अर्थतः अनिष्ठुर यह वचन उसने कहा : अरे घोर अरण्यरूपी आकाशमार्ग में सूर्य और चन्द्रमा के सदृश तथा सब भूतों के आधारभूत महामायारूपी अन्धकारपूर्ण गुफाके अन्दर बैठे हुए कीटों के समान तुम कौन हो, तुम कोई महाबुद्धि हो या अल्पबुद्धि हो ? एक क्षणमें मेरे ग्रासको प्राप्त हुए मरणयोग्य तुम यहाँ आये हो ॥१–४॥ राजा ने कहा : अरे भूत, तुम कौन हो ? और कहाँ रहते हो ? अपनी देह को दिखलाओ। भँवरी के गुंजन के सदृश तुम्हारी इस वाणी से कौन डर सकता है ?॥५॥ किसी वस्तु में अभिलाषा रखनेवाले लोग अपनी अभिलाषा के विषय पदार्थपर सिंह के समान पूर्ववेग से टूटते हैं। अपने क्रोध को छोड़ो, भीषण कार्यवाली अपनी शक्ति को दर्शाओ। हे सुव्रत, तुम क्या चाहते हो ? कहो, मैं तुमको तुम्हारी अभीष्ट वस्तु देता हूँ अथवा कोपपूर्ण शब्दों से या विभीषिका से क्या प्रयोजन है ? या तुम्हीं हमसे डरते हो ? तुम शीघ्र दूसरे को दिखाई देनेवाले शरीर की कल्पना करनेवाली शक्ति से अपनी आकृति और शब्द के साथ हमारे सामने खड़े होओ, जो लोग शीघ्र कार्य नहीं कर सकते, उनका आत्मनाश के सिवा और कुछ सिद्ध नहीं होता ॥६–८॥ राजा के वैसा कहनेपर 'राजा ने बहुत उत्तम कहा।' – ऐसा मन में विचाकर वह उन लोगों के प्रकाश के लिए और अधैर्य के लिए गरजी और हँसी ॥९॥ उसके गरजने और हँसने के बाद राजा और मंत्री ने उसे देखा, उसने अपनी भीषण ध्वनि से दसों दिशाओं को पूर्ण कर दिया था और अपने अट्टहास की दशन कान्तियों के घनीभाव से अपनी आकृति को उनके सामने प्रकट कर दिया था, वह प्रलयकाल के मेघ के वज्र के टकराने से घिसी हुई पर्वतस्थली के समान थी, अपने नेत्ररूपी बिजलियों और शंख की बनी हुई चूड़ीरूपी बकपंक्तियों से उसने आकाशको उज्ज्वल बना रक्खा था, अन्धकाररूपी एकमात्र सागर में वह बड़वानलकी प्रदीप्त ज्वालाओं की लपटों के समान थी। उसके गरज रही घनघटा के आटोप के समान विशाल काले कन्धे थे। कटकटा रहे दाँतों से उत्पन्न हुए भय से हाहाकार के साथ उसने निशाचर, चोर, व्याघ्र आदि को मार डाला था, आकाश और पृथ्वी को मानें वह काजल से धारण कर रही थी और फिर लीला से उल्लासको प्राप्त हो रही थी, उसके केश ऊपर को खड़े थे, उसका सारा अंग मोटी मोटी नसों से भरा था और उसकी बिल्ली के समान पीली–पीली

आँखें थी, वह ऐसी काली थी मानों अन्धकार से ही उसकी रचना हुई हो, यक्ष, राक्षस और पिशाचों को भी वह मरण आदि का भय देती थी। देहरन्ध्र में प्रविष्ट हो रहे श्वासवायु के झंकारशब्द से वह बड़ी भयावनी लगती थी। मूसल, ऊखल, उल्मुक (अधजला काष्ठ), हल और टुटे फूटे सूप उसके शिरोभूषण थे, वह प्रलयकाल में दैदीप्यमान वैदूर्य पर्वत की शिखर स्थली के समान थी, जिसने अपने हास से विश्व के अधिपति दानव मार डाले थे ऐसी कालरात्रि (शिवदूति के) के समान वह उदित हुई थी। मानों मेघयुक्त शरत्–काल का आकाशरूपी महावन ही देह धारण करके आया हो, मानों वह बड़े–बड़े मेघों से युक्त मूर्तिमती खूब अँधेरी रात्रि थी। शरीर धारण करके पृथ्वी की पीठ के समान उठी हुई थी, वह ऐसी लगती थी मानों चन्द्र एवं सूर्य के साथ युद्ध करने के लिए राहु के द्वारा धारण की गई देह हो। उसके इन्द्रनील मणि के समान अत्यन्त काले, जल से भरे दो मेघों के समान तथा ऊखल आदि के हारों के धारण करनेवाले काले स्तन थे ॥१०–१९॥ वह जले हुए काठ से चिह्नित और जले हुए काठ के समान थी और उसका विशाल शरीर था, वृक्षों के तुल्य, स्पन्दरहित था, नसों से व्याप्त सुन्दर भुजलताओंसे उसका आकार और भी अधिक बढ़ गया था ॥२०॥ उसको देखकर वे महाबलशाली राजा और मन्त्री पूर्ववत् बिना किसी क्षोभ के खड़े रहे। ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो कि सत्य और मिथ्याका विवेक रखनेवाले के चित्त को मोह में डाल सके ॥२१॥

यदि तुम महाबलशालिनी हो, तो छोटे कार्य के लिए इतना कोप करना युक्त नहीं है, यों शांति से समाधान करने की इच्छा से मन्त्री कहते हैं।

मन्त्री ने कहा : हे महाराक्षसी, यह तुम्हारा अत्यन्त कोप किसलिए है ? भाव यह कि केवल वचनमात्र से मिलनेवाले आहार–लाभ के लिए क्रोध और साहस आदि की आवश्यकता नहीं है। अथवा क्षुद्र जीव तुच्छ कार्य के लिए भी अत्यन्त घटाटोप करते हैं यानी तुम यदि लघु हो, तो तुम्हारे क्रोध से हमको किसी तरह का भय नहीं है, यह भाव है। तुम कोप को छोड़ो, तुम्हारा यह उद्योग उत्तम नहीं है। अपना कार्य सिद्ध करनेवाले बुद्धिमान् पुरुष साम से (शान्ति से) सिद्ध होनेवाले विषय में दण्डका प्रयोग नहीं करते हैं ॥२२,२३॥ हे अबले ! तुम्हारे जैसे हजारों मच्छर हम लोगों की धीरतारूपी आँधी से तिनके और सूखे हुए पत्तों के समान उड़ाये गये हैं। इसलिए भी तुम्हारा दण्डप्रयोग करना उचित नहीं है ॥२४॥

यदि राक्षसी की ओर से प्रश्न हो कि मेरी स्वार्थसिद्धि कैसे होगी ? तो इस पर कहते हैं।

इस कोपरूपी उपाय का त्यागकर समता से स्वच्छ हुई बुद्धि से और प्राज्ञ के व्यवहार के योग्य युक्ति से प्राज्ञ पुरुष अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं ॥२५॥

कार्य की सिद्धि में सन्देह होने पर भी उक्त अनादि नियम से सिद्ध सामरूप उपाय का त्याग नहीं करना चाहिए, फिर कार्य की सिद्धि का निश्चय होने पर तो कहना ही क्या है ? ऐसा कहते हैं।

अपने ही व्यवहार से कार्य सिद्ध हो अथवा न हो, सामका ही व्यवहार करना चाहिए, यह महानियति का (पण्डितों को शान्ति से ही व्यवहार करना चाहिए, इस अनादि नियमका)

निश्चय है, इस विषयमें भ्रान्तपुरुषोचित कोप का अवसर ही कहाँ है ? ॥२६॥ कहो, तुम्हें किस वस्तु की अभिलाषा है, तुम प्रार्थिनी होकर क्या चाहती हो ? हम लोगों का याचक जन स्वप्न में भी निराश होकर दूसरे के पास नहीं गया है। मन्त्री के यों कहने पर उस राक्षसी ने सोचा, इन दोनों महापुरुषों का धैर्य और बुद्धिबल बड़ा निर्मल है ॥२७,२८॥ ये कोई सामान्य पुरुष नहीं है, यह कोई विचित्र चमत्कार है, मेरा अन्तःकरण इनके वचन और मुखदर्शन से यानी प्रसन्नता आदि चिह्नों से तत्त्वनिश्चय करता है कि हो न हो ये अवश्य ज्ञानी हैं ॥२९॥ वचन, मुखदर्शन आदि से ज्ञानियों के अन्तःकरण परस्पर ऐसे एक हो जाते हैं जैसे कि नदियों के जल संगम से एक होते हैं ॥३०॥ इन लोगों ने मेरा अभिप्राय जान लिया और मैंने इनका अभिप्राय जान लिया है। इन लोगों का मुझे विनाश नहीं करना चाहिए, ये आत्मज्ञ होने के कारण स्वयं अविनाशी हैं। निश्चय ये लोग आत्मज्ञानी होंगे, मिथ्यात्व के निश्चय से जीवनमरणव्यवहार का जिसने त्याग कर दिया है, ऐसे आत्मज्ञानी के सिवा दूसरे पुरुष की बुद्धि मृत्युतुल्य भय के उपस्थित होने पर इस प्रकार निर्भय नहीं हो सकती ॥३१,३२॥ इसलिए जो मुझे कुछ सन्देह हुआ है, उसे इनसे पूछती हूँ। जो लोग विद्वान पुरुष को पाकर अपने सन्देह के निराकरण के लिए उससे प्रश्न नहीं करते वे अधम पुरुष हैं, ऐसा विचार कर प्रश्न के लिए अवसर खोजती हुई वह अकाल में प्रलय के मेघ के निर्घोष के समान अपने हास को रोककर बोली ॥३३,३४॥ हे पापरहित धीर पुरुषों, मुझे बतलाइए कि आप लोग कौन हैं ? निर्मल चित्तवाले ज्ञानी पुरुषोंकी, दर्शनसे ही, मैत्री हो जाती है ॥३५॥ मंत्री ने कहा : हे राक्षसी, ये किरातों के राजा हैं, मैं इनका मन्त्री हूँ। हम लोग तुम्हारे सरीखे घातक जीवों को दण्ड देने के लिए रात्रिचर्या में उद्यत हैं। राजा का रात दिन दुष्टों को दण्ड देना धर्म है। जो दुष्ट अपने धर्म का परित्याग करते हैं, वे विनाशरूपी अग्नि के इन्धन होते हैं ॥३६,३७॥ राक्षसी ने कहा : राजन्, तुम्हारा मन्त्री दुष्ट है यानी तुम दुष्टमन्त्रीवाले हो। और दुष्टमन्त्रीवाला राजा भविष्णु नहीं होता। अच्छे राजा से युक्त मन्त्री आदरणीय होता है और सन्मन्त्री से युक्त राजा आदरणीय होता है ॥३८॥ योग्य मन्त्रीको चाहिए कि वह राजा को विवेकी बनाये। विवेकसे राजा श्रेष्ठताको प्राप्त होता है, जैसा राजा होता है, वैसी उसकी प्रजा होती है। सम्पूर्ण गुणगणों में से अध्यात्मज्ञान सर्वोत्तम है। उक्त अध्यात्मज्ञान को जाननेवाला राजा प्रशस्त राजा होता है और अध्यात्मज्ञानी मन्त्री मन्त्रविद् (विचार के रहस्य को जाननेवाला) होता है ॥३९,४०॥

प्रभुता और समदृष्टिता राजविद्या से प्राप्त होते हैं, उस राजविद्याको जो नहीं जानता है, वह न तो मन्त्रि है और न राजा है। यदि आप लोग अध्यात्मज्ञानी हैं, तब तो अच्छा है और आप लोग उत्तम कल्याण को प्राप्त होंगे। यदि आप लोग अध्यात्मज्ञानी नहीं हैं। तो आप प्रजाओं के भी अकल्याणकारी हैं, इसलिए अपनी प्रकृति के अनुसार मैं तुम लोगों को खा जाऊँगी ॥४१,४२॥ एक ही उपाय से मेरे पाप से तुम लोग मुक्त हो सकते हो। जैसे बालक अपनी माता पिताके प्रीतिपात्र होते हैं, वैसे ही तुम लोग मेरे प्रीतिपात्र होओगे, यदि मेरे ठोस प्रश्नों का बुद्धि से विचार करोगे ॥४३॥ हे राजन् अथवा हे मन्त्रिन्, इन प्रश्नों

को सुनो, इन प्रश्नों के उत्तर के लिए ही मैं अत्यन्त अर्थिनी हूँ, मेरी अभिलाषा को पूर्ण करो – देने के लिए स्वीकृत अर्थ को न देता हुआ कौन पुरुष इस लोक में विनाशकारी दोष से युक्त नहीं होता ? ॥४४॥

अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

उन्नासीवाँ सर्ग

कर्कटी का अनात्मज्ञ पुरुषों के लिए वज्र के तुल्य और
आत्मज्ञानी पुरुषों के लिए मनोज्ञ बहत्तर प्रश्न करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त कथन के अनन्तर राजा के अपने प्रश्नों को कहो, यों अनुमति देनेपर राक्षसी ने प्रश्न करना आरम्भ किया। इन प्रश्नों को आप सुनिये ॥१॥ राक्षसी ने कहा : राजन्, एक होते हुए भी उपाधिवश अनेक संख्यावाले, (अपरिच्छिन्न होने के कारण) समुद्र के तुल्य एवं (दुर्लक्ष्य होने के कारण) अणु के तुल्य किसके भीतर लाखों ब्रह्माण्ड समुद्र के भीतर बुद्‌बुदके समान लीन होते हैं ? ॥२॥ कौन वस्तु आकाशरूप (शून्य) और अनाकाशरूप (अशून्य) है ? लौकिक पुरुषों की दृष्टि में जो कुछ नहीं है और तत्त्वज्ञोंकी दृष्टि में कुछ है, ऐसी कौन वस्तु है ? कौन मैं हूँ और कौन अहंरूप से स्थित तुम हो ? कौन न चलता हुआ भी चलता है, कौन स्थित न होता हुआ भी स्थित होता है ? कौन चेतन होता हुआ भी पाषाण के समान अचेतन है ? कौन आकाश में दृश्यरूप आश्चर्यजनक चित्र को बनाता है ? अग्नि का त्याग न करता हुआ ही कौन अदाहक अग्नि है ? अग्नि भिन्न किससे निरन्तर अग्नि उत्पन्न होती है ? हे राजन्, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि और ताराओं से भिन्न होता भी कौन अविनाशी प्रकाशक है ? नेत्रगोचर न होनेवाले किससे प्रकाश होता है ? जन्मान्ध लता, पेड़, झाड़ी, अंकुर आदि का और जिनकी इन्द्रियाँ आविर्भूत नहीं हुई हैं, ऐसे अन्यान्य पदार्थों का कौन उत्तम आलोक है ? आकाश आदिका कौन उत्पादक है ? और सत्ता को सत्ता प्रदान करनेवाला कौन है ? कौन जगद्रूपी रत्न का कोष है और जगत् किस मणिका कोश है ? कौन अणु तम का प्रकाशक है और किस अणु का ज्ञानियों की दृष्टि से अस्तित्व होते हुए भी अज्ञोंकी दृष्टि से अभाव है ? कौन अणु दूर में होता हुआ भी समीप में है ? कौन अणु होता हुआ भी निमेष है ? कौन प्रत्यक्ष होता हुआ भी अज्ञों की दृष्टि से असद्रूप है ? कौन चेतन होता हुआ भी अचेतन है ? कौन वायु होता हुआ भी वायु से भिन्न है ? कौन शब्द होता हुआ भी शब्दभिन्न है ? कौन सब है और कुछ भी नहीं है ? कौन अहं होकर भी अहं नहीं है ? पहले अनेक जन्मों में अपनी आत्मा के रूप से प्राप्त होकर भी कौन अज्ञान से आवृत्त होने के कारण अलभ्य–प्राय होने से सैकड़ों प्रयत्नों से प्राप्त होने योग्य है ? जो अज्ञों को कुछ प्राप्त नहीं होता और ज्ञानियों को पूर्ण रूप से प्राप्त होता है ॥३–१२॥ किसने स्वस्थ और जीवित होते हुए भी अपने आत्मा का अत्यन्त विस्मरण कर दिया ? कौन अणु अपने भीतर मेरु को धारण करता है ? कौन त्रिभुवन को तृण बनाता है ? किस अणुपरिमाण ने सौ

योजन पृथ्वी को पूर्ण कर दिया ? कौन अणु होता हुआ ही सैकड़ों योजनों में भी नहीं समा सकता ? कौन केवल अपने दृष्टिपात से जगत्‌रूपी बालक को नचाता है या किस अणु के अन्दर पर्वतों के समूह विद्यमान हैं ? कौन अपनी अणुताका त्याग न करता हुआ मेरु से भी बढ़कर स्थूल आकृति धारण करता है ? बाल के अग्रभाग के शतांश स्वरूपवाला कौन अणु उन्नत पर्वत के सदृश बन जाता है ? कौन अणु प्रकाश और अन्धकार को प्रकट करनेवाला दीपक है ? किस अणु के उदर में सम्पूर्ण वृत्तिअवच्छिन्न ज्ञान के लव हैं ? कौन अणु मधुर आदि रससे रहित होता हुआ भी सदा स्वाद देता है, सबका त्याग करते हुए किस अणुने सब वस्तुओं का स्वीकार कर रक्खा है ? ॥१३-१८॥ अपने स्वरूप के आच्छादन में असमर्थ किस अणुसे यह सम्पूर्ण जगत् आच्छादित (व्याप्त) है ? लय से तिरोहित हुआ भी जगत् किस अणु की सत्ता से सत्ता को प्राप्त होकर फिर सृष्टिकाल में आविर्भूत होता है ? ॥१९॥ जिसके अवयव उत्पन्न ही नहीं हुए हैं, ऐसा कौन अणु सैकड़ों हाथ और लोचनों से युक्त है ? वह कौन अणु है, जो निमेषमात्र होता हुआ भी महाकल्प और सैकड़ों करोड़ों कल्परूप है ? ॥२०॥ किस अणु में, बीज में वृक्ष की तरह, अनुत्पन्न अनेक जगत् प्रलयकालमें भी स्थित रहते हैं ? सृष्टि के आरम्भ में जिनकी बीजपरम्परा की अवधि अव्यक्त है, ऐसे सम्पूर्ण बीज, सृष्टिकाल में जगद्रूप से विकसित किये गये भी, किसमें सदा ही अनुदित रहते हैं ? बीज के अन्दर वृक्ष की तरह निमेषरूप किसके अन्दर, कल्प स्थित है ? कौन तत्-तत् कारकों का प्रवर्तन न करते हुए भी यानी क्रियारहित होने के कारण कारकव्यापारयितृत्वरूप कर्तृत्व का आश्रय न करके भी कर्ता है ? भोग्य की सिद्धि के लिए बाह्यदृष्टि से अपनी आत्मा को दृश्य बनाता हुआ कौन द्रष्टा है ? और नेत्ररहित होता हुआ भी कौन बाह्यदृष्टि से अपने आत्मरूप दृश्य को देखता है ? ॥२१-२३॥ कौन ज्ञान से दृश्य का विनाश कर दृश्य की असिद्धि के लिए अखण्डित अपनी आत्मा को देखता हुआ दृश्य को नहीं देखता ? कौन पुरुष अपनी आत्मा को (द्रष्टा को), वृत्ति को और दृश्य को, जैसे चक्षु दृश्य को अवभासित करता है वैसे ही, अवभासित करता है ? जैसे सुवर्ण से कटक आदि होते हैं, वैसे ही द्रष्टा, दृश्य और दर्शन-ये तीनों किससे उत्पन्न हुए हैं ? ॥२४,२५॥ जैसे समुद्र से तरंग, द्रवता आदि भिन्न नहीं है, वैसे ही यह सब किससे पृथक् नहीं है ? जैसे जलराशि से जलतरंगत्व भिन्न है, वैसे ही यह जगत्‌रूप द्वैत किसकी इच्छासे पृथक् है ? जैसे जलराशि से द्रवता भिन्न नहीं है, वैसे ही देश, काल आदि से अनवच्छिन्न अद्वितीय अतिसूक्ष्म होने के कारण असत्-सा प्रतीत होनेवाले वस्तुतः सद्रूप किससे द्वैत भी अपृथक् यानी अभिन्न है ? ॥२६,२७॥ द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप उद्‌भुतावस्था और तिरोहितावस्थावाले तीनों जगतों को कौन सर्वदा अपने भीतर रखकर स्थित है, जैसे कि बीज वृक्ष को अन्दर रखकर सदा स्थित रहता है ? ॥२८॥ अतीत, वर्तमान और भावी जगत्-समूह, जो कि एक बड़ा भारी भ्रम है, सदा समस्वरूप (विकाररहित) किसके अन्दर, बिज के अन्दर वृक्ष के समान, स्थित है ? ॥२९॥ जैसे बीज वृक्षरूप से और जैसे वृक्ष बीजरूपसे उदित होता है, वैसे ही कौन अपने स्वरूप को न छोड़ता हुआ जगद्विकाररूप से

उदित होता है ? ॥३०॥ हे राजन्, जिसकी दृढ़ता के सामने महामेरु कमलनाल के तन्तु के समान अत्यन्त अदृढ़ है, अथवा जिसके संकल्प से उक्त तन्तु भी महामेरु के तुल्य हो जाता है, ऐसी किस वस्तु के अन्दर करोड़ों मन्दराचल विद्यमान हैं ? ॥३१॥ अनेक चेतनों से युक्त इस विश्व का किसने सृष्टि द्वारा विस्तार किया है ? किसकी शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर तुम व्यवहार करते हो, प्रजाओं का पालन करते हो और दण्डनीयों को दण्ड देते हो ? सबके सृष्टि आदि व्यवहार किसके बलपर होते हैं ? यह भाव है। किसके दर्शन से तुम निर्मल दृग्रूप होकर उससे भिन्न नहीं होते हो अथवा सदा तद्रूप ही होते हो। उस वस्तु को मुझसे अपनी मृत्यु को छुड़ाने के लिए तुम कहो। मेरा यह संशय, जो कि चन्द्र का कुहरे के समान, स्वात्माकारवृत्ति का आवरणभूत है, सर्वथा नष्ट हो। जिसके आगे प्रश्न करने पर मूलअज्ञानसहित संशय नष्ट नहीं होता, वह पुरुष कहीं भी ज्ञानीशब्दवाच्य नहीं होता। क्रम से कहे गये छोटे–मोटे संशयों को अगर तुम निवृत्त नहीं करोगे, तो दोनों ही राक्षसीके जठरानल के इन्धनता को, बिना किसी विघ्न बाधा के, क्षणभर में प्राप्त होओगे ॥३२–३४॥ तुमको खाने के बाद प्रचुर जठराग्नि से सम्पन्न मैं तुम्हारे जनपदों को एक क्षण भर में निगल जाउँगी, उक्त प्रश्नों के उत्तरप्रदान से तुम्हारी अपने साथ सब प्रजाका पालन करने के कारण सुराजता बनी रहेगी, ऐसा में समझती हूँ, मूर्खों की (अनात्मज्ञानियों की) भोगलम्पटता की अधिकता उनके नाश के लिए ही होती है। अगर मैं तुम्हारा भक्षण न भी करूँ, तो भी तुम्हारा राज्य के अन्त में नरकपात अवश्य ही होगा। प्रचण्ड मेघनिर्घोषके उल्लास के समान प्रकट वाणी से ऐसा कहकर शरत्काल की निर्मल मेघमण्डली के समान भीतर शुद्ध और बाहर से कटु बोलनेवाली अत्यन्त विकटाकार वह राक्षसी चुप हो गई ॥३५,३६॥

उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त

अस्सीवाँ सर्ग

पहले मन्त्री द्वारा उक्त राक्षसी के प्रश्नों का क्रम से और
व्युत्क्रम से सूक्ष्म उपपत्तियों द्वारा यथायोग्य समाधान।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अँधेरी रातमें महाअरण्य में महाराक्षसी के इस प्रकार अनेक प्रश्न करनेपर आगे कहे जानेवाली रीति से महामंत्री ने उत्तर दिया। मंत्री ने कहा : हे मेघतुल्य राक्षसी, जैसे सिंह मदोन्मत्त हाथी को छिन्नभिन्न करता है, वैसे ही मैं तुम्हारे अनुक्रमरूप प्रश्नोंको युक्तियों द्वारा छिन्न–भिन्न करता हूँ ॥१,२॥

सम्पूर्ण प्रश्नों का खण्डन करने के लिए उनका पहले हृदय दिखलाते हैं।

सोने के कमल के समान पीले नेत्रवाली हे राक्षसी, तुमने प्रश्न जाननेवाले के समझने योग्य इन वचनों से परमात्मा का ही प्रतिपादन किया है। नामरहित होने के कारण तथा आभ्यन्तर और बाह्य मन, चक्षु, श्रोत्र आदि छः ज्ञानेन्द्रियों का अविषय होने के कारण आकाश से भी सूक्ष्म चिन्मात्र आत्मा का ही तुमसे अणुशब्द से व्यवहार किया है। इसमें 'कस्याऽणोरम्बुधेः'

इस प्रश्न में स्थित अणु शब्द का अभिप्राय खोला गया है ॥३,४॥

किस अणु के अन्दर लाखों ब्रह्माण्ड लीन होते हैं, इस प्रश्न का समाधान करते हैं। परम चिदणु के अन्दर अज्ञानियों की दृष्टि से सत्–सा और ज्ञानियों की दृष्टि से असत्–सा स्थित यह जगत् बीज के मध्य में वृक्ष की सत्ता के समान स्फुरित होता है, इससे 'अणौ जगन्ति तिष्ठन्ति कस्मिन् बीज इव द्रुमः' इस प्रश्नका भी उत्तर हो गया।

सम्पूर्ण वस्तुओं की सत्ता अनुभव सत्ता के अधीन है, उसको यदि अन्य के अधीन मानें, तो अनवस्था होगी, अतः स्वतःसिद्ध अनुभव सत्ता से ही सब भाव सत्ता को प्राप्त हुए हैं। इससे 'सदिवासदिवापि वा' इत्यादि से किये गये सत्ता का सत्ताप्रद कौन है ? इस प्रश्न का समाधान हुआ ॥५,६॥

'किमाकाशमनाकाशम्' इत्यादि प्रश्न का समाधान करते हैं।

वही अनन्त चिदणु परमात्मा बाह्यशून्य होने के कारण आकाशस्वरूप है और चेतनरूप होने के कारण अनाकाशरूप (अशून्यस्वरूप) है। *('न किंचत्किंचिदेव किम्' इस प्रश्न का समाधान करते हैं।)* अतीन्द्रिय होने के कारण वही अनन्त परमाणु कुछ नहीं है यानी लौकिक दृष्टि से अप्रसिद्ध है ॥७॥

कुछ होता हुआ भी यह दृश्य जिसके स्वरूपापन्न होने पर कुछ नहीं रहता वह क्या है ? ऐसा यदि प्रश्न का आशय माना जाय, तो उस पर कहते हैं।

सर्वात्मक होने से साक्षात् किये गये अपने स्वरूप से ही सब जीवों के निगीर्ण (लय) होने पर वही कुछ न कुछ रह जाता है यानी आत्मा से अतिरिक्त कुछ अवशिष्ट नहीं रहता। एक की जो अनेकता उदित होती है, वह प्रातीतिक है, वास्तविक नहीं है, इससे एक होता हुआ अनेक कौन है, इसका उत्तर हो गया। जैसे सुवर्ण ने विक्षेपशक्ति से कटक आदि को प्रकट किया है, वैसे ही उसी चिदणुने द्रष्टा, दर्शन आदि को विक्षेपशक्ति से प्रकट किया है, इससे 'कटकादीनि हेम्नेव' इस प्रश्न का उत्तर भी हो गया ॥८॥

'कोऽणुः तमःप्रकाशः स्यात्' इत्यादि प्रश्नों में बार बार प्रयुक्त 'अणु' शब्द का भी वही अभिप्राय है, जिसे हम पहले कह आये हैं।

परम प्रकाशरूपी यह अणु सूक्ष्म होने के कारण चक्षु का अविषय है, सर्वात्मक होता हुआ भी मन और पाँचों इन्द्रियों का अविषय होकर स्थित है, अतः अणु कहलाता है ॥९॥

'कौन अणु है और नहीं भी है', इस प्रश्न में उक्त 'नहीं है' अंश बाधित ही है, यों उक्त अंश को दूषित करते हैं।

जो सर्वात्मक है, वह शून्य कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि वह है नहीं, ऐसा कहनेवाला और मनन करनेवाला आत्मा ही तो है यानी उक्त आत्मा ही वक्ता और मन्ता के रूप में प्रसिद्ध है। अपने आत्मा का अपलाप न हो सकने के कारण उसकी नास्तितता नहीं कही जा सकती है, यह भाव है ॥१०॥

सत्पदार्थ का असत् से विरोध है, इससे भी उसे असत् कहना युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं।

किसी भी युक्ति से सत् वस्तु की असत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती।

शंका : यदि वह है, तो उसका दर्शन क्यों नहीं होता ?

समाधान : यद्यपि पृथक् रूप से उसका दर्शन नहीं होता, फिर भी सबमें अनुगत सद्रूप से, जो कि आवरण से गुप्त है, सर्वात्मा वह दिखलाई पड़ता है, जैसे कपूर अपनी सुगन्धि से प्रतीत होता है, वैसे ही सबमें व्याप्त वह प्रत्यक्‌रूप से प्रतीत होता है ॥११॥

कौन सब है और कुछ भी नहीं है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

चिन्मात्र वही अणु सब है। जो अपरिच्छिन्न है, वह परिच्छिन्न सर्वस्वरूप कैसे होगा ? मन और इन्द्रियों की वृत्तियों से नानाप्रत्यय होने से मन से परिच्छिन्नरूप से ही वह सर्वात्मक है और इन्द्रियातीत होने के कारण निर्मल वही चिदणु 'न किंचित्' (कुछ भी नहीं) इस रूप में स्थित है ॥१२॥

अथवा एक होते हुए भी अनेक संख्यावाले किसके अन्दर लाखों ब्रह्माण्ड लीन होते हैं, इस अभिप्राय से तुम्हारा वह प्रश्न है, ऐसा कहते हैं।

वही एक है और सम्पूर्ण सत्त्वों में आत्मप्रतीति होने से अनेक भी है। किस समदृष्टि के अन्दर यह जगत् सदा स्थित है, इस प्रश्न का उत्तर यह है। वही इस सम्पूर्ण जगत् को धारण करता है। कौन जगद्रूपी रत्नों का कोष है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं। और वही जगत् का कोष भी है ॥१३॥

जैसे जलराशि से ऊर्मियाँ (लहरें) पृथक् नहीं हैं, वैसे ही किससे यह जगत् पृथक् नहीं है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

चित्तरूप होने से विकारी उस चेतनरूपी महासागर में चित्त–विकल्पस्वरूप ये त्रिजगद्‌रूपी तरंगें ऐसे स्फुरित हो रही है जैसे कि द्रव होने के कारण जल में आवर्त स्फुरित होते हैं। इससे 'कस्येच्छया पृथक् चाऽस्ति' इस प्रश्न का उत्तर भी हो गया ॥१४॥

देश, काल आदि से अनवच्छिन्न अद्वितीय असत् के सदृश किस सत् से द्वैत भी अपृथक् है, इस शून्यात्मक और अशून्यात्मक उक्ति का तात्पर्य कहते हैं।

चित्त, इन्द्रिय आदि से लभ्य न होने के कारण वह अणु शून्यस्वरूप के (असत् के) तुल्य है, व्योमरूपी होता हुआ भी स्वानुभवलभ्य होने से अशून्य (सत्) है ॥१५॥ मैं अद्वैतज्ञान से आत्मस्वरूप ही होकर त्वदात्मा (आपका स्वरूप) हो गया हूँ और तुम भी आत्मस्वरूप से मदात्मा (मेरे स्वरूप) बन गये हो। यह सब अहन्ता और भवता के प्रतिसन्धान की व्यवहारदशा में होता है। परमार्थदशा में तो वह आत्मा न त्वद्रूप है या न मद्रूप है, किन्तु बोधरूप बृहद्‌शरीरवाला ही है ॥१६॥ त्वन्ता और अहन्तारूप सबका बोध से निगरण कर न तुम हो और न मैं हूँ और न सब है, अथवा वही स्वयं सब कुछ होता है ॥१७॥

चलता हुआ भी कौन नहीं चलता है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

अणु होता हुआ भी आकाश की नाईं हजारों योजनों में व्याप्त वह चलता हुआ भी नहीं चलता है, स्वप्न के समान कल्पना से हजारों योजन उस अणु के अन्दर स्थित हैं ॥१८॥

कौन स्थित न रहता हुआ भी स्थित रहता है, इसका भी उत्तर उसी ढंग से देते हैं।

गया हुआ भी यह नहीं जाता, प्राप्त हुआ भी नहीं आया, क्योंकि देश और काल उसकी सत्ता से सत्तावाले आकाश कोश के अन्दर ही स्थित हैं ॥१९॥ गमन द्वारा प्राप्त होनेवाला देश जिसके शरीर के अन्दर ही स्थित है, वह कहाँ जाय ? क्या माता अपनी गोद में सोये हुए बच्चे को दूसरी जगह खोजती है ? ॥२०॥ गम्य (गमन के योग्य) महादेश जिस सबके रचयिता के अन्दर स्थित है, यह कैसे कहाँ जाय ? जैसे जिसका मुँह बँधा है, ऐसे घड़े को अन्य देश में ले जाने पर उसमें स्थित आकाश के गमन और आगमन नहीं होते, वैसे ही उपाधि के गमन और आगमन से आत्मा के गमन और आगमन नहीं हो सकते ॥२१,२२॥

'कौन चेतन होता हुआ भी पाषाण है' इस प्रश्न का यदि चेतनरूप और जड़रूप विरुद्ध दो रूपवाला कौन है यह अर्थ हो, तो उत्तर देते हैं।

स्वभावतः जड़ एवं आत्मतादात्म्याध्याससे चेतन बने हुए देह आदि में प्रकाशस्वभावता और जड़ता अनुभव-सिद्ध है, अज्ञान से उसका विवेक न होने के कारण वह जड़ और बोध उभयरूपवाला होता ही है ॥२३॥

जब 'चेतन भी पाषाण के समान घनरूप कौन है, यह यदि प्रश्न का अर्थ हो, तब पारमार्थिक आत्मरूप चिद्घन ही वह है, ऐसा कहते हैं।

हे राक्षसी, जब वह चिन्मात्र अचेतन पाषाण की सत्ता का एकात्मरूप से अवलम्बन करता है तब वह चेतन ही पाषाण के तुल्य अचेतन हो जाता है ॥२४॥

आकाश में विचित्र चित्र बनानेवाला कौन है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

आदि और अन्त से रहित परमाकाश में चिन्मात्र परमात्मा ने यह विचित्र त्रिजगत्रूपी चित्र, जो कि मिथ्या होने के कारण अनिर्मित-सा ही है, बनाया है ॥२५॥

अग्निता का त्याग नहीं करता हुआ कौन अदाहक अग्नि है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

आत्मसत्ता से अग्नि की सत्ता है, इसलिए अग्नि के आकार का त्याग किये बिना ही सर्वव्यापक वह दाह नहीं करता है, भाव यह कि आत्मसत्ता से ही अग्नि की सत्ता है,उसके सर्वगत होने के कारण सबमें स्थित भी वह जलाता ही नहीं है, इससे वह सर्वगत नहीं है, ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि वह सब पदार्थों का अग्नि के समान प्रकाशक है ॥२६॥

किस अग्नि से अग्नि की उत्पत्ति होती है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

दैदीप्यमान उज्ज्वल आकारवाले आकाश से भी निर्मल उससे देदीप्यमान चेतनस्वरूप अग्नि उत्पन्न होती है ॥२७॥

चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि और तारों से भिन्न होता हुआ भी कौन अविनाशी प्रकाशक है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जो अपने ज्ञान से सूर्य आदि के प्रकाश का भी प्रकाशक है और महाकल्प के प्रलय कालीन मेघों से भी जो नष्ट नहीं होता, वह आत्मप्रभारूप अविनाशी प्रकाश है ॥२८॥

नेत्रों से नहीं गृहीत होनेवाले किससे प्रकाश प्राप्त होता है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

नेत्रों से नहीं प्राप्त होनेवाला और अनुभवरूप, हृदयरूपी घर को प्रदीप्त करनेवाला, सबको सत्ता देनेवाला जो अनन्त परमप्रकाश कहा गया है, उससे प्रकाश प्राप्त होता है। हम लोगों का प्रकाश (अहंकार आदि का प्रथन) मन और पाँचो ज्ञानेन्द्रियों के अविषय आत्मा से प्रवृत्त होता है। जैसे कि गाढ़ अन्धकार में स्थित पुरुष भी 'तुम कहाँ हो', यह पूछने पर 'मैं यहाँ पर हूँ', ऐसा कहता है। जिस प्रकाशक से आलोक, दीप आदि के बिना भी देह, इन्द्रिय आदि की अपरोक्ष प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है ॥२९,३०॥

लता गुल्म आदिका, जो कि जन्मान्ध हैं और अन्यान्य जीवों का भी कौन उत्तम आलोक है, इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

लता, झाड़ी, अंकुर आदिका, जो कि इन्द्रियरहित हैं, अपने सन्निधानमात्र से पालन करनेवाला उनकी ऊँचाई और उनके फलों का साक्षी अनुभवात्मा प्रकाश ही उनका प्रकाशक है ॥३१॥

आकाश आदि का जनक कौन है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

काल, आकाश, क्रिया आदिकी सत्ता और जगत् उस ज्ञानस्वरूप में हैं, व्यवहारदृष्टि से वही सबका स्वामी, कर्ता, पिता, भोक्ता है, परमार्थदृष्टि से आत्मा होने के कारण वह कुछ भी नहीं है ॥३२॥

कौन जगद्रूपी रत्नों का कोश है, इसका उत्तर देते हैं।

अपनी अणुता का त्याग न करता हुआ वह अणु जगद्रूप रत्नों का भंडार है।

किस मणिका कोश यह जगत् है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदिरूप जगत् अद्वितीय ब्रह्म में नहीं है, इसलिए सम्पूर्ण जगत् में सर्वत्र वही केवल भली भाँति स्फुरित होता है, ऐसी अवस्था में इस जगद्रूपी पिटारीमें वह परममणि स्थित है ॥३३,३४॥

कौन अणु तम और प्रकाश है, इसका उत्तर देते हैं –

दुर्बोध होने के कारण वह अणु तम है और चिन्मात्र होने के कारण प्रकाश–स्वरूप है। अब कौन अणु है और नहीं है, इस पर कहते हैं। ज्ञानरूप होने के कारण वह सत् है और इन्द्रियातीत है, अतः असत् है ॥३५॥

कौन अणु दूर में है और समीपमें भी है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

इन्द्रियों से प्राप्त न होने के कारण वह दूर में है, चैतन्यरूप होने के कारण दूर नहीं है यानी समीप में है। कौन अणु होता हुआ ही महापर्वत है, इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं। करणों के बिना ही सभी लोगों को 'अहम्, अहम्' इस प्रकार सामने स्थित पर्वत के समान अपरोक्षरूप से उसका ज्ञान होता है, अतः इसीको, जो कि अणु है, तुमने पर्वत कहा है ॥३६॥

जो कि अणु है, इस अंश के तात्पर्य को स्फुट करते हैं।

जो यह जगत् भासित होता है, वह चेतन का स्फुरणमात्र ही है, इसलिए पर्वत आदि सत्य नहीं है, अतः अणु में ही मेरुता प्रतीत होती है ॥३७॥

निमेष होता हुआ भी कौन कल्प है, इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

वही अणु निमेष की तरह भासित होता है, अतः निमेष कहा जाता है, वही कल्प के समान प्रतीत होता है, अतः उसमें कल्पशब्दका व्यवहार होता है ॥३८॥ निमेष ही एक कल्प में जितनी क्रियाएँ होती हैं उन क्रियाओं के विलास से युक्त प्रतीत होता है ॥३९॥

जैसे कि मन में ही अनेक करोड़ों योजन में फैला हुआ नगर प्रतीत होता है। पूर्वोक्त अर्थ में असंभावना की निवृत्ति के लिए दूसरा दृष्टान्त देते हैं।

निमेष के अन्दर कल्प का उदय होता है, जैसे कि अत्यन्त निर्मल दर्पण के अन्दर बड़े भारी नगरका आविर्भाव होता है ॥४०॥ जिस अत्यन्त सूक्ष्म अणुमें ही निमेष, कल्प, पर्वतसमूह और अनेक करोड़ योजन विद्यमान हैं, यानी अपने मिथ्यात्व का अवलम्बन कर प्रविष्ट होते हैं उसमें द्वैत और ऐक्य कहाँ ? यानी द्वैत और एकता का भी मिथ्यात्व से ही उसमें समावेश है ॥४१॥ एक क्षण में ही मैंने इस कार्य को पहले किया था, यों कालदीर्घता का बुद्धि में स्फुरण होता है तथा क्षण में ही असत्य में सत्यता और सत्य में असत्यता यानी व्यावहारिक सत्यता और प्रातिभासिक असत्यता होती है, इसमें दृष्टान्त स्वप्नरूपी भ्रम है ॥४२॥

इसमें लोकानुभव और आख्यायिका का उदाहण देते हैं।

दुःख में काल दीर्घ प्रतीत होता है और सुख में सदा अतिअल्प प्रतीत होता है, यह सबके अनुभव से सिद्ध है। हरिश्चन्द्र को एक रात बारह वर्षकी-सी लम्बी प्रतीत हुई थी ॥४३॥

चित्तवृत्ति के अनुसार ही चित् की प्रतीति होती है, वस्तु के स्वभाव के अनुसार नहीं, ऐसा कहते हैं।

जो सत्यस्वरूप, सत्य निश्चय चित्तवृत्ति में उदित होता है, वही सुवर्ण में कटक आदि के समान चित् का प्रतिभास है ॥४४॥

तो वास्तविक तत्त्व क्या है ? इस पर कहते हैं।

न निमेष है, न कल्प है, न सामीप्य (नजदीकी) है और न दूरता है, इस प्रकार चिद् अणु की प्रतिभा ही अन्यान्य वस्तुओं की नाईं स्थित है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥४५॥

इस प्रकार और पदार्थ भी नहीं है, क्योंकि विरुद्ध पदार्थों में अधिष्ठानभूत चित् का भेद न होने से भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं।

प्रकाश और अन्धकार, दूर और अदूर, क्षण और कल्प-इनका एकमात्र चित् ही शरीर है, अतः इनमें परस्पर तनिक भी भेद नहीं है ॥४६॥

कौन प्रत्यक्ष है और असद्रूप है, इस प्रश्न उत्तर कहते हैं।

इन्द्रियों का सार यानी अपने कर्म में सामर्थ्य देनेवाला तत्त्व है, अतः प्रत्यक्ष है और इन्द्रियों से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, अतः अप्रत्यक्ष यानी असद्रूप है अथवा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञेय दृश्य में आरोप से इसका उदय होने के कारण यह प्रत्यक्ष है, ऐसा कहते हैं। दृश्य होने के कारण इसका उदय होता है, इसलिए यह चेता द्रष्टा प्रत्यक्ष है ॥४७॥

यदि वही दृश्यस्वरूप है, तो दृश्य हेय है, ऐसा कैसे कहते हो ? इस शंका पर कहते हैं।

जब तक कटक–प्रतीति रहती है, तब तक स्वर्णता नहीं–सी रहती है, जब तक दृश्यता की प्रतीति रहती है, तबतक वह वास्तविक चिदेकरसता नहीं–सी रहती है, और दृश्यरूप से परमपुरुषार्थता उसमें है नहीं, इसलिए दृश्यता हेय कही गई है ॥४८॥

अतएव दृश्यरूप से उसकी कल्पना न करने पर और कल्पना करके भी दृश्यरूप से न देखने पर दृश्य के ब्रह्मरूप होने से परमपुरुषार्थता सिद्ध होती है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे कटकता की कल्पना न करने पर और करने पर भी उसका दर्शन न करने पर सुवर्णता व्याप्त रहती है, वैसे ही दृश्यता की कल्पना न करने पर और कल्पना करने पर भी उसका दर्शन न करनेपर केवल निर्मल शुद्ध ब्रह्म ही दिखाई देता है ॥४९॥

'असद्रूप कौन है' इस प्रश्नांश का तात्पर्य कहते हैं।

सर्वात्मक होने के कारण ही वह सद्रूप है यानी सर्वानुगत सद्रूप से उसकी प्रतीति होती है, अतः वह सद्रूप है। उसका दर्शन पृथक्‌रूप से हो ही नहीं सकता, अतः वह असद्रूप है। 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इस श्रुति में ऐसा व्यवहार देखा जाता है। 'किं चेतनमचेतनम्' इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं। चित्स्वरूप होने के कारण वह चेतन है, उसमें विषयरूप का संभव न होने से भी विषयरूप से वह प्रतीत होता है, अतः तुमने उसको अचित् कहा है ॥५०॥

उसमें विषय के अभाव का ही उपपादन करते हैं।

चित् स्फुरणमात्र ही जिसका स्वरूप है, चित्प्रतिभा स्वरूप वायु से कँपाये गये वृक्षके समान अत्यन्त अस्थिर (या वृक्षाकार विद्युत् के समान अत्यन्त असत्) इस जगत् में चैतन्य की आश्रयता और विषयता कैसे ? जैसे प्रचुर ताप का भासन मृगतृष्णा है, वैसे ही प्रचुर अद्वैतरूप चित् का स्फुरण यह जगत् है ॥५१,५२॥ सूर्य की किरणों से आगे कहे जानेवाले काँचन आदि का जो सूक्ष्मतर निर्माण निर्विघ्नता से होता है, उस निर्माण में जैसे अस्तिता नास्तिता हैं, वैसे ही ब्राह्म कल्प आदिरूप जगत् की अस्तिता नास्तिता है, इसलिए उसमें चिद्‌बुद्धि या चैत्यबुद्धि कैसे यानी उक्त बुद्धियाँ निर्विषय ही हैं ॥५३॥

माया से जैसे सूर्य–किरणों के लेश से युक्त आकाश में स्वर्ण स्फुरित होता है, वैसे ही यह जगत् भी स्फुरित हुआ है, इसमें चित्कल्पना या चैत्यकल्पना कैसे हो सकती है, जैसे स्वप्ननगर में, गन्धर्वनगर में या संकल्प से कल्पित नगर में दीवार का ज्ञान न सत् है और न असत् है, वैसे ही दीर्घ भ्रमरूप इस जगत् को जानो ॥५४,५५॥

जगत् इस प्रकार भ्रान्तिसिद्ध हो, उससे क्या ? इस पर कहते हैं।

इस प्रकार के जगत् के मिथ्यात्व के उपपादक न्यायों की पुनः पुनः भावना करनारूप अभ्याससे निर्मल हुए मन से पारमार्थिक वस्तु ब्रह्म का दर्शन कर चुके पुरुष की अविद्याका नाश होने पर चिदाकाश में फिर संसार प्रविष्ट नहीं होता यानी उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती ॥५६॥

अथवा विषयरूप भेदक के ज्ञान से ही आत्मा विभिन्न–सा प्रतीत होता है, वस्तुतः भिन्न नहीं है, क्योंकि वैसा ही ब्रह्म से लेकर कीटपर्यन्त सभी प्राणियों को दृढ़ अनुभव होता

है, ऐसा कहते हैं।

भेदक दृश्य के ज्ञान के बिना धरती और आकाश का कोई भेद नहीं है, ब्रह्मा से लेकर कीट–पतंग पर्यन्त को पहले जैसा अनुभव हुआ था, वह वैसा ही बना हुआ है ॥५७॥

यदि भेद नहीं है, तो धरती आदि की भेदप्रतीति कैसे होती है, इस पर कहते हैं।

जैसे कि प्रभापिण्ड में यौक्तिक दृष्टि से अनिर्वचनीय प्रभाएँ स्फुरित होती हैं वैसे ही चिदाकाश में वे पूर्वोक्त भेदप्रतीतियाँ सत्ता के बिना ही प्रतीत होती है ॥५८॥

इस प्रकार युक्तिपूर्वक प्रसंगप्राप्त 'किं चेतनमचेतनम्' इस प्रश्न का उत्तर देकर शेष प्रश्नों का उत्तर देनेका भार राजा पर छोड़ते हुए मन्त्री 'मन्त्री को शायद् इन प्रश्नों का उत्तर ज्ञात ही न हो', इस शंका की निवृत्ति के लिए उनमें से दो एक का उत्तर कहने की इच्छा से द्वैतमिथ्यात्व के उपवर्णन द्वारा 'द्वैतमप्यपृथक्ककस्मात्' इत्यादि प्रश्नका उत्तर देते हैं।

द्वैतवासना से वासित बुद्धिवृत्ति के अन्तर्गत आत्मप्रकाशका जो भेदप्रकटन शक्तिरूप स्वचमत्कार है, उसके सम्बन्ध से प्रतीत हुआ भी द्वैत अपृथक् ही है, क्योंकि वृक्ष के आत्मा बीज की नाईं वह परम आत्मप्रकाश सर्वात्मक है ॥५९॥

'वृक्षात्मबीजवत्' इस दृष्टान्त का विवरण करते हुए 'कोऽन्तर्बीजमिवाऽन्तस्थं स्थितः कृत्वा त्रिकालगः' इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

एकरूप बीज पृथक्भूत और अपृथक्भूत अपने भीतर स्थित वृक्षाकार को बनाकर जैसे स्थित है, वैसे ही शान्त ब्रह्म भी आकाशकोश के तुल्य असंख्य जगत् की रचना करके स्थित है ॥६०॥

'आकाशकोशवत्' इस कथन का तात्पर्य कहते हैं।

जैसे बीज के भीतर स्थित वृक्ष की, अतिसूक्ष्म होनेके कारण स्थिति, आकाशतुल्य है, वैसे ही ब्रह्म के भीतर स्थित जगत् का आत्मा साक्षी है, अतः जगत् की साक्षी से पृथक् प्रतीति न होने के कारण, चिद्रूप से ही स्थिति है, इस प्रकार चैतन्य का भेदक न होने के कारण उसको आकाश कोश की उपमा दी गई है ॥६१॥

इसीसे सब प्रश्नों का उत्तर प्रायः हो गया, ऐसा सूचित करते हुए सब प्रश्नों की परमतात्पर्य–विषयभूत अद्वितीयचिन्मात्र–परमार्थस्थिति का प्रदर्शन करते हुए उपसंहार करते हैं।

शान्त, सर्वात्मक, जन्मरहित, अद्वितीय,आदि और मध्य से शून्य, शान्तबुद्धि पुरुषों से ही माया और माया के कार्यरूप मल का परिहार करने से परिशोधित होनेवाला एकत्व गुण से रहित जो चारों ओर बृहत् होने के कारण निरंकुशरूप से विकसित होता है, ऐसा निर्मल ब्रह्म ही है, उसमें किसी प्रकार की कल्पना का किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है ॥६२॥

अस्सीवाँ सर्ग समाप्त

इक्यासीवाँ सर्ग

राजा का क्रम से अवशिष्ट प्रश्नों का उत्तर देना तथा विशेषज्ञ होने के कारण कहींपर मन्त्री द्वारा कहे गये प्रश्नों में युक्ति-प्रदर्शन।

राक्षसी ने कहा : हे राजन्, आपके मन्त्री की परमार्थोक्ति अत्यन्त पवित्र है, यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है। अब कमल के समान विशाल नेत्रवाले ये राजा (आप) मेरे प्रश्नों का उत्तर कहें। भाव यह कि मन्त्री के वचनों में चमत्कार देखकर ही राजा भी तत्त्वज्ञ है, इस बात के ज्ञात होने पर भी राजा के कथन में अधिक चमत्कार होगा, यह समझकर राजा के वचनों को सुनने के लिए राक्षसी ने राजा से कहने का अनुरोध किया ॥१॥

राजा राक्षसी के अभिप्राय को जानकर सब प्रश्नों के मुख्य तात्पर्यविषय ब्रह्म को विरोधाभासोक्तिपूर्वक चमत्कारातिशय से दर्शाते हैं।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं को विषय करनेवाली जगत्प्रतीतिका (द्वैतका) अभाव यानी निवृत्ति (तत्त्वज्ञान) ही, जिसका परम दर्शन है, जो सम्पूर्ण संकल्पों का त्यागरूप है या सब संकल्पों की विरामभूमि है, जो तन्मात्रनिष्ठता रूप चित्त संयमका फलस्वरूप है, जिसके मायिक संकोच और विकाससे जगत् के प्रलय और सृष्टि होते हैं, जो वेदान्तवाक्यों का निष्ठारूप (तात्पर्यरूप) है और जो स्वयं वाणी का अगोचर है, सत्ता और असत्ता, भान और अभान इन दो कोटियों के मध्यमें स्थित यानी अनिर्वचनीय अतएव आदि और अन्त में असत्कोटि से ग्रस्त होने पर भी मध्य में दैशिक परिच्छेद से कहीं पर है और कहींपर नहीं है, इस प्रकार कोटिद्वयमय यह चराचर जगत् जिसकी चित्तमयी लीला है, विश्वात्मक होने पर भी जिसकी अखण्डता वस्तुतः खण्डित नहीं होती, उस सन्मात्र शाश्वत ब्रह्म को तुम पूछ रही हो ॥२-५॥ यह ब्रह्माणु अपने को वायुरूप से देखकर माया के विवर्त से वायु हुआ है, इसलिए वह अन्यथाग्रहणरूप ज्ञान भ्रान्तिकी महिमा है, परमार्थतः वह अवायु है और भ्रान्तिदर्शन से वायु है। यानी जो वायु है, वह वस्तुतः केवल शुद्ध चेतन ही है उससे अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं है ॥६॥

'कः शब्दोऽशब्द एव च' इत्यादि प्रश्न का समाधान करते हैं।

इसी प्रकार वही शब्दसंवेदन द्वारा शब्द एवं उक्त शब्द भ्रान्तिदर्शनमूलक होने से शब्द नहीं है यानी भ्रान्तिवश उसका शब्दरूप से दर्शन होता है, परमार्थ दृष्टि से वह अशब्द है, अतएव शब्द और शब्दार्थकी दृष्टि से वस्तुतः वह बहुत दूर है ॥७॥

'कः सर्वं न च किंचिच्च' इत्यादि प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

वही अणु सब है और कुछ भी नहीं है। 'कोऽहं नाहं च किं भवेत्' इसका समाधान करते हैं-'सोऽहं' इत्यादि से। वही मैं हूँ और कुछ भी नहीं हूँ। अहंकार के हटने के कारण वह मैं हूँ और तद्रूप से मैं नहीं हूँ, इस प्रकार वास्तव और अवास्तव विचित्रता में क्या कारण है, इस पर कहते हैं। सर्वशक्तिस्वरूप इस अणु की ही प्रतिभा एकमात्र इसमें कारण है, उसकी

भ्रान्तिप्रतिभाशक्ति अवास्तविक रूपकी स्फूर्ति में और वास्तवप्रतिभाशक्ति वास्तवरूप की अभिव्यक्तिमें कारण है, यह अर्थ है ॥८॥

'किं प्रयत्नशतप्राप्यम्', 'लब्धं न किंचिद्भवति' इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं।

आत्मा सैंकड़ों प्रयत्नों से अप्राप्य है, उसके प्राप्त होने पर कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रहता। वही परम प्राप्तव्य है और कुछ भी नहीं है। भाव यह है कि यह आत्मरूप होने के कारण पहले ही लब्ध है, इसलिए उसकी प्राप्ति में प्रयत्न की सफलता नहीं है, उससे बढ़कर कोई उत्कृष्ट फल नहीं है, इस आशय से तुमने उक्त प्रश्न किया है ॥९॥

तो क्या ज्ञानरूप प्रयत्न निष्फल ही है, इस शंका का परिहार करते हुए 'किन्तु सर्वं न लम्पते' इसका तात्पर्य कहते हैं।

तब तक जन्मरूपी वसन्तों में संसाररूपी लता चिरकालतक विकास को प्राप्त होती है, जब तक संसार के मूल अज्ञान का नाश करनेवाला ज्ञान उदित नहीं होता। भाव यह कि जब तक संसार के मूल अज्ञान का नाश नहीं हुआ, तब तक प्राप्त हुआ भी आत्मतत्त्व पूर्णरूप से प्राप्त नहीं हुआ। बोध से तो उसका पूर्णरूपसे लाभ होता है, इसलिए ज्ञानरूपी प्रयास व्यर्थ नहीं है ॥१०॥

'स्वस्थेन जीवितेनोच्चैः' इस प्रश्न का समाधान करते हैं।

जैसे मरूभूमि में सूर्य प्रकाश जलबुद्धि से अपना अपहरण करता है, वैसे ही साकार भाव को प्राप्त होकर दृश्यता को प्राप्त होते हुऐ स्वस्थ इसी अणुने अपने वास्तविक रूप का अपहरण किया है ॥११॥

किस अणु से मेरूपर्वत अपने अन्दर किया जाता है और त्रिभुवन तृण बनाया जाता है, इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं।

वह संविद्रूपी अणु अपने अन्दर मेरू को रखता है और त्रिभुवनको तृण के समान तुच्छ बनाता है।

शंका : यदि मेरू को वह अपने अन्दर रखता है, तो मेरु बाहर कैसे दिखाई देता है ?

समाधान : भीतर स्थित ही मेरु को बाहर मानों वमन करके मायात्मकरूप से बाहर दिखलाता है यानी अन्दर स्थित मेरू की ही बाहर स्थित की नाईं कल्पना करके उसको बाह्य दिखाता है चिदणु के अन्दर जो जो वस्तु है, वह बाहर दिखाई देती है, इस विषयमें कामी पुरुषों का संकल्प से कल्पित अपनी प्रेयसी का आलिंगन आदि दृष्टान्त है। भाव यह कि संकल्प से सिद्ध स्त्री और उसका आलिंगन यद्यपि अन्दर है फिर भी बाह्यसंस्कार जनित होने के कारण 'बाहर-सा देखता हूँ' यह कामियों को अनुभव होता है ॥१२,१३॥ आदि सृष्टि में सर्वशक्ति चिति जिस रूप से आविर्भूत हुई, इस समय की सृष्टि में भी यह सम्पूर्ण को वैसे ही देखती है। भाव यह कि ईख के अथवा बाँस आदि के पहले पर्व से जिस प्रकार शाखा, पत्ते आदि निकलते हैं, उसी प्रकार दूसरे तीसरे आदि पर्वों से भी स्वतः निकलते हैं, यह नियम है वैसे ही आदि सृष्टि के संकल्प में पर्व से जैसे तत्तत् जीवों की सृष्टि हुई वैसे ही इदानीतन

सृष्टि में भी दूसरे तीसरे पर्वों से स्वतः तत्–तत् सृष्टि हुई यह नियम है। आशय यह है कि आदिसर्ग में प्रवृत्त नियति ही अन्दरस्थित मेरु आदि के बाहर प्रदर्शन में हेतु है॥१४॥ आविर्भूत हुए चित्तवाले जिसके अन्दर जो–जो वस्तु जैसे प्रतिभासित होती है, उसको वह वैसे ही देखता–सा है, इसमें बच्चे का मन दृष्टान्त है। यानी बच्चे के हृदय में जो वस्तु (स्थाणु–वेताल आदि) जैसे प्रतिभासित होती है, उसको वह वैसे ही यानी सत्य ही देखता है॥१५॥

किस अणुमात्र से सौ योजन की पृथ्वी पूर्ण हुई है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

देशतः परमाणुरूप, वस्तुतः चिन्मात्र अणु और कालतः अतिसूक्ष्मतम, इस प्रकार देश, वस्तु और काल इन तीन प्रकारके परिच्छेदों की कल्पना के भी अवधिभूत इस अणु से सारा विश्व चारों ओर से परिपूर्ण है॥१६॥

कौन अणु होता हुआ भी सैंकड़ों योजनों में नहीं समाता, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

सर्वव्यापक होने से, अनादि होने से और रूपरहित होने से निराकार यह अणु ही सैकड़ों योजनों में भी नहीं समाता है यानी उक्त अणु सर्वव्यापक है, अनादि है, रूपरहित है, फिर भी सैकड़ों योजनों में नहीं समाता है॥१७॥ जैसे धूर्त लंपट पुरुष मुग्ध स्त्रीजनों को सुन्दर भ्रूविकारों, नयनों द्वारा निरीक्षणों और विविध प्रकारकी चेष्टाओं से अपने वशमें कर अपनी ओर आकृष्ट करता है, वैसे ही शुद्ध चिदालोक पर्वत और तृणों से युक्त जगत् को अपना अभिनय दर्शा कर सदा नचा रहा है॥१८,१९॥

किस अणु के उदर में पर्वतों की घटाएँ विद्यमान हैं, इसका उत्तर देते हैं।

जैसे वस्त्र अपने अन्दर स्थित मेरु आदि के चित्रको बाहर करके मानों आच्छादित करता है, वैसे ही उस अणु ने ही अनन्तरूप होने के कारण भीतर स्थित मेरु आदि को बाहर करके मानों संवित् से वेष्टित कर रक्खा है (卐)॥२०॥

अपनी अणुता का त्याग नहीं करता हुआ कौन अणु मेरु से भी विशाल आकारवाला है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

यद्यपि यह चेतन आत्मा बाल के अग्रभाग के शतांश से भी सूक्ष्मस्वरूपवाला परम अणु है तथापि देश, काल आदि से अनवच्छिन्न होने के कारण मेरू से भी विशाल है॥२१॥

प्रत्येक प्रश्न में आत्मा के लिए अणु शब्द का राक्षसी ने जो प्रयोग किया है, उसका मंत्री ने जो अभिप्राय कहा, वही कर्कटीका भी अभिप्राय था और उसने उसे स्वीकार भी कर लिया, ऐसा निश्चय कर राजा अपनी विशेषज्ञता दिखलाने के लिए मन्त्री द्वारा निरूपित अणुशब्दार्थ को दूषित करते हैं।

शुद्ध चिदाकाशस्वरूप परब्रह्म का परमाणु से साम्य करना मेरु के साथ सरसों की साम्योक्ति के समान मुझे अच्छा नहीं लगता, यानी जैसे मेरु के साथ सरसों की तुलना नहीं

卐 वस्त्र बुनकर उसमें पर्वत आदि की तस्वीर बनाई जाती है। वह चित्ररूप पर्वत वस्त्रवेष्टित कहा जा सकता है, क्योंकि वस्त्रको लपेटने पर उसके बीचमें चित्रभूत पर्वत की स्थिति होती है। चित्रभूत पर्वत जैसे मिथ्या है वैसे ही आत्मचैतन्य में चित्रित जगद्–ब्रह्माण्ड भी मिथ्या है।

हो सकती वैसे ही शुद्ध संवेदनरूप आकाशात्मा परमात्मा के साथ परमाणु की तुलना नहीं हो सकती। भाव यह कि वह अपिरिच्छिन्न है, अतः केवल सूक्ष्मता के कारण परिच्छेद के उत्कर्ष के अवधिस्वरूप परमाणु के सादृश्य का अवलम्बन कर गौणी वृत्ति से (लक्षणा द्वारा) वह अणु नहीं कहा जा सकता है ॥२२॥

यदि ऐसा है, तो 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' इत्यादि श्रुतियों में उसका अणुरूप से उपदेश कैसे किया गया ? ऐसी यदि कोई शंका करे, तो सर्वशक्तिमान् होने के कारण महत्त्व के समान अणुत्व का भी माया द्वारा अपने में निर्माण कर वह स्थित है, अतः मुख्य वृत्ति से ही अणुशब्द का उसमें प्रयोग है, सादृश्यवश लाक्षणिक अणुशब्द का प्रयोग नहीं है, ऐसा कहते हैं।

मायाशबल ब्रह्म अपने में ही अणुताका निर्माण कर अणुरूप से स्थित है। अतः जैसे सुवर्ण में सुवर्णनिर्मित कटकत्व आदि से समता नहीं हो सकती वैसे ही प्रकृत में स्वनिर्मित अणुत्व से सौक्ष्म्यात् समता नहीं हो सकती। इस प्रकार 'बालाग्र शतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः' इत्यादि श्रुतियाँ और बालाग्रशत भागात्मा इत्यादि तुम्हारी उक्ति भी संगत होती है ॥२३॥

कौन अणु प्रकाश और तमका दीपक है, इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

पूर्वोक्त अनुभवरूप परमात्मा दीपक है, क्योंकि आत्मा के सिवा किसीमें भी स्वतन्त्रता से प्रकाश करनेका सामर्थ्य नहीं है और कभी भी आत्मा का अभाव नहीं होता। उसका अभाव है कहना 'मैं नहीं हूँ' कहने के बराबर है। प्रकाश और अन्धकार दोनों का प्रकाशक है, यदि इस आत्मदीपकके बिना ही प्रकाश अथवा अन्य (तम) होगा, तो उसकी सत्ता का लोप हो जायेगा, उससे वह असत् ही हो जायेगा ॥२४॥

दूसरी बात यह भी है कि यदि उसकी असत्ता हो जाती, तो जगत् अन्धा हो जाता, ऐसा कहते हैं।

यदि सूर्य आदि सम्पूर्ण जगत केवल मात्र जड हो जायेगा, तो रूप किमात्मक होगा और प्रकाश कहाँ होगा और क्या होगा ? ॥२५॥

चिदणु ने अपने में ही तेज, तम आदि की कल्पना कर रक्खी है, इसलिए प्रकाश उसके अधीन है, ऐसा कहते हैं।

शुद्ध सन्मात्र चित्स्वरूप, जो स्वतः आत्मा में स्थित था, उसी को अणुने बाहर स्थित तेजरूप से देखा ॥२६॥

यदि कोई शंका करे कि सूर्य, चन्द्र आदि से भी प्रकाश की सिद्धि हो सकती है, फिर चिदणु ने क्या विशेष किया ? इस पर कहते हैं।

सूर्य, चन्द्र और अग्नि का तेज अपने कारण अज्ञान से भिन्न नहीं है, अपने कारण अज्ञानसे उनमें इतना ही भेद है कि उनकी वर्ण में शुक्लता और उष्णता है और जाड्योंमें तो कोई भेद नहीं है, अतः उनसे प्रकाशकी क्या आशा ? ॥२७॥ काला कुहरा छा जाने पर यह मेघ है, ऐसा

व्यवहार होता है, अतः मेघ और कुहरे में जितना भेद होता है प्रकाश और तममें भी उतना ही भेद है, उनका स्वतः कोई भेद नहीं है, यही वस्तुस्थिति है ॥२८॥

चित् के अधीन प्रकाश से सत्तावान् होने के कारण भी प्रकाश और तम का भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं।

इन जड़ प्रकाश और तम के प्रकाश के लिए यह चित्सूर्य तपता है, उसकी सत्ता से सत्तावाले होकर ये एकता को प्राप्त हुए हैं ॥२९॥

चैतन्य का तो कहींपर भी अप्रकाश नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं।

चिद्रूपी एक सूर्य रात–दिन आलस्यशून्य होकर बाहर–भीतर शिलाओं के अन्दरतक भी अस्त और उदय से रहित होकर तपता है ॥३०॥ उसीसे जीव की यह प्रसिद्ध त्रिलोकी भासित होती है। प्रकाशित होती है, जो अनेक प्रकार के भोगों और भोगसाधन सामग्रियों से पूर्ण है और कुटी के समान संकुचित कोठरियों से युक्त है ॥३१॥

यदि आत्मा से तम का प्रकाश होता है, तो उसका तमसत्व ही नष्ट हो जायेगा, क्योंकि जिन वस्तुओं का अप्रथनरूप (अप्रकटन) स्वभाव है, उसका नाश हुए बिना उनका प्रथन (प्राकट्य) नहीं किया जा सकता, इस शंका पर कहते हैं।

वह परमात्मा स्वतत्त्व के प्रतिभास से शून्य चैतन्य द्वारा तम के स्वरूपभूत तमस्त्वका विनाश किये बिना तमको कार्य के लिए क्षुब्ध करता है, उससे सम्पूर्ण जगत्–भूत तमका आभास होता है ॥३२॥ जैसे तप रहे सूर्य से पद्म और नील कमलों का विकास होता है, वैसे ही चित्ने प्रकाश और तमकी सत्ता को प्रकट किया है। भाव यह कि तमकी सत्ता का प्रकट करनेवाला होने के कारण भी वह तमकी निवृत्ति नहीं करता है ॥३३॥ जैसे सूर्य रात्रि और दिन को बनाता हुआ अपनी आकृतिको दर्शाता है, वैसे ही चिति ही आविर्भाव और तिरोभावरूप प्रकाश और तमकी सृष्टि करके अपनी आकृति को दर्शाती है ॥३४॥

किस अणु के उदर में सम्पूर्ण अनुभवरूपी अणु हैं, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे शहद के रस के अन्दर पत्र, पुष्प और फलों की शोभा विद्यमान रहती है, वैसे ही चिदणु के अन्दर सम्पूर्ण अनुभवरूपी (वृत्ति से अवच्छिन्नज्ञानरूपी) अणु विद्यमान हैं। जैसे वसन्त ऋतु से वन–भागों का सौन्दर्य प्रकट होता है, वैसे ही इस चिदणु से ये सम्पूर्ण अनुभवरूपी अणु उदित होते हैं ॥३५,३६॥

कौन अणु मधुर आदि रसों से शून्य होने के कारण स्वादरहित भी अत्यन्त स्वाद देता है, इसका उत्तर देते हैं।

अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अत्यन्त अस्वादु भी यह परमात्मारूपी अणु समग्र स्वादों की सत्ता का एकमात्र हेतु होने के कारण स्वयं स्वाद को प्राप्त होता है ॥३७॥

सम्पूर्ण जलों के अन्तर्गत रसके आविर्भाव का वही निमित्त है, इसलिए भी वह स्वाद देता है, ऐसा कहा जा सकता है, यह कहते हैं।

जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब रहता है, वैसे ही जल में जो कोई भी रस स्थित है। वह उसीके

कारण है, उसके बिना स्वतः उसकी सत्ता नहीं रह सकती ॥३८॥

सबका त्याग कर रहे किस अणुने इस सम्पूर्ण जगत् को आश्रित कर दिया है, इसका उत्तर कहते हैं।

सम्पूर्ण जगत का त्याग कर रहे चिन्मात्र परमाणु ने यह सब विश्व आश्रित (आच्छादित) कर रक्खा है ॥३९॥

अपने स्वरूप के भी आच्छादन में असमर्थ किस अणु ने इस सम्पूर्ण जगत को आच्छादित कर रखा है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

परिच्छिन्न होकर अपने स्वरूप के तिरोधान में असमर्थ इस चिदणुने सम्पूर्ण जगत् को चँदवे की नाईं अपनी उत्कृष्ट चित्ताणुता को फैलाकर आच्छादित किया है ॥४०॥

उक्त अर्थ के आशय को ही विशेष रूप से स्फुट करते हैं।

जैसे हाथी दूब के वन में तनिक भी, क्षणभर भी अपने स्वरूप को आच्छादित नहीं कर सकता, वैसे ही शून्याकृति परमात्मा यद्यपि अपने स्वरूप को छिपाने में समर्थ नहीं है। तथापि उसने विश्व को चारों और से आक्रान्त कर रक्खा है, जैसे बालक जागकर धानकणों की रक्षा करता है, सोकर नहीं करता वैसे ही ज्ञात होकर यह परमात्मा जगदन्तःपाती जीवों की आत्मलाभ से रक्षा करता है ॥४१॥

इस प्रकार के प्रकाशस्वरूप पूर्णात्मा की बालक के तुल्य आत्मविस्मृति कैसे हो सकती है, इस पर कहते हैं।

उसकी माया अपार है, माया की सामर्थ्य से ही यब सब आश्चर्य कर आत्मविस्मृति आदि होते हैं ॥४२॥

प्रलय से तिरोहित भी जगत् किस अणु की सत्ता से सत् होकर पुनःजीवित होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे वसन्तऋतु में पत्ते आदि को उत्पन्न करनेवाले रस आदि के उद्बोध से वनराजि विचित्र हो जाती है, वैसे ही प्रलय से लीन हुआ जगत् भी चिन्मात्र के अवलम्बन से जीता है यानी प्रलय में भी चित्–सत्ता से ही जगत् संस्कार शेष रहता है ॥४३॥

यदि प्रलय में और सृष्टि में भी ब्रह्म की सत्ता से ही जगत् जीवित रहता है, तो प्रलय की अपेक्षा सृष्टि में क्या विशेषता है ? जिससे फिर सृष्टि का आविर्भाव होता है, इस शंका पर कहते हैं।

जैसे वसन्त ऋतु के रस के उल्लास से वनभाग विचित्र हो उठता है, इसी प्रकार चित्त–सत्ता ही स्वतः सम्पूर्ण जगद्रूप से उदित होती है। भाव यह कि प्रलय में चित्त–सत्ता पृथक् नहीं रहती और सृष्टि में रहती है, प्रलय की अपेक्षा सृष्टि में यही विशेषता है ॥४४॥

इस प्रकार चित् और जगत का तत्त्वतः भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं।

इस जगत् को सत्य चिन्मय ही आप जानिए, जैसे कि पल्लव, निकुंज आदि वसन्त रस ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं है ॥४५॥

जिसके अवयव उत्पन्न ही नहीं हुए, ऐसा कौन अणु सैंकड़ों हाथ, सिर, लोचन आदि से युक्त है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

सदा अवयवों के बिना उदित हुआ भी यह परमाणु ही सम्पूर्ण अवयवियों का यानी उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज इन चार प्रकार के सम्पूर्ण प्राणियों का सार यानी आत्मा होने से सैकड़ों, हाथ, सिर, लोचन आदि से युक्त है ॥४६॥

कौन निमेष होता हुआ भी महाकल्प और करोड़ों कल्परूप है, इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

स्वप्न में जैसे बुढ़ापा और बाल्यावस्था का बोध होता है, वैसे ही चिद्णु से निमेषांश का ज्ञान और सैकड़ों कल्पों के समूह का आभास प्रतीत होता है। इसलिए वह अणु निमेष होता हुआ भी सैकड़ों करोड़ों कल्पों का समूह है। सम्पूर्ण अभाससत्ताओं के विलास से यह एक प्रतिभा का विकास है ॥४७,४८॥ जैसे स्वप्न में भोजन न करनेपर भी 'मैंने अच्छा भोजन कर लिया' इस प्रकारकी प्रतीति होती हैं, वैसे ही निमेष में कल्पों का निश्चय होता है। भोजन किये बिना 'मैंने भोजन कर लिया' इस प्रकार के ज्ञान से युक्त पुरुष स्वप्न में अपने मरण के तुल्य विविध वासनाओं से पूर्ण देखे जाते हैं ॥४९,५०॥

किस अणु में बीज में वृक्ष के समान सम्पूर्ण जगत् स्थित हैं, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

चिदात्मरूप परमाणु में सम्पूर्ण जगत् स्थित हैं और उसीसे ही जगत् की प्रतीतियाँ प्रवृत्त होती हैं ॥५१॥ जो वस्तु जहाँ पर है, वह वहाँ से उत्पन्न होती है और तद्रूप ही है, जैसे स्तम्भ में बनी हुई प्रतिमा स्तम्भरूप ही है, उससे भिन्न नहीं है। आकारवाले पदार्थ में ही विकार आदि देखे जाते हैं और आकाररहित निर्मल आकाशमें विकार आदि नहीं देखे जाते हैं ॥५२॥

सृष्टि के समय जिनकी बीजपरम्परा की अवधि अव्यक्त है, ऐसे सब बीज सृष्टि के समय जगद्रूप से विकसित होकर किसमें अनुस्यूत हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे बीज में वृक्ष रहते हैं, वैसे ही चित् में अतीत, इस समय वर्तमान और आगे होनेवाले सभी भूत सदा विद्यमान रहते हैं ॥५३॥

जैसे बीज के अन्दर वृक्ष रहता है, वैसे ही किस निमेष के अन्दर कल्प स्थित है ? इस प्रश्न का तात्पर्य कहते हैं।

जैसे चावल और उसके अवयव धान की त्वचा से चारों ओर वेष्टित रहते हैं, वैसे ही निमेष और कल्प इस अणु से वेष्टित हैं और यह अणु चेत्यरूप कल्प और निमेषों से अपने एकदेशका आश्रय ले करके स्थित है, क्योंकि 'विष्टम्भ्याहमिंद कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' इत्यादि भगवान् का वचन है ॥५४॥

'कः प्रयोजन–कर्तृत्वमप्यनाश्रित्य कारकः' (अक्रिय होने के कारण कारक–व्यापारयितृत्वरूप कर्तृत्व का आश्रय न ले करके भी कौन कर्ता है) इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

सम्पूर्ण जगत् में भोक्तृत्व, कर्तृत्व आदि से तनिक भी स्पृष्ट नहीं हुआ उदासीन के तुल्य

स्थित यह आत्मा कर्ता न होता हुआ भी कर्ता है ॥५५॥ शुद्ध चैतन्यरूप परमाणु से यह जगत्सत्ता उदित हुई है और क्रिया और भोग के सम्बन्ध के बिना ही परमाणु में कर्तुत्व और भोक्तृव स्थित हैं ॥५६॥

उसका क्रिया और भोग से सम्बन्ध क्यों नहीं है ? इस पर कहते हैं।

जगत् सदा हि किसीसे कुछ नहीं बनाया जाता है और न लीन होता है, क्योंकि क्रिया का विषय जगत् अत्यन्त असत् है ॥५७॥

शंका : यदि ऐसा है तो असत् दृश्य का खण्डन वेदान्तों में किसलिए किया जाता है ?

समाधान : व्यावहारिक यौक्तिक दृष्टि से वेदान्तों में दृश्यका खण्डन किया गया है, परमार्थदृष्टि से नहीं किया गया है।

परमार्थ दृष्टि कैसी है, यह प्रश्न होने पर उसे दर्शाते हैं।

हे राक्षसी, ब्रह्म से भासित होनेवाला यह सब दृश्यादि चिदाकाशकोशस्वरूप ही है, इसका केवल जगत्रूप से शब्दतः व्यवहार हुआ है, ऐसा तुम जानो ॥५८॥

कौन नेत्ररहित द्रष्टा दृश्य की सिद्धि के लिए अपने स्वरूप को दृश्यता को प्राप्त कर अपने को दृश्यरूप से देखता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

चिद्रूपी अणु दृश्य की सिद्धि के लिए अन्दरस्थित चित् के चमत्कार को यानी चिद् में व्याप्त मायाशक्ति को, जो कि उसकी आत्मा में स्थित है, बाह्यप्रपंचरूप से अपने में धारण करता है ॥५९॥

यदि कोई शंका करे कि ब्रह्म तो 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' इस श्रुति के अनुसार आन्तर–बाह्यभेदशून्यरूप से ज्ञात है अतः उसमें 'वह आन्तर चित्चमत्कृतिको बाह्यप्रपंचरूप से धारण करता है।' यह कथन कैसे संगत हो सकता है ? तो इस पर कहते हैं।

बहिष्ठत्व और अन्तस्थत्व – ये तीनों जगतों में अधिकारी प्राणियों के उपदेशके लिए कल्पित हैं और शब्द में ही इनकी स्थिति है, वस्तु में नहीं; क्योंकि वस्तु चिदेकस्वरूप है, उसमें बहिष्ठत्व, अन्तस्थत्व इत्यादि भेद की कल्पनाका सम्भव ही नहीं है ॥६०॥

'दृश्य की सिद्धि के लिए अपने को दृश्यता को प्राप्त करता हुआ' यहाँ तक के प्रश्नांशका तात्पर्य कहकर अवशिष्ट अंशका तात्पर्य कहते हैं।

नित्य अपरोक्ष भी आत्मा अविद्या से आवृत्त न होने के कारण अन्तःकरण अवच्छेद सदा स्फुरित हो रहा है अतः उस स्फुरण के अभिमान से द्रष्टा है और बाह्य विषयों के अवच्छेद से आवृत्त होने के कारण अदृष्टविषय यानी नेत्रज्ञों से दृश्य होकर नेत्र द्वारा निर्गत अन्तःकरणप्रणाली से बाहर जाकर सत् ही आत्मस्वरूप को असत् घटादिरूप–सा स्थित देखता है यानी स्वात्मभूत चित् से ही प्रकाशित करता है, नेत्र से नहीं, क्योंकि नेत्र तो केवल द्वारमात्र हैं, इसलिए अनेत्रवान् कहा है ॥६१॥

सत् ही असत् के समान स्थित है, ऐसा जो ऊपर कहा था, उसका उपपादन करते हैं।

द्रष्टा असत् अतएव अवास्तव दृश्यत्व को प्राप्त ही नहीं होता।

शंका : क्यों दृश्यत्व को प्राप्त नहीं होता ?

समाधान : जो वस्तु आत्मा में तनिक भी नहीं है, तत्ताको परमात्मा कैसे प्राप्त होगा, कारण कि सत् असद्रूप नहीं हो सकता ॥६२॥

इसी प्रकार द्रष्टता भी मिथ्याभूत दृश्यसापेक्ष होने के कारण मिथ्या ही है, ऐसा कहते हैं।

नेत्र द्वार होने के कारण लोचन (देखनेवाले) नहीं है, किन्तु अपरोक्ष आत्मचैतन्य ही लोचन हैं, क्योंकि 'वह चक्षु का चक्षु है', इत्यर्थक श्रुति है, वह आत्मचैतन्य आविर्भाव से लेकर पुनः तिरोभाव से वासनाभावान्त अपने शरीरभूत दृश्य को बाह्यरूप बनाकर उसके दृश्यरूप से स्वयं उदित है यानी द्रष्टरूप से उसने अपनी कल्पना कर रक्खी है ॥६३॥

इस प्रकार परस्पर सापेक्ष कल्पनावाले होने के कारण वे दोनों ही मिथ्या हैं ऐसा कहते हैं।

जैसे पुत्र के बिना पितृता का संभव नहीं है और जैसे ऐक्य के बिना द्वित्व का संभव नहीं है वैसे ही द्रष्टता के बिना दृश्यता का किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है ॥६४॥ द्रष्टा ही दृश्यता को प्राप्त होता है और दृश्यके बिना द्रष्टत्वका सम्भव नहीं है, जैसे कि पिता के बिना पुत्रका सम्भव नहीं है और भोक्ता के बिना भोग्यता का संभव नहीं है। जैसे विशुद्ध सुवर्ण का कटक आदि के निर्माण में सामर्थ्य है, वैसे ही द्रष्टा का दृश्यविनिर्माण में सामर्थ्य है ही, क्योंकि वह चेतन है ॥६५,६६॥ जैसे सुवर्णमय कटक सुवर्ण के निर्माण में समर्थ नहीं है, वैसे ही दृश्य द्रष्टा के निर्माण में समर्थ नहीं है, क्योंकि वह जड़ है ॥६७॥ चित् चेतन है, अतएव वह जैसे सुवर्ण कटकभ्रम को उत्पन्न करता है, वैसे ही दृश्यभ्रमका निर्माण करता है। उक्त दृश्य असत् होता हुआ भी अज्ञानवश सत्–सा प्रतीत होता है। दृश्य अज्ञानमात्रसे उत्पन्न है, जब तक अज्ञान रहता है, तब तक उसकी स्थिति रहती है ॥६८॥

यदि द्रष्टा ही दृश्यता को प्राप्त होता है, तो यह द्रष्टा ही है, यों दृश्य की प्रतीति क्यों नहीं होती ? इस पर कहते हैं।

जैसे कटकत्व की प्रतीति होने पर सुवर्ण की सुवर्णता सत्य होने पर भी स्फुटरूपसे स्फुरित नहीं होती, क्योंकि मूढ़ की बुद्धि में सुवर्णता का स्फुरण नहीं होता, वैसे ही द्रष्टा के दृश्यरूप से स्थित होने पर द्रष्टा का स्वरूप स्फुरित नहीं होता ॥६९॥

तब तो द्रष्टा का स्फुरण न होने पर दृश्य द्रष्टनिरपेक्षतावाला ही क्यों न होगा ? ऐसी यदि कोई आशंका करे, तो ऐसा माननेपर दृश्य में जो द्रष्टाकी उपजीवकता है, उसका अभाव हो जायेगा, इसलिए ऐसा मानना उचित नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे कटकरूप में प्राप्त होने पर सुवर्ण अपनी पूर्वसिद्ध कनकता का उपजीवन करता है वैसे ही दृश्यरूप से स्थित होता हुआ द्रष्टा अपनी द्रष्टता का उपजीवन करता है ॥७०॥

कटकत्व की प्रतीति होने पर जैसे सुवर्ण की सुवर्णता सत्य होती हुई भी स्फुरित नहीं होती, यह कहना अयुक्त है, क्योंकि यह कटक सुवर्ण है, इस प्रकार समानाधिकरण प्रतीति में दोनों की सत्ता का प्रतिभास होता है, वैसे ही मैं द्रष्टा हूँ, इस प्रतीति में भी दोनों की (दृश्य और द्रष्टाकी) समानाधिकरण्य से प्रतीति होती है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं।

जैसे दूर स्थित विषय में यह पुरुष है या पशु है, इस पुरुषप्रतीतिकी उत्कट कोटिवाले संशय में पुरुषत्व का प्रतिभास नहीं होता, इसी प्रकार समानाधिकरण्य प्रतीतियों में भी उभयांश की एक प्रतीति में प्रमेयता नहीं हो सकती ॥७१॥ द्रष्टा अपने को दृश्य देखता हुआ अपने स्वरूप को नहीं देखता, द्रष्टा की दृश्यत्वापत्ति होने पर द्रष्टा की सत्ता असत् हो जाती है। भाव यह कि द्रष्टा बहिर्मुख वृत्ति से दृश्य को देखता है और अन्तर्मुखदृष्टि से द्रष्टा को देखता है, चित् की एक ही समय दृश्य और द्रष्टा इन दोनों के प्रति उन्मुखता नहीं हो सकती ॥७२॥

कौन ज्ञान से दृश्य के नष्ट हो जाने के कारण अखण्डित अपने आत्मा को दृश्य की असिद्धि के लिए सामने देखता हुआ दृश्य को नहीं देखता, इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

बोध से जिसका दृश्यभाव गलित हो गया है, ऐसे द्रष्टाकी सत्ता ही अवभासित होती है, जैसे कि कटक के प्रति अनुसन्धान न करनेपर सुवर्ण की अकटकता ही भासित होती है ॥७३॥

दृश्य का दर्शन न होने पर भी द्रष्टा का दर्शन अपरिहार्य है, इसलिए आत्यन्तिक दृश्य का अदर्शन कैसे सिद्ध होगा ? इस पर कहते हैं।

दृश्य के रहते द्रष्टा रहता है और दृश्य द्रष्टा के रहते भासित होता है। दोनों के बिना एक भी भासित नहीं होता, अतः इन द्रष्टा और दृश्य के बीच में एक भी नहीं है, जैसे कि छत्र के हट जानेपर छाया हट जाती है, वैसे ही दृश्य के नष्ट होने पर द्रष्टा का भी अपाय हो जाता है, इसलिए दृग्मात्र का परिशेष रहता है ॥७४॥ शुद्ध संविद्रूप आत्मा से इस सबका यथावत् ज्ञान प्राप्त करके वाणियों का अविषय शुद्ध कुछ ही अवशेष रहता है ॥७५॥

द्रष्टा का, दर्शन का और दृश्य का कौन अवभासन करता है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

इस चित्परमाणुरूप दीपक ने सब द्रष्टा, दर्शन और दृश्य को अवभासित किया। जैसे सुवर्ण कटक आदि को अपने में लीन कर लेता है, वैसे ही इस द्रष्टा दर्शन और दृश्य को किसने अपने में लीन कर लिया है ?

इस प्रश्न का पूर्वोक्त दृष्टान्तों के उपन्यास द्वारा ही अर्थात् परिहार करते हैं।

जैसे असत्स्वरूप उत्पन्न हुए कटक आदि को सुवर्ण अपनेमें लीन कर लेता है, वैसे ही चित्परमाणुरूप दीप से प्रकाशित प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयरूप इन तीनों को विद्वान् (ब्रह्मज्ञानी) निगल जाता है ॥७६,७७॥

किससे कोई पृथक् नहीं है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे जल, भूमि आदि पाँचभूतों से भौतिक पदार्थ तनिक भी पृथक् नहीं हैं, वैसे ही इस स्वभावरूप अणुसे कुछ भी पृथक् नहीं है ॥७८॥

दृश्य की अपृथकता का युक्ति से भी अनुभव कराते हैं।

सर्वगामी अनुभवरूप होने से और सबका अनुभवरूप होने से एकत्व के अनुभव का न्याय जब दृढ़ हो जाता है तब इसकी सबके साथ एकता सिद्ध है ॥७९॥

किसकी इच्छा से यह पृथक् है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे जलराशि से तरंगता पृथक् नहीं है, वैसे ही इच्छानुरूप सम्पत्तिवाले इसकी इच्छासे

भावित अर्थों की एकता पृथक् नहीं है ॥८०॥

देश, काल आदि से अनवच्छिन्न, असत् होते हुए भी सत् किससे द्वैत भी अभिन्न है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

देश, काल आदि से अनवच्छिन्न केवल अद्वितीय परमात्मा ही है, सबका आत्मा होने के कारण सबसे अभिन्न है तथा अनुभवरूप होने के कारण स्वतः सर्वानुभवरूप ही है, जड़ नहीं है ॥८१॥

'असत् भी सत् रूप किससे' पूर्वोक्त इस अंश का तात्पर्य कहते हैं।

जिनमें आत्मसत्ता संदिग्ध नहीं है, ऐसे चेतनों का आत्मा होने के कारण यह सत् है और चक्षु आदि द्वारा देखने पर ज्ञात नहीं होता, अतः इस सर्वरूप महान् आत्मा में लौकिक सद्रूप द्वैत और ऐक्य नहीं है, इसलिए यह श्रुति में असत् कहा गया है, वास्तव में असत्ता के अभिप्राय से असत् नहीं कहा गया है ॥८२॥

यदि कोई शंका करे कि द्वैत अन्यसापेक्ष होने के कारण मिथ्या हो, ऐक्य तो दूसरे किसीकी अपेक्षा नहीं करता, अतः वास्तव ही है, ऐसी अवस्था में ऐक्य उसमें नहीं है, यह कैसे कहा ? इस पर कहते हैं।

यदि कोई दूसरा हो, तब एककी एकता हो, द्वैत और ऐक्य की, छाया और धूप के समान, परस्पर एक की दूसरे से सिद्धि होती है, अतः ऐक्य की अन्यनिरपेक्षता कैसे ? ॥८३॥

द्वितीय की व्यावृत्ति के लिए कल्पित संख्यारूप एकत्व भी द्वितीयसापेक्ष होने से द्वित्व आदि के समान ही है, इस आशय से कहते हैं।

जहाँ पर दूसरा नहीं है, वहाँ पर एककी एकता कैसे ? एकता के असिद्ध होने पर दोनों ही नहीं है ॥८४॥

जैसे जलराशि से द्रवता पृथक् नहीं है, वैसे ही किससे द्वैत भी पृथक् नहीं है, इस प्रश्नांश का विवरण करते हैं।

इस प्रकार परमार्थ तत्त्व के द्वैत और ऐक्य–शून्यरूप से स्थित होने पर जो द्वैत और ऐक्य से युक्त–सा तथा द्वैत और ऐक्य–सा दिखाई देता है, उससे द्वैत और ऐक्य रूप वैसे ही भिन्न नहीं है जैसे कि जलराशि से द्रव भिन्न नहीं है ॥८५॥

द्रष्टा, दर्शन, दृश्यरूप सदसद् त्रिजगत्को, जैसे बीज अपने अन्दर वृक्ष को रखता है वैसे ही, अपने अन्दर रखकर कौन स्थित है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे पृथ्वी, जल आदि के साम्य से पूर्व अवस्था से च्युत न हुए बीज के अन्दर वृक्ष स्थित रहता है, वैसे ही सत्त्व, रज और तम के साम्य से अपनी पूर्व अवस्था से च्युत न हुए ब्रह्म के अन्दर नाना प्रकार के आरम्भ और स्फुरण से संयुक्त यह जगत् स्थित है। जैसे सुवर्ण से कटकता अपृथक् है, वैसे ही ब्रह्म से द्वैत भी अपृथक् है, ऐसा भली भाँति जिसको ज्ञान हो चुका है, ऐसे पुरुष का ज्ञानरूप ही तो द्वैत है और ज्ञान सत् ही है, सन्मय नहीं है ॥८६,८७॥ जैसे जल की द्रवता जलसे पृथक् नहीं है, वायु का स्पन्दन वायु से पृथक् नहीं है तथा आकाश

की शून्यता आकाश से पृथक् नहीं है, वैसे ही द्वैत ईश्वर से पृथक् नहीं है ॥८८॥ द्वैत और अद्वैतकी प्रतीति दुःखरूप प्रवृत्ति की सिद्धि के लिए ही है, निवृत्ति के लिए नहीं है और जो इन द्वैत और अद्वैत की उत्तम अप्रतीति है, वह परमपद है ॥८९॥

भूत, भावी और वर्तमान जगत् किसके अन्दर रहता है ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

भूत, भविष्यत् आदि जगत् शास्त्रीय प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमितिरूप ही है और लौकिक रीति से द्रष्टा, दर्शन और दृश्य–त्रिपुटीरूप ही है, इससे अधिक नहीं है। वह सब जगत् साक्षीभूत चित्परमाणु में स्थित है ॥९०॥ जैसे पवन अपने ही शरीर में स्पन्द को उत्पन्न कर देता है और लीन भी कर लेता है, वैसे ही इस आत्मरूप अणु सुमेरुने अपने शरीर में इस जगद्रूपी अणु को बहुत बार उत्पन्न किया और लीन भी किया ॥९१॥

यह जगत् बृहद्भ्रम है, इस अंश का उपपादन करते हैं।

यह आत्मचिति मायाशबल होने के कारण माया है अथवा मायावी यानी लोगों को मोह में डालनेवाले लोगों की माया से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि परमाणु के अन्दर ही तीनों लोकों की परम्परा है, इसलिए दर्पण के अन्दर प्रतीत हुए पर्वत के समान वह है ही नहीं, अतः वह बृहद्भ्रम ही है ॥९२॥

यदि 'एक अद्वितीय ब्रह्म ही है' इस श्रुति से माया की भी असत्ता प्रतिपादित है, तो जगत् चिदणु ही है, कोई दूसरी वस्तु नहीं है, इसलिए जगत्प्रतीति महाभ्रम ही है, इस आशय से कहते हैं।

यदि आत्मस्वरूप सदा मायाशून्य ही है, तो सर्वदा आत्मस्वरूप ही स्थित है, इस पक्ष में भी जगत्स्थिति चिन्मात्रपरमाणुत्वमात्र ही है, उससे पृथक् नहीं है ॥९३॥

जैसे बीज के अन्दर वृक्ष रहता है, वैसे ही यह जगत् किसके अन्दर स्थित है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे बीज, जिसके अन्दर महान् वृक्ष है, पात्र के अन्दर रहता है, वैसे ही यह अणु, जिसके अन्तर्गत अनेकों जगत् विद्यमान हैं, अपनी समता का त्याग न कर स्थित है। 'बीजं भाण्डोदरे' यह दृष्टान्त परमाणु के अन्तर्गत ब्रह्मचित् में भी सम्पूर्ण जगत् की उत्पादनशक्ति भरी हुई है, यह सूचन के लिए है ॥९४॥

बीज के अन्दर जैसे वृक्ष रहता है, इस अंश का वर्णन करते हैं।

जैसे बीज के अन्दर फल पल्लवों से युक्त वृक्ष का विस्तार स्थित है और वह परमार्थदृष्टि से (योगपरिष्कृत दृष्टि से) देखा जाता है, वैसे ही चिदणु के अन्दर अनेक शाखा प्रशाखाओं से स्थित यह जगत् परमार्थदृष्टि से (ब्रह्मदृष्टि से) देखा जाता है ॥९५॥ जैसे बीज के अन्दर अपने शाखा, फल, फूल आदि का त्याग न करता हुआ वृक्ष स्थित है, वैसे ही चिदणु के अन्दर यह विशाल जगत् स्थित है ॥९६॥

अपनी एकता का त्याग न करता हुआ उदित न हुआ भी कौन उदित होता है, इस प्रश्न में स्थित 'स्वमेकमजहद्रूपम्' इन अंशों का उपपादन करने के लिए अध्यारोपित स्थूल, सूक्ष्म

आदि प्रपंचका खण्डन करते हैं।

बीज के अन्दर वृक्षके समान चित्परमाणु के अन्दर स्थित द्वैतरूप जगत् को जो अद्वैत देखता है, उसीका दर्शन दर्शन है यानी वही तत्त्वज्ञानी है, वस्तुतः न द्वैत है, न अद्वैत है, न बीज है, न अंकुर है, न स्थूल है, न असत्ता है, न यह सौम्य है, न क्षुभित है, चिदणु के अन्दर तीनों जगत्, आकाश, वायु आदि भी कुछ नहीं है। न जगत् है, न अजगत् है, केवल एक सर्वोत्कृष्ट उत्तम चिति है।

कौन उदित न होता हुआ भी उदित होता है, इस अंश का उपपादन करते हैं।

वह चिति सर्वात्मिका है, वह जहाँ जिस रूपसे (प्राक्तन वासना के अनुसार) उदित होती है, वहाँ पर सृष्टि प्रतिभारूपसे आविर्भूत होती है। उदित न होता हुआ भी यह एकात्मा परमाणु अपने संकल्प से विकास को प्राप्त होकर निष्प्रपंचस्वरूप आकाश में समग्र वस्तुरूप से स्थित है ॥९७–१०१॥

उक्त अर्थ में दृष्टान्त देते हैं।

जैसे वृक्ष बीजों को उत्पन्न करता हुआ और वृक्षस्वभाव को न हटाता हुआ स्वबीजरूप से उदित होता है, तदनन्तर भूमि को प्राप्त होता है, वैसे ही परम तत्त्व भी जगद्रूप से उदित होता है और अपने उदय से जगत्ता को यानी जन्ममरण आदि की कल्पना को प्राप्त होता है ॥१०२॥ उन दोनों में विशेषता इतनी ही है कि वृक्ष बीजरूप से ही विकारी नहीं है, किन्तु वृक्षरूप से भी विकारी है, क्योंकि दोनों रूपों से उसमें विकाररूप विषमता देखी जाती है, आत्माणु तो असंग अद्वितीय होने के कारण सबके त्याग में तत्पर है और सर्वानुगत सद्रूप होने के कारण सबके अत्याग में तत्पर है और निर्विकार ही सदा रहता है ॥१०३॥

हे राजन्, जिसकी अपेक्षा स्थूल होने के कारण बिसतन्तु (कमल–नाल का तंतु) महामेरू है, वह कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

परमाणु की अपेक्षा स्थूल होने के कारण बिसतन्तु महामेरू है, क्योंकि बिसतन्तु दृष्टिगोचर होता है और परमाणुता नेत्र से दृश्य नहीं है ॥१०४॥

दृष्टान्त में उक्त का दार्ष्टान्तिक में समन्वय करते हुए 'ऐसे किसके उदर में करोड़ों मेरुमन्दर हैं' इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

परमाणु के भी अन्दर आत्मरूप ब्रह्म की अपेक्षा बिसतन्तु भी महामेरु है और उसी के अन्दर चिद्घन परमार्थस्वभाव करोड़ों मेरु पर्वत स्थित हैं ॥१०५॥

यह त्रिजगत् किसके द्वारा निर्मित है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे आकाश द्वारा गन्धर्व नगर आदि दृश्य नाना विचित्र प्रपंचरूप से बनाया गया भी चारों ओर निर्मल शून्यता को यानी आकाशस्वरूपता को प्राप्त ही है, वैसे ही उस एक महान् और परमाणु से विश्व अपंचीकृत पंचभूतों के रूप से विस्तारित है, पंचीकरण द्वारा ब्रह्माण्ड और भुवनरूप से बनाया गया है, उन ब्रह्माण्ड और भुवनों में देव, मनुष्य, असुर, तिर्यक् भेद से उत्पन्न किया गया है और उनके भोग के लिए तत्–तत् विषयों के भेद से रचा गया है ॥१०६॥

'किसके दर्शन से निर्मलदृष्टि होकर तुम उससे अन्य नहीं होते अथवा सदा ही तद्रूप होते हो' इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

चित्संमिश्रिति जड़ अविद्यामात्ररूप होने के कारण सुषुप्ति के सदृश, स्वकाल में भी यानी द्वैतावस्था में भी सत्ता और स्फूर्ति के व्यवहार की सिद्धि के लिए सच्चिदानन्दैकरस होने से अत्यन्त सुन्दर अपने स्वरूप अर्थात् अधिष्ठान आत्मतत्त्व का त्याग न किये हुए द्वैत ने जब यथास्थित आत्मतत्त्व के ज्ञान से स्थिति, गमन और आगमन से मुक्त ऐक्य को प्राप्त किया तब क्षुद्र जगत् परमार्थ पिण्डरूप ही रह जाता है इस प्रकार वह ब्रह्मैकस्वभावता से स्थित है। इसलिए मैं संसाररूप नहीं हूँ, किन्तु सदा अद्वितीय ब्रह्मरूप ही हूँ, यह भाव है ॥१०७॥

इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त

बयासीवाँ सर्ग

प्रसन्न हुई कर्कटी का राजा और मन्त्री को मन्त्र देना और उनका समाधि से व्युत्थित हुई इसके लिए वध्य लोगों का भोजनरूप से अर्पण करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार राजा के मुख से सुनकर उस वन की बन्दरीरूपी कर्कटी राक्षसी ने अपनी राक्षस जाति के योग्य मात्सर्यप्रयुक्त चपलताका, जिसका कि ज्ञात ब्रह्मपद ही मूलोच्छेदपूर्वक नाश है, त्याग कर दिया। वह बाह्यदृष्टिरूपसन्ताप से रहित अन्तःशीलता को प्राप्त होकर ऐसे विश्रान्ति को प्राप्त हुई जैसे कि चन्द्रिका (चाँदनी) से युक्त कुमुदिनी और वर्षाकालकी मयूरी अन्तःशीतलताको प्राप्त होकर विश्रान्ति को प्राप्त होती है। उसको राजा की उस वाणी से अत्यन्त आनन्द हुआ। जैसे आकाश में मेघों के शब्द से गर्भधारण करने पर बगले की पंक्ति को आनन्द होता है ॥१–३॥ राक्षसी ने कहा : अहो, आप दोनों की बुद्धि बड़ी पवित्र मालूम पड़ती है, जो कभी अस्त न हो ऐसे ज्ञानरूपी सूर्य से वह भासित है। जैसे चन्द्रमण्डल से निकली हुई चाँदनी शुद्ध, शीतल और समरस होती है वैसे ही यह मैं आप लोगों की बुद्धि से वाणी द्वारा निकली हुई विवेकामृत कणिकाको सुनकर शुद्ध शीतल और समरस हो गई हूँ, हे राजन्, आपके सदृश जो विवेकी पुरुष हैं, वे जगत् के पूज्य हैं और सेवाकरने योग्य हैं, ऐसा मैं समझती हूँ, जैसे चन्द्रमासे कुमुदिनी विकसित होती है, वैसे ही मैं आप लोगों के सत्संग से विकसित हो गई हूँ।॥४–६॥ जैसे सूर्य की किरणों के संसर्ग से कमलों का विकास होता है और कुसुमों के संसर्ग से सुगन्धि प्राप्त होती है, वैसे ही सत्संगति से कल्याण प्राप्त होता है। महात्माओं की संगति से फिर दुःख नहीं होता, जिसके हाथ में दीपशिखा हो क्या ऐसा पुरुष अन्धकार से तिरस्कृत हो सकता है ? ॥७,८॥ मैंने भूमि के सूर्य के सदृश आप दोनों को इस जंगल में पाया है, आप दोनों पूजनीय हैं, इसलिए शीघ्र कहिए, मैं आप लोगों की कौन शुभ इच्छा पूरी करूँ ॥९॥ राजा ने कहा : हे राक्षसकुलकानन की मंजरी, इस नगर में हृदयशूल सदा प्राणियों को अत्यन्त पीड़ा पहुँचाता है ॥१०॥ चूँकि मेरे राज्य में सारी–की–सारी जनता दृढ़ विसूचिका से युक्त होकर सन्तप्त है, इसीलिए मैं अपनी रात्रिचर्या

करने के लिए निकला हूँ, जब मनुष्यों के हृदय में शूलादि रोग औषध द्वारा शान्त नहीं हुआ तब मैं तुम्हारे सरीखे पुरुषों द्वारा कहे गये मन्त्र की अभिलाषा से घर से बाहर निकला हूँ ॥११,१२॥ मूढ़ लोगों का विनाश करनेवाले तुम्हारे तुल्य व्यक्ति के निग्रह के लिए मेरी प्रवृत्ति हुई है। वह इस समय सर्वथा सम्पन्न हो गई है। हे शुभे, तुम मेरा इतना ही वचन स्वीकार कर लो कि अब तुम किसीके भी प्राण न लेना। राक्षसी ने कहा : बहुत ठीक है, हे प्रभो, आजसे लेकर मैं निश्चित ऐसा ही करूँगी। मैं सच कहती हूँ, अब मैं किसीकी हत्या नहीं करूँगी ॥१३–१५॥ राजा ने कहा : हे प्रफुल्लित कमल के सदृश नेत्रवाली राक्षसी, दूसरे जीवों की देह से अपना जीवन–निर्वाह करनेवाली हे कर्कटी, यदि ऐसा है, तो मेरे अभीष्ट अहिंसा के व्रत में स्थित हुई तुम्हारे शरीर का निर्वाह कैसे होगा ?॥१६॥ राक्षसी ने कहा : हे राजन्, हिमालय पर्वतमें छः मास के बाद समाधि से उठी हुई मुझे भोजन के संकल्प से आज यह भोजनेच्छा हुई है। इस समय उसी शिखर पर जाकर, समाधि लगाकर अपनी इच्छानुसार सजीव प्रतिमा के समान मैं सुख से रहती हूँ। अमृतरूप आत्मा की भावनावाली समाधि लगाकर मैं अपने शरीर को इच्छानुसार जीवित रखती हूँ। उसके अनन्तर मैं अपने शरीर का त्याग करूँगी, ऐसा मेरा निश्चय है ॥१७–१९॥ हे राजन्, अब मैं अपने शरीर के परित्याग तक प्राणियों की हत्या नहीं करूँगी, इसलिए मेरे इस वचन को सुनो ॥२०॥ राजन्, हिमालयनामक पर्वत है, जो शरत्काल की चाँदनी के समान शुभ्र है एवं उत्तर दिशा के मध्य में पूर्व और पश्चिम सागर का अवगाहन कर स्थित है ॥२१॥ पहले लोहे की मेघघटा के समान कर्कटी नामकी मैं उस पर्वतमें स्वर्णशिखर के गुफारूपी घर में रहती थी। मैंने जनता को मारने की इच्छा से जीवों के प्राणको हरनेवाली सूचीरूपी विसूचिका होने के लिए ब्रह्माजी को तप से प्रसन्न किया। ब्रह्माजी से वरदान प्राप्त कर मैंने बहुत वर्षों तक विसूचिकारूप से जीवों को क्लेशप्रदान द्वारा जनताका विनाश किया। तब 'गुणी लोगों की हिंसा न करना', यों ब्रह्माजी ने गुणी लोगों की हिंसा न करने के लिए महामन्त्र दिया। मैं उस मन्त्र के अधीन होकर स्थित हूँ ॥२२–२५॥ उस मन्त्र को तुम लो, उससे लोक में सम्पूर्ण हृदयशूल शान्त हो जायेंगे, मेरे द्वारा की गई पीडा की तो बात ही क्या है ? मैंने जगत् में पहले खूब हिंसा की। मैंने पहले खून चूसने से लोगों के हृदय को खूनरहित कर दिया। उससे लोगों की नाडियाँ खून से रहित हो गई हैं ॥२६,२७॥ मारकर, रक्त और मांस को चूसकर जो बहुतसे लोग मैंने छोड़े, रक्तसंचार से रहित नाडीवाले उन लोगों से जो लोग उत्पन्न हुए वे भी वैसे ही हुए यानी किसी प्रकार उनका जीवन रहनेपर भी उनके वंशजों में भी रक्तरहितता हुई, इसलिए हिंसा अत्यन्त अनर्थकारिणी है ॥२८॥ हे राजन्, यह विसूचिकामन्त्र तुमको प्राप्त हुआ ही समझो, क्योंकि सत्त्वयुक्त जो पुरुष हैं, उनके लिए कुछ भी दुःसाध्य नहीं है। इसलिए हे राजन्, दुष्ट नाडियों के अन्दर शूलरोग की शान्तिके लिए ब्रह्माजी ने जो मन्त्र कहा था, उसको आप शीघ्र ग्रहण कीजिए। हे राजन्, आओ नदी के समीप चलें, वहाँ पर तुम्हारे ऊपर खूब प्रसन्न हुई मैं आचमन कर पवित्र हुए तुम दोनों को उक्त मन्त्र देती हूँ ॥२९–३१॥ वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार उस रात्रि में

राक्षसी, मन्त्री और राजा तीनों, जिनमें परस्पर मित्रता हो गई थी, नदीके निर्जन तट पर गये तब अन्वय और व्यतिरेक से राक्षसी की मैत्री को जानकर आचमन किये हुए वे दोनों राक्षसीके शिष्य होकर बैठे, तदुपरान्त उक्त राक्षसी ने ब्रह्माजीके द्वारा उपदिष्ट जप से सिद्धि देनेवाला वह विसूचिकामन्त्र क्रमशः उनको स्नेहपूर्वक दिया। तदनन्तर उन राजा और मन्त्री से, जिनके साथ उसकी मित्रता हो गई थी, विदा होकर जब वह राक्षसी चलने लगी, तब राजा ने उससे कहा ॥३२-३५॥ हे विशालशरीरवाली, तुम हमारी गुरु और सखी बन गई हो, इसलिए हे सुन्दरी, हम लोग तुम्हारे भोजन के लिए यत्न से तुम्हें निमन्त्रित करते हैं। हमारे ऊपर प्रसन्न हुई तुम हमारी बिनती को अस्वीकार करने के लिए योग्य नहीं हो, सज्जनों की मित्रता दर्शनसे ही बढ़ती है। अत्यन्त सौभाग्ययुक्त और मनोहर छोटे आकार को बनाकर हे भद्रे, आप हमारे घरमें आइए और वहाँ आनन्दपूर्वक रहिए ॥३६-३८॥ राक्षसी ने कहा : राजन्, मुग्धा युवती का रूपधारण करनेवाली मेरे लिए भोजन देने में आप समर्थ हैं, पर राक्षसरूप धारण करनेवाली मुझ को आप किससे तृप्त करेंगे ? राक्षस अन्न ही मेरे लिए सन्तोषप्रद होता है और सामान्य लोगों का भोजन मेरे सन्तोष के लिए नहीं होता, क्योंकि यह मेरा स्वभाव बहुत काल से परिपक्व हो गया है, अतः जब तक मेरी देह रहेगी, तब तक यह हट नहीं सकता ॥३९,४०॥ राजा ने कहा : हे अनिन्दिते, सोने के हारों से विभूषित स्त्रीका रूप धारण करनेवाली तुम मेरे घरमें जब तक तुम्हारी इच्छा हो, कुछ दिनों तक रहो ॥४१॥ तदनन्तर सैंकड़ों-हजारों पापियों, चोरों और दण्डनीयों को अपने राज्य से लाकर मैं तुम्हारा अनुरूप भोजन दूँगा ॥४२॥ स्त्रीके सुन्दर रूप का परित्याग कर राक्षसी का शरीर धारण कर तुम सैकड़ों दण्डनीय पुरुषोंको, जो कि इकट्ठे किये रहेंगे, उठाकर हिमालय पर्वत के शिखर पर ले जाना और वहाँ पर सुखपूर्वक उन्हें खाना। जो अधिक भोजन करते हैं, उनको एकान्त में भोजन करना बड़ा रूचिकर होता है ॥४३,४४॥ भोजनसे तृप्त होकर थोड़ी निद्रा लेकर फिर तुम समाधिस्थ हो जाओ। समाधि से व्युत्थित होकर फिर आकर दूसरी बार अन्य वध्यजनों को ले जाओगी। धर्मतः इन लोगों की हिंसा हिंसा नहीं है, स्वधर्म से हिंसा ही इनके लिए महती कृपा के समान है। अवश्य तुम समाधि से उठकर मेरे पास आओगी, क्योंकि असज्जनों की भी बढ़ी हुई मित्रता निवृत्त नहीं होती ॥४५-४७॥ राक्षसी ने कहा : हे मित्र, तुमने बहुत ही युक्तियुक्त कहा है, हे राजन्, मैं तुम्हारे कथनानुसार ही करती हूँ। मित्रता से प्रवृत्त हुए पुरुष के वचनका कौन अभिनन्दन नही करता ? ॥४८॥ वसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, ऐसा कहकर वह राक्षसी वहाँ पर सुन्दर स्त्री बन गई। उसने हार, बाजूबन्द, कड़े, रेशमी वस्त्र और सुन्दर मालाएँ धारण कर ली ॥४९॥ 'हे राजन्, आओ चलें', - ऐसा कहकर वह राक्षसी रात्रि में पहले चलने के लिए तैयार हुए उक्त राजा और मन्त्री के पीछे-पीछे चली। इसके बाद राजा के महलमें पहुँचकर एक-दूसरे के साथ आदर भाव रखनेवाले उन्होंने एक सुन्दर घर में बैठकर परस्पर कथा आदि से सारी रात बिता दी ॥५०,५१॥ प्रातःकाल होने पर वह राक्षसी सती-साध्वी स्त्रीकी लीला से अन्तःपुर में स्थित हुई और राजा एवं मन्त्री अपने-अपने कार्य में लगे ॥५२॥ तदुपरान्त राजा ने अपने

मण्डल में से तथा दूसरे लोगों के नगरों से भी तीन हजार दण्डनीय लोगों को इकट्ठा कर दिया, उन्हें इकट्ठा करने के उपरान्त राजा ने वे सब उस राक्षसी को दे दिये। वह रात्रिमें फिर वैसी ही भयंकर काली राक्षसी बन गई। उन तीन हजार वध्यों को उसने अपने भुजमण्डल में ऐसे ग्रहण किया जैसे कि मेघमाला अपने मध्यमें लटक रही धाराओं को ग्रहण करती है। फिर जैसे कोई दरिद्रा सुवर्ण को पाकर राजा से अनुमति लेकर चली जाती है, वैसे ही पूतना, राक्षस, पिशाच आदि में बृहत्काय होने के कारण श्रेष्ठ वह राक्षसी राजा से अनुमति लेकर उसी हिमालय शिखर पर चली गई ॥५३–५६॥ वहाँ सुखपूर्वक भोजन करके खूब तृप्त हुई तीन दिन तक लगातार सोकर जागरण से स्वस्थ हुई उसने फिर समाधि ले ली ॥५७॥ वह पाँच या चार वर्षों में समाधि से जागृत होती थी और तदनन्तर समाधि से उठने के बाद फिर राजा के पूर्वोक्त वचन से प्रतिसंगम की इच्छा होने पर राजा के पास जाती थी ॥५८॥ वहाँ परस्पर विश्वासपूर्ण कथाएँ करती हुई कुछ काल तक रहकर उन वध्योंको लेकर फिर अपने स्थान हिमालय को जाती ॥५९॥ वह राक्षसी आज भी पूर्वोक्त रीति से ही जीवन्मुक्त होने के कारण उसी हिमालय पर्वत के वनमें कभी यानी व्युत्थान होने पर लौकिक व्यवहार करनेवाली कभी समाधि में एकमात्र ज्ञान में लीन चित्तवाली होकर बैठी है। उस किरातों के राजा के काल आने पर सकल एषणाशून्य मन से विदेहकैवल्यरूप परम शान्ति को प्राप्त होने पर उसके वंशजों की, जो उस समय उस राष्ट्र के अधिपति थे, मित्रता से पूर्व की नाईं अपने ग्रासभूत वध्यों को खाती हुई चिरकाल से स्थित है ॥६०॥

बयासीवाँ सर्ग समाप्त

तिरासीवाँ सर्ग

समाधि से चिरकाल तक व्युत्थित नहीं हुई वह कर्कटी किरातमण्डल में कन्दरादेवीरूप से प्रतिष्ठित हुई–यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, उस किरातमण्डल में जो–जो राजा होते हैं, उन सबके साथ उस राक्षसी की अत्यन्त मैत्री रहती है ॥१॥ यह योगसिद्ध राक्षसी वहाँ पर जो बड़े–बड़े उत्पात, पिशाच आदिका भय, और रोग उत्पन्न होते हैं, उन सबकी निवृत्ति करती है ॥२॥ बहुत वर्षों के बाद ध्यान से विरत हुई वह किरातमण्डल में आकर इकट्ठे किये हुए समस्त वध्य जन्तुओं को खाती है। आज भी वहाँ पर जो लोग वध्य होते हैं, उन्हें राजा उसके लिए ले आता है। अपने मित्रका सन्मान करने के लिए कौन उद्योगशील नहीं होता ? उसके ध्यान में बैठ जाने पर और किरातमण्डलमें चिरकाल तक न आने पर लोगों ने विविध दोषों की शान्ति के लिए कन्दरा नामकी उस देवीकी, जिसका दूसरा नाम मंगला था, नगर में गगनचुम्बी राजमहल के ऊपर मूर्तिरूप से स्थापना की। तबसे लेकर उस मण्डलका जो भी राजा होता है, वह भगवती कन्दरा की प्रतिष्ठा करता है यानी काल से पूर्वप्रतिमा के नष्ट होने पर नयी प्रतिमाकी स्थापना करता है ॥३–७॥ जो अधम राजा कन्दरा देवीकी प्रतिष्ठा नहीं करता,

अनेक उपद्रव आदि उसकी प्रजाको यत्नपूर्वक नष्ट करते हैं ॥८॥ उसके पूजन से मनुष्य उत्पात, रोग आदि की शान्तिरूप सम्पूर्ण फलको प्राप्त होते हैं और जो पूजन नहीं करते, वे अपनी अपनी वासना से उत्पन्न हुए अनर्थ को प्राप्त होते हैं ॥९॥ वध्य जनों की बलि से उस देवीकी पूजा की जाती है, वह प्रतिमा आज भी वहाँ पर स्थित है, अन्यत्र भी यदि वह चित्र में लिखित हो, तो भी उक्त फल देती है ॥१०॥ सम्पूर्ण लोगों को बालक, बछड़े, धन, धान्य आदि वैभव और सम्पत्तियाँ देनेवाली, सम्पूर्ण वध्यजनों को ग्रसनेवाली, परम बोधवती, चिरकाल से अनुवृत्त देवीरूपा वह कर्कटी किरातजनों के मण्डल में स्थित है ॥११॥

तिरासीवाँ सर्ग समाप्त

चौरासीवाँ सर्ग

राक्षसी के कर्कटी नाम में हेतु, उपदेश से अर्थ की कल्पना और दृष्टान्त कथन का उपयोग कथन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, मैंने आपसे हिमालय की राक्षसी कर्कटी का यह अनिन्दित आख्यान आदि से अन्त तक यथावत् कहा ॥१॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, हिमालय पर्वतकी गुफामें वह राक्षसी कैसे कर्कटी नाम से उत्पन्न हुई यह मुझसे आप यथार्थरूप से कहिए। भाव यह कि उसकी कृष्णवर्णता और कर्कटी नाम होने में क्या हेतु है ? ऐसी रामचन्द्रजी ने आशंका की ॥२॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, राक्षसों के अनेक वंश हैं, उनमें कोई स्वभावतः सफेद हैं, कोई काले हैं, कोई हरे हैं और कोई उज्ज्वल हैं ॥३॥ कर्कट के (केकड़े के) सदृश होने से एक राक्षस का नाम कर्कट पड़ा। उससे उत्पन्न हुई काली कर्कट के समान आकृतिवाली वह राक्षसी कर्कटी कहलाई। विश्वरूप के (जगत्तत्त्वके) निरूपण के प्रस्तुत होने पर अध्यात्मविषयक उक्तियों के सिलसिले में कर्कटी के प्रश्नों का स्मरण होने से मैंने इसका वर्णन आपसे किया ॥४,५॥

कही गई आख्यायिका की प्रकृत में योजना करते हैं।

अनुत्पन्न हुआ ही यह जगत् आदिअन्तरहित परमकारण अद्वितीय ब्रह्म से उत्पन्न हुआ-सा प्रकाशित होता है ॥६॥ जैसे जलराशि में उठ रही (वर्तमान), अतीत और अनागत तरंगें भिन्न-अभिन्नरूपसे स्थित हैं, वैसे ही परब्रह्म में वर्तमान अतीत और अनागत सृष्टियाँ अन्य अनन्य रूप से स्थित हैं ॥७॥

यदि वर्तमान सृष्टियाँ अतीत और अनागत सृष्टियों के तुल्य हैं, तो उनमें अर्थक्रियाकारितारूप विशेष कैसे है ? इस पर कहते हैं।

जैसे काष्ठों में न जलता हुआ भी अग्नि बन्दरों के शीतनिवारणरूप अर्थक्रियाकारिता को करता है वैसे ही नित्योदित और नित्यस्थित ब्रह्म ही कर्ता-सा होकर इन अनेक जगतों को करता है फिर भी वह अपनी समता, सौम्यत्व आदि का त्याग नहीं करता यानी वर्तमान सृष्टि में जो अर्थक्रियाकारिता है, वह भ्रम ही है, क्योंकि वास्तव में अतीत, अनागत सृष्टियों की नाईं वर्तमान सृष्टि में भी अर्थक्रियाकारिता उक्त रीति से नहीं है। हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे

काष्ठ में मिथ्या ही शालभंजिकाबुद्धि उदित होती है, वैसे ही अनागत ही यह सृष्टि आगत–सी प्रतीत होती है ॥८–१०॥ जैसे बीज में फल आदि (अंकुर आदि) अभिन्न होता हुआ भी भिन्न–सा उदित होता है, वैसे ही चित् में अन्य न होता हुआ भी यह चेत्य अन्य–सा उदित हुआ है ॥११॥ बीज से लेकर फलपर्यन्त अनुस्यूत एक द्रव्यसत्ता का विच्छेद न होने के कारण फल और बीज में कोई भेद नहीं है। जल और तरंगों के समान चित् और चेत्य में भी कोई भेद नहीं है ॥१२॥ किसी अविचार से उत्पन्न हुआ भेद इन में उपपन्न (प्राप्त) नहीं हो सकता, क्योंकि जिस किसी कारण से भ्रान्तिवश उत्पन्न हुआ भेद विचार से नष्ट हो जाता है ॥१३॥ हे रामजी, यह तो भ्रान्ति ही है, यह जैसे किसी कारण के बिना आई वैसे ही जाये। प्रबुद्ध होकर आप उस ब्रह्म को जान जायेंगे। इस समय आप इस भ्रान्ति का त्याग कीजिए। मेरे वाक्यों के श्रवण से भ्रान्तिरूप ग्रन्थि के टूट जाने पर तदनन्तर यद्यपि आप ज्ञान, शब्द, अर्थ इनके भेद को नहीं जानेंगे, तथापि मेरे उपदेश की तात्पर्यगोचर वस्तु को स्वयं ही जान जायेंगे। चित्त से ही यह सम्पूर्ण अनर्थ उत्पन्न हुआ है। चित्त, वह चित्तजनित अनर्थ और चित्तजननी अविद्या– ये सब मेरे कथन के श्रवणमात्र से आपके शान्त हो जायेंगे, इसमें सन्देह नहीं है ॥१४–१६॥

जगत् की उत्पत्ति आदि के निरूपण का भी प्रयोजन निष्प्रपंच वस्तु का ज्ञान ही है, इस आशय से कहते हैं।

सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है और लय द्वारा ब्रह्म को ही प्राप्त होता है, मेरी वाणियों द्वारा प्रबुद्ध होकर आप इस अनिन्दित तत्त्वको पूर्ण रूप से जानेंगे ॥१७॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यदि भेद असत् ही है, तो ब्रह्म से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ, इस प्रकार की आपकी उक्ति में तथा 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यादि श्रुति में 'तस्मात्' यह भेदप्रतिपादिका पंचमी और सब परब्रह्म से अभिन्न ही है, यह अभेदप्रतिपादक वाक्य दोनों कैसे ? यानी दोनों की उपपत्ति नहीं होती। तात्पर्य यह हुआ कि लक्ष्य और अलक्ष्य के भेद तथा उनके प्रतियोगियों के अभाव में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होगी, ऐसी अवस्था में लक्षण द्वारा लक्ष्यबोधनरूप व्यवहार की असिद्धि होने से उपदेश ही नहीं बनेगा ॥१८॥

तात्कालिक भेद की कल्पना करने या व्यावहारिक दृष्टि से सिद्ध भेद आदि के उपादान से शब्दप्रवृत्ति हो सकती है, अतः बिम्ब–प्रतिबिम्बरूप व्यवहार की नाईं उपदेश की उपपत्ति हो सकती है, इसलिए उक्त दोष नहीं है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी की उक्त शंका का परिहार करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, शास्त्रों में उपदेश के लिए शब्दों की कल्पना की गई है अथवा लोकसिद्ध अर्थों से उत्पन्न व्यावहारिक भेद का उपजीवी शब्द ही प्रतियोगी, अभाव, संख्या, लक्षण और पक्षरूप होता हुआ तत्–तत् स्थल में प्रवृत्त होता है ॥१९॥

कल्पित पदार्थ से प्रयोजनयुक्त व्यवहार की सिद्धि लोक में भी देखी जाती है। ऐसा कहते हैं।

व्यवहार से ही यह भेद देखा जाता है यानी भेद व्यावहारिक है, वास्तविक नहीं है, जैसे

बालक को वेताल की कल्पना होती है, वैसे ही व्यवहार के लिए इस भेद की कल्पना की गई है। जहाँ पर यानी स्वप्न या गन्धर्वनगर आदि में द्वैत और ऐक्य नहीं है, वहाँ पर भी इस प्रकार का लक्षण आदि व्यवहार है, अतः सत्यसंकल्पों के उपदेश आदि व्यवहार में संकल्प का विनाश कैसे हो सकता है ? ॥२०,२१॥

तुमको उपदेश देने के लिए मैंने ही अपने संकल्प से कार्य, कारण आदि भेद की कल्पना कर रक्खी है, ऐसा कहते हैं।

अज्ञानियों को प्रबुद्ध करने के लिए कार्यकारणभाव, स्वस्वामिभाव, हेतु हेतुमद्भाव, अवयव–अवयविभाव, भेदाभेद परिणाम आदि का भ्रम, भावों के विविध विलास, विद्या और अविद्या, सुख–दुःख इत्यादि रूप मिथ्या संकल्पों की कल्पना की गई है, सत्य वस्तु में वस्तुतः कोई भेद नहीं है ॥२२–२४॥

यह व्यवहार उपदेश्य वस्तु का ज्ञान न होने से ही है यानी अज्ञानावस्था में ही है, प्रबोधावस्था में नहीं है, इसलिए अद्वैत की हानि नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यह भेदवाद परतत्त्व के अज्ञान से ही है, परमार्थ वस्तु के ज्ञात होने पर द्वैत नहीं रहता। उसके ज्ञात होने पर तो सम्पूर्ण कल्पनाओं से शून्य अशब्द ही केवल अवशिष्ट रहता है ॥२५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, समय आनेपर बोध को प्राप्त हुए आप परमतत्त्व आदि और अन्त से रहित, विभागशून्य, एक अखण्ड और सर्वात्मक है, ऐसा जानेंगे ॥२६॥ जिन लोगों को तत्त्व का परिज्ञान नहीं हुआ है, ऐसे अज्ञ पुरुष अपने विकल्पों से उत्पन्न हुए तर्कों से अद्वैत के विषय में विवाद करते हैं, उपदेश से तत्त्ववस्तु के ज्ञात होने पर द्वैत नहीं रहता, यह सम्पूर्ण भेदवाद जबतक वेदान्ततत्त्वका उपदेश नहीं होता, तभीतक रहता है ॥२७॥

द्वैत भले ही न हो, पर विवाद का असम्भव कैसे हो सकता है, इसपर कहते हैं।

द्वैत के बिना वाच्यवाचक का परस्पर बोध नहीं हो सकता।

शंका – यदि द्वैत के बिना परस्पर वाच्यवाचकसम्बोधरूप विवाद नहीं हो सकता, तो द्वैत ही हो।

समाधान – द्वैत का वास्तव में सम्भव ही नहीं है, क्योंकि वह वेतालकल्पना के समान कल्पित है, इसलिए मौन ही सिद्ध होता है ॥२८॥

यदि द्वैत नहीं है, तो 'यतो वा' इत्यादि ब्रह्मलक्षणबोधक श्रुतिवाक्य में 'पंचमी' आदि विभक्ति के अर्थ भेद का परिज्ञान नहीं होना चाहिए, इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, पंचमी आदि से अवगत वचोभेद का (द्वैतका) परित्याग कर 'यतो वा इमानि' इत्यादि लक्षणवाक्य से उत्पन्न बुद्धि को अखण्ड महावाक्यार्थ में यानी तत्त्वमस्यादि महावाक्यार्थभूत ब्रह्म में ही निष्ठावाली यानी पदों के वाच्य और लक्ष्य अर्थों की व्युत्पत्ति के द्वारा पर्यवसन्न कर यह जो कुछ मैं आपसे कहता हूँ, उसे सुनिये ॥२९॥ मन गन्धर्वनगर की नाईं जिसका हम निर्वचन नहीं कर सकते, ऐसे किसी हेतु से यानी अनिवर्चनीय अज्ञान से उत्पन्न हुए इस जगत् नामक अपने विजृम्भण (विकास) का, विस्तार करता है जो केवल भ्रांतिमात्र है ॥३०॥

उक्त अर्थ में आगे कही जानेवाली आख्यायिका का दृष्टान्त के रूप से अवतरण करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे चित्त इस जगन्मायाको फैलाता है, वैसा यह (आगेका) दृष्टान्त, जिस पर केवल दृष्टि देने से ही दार्ष्टान्तिक का परिज्ञान हो जाता है, मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये ॥३१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस दृष्टान्त को सुनकर यह सम्पूर्ण दृश्य भ्रान्तिमात्र ही है, ऐसा स्वयं निश्चय करके आप वासनाओं का परित्याग कर देंगे ॥३२॥ केवल मनकी कल्पना द्वारा बने हुए इन सम्पूर्ण तीनों लोकों का परित्याग कर शान्तस्वरूप होकर आप स्वात्मा में ही स्थित होंगे ॥३३॥ मेरे द्वारा उपदिष्ट अर्थ के अवधान में स्थित आप विवेकरूपी औषधि–मात्रा से मनोव्याधि की चिकित्सा करने के लिए प्रयत्न भी करेंगे ॥३४॥ ऐसी अवस्था में यानी वक्ष्यमाण (कही जानेवाली) आख्यायिका की प्रणाली से ऐसा निश्चय होने पर चित्त ही जगद्रूप से विकास को प्राप्त हुआ है, जैसे बालू के अन्दर तेल नहीं रहता, वैसे ही शरीर आदि की सत्ता नहीं है। राग, द्वेष आदि क्लेशों से दूषित यह चित्त ही संसार है। जब उनसे पुरुष मुक्त होता है तब संसार का नाश कहा जाता है ॥३५,३६॥

लौकिक और शास्त्रीय जितने साध्य, पालनीय आदि पदार्थ हैं, उनके रूप से चित्त ही विकास को प्राप्त हुआ है, अन्य कोई पदार्थ नहीं है, ऐसा कहते हैं।

चित्त ही साध्य, पालनीय, विचारणीय, आर्यवत् करणीय, आहार्य, व्यवहार्य, संचार्य और आदरपूर्वक धार्य सब कुछ है (📖) ॥३७॥ इन तीनों जगतों की कल्पना का आकाशरूप चित्त सम्पूर्ण दृश्य को अपने अन्दर धारण करता है, तथा वही समय पर देह, इन्द्रिय आदि के तत्–तत् व्यापार करने पर 'मैं व्यापार करता हूँ', इस प्रकार अहन्ता के प्रवाह की नाईं बढ़ता है ॥३८॥

चित्त के दो अंश है–उनमें एक चैतन्य अंश की प्रधानता से दृष्टतारूप सर्वकल्पनाओं की बीजभूत अहन्ता है और दूसरा जड़ांश की प्रधानता से दृश्यभ्रान्तिरूपता है, ऐसा कहते हैं।

चित्त का जो चैतन्य अंश है, वही सम्पूर्ण पदार्थों का बीज है और जो इसका जड़ भाग है, वह जगत् है और वही भ्रम है ॥३९॥

उक्त अर्थ का पूर्वोक्त सृष्टिक्रम के स्मरण द्वारा उपपादन करते हैं।

सृष्टि के आरम्भमें यह सब पृथ्वी आदि अविद्यमान यानी असत् ही थे, इनको आकार–रहित ब्रह्मा स्वप्न के समान देखते हुए भी नहीं देखते हैं ॥४०॥

ब्रह्मा कैसे देखते है ? इस पर कहते हैं।

📖 साधनों के सिद्ध होने पर भी जो सिद्ध न हुआ हो, वह साध्य है। जो पहले से सिद्ध हो, वह पालनीय है। असिद्ध अनेक साधनों के प्राप्त होनेपर प्रयत्न की गुरुता और लघुता के विचार से साधनों का सम्पादन कर पीछे सिद्ध होनेवाला जो कार्य है, वह विचार्य है। उसमें भी जो केवल शिष्टों के सम्मत उपायों द्वारा सेव्य होता है, वह आर्यवत् करणीय है। अन्य देश में सिद्ध ही जो अपने घर में लाने योग्य है, वह आहार्य है। अपने घर में स्थित ही जो क्रय–विक्रय आदि के उपयुक्त हो, वह व्यवहार्य है। क्रय–विक्रय के उपयोगी पदार्थों में भी हाथी, घोड़े, रथ आदि संचार्य हैं। भूषण आदि धार्य हैं।

पर्वत आदिरूप स्थूल विराट्–देह को सृष्टि, स्थिति और प्रलयमें एक–सी साक्षी संवित् से, सृष्टि आदि को जड़ संवित् से यानी जड़ में अहंभावनारूप वैश्वानर संवित् से, सूक्ष्म यानी लिंगसमष्टिसूत्रात्मक हिरण्यगर्भ–देह को सूक्ष्मसंवित् से (उक्त देहमें अहंभावनासंवित् से) इस प्रकार तीनों देहों को शून्य ही वे देखते हैं, वास्तव में नहीं देखते हैं ॥४१॥ जैसे सूर्यतेज से सौम्य और निर्मल जल व्याप्त रहता है, वैसे ही सर्वव्यापी आत्मा से अपना चेत्यस्वरूपभूत मन व्याप्त है, चित् की व्याप्ति के कारण उसमें सर्वार्थबीजता है ॥४२॥

चित् की व्याप्ति से ही चित्त को अविचार से जगत्–दर्शन और विचारसे आत्मदर्शन होता है, ऐसा कहते हैं।

चित्तरूपी बालक अज्ञानवश जगद्रूपी मिथ्या वेताल को देखता है, यदि उसमें बोध उत्पन्न किया जाय, तो वह अपने निर्विकार उत्कृष्ट स्वरूप को देखता है ॥४३॥

इस प्रकार शुद्धात्मा ही चित्तभाव द्वारा दृश्यभाव को प्राप्त–सा हुआ है, यह फलित अर्थ निकला। उक्त फलितार्थ की पुष्टि के लिए आगे कही जानेवाली कथाकी अवतरणिका देते हैं।

जिस प्रकार आत्मा द्वैत और एकत्वभ्रम करनेवाली दृश्यताको प्राप्त होता है, उसे आप सुनिये, मैं वक्ष्यमाण (कही जानेवाली) कथा द्वारा उसे कहता हूँ ॥४४॥

ऐन्दवोपाख्यान के दृष्टान्त से जगत में मनोमात्रता का निश्चय कैसे होगा ? इस पर कहते हैं।

ऐन्दवोपाख्यान के दृष्टान्तों से युक्त, मधुर और युक्तियुक्त पदार्थों से पूर्ण वाणी द्वारा जो मैं कहता हूँ, वह शंका को दूरकर श्रोता के हृदयको–जलमें तेल के समान चारों ओर फैलकर–व्याप्त कर देता है ॥४५॥

उक्त अर्थ का ही व्यतिरेक से उपपादन करते हैं।

जिस वाक्य में दृष्टान्त का उल्लेख नहीं रहता, मनोहर पद नहीं रहते, जो वर्णोंके स्फुट न रहने के कारण श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत नहीं हो सकता, क्रोधावेशके कारण क्षुब्ध होकर जिसके वर्ण अपने स्थान से च्युत हुए हों, जिसमें अक्षर पूर्वरूप से न हों (खण्डित हों), ऐसा वाक्य श्रोता के हृदय में असर नहीं करता। वह जैसे भस्म में होमा गया घृत व्यर्थ जाता है, वैसे ही निष्फलता को प्राप्त होता है ॥४६॥

व्यतिरेक दृष्टान्त से कहे गये अर्थ का अन्वयदृष्टान्त से उपपादन करते हुए निगमन करते हैं।

जो आख्यान यानी विविध कथाओं से युक्त बड़ी–बड़ी महाभारत आदि कथाएँ हैं, उनसे छोटी जो–जो कथाएँ हैं और अभिज्ञ पुरुषों के अनुरंजन के योग्य जो–जो काव्य, नाटक, अध्यात्मनिबन्ध आदि शब्द से और अर्थ से मधुर हैं, अथवा जो–जो श्रोत्रेन्द्रियका प्रमेय है, वे सब दृष्टान्तों के और लोकप्रसिद्ध प्रमाणदृष्टियों के कथन से ही ऐसे प्रकाशता को प्राप्त होते हैं, जैसे कि चन्द्रमासे लोक प्रकाशता को प्राप्त होता है ॥४७॥

चौरासीवाँ सर्ग समाप्त

पचासीवाँ सर्ग

सृष्टि करने की इच्छा कर रहे ब्रह्मा का दस ब्रह्माण्डों को देखना,
वहाँ के एक सूर्य द्वारा उनके यथार्थ तत्त्वका वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, मुझसे जो यह पहले ब्रह्माने कहा था, उस सबको मैं ब्रह्मा से कहे गये ऐन्दवोपाख्यान द्वारा आपसे कहता हूँ, क्योंकि आप मुझसे पूछ रहे हैं ॥१॥ पहले मैंने भगवान् ब्रह्मा से पूछा था, हे ब्रह्मन्, ये सब ब्रह्माण्ड कैसे उत्पन्न होते हैं ? मेरे प्रश्नों को सुनकर 'तुमने जो पूछा उसे मैं तुमसे कहूँगा।' – ऐसी प्रतिज्ञा कर लोकपितामह ब्रह्मा ने ऐन्दवोपाख्यान से युक्त ये गम्भीरार्थक वचन मुझसे कहे ॥२,३॥ ब्रह्माजी ने कहा : वत्स श्रीवसिष्ठ, जगद्भाव को धारण करनेकी शक्तिवाला यह मन ही इस प्रकार सब पदार्थों के रूप में स्फुरित होता है, जैसे कि जलाशयमें विशालता को प्राप्त विचि बड़े–बड़े आवर्तों के रूप से जल ही स्फुरित होता है ॥४॥ पहले किसी कल्प में कल्प के आरम्भ में जागे हुए और संसार की सृष्टि करनेवाले मेरा जो कुछ वृत्तान्त हुआ, उसे आप सुनिये ॥५॥ किसी समय कल्प के अन्त में सम्पूर्ण जगत् का संहार करके अकेले मैंने ही एकाग्र और स्वस्थ होकर कल्पान्तरूपी रात्रि को बिताया। प्रातःकाल यानी कल्प के आरम्भमें जाग कर यथाविधि सन्ध्योपासन आदि करके सृष्टि करने के लिए आकाश में मैंने अपनी विशाल दृष्टि लगाई ॥६,७॥ दृष्टि लगाते ही अत्यन्त विस्तृत अन्तरहित असीम शून्य आकाशको मैंने देखा। वह न तो अन्धकार से व्याप्त था और न तेज से। मैं सृष्टि की कल्पना करूँ, ऐसा निश्चय करके मैंने सूक्ष्म चित्त से उस द्रष्टव्य वस्तु का शुद्धतापूर्वक निरीक्षण करना आरम्भ किया ॥८,९॥ इसके बाद मैंने विस्तृत आकाश में अलग–अलग स्थित, विविध व्यापारों से युक्त एवं वहाँ के विष्णु आदि के द्वारा की गई पालन आदि की व्यवस्था से निष्कण्टक ब्रह्माण्डों को देखा ॥१०॥ उन ब्रह्माण्डों में मेरे प्रतिबिम्ब के तुल्य पद्मकोश में रहनेवाले और राजहंसों पर बैठे हुए दस ब्रह्मा स्थित थे ॥११॥ उन पृथक् पृथक् स्थित सर्गों में, जिनमें चतुर्विध प्राणिवर्ग उत्पन्न हो रहा है, जलों को जाल के समान बाँधनेवाले अवग्रह आदि से रहित जल देनेवाले मेघो में और जगतों में महानदियाँ बहती हैं, सागर गरजते हैं, सूर्य तपते हैं, वायु आकाश में इधर–उधर परिभ्रमण करते हैं, स्वर्गमें देवता विविध क्रीड़ाएँ करते हैं, पृथ्वीमें मनुष्य क्रिडाएँ करते हैं, दानव और नाग पातालों में स्थित है ॥१२–१४॥ कालचक्र में गुँथी हुई शीत, ग्रीष्म, वर्षा आदि स्वभाववाली सब ऋतुएँ अपने अपने अवसर पर फलों से पूर्ण होकर पृथ्वी को चारों ओरसे भूषित करती हैं। प्रत्येक दिशा में सभी वर्णों में विहित और निषिद्ध आचार का प्रतिपादन करने वाली तथा स्वर्गनरकरूप फल का प्रतिपादन करनेवाली स्मृतियाँ प्रौढ़ता को प्राप्त हुई हैं। भोग और मोक्षरूप फल को चाहनेवाले सम्पूर्ण प्राणी अपनी–अपनी इच्छानुसार अवसर–अवसर पर अपने अपने प्रवृत्तिक्रम के अनुसार यत्न करते हैं ॥१५–१७॥ सात लोक, सात द्वीप,

समुद्र, पर्वत, जिन्हें काल विनाश की ओर ले जानेवाला है यानी विनाशी है, बड़े कोलाहल से युक्त होकर स्फुरित होते हैं। तम कहीं पर अनावृत्तदेश में ह्रासता को प्राप्त होता है, कहीं पर पर्वतगुहा आदि में अत्यन्त स्थिररूप से स्थित है और कहीं पर सब झाड़ियों में तेजके कणों से मिश्रित होकर स्थित है ॥१८,१९॥ जिसमें आकाशरूपी नीलोत्पल के मध्यमें मेघरूपी भ्रमर घूम रहे हैं तथा चमकते हुए तारासमूहरूपी केसरसे पूर्णता को प्राप्त जगत् सरोवर के सदृश स्थित है ॥२०॥ कल्पान्त की तरह निबिड़ कुहरा मेरु की झाड़ियों में ऐसे स्थित है, जैसे कि सेमल की निर्मल रूई उसकी गुठली के अन्दर रहती है ॥२१॥ लोकालोक पर्वत ही जिसकी श्रृंखला है, शब्द करते हुए अर्णव ही जिसके भूषण के शब्द हैं, अन्धकार के टुकड़े ही जिसमें इन्द्रनील मणिकी प्रभाएँ हैं, अपने भीतर स्थित रत्नों से जो विराजित है, धान आदि के बीज ही प्राणियों द्वारा आस्वादित होने के कारण जिसकी अधर–सुधा हैं और प्राणियों के शब्द ही जिसके मधुर अस्फुट वाग्विलास हैं, इस प्रकार की पृथ्वी अपने अन्तःपुरमें नायिका के समान भुवनाभोग में स्थित है ॥२२,२३॥ संवत्सरलक्ष्मी के कण्ठ में धारण की गई अन्धकार और प्रकाशरूपी श्वेतकमल और नीलकमलों से बनी हुई माला के अन्दर प्रविष्ट अतएव उसके पराग के तुल्य बिजली, नक्षत्र आदि से व्याप्त होने के कारण हल्दी के लेप के तुल्य रात्रिसमूहरूप अंगराग रंजित खूब गौर कण्ठ, वक्षःस्थल, उदर, त्रिवली, नाभि आदि अंगों की पंक्ति की तरह द्युलोक दिखाई देता है ॥२४॥ भुवनरूपी गर्तों में स्थित बहुत से प्राणी जिनमें बीजके (दाडिमबीजके) तुल्य हैं, ऐसे लोक (ब्रह्माण्ड), जो तेजोयुक्त होकर प्रकाशित हो रहे हैं, दाडिमों की तरह दिखाई देते हैं ॥२५॥ तीन प्रवाहोंवाली ऊर्ध्व लोक में और अधोलोक में गमन और आगमन करनेवाली गंगा नदी, जो कि चन्द्रमा की कला के समान निर्मल है, जगत् के यज्ञोपवीत के समान स्फुरित होती है ॥२६॥ दिशारूपी लताओं में तडिद्रूपी फूलों से युक्त मेघरूपी पल्लव वायु से टकरा कर इधर–उधर घूमते हैं, नष्ट होते हैं और फिर उत्पन्न होते हैं ॥२७॥ समुद्र, भूमि और आकाशका आश्रयभूत जगत् वितानों से (विस्तारों से) शोभित होनेवाली गन्धर्वनगर की उद्यानलता के समान शोभित है, वास्तविक नहीं है। भाव यह कि प्रतिभासित जगत् मिथ्या ही है ॥२८॥ उन भुवनों के मध्य में गूलर के फल के मध्यमें स्थित छोटे छोटे मशकों के समान देवता, असुर, नर, नाग आदि संघशः घुं घुं शब्द करते हुए स्थित हैं ॥२९॥ उन लोकों के मध्य में युग, कल्प, क्षण, लव, कला, काष्ठा आदि से युक्त अतर्कित सबके विनाश की प्रतीक्षा करनेवाला काल बहता है ॥३०॥ इस सबका अपने परम शुद्ध चित्त से विचार कर मैं अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुआ कि यह क्या है और कैसे है ? ॥३१॥ जिस मायाजाल को चर्मचक्षुसे मैंने कुछ भी नहीं देखा, उस अतुल मायाजाल को मैं मन से आकाश में देखता हूँ, यह कैसे हुआ ? ॥३२॥ इसके बाद चिरकाल तक उस अतुल मायाजाल को देखकर मैंने मन से ही उस भुवन के आकाश से एक सूर्य को सत्यसंकल्प से अपने समीप बुलाकर पूछा ॥३३॥ हे सूर्य, हे देवाधिदेव, हे महाद्युते, तुम आओ, तुम्हारा

स्वागत हो, ऐसा मैंने पहले उससे कहा फिर यह निम्ननिर्दिष्ट प्रश्न पूछा ॥३४॥ तुम कौन हो, यह तुम्हारा जगत् कैसे उत्पन्न हुआ एवं इससे अतिरिक्त और जो नौ जगत् हैं, वे कैसे उत्पन्न हुए ? हे भगवन्, यदि आप इसको जानते हों, तो मुझसे कहिये ॥३५॥ ऐसा मेरे पूछने पर और मुझे देखकर ये इस लोकके ब्रह्मा हैं, यो उन्होंने मुझे पहचान लिया । तदनन्तर मुझे नमस्कार करके अनिन्दनीय पदों से युक्त वाणी से सूर्य ने मुझसे कहा : हे भगवन्, आप इस दृश्य प्रपंच के नित्य कारणता को प्राप्त हैं, क्या आप इसके वृत्तान्त को नहीं जानते, जो कि मुझसे पूछते हैं ? ॥३६,३७॥ हे सर्वव्यापिन्, यदि मेरे वाक्य–सन्दर्भ को सुनने में आपको कौतुक हो, तो आपके द्वारा जिसका संकल्प नहीं किया गया था, ऐसी अपनी उत्पत्ति को आपसे कहता हूँ, सुनिये ॥३८॥ हे महात्मन्, आप सर्वशक्तिमान् होने के कारण व्यवहार में ईश्वर रूप से व्यवहृत होते हैं और परमार्थदृष्टि से तो आप महात्मा हैं, यह सत् है या असत् है, यों तत्त्वतः बोध न होनेके कारण विमोहित करनेवाली और निरन्त जगत् की रचना करनेवाली तथा कभी सत् कभी असत् कहीं पर सत् कहीं पर असत् यों देश और काल से परिच्छिन्न जगत् की सत्ता दर्शाने में कुशल कलाओं से जो चारों ओर से व्याप्त है वह मन ही तत्–तत् रूप में स्फुरित हो रहा है, यह आप जानिये ॥३९॥

पचासीवाँ सर्ग समाप्त

छियासीवाँ सर्ग

स्त्रीसहित इन्दु की तपस्या से दस ऐन्दवों की उत्पत्ति और
उनमें सबसे ज्येष्ठ के उपदेश से उनकी ब्रह्माहंभावना का वर्णन।

सूर्य ने कहा : हे देवाधिदेव ब्रह्माजी, कल्पनामक आपके अतीत दिनमें जम्बूद्वीप के एक कोने में स्थित कैलास पर्वत के निम्नप्रदेश में सुवर्णजटनाम से प्रसिद्ध जो प्रदेश है, वहाँ पर आपके पुत्रोंने, जिनकी अनेक सन्तानें उत्पन्न हो गई थीं, अपनी सन्तति के विकास के लिए बड़े सुन्दर प्रचुर सुख से पूर्ण मण्डल की कल्पना की ॥१,२॥ वहाँ पर कश्यपगोत्रोत्पन्न अत्यन्त धर्मात्मा ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ अत्यन्त शान्त इन्दुनामक ब्राह्मण हुआ ॥३॥ अपने वर्ग के लोगों में वहाँ नित्य निवास कर रहे उस महात्मा की प्राणों के तुल्य प्रिय कोई भार्या थी, जैसे मरूभूमि में तृण उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही उसमें उसके कोई पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ जैसे सीधी, सफेद तथा अत्यन्त शुद्ध काशकी लता पुष्प फलशून्य होने के कारण शोभित नहीं होती, वैसे ही उसकी सर्वगुणसंपन्न भार्या भी पुत्ररहित होने के कारण शोभित नहीं हुई । पुत्र न होने के कारण अत्यन्त खिन्न हुए वे दोनों दम्पती पुत्रप्राप्ति के लिए तपस्यार्थ कैलास पर्वत के ऊर्ध्व शिखर में, उत्पन्न हुए नूतन वृक्षों के समान, आरूढ़ हुए । प्राणियों से रहित निर्जन उस कैलास पर्वत के शिखर पर वृक्ष की स्थिति के समान स्थितिवाले वे दोनों केवल जल पीकर घोर तपस्या करने लगे । सायंकाल के समय केवल एक चुल्लू जल पीकर निश्चल वृक्ष की वृत्ति का अवलम्बन कर खड़े रहते थे । वे तब तक वृक्ष के समान खड़े रहे, जब तक

कि त्रेता और द्वापर दोनों ही युग बीत गये । तदुपरान्त देवाधिदेव भगवान चन्द्रशेखर उन दोनों पर प्रसन्न हुए ॥४–१०॥ जैसे दिन के सूर्य तेज से सन्तापित कुमुदों के लिए चन्द्रमाका उदय होता है, लता और वृक्षों से युक्त वनप्रदेश में वसन्त का आगमन होता है, वैसे ही जिस प्रदेश में वे ब्राह्मणदम्पती तप कर रहे थे, वहाँ शंकर भगवान् उपस्थित हुए । वे दोनों दम्पती वृषभपर आरूढ़ उमासहित शशिमौलि भगवान् को देखकर ऐसे विकसितवदन हुए, जैसे कि चन्द्रमा को देखकर दो कुमुद विकसित होते हैं । उन दोनों ने हिम के तुल्य विमलदेहवाले देवाधिदेव भगवान् शंकर को ऐसे प्रणाम किया जैसे कि द्यौ और पृथ्वीमें स्थित मनुष्य उदित हुए परिपूर्ण चन्द्रमा को प्रणाम करते हैं । मलयपवन से कँपाए गये नूतन पल्लवों से युक्त आम्र आदि वृक्षों के मुख से समान शब्द कर रहे भ्रमर, कोकिल आदि की ध्वनि को अपनी ध्वनि से तिरस्कृत करते हुए शिवजी मृदु और सौन्दर्य से अत्यन्त उत्कृष्ट स्मित से अधर को हिलाते हुए निम्नलिखित वचन बोले । शिवजी ने कहा : हे विप्र, तुम मुँहमाँगा वर माँगो । मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ, वसन्त ऋतु के रस से आक्रान्त अतएव हरेभरे वृक्ष के समान तुम खूब प्रसन्न होओ । ब्राह्मण ने कहा : हे भगवन्, हे देवाधिदेव मेरे मंगलमय कर्म करनेवाले महामति दस पुत्र हों, जिससे फिर मुझे शोक पीड़ित न करे । श्रीसूर्य ने कहा : जो तुम चाहते हो वह वैसा ही हो, ऐसा कहकर भगवान् शंकर आकाश में अन्तर्हित हो गये जैसे कि तरंगों से विशाल शरीरवाला समुद्र गरज कर अन्तर्हित हो जाता है । तदनन्तर शिवजी से वर पाकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए देवताओं के तुल्य वे दम्पती जैसे शिव और पार्वतीजी आकाश को गये, वैसे ही अपने घर को गये । वहाँ पर वह ब्राह्मणी उदार गर्भवाली हुई, जैसे जल से काली मेघघटा परिपूर्णगर्भवाली होकर शोभित होती है, वैसे ही पूर्णगर्भा वह ब्राह्मणी शोभित हुई । तदनन्तर अवसरपर यानी दसवें महीने में प्रतिपदा के चन्द्रमा की तरह कोमल भोले–भाले दस बालकों को–जैसे कि पृथ्वी नूतन अंकुरों को उत्पन्न करती है वैसे ही– उसने उत्पन्न किया । जैसे वर्षा ऋतु में नूतन मेघ वृद्धि को प्राप्त होते हैं, वैसे ही ब्राह्मणसंस्कार से सम्पन्न वे बालक थोड़े ही समयमें बड़े तेजस्वी होकर वृद्धि को प्राप्त हुए । सात वर्षकी अवस्था में उन्होंने सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥११–२२॥ जैसे निर्मल नक्षत्र आकाश में अपने तेज से शोभित होते हैं, वैसे ही वे वहाँ पर अपने तेजसे शोभित हुए । तदुपरान्त बहुत समय बीतनेपर उनके वे माता पिता अपने शरीर का त्यागकर उत्तम गति को प्राप्त हुए, क्योंकि वे प्रधानतम सद्गतिरूप ब्रह्म के ज्ञाता थे । पिता और माता के देहावसान के बाद माता और पिता से रहित दस बालक अत्यन्त खिन्न हुए और अपने घर का परित्याग कर कैलास पर्वत के शिखर पर गये । पिता, माता आदि बान्धवों से रहित अतएव दुःखी उन लोगों ने वहाँ पर विचार किया – इस जगत् में अत्यन्त सुख क्या है ? यह विचार कर उन्होंने अपने आपस में यह कहा : हे भाइयों, ऐहिक और पारलौकिक सुख के उपायरूप से कौन वस्तु स्वीकार करने योग्य है, ऐहिक सुखका कारण न होने पर भी परिणाम में दुःख न देनेवाला क्या है ? ॥२३–२६॥ क्या महत्त्व है, क्या ऐश्वर्य, क्या अत्यन्त शुभ महावैभव

है ? क्या इन लोगों का ऐश्वर्य भी कोई ऐश्वर्य है ? क्योंकि सर्वसाधारण गृहस्थों और ग्राम के नायकों की अपेक्षा सामन्त अधिक ऐश्वर्यवान् है। सामन्त की सम्पत्ति कौनसी सम्पत्ति हैं ? क्योंकि राजा लोग उनके ऐश्वर्य से कहीं अधिक ऐश्वर्य–सम्पन्न हैं ? राजाओं की सम्पत्ति भी कौन सम्पत्ति है ? क्योंकि उनकी अपेक्षा सम्राट् कहीं अधिक ऐश्वर्यवान् है। वह महेन्द्रत्व भी क्या वस्तु है, जो ब्रह्माके मूहूर्तमें नष्ट हो जाता है। जो वस्तु प्रलयमें नष्ट नहीं होती है, ऐसी कौन शोभन वस्तु यहाँ है ? ॥२७–२९॥ जब वे भाई परस्पर वैसा कह रहे थे, इतनेमें जैसे मृगयूथ से एक मृग अन्य मृगों से कहता है वैसे ही महामति ज्येष्ठभ्राता ने, जिसकी वाणी अत्यन्त गम्भीर थी, यह वचन कहा ॥३०॥ सम्पूर्ण ऐश्वर्यों में जो कल्पान्त तक यानी प्राकृत प्रलयपर्यन्त नष्ट नहीं होता, हे भाइयों, वही ब्रह्मात्व (हिरण्यगर्भता) यहाँ मुझे रूचती है और कोई वस्तु मुझे रूचिकर नही है ॥३१॥

भाग्यवश उन सबकी भी उसीमें रूचि हुई, ऐसा कहते हैं।

उसके इस वचनका उन सब इन्दुनामक ब्राह्मण के उत्तम पुत्रों ने अनेक साधुवादपूर्वक अपने अपने वचनों से अभिनन्दन किया ॥३२॥

रुचि होने के कारण उसका उपाय पूछते हैं।

और उन्होंने कहा : हे तात, जरा, मरण आदि सम्पूर्ण दुःखोंका जहाँ पर विनाश है, ऐसे पद्मासनरूप जगत्–पूज्य ब्रह्मत्व को (हिरण्यगर्भत्व को) हम शीघ्र कैसे प्राप्त होंगे ? ॥३३॥

जिज्ञासु अपने भाईयों को हिरण्यगर्भ अहंग्रह उपासना का सपरिकर उपदेश देने की इच्छा कर रहे उनके ज्येष्ठभ्राता ने पहले उसकी अंगभूत मरणपर्यन्त धारणा की दृढ़ता का उपदेश दिया, ऐसा कहते हैं।

उस ज्येष्ठ भाई ने उन विपुल तेजस्वी भाइयों से फिर कहा : तुम सभी लोग, जो मैं कहूँ, उसका अनुसरण करो। मैं पद्मासन में स्थित देदीप्यमान ब्रह्मा हूँ, अपने तेज से मैं सृष्टिकर्ता और संहारकर्ता हूँ, इस प्रकार तुम लोग चिरकालतक ध्यान करो। 'ज्येष्ठ भाई के ऐसा कहनेपर जो आप कहते हैं, वैसा ही हम लोग करेंगे।' – ऐसा कहकर वे सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणपुत्र अपने बड़े भाई के साथ ही हिरण्यगर्भोपासना से होनेवाले फलमें अत्यन्त राग होने के कारण ध्यानासीन होकर बैठ गये ॥३४–३६॥ चित्रपट में लिखे हुए–से ध्यानासक्त उन्होंने अपने अन्दर स्थित मन से ही बड़े आदर के साथ यह विचार किया ॥३७॥ खूब खिले हुए कमल के कोश का मुख ही मेरा उन्नत आसन है, मैं ब्रह्मा हूँ, मैं जगतों का रचयिता, कर्ता, भोक्ता, महेश्वर यानी नियन्ता हूँ, यज्ञमूर्तिरूप मेरे अन्दर यज्ञ करनेवाले महर्षि और शिक्षादि अंग एवं पुराण आदि उपांगों से युक्त सरस्वती तथा गायत्री के सहित वेद मूर्तिमान् होकर स्थित हैं। लोकपालों से परिवृत्त, सिद्ध मण्डलों के संचार से सुशोभित, उत्कृष्ट सौभाग्यशाली और देवांगनाओं के गान आदि की ध्वनि से विभूषित स्वर्ग मेरे अन्दर है। पर्वत, द्वीप, समुद्र और वचनों से अलंकृत त्रिलोकीरूपी नायिका के कानों का कुण्डलरूपी भूमण्डल मेरे भीतर है ॥३८–४१॥ दैत्य, दानवों से जिसका उदर परिपूर्ण है, ऐसा पाताललोक देवताओं की अप्सराओं से व्याप्त घर के समान गगनकोटर (घर)

मेरे अन्दर स्थित है ॥४२॥ यह महाबाहु इन्द्र, जो प्रजाओंको अलंकार प्रदान करनेवाले राजाओं में सर्वोत्तम है, त्रैलोक्यरूपी नगरी का अकेले पालन करता है और पवित्र यज्ञों का भोक्ता है, मेरे अन्दर है ॥४३॥ कान्तियों के जालरूपी पाशों से दिशाओं को बाँधकर रसों के आदान के लिए ये प्रचुर किरणोंवाले बारह सूर्य चैत्र आदि मासों के क्रम से मेरे अन्दर तप रहे हैं ॥४४॥ ये शुद्धवृत्तिवाले लोकपाल न्याययुक्त होने के कारण महती मर्यादाओं से लोककी ऐसे रक्षा कर रहे हैं, जैसे गोपाल गायों की रक्षा करते हैं ॥४५॥ जैसे जलों की तरंगें आविर्भूत होती हैं, तिरोभूत होती हैं, विविध विभव आदि से विराजित होती हैं, वैसे ही ये प्रजा प्रतिदिन आविर्भूत होती हैं, विनष्ट होती हैं, विविध प्रकार के वैभव से सुशोभित होती हैं और दरिद्रता, दोष आदि से इनका पतन होता है। यह भुवनेश्वर मैं इस सृष्टि की रचना करता हूँ और संहार करता हूँ तथा आदरणीय होकर पारमार्थिक स्वस्वरूप में स्थित हूँ, अतएव उपराम को प्राप्त होता हूँ ॥४६,४७॥ यह संवत्सर बीता, यह युग भी कूच कर गया, यह सृष्टि का समय है, यह संहारका समय है, यह कल्प बीत चुका है, यह ब्रह्मा की रात्रि फैली है, मैं आत्मा में यानी स्वस्वरूप में स्थित हूँ, पूर्णात्मा हूँ, परमेश्वर हूँ ॥४८,४९॥ इसके अनन्तर वे दस ऐन्दव ब्राह्मण इस प्रकार क भावित बुद्धि से पत्थर में खुदी हुई प्रतिमाओं की तरह बद्धासन होकर पर्वत के तुल्य अटलरूप से स्थित हुए ॥५०॥ हे ब्रह्मन्, तदनन्तर कुशासन में स्थित वे दस ऐन्दव, अपने में ब्रह्मा की कल्पना होने पर जिनकी अन्य तुच्छ वृत्तियाँ विनष्ट हो गई थी और जिन्होंने ब्रह्मा का क्रम (हिरण्यगर्भस्थान) प्राप्त कर लिया था, निरन्तर अत्यन्त सुशोभित हुए ॥५१॥

छियासीवाँ सर्ग समाप्त

सत्तासीवाँ सर्ग

मन से ब्रह्मा बने हुए उन लोगों की देह के राक्षसों द्वारा भक्षण करनेपर उनकी संहार और सर्ग में वैसी ही स्थिति रही, यह वर्णन।

श्रीसूर्य ने कहा : हे पितामह, तदनन्तर वे ऐन्दव ब्राह्मण उस उपासनाक्रममें बहुत भावना करने से भुवन, प्राणी, ग्राम आदिकी सृष्टि, पालन, संहार आदि तत्-तत् कर्मों से आपके समान व्यग्र चित्तवाले उसीमें अत्यन्त आसक्त होकर तब तक स्थित रहे, जब तक कि उनके कृश शरीर सूर्य के सन्ताप और वायु से चिरकाल तक सूखकर पुराने पत्ते के समान विनष्ट हो गये ॥१,२॥ वन में रहनेवाले मांसभक्षी पशु-पक्षियोंने, जैसे बन्दर सुन्दर फलों को खाते हैं वैसे ही, इधर उधर लुढ़के हुए उनके शरीरों को खा डाला ॥३॥ तदनन्तर वे ऐन्दव ब्राह्मण, जिन्होंने अपनी ब्रह्मता में यानी 'मैं ब्रह्मा हूँ' ऐसी भावना कर रक्खी थी और जिनका बाह्य व्यापार विरत था, तब तक स्थित रहे, जब तक अवशिष्ट चार युगों के अन्त में कल्प नष्ट हुआ ॥४॥ तदनन्तर कल्प के क्षीण होने पर और बारह आदित्यों के तपने पर, पुष्करावर्तनामक प्रलयकारी मेघों के खूब गर्जन-तर्जन के साथ वृष्टि करनेपर, कल्पान्त के वायुओं के बहनेपर, एकमात्र महार्णव के स्थित होने पर और सब प्राणियों के क्षीण होने पर वे ऐन्दव अपने मन से

कल्पित ब्रह्माण्ड में सृष्टि आदि में व्यग्र होकर स्थित रहे ॥५,६॥ तदनन्तर हे विभो, जब आप रात्रि के अतिक्रमण की प्रतीक्षा कर रहे थे और सम्पूर्ण स्थिति का संहार करके योगनिद्रा से आत्मा में स्थित थे, तब भी वे वैसे ही यानी सर्गादिव्यापार में व्यग्र होकर स्थित रहे ॥७॥ आज जब आप प्रलयरूप रात्रि से जागे और आपने संसार की सृष्टि करने की इच्छा की, उस समय भी वे उसी क्रम से स्थित हैं ॥८॥ हे भगवन्, इस प्रकार ये दस ऐन्दव ब्राह्मण दस ब्रह्मा हो गये। उन दसों के मनोरूप आकाशमें ये दस ब्रह्माण्ड स्थित हैं ॥९॥

इतने ग्रन्थ से 'कथमिदं जातम्' (कैसे यह उत्पन्न हुआ) इस प्रश्न का उत्तर देकर 'कस्त्वम्' (तुम कौन हो) इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

हे ब्रह्मन्, उन ऐन्दव सर्गों से एक ब्रह्माण्ड छिद्रभूत आकाशरूप मन्दिर में भूलोक में (तीनों लोकों में) कालविभागरूप कर्ममें नियुक्त मैं एक सूर्य हूँ ॥१०॥ हे ब्रह्मन्, यह दस ब्रह्माओं की सृष्टि मैंने आपसे कही और आकाश में दस ब्रह्माओं की उत्पत्ति भी कही, अब आप जो करना चाहते हैं, उसे कीजिये, क्योंकि उनकी सृष्टियों के रहते भी आपकी सृष्टि से कोई विरोध नहीं है ॥११॥

यदि कोई कहे विरोध क्यों नहीं है ? इस पर केवल मन की कल्पना होने से उनका सर्ग असत्य ही है, इस आशय से कहते हैं।

हे उत्तम, अनेक प्रकार की कल्पनाओं द्वारा आकाश को वेष्टित करनेवाला, बाह्य और आभ्यन्तर करणों का जाल के सदृश बन्धनरूप, आसक्ति से मोहित करनेवाला जो यह जगत दृश्य उत्पन्न हुआ है, वह सब उनके चित्त में भ्रान्तिमात्र ही है, वस्तुतः कुछ नहीं है ॥१२॥

सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठासीवाँ सर्ग

ब्रह्मा की अनासक्ति से सृष्टि-सिद्धि का वर्णन तथा
मन से दृढ़ बद्धमूल हुए कार्य की अन्य उपायों से अनिवृत्ति का वर्णन।

श्री ब्रह्माजी ने कहा : हे ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ वसिष्ठजी, 'हे ब्रह्मवित्तम ब्रह्माजी, वे दस ब्राह्मण ही दस ब्रह्मा हैं', ऐसा मुझसे कहकर भानु चुप हो गये ॥१॥ तदनन्तर उसके कथन को बहुत देर तक अपने मन से विचारकर मैंने कहा : हे भानो, मैं और क्या सृष्टि करूँ, यह आप मुझसे शीघ्र कहिए ॥२॥ हे सूर्य, जहाँ पर ये दस ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं, वहाँ पर मेरी सृष्टि से और क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है, इसको आप कहिए ॥३॥ हे महामुने, मेरे ऐसा कहने पर भानु ने अपनी बुद्धि से चिरकाल तक विचार कर इस विषय में यह युक्तियुक्त वचन मुझसे कहा ॥४॥

सूर्य ने कहा : हे प्रभो, आपको किसी प्रकार की इच्छा नहीं है, किसी प्रकार की चेष्टा करने की आवश्यकता नहीं है, आपको सृष्टि से क्या प्रयोजन है ? हे जगत्पते, फिर भी जो सृष्टि आप करते हैं, वह आपका केवल मनोविनोद मात्र है ॥५॥

हे प्रभो, निष्काम आपसे किसी प्रकार के मानसिक व्यापार के बिना ऐसे सृष्टि होती है, जैसे कि निर्मनस्क सूर्य से जलादित्यरूप सूर्य का प्रतिबिम्ब होता है ॥६॥ भगवन्, शरीर वपू अवयवसन्निवेश के त्याग में और उसमें अहम् अभिमान से राग करनेमें भी आपका भाव निष्काम है, वह न शरीरग्रहण से कुछ प्रेम करता है और न शरीरत्याग से द्वेष करता है ॥७॥ हे प्राणियों के पालक, फिर भी जैसे सूर्य दिन का संहार करके फिर दिन की सृष्टि करते हैं वैसे ही आप विनोद के लिए ही सृष्टि करते हैं ॥८॥ आसक्तिरहित यह जगत्–सृष्टि करना मेरा कर्तव्य ही है, यह सोचकर केवल मनोविनोद के लिए जगत्सृष्टिमें आपकी प्रवृत्ति होती है, किसी अपनी स्वार्थ की अभिलाषा से नहीं ॥९॥ हे महेश, अपना नित्यकर्म सृष्टि अगर आप नहीं करेंगे, तो नित्यकर्मोंके परित्याग से अतिरिक्त और क्या अदृष्ट आपको प्राप्त होगा ? ॥१०॥ इसलिए सत्पुरुष को आसक्ति किये बिना जो कर्तव्य प्राप्त हुआ हो, उसे करना चाहिए, जैसे कि कलंकरहित स्वच्छ दर्पण प्रतिबिम्बक्रिया को करता है ॥११॥ जैसे आत्मज्ञानियों की अप्राप्त कर्म करने में कामना नहीं होती है वैसे ही प्राप्त कर्म के त्यागमें भी कामना नहीं होती, क्योंकि कामनात्याग का कोई हेतु देखने में नहीं आता, इसलिए परमार्थरूप से कुछ न करनेके कारण सुषुप्ततुल्य और प्रतीतिरूप से तो करने के कारण स्वप्नतुल्य निष्काम बुद्धि से प्राप्त हुए कार्य को कीजिये ॥१२,१३॥ हे जगत्प्रभो, इन ऐन्दवों की सृष्टि से अपने पुत्र, पौत्र आदि सम्पत्ति की वृद्धि देखने से यदि आप सन्तोष को प्राप्त हो, तो हे देवाधिदेव ये ऐन्दव ब्राह्मण भविष्यमें भी सृष्टि से सन्तुष्ट होनेवाले आपको सन्तुष्ट करेंगे ॥१४॥

उनकी सृष्टि से मुझे सन्तोष हो, तथापि मेरी सृष्टि उनसे गतार्थ क्यों नहीं है ? इस पर कहते हैं।

भगवन्, आप अन्य की इन सृष्टियों को चित्तरूपी नेत्र से ही देखते हैं, चक्षुसे नहीं देखते। उनकी सृष्टि करनेवाला तो अपनी की हुई सृष्टि को 'मैंने यह रचा' यों अपने नेत्र से ही जानता है, इसलिए आपके नेत्रगोचर होनेवाली आपकी सृष्टि अन्य की सृष्टि से गतार्थ नहीं है ॥१५॥

तब तो ऐन्दव द्विजों की सृष्टि को ही मैं अपनी आँखों से देखूँ, इस पर कहते हैं।

हे परमेश्वर, जिस पुरुष ने मन से सृष्टि की, वही चर्मचक्षु से उस सृष्टि को देख सकता है, दूसरा नहीं देख सकता ॥१६॥

यदि ऐसा है, तो मेरे मन से दिखाई देनेवाली यह ऐन्दव सृष्टि वृथा है और मेरे प्रतिकूल है; इसलिए इसका मुझे विनाश कर देना चाहिए, इस पर कहते हैं।

इन दस ब्रह्माण्डों का और इनके रचयिता दस ब्रह्माओं का कोई भी विनाश नहीं कर सकता, क्योंकि ये चित्त की दृढ़ता से बहुत काल से स्थित हैं ॥१७॥ जो कर्म इन्द्रियों द्वारा किया जाता है, उसका विनाश हो सकता है, पर मन के निश्चय से किए हुए कर्म को कोई भी विनष्ट नहीं कर सकता ॥१८॥ हे ब्रह्मन्, प्राणी के मनमें जो निश्चय बद्धमूल हो गया, उसका उसके बिना दूसरा निवारण नहीं कर सकता ॥१९॥ बहुत काल से जिस वस्तु का अभ्यास किया गया हो तथा मनसे दृढ़ निश्चय किया गया हो, उसका महात्माओं के शाप से भी विनाश

नहीं हो सकता, देहका भले ही विनाश हो जाय, पर वह ज्योंका त्यों बना रहता है ॥२०॥ जो वस्तु बद्धमूल है और मनमें चारों ओर से आरूढ़ है, तद्रूप ही पुरुष होता है, उसका दूसरा रूप नहीं है। उसके बोध के सिवा अन्य उपाय शिला के टुकड़ों के समूहों को सींचने के तुल्य सर्वथा निष्फल है, ऐसी मेरी धारणा है ॥२१॥

अट्ठासीवाँ सर्ग समाप्त

नवासीवाँ सर्ग

बद्धमूल मन की अन्य प्रयत्नों से अविचलता का इन्दु और अहल्या की मनोवृत्ति से कथन द्वारा वर्णन।

भानु ने कहा : भगवन्, मन ही जगतों का रचयिता है, समष्टिभावापन्न मन ही परम पुरुष यानी हिरण्यगर्भ है। लोकमें जो कार्य मनसे किया गया हो, वही कृत है और शरीर द्वारा किया गया कुछ भी कृत नहीं है ॥१॥ मन की सामर्थ्य देखिए, ऐन्दव साधारण ब्राह्मण होकर भी मनकी भावना से ब्रह्मा के पद को प्राप्त हुए ॥२॥ मन से 'मैं तुच्छ देह हूँ' ऐसी भावना करने पर नर देहता को (जन्म, मरण आदि धर्मवत्ताको) प्राप्त होता है, और देहभावना से यदि युक्त न हो, तो जन्म, मरण आदि से पीड़ित नहीं होता ॥३॥ बाह्यदृष्टि यानी देह आदि में आत्मबुद्धि करनेवाले पुरुष को देह में सुख, दुःख आदि की प्राप्ति होती है, अन्तर्मुख होने के कारण (चेतन आत्मा को आत्मा समझने के कारण) योगी को देहमें प्रिय और अप्रिय का ज्ञान नहीं होता ॥४॥ इसलिए यह निश्चित हुआ कि सम्पूर्ण भ्रमों से पूर्ण जगत् मन से ही उत्पन्न हुआ है, इस विषय में इन्द्रका अहल्या के साथ जो वृत्तान्त हुआ हे, वह दृष्टान्त है ॥५॥ ब्रह्माजी ने कहा : भगवन् भानुजी, यहाँ पर कौन अहल्या है और हे तमोनाशिन् ! कौन इन्द्र है ? जिनका वृत्तान्त सुननेपर पवित्र दृष्टि प्राप्त होती है ॥६॥ सूर्य ने कहा : हे देव, सुना जाता है, प्राचीन समय में मगध देश में इन्द्रद्युम्न नामका राजा हुआ, जो पुराण में प्रख्यात राजा इन्द्रद्युम्न के समान प्रतापी था। जैसी चन्द्रमाकी रोहिणी भार्या है वैसी ही उसकी चन्द्रमण्डलकी कान्ति के समान कान्तिवाली कमल के तुल्य विशाल नेत्रवाली अहल्या नामकी भार्या थी ॥७,८॥ उसी नगर में सम्पूर्ण विटों में श्रेष्ठ और विटविद्यामें कुशल इन्द्रनामक कोई विट ब्राह्मणकुमार रहता था ॥९॥ पटरानी अहल्या ने कहीं पर कथा के प्रसंग से पहले अहल्या (गौतमपत्नी) इन्द्रकी इष्ट हुई थी, ऐसा सुना था ॥१०॥ ऐसा सुनकर अहल्यानामक राजा की पत्नी इन्द्रनामक विटपर अनुरागिणी हुई। तदनन्तर मुझपर आसक्त वह इन्द्र मुझ अहल्या के पास क्यों नहीं आता इस प्रकार वह उत्कण्ठित हुई ॥११॥ वह बाला कमलनालों के समूह तथा केले के पल्लवों के बिछौने पर वनमें जैसे कटी हुई लता सन्तप्त होती है, वैसे ही अत्यन्त सन्तप्त होती थी ॥१२॥ जैसे ग्रीष्म ऋतुमें सन्तप्त वनभूमि में मछली तड़पती है वैसे ही सकल राजसम्पत्तियों में उसे खेद होता था यानी सम्पूर्ण राजविभूतियाँ उसको भली नहीं लगती थी ॥१३॥ यह इन्द्र है, यह इन्द्र है, इस प्रकार वह प्रलाप करती थी। कामदेव की पराधीनता को प्राप्त हुई उसने लज्जा का भी परित्याग कर दिया था ॥१४॥ उसकी वैसी दुरवस्था देखकर

दुःखित हुई उसकी एक सखी ने उससे बड़े प्रेम के साथ कहा : प्रिये, इन्द्र को मैं बिना किसी प्रकार की विघ्नबाधा के तुम्हारे समीप लाती हूँ। तुम्हारे इष्ट को तुम्हारे समीप लाती हूँ। यह सुनकर उसकी आँखें विकसित हो गई, जैसे मुरझाई हुई नलिनी (कमल) के पैर पर गिरती है, वैसे ही वह सखी के पैरपर गिर पड़ी। तदनन्तर दिन के बीतने पर जब सन्ध्या हुई तब उसकी वह सखी इन्द्रनामक उस ब्राह्मणबालक के पास गई॥१५-१७॥ वह सखी इन्द्र को युक्तिपूर्वक समझा-बुझाकर रात्रिमें अहल्याके निकट शीघ्र ले आई। तदनन्तर किसी एक गुप्त घरमें बहुतसी फूलमालाएँ और अंगराग से विभूषित वह अहल्या जैसे गौतमपत्नी अहल्या इन्द्र के साथ रतिको प्राप्त हुई थी वैसे ही उस इन्द्रनामक विट के साथ रति को प्राप्त हुई॥१८,१९॥ जैसे वसन्त लता को रस से अपने अधीन करता है, वैसे ही हार, केयूर आदि से मनोहर उस विट से, वह तरूणी सुरतोचित क्रीडाओं द्वारा अपने वश में की गई। तदनन्तर इन्द्रनामक विटपर अनुरक्त हुई सम्पूर्ण जगत् को तन्मय देखती हुई उसे समस्त गुणों से पूर्ण अपना पति रूचिकर नहीं हुआ॥२०,२१॥ कुछ समय के बाद राजा को उस अहल्या के मुखरूपी आकाश को प्रकाशित करनेवाली इन्द्रानुरागिता ज्ञात हुई॥२२॥ जितने समय तक वह इन्द्रका ध्यान करती थी, उतने समय तक उसका मुख ऐसा शोभित होता था, जैसे कि पूर्ण चन्द्रमा से विकसित कुमुद सुशोभित होता है॥२३॥ इन्द्रकी भी समस्त इन्द्रियाँ उसपर आसक्त थी, अतः वह बड़ा व्याकुल रहता था, उसके बिना कहीं पर भी एक क्षण नहीं रह सकता था॥२४॥ तदुपरान्त अत्यन्त प्रगाढ़ स्नेह होने के कारण प्रकाशरूप से कामचेष्टावाले उन लोगों का दुर्विनय, जो कि अत्यन्त व्यथा पहुँचानेवाला था, राजा के कानों तक पहुँचा॥२५॥ राजा ने उनका परस्पर अत्यन्त आसक्तिवाला भाव देखकर बहुत से दण्डों से उन दोनों का शासन किया॥२६॥ उन दोनों को हेमन्त ऋतुमें तालाब में छोड़ा, फिर भी वे बड़े सन्तुष्ट होकर हँसते थे, वहाँ उन्हे तनिक भी दुःख नहीं हुआ॥२७॥ तदनन्तर राजा ने उनसे पूछा : 'हे दुर्मतियों, तुम खिन्न हो या नहीं', जलाशय से निकाले गये उन दोनों ने राजा से कहा : हे राजन्, परस्पर की अनिन्दित मुखकान्तिका स्मरण करके यहाँ पर हम लोगोंने परस्पर बद्धप्रेम अपनी आत्मा को नहीं जाना॥२८,२९॥ चूँकि हम लोगों का संग यानी मन का सम्बन्ध निःशंक है यानी पृथक् होने की शंका से रहित है, इसलिए हे राजन्, आपके द्वारा किये गये उत्पीड़न आदि दण्डों में अंगों के छेदन से भी हम लोग हर्षित रहते हैं, खिन्न नहीं होते॥३०॥ तदनन्तर वे भाड़ में (भडभूँजे की भट्ठी में) झोंके गये, वहाँ पर भी प्रसन्न ही रहे। उन्होंने पहले की तरह राजा से कहा : परस्पर की स्मृति से हर्षित होकर वहाँ पर भी हम सुखी रहे। तदुपरान्त हाथी के पैरों में बाँध दिये गये। वहाँ पर भी पूर्ववत् वे प्रसन्न रहे। परस्पर स्मृति से हर्षित होकर उन्होंने राजा से फिर वैसे ही कहा। कोड़ों से पीटे गये फिर भी वे खिन्न न हुए, पहले की तरह फिर भी उन्होंने राजा से कहा। राजा से दिये गये अन्यान्य दण्डों से पुनः पुनः निकाले गये उन्होंने पूछने पर फिर-फिर वैसे ही उत्तर दिया। इन्द्र ने राजा से कहा : राजन्, सम्पूर्ण जगत् मेरे लिए दयितामय है, दुःखहेतु शरीरच्छेदन आदि मुझे कुछ भी दुःख नहीं देते। हे राजन्,

इसका भी सम्पूर्ण जगत् मन्मय हो गया है, इसलिए अन्य पीडन से भी हम लोगों को कुछ दुःख नहीं होता है। हे राजन्, मैं मनोमात्र हूँ और मन ही पुरुष कहा गया है ॥३१–३६॥ यह देह मन का विस्तारमात्र ही देखा जाता है। यदि कहिए मैं मन को ही दण्ड से नष्ट कर डालूँगा, तो उसपर कहते हैं–एक काल में प्रयुक्त अनेक दण्डों से इस वीर मन का तनिक भी भेदन नहीं किया जा सकता। हे राजन् वे किसकी और कैसी शक्तियाँ हैं, जिनसे वे भी मन, जिनका कि तद्भावापरिक्तरूप निश्चय अनुभूत है, भिन्न किये जाते हों। देह चाहे वृद्धि को प्राप्त हो, चाहे नष्ट भ्रष्ट हो जाय, किन्तु विचारित (भावित) अर्थ के अभिमुख हुआ मन पूर्ववत् स्थिर रहता है। हे राजन्, अपने इष्ट अर्थ चिरकाल से अभिनिविष्ट (आग्रहयुक्त) और उसमें स्थित मन को शरीर में स्थित भाव और अभाव पीड़ित करने के लिए समर्थ नहीं होते। हे राजन्, तीव्रवेगवाले मन से जो वस्तु भावित होती है, उसीको पुरुष स्थिररूप से देखता है, शरीर द्वारा किये गये कार्य को नहीं देखता। हे राजन्, महात्माओं की वर, शाप आदि कोई भी क्रियाएँ तीव्रवेग से युक्त मन को उसके अभीष्ट पदार्थ से विचलित नहीं कर सकती। जैसे मृग महा पर्वत को विचलित नहीं कर सकते, वैसे ही पुरुष तीव्रवेग से युक्त मन को अपने अभीष्ट पदार्थ से विचलित करने में समर्थ नहीं होते। जैसे बहुत ऊँचे देवालयमें भगवती देवी प्रतिष्ठित होती है, वैसे ही यह सुन्दरी मेरे मनःकोष में प्रतिष्ठित है। मेरे जीवनकी रक्षा करनेवाली इस प्रिया से युक्त मैं दुःख का अनुभव वैसे ही नहीं करता, जैसे कि शिखर पर स्थित मेघमाला से युक्त पर्वत ग्रीष्मऋतु की तपन का अनुभव नहीं करता। हे राजन्, मैं जहाँ–जहाँ रहता हूँ अथवा गिरता हूँ, वहाँ पर इच्छित पदार्थ के लाभसे अतिरिक्त तनिक भी किसीका अनुभव नहीं करता। अहल्यारूप प्रिया नामवाले मनसे इन्द्र नामक मन ही भलीभाँति संबद्ध होकर यानी एक ही मन दो वेषों से अहल्या और इन्द्ररूप से दृढ़ता से सम्बद्ध होकर स्वभाव से अतिरिक्त अन्य विषयको प्राप्त नहीं होता यानी सैंकड़ों प्रयत्नों से भी उसका स्वभाव दूसरे रूप में परिणत नहीं किया जा सकता। हे राजन्, धीर का मन एक कार्यमें निविष्ट (एकाग्र) होता है। वह महात्माओं के वर और शाप के प्रभाव से भी मेरु की तरह चलित नहीं होता। देह वर और शाप से अन्यता को प्राप्त होती है, किन्तु धीर मन सम्पूर्ण विक्षेपों के विजिगीषु के रूप से स्थिर रहता है ॥३७–४९॥

यदि कोई कहे की देह ही मन का कारण है, देह उत्पीड़न होने पर मनका उत्पीड़न क्यों नहीं होता ?

हे राजन्, ये दिखाई दे रहे प्राणियों के शरीररूपी टुकड़े, जो कि वृथा उत्पन्न हुए हैं, मन के कारण (उत्पादक) नहीं है, किन्तु मन ही इन शरीरों का ऐसा कारण है, जैसे जल सम्पूर्ण वनों की लताओं के रस का कारण होता है ॥५०॥ हे महात्मन्, मन आत्मा का पहला भोगायतन है, यह समझिए और उसने जगत् में सम्पूर्ण शरीरों की कल्पना कर रक्खी है। इस पुरुष का वह आद्य भोगायतन मन जहाँ–जहाँ पर 'अहम्' इस अभिमान से आविर्भूत होता है, उससे तत्–तत् शरीर का आकार उत्पन्न होता है, अन्य नहीं होता ॥५१॥

उक्त अर्थ का ही दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हुए कहते हैं।

हे सुभग, मन को ही मुख्य अंकुर जानिये। उससे वृक्षके पल्लव आदि के तुल्य पुरुष की देह उत्पन्न हुई है, फैली है। अंकुर के नष्ट होने पर फिर पल्लव शोभा उदित नहीं होती, किन्तु पल्लवों के क्षीण होने पर अंकुर का कदापि नाश नहीं होता ॥५२॥

इसीलिए देह का नाश होने पर भी पुनः पुनः देह की उत्पत्ति होती है, किन्तु चित्त का नाश होने पर कैवल्य ही होता है, फिर उत्पत्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

देह के नष्ट होने पर भी मन अनेक देहों को उत्पन्न करता है, जैसे कि स्वप्नभूमि में चित्त नये–नये स्वप्नों को दर्शाता है और चित्त के नष्ट होने पर तो शरीर किसीका भी उत्पादन नहीं करता, इसलिए सम्पूर्ण पदार्थों के हेतुभूत चिन्तामणि के सदृश मनकी परमपुरुषार्थसाधनरूप से रक्षा कीजिए। अपने तुच्छ क्रोध आदि के कारण उसका विनाश न कीजिए, यह अर्थ है ॥५३॥

जो बात पहले कही थी, उसीका समुचितरूप से अनुवाद कर उपसंहार करते हुए दण्ड में प्रयत्न की विफलता को दर्शाते हैं।

हे राजन्, प्रिय युवती मेरे मन में स्थित है, अतएव प्रत्येक दिशामें उसको मैं देखता हूँ और नित्य आनन्द में हूँ। तुम्हारे नगर के अन्तर्गत तुम्हारे सेवक आदि में जो मुझे दुःख देनेवाले कशाघात, शस्त्राघात आदि हैं, उनके फलभूत दुःखको एक क्षणभर अथवा बहुत देरी तक मैं कुछ भी नहीं देखता ॥५४॥

नवासीवाँ सर्ग समाप्त

नब्बेवाँ सर्ग

भरतमुनि के शाप से उनके देहों के नष्ट होने पर भी उनके मनकी तन्मयता नष्ट न हुई, यह वर्णन।

भानु ने कहा : हे ब्रह्मन्, तदनन्तर इन्द्रनामक विट के ऐसा कहनेपर कमल के तुल्य नेत्रवाले उस राजा ने समीपमें स्थित भरत नाम के ऋषिजी से कहा ॥१॥ राजा ने कहा : हे भगवन्, आप सम्पूर्ण धर्म के मर्म को जाननेवाले हैं। मैं मेरी पत्नीका अपहरण करनेवाले इस दुरात्मा के मुख में अत्यन्त घृष्टता देखता हूँ॥२॥ हे महामुने, आप इसके पाप के अनुरूप इसे शीघ्र शाप दीजिए, क्योंकि यदि इसको दण्ड न दिया जाय, तो मारने योग्य पुरष के त्याग से वही पाप होता है, जो कि अवध्य के वध से होता है, इसलिए इसे दण्ड देना आवश्यक है ॥३॥ श्रेष्ठ राजा के ऐसा कहनेपर मुनिवर भरत ने उस दुरात्मा के पापका पूर्वापर से यथायोग्य विचार कर, हे दुर्बुद्धे ! पति के द्रोह से पतित इस पापिन के साथ तू विनष्ट हो जा', ऐसा शाप दे दिया ॥४,५॥ तदनन्तर उन दोनों ने राजा और भरत के प्रति यह वचन कहा : तुम दोनों अत्यन्त दुर्मति हो, क्योंकि तुम लोगोंने अपने शाप से अपना कठिन तप नष्ट किया है और तुम लोगों के शापदान से हमारा कुछ भी होनेवाला नहीं है। हम लोग मनरूपी हैं, देह के नष्ट होने पर भी हम लोगों का कुछ भी नष्ट नहीं होगा। तुम निश्चित समझो, मनका कोई कहीं पर भी विनाश नहीं कर सकता, क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म है, चिन्मय है और अन्य लोगों से दुर्लक्ष्य

है ॥६–८॥ भानु ने कहा : ब्रह्मन्, अत्यन्त प्रगाढ़ स्नेह से जिनका मन सम्बद्ध है, ऐसे वे दोनों शाप से वृक्ष से गिरे हुए पल्लवों की तरह पृथ्वी पर गिर पड़े यानी मर गये ॥९॥ तदनन्तर दृढ़ विषयराग से बँधे हुए वे दोनों मृगयोनि में गये, तदनन्तर वे दृढ़ विषयराग से बद्ध होने के कारण फिर पक्षी हो गये ॥१०॥ तदनन्तर बहुत जन्मों के बाद हे प्रभो, हमारे ब्रह्माण्ड में परस्पर सम्बन्ध की भावनावाले वे दोनों तपस्यामें निरत बड़े पुण्यात्मा ब्राह्मणदम्पती हुए ॥११॥ भरत का वह शाप उनके शरीरमात्र के विनाश में समर्थ हुआ और मनके निग्रहमें समर्थ नहीं हुआ। वे आज भी उसी मोह संस्कार के कारण जहाँ–जहाँ उत्पन्न होते हैं, वहाँ दम्पती ही होते हैं ॥१२,१३॥ अकृत्रिम प्रेमरस से पूर्ण उनके उस सुन्दर स्नेह को देखकर वृक्ष भी प्रेमरस से युक्त होकर श्रृंगारचेष्टायुक्त होते हैं, फिर औरों की तो बात ही क्या है ?॥१४॥

नब्बेवाँ सर्ग समाप्त

इक्यानबेवाँ सर्ग

भानु को मनु बनाकर ब्रह्मा की सृष्टि का और ऐन्दवों की सृष्टि के समान विश्व की मनोमात्रविलासता का निरूपण।

भानु ने कहा : हे भगवन्, चूँकि भरत का शाप मनोनिग्रह में समर्थ नहीं हुआ, इसलिए मैं यह कहता हूँ, मन अत्यन्त कठिन शापों से भी निग्रह के अयोग्य और अभेद्य है ॥१॥ इसलिए ऐन्दवों की सृष्टियों का विनाश आप नहीं कर सकते, चूँकि आप महात्मा हैं, इसलिए आपके लिए उनका विनाश करना अयुक्त भी है ॥२॥ हे नाथ, इस संसार में और विविध संसारों में वह कौनसी वस्तु है, जो कि महात्मा और सबके स्वामी आपकी दीनता के लिए हो ? यानी मेरी सृष्टि वृथा है, ऐसा समझकर आपको दीनता का अवलम्बन नहीं करना चाहिए ॥३॥ मन जगतों का कर्ता है, मन पुरुष कहा गया है। जो मनके निश्चय से किया गया है, उसका द्रव्य, औषधि, दण्ड आदि से विनाश नहीं किया जा सकता। जैसे कि मणि के प्रतिबिम्ब का विनाश नहीं किया जा सकता, इसलिए ये ऐन्दव द्विज यहाँ पर देदीप्यमान अपनी सृष्टि भ्रान्तियों के साथ स्थित रहें ॥४,५॥

तब मेरी सृष्टि के लिए अवकाश कहाँ है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

आप इस अनन्त स्वचित्ताकाश में प्रजा की सृष्टि करके स्थित होइए, क्योंकि चित्ताकाश, चिदाकाश और परमाकाश, ये तीनों अनन्त हैं और ये तीनों चिदाकाश से प्रकाशित हैं। हे जगत्पते, आप एक, दो, तीन अथवा बहुत सृष्टियों को कीजिए और इच्छानुसार अपनी आत्मा में स्थित होइए। ऐन्दवों ने आपका क्या ग्रहण किया है ? ब्रह्माजी ने कहा : हे महामुने, तदनन्तर ऐन्दव जगतों के विषयमें भानु के ऐसा कहने पर चिरकाल तक विचार कर मैंने यह कहा : हे भानो, तुमने बहुत युक्तियुक्त कहा, क्योंकि पूर्वोक्त चार प्रकार का आकाश विस्तृत है, मन भी विस्तृत है और चिदाकाश भी विस्तृत है, इसलिए अपने अभिमत नित्यकर्मरूपी सृष्टि को मैं करता हूँ ॥६–१०॥ हे भास्कर, मैं शीघ्र अनेक प्राणियों के समूहों की रचना करता हूँ,

इसलिए हे भगवन्, आप ही शीघ्र मेरे पहले मनु होइए ॥११॥ मेरे द्वारा प्रेरित होकर आप अपनी इच्छानुसार सृष्टि कीजिए। तदुपरान्त हे तपस्विश्रेष्ठ, महा तेजस्वी सूर्य ने मेरे इस वाक्य को स्वीकार कर अपने दो स्वरूप बना डाले। पहले के एक स्वरूप से वह ऐन्दवसृष्टि में सूर्यता को प्राप्त हुए व्योममार्गगामी होकर उन्होंने उस स्वरूप से दिनपरम्परा का निर्माण किया और दूसरे स्वरूप से शीघ्र मेरे लोकका मनुत्व स्वीकार कर मेरी अभीष्ट तत्-तत् सब सृष्टियों की रचना की ॥१२-१५॥ हे मुने, यह सब मैंने आपसे महात्मा मनका स्वरूप कहा तथा मनकी सर्व कारिता और सामर्थ्य का वर्णन किया ॥१६॥ जो-जो वस्तु इस चित्त में स्फुरण को प्राप्त होती है, वह सब आविर्भाव को, स्थिरता को और सफलता को प्राप्त होती है ॥१७॥ साधारण ब्राह्मण होकर भी मनकी भावना के कारण ऐन्दव ब्राह्मण ब्रह्मता (ब्रह्मा के पद) को प्राप्त हुए, यह मन का सामर्थ्य है ॥१८॥ जैसे ऐन्दव जीव चिद्भाव से चित्तत्व को प्राप्त कर चित्तत्व से हिरण्यगर्भता को प्राप्त हुए, वैसे ही हम भी चिद्भाव से चित्तत्व को और चित्तत्व से ब्रह्मता को प्राप्त हो गये। चित्त प्रतिभासस्वरूप है, उसका जो प्रतिभासन है, वही देहादिरूप से प्रतीत होता है। इसलिए देहादि मन ही हैं। देहप्रतीति चित्त से अन्य नहीं है। चित्त अपने में विविध कल्पनाओंसे युक्त है और वह उनकी रचना करता है। यदि कोई कहे कि यदि ऐसा है, तो सबका मन एकसी ही कल्पना क्यों नहीं करता, तो यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि काम, कर्म और वासना के अनुसार जिस समय जिसके लिए जैसा संभव होता है, उस समय उसके लिए उतना ही उस प्रकार होता है, जैसे कि मिर्चा कटुता से ही अपने अन्दर परिणाम को प्राप्त होता है, निम्ब तिक्तरूप से परिणत होता है और द्राक्ष मधुरता से ही ये सब अपने अपने संस्कार से व्यवस्थित हैं, वैसे ही मन भी तत्-तत् समय में तत्-तत् वस्तु की अपने में ही रचना करता है ॥१९-२१॥

इसलिए सब लोग मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ इत्यादि देह के नाम से अपने को कहते हैं, एकरूप से नहीं कहते हैं, ऐसा कहते हैं।

इसलिए चित्त के समान प्रतीत आतिवाहिक सूक्ष्म देह को ही स्थूलता की भ्रान्ति से युक्त होने पर लोग तत्-तत् देह के नाम से कहते हैं ॥२२॥ सूक्ष्म वासनावाला यह चित्त जीव कहलाता है और स्थूलताभ्रम से युक्त यह चित्त देह कहलाता है, इस भेद के क्रम से जिसमें तीनों देहों का (कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल देहों का) चमत्कार विनष्ट हो गया, उस जीवको आप परब्रह्म ही समझिए ॥२३॥ हे वसिष्ठजी, इस प्रकार तन्तुओं से पट की तरह किसीकी भी देह चित्त से पृथक् नहीं है। न मैं हूँ, न अन्य है, यह सब विचित्र चित्त ही स्थित हैं। ऐन्दवों की संवित् के समान असत् ही चित्त सत्ता को प्राप्त हो गया है ॥२४॥

उनके द्वारा दूसरी सृष्टि की गई है, यह भी मेरे चित्त की ही कल्पना है, इसलिए वह सृष्टि भी मैं ही हूँ, ऐसा कहते हैं।

जैसे ऐन्दवों का मन ब्रह्मा है, वैसे ही यह मैं भी मन की कल्पना से ब्रह्मा होकर स्थित हूँ, उनके द्वारा की गई संकल्पात्मक सृष्टि भी मैं ही हूँ। कोई चित्त का विलासरूप यह मैं ब्रह्मारूप

से स्थित हूँ। परमात्मा ही सम्पूर्ण प्रपंचों से शून्य चिदाकाश से मानों पृथक् होकर देहादिरूप से प्रतीत होता है, ऐसा जानो ॥२५,२६॥ परमार्थरूपिणी शुद्ध चिति ही इस प्रकार भावना करने से जीव, तदनन्तर मन होकर व्यर्थ इस प्रकार देहता का अनुभव करती है ॥२७॥ चिद्–वपु चेतन परमात्मा ही ऐन्दवों के संसार की नाईं सर्वात्मरूप से प्रतीत होता है जैसे अपने अज्ञान से उत्पन्न हुआ स्वप्न दीर्घकालिक होकर जाग्रतस्वरूप प्रतीत होता है वैसे ही चैतन्यस्वरूप परमात्मा सर्वात्मरूप से प्रतीत होता है ॥२८॥ चूँकि सूक्ष्मतम वासनामय शब्दतन्मात्राओं के अध्यास से इस जगत् की उत्पत्ति हुई है, इसलिए यह ऐन्दवों के चित्ताकाश के समान ही उत्पन्न हुआ है। यह दो चन्द्रमाओं के भ्रम के तुल्य असत् ही है ॥२९॥

यदि उदासीन चित्त से ही इस सबकी उत्पत्ति है, तो देहादि में अहन्ता के अभिमान से यह अनुदासीनरूप कैसे प्रतीत होता है ? इस पर कहते हैं।

जो अहंरूप उदासीन–स्वभाव अनुभूत होता है, वह सत् नहीं है, क्योंकि सर्वत्र चित्त के कार्यों में उसका दर्शन नहीं होता और वह असद् भी नहीं है, क्योकि असद् की उपलब्धि नहीं होती, इसलिए वह सत्ता–असत्तारूप है यानी सत्रूप होने से वह सत् ही है, असत्स्वरूप होने से वह असत् ही है, कहीं पर उसकी प्रतीति होती है, अतएव वह सत्–सा प्रतीत होता है, कहींपर उसकी उपलब्धि नहीं होती, अतः असत्स्वरूप है यों विरूद्धस्वभाववाला प्रतीत होता है, इसलिए वह मायिक ही है, यह अर्थ है ॥३०॥

इस प्रकार जड़ाजड़ विरूद्धस्वभाव होने से भी मन मायिक ही है, ऐसा कहते हैं।

संकल्परूपी विपुलाकार मन को जड़ और अजड़–स्वरूप जानिए, ब्रह्मरूप होने के कारण वह अजड़ है और दृश्यरूप होने से जड़ है ॥३१॥

वह कब दृश्यरूप होता है और कब ब्रह्मरूप होता है ? यदि ऐसी किसीको शंका हो, तो इस पर कहते हैं।

मन दृश्य के अनुभव कालमें दृश्यकी तरह स्थित रहता है। सत्य आत्मा के सद्भाव में ब्रह्म के अनुभव से अतिरिक्त उसका विलास नहीं रहता, अतः ब्रह्म ही है, जैसे सुवर्ण में कटकत्व हाथ के अलंकरणरूप कार्य की दृष्टिसे सुवर्ण से पृथक् होता हुआ भी सुवर्णदृष्टि से सुवर्ण ही रहता है, वैसे ही मन भी ब्रह्मरूप से स्थित रहता है ॥३२॥

इस प्रकार जगत् भी जड़ाजड़रूप विरूद्धस्वभाव होनेसे मायिक ही है, ऐसा कहते हैं।

ब्रह्म सर्वमय है; इस प्रकार सभी जड़ और सभी चिन्मय ही है। ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (चींटी) पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् जड़ाजड़ धर्मशून्य है। युक्तिरूप दृष्टि से देखने पर एकमें उक्त उभयविधता असंभव है, ऐसा बोध होता है सही, पर परमार्थदृष्टि से तो वह धर्मशून्य है। अर्थात् परम तत्त्व में जड़त्व और चेतनत्वरूप किसी भी धर्म की स्थिति सिद्ध नहीं हो सकती ॥३३॥

यह जड़ है अथवा यह चेतन है यह व्यवस्था अनुपलब्धि के समय होती है या उपलब्धि के बाद ? पहले पक्ष में उपलब्धि का ही सम्भव न होने से उसकी सत्ता सिद्ध होती ही नहीं है,

उसकी जड़ता और अजड़ता का विचार तो दूर रहा, इस आशय से कहते हैं।

वृक्ष आदि पदार्थ चिन्मय नहीं है, अतः उनकी उपलब्धि का सम्भव नहीं है, क्योंकि सदृश वस्तुओं की (प्रमातृचैतन्य और प्रमेयचैतन्य की) सदृश सम्बन्ध से वृत्तिद्वारक ऐक्य सम्बन्ध से उपलब्धि होना प्रसिद्ध है। केवल जड़ैक्यरूपवाद में तो प्रमेयचैतन्य ही नहीं है, फिर उसके उपलम्भ (प्रत्यक्ष ज्ञान) का संभव कैसे ? ॥३४॥

भाव यह है कि विषयावच्छिन्न चैतन्य और मनोवच्छिन्न चैतन्य के इन्द्रिय द्वारा अभिन्न यानी अपृथक् होने पर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जो वस्तु दूर है, इन्द्रियगोचर नहीं है, उसका अनुमान आदि से ज्ञान होने पर भी वह परोक्ष है प्रत्यक्ष नहीं है। यही दर्शनशास्त्र की प्रक्रिया यहाँ पर दर्शाई गई है।

दूसरे पक्ष में कहते हैं।

प्रमेय का उपलम्भ में अन्तर्भाव होने पर उपलम्भ के विषय पदार्थ की चित्स्वभावता ही अवशिष्ट रहती है, इसलिए इस सबको अजड़ ही यानी चेतन ही समझो, क्योंकि पूर्वोक्त दो चैतन्यों का (प्रमातृचैतन्य और प्रमेयचैतन्य का) वृत्तिद्वारक ऐक्यलक्षण सम्बन्धसे ही उपलम्भ होता है, ऐसी अवस्थामें उपलम्भ न होने पर तथा उपलम्भ होने पर जड़चेतनभेद दुर्घट है ॥३५॥

जड़ और चेतन के भेद के दुर्घट होने पर जो फलित अंश निकला, उसे कहते हैं।

जैसे महामरु में पत्ते, लता आदि नहीं रहते, वैसे ही अनिर्देश्य पदमें जड़त्व, चेतनत्व आदि शब्दार्थ नहीं है ॥३६॥

उस चित् की चेत्याकार कल्पना ही मनस्त्व है। उसीमें जड़ाजड़ विकल्प होता है, उस जड़ाजड़ के विकल्प का विवेक ही निर्मनस्कता है, इस आशय से कहते हैं।

चित् की जो चेत्याकार कल्पना है, वही मनस्त्व कहा गया है, उसमें जो चिद्भाग है, वह अजड़ है और चेत्यांश में जाड्य (जड़त्व) है ॥३७॥ इसमें चिद्भाग ज्ञानांश है और चेत्यभाग जड़ दिखाई देता है। इस प्रकार जगद्भ्रान्तिको देखता हुआ जीव चंचलता को प्राप्त होता है यानी इसमें चैतन्यरूप आत्मांश की विस्मृति होनेसे जड़स्वरूप जीव-जगत्का भ्रम उत्पन्न हुआ है ॥३८॥ चित्त में स्थित चित्स्वभाव ही चित्त और जगत् इस भेद से दो प्रकार का किया गया है। इसलिए एकमात्र चिद्बुद्धि से ज्ञात यह सम्पूर्ण जगत् चित् ही है और द्वैतबुद्धि से ज्ञात भी यह जगत् चित् ही है ॥३९॥ निर्विभाग भी चेतन अन्यरूप दृश्यरूप से स्वगतभेदतुल्य अपने शरीर को देखकर भ्रमसे आर्त होकर भटकता है ॥४०॥ वास्तव में यहाँ न भ्रान्ति है, न भ्रान्तियुक्त पुरुष है, यह निश्चय है, किन्तु परिपूर्ण सागर के तुल्य स्थित हुई चिति ही जगद्भ्रान्ति आदिरूप से जानती है यानी अनुभव करती है ॥४१॥ इस चिति का सर्वरूप (जगद्रूप) जाड्य भी चिति ही है, क्योंकि उस जाड्य में तुमको चित्त्वका अनुभव होता है, यदि उसे अचिदेकस्वभाव ही माना जाय, तो उसका स्फुरण नहीं होगा और स्फुरण न होनेसे जाड्य की भी सिद्धि नहीं होगी, जैसे जड़में अवबोध है, वैसे ही चेतनमें जड़भाग भी है, ज्ञानका अंश चिद्भाव है और जड़ता का उदय अहन्ता है ॥४२॥

यदि कोई शंका करे कि अहन्ता में जड़ता कैसे है ? तो उसपर ब्रह्म से व्यावृत्त होने के कारण वह जड़ है, ऐसा कहते हैं।

पर तत्त्व में अहन्ता आदि तनिक भी नहीं है, क्योंकि वह चिदेकरस है, जैसे जलमें लहर आदि पृथक् नहीं हैं, वैसे ही वह केवल संविदेकरस है ॥४३॥

इसीलिए अहन्ताकी असत्ता भी है, ऐसा कहते हैं।

आविर्भाव को प्राप्त हुआ जो चैत्य है, उसे अहन्ता से दिखाई देनेवाला जानो, वह मृगतृष्णिका के जलके अनुरूप है। वस्तुतः वह है ही नहीं। सम्पूर्ण द्वैत का बाध होने पर भी विनष्ट न होनेवाले आत्मतत्त्व को अहन्ता का अनाश्रय जानिये और उस निरामय ज्ञानरूप चित्स्वभाव को ही लोग वासना से घनीभूत अहन्तादिरूप से जानते हैं, जैसे कि शीतलता को ही घनीभाव होने पर हिम रूप में देखते हैं ॥४४,५५॥ स्वप्न में अपने मरण के तुल्य चेतन ही जाड्य को प्राप्त करता है। सबके आत्मस्वरूप होने के कारण सम्पूर्ण शक्तियों का आविष्कार करता हुआ चेतन ज्ञान की दृढ़ता के बिना समता को प्राप्त नहीं होता ॥४६॥ पदार्थ आदिरूप से सर्वरूप मन ही वृद्धि को प्राप्त होता है, नाना प्रकार का चित्रूपी यह आतिवाहिक देह आकाश के समान निर्मलाकृति है ॥४७॥

इसका किस प्रकार ज्ञान हो सकता है ? इसका उपाय कहते हैं।

स्थूल देह आदिरूप तीन देहों की प्रतिभारूपता का त्याग कर रहे अधिकारी चित्तको ही प्रतिभासात्मक (प्रातिभासिक) चित्तका स्वयं विचार करना चाहिए ॥४८॥

विचाररूप शोधन करने पर चित्त क्या होता है ? यह कहते हैं।

चित्तरूपी ताँबे का शोधन करनेपर जब वह परमार्थरूप सुवर्णताको प्राप्त होता है, तब निरतिशय आनन्द की उपलब्धि होती है। यदि कोई कहे तब देह आदिका भी शोधन करना चाहिए, उससे भी पुरुषार्थ क्यों प्राप्त नहीं होता ? इस पर कहते हैं। देहरूप पत्थरके टुकड़ों का शोधन करने से क्या लाभ है ? अर्थात् देह आदिका शोधन वृथा है ॥४९॥

देह आदि असत् है, इसलिए भी वे शोधनयोग्य नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जो वस्तु वर्तमान रहती है, उसका शोधन होता है, उसका शोधन फलवान् है, आकाश में कल्पित वृक्षोंको शोधे जाते किसने देखा ? यदि देहादि अविद्या सत्य हो, तो उसका शोधन हो सकता है ॥५०॥ अतएव आत्मा आदि शब्द देह में प्रयुक्त किये गये भी श्रुतिमें देहवाची नहीं देखे गये, क्योंकि श्रुति असत्य अर्थ का प्रतिपादन नहीं करती है, जो असत्य का आग्रह करनेवाले देहमें दृढ़ आत्मबुद्धि करनेवाले चार्वाक आदि पामर हैं, वे आत्मादि देहवाची ही हैं, ऐसा कहते हैं। जो उनकी प्रामाणिक वस्तु का तनिक भी उपदेश करते हैं, वे पुरुशपशु हैं ॥५१॥

यदि कोई कहे अमूर्त चित्त मूर्त देहभाव को कैसे प्राप्त हुआ ? तो उसकी भावना से ही प्राप्त हुआ, ऐसा कहते हैं।

यह मन जैसी भावना करता है, तुरन्त वैसा ही हो जाता है, यहाँ पर ऐन्दव अहल्या और कृत्रिम इन्द्र आदि के निश्चय दृष्टान्त है ॥५२॥

उक्त अर्थ का ही स्पष्टरूप से प्रतिपादन करते हुए उपसंहार करते हैं।

प्रतिभासस्वरूप चित्त जब जब जिस रूप से स्फुरित होता है तब तब उस प्रकार के देह के रूप से उदित होता है। यह देह नहीं है, 'अहम्' रूप से प्रसिद्ध अहंकार भी नहीं है, इसलिए तुम एकरस स्वस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर इच्छाशून्य होकर स्थित होओ। जैसे बालक किसी युक्ति से यक्षरहित देह में प्राप्त होकर भी यक्ष, उसकी भीषणता आदि कल्पना से भयको प्राप्त होता है वैसे ही यह मनुष्य आदिका शरीर है, यह प्रत्यक्ष देहभोग्य प्रपंच है यों अपनी कल्पना से यह आत्मा ही देह होता है और यही सम्पूर्ण भोग्य होता है। उन उन भावों को प्राप्त होने से देह आदिके नाश के पश्चात् नाश को प्राप्त होता है ॥५३,५४॥

इक्यानबेवाँ सर्ग समाप्त

बानबेवाँ सर्ग

पुनः शंका कर मन की अमोघ शक्ति की दृढ़रूप से स्थापना का तथा
पुरुषप्रयत्न की दृढ़ता होने पर यथेष्ट कार्याचरण में सामर्थ्य का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुकुलदीपक, भगवान् ब्रह्माजी ने मुझसे यह सब कहा। मैंने उनके पूर्वकथित वाक्य में अनुपपत्ति दर्शा कर फिर उनसे पूछा ॥१॥ भगवन्, आपने ही शाप, मन्त्र आदि की शक्तियाँ अमोघ हैं, ऐसा कहा है, फिर आपने ही उन्हें मोघ (व्यर्थ) कैसे कर डाला ? ॥२॥ देखा गया है कि शाप द्वारा और मन्त्र की शक्ति द्वारा प्राणियों के मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि सभी मूढ़ हो जाते हैं। देखिये न, शापसे अजगर बने हुए राजा नहुषकी स्ववंशज भीम को डँसने में प्रवृत्ति हुई थी। वैसे ही शाप से राक्षस बने हुए अतिधार्मिक राजा सौदासकी बुद्धि के व्यामोहसे ब्राह्मणवध आदि पाप में प्रवृत्ति हुई थी। शाप से गन्धर्वराज की धृतराष्ट्र जन्म में चक्षुरिन्द्रिय का विनाश हुआ था, ऐसा एक-आध जगह ही नहीं, अनेक जगह देखा गया है ॥३॥

ऐसा मानने से वरदान एवं शाप के कार्य में विरोध भी आता है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे ये वायु और स्पन्दन अभिन्न हैं, तेल और तिल अभिन्न हैं और जैसे अग्नि और उष्णता अभिन्न हैं वैसे ही मन और देह भी अभिन्न ही हैं, क्योंकि मन ही तो देह है। तात्पर्य यह है कि मन पर ही यदि वरदान या शाप का आक्रमण नहीं होता है, तो उससे अभिन्न देहमें भी उसका आक्रमण नहीं होना चाहिए ॥४॥

देह मनकी अपेक्षा न्यून सत्तावाली है, अतएव उस पर शाप आदि का आक्रमण होने पर भी मन पर शाप आदि का आक्रमण नहीं होता, यों विवर्तवाद का अवलम्बन कर उक्त दोषके परिहार की आशंका करते हैं।

यदि कहिए यहाँ देह कोई पदार्थ ही नहीं है, केवल मनसे ही स्वप्न, मृगतृष्णा और दूसरे चन्द्र के तुल्य उसका मिथ्या ज्ञान होता है ॥५॥

तो उसमें भी दूसरा दोष दर्शाते हैं।

दोनो में से एक का नाश होने पर दोनों का ही नाश अवश्य होना चाहिए। जैसे मनका विनाश होने पर देहका नाश देखा जाता है, वैसे ही देहका नाश होने पर मन का विनाश भी हो सकता है, इस प्रकार देह की मनकी अपेक्षा न्यून सत्ता सिद्ध नहीं होती बल्कि नेत्र आदि से अदृश्य होने पर प्रत्यक्षका विषय होनेसे स्वप्न आदि के समान मनकी ही देह की अपेक्षा न्यून सत्ता सिद्ध होती है, यों रज्जु का विनाश होने पर सर्प की अवस्थिति की भाँति देह का विनाश होनेसे मनकी अवस्थिति का सम्भव नहीं है, यह भाव है। हे प्रभो, मन शाप आदि दोषों से कैसे आक्रान्त नहीं होता अथवा कैसे आक्रान्त होता है ? हे परमेश्वर, यह आप कृपापूर्वक मुझसे कहिए ॥६,७॥

पहले विरोध को दूर करने के लिए वर और शाप की प्रबलतोक्तिकी औत्सर्गिकता बहुधा दृष्ट होनेके कारण अवश्य माननी चाहिए। इसकी उपपत्ति करने के लिए कर्म से उपोद्बलित पौरुषप्रबलताका, जो वर और शाप की भी हेतु है, स्मरण कराते हैं।

श्री ब्रह्माजी ने कहा : ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो शुभ कर्मानुसारी शुद्ध पौरुष से मनुष्यों को प्राप्त न हो सके ॥८॥

मेरा पूर्व कथन स्थूलका ही विनाश देखा गया है, सूक्ष्मका नहीं, इस लोकदृष्ट के अनुसार है, यह कहने के लिए भिन्न स्वभाववाले दो देहों को दर्शाते हैं।

इस जगत् में ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त सदा समस्त जातियाँ और सब प्राणी दो शरीरवाले हैं ॥९॥ उनमें एक तो मनोमय शरीर है, जो शीघ्र कार्य करनेवाला और सदा चंचल है। दूसरा मांसमय शरीर है, जो अकिंचित्कर है ॥१०॥ उक्त दो शरीरों में मांसमय शरीर सभी लोगों को प्रत्यक्षरूप से ज्ञात है। उस पर शाप तथा अभिचार आदि कृत्या, शस्त्र, अस्त्र, विषआदि का आक्रमण होता है। यह मांसमय शरीर मूकप्राय, असमर्थ, दीन–हीन, क्षणमें नष्ट होनेवाला, पद्मपत्र में स्थित जल के समान चंचल तथा दैव (प्राक्तन कर्म) आदिके कारण स्थित है। यहाँ पर प्राणियों का मननामक दूसरा जो यह शरीर है, वह तीनों लोकों में प्राणियों का स्वाधीन होता हुआ भी स्वाधीन नहीं है ॥११–१३॥

उसकी स्वाधीनता की, हेतुप्रदर्शनपूर्वक, उपपत्ति करते हैं।

यदि वह अपने पौरुषका आश्रय लेकर और कभी नष्ट न होनेवाले अपने धैर्यका अवलम्बन लेकर खड़ा होता है, तो सम्पूर्ण दुःख आदि उस पर आक्रमण नहीं कर सकते हैं; दुःख आदि के हेतुओं से वह अदूषित रहता है ॥१४॥

जैसे उस पर दुःख का आघात नहीं होता वैसे ही उसकी सुखकी अभिवृद्धि भी बढ़ती है, ऐसा कहते हैं।

प्राणियों का मनोमय शरीर जैसे जैसे प्रयत्न करता है वैसे वैसे वह स्वनिश्चय के फल का भाजन होता है ॥१५॥

मांसमय देह का यह क्रम नहीं है, ऐसा कहते हैं।

मांसमय देह का कोई भी पौरुषक्रम सफल नहीं होता, मनोमय देह की सम्पूर्ण चेष्टाएँ

सफल होती हैं ॥१६॥

विषयदोष से मन दूषित होता है, अन्य दोष से नहीं, ऐसा कहते हैं।

चित्त सदा पवित्र विचार का स्मरण करता है, इसलिए जैसे पत्थरमें बाण निष्फल होते हैं वैसे ही उसमें शाप आदि निष्फल हैं ॥१७॥

शरीर जल में, अग्नि में, चाहे कीचड़ में गिर पड़े, किन्तु मन जिसका ध्यान करता है, तुरन्त उसीको प्राप्त होता है ॥१८॥ सम्पूर्ण देह आदि भावों का विनाश होने पर भी प्रयत्न समृद्ध होकर बिना किसी प्रकार की विघ्नबाधा के फल देता है। वह जो देता है वह मन ही मनका फल देता है, क्योंकि पौरुष भी तो मन से अभिन्न है ॥१९॥

जब विषयदोष में भी मन की दृढ़ता होने पर दुःखका दर्शन नहीं होता, तब पवित्र विषयमें मनकी दृढ़ता होने पर दुःख का दर्शन नहीं होता, इसमें कहना ही क्या है ? इस आशय से इन्द्रोपाख्यान आदिक का स्मरण कराते हैं।

पौरुष बल से अपने अन्दर चित्त को प्रियामय बनाकर कृत्रिम इन्द्रको उस भीषण दुःखपीड़ा का तनिक भी अनुभव नहीं हुआ ॥२०॥ शूल के अग्रभाग में स्थित माण्डव्य ऋषिने अपने पुरुषप्रयत्न से मनको रागरहित और दुःखशून्य बनाकर सम्पूर्ण क्लेशों पर विजय पाई यानी क्लेशों को क्लेशरूपसे नहीं जाना। ऋषिमाण्डव्य की कथा महाभारत आदि में प्रसिद्ध है ॥२१॥ अन्ध कुएँ में गिरे हुए दीर्घतपा नामके ऋषि को मानसिक यज्ञों से स्वर्ग प्राप्त हुआ। ऋषि दीर्घतपा भी यज्ञ करनेकी इच्छासे यज्ञ की सामग्रीका संग्रह करने के लिए आश्रम से निकले। अकस्मात् किसी अन्धे कुएँ में गिर पड़े। वहाँ यज्ञकाल के अतिक्रमण का प्रसंग होने पर मन से ही उन्होंने यज्ञ किया। उससे इन्द्र प्रसन्न हुए। उन्हें कुएँ से निकालकर अपने लोक को ले गये। यह कथा महाभारत में प्रसिद्ध है ॥२२॥ मनुष्य होते हुए भी इन्दु के पुत्रोंने पुरुषोद्योगसे (पौरुषसे) ध्यान द्वारा ब्रह्मता (ब्रह्मा का पद) प्राप्त की। उनकी ब्रह्मता का मैं भी खंडन नहीं कर सकता। और भी जो सावधान धीर देवता, महर्षि हैं, वे चित्त से अपनी उपासना का तनिक भी त्याग नहीं करते हैं ॥२३,२४॥ जैसे कमलों की चोट पत्थर को नहीं तोड़ सकती वैसे ही मानसिक व्यथाएँ, शाप और पापदृष्टिवाले राक्षस, पिशाच आदि अपने ध्येय पदार्थ में एकाग्र चित्त का तिरस्कार नहीं कर सकते ॥२५॥ जो कोई (राजा सौदास, नहुष, विश्वामित्र आदि) शाप, काम, क्रोध आदि मानसिक व्यथा रूपी बाणोंसे खण्डित हुए, उनका मन उपासना में अदृढ़पौरुष वाला और ज्ञानमें भी असमर्थ था, ऐसा मेरा तर्क है ॥२६॥

विवेक और पौरुष से दृढ़ मनमें तो इच्छित पदार्थ की क्षति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

इस संसार में सावधान मनवाला कोई भी पुरुष स्वप्न में अथवा जाग्रत में कभी भी दोषों से जरा भी जड़ीभूत नहीं हुआ ॥२७॥ इसलिए पुरुष इस संसार में पुरुषप्रयत्न के साथ मन से ही मन को, अपने से ही अपने को पवित्र मार्ग में लगाये ॥२८॥ हे मुनिजी, जो वस्तु मन को प्रतिभासित होती है, वही अत्यन्त यथार्थ-सी ही होती है। एक क्षण में ही मन वेताल की नाईं स्थूल हो जाता है ॥२९॥

यदि कोई कहे कि ऐन्दवों का पूर्वतन मनुष्य आदि भावका प्रतिभास भी तो दृढ़ रहा, अतः उनकी मनुष्यादिभाव में स्थिति क्यों नहीं हुई ? उस पर कहते हैं।

जैसे कुलाल की (कुम्हार की) घटनिर्माणक्रिया के अनन्तर घड़ा अपनी मृत्पिण्डदशा का त्याग कर देता है, वैसे ही पुरुष उत्तर पदार्थ की वासना के अनन्तर ही पूर्व की स्थिति का त्याग कर देता है। भाव यह कि आगे की दृढ़वासना से पिछली वासना का विनाश हो जाता है ॥३०॥

यदि कोई कहे पूर्ववासना के नाश से क्षीण हुई उपासना कैसे अन्य कार्य को कर सकती है ? तो इस पर कहते हैं।

हे मुनिजी, जैसे चंचल जल क्षणभरमें ऊँची तरंगके रूप में प्राप्त होता है, वैसे ही स्पन्दमात्र मन एक क्षण में ही भावितपदार्थता को प्राप्त होता है। विरोधीका विनाश करने तक ही अपने कार्य में विलम्ब होता है, उसके बाद तो कोई विघ्न न रहने से एक क्षण में उपासनाजनित वासना के विषयीभूत पदार्थता को प्राप्त होता है, इसलिए उसका नाश नहीं होता ॥३१॥

यदि ऐसा है तो प्रलयकालमें आपके विरुद्ध सृष्टि की कल्पना कैसे हुई ? इस पर कहते हैं।

जिस पुरुष के नेत्र में विकार है, यानी जिसने अपनी अंगुलीसे दृष्टि बन्द की है (आँख को दबाई है), उसे जैसे दो चन्द्र देखने का अनुभव होता है, वैसे ही मन केवल अनुसन्धान से सूर्य के बिम्ब में भी रात्रि को देखता है (📖) ॥३२॥

सृष्टिकर्तृत्व की तरह सृष्टिभोक्तृत्व भी मनमें ही है, ऐसा कहते हैं–

यह मन भावना से जिसे देखता है, झटपट फलरूप में परिणत हुए उसीका हर्ष और विषाद से उपभोग करता है, इसलिए जो कर्ता है, वही भोक्ता है ॥३३॥

पूर्वोक्त अर्थ को उदाहरण द्वारा दर्शाते हैं।

अनुसन्धान यानी भोक्ता के अदृष्ट से उद्‌बोधित संस्कार का अनुसारी मन चन्द्रमामें भी सैंकड़ों अग्निज्वालाओं को देखकर दाह को प्राप्त होता है और जलकर दुःखी होता है। यह बात विरही पुरुषों में प्रसिद्ध है, यह अर्थ है ॥३४॥ भोक्ता के अदृष्ट से उद्‌बोधित संस्कार का अनुसारी चित्त क्षार मिट्टी में रसायन को (मधुर आदि विविध रसों को) देखकर और उनका पानकर परमतृप्ति को प्राप्त होता है, मारे हर्ष के प्रसन्न होता है और नाचता है। ऊँट, बकरी आदि आक, नींब आदि के पत्ते भी बड़े चाव से खाते देखे जाते हैं ॥३५॥ अनुसन्धान का अनुसरण करनेवाला मन आकाश में भी महावन को देखकर उसको काटता है और काटकर फिर उसमें वृक्ष लगाता है। हे वत्स वसिष्ठ, इस प्रकार मन जिस इन्द्रजाल की रचना करता है, उसीको शीघ्र देखता है। यह जगत् न सत् है और न असत् है, ऐसा जानकर विविध भेदों से युक्त परिच्छिन्न दृष्टिका तुम परित्याग करो ॥३६,३७॥

बानबेवाँ सर्ग समाप्त

📖 उनकी सृष्टि में आपकी सृष्टि में स्थित कुछ वस्तु न तो अनुकूल है और न प्रतिकूल है उसमें उनके अनुसन्धानमात्र की अपेक्षा होती है, इसलिए प्रलयकाल में भी उसका विरोध नहीं है, यह भाव है।

तिरानबेवाँ सर्ग

ब्रह्म से मन की उत्पत्ति, उससे तैजस ब्रह्मा की उत्पत्ति,
उससे मोहवश अहंकार की उत्पत्ति तथा उससे विश्वकी उत्पत्ति का वर्णन।

पूर्वोक्त मनःपूर्वक सृष्टिक्रम का विस्तार से प्रतिपादन करने की इच्छा करनेवाले श्रीवसिष्ठजी ब्रह्मा के संवाद का उपसंहार करते हैं।

वत्स श्रीरामजी, भगवान् ब्रह्माजी ने यह सब मुझसे पहले कहा था, वही आज मैंने आपसे कह दिया है ॥१॥ अव्याकृत नामरूपवाले उस ब्रह्म से चारों ओर से अतिसूक्ष्म होनेके कारण नामसम्बन्ध के अयोग्य निर्विकल्प ज्ञान से प्रकाशित सम्पूर्ण प्रपंच उत्पन्न होता है। वह समय पाकर संकल्पविकल्परूप मननकी सामर्थ्य की उत्पत्ति से स्वयं घनता को प्राप्त होकर मन बन जाता है ॥२॥ उक्त मन तन्मात्ररूप सूक्ष्म भूतों की कल्पनापूर्वक स्वाप्न शरीर के समान वासनामय पुरुष का आकार धारण करता है। उस वासनामय पुरुषाकाररूपी उपाधि से उपहित आत्मा तेजप्रधान लिंगशरीरसमष्टिरूप उपाधिवाला होने से तैजस हो जाता है। उसीने अपना 'ब्रह्मा' यह नाम किया ॥३॥

इसलिए हे श्रीरामजी, जो यह परमेष्ठी (ब्रह्मा) है, उसीको आप मनरूप तत्त्व जानिए।

मनरूप तत्त्व के आकारवाले भगवान् ब्रह्मा संकल्पमय होने के कारण जिस वस्तु का संकल्प करते हैं, उसीको देखते हैं ॥४,५॥

यदि कोई शंका करे कि उनके संकल्प से जगत् की उत्पत्ति भले ही हो, पर जीवों का उसमें अभिमान कैसे होता है ? तो उस पर कहते हैं।

तदनन्तर उन्होंने इस अविद्या की (卐) कल्पना की। वह अनात्मा में आत्माभिमानरूप है। इस रीति से उस ब्रह्मा ने पर्वत, तृण, समुद्र रूप इस जगत् की क्रम से कल्पना की। यद्यपि इस क्रम से चिदेकरस ब्रह्मतत्त्व से यह सृष्टि आई है, तथापि तार्किक लोगों को अन्य से यानी जड़ प्रधान, परमाणु आदि से यह प्राप्त हुई है, ऐसी प्रतीति होती है ॥६,७॥

एक-एक के अनेक उपादानों की कल्पना में गौरव है, अतएव परमाणुओं से जगत् की सृष्टि हुई है, यह तार्किकों का मत युक्त नहीं है। किसी कर्ता के बिना जड़ प्रधान से जगत् की विचित्र रचना नहीं हो सकती और असंग उदासीनमें कर्तृत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती, अतएव प्रधान को जगत् का कारण माननेवाले सांख्योंका मत उचित नहीं है। चित् का जड़ के आकारमें परिणाम नहीं हो सकता, इसलिए विज्ञान को जगत् का कारण माननेवाले विज्ञानवादी बौद्धों का मत ठीक नहीं है। शून्य कहींपर भी कारण नहीं देखा जाता, अतः शून्य को कारण माननेवाले शून्यवादी बौद्धों का मत भी अयुक्त है। इन पूर्वोक्त सभी पक्षों में कोई प्रमाण न होने से यह सृष्टि परमाणु, प्रधान आदि से नहीं हुई है, यह निश्चय होने पर श्रुतिरूप प्रमाण से और लाघव से भी अनिर्वचनीय मायारूप शक्तिवाले ब्रह्म का यह विवर्त है, यह मत ही शेष

卐 यहाँ पर अविद्यापद से अन्यथाग्रहणलक्षण अध्यासरूप कार्याअविद्या लेनी चाहिए।

रहा, इस आशय से कहते हैं।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे समुद्र से तरंगों की उत्पत्ति होती है वैसे ही तीनों लोकों के मध्यवर्ती सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति उक्त ब्रह्म से हुई है ॥८॥ जगत् की उत्पत्ति का प्रकार इस तरह दर्शाया गया है। चूँकि जगत् ब्रह्म का विवर्त ही है, अतएव परमार्थतः उत्पन्न न हुए जगत् में जो ब्रह्म का चित्तरूपी चैतन्य है, वह अहंकारसमष्टिरूप उपाधि में ब्रह्म प्रविष्ट–सा है ऐसी कल्पना कर ब्रह्मताको (परमेष्ठिता को) प्राप्त होता है ॥९॥ जो अन्य (व्यष्टिअहंकारोपाधि से उपहित) चिदाभास हैं, वे सब सर्वशक्तिमान् ब्रह्म से अभिन्न ही हैं ॥१०॥ जब यह जगत् विस्तार को प्राप्त होता है तब वे ही पितामहरूप (ब्रह्मारूप) मन से सर्वप्रथम उल्लास को प्राप्त होते हैं, वे ही सब पृथक् पृथक् चिदाभाव उपाधि की असंख्यता से असंख्य और संसरणशील जीव कहे जाते हैं ॥११,१२॥ वे चिदाकाश से ही उत्पन्न होकर मायाकाश में तन्मात्रोपाधियों के (भूतमात्रोपाधियों के) साथ मिलकर आकाश में स्थित आवह, उद्वह आदि भेदों से भिन्न वायुओं के उनचास स्तरों के मध्यवर्ती चौदह लोकों में जिस प्रकार की भूत जाति में रहने से जिस प्रकार की वासना और कर्म से अभिनिविष्ट होते हैं। उसी भूतजाति के प्राणशक्ति द्वारा स्थावर या जंगम शरीर में प्रविष्ट होकर रज–वीर्यरूप बीजता को प्राप्त होते हैं ॥१३॥ तदुपरान्त योनि से जगत् में उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर काकतालीयन्याय के सम्बन्ध से उत्पन्न वासनाप्रवाह के अनुसार अपने कर्मफल के भागी होते हैं ॥१४॥ तदनन्तर शुभ और अशुभ वासनाओं से युक्त पुण्य–पाप कर्मरूपी रस्सियों से जिनका लिंग शरीर बँधा है, ऐसे वे जीव घूमते हुए उत्तम लोकों में जाते हैं अथवा नरकों में गिरते हैं ॥१५॥

कर्म और कर्मों की वासना में इच्छा ही कारण है, इसलिए सब जीव काममय ही हैं, ऐसा कहते हैं।

ये सब प्राणियों की जातियाँ इच्छारूप ही हैं, श्रुति भी यही कहती है, 'काममय एवायं पुरुषः' (यह पुरुष काममय ही है) ॥१६॥ कोई जीव जिनको हजारों वर्षों के बाद तत्त्वज्ञान होनेवाला है, कर्मरूपी बवँडर से भ्रान्त होकर पर्वतों के मध्य में वन के पत्तों की नाईं संसार में पड़ते हैं और इधर उधर लुढ़कते हैं, तदनन्तर मुक्त हो जाते हैं। भाव यह है कि जब तक मोक्ष न हो तब तक इच्छा के अनुसार जन्मपरम्परा होती रहती है ॥१७॥ कोई जीव, जो कि चित्सत्ता के अज्ञान से मोहित रहते हैं, अतएव असंख्य जन्मवाले हैं, चिरकाल से जन्म लेकर इस संसार में सैकड़ों कल्पों तक उत्पन्न होते हैं। कोई जीव जिनके कुछ अमनोहर जन्मान्तर बीत चुके हैं और जो इस समय शुभ कर्मों में तत्पर होकर इस जगत् में विहार कर रहे हैं, वे थोड़े ही जन्मों में मुक्त हो जायेंगे ॥१८,१९॥ जैसे वायु से उड़ाये गये समुद्र के बिन्दु समुद्र में प्रवेश करते हैं, वैसे ही जिन्होंने तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया है, ऐसे कोई जीव परम पद को पहले ही प्राप्त हो गये हैं। इस प्रकार परमपदरूप ब्रह्म से सम्पूर्ण जीवों की उत्पत्ति यहाँ हुई है। यह उत्पत्ति आविर्भाव (प्रकट होना) और तिरोभाव से (छिपने से) क्षण भंगुर है, विविध जन्मों से शोभायमान है, वासनारूपी विषय की विषमता से हुई व्याकुलतारूपी ज्वर को धारण करती

है, अनेक दुःखों से पूर्ण अनर्थकारी कार्यों का सत्कार करनेवाली है, अनेक दिशाओं, अनेक देशों, अनेक कालों में विविध पर्वतों की गुफाओं में कर्मफल का भोग कराती है, रची गई उत्तम विचित्रताओं से उसने चारों और भ्रमों का निर्माण कर रक्खा है, परमार्थरूप से वह असत्य है ॥२०–२३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संसाररूपी जंगल की जीर्ण–शीर्ण लताका विक्षुब्ध मन ही शरीर है। यदि यह तत्त्वज्ञानरूपी कुल्हाड़ी से काट दी जाय, तो जैसे कटी हुई लता फिर नहीं पनपती वैसे ही फिर नहीं पनपती है ॥२४॥

तिरानबेवाँ सर्ग समाप्त

चौरानबेवाँ सर्ग

उपाधि तथा गुणों की विचित्रता से शीघ्र और विलम्ब से
मुक्त होनेवाली बारह प्रकार से भिन्न जीवजातियों का वर्णन।

किन्हीं जीवों की शीघ्र मुक्ति होती है और किन्हीं की विलम्ब से होती है, इस पूर्वोक्त मुक्ति के विभाग में भावभंगिमा से श्रीरामचन्द्रजी की विशेष जिज्ञासा ताड़ कर उसे विस्तारपूर्वक कहने के लिए श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सात्त्विक, तामस और राजस भेदसे उत्तम, अधम और मध्यम जीवोपाधिरूप पदार्थों की विविध भुवनों में जो उत्पत्तियाँ पहले कही हैं, उनका यह (आगे कहा जानेवाला) विभाग है, उसे मैं कहूँगा, आप सुनिए ॥१॥

(१) इदंप्रथमता (२) गुणपीवरी (३) ससत्त्वा (४) अधमसत्त्वा (५) अत्यन्ततामसी (६) राजसी (७) राजससात्त्विकी (८) राजसराजसी (९) राजसतामसी (१०) राजसात्यन्ततामसी (११) तामसी (१२) तामससत्त्वा (१३) तमोराजसी और (१४) अत्यन्ततामसी आगे कहे जानेवाले इन १४ भेदों में अन्तिम दो भेदों का पाँचवें और नवें भेद में अन्तर्भाव होने के कारण १२ भेद बचते हैं।

उनमें से पहली इदं प्रथमतानामक उत्पत्ति को दर्शाते हैं।

जिस जीव को पहले कल्प के अपने अन्तिम जीवजन्म में शम, दम आदि सर्वसाधन गुणसम्पत्ति प्राप्त होने पर भी श्रवण, मनन आदि का लाभ न होने या बलवान् विघ्न रहने से ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, वह जीव इस कल्प में प्रथम जन्म में ही ज्ञानलाभ के योग्य बनकर उत्पन्न होता है। उस श्रेणी के जीवका वह जन्म इदं–प्रथम नाम से विख्यात होता है। यह इदंप्रथमता पूर्वकल्प के शुभाभ्यास का फल है ॥२॥

दूसरी जीवजाति को दर्शाते हैं।

वही यदि पूर्वजन्म में वैराग्य कम होने के कारण उत्तम–उत्तम लोकों की प्राप्ति के लिए किये गये उपासनारूप शुभकर्मों से युक्त हो, अतएव विचित्र संसार की वासना से भोगव्यवहारवाली हो, तो भोगों से वासना का क्षय होने पर कतिपय (दस या पन्द्रह) ही जन्मों में मोक्ष को प्राप्त करा देती है, इस कारण वह गुणपीवरी कही गई है, क्योंकि वह शान्ति, राग आदि गुणों से युक्त है ॥३॥

तीसरी जीवजाति को कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, विविध प्रकार के सुख–दुःखरूपी फलों के प्रदानरूपी मुख्य हेतुओं से पूर्वकल्प के पुण्य और पापका अनुमान करानेवाली जो जीवजाति है, उसको बुद्धिमान् पुरुष 'ससत्त्वा' कहते हैं। वह भी क्रम से सत्त्वगुणकी वृद्धि होने पर लगभग सौ जन्मों में मोक्षभागिनी होती है, यह अर्थात् प्रतीत होता है ॥४॥

चौथी जीवजाति को कहते हैं।

जो जीवजाति विचित्र संसारकी वासनाओं से युक्त हो, अत्यन्त कलुषित यानी पूर्वकल्प में संचित अत्यधिक दुष्कर्म और दुर्वासनाओंसे मलिन हो और भाँति–भाँति के भले और बुरे फलों के प्रदानरूप हेतुओं से पूर्वकल्प के धर्म और अधर्म का अनुमान कराती है, इस कारण उसे सज्जन पुरुष 'अधमसत्त्वा' कहते हैं ॥५,६॥

पाँचवी जीवजाति को कहते हैं।

पूर्वोक्त लक्षणवाली उत्पत्ति ही यदि अध्यात्मशास्त्रसे विमुख होनेके कारण असंख्य अनन्त जन्मों के बाद इस कल्प में, जिसमें मोक्षप्राप्ति संदिग्ध हो यानी किसी प्रकार मोक्ष की संभावना हो, ऐसी हो, तो उसे अत्यन्ततामसी कहते हैं ॥७॥

छठी जीवजाति को कहते हैं।

हे नृपश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, पुरुष की जो उत्पत्ति पूर्वकल्प की वासनाओंके अनुरूप हो, अतएव वैसे ही कार्य करनेवाली हो, इस कल्पके दो तीन जन्मों के मध्य में मनुष्य आदिरूप हुई हो, तदनुसार स्वर्ग, नरक आदि में पहुँचानेवाली और संदिग्धमोक्षा हो, वह लोकमें 'राजसी' कहलाती है।

सातवीं जीवजाति को दर्शाते हैं।

वह उत्पत्ति जब राजस दुःखों के अनुभव से उत्पन्न वैराग्य की समृद्धि से जिसका ज्ञानप्राप्ति योग्य जन्म संनिकट है, ऐसी होती है। महामति मुमुक्षुओं द्वारा उसी जन्म में मरनेमात्रसे वह मोक्षयोग्य कही जाती है। उसको मैंने उक्त कार्य हेतुक अनुमान से राजससात्त्विकी कहा है ॥८–१०॥

आठवीं जीवजाति को दर्शाते हैं।

वही यदि उक्त मनुष्यजन्मों से भिन्न यक्ष, गन्धर्व आदि के जन्मों से क्रमशः ज्ञानप्राप्ति द्वारा मोक्षभागिनी हो, तो उस प्रकार की उत्पत्ति को उसके ज्ञाता विद्वान् राजसराजसी कहते हैं ॥११॥

नवीं जीवजाति को दर्शाते हैं।

वही यदि चिरकाल की अभिलाषावाली होने से सैकड़ों जन्मों से मोक्षभागिनी हो और वैसे ही यानी राजस, तामस फलको देनेवाले उपासना आदि कर्मका आरम्भ करनेवाली हो, तो उस जीवजाति को सज्जनों में राजसतामसी कहा है ॥१२॥

दसवीं जीवजाति को दर्शाते हैं।

यदि वही उत्पत्ति, जिसमें हजारों जन्मों से भी मोक्ष पाने में सन्देह हो और राजस, अत्यन्त तामस आदि फल को देनेवाले उपासना आदि कर्मों के आरम्भवाली हो, तो उसको राजसात्यन्ततामसी कहते हैं ॥१३॥

ग्यारहवीं जीवजाति को कहते हैं ।

कल्प के आदि में हिरण्यगर्भमें मनुष्यों की जो उत्पत्ति है, जिसमें अनेकों जन्म भोगे गयें हों और मोक्ष दूसरे कल्पमें होनेवाला हो, उसे महर्षियोंने तामसी उत्पत्ति कहा है ॥१४॥

बारहवीं को कहते हैं ।

वह तामस उत्पत्ति यदि तामस जन्म से ही मोक्षकी भागिनी हो और तामस फल प्राप्त करानेवाले उपासना आदि कर्मों से शोभित होनेवाली हो, तो उसे जानकार विद्वान लोग तामससत्वा कहते हैं ॥१५॥

दानव, राक्षस, पिशाच आदि जन्म में सत्त्वगुणकी अभिवृद्धि होने से प्रह्लाद, कर्कटी आदिकी ज्ञानप्राप्ति प्रसिद्ध है, यह भाव है । राजसतामसी पहले कही जा चुकी है, उसके कार्य के हेरफेर से तेरहवीं जीवजाति को कहते हैं ।

यदि रजोगुण–तमोगुण प्रचुर फलों से युक्त कुछ जन्मों के बाद ही मोक्षभागिनी उत्पत्ति हो, तो ऐसा होने पर वह रजस्तमोगुणबहुला उत्पत्ति तमोराजसनाम से प्रसिद्धि प्राप्त करती है ॥१६॥ जो उत्पत्ति पहले के हजारों जन्मों से युक्त और आगे आनेवाले सैंकड़ों जन्मों से भी मोक्ष के अयोग्य है, उसको इसीलिए उत्पत्तिविभाग जाननेवाले विद्वान् तामसतामसी कहते हैं ॥१७॥ जो उत्पत्ति पहले लाखों जन्मों से युक्त है और आगे भी लाखों जन्मों से जिसमें मोक्षप्राप्ति में सन्देह है, ऐसी उत्पत्ति अत्यन्ततामसी कहलाती है ॥१८॥ जिसकी परिपूर्णता कुछ प्रचलित हुई है, ऐसे समुद्र से जैसे लहरें उठती हैं, वैसे ही ये सम्पूर्ण भूतजातियाँ ब्रह्म से उत्पन्न हुई है ॥१९॥ अपने तेज से जिसका कलेवर चंचल हुआ है, तेजःस्वरूप दीपक से जैसे किरणें निकलती हैं, वैसे ही ये सभी जीवराशियाँ ब्रह्म से ही निकली हैं ॥२०॥ जैसे प्रज्वलित अग्नि से उसकी ज्वालाओं के बल से उत्पन्न हुई चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं वैसे ही ब्रह्म से ये सब प्राणिवर्ग उत्पन्न हुए हैं । जैसे चन्द्रमा के बिम्बसे किरणें निकलती हैं वैसे ही मन्दारकी मंजरीके सदृश ये सम्पूर्ण जीवराशियाँ उस ब्रह्म से ही उदित हुई हैं ॥२१,२२॥ जैसे वृक्ष से वृक्षरूप विविध शाखाएँ उत्पन्न होती हैं वैसे ही ये सम्पूर्ण दृश्यराशियाँ ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई हैं ॥२३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सुवर्ण से कड़ा, बाजूबन्द आदि आभूषण उत्पन्न होते हैं वैसे ही सभी जीवश्रेणियाँ ब्रह्म से उत्पन्न हुई हैं ॥२४॥ जैसे निर्मलकान्तिवाले झरने से जलबिन्दु निकलते हैं वैसे ही सभी जीवराशियाँ ब्रह्म से उत्पन्न हुई हैं ॥२५॥

इस प्रकार अंशांशिभाव की कल्पना द्वारा ब्रह्म से जीवों की अभेदयोग्य दिखला कर उपाधिकी असत्यता के प्रदर्शन द्वारा अभेद दिखलाते हैं ।

हे श्रीरामजी, जैसे घटाकाश, बटलोई का (पतीली का) आकाश, छिद्राकाश आदि आकाश की ही रचनाएँ हैं वैसे ही अजन्मा परब्रह्म की ही सम्पूर्ण प्राणिवर्गरूप में कल्पना हुई है ॥२६॥

जैसे जल के सीकर (छोटे छोटे जलबिन्दु), जलभौंरियाँ, लहरें और बड़े जलबिन्दु जलसे ही उत्पन्न होते हैं वैसे ही ये सम्पूर्ण लोकरचनाएँ परमपद ब्रह्म से ही उदित हुई हैं ॥२७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सूर्य के तेजसे मृगतृष्णाकी नदियाँ उत्पन्न होती हैं वैसे ही सम्पूर्ण दृश्यसृष्टियाँ ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई हैं ॥२८॥ जैसे चन्द्रमा की चाँदनी चन्द्रमासे पृथक् नहीं है और जैसे तेजकी प्रभा तेजसे भिन्न नहीं है वैसे ही ये सब दृश्य पदार्थ द्रष्टा ब्रह्म के स्वरूप से अतिरिक्त नहीं है ॥२९॥ इस प्रकार ये विविध प्राणियों के वर्ग जिससे उत्पन्न होते हैं, उसीमें उपाधि के लयसे अभेद को प्राप्त हो जाते हैं ॥३०॥ इनमें कोई प्राणिवर्ग चिरकाल से जन्म–मरण आदि भोग रहे हैं और हजारों जन्मों के बाद वे लीन होंगे और किन्हीं के अभी कुछ ही जन्म व्यतीत हुए हैं, यों उनकी व्यवस्थिति है ॥३१॥ वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार भगवान् परब्रह्म परमात्मा की इच्छा से व्यवहार करनेवाले, उपाधिरूप शोभावाले, विलक्षण विलक्षण रूपों से युक्त पूर्वोक्त प्राणिवर्ग अग्नि से निकली हुई चिनगारियों के समान विविध जगतों में आते हैं, जाते हैं, एक जन्म से दूसरे जन्म में भ्रमण करते हैं और फिर उत्पन्न होते हैं ॥३२॥

चौरानबेवाँ सर्ग समाप्त

पंचानबेवाँ सर्ग

अज्ञानीजनों के बोध के लिए न कि वस्तुतः कर्म और कर्ता की सहोत्पत्ति का आशंकापूर्वक समर्थन।

कल्प के आरम्भ में ब्रह्म से ही सम्पूर्ण जीवजातियों का आविर्भाव होता है, इस कथन के बहाने ब्रह्म ही उपाधियों में जीवरूप से प्रविष्ट है, वह दर्शाया। ऐसी परिस्थिति में आगन्तुक जीवभावमें प्राक्तन कर्म हेतु नहीं कहा जा सकता, कारण कि प्राक्तन कर्म की सिद्धि तभी हो सकती है जब प्राक्तन कर्ता रहेगा। प्राक्तन कर्ता की सिद्धि के लिए यदि जीवको अनादि मानें, तो ब्रह्म के पूर्वोक्त औपाधिक जीवभाव का समर्थन नहीं हो सकेगा, यों दोनों प्रकार ही प्राप्त हुए दोषका दृष्टिभेद के अवलम्बन से परिहार करनेवाले गूढ़ आशयवाले श्रीवसिष्ठजी यौक्तिक दृष्टि से कर्म और कर्ता की सहोत्पत्ति पक्ष को दर्शाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे वृक्ष से फूल और उसकी सुगन्धि साथ ही साथ प्रकट होते हैं वैसे ही परस्पर अभेदकल्पना से अभिन्न आदिमें प्रकट हुए ॥१॥

भगवान् ने भी श्रीमुखसे कहा है –'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते' भगवान् न लोगों के कर्तृत्व की सृष्टि करते हैं, न कर्मोंकी सृष्टि करते हैं और न कर्मों के फल के संयोग की सृष्टि करते हैं, किन्तु जीवकी अविद्यारूप प्रकृति स्वयं कर्म आदिरूप से प्रवृत्त होती है। उनके आविर्भाव में और अभेदाध्यासमें जीवों का स्वभाव नामसे प्रसिद्ध अपना अज्ञान ही कारण है, यों दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

जैसे अज्ञानी लोगों की दृष्टि में विस्तृत निर्मल आकाशमें नीलिमा स्फुरित होती है वैसे ही सब संकल्पनाओं से रहित निर्मल ब्रह्म में अज्ञ लोगों की दृष्टि में ये जीव स्फुरित हुए हैं ॥२॥

अतएव यह सृष्टिवाद अज्ञानी के संमत व्यवहारभूमि में ही है, परमार्थपद में नहीं है

ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जहाँ पर अज्ञानी लोगों का व्यवहार देखा जाता है, वहींपर जीव ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं, ऐसी उक्तियाँ स्थित हैं ॥३॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

(न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न बद्ध (संसारी जीव) है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है, यह परमार्थता है।) तद्तद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्ममयमात्मा ब्रह्म सर्वानभूः' इत्यादि श्रुति से लभ्य परमार्थ दृष्टि से तो न जगत् की न जीवोंकी या कर्मों की उत्पत्ति आदि का प्रतिपादन किया जा सकता है। अथवा न उनके निषेधका ही प्रतिपादन किया जा सकता है, ऐसा कहते हैं।

हे राघव, जहाँ पर ज्ञानी पुरुषों का व्यवहार है वहाँ यह ब्रह्म से उत्पन्न हुआ और यह उत्पन्न नहीं हुआ यह कथन शोभा नहीं देता है ॥४॥

यदि ऐसा है, तो ऐसी अवस्थामें परमार्थका उपदेश देनेवाले शास्त्रमें अज्ञानियों की दृष्टिसे उपपन्न होनेवाले सृष्टि आदि के कथन का क्या प्रयोजन है ? उस पर कहते हैं।

हे रामचन्द्रजी, जब तक कोई द्वितीय कल्पना प्रसिद्धि को प्राप्त न की जाय, तब तक लोकमें उपदेश्य, उपदेशक और उपदेश शोभित नहीं होते। इसलिए भेददृष्टि से शोचनीय द्वैतकल्पना का व्यवहारकाल तक–जब तक कि निश्चय से प्रमेय का निर्णय न हो जाय तब तक–संशय के साथ अंगीकार कर यह ब्रह्म है ये जीव है, यों वाणीका उपदेश दिया जाता है ॥५,६॥

लोक में अभ्युपगम्यवाद (काल्पनिकवाद) बहुधा देखा जाता है, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार लोक में अभ्युपगम्यवाद देखा गया है।

शंका : यदि द्वैत का अंगीकार कर लिया, तो उसका खंडन क्यों करते हैं ?

समाधान : असंग अद्वितीय ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता है, ऐसा पहले उपदेश देनेपर जो उससे उत्पन्न होता है, वह तद्रूप ही है, क्योंकि उत्पत्ति के पहले अपने उपादान कारणमें स्थित वही आविर्भावदशा में भी हेतुगत होनेके कारण तन्मात्र होता हुआ भी भ्रान्तिज्ञान से पृथक्–सा प्रतीत होता है, अतः द्वैत बाधित होता है, यह अर्थ है ॥७॥

ब्रह्म की उपादानता तो तीनों कालों में उसीमें उत्पन्न होकर लीन होने के कारण सिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

मेरू और मन्दर के तुल्य बहुत–सी जीवराशियाँ पुनः पुनः उत्पन्न होकर उसी परमतत्त्व में लीन हो गई है। उसके बाद जैसे विविध दिशाओंमें वृक्षों में पल्लव लगते हैं वैसे ही ये अनन्त जीवराशियाँ हजारों की संख्यामें उस परमपदमें उत्पन्न होकर स्फुरित होती हैं जैसे वसन्त ऋतुमें नूतन अंकुर उत्पन्न होते हैं वैसे ही आगे भी उस परमपदमें ये जीवसमूह उत्पन्न होंगे। जैसे ग्रीष्म ऋतु में वसन्त ऋतु के रस लीन हो जाते हैं वैसे ही फिर उसीमें लीन हो जायेंगे। वे और अन्य अनेक जीवराशियाँ सदा उस परमपदमें स्थित रहती हैं, उसीसे उत्पन्न होती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं ॥८–११॥

हे रामचन्द्रजी, जैसे पुष्प और सुगन्धि अभिन्न हैं वैसे ही पुरुष (कर्ता) और कर्म अभिन्न हैं। ये परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं और फिर उसीमें शनैः–शनैः लीन हो जाते हैं। ये दैत्य, नाग, मनुष्य, देवता इस जगत् में वस्तुतः उत्पन्न न होते हुए भी वासनारूप भूतमात्रउपाधियों से उत्पन्न होते हैं, और तुरन्त स्फुरित होते हैं यानी गमन आदि क्रिया से युक्त होते हैं। इससे जन्म और कर्म की सहोत्पत्ति और अभेद प्रत्यक्ष दिखलाई देता है ॥१२,१३॥

उनकी उत्पत्ति में न कर्म हेतु है और न और कुछ हेतु है, क्योंकि जब पहले कर्ता रहेगा तब न कर्म होंगे, इसलिए परिशेष से केवल पूर्वोक्त अज्ञान ही उनकी उत्पत्तिमें निमित्त है, ऐसा कहते हैं।

हे सज्जनशिरोमणे श्रीरामजी, उन दैत्य, नाग, मनुष्य, देवता आदि संसारभ्रमण में आत्मस्वरूप के विस्मरण के सिवा अन्यान्य जन्मरूपी फल देनेवाला दूसरा कोई हेतु नहीं दिखाई देता ॥१४॥

तात्पर्य यह है कि कर्ता की अनादिता तो कही नहीं जा सकती, क्योंकि कर्तृत्व को यदि स्वाभाविक धर्म मानें, तो जैसे अग्नि की अनादि स्वभाववाली उष्णता हजारों उपायों से मिटाई नहीं जा सकती वैसे ही अनादि स्वभाववाले कर्तृत्वका भी हजारों उपायों से परिहार नहीं किया जा सकेगा। ऐसी अवस्थामें मोक्ष कथमपि नहीं हो सकेगा। यदि कर्तृत्वको औपाधिक मानो, तो वह उपाधि अविद्या है अथवा अन्य कुछ है ? पहले पक्षका फलतः सिद्धान्त के परिशेष पक्षमें ही अन्तर्भाव हो गया। किंच, अविद्या आत्मा में कर्तृत्व का आपादन स्वतः करती है अथवा अन्य किसीकी सहायता से ? स्वतः तो कर नहीं सकती, क्योंकि अविद्या में स्वतः कर्तृत्वापादन होने पर सुषुप्ति, मूर्च्छा और प्रलय में भी आत्मा में कर्तृत्व की आपत्ति होगी। यदि कहिये अन्य की अपेक्षासे अविद्या कर्तृत्वका आपादन करती है, तो जिसकी मुखापेक्षी होकर अविद्या कर्तृत्व का आपादन करती है वही उपाधि होगी, अविद्या उपाधि न होगी। उपाधि की तो कोई उपाधि होती नहीं। दूसरे पक्षमें भी यानी उपाधि अविद्या से अन्य है, इस पक्षमें भी वह उपाधि अविद्याकी कार्य है या स्वतन्त्र है ? स्वतन्त्र है इस पक्षमें यदि वह अनादि है, तो सुषुप्ति और प्रलयमें भी कर्तृत्व का आपादन करेगी। यदि सादि हैं, तो उससे उपहित कर्तुत्व भी सादि ही होगा, यों अनादि कर्तृसिद्धि नहीं होगी। उपाधि अविद्याकार्य है, इस पक्षमें भी यही दोष है, इसलिए यद्यपि आत्मा नित्य है तथापि कर्तृ–उपाधिसम्बन्ध के प्रतिकल्प और प्रतिदिन भिन्न अभेद भी होता है। उसमें आत्मविस्मरण ही बीज है, यह पक्ष ही यौक्तिक दृष्टि से अवशिष्ट होता है। इस पक्ष में आगे अनुपपत्ति दर्शानेवाले श्रीरामचन्द्रजी उसके अनुकूल भूमिका रचने के लिए शास्त्र का लक्षण कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, प्रामाणिक दृष्टिवाले (अलौकिक यानी धर्म और ब्रह्म में प्रमाणभूत श्रुति से जिनकी दृष्टि उत्पन्न हुई है) वीतराग मनु आदि ने धर्माधर्मरूप अर्थ में स्वमूल श्रुति से विवाद न करनेवाले (श्रुत्यविरोधी) मीमांसा के न्यायों से निर्णय करके जो जो स्मृति, पुराण कल्पसूत्र, इतिहास आदि रचे हैं वे 'शास्त्र' नाम से कहे जाते हैं। भाव यह कि

श्रुतियाँ और श्रुतिमूलक स्मृतियाँ आदि अलौकिक अर्थ में प्रमाण हैं ॥१५॥

इसी प्रकार सदाचार भी प्रमाण है, यह कहने के लिए सन्तों का लक्षण कहते हैं।

जो अत्यन्त विशुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त हैं, दुःखदायी विषयों से विचलित नहीं हो सकते हैं, राग, द्वेष आदि से रहित हैं एवं शब्द से जिसका निर्वचन नहीं हो सकता, ऐसी निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्म की साक्षात्कारकला से सम्पन्न हैं, वे सन्त कहे गये हैं ॥१६॥ पूर्वोक्त लक्षणवाले सन्तों का सदाचार और श्रुतिस्मृतिरूप शास्त्र ये दो ही जिन्हें आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ, उन शिष्टों के सब कर्मोंकी सिद्धि के लिए यानी धर्मतत्त्व और ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान के लिए सदा दो नेत्र हैं ॥१७॥ जो पुरुष स्वर्ग और मोक्ष के उपयोगी सम्यग् व्यवहार के लिए शास्त्रका अनुसरण नहीं करता, उसका सब शिष्ट पुरुष बहिष्कार कर देते हैं और वह दुःख में निमग्न हो जाता है। हे प्रभो, इस लोकमें प्रामाणिक पुरुषोंमें और वेदमें सदा इस प्रकार की प्रसिद्धि है कि कर्म और कर्ता हेतु और फलरूप से संसृष्ट हैं यानी कर्म और कर्ताका कार्य–कारणभाव है ॥१८,१९॥ बीज और अंकुर के सदृश कर्म से कर्ताकी सृष्टि होती है और कर्ता से कर्म का निर्माण होता है, वह न्याय लोक और वेदमें प्रसिद्ध है। जैसे बीज से नूतन अंकुर उत्पन्न होता है, वैसे ही कर्म से जन्तु उत्पन्न होता है। जैसे अंकुर से पुनः बीज होता है, वैसे ही जन्तु से कर्म होता है ॥२०,२१॥

कर्म के समान प्राक्तन वासना भी कर्ता की उत्पत्ति में हेतु है, ऐसा कहते हैं।

जिस वासना से जीव संसाररूपी पिंजड़े में प्रविष्ट किया जाता है, उस वासना के अनुरूप उसे फल का भी अनुभव होता है ॥२२॥

इस प्रकार भूमि का रचकर कर्ता और कर्म की साथ साथ उत्पत्ति होती है, इस पक्षपर आक्षेप करते हैं।

ऐसी अवस्था में जन्म के निमित्तभूत कर्म के बिना परमपदरूप ब्रह्म से प्राणियों की उत्पत्ति आपने कैसे कही ?॥२३॥ भगवन्, आपने इस सहोत्पत्ति पक्षसे इन जीव और कर्मों की जगत् में प्रमाणों द्वारा प्रसिद्ध परस्पर हेतुफलता का तिरस्कार कर दिया है ॥२४॥ अद्वय होने के कारण अपने से अतिरिक्त कारणशून्य मायाशबल ब्रह्ममें आकाश आदि से लेकर स्थूलदेहपर्यन्त भोगायतन की सृष्टि कर्मों का फल है और उसके फलरूप (कार्यभूत) हिरण्यगर्भ आदि स्थूल सूक्ष्म उपाधियों में भोग और उसकी सामग्रीकी सृष्टि फल है, यों लोकमें प्रसिद्ध इन दोनों प्रवादों का आपने खण्डन कर दिया। कर्मों के निष्फल होने पर नरक आदिका भय न होनेके कारण लोकमें सांकर्य (संकरता) होने पर जैसे बड़े मत्स्य छोटे मत्स्य को निगल जाते हैं वैसे ही बलवानों द्वारा हीनबलों की हिंसा होगी, यों नाश ही अवशिष्ट रहेगा ॥२५,२६॥ भगवन्, इसलिए आप यथार्थतः मुझसे कहिए कि किया हुआ कर्म फलरूप से अवश्य परिणत होता है या नहीं ? मेरे इस महान् संशय को आप दूर कीजिए। आप तत्त्वज्ञों में सर्वश्रेष्ठ हैं, इसलिए आपमें ही मेरे संशय को दूर करने की सामर्थ्य है ॥२७॥

इस प्रकार रामचन्द्रजीके आक्षेप करने पर प्रामाणिक आक्षेप की प्रशंसा करते हुए उसके

समाधान की प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, मुझसे आपने जो यह सुन्दर प्रश्न किया, यह बहुत ही अच्छा किया। सुनिए, मैं आपसे कहता हूँ, जिससे अवश्य ज्ञान का उदय होगा ॥२८॥

सहोत्पत्ति पक्षमें भी (कर्ता और कर्मकी साथ उत्पत्ति होती है, इस पक्षमें भी) जैसे कोई दोष न आये वैसा उपपादन करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति' (जिसका मनसे ध्यान करता है, उसे वाणी से बोलता है, उसे कर्म से करता है) इस श्रुति से मनका क्रियाकौशल–प्रतिसन्धानरूप से जो यह विकास है, वही कर्मोंका प्रसिद्ध कारण है।

शंका : क्रियाकौशलरूप से मन का विकास ही कर्मों का कारण है, यह आप कैसे जानते हैं ?

समाधान : मन के विकास के बाद ही क्रियासिद्धिरूप फल देखा जाता है, जिसमें मनका सहयोग नहीं है, ऐसी देहचेष्टा का कोई फल नहीं दिखाई देता है ॥२९॥

मन के विकास के बाद ही फल होता है, यह जो कहा था, उसे उदाहरण द्वारा दर्शाते हैं।

आदि सृष्टि में परमपदरूपी ब्रह्म से जभी मनरूप तत्त्व उत्पन्न हुआ तभी मनरूप उपाधिवाले आविर्भूत समष्टि व्यष्टि जीवों का कर्म भी उदित हुआ और जीव प्राक्तन वासना के अनुसारी देहवाला होने से देहमें अहंभाव से स्थित हुआ। इस विषयमें श्रुति भी 'तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति' (उसने मैं मनसे मनस्वी होऊँ, इस अभिप्राय से मनकी रचना की) मन के जन्म के अधीन ही आत्मन्विता से कथित देहित्व और संचरण रूप कर्म दिखलाती है। 'यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति' यह दूसरी श्रुति भी है। इससे मन ही कर्ता है, आत्मा कर्ता नहीं, यह दिखलाने के लिए मैं सहोत्पत्ति यानी पुरुष और कर्म की सहोत्पत्ति पक्ष दर्शाया है, यह भाव है ॥३०॥

इस प्रकार कर्ता और कर्म के अभेद कथन से भी कर्म मनोधर्म ही है, आत्मधर्म नहीं है। यदि कर्म आत्मधर्म माना जायेगा, तो उसके कूटस्थत्व स्वभावसे विरोध होगा, यह उसे मनोधर्म कहने में तात्पर्य है, इसे दृष्टान्तपूर्वक दिखाते हैं।

जैसे परस्पर अभिन्न पुष्प और सुगन्धिका भेद नहीं है वैसे ही परस्पर अभिन्न कर्म और मनका भेद नहीं है ॥३१॥

यदि कोई कहे कर्म शब्द का यज्ञ लिया जाता है, या उससे उत्पन्न अदृष्ट ? उनमें पहला देह का धर्म है, दूसरा भोग्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है, ऐसी अवस्था में उसकी मनोधर्मता कैसे ? इस पर कहते हैं।

इस जगत् में कर्मसंस्काररूप से मनमें स्थित क्रिया ही अदृष्ट के फलरूप से आविर्भूत होकर देह, स्वर्ग, नरक आदिरूप होती है। इस प्रकार उस कर्म का आश्रय देह भी पहले मन ही था। 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति' इस श्रुति से भावी देहाकारता के अभिमान को प्राप्त हुए ही मन का पूर्व देह से उत्क्रमण सुना जाता है। आतिवाहिक (सूक्ष्म) देह की ही वासना के बल से स्थूलदेहाकार में कल्पना होती है, ऐसा पहले कह आये हैं, इसलिए मन ही कर्म है ॥३२॥

इस प्रकार तुम्हारे द्वारा कहा गया कर्मों की निष्फलता का दोष भी हट गया, क्योंकि मनका कार्यभूत सम्पूर्ण प्रपंच कर्मफल है, इस आशय से कहते हैं।

वह (ऐसा) कोई पर्वत नहीं है, वह कोई आकाश नहीं है, वह समुद्र नहीं है, वह लोक नहीं है, जहाँ पर किये हुए अपने कर्मोंका फल न हो ॥३३॥ सावधान होकर किया गया सांगोपांगरूप से विराजमान कर्म चाहे वह ऐहिक हो चाहे प्राक्तन हो, पौरुष ही प्रयत्न है, वह कभी निष्फल नहीं होता ॥३४॥

भाव यह है कि अविद्या से उत्पन्न हुआ मन ही क्रियाशक्तिसम्पन्न और चैतन्यरूप आत्मा का उपाधि होने से कर्ता और भोक्ता है और वह 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' (हे सौम्य, मन अन्नमय है), 'तन्मनोऽकुरुत' (उसने स्रष्टव्य के आलोचनके योग्य मनःशब्दवाच्य संकल्प आदि रूप करण की रचना की), 'त्रीण्यात्मनेऽकुरुत मनो वाचं प्राणम्' (मन, वाणी और प्राण इन तीन अन्नों की अपने लिए सृष्टि की) इत्यादि श्रुतियों से और पूर्वोक्त युक्ति से यद्यपि प्रत्येक कल्पमें और प्रतिदिन उत्पन्न होकर लीन होता है, तथापि प्रतिदिन आविर्भूत होकर रात्रिमें छिप रही दीवार की छाया के समान तथा दर्पण को सामने से हटाने पर छिप रहे मुख के प्रतिबिम्ब के समान वही यह है, इस प्रकार अबाधित प्रत्यभिज्ञारूप प्रमाण से और उपहित आत्मा की एकता से उसका भेद नहीं होता, यों वह अनादि भी है। नाश शून्यतापत्ति नहीं है, अथवा उत्पत्ति असत् की सत्ता नहीं है, जिससे कि प्रतिदिन सुषुप्ति में उसके नाश से भेद हो। सत्कार्यवाद का आश्रय लेने से अविद्या बीजरूप से विद्यमान ही प्राक्तन कर्ता और कर्म की तथा उनके फल आकाश आदि की सहोत्पत्ति मानने पर भी कृतहानि और अकृत–प्राप्तिरूप दोष की आपत्ति नहीं होती, न शास्त्र के प्रामाण्य का बाध होता है, अथवा न मात्स्यन्याय की प्राप्ति होती है और न जन्म और कर्म की कार्यकारणताके नियम का खण्डन होता है और तिरोभूत अवस्थावाला और आविर्भूत अवस्थावाला मन ही अविद्या है, यह मानने से जीवों की उत्पत्ति में परिशेष से एकमात्र अज्ञानको मैंने जो हेतु कहा है, वह भी विरूद्ध नहीं है। यदि कोई कहे कि कर्ता और कर्म की सहोत्पत्ति और अभेद कहनेका फल क्या है ?

जैसे कृष्णता का क्षय होने पर काजल स्वयं क्षीण हो जाता है, चलनात्मक कर्म का नाश होने पर मन का क्षय हो जाता है। भाव यह कि कर्म और मनमें से एक का विनाश चाहनेवाले पुरुष को चलनात्मक प्राण के अथवा मनके निरोधरूप हठयोग या राजयोग का अभ्यास करना चाहिए, यही उनका फल है ॥३५॥ कर्म का नाश होने पर मनका नाश हो जाता है, मनका नाश होने पर कर्मका अभाव हो जाता है। योग से जनित तत्त्वसाक्षात्कार से अविद्या का नाश होने पर दोनों का आत्यन्तिक विनाश होता है अन्यथा नहीं होता, इस आशय से कहते हैं। यानी कर्म नाश होने पर मनोनाश या मनोनाश होने पर कर्म का अभाव मुक्तपुरुष का होता है; जो मुक्त नहीं है, उसका कदापि नहीं होता ॥३६॥ अग्नि और उष्णताकी भाँति सदा अभेद से मिले हुए दोनों में से–चित्त और कर्म में से–एक का अभाव होने पर दोनों ही विलीन हो जाते हैं ॥३७॥

एक का विनाश होने पर दूसरे का विनाश होता है, इसमें उपपत्ति दर्शा रहे श्रीवसिष्ठजी उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्त को सदा स्पन्दरूप विलास को प्राप्त होकर एकमात्र स्पन्दरूप (विहित और निषिद्ध के आचरण द्वारा पुण्य–पाप धर्माधर्मरूप में परिणत हुआ) कर्म जानिये और कर्म भी पुण्यपाप के फलके भोग के अनुरूप स्पन्दरूप विलास को प्राप्त होकर चित्तरूप में परिणत होता है। अतएव लोक में वे दोनों चित्त और कर्म धर्म और कर्म शब्द से कहे जाते हैं॥३८॥

पंचानबेवाँ सर्ग समाप्त

छानबेवाँ सर्ग

कर्मों की विलक्षणता से नाना प्रकार की आकृति धारण करनेवाले
मन के विविध नामों का प्रतिपादन तथा उसकी शुद्धि के लिए तत्त्व का निरूपण।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, मन क्या है ? मन पहले अनुभव में आई हुई वस्तुओं की केवल भावना है, जो विकल्पना या विभावना शब्द से भी पुकारी जाती है। यह भावना स्पन्दरूप धर्म से युक्त होकर विहितप्रतिषिद्धरूपा क्रियामें परिणत होती है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अदृष्टभावापन्न उस क्रिया के जन्मान्तर आदिरूप फल का सब जन्तु अनुसरण करते हैं॥१॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, मन जड़ होता हुआ भी अजड़ के सदृश आकृतिवाला है, उसका संकल्पारूढ़ रूप (आकार) आप विस्तारपूर्वक कहने की कृपा कीजिए॥२॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : रघुवर, सर्वशक्तिशालिनी माया से शबलित असीम आत्मतत्त्वका पहले रचित संकल्पशक्तिवाला जो रूप है, उसको लोग मन कहते हैं॥३॥

लोगों के आधुनिक व्यवहार में भी मन का रूप प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

यह खम्भा है या पुरुष है, यों विकल्पव्यवहारमें सत्–असत् दोनों कोटियोंमें जो भाव झूले की नाईं झूलता है और दोनों कोटियों में स्मृतिपूर्वकता को प्राप्त होता है, यानी दोनों पक्षों में अवस्थित होता हुआ भी एक पक्षमें स्थिर नहीं होता, उसे विद्वान मन का रूप कहते हैं॥४॥

आत्मा के चिद्रूप होने के कारण सदा भासित होने पर भी मैं आत्मा को नहीं जानता यह प्रतीति और अकर्ता आत्मा में कर्तृत्व की प्रतीति जिससे होती है, वह मन है, ऐसा कहते हैं।

चैतन्यस्वरूप होते हुए भी पुरुष को जिससे मैं आत्मा को नहीं जानता हूँ, और अकर्ता होते हुए भी मैं कर्म कर रहा हूँ, ऐसा निश्चय नियतरूप से होता है, वह मन का स्वरूप है॥५॥

स्पन्दरहित (निष्क्रिय) मन में इस लक्षणकी अव्याप्ति की आशंका कर कहते हैं।

इस लोक में जैसे गुणीका गुण से हीन होना संभव नहीं है, वैसे ही मनका भी कल्पनात्मक क्रियाशक्ति से रहित होना सम्भव नहीं है॥६॥ जैसे परस्पर भिन्न हुए अग्नि और उष्णता का अस्तित्व नहीं रह सकता वैसे ही भिन्न हुए कर्म और मनका तथा जीव और मनका अस्तित्व नहीं रह सकता अर्थात् जैसे अग्नि और उष्णता अभिन्न है, वैसे ही कर्म और मन तथा जीव

और मन भी अभिन्न हैं ॥७॥ एकमात्र संकल्परूप विविध विस्तार से शोभित होनेवाले फलजनक चित्तरूपी कर्म ने स्वयं ही इस नानाविध विश्व का विस्तार कर रक्खा है, जो मायामय, कारणशून्य, विविध रचनाओं से युक्त और वासना की कल्पनाओं से व्याप्त है ॥८,९॥ जैसे यहाँ पर स्थित ही ऐन्दवों ने हम लोग सत्य लोकमें स्थित हैं, ऐसी कल्पना की थी वैसे ही जिससे जहाँपर जिस वासना का जैसे आरोप किया जाता है, वहाँ पर फल देनेवाली उस वासना की कल्पनाओं से यह विश्व व्याप्त है, यह स्पष्ट हुआ ॥१०॥ उस वासनारूपी वृक्ष का कर्म बीज है, मन की गति शरीर है और सुख–दुःख आदि फल देनेवाली विविध क्रियाएँ उसकी शाखाएँ हैं, यह शास्त्र में कहा जाता है और फलतः इसका अनुभव भी होता है ॥११॥

यदि कोई कहे कि कर्म कर्मेन्द्रियों का वृत्तिरूप है, वह मनसे कैसे हो सकता है ? तो इस पर कहते हैं।

मन जिसका अनुसन्धान करता है, उसीका सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियवृत्तियाँ सम्पादन करती है, इसलिए कर्म मन कहा गया है ॥१२॥

मन ही सर्वेन्द्रियता को धारण करता है, इसलिए यह दोष नहीं है, यह दर्शाते हुए मनके नामों को दिखलाते हैं।

मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, संसृति, वासना, विद्या, प्रयत्न, स्मृति, इन्द्रिय, प्रकृति, माया, क्रिया, केवल इतनी ही नहीं और भी अनेक विचित्र शब्दोक्तियाँ ब्रह्म में कल्पित हैं। ये शब्दवैचित्र्य के सिवा और कुछ भी नहीं है। संसारमें कल्पित आगे कहे जानेवाले भिन्न–भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त (शब्दों की अर्थबोधनशक्ति के प्रयोजक यानी शक्यताअवच्छेदक) ही इनके कारण हैं ॥१३,१४॥ अकस्मात् अपने स्वरूप का विस्मरण होने से जिसे अपने अपरिच्छिन्न दृष्टापन का (चिदेकरसता का) अनुभव नहीं हो रहा है, अतएव बाह्य कल्पना में उन्मुख चिति के ये सब नामान्तर किये गये हैं ॥१५॥

बाह्य कल्पना में उन्मुख चित् में प्रवृत्तिनिमित्त के भेद से योगरूढ़ि से पूर्वोक्त मन, बुद्धि आदि नामों की पर्यायता को, प्रत्येक के निर्वचन द्वारा, विशेषरूप से जाननेकी इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

ब्रह्मन्, चिद्घन ज्ञानघन परमात्मा के ये मन आदि पर्याय, जिनके विचित्र यौगिक अर्थकी कल्पना की गई है, कैसे प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं ॥१६॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न करनेपर क्रमशः पूर्वोक्त पन्द्रहों नामों की व्याख्या करने की इच्छावाले श्रीवसिष्ठजी पहले 'मन' नामकी व्याख्या करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अविद्यावश मानों कलंकता को प्राप्त हुआ परम चेतन ही जब कभी स्फुरण रूप को प्राप्त होकर 'यह इस प्रकार का है, या यह इस प्रकार का नहीं है' यों विकल्परूपसे नाना प्रकार का होता है, तभी वह मनरूपसे स्थित होता है, इसलिए उसका 'मन' नाम होता है ॥१७॥

उक्त शुद्ध चेतन जब पहले ही या विकल्प के बाद विशेष भावना प्राप्त कर उक्त विकल्पकी

दो कोटियों में से एक कोटिके अनुसन्धान का निश्चय कर सुस्थिर हो स्थित होता है, तब यह वस्तु ऐसी ही है, इस प्रकार का निर्धारण करने में समर्थ 'बुद्धि' नाम से कहा जाता है ॥१८॥

जब तुच्छ देह आदि में आत्माभिमान करने से अपनी सत्ता मानता है, तब अभिमान से 'अहंकार' कहा जाता है। अहंकार ही सकल अनर्थों का मूल होनेसे संसार में बन्धन करनेवाला है ॥१९॥ जब वह शुद्ध चेतन पूर्वापर के अनुसन्धानका त्यागकर बालक की नाईं एक विषय का त्यागकर दूसरे विषयका स्मरण करता है, तब 'चित्त' नाम से कहा जाता है ॥२०॥ चूँकि कर्ता एकमात्र स्पन्दधर्म से युक्त होता है, अतः जब उक्त शुद्ध चेतन ही वास्तवमें असत् स्पन्दरूप गुण से कर्ता को गुणी करता है, और स्पन्द के फल का (शरीर और उसके अवयवों का अन्य देश में संयोग का) सम्पादन करने के लिए दौड़ता–सा है, तब कर्म कहा जाता है ॥२१॥ काकतालीय न्याय से (अकस्मात्) अन्य वस्तु के लिए अवकाश से रहित अपने स्वरूप के ज्ञानका त्याग कर यानी अपनी पूर्णता को भूलकर जब अपनी इच्छित परिच्छिन्नताकी कल्पना करता है, तब कल्पना नाम से प्रसिद्ध होता है ॥२२॥ जब शुद्ध चेतन जो पहले देखा गया हो अथवा न देखा गया हो, उसकी 'पहले मैंने इसे देखा है' इस निश्चय से हृदयमें अभिलाषा करता है, तब सृति (संसृति) नामसे कहा गया है ॥२३॥ जब शुद्ध चेतन तिरोभूत हुई पद, पदार्थ और उनकी शक्तियों के स्वरूप से शून्यप्राय अति सूक्ष्मभावमें रहता है और उसकी अन्य चेष्टाओंका अन्त हो जाता है, तब वह 'वासना' नामसे ख्यात होता है ॥२४॥ जब शुद्ध चेतन अविद्यारूप कलंक से युक्त होने के कारण उत्पन्न हुई दूसरी दृष्टि (प्रपंचप्रतीति) तीनों कालों में अविद्यमान ही है, ऐसे बोध को प्राप्त होता है, तब विद्या कहा जाता है ॥२५॥

'विस्मृतिर्मलमेव च' इस पाठ में दो नामों का साथ ही व्याख्यान करते हैं।

जब शुद्ध चेतन आत्मस्वरूप के अत्यन्त अदर्शन के लिए स्फुरण को प्राप्त होता है, तब वह मल नाम से पुकारा जाता है, आत्मस्वरूप का विस्मरण करता है, अतः 'विस्मृति' कहलाता है यह अर्थ है ॥२६॥

अथवा मिथ्या विकल्पों से विविध प्रकार के विक्षेप करता है, अतः विस्मृति कहलाता है। आवरणशक्ति की प्रधानता से मल और विक्षेपशक्ति की प्रधानता से विस्मृति कहलाता है, यह भाव है। 'प्रयत्नः स्मृतिरेव च' इस पाठ में तो अपने विनाश यानी अदर्शन के लिए स्फुरित होता है यत्न–सा करता है, अतः प्रयत्न कहलाता है और विविध वस्तुओं का स्मरण कराता है; इसलिए स्मृति कहलाता है, यों यथाकथंचित् व्याख्या करनी चाहिए।

मनःस्वरूप हुआ वह शुद्ध चेतन जब सुनकर, छूकर, देखकर, भोजन कर, सूँघकर, विचारकर यानी श्रवण आदि क्रियाओं से कार्यकारण के स्वामी जीवभाव को प्राप्त हुए परमेश्वर को आनन्दित करता है यानी भोगों द्वारा प्रसन्न करता है, तब वह इन्द्रिय कहलाता है ॥२७॥ अलक्षित परमात्मा में सम्पूर्ण दृश्यजाल की उपादन से अभिन्न कर्तारूप से रचना करता है, अतएव वह सब पदार्थों की प्रकृति कहा जाता है ॥२८॥ जब वह शुद्ध चेतन सत् को शीघ्र असत्ता को प्राप्त करता है और असत् को (देहादि को) प्रमाणसत्ता के बिना सत्ता को प्राप्त

करता है, इसलिए सत्ता और असत्ता का विकल्परूप होने से माया कहलाता है ॥२९॥ संसार और उसकी बीजरूपता को प्राप्त हुआ वह शुद्ध चेतन दर्शन, श्रवण, स्पर्श, रसन, घ्राण आदि क्रियाओं के करने से लोकमें क्रिया नाम को प्राप्त होता है ॥३०॥ अविद्यावश कलंकयुक्त हुई अतएव बाह्य कल्पना के उन्मुख वस्तुतः प्रकाशस्वरूप चिति के ये मन आदि पर्याय (नामान्तर) हैं ॥३१॥ चित्तरूपता को प्राप्त हुए अतएव प्रस्तुत संसारपद को पहुँचे हुए शुद्ध चेतनके अपने ही सैंकड़ों संकल्पों से ये नामान्तर योगरूढ़िको प्राप्त हुए हैं ॥३२॥

एक ही शुद्ध चेतन के मन, बुद्धि आदि संख्याभेदों की कल्पना कैसे हुई ? इस पर कहते हैं।

चूँकि चिति 'मैं चेतनीय हूँ यानी मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार स्वयं अनुभव के योग्य जो अज्ञानरूपी कलंक अथवा चेतनीयों से (विषयों से) प्राप्त जो द्वैतवासनारूपी कलंक उनकी सन्निधि से अपने पूर्व स्वरूप की विकलता से आकुल-सी होकर देह आदि जड़समुदाय के उन्मुख होती है, अतः उसके मन, बुद्धि आदि संख्याभेद की कल्पना होती है ॥३३॥

पूर्वोक्त भेदकल्पना को, पुनः विवेचनकर, कहते हैं।

वह शुद्ध चित् लोक में 'जीव' नामसे कही जाती है, 'चिति' कही जाती है और वही 'बुद्धि' कही जाती है। अथवा इस विषय को यों मनोगत करना चाहिये कि परमात्मपद से च्युत हुई अतः अज्ञानरूपी कलंकवाली संवित् की ही इस प्रकारकी नाना संकल्पनाओं को विद्वानों ने ये भिन्न नाम दे रक्खे हैं ॥३४,३५॥

वह जीव कहा जाता है, इस कथन से मनमें चेतनताकी प्राप्ति होने से अन्य दर्शनोंमें और लोकमें भी उसकी जड़ता की प्रसिद्धि होने से सन्देहमें पड़ रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

ब्रह्मन्, मन क्या जड़ है अथवा चेतन है ? हे तत्त्वज्ञ, इस प्रकार का मेरे मनमें एक निश्चय नहीं होता है ॥३६॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मन न तो केवल जड़ है और न केवल चेतन ही है। वास्तवमें, संसारदशामें मलिन हुई अजड़ दृष्टि (चिति ही) मन शब्द से कही जाती है अर्थात् चेतन और जड़का संमिश्रणरूप होने से मन चेतन और जड़ इनमें से अन्यतर नहीं है। परमार्थरूप से तो 'मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव' (मनन करता हुआ मन होता है ये उसके कर्मप्रयुक्त नाम हैं) इत्यादि श्रुति में आत्मा के ही कर्मप्रयुक्त नामों में मनशब्द की गणना से चेतन द्रष्टा ही संसारदशामें उपाधि मलिनता का अनुभव करता है, अतः मन कहा जाता है ॥३७॥

मन जैसे चित् और अचित् से विलक्षण है वैसे ही वह सत् और असत् से भी विलक्षण है, ऐसा कहते हैं।

सत् और असत् के मध्य में वर्तमान यानी न सत् और न असत्, प्रत्येक प्राणीमें भिन्न-भिन्न, जगत् का कारणरूप जो अनिर्मल रूप है, वह चित्तनाम से पुकारा जाता है ॥३८॥

अथवा आत्मा की अज्ञात सत्ता ही मन है, ऐसा कहते हैं।

शाश्वत (अविनाशी) एकरूप निश्चय के बिना जो आत्मा की स्थिति है, वह चिति कही गई है। उससे यह जगत् उत्पन्न हुआ है। म्लानरूपवाली चिति की जो जड़ और अजड़

दृष्टियों के मध्यमें झूले की नाईं अपनी कल्पना है, वही मन कहा जाता है।

हे श्रीरामजी, चित् का बाहर औपाधिक चलनरूप मलिन और भीतर साक्षिचैतन्य के आवरणरहित होनेसे अविद्यारूप कलंक से शून्य जो रूप है, वह मन कहा जाता है। वह न जड़ है और न चेतन है, किन्तु जड़ और चेतन से विलक्षण है ॥३९–४१॥ उसके ये अहंकार, मन, बुद्धि, जीव आदि तथा अन्य भी विचित्र नाम कल्पित हुए हैं। जैसे नट अनेक विविध रूपों को प्राप्त होता है वैसे ही मन भी अन्यान्य कर्मों को प्राप्त होता हुआ अनेक नामों को धारण करता है ॥४२,४३॥ जैसे एक ही मनुष्य रसोई बनाने से पाचक, पढ़ाने से पाठक, गाँवका प्रधान होने से मुखिया यों विलक्षण अधिकारों के कारण विचित्र और विकृत (तत्–तत् कार्य का प्रकाश करनेवाले) नामों को प्राप्त होता है वैसे ही मन भी कर्मवश उक्त नामों को प्राप्त होता है ॥४४॥ हे रघुवर, जौ मैंने ये चित्तकी संज्ञाएँ कही हैं, उन्हींको अन्यान्य वादियों ने अपनी सैंकड़ों कपोलकल्पनाओं से अन्य प्रकार से कहा है ॥४५॥ अपने–अपने तर्कों के अभिमत द्रव्यत्व, गुणत्व आदि बुद्धि का मनमें आरोप कर अपनी इच्छा से उन्होंने मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि के विचित्र नामभेद किये हैं ॥४६॥

उनके कल्पनाप्रकारों का विभाग कर दिखलाते हैं।

किसी वादी के मत में मन जड़ है, किसीके मत में जीव से भिन्न है, किसीके मतमें अहंकारनाम से उसका निर्देश है और किसीके मतमें वह बुद्धि कहा गया है। हे श्रीरामचन्द्रजी, अन्तःकरण के एकरूप होने के कारण उसकी संकल्प आदि भिन्न–भिन्न वृत्तियों की सृष्टि से हुए अहंकार, मन, बुद्धि आदि भिन्न नाम जो मैंने आपसे कहे हैं, उनकी नैयायिकों ने अपनी बुद्धि के विकल्पों से अन्यथा कल्पना कर रक्खी है। वे कहते हैं – द्रव्यविशेष विभु आत्मा अहंकार (अहंप्रत्ययविषय) है, मन अणु है, वह आत्मसाक्षात्कार में कारण है और बुद्धि आत्मा का गुण है और तीन क्षणों तक रहती है। परन्तु यह उनकी अपनी कपोलकल्पना ही है। वस्तुतः ऐसा है नहीं। सांख्यों ने इनकी अपेक्षा भिन्नरूप से उनकी कल्पना की है। वे कहते हैं – सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणरूप प्रकृति का अन्तःकरणरूप पहिला परिणाम जिसका दूसरा नाम महत्तत्त्व भी है, बुद्धि है, उसका परिणाम अहंकार दूसरा तत्त्व है। मन ग्यारह इन्द्रियों के अन्तर्गत और सोलह विकारों के मध्यवर्ती है। चार्वाकों ने उनकी दूसरी ही कल्पना की है। वे कहते हैं–शरीरका ही चैतन्यरूपी गुण बुद्धि है, शरीर ही अहंकार आत्मा है तथा उसका पूर्वापरप्रतिसन्धान मन है। मीमांसकों में कोई मन को व्यापक द्रव्य मानतें हैं और कोई अन्नमय मानते हैं, उनके मतमें जड़बोधात्मक अहंकाररूप आत्मा का चिदंश बुद्धि है। जैनों के मत में मध्यमपरिमाणवाला चैतन्य रूप जीवास्तिकाय ही अहंकार है, उसका विषयाभिलाष मन है और अर्थप्रतीति बुद्धि है। इसी प्रकार बौद्ध, वैशेषिक, पांचरात्र, पातंजल, माहेश्र, नाकुल आदिने अपनी–अपनी विलक्षण कपोलकल्पनाओं से उक्त अहंकार, मन, बुद्धि आदिकी अन्यथा कल्पना की है ॥४७–५०॥

सभीका अपनी–अपनी मति के अनुसार परमात्मतत्त्वनिर्णय ही भावी फल है ऐसा कहते हैं।

जैसे अनेक पथिकों का एक ही नगर गन्तव्य होता है, वैसे ही राजस, तामस, मलिनसत्त्व, और अर्धमलिनसत्त्वप्रधान लोगों के योग्य देश और कालमें उत्पन्न हुए उक्त सभी लोगोंका– तत्–तत् बुद्धि के अनुसार फलरूप से स्थित होने में समर्थ–पारमार्थिक पद ही गन्तव्य है ॥५१॥

यदि एक ही परम पद प्राप्तव्य है, तो वे परस्पर विवाद किसलिए करते हैं ? इस पर कहते हैं ।

परम पद में आरूढ़ होने की इच्छा करनेवाले वे परमार्थ वस्तु के अज्ञान से अपरमार्थ वस्तु में (अनात्म वस्तु में) यह परमार्थ है, यों विपरीत ज्ञान होने से विविध विकल्पों से (इदमित्थं इदमनित्थं यों) विवाद करते हैं ॥५२॥ जैसे पथिक अपनी–अपनी बुद्धि और रूचि के अनुसार (✍) अपने अपने गन्तव्य मार्गकी प्रशंसा करते हैं वैसे ही रजोगुणप्रधान, तमोगुणप्रधान, मलिनसत्त्वप्रधान लोगों के उचित देश, कालमें उत्पन्न हुए वादी भी अपने–अपने पक्ष की प्रशंसा करते हैं। भाव यह कि उक्त काल आदि का अनुसरण करनेवाले उन लोगों की अपने–अपने पक्ष में अभिरूचि होती है, अतः वे स्वस्वपक्ष की प्रशंसा करते हैं ॥५३॥

क्या मुमुक्षु पुरुषों के लिए भी उनके द्वारा कही गई युक्तियाँ उपादेय हैं ? इस पर, ''नहीं, मुमुक्षुओं के लिए उनकी युक्तियाँ उपादेय नहीं है , ऐसा कहते हैं।

हे रामचन्द्रजी, फल की इच्छा से फलसाधन कर्ममें जिनका चित्त आसक्त है, ऐसे लोगों के लिए उन्होंने अपनी कल्पना से प्रसूत तत्–तत् पदार्थों से अपनी–अपनी वैचित्र्य युक्तियाँ मिथ्या ही कही हैं, वे प्रमाणों में सर्वश्रेष्ठ प्रमाण उपनिषत् के सम्मत नहीं है, यह अर्थ है ॥५४॥

यों उनके मिथ्या होने पर परिशेष से हमारे द्वारा कही गई युक्तियाँ ही प्रामाणिक है ऐसा कहते हैं।

जैसे कोई ही पुरुष स्नान, दान, प्रतिग्रह आदि क्रियाओं को करता हुआ स्नायी, दाता, प्रतिग्रहीता आदि विचित्र नामों को प्राप्त होता है, वैसे ही वह मन भी विचित्र कार्य करता है, अतः कार्य के अनुसार जीव, वासना, मन आदि नाना नामों से कहा जाता है ॥५५,५६॥

अपने द्वारा कही गई युक्तियों में लोकानुभवका संवाद दिखलाते हैं।

यह सब चित्त ही है, ऐसा सभी लोगों को अनुभव होता है, क्योंकि यदि मनुष्य के चित्त न हो, तो वह लोक को देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता है। मनयुक्त पुरुष ही भली–बुरी वस्तु को सुनकर, स्पर्शकर, देखकर, भोजन कर, सूँघकर अन्तःकरणमें हर्ष अथवा विषाद को प्राप्त होता है, मनरहित नहीं ॥५७,५८॥ जैसे आलोक रूपप्रकाशों का कारण है, वैसे ही मन

✍ उनकी बुद्धि की विचित्रता यानी भेद ही उक्त कलह में हेतु है। रुचिवैचित्र्य का कारण है, देश, काल, पात्र आदि का भेद । कोई पुरुष रजोगुणप्रधान है, तो कोई तमोगुणप्रधान है, कोई मलिनसत्त्वप्रधान है, कोई अर्धमलिनसत्त्वप्रधान है । मुख्य बात तो यह है कि जो जैसा जानता है, वह वैसा ही कहता है और करता है। उनमें से निर्मलसत्त्वप्रधान ऋषियों के श्रौत ज्ञान से जो विज्ञेय है, वही अभ्रान्त है । एवं जो केवल अपनी बुद्धि से कल्पित है, यह भ्रान्त है, परंतु काकतालीयन्याय से वह भी कभी अभ्रान्त हो जाता है ।

सब पदार्थों का कारण है, जिस पुरुष का चित्त बँधा रहता है, वह बन्धन में पड़ता है और जिसका चित्त मुक्त है, यानी वासनारहित है, मैं मुक्त हूँ, यह निश्चयवाला है, वह मुक्ति को प्राप्त होता है ॥५९॥

अतएव वादियों को अपनी–अपनी वासना के अनुसार मनमें जाड्य और चैतन्य का अनुभव उत्पन्न होता है ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जो मनको जड़ कहता है, उसके मनको आप जड़ोंमें सर्वोच्च जड़ समझिये, जिसका मन चेतन है, वह मनको जड़ नहीं जानता है। यानी जो मनको चेतन जानता है उसका मन जड़ नहीं है ॥६०॥ जो यह मन पूर्वोक्त रीति से उत्पन्न हुआ, तत्त्वज्ञ लोग उसे न तो चेतन है और न जड़ है, ऐसा जानते हैं। उससे विविध सुख, दुःख और चेष्टाओं से पूर्ण यह जगत् उत्पन्न हुआ है ॥६१॥ मन के अद्वितीय ब्रह्माकार होने पर संसार का विलय हो जाता है। कलुष जल के सदृश मलिन चिद्रूप मन संसार का कारण है। मलिन चिद्रूप मनों से (समष्टिभूत मनरूप हेतुओं से) भ्रान्तिवश जगत् उत्पन्न हुआ है ॥६२॥

'कलुषित जल के समान मलिन चिद्रूप मन' इस कथन का तात्पर्य कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसलिए न तो चेतन मन संसार का कारण है और न पत्थर के समान जड़ मन ही संसार का कारण है। जैसे नील, पीत आदि रूपों का न 'भासन' शब्दसे कहा जानेवाला केवल तेज कारण है और न पृथिवी आदि कारण हैं, किन्तु त्रिवृत्करण द्वारा मलिन हुआ तेज उनका कारण है, वैसे ही केवल जड़ और केवल चेतन मन जगत् में पदार्थों का कारण नहीं है, किन्तु जड़चेतन मिश्रित मन पदार्थों का कारण है ॥६३,६४॥

मन की असत्ता में जगत् का निरूपण नहीं होता, इसलिए भी जगत् मनोमात्र है, ऐसा कहते हैं।

यदि चित्त से पृथक् जगत् नहीं है, तो जिसका चित्त लीन हो गया उसकी दृष्टि से जगत् क्या है? यानी कुछ भी नहीं। क्योंकि चित्त का लय होने पर सब प्राणियों का सारा जगत् लीन हो जाता है। इसलिए सम्पूर्ण जगत् चित्तमात्र ही है ॥६५॥ जैसे एक ही काल ऋतुविशेषों के आविर्भावसे विचित्र आकार धारण करता है, वैसे ही एक ही मन विचित्र कर्मों के उद्रेक से विचित्र आकार धारण करता हुआ विविध नामों से प्रसिद्ध होता है ॥६६॥ यदि मन के सम्बन्ध के बिना अहंकार, इन्द्रिय और क्रियाएँ शरीर को क्षोभित करें, तो जीव आदि मनसे पृथक् हों। वादियों ने किन्हीं–किन्हीं दर्शनोंमें यानी अपने–अपने शास्त्रोंमें मनके जो भेद तर्क से कहे हैं, वे कुतर्क करनेवालों से कहे गयें हैं, प्रामाणिक वेदव्यास आदि द्वारा नहीं कहे गये हैं ॥६७,६८॥

उनकी कुतर्क की उत्पत्ति में कारण कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ये तत्त्वज्ञानी वेदव्यास आदि द्वारा कभी कहींपर न तो कहे गये हैं और न ज्ञात हैं। उक्त कुतर्कों की उत्पत्ति में अज्ञान, साम्प्रदायिकशिक्षाशून्यता तथा मनरूपी देव की स्वाभाविक कुतर्कशक्तियाँ कारण हैं, क्योंकि मनमें सब जगह दौड़नेवाली सब शक्तियाँ विद्यमान हैं ॥६९॥

तर्कों के स्थिर न होने से उनको सदा संशय ही होगा, व्यवस्थित एक पक्षका निर्णयभेद कैसे होगा ? इस पर कहते हैं।

जभी शुद्ध चित् में तनिक भी जड़शक्ति उदित होती है तभी वैचित्र्य प्राप्त होता है, भाव यह कि अपनी–अपनी कल्पना से कल्पित तर्कमें श्रद्धाजाड्य होने से उसमें वैचित्र्य होता है ॥७०॥

यदि कोई कहे कि आपके पक्षमें भी तो आपका श्रद्धा जाड्य हेतु क्यों नहीं है ? ऐसी शंका होने पर यह पक्ष मेरी स्वबुद्धि से कल्पित नहीं है, किन्तु 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्' (जैसे मकड़ी अपने जालेको अपने से ही तानती है और अपने में लीन कर लेती है, जैसे पृथिवीमें औषधियाँ होती हैं, जैसे सत् (जीवित) पुरुष से केश और रोम निकलते हैं वैसे ही अक्षर से विश्व की उत्पत्ति होती है) इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे चेतन मकड़ी से जड़ तन्तु उत्पन्न होता है वैसे ही नित्यप्रबुद्ध परम पुरुष ब्रह्म से मन उत्पन्न होता है ॥७१॥

वादियों का श्रुति में तो आदन है नहीं, इसलिए उनकी अविद्यावश अपनी अपनी भावना ही स्थिर हुई है कि उन्होंने मनके ही नामरूपभेदों की भ्रमसे कल्पना की है ऐसा कहते हैं।

वादियों की अविद्यावश चित्तभावनाएँ स्थिति को प्राप्त हुई हैं यानी वादियोंकी मति श्रुति से परिशुद्ध नहीं है, इसलिए उन्होंने उक्त अज्ञानके वशवर्ती होकर अपनी अपनी मनोभावना को ही ठीक या अकाट्य समझा। इसलिए उन्होंने चित्तभावको प्राप्त हुए चैतन्य में भ्रान्तिवश नाम आदि भेद की कल्पना की है ॥७२॥

उक्त अर्थ को स्पष्ट करते हुए उपसंहार करते हैं।

यह मलिन चेतन ही जीव, मन, बुद्धि, अहंकार इन रूपों से ख्याति को प्राप्त हुआ है, वही इस जगत् में चेतन, चित्त और जीव संज्ञाओंसे कहा जाता है। जो वस्तु है, वह विवाद का विषय नहीं है, केवलमात्र नाम और कल्पना में विवाद है ॥७३॥

छानबेवाँ सर्ग समाप्त

सत्तानबेवाँ सर्ग

मन की सम्पूर्ण पदार्थों के आकारमें अवस्थिति का तथा
चित्ताकाश, चिदाकाश और भूताकाश का विस्तार से निरूपण।

गुरु वसिष्ठजी ने पूर्वोक्त रीति से जब मनका कार्य, मनका स्वरूप और मन के विभिन्न नाम विविध प्रकारों से श्रीरामचन्द्रजीको बतलाये, तब जो उन्होंने समझा था, उसे, गुरु की बुद्धि से संवाद करने के लिए, स्वयं श्रीमुख से श्रीरामचन्द्रजी उसे दर्शाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन् पूर्व प्रदर्शित आपके वाक्यार्थसे 'यह ब्रह्माण्डरूपी आडम्बर मन से ही आविर्भूत हुआ है, अतः जगत् मनका ही कर्म है' यह तात्पर्य मुझे प्रतीत

होता है ॥१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने जो तात्पर्य समझा वह ठीक समझा यों उसका अनुमोदन करने के लिए श्रीवसिष्ठजी संक्षेप और विस्तार से कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे मरुप्रदेशका प्रचण्ड सूर्य के प्रकाश तेजस्विता की अप्रतीति के हेतु मृगतृष्णाजल को स्वीकार करता है वैसे ही दृढ़ भावना से उपरक्त हुए मन ने ही देदीप्यमान आत्मा की अप्रतीति के हेतु अज्ञानजाड्य का अंगीकार किया है ॥२॥ ब्रह्मात्मक इस जगत् में मन मुख्य आकृति को (जगद्रूप स्थितिको) प्राप्त हुआ है यानी मन ही ब्रह्मात्मक जगत्का संस्थापक है। कहीं पर वह नररूप से उदित हुआ है, तो कहीं पर देवरूप से उत्पन्न हुआ है, कहीं पर दैत्यरूप से उसका विकास हुआ है, तो कहीं पर वह गन्धर्वता को प्राप्त हुआ है, कहीं पर यक्षके रूप से उसका उदय हुआ है और कहींपर किन्नररूप से वह स्थित है ॥३,४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि विविध प्रकार के आचार, आकाशप्रदेश, ग्राम, नगर आदिरूप अपनी विस्तृत आकृति से (विचित्र ढाँचे से) मनही विराजमान है। ऐसी अवस्था में शरीरसमूह तृण, काठ, लता आदि के तुल्य हैं, उनके विचार से क्या प्रयोजन निकल सकता है ? हमें तो केवल मनका ही विचार करना चाहिए। भाव यह है कि जैसे पृथ्वी आदि भूतों के तत्त्व को जानने की इच्छा करनेवाले के लिए तृण, काठ आदि प्रत्येक विचार करने योग्य नहीं है, वैसे ही मनके तत्त्वके जिज्ञासुओं के लिए शरीरों के समूहों का विचार करना अनावश्यक है ॥५,६॥

इस प्रकार कर्ता और कर्म के स्वरूप के ज्ञात होने पर उनके शोधनद्वारा उनके अधिष्ठान–भूत आत्मा को दिखलाने के लिए कहते हैं।

मेरा मत है कि मनने ही विविध रचनाओं से व्याप्त इस विशाल सम्पूर्ण जगत् का विस्तार किया है। मनसे भिन्न केवल परमात्मा ही अवशिष्ट रहता है, यानी परमात्मा से भिन्न सब कुछ मन के अन्तर्गत है ॥७॥

आत्मा सर्वातीत होता हुआ सर्वव्यापक और सर्वाधार है।

मन आदि में गति आदि क्रियाएँ परमात्मा के प्रभावसे ही होती हैं, स्वतः नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

आत्मा के प्रसाद से ही मन संसार में दौड़ता है, यानी संसाररूप में प्रस्पन्दित होता है ॥८॥

मन का शोधन प्रकार कहते हैं।

मेरा निश्चय है कि मन ही कर्म है और मनही तत्–तत् शरीरसमूहका कारण है। मन ही उत्पन्न होता है और मरता है। इस प्रकार के भावविकार आत्मा में नहीं है ॥९॥ विचार से मन ही विलय को प्राप्त होगा। मनके केवल विलयमात्रसे श्रेय होगा। भ्रम उत्पन्न करनेवाले मननामक कर्म का क्षय होने पर जीव मुक्त कहा जाता है, फिर इस संसार में उत्पन्न नहीं होता ॥१०,११॥

इस प्रकार मन से जगत् की उत्पत्ति भले ही हो, किन्तु कूटस्थ चिन्मात्र स्वभाववाले ब्रह्म

से मनकी तो उत्पत्ति नहीं हो सकती। 'तन्मनोऽकुरुत आत्मन्वी स्याम्' (उसने मनस्वी होऊँ, इस आशय से मन की सृष्टि की) इस श्रुति से मनकी सृष्टि बुद्धिपूर्वक सुनी जाती है। मनकी उत्पत्ति से पहले बुद्धि का सम्भव नहीं है। जो वस्तु मनसे पर्यालोचित नहीं है, उसमें अध्यवसाय कहीं पर नहीं देखा जाता, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आपने जीवों की जो तीन प्रकार की जातियाँ (卐) कही है और सद्-असद् रूप मनको उनका मुख्य कारण कहा है, किन्तु मुझे इस विषय में आशंका है कि बुद्धिशून्य शुद्ध चित्-नामक तत्त्वसे जगद्रूप चित्रका चितेरा मन कैसे उत्पन्न हुआ और कैसे जगद्रूप विस्तार को प्राप्त हुआ ? ॥१२,१३॥

इस आशंका का भी आगे कहे जानेवाले दृष्टिभेद के अभिप्राय से सत्कार्यवादका अवलम्बन कर समाधान करने की इच्छा करनेवाले श्रीवसिष्ठजी उसके उपयोगी तीन आकाशों की कल्पना दर्शाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्ताकाश, चिदाकाश और तीसरा भूताकाश ये तीन आकाश विद्यमान है, जिनका उदर अत्यन्त विस्तीर्ण है ॥१४॥ ये तीनों आकाश अपने सब कार्योंमें साधारण हैं, सब स्वकार्योंमें अनुगत हैं, अतएव उनके हेतु हैं। इससे अद्वैतहानिकी शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि इनकी पृथक् सत्ता नहीं मानी गई है। कारण कि शुद्ध चित्-तत्त्व की शक्ति से ही उन्होंने अपनी सत्ता प्राप्त की है यानी शुद्ध चित् की सत्ता से उनकी सत्ता पृथक् नहीं है ॥१५॥

तीनों आकाश जब एक ही सत्तावाले है, तो चिदाकाशमें क्या विशिष्टता है ? ऐसी स्वयं आशंका कर उसकी विशिष्टता दर्शाते हुए चिदाकाश को मायाशबल दर्शाते हैं।

जो आभ्यन्तर बुद्धि आदि और बाह्य घट-पट आदि वस्तुओं की उत्पत्ति और विनाशका साक्षी तथा बाहर और भीतर स्थित सब वस्तुओं का व्यापक है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥१६॥

चित्ताकाश का लक्षण कहते हैं।

जो सब व्यवहारों का हेतु होने से सब प्राणियों का हितकारी है, जो सब कार्य और कारणों का नियन्ता होने से श्रेष्ठ है, जो काल का विभाग करनेवाला है एवं जिसने अपनी कल्पना से इस सकल जगत् का विस्तार कर रक्खा है, वह चित्ताकाश कहा जाता है ॥१७॥

भूताकाशका लक्षण कहते हैं।

दस दिक्मण्डलों में जिसका विशाल कलेवर व्याप्त है और जो वायु और मेघों का आश्रय है, वह भूताकाश है ॥१८॥

चिदाकाश सन्निधानमात्र से उनका (चित्ताकाश और भूताकाशका) निमित्त है, ऐसा दिखलाते हैं।

卐 यद्यपि श्रीवसिष्ठजी ने पीछे बारह प्रकार की जीवजातियाँ कही हैं, तथापि उनका सात्त्विक, राजस और तामस रूप त्रिविधता में अन्तर्भाव मानकर यहाँ तीन प्रकार की जीवजातियाँ कही हैं।

भूताकाश और चित्ताकाश–ये दोनों चिदाकाश के बल से उत्पन्न हुए हैं जैसे दिन अपने संनिधानमात्र से विविध कार्योंका कारण है, वैसे ही चिदंश भी संनिधानमात्र से सबका कारण है ॥१९॥

जड़ अंश के मन के आकार में परिणत होने के कारण मनके प्रति मुख्य उपादान होने पर भी मन में चित् और जाड्य दोनों का अनुभव होने से चित् स्वलित जड़ ही मनोभाव में परिणत होता है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, चित् का 'मैं जड़ हूँ, मैं जड़ नहीं हूँ' इत्याकारक जो मलिन निश्चय है, उसीको आप मन जानिए। उसीसे आकाश आदि उत्पन्न हुए हैं ॥२०॥

यह मनकी सृष्टि आदि की कल्पना अज्ञानी को उपदेश देने के लिए है, वास्तविक नहीं है, परमार्थदृष्टि से शुद्ध चित् से न कुछ उत्पन्न हुआ अथवा न नष्ट हुआ, इसलिए किसी प्रकार के आक्षेप का कोई अवसर नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

तीन आकाशों की कल्पना जिसे आत्मतत्त्व अज्ञात है, उस पुरुष के लिए है। उसीके उपदेश के लिए उनकी कल्पना की गई है। आत्मतत्त्व के ज्ञाता पुरुष के लिए उनकी कल्पना नहीं की गई है ॥२१॥ प्रबुद्ध पुरुषों की दृष्टि में तो सब प्रकारकी कल्पनाओंसे रहित, सर्वव्यापक, सर्वात्मक तीनों कालों में एकरस एकमात्र परम ब्रह्म ही विराजमान है ॥२२॥ विविध वाक्यसन्दर्भोंसे परिपूर्ण द्वैत और अद्वैत के भेदोंसे अज्ञानी पुरुषको ही उपदेश दिया जाता है, ज्ञानी जनको कदापि नहीं ॥२३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जब तक आपको ज्ञान नहीं हुआ तभीतक इन तीनों आकाशों की कल्पना है और तभी तक मैं आपको उपदेश देता हूँ ॥२४॥ जैसे मरूभूमि में निपतित वनाग्निसदृश सूर्य के ताप से मृगतृष्णाकी (मरूभूमि में मिथ्या जलप्रवाह की) भ्रमवश अज्ञों की दृष्टि में उत्पत्ति होती है वैसे ही अविद्याकलंकसे युक्त चिदाकाश से भूताकाश, चित्ताकाश आदि उत्पन्न हुए हैं ॥२५॥

कार्यों में मलिनता दिखलाई देती है अतएव चित्त शुद्ध चित् का कार्य नहीं है ऐसा कहते हैं।

चैतन्य पहले अविद्यारूप मालिन्य को प्राप्त होता है तदनन्तर चित्तता को प्राप्त होकर व्याकुल चित्तरूप वह तीनों लोकरूप इन्द्रजाल की रचना करता है ॥२६॥

चित्त एकमात्र अज्ञानियों द्वारा दृश्य होने से अज्ञानकार्य है, इससे निश्चित है कि अज्ञानीकी दृष्टि से ही बन्ध है, तत्त्वज्ञकी दृष्टि से तो आत्मा नित्यमुक्त ही है, ऐसा कहते हैं।

जैसे व्यावहारिक लोग यानी अज्ञानी पुरुष (जिन्हें तत्त्वज्ञान नही हुआ या जो शास्त्रदर्शी नहीं है) अज्ञान की अधिकता से सीपके टुकड़े में रजतदृष्टि करते हैं वैसे ही अतत्त्वज्ञ लोग चिदात्मक मलिन तत्त्व को चित्तरूप से देखते हैं, तत्त्वज्ञ नहीं देखते। अपने में स्थित अज्ञान से ही बन्ध होता है और बोध के बलसे मोक्ष होता है ॥२७॥

सत्तानबेवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठानबेवाँ सर्ग

पूर्वोक्त विषयका स्पष्टरूप से ज्ञान होने के लिए चित्ताख्यानका वर्णन तथा
चित्त के तत्त्व के विचार से चित्त के विनाश का कथन।

यद्यपि आत्मा नित्यमुक्त है, तथापि उसको अपने स्वरूप के अज्ञानसे 'मैं मन हूँ' इस भ्रान्ति से बन्धनप्रतीति हुई है, इस प्रकार के निर्णय के लिए ज्ञात आत्मा से मन की उत्पत्ति विस्तारपूर्वक कही गई। यह कथन रोगनिर्णय के लिए रोग कारणभूत अपथ्य भोजन की उक्ति के सदृश है। मनस्तत्त्व का निर्णय होने पर अब उसकी चिकित्सा का प्रयत्न करना ही आवश्यक है, फिर निदानचिन्ता का कोई प्रयोजन नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, मन चाहे जिस किसीसे उत्पन्न हुआ हो, चाहे उसका स्वरूप जो कुछ भी हो, बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि उसे प्रयत्नपूर्वक अपनी मुक्ति के लिए आत्मा में समाहित करे ॥१॥

मन को आत्मा में समाहित करने का फल कहते हैं।

हे रघुकुलतिलक, परमात्मामें समाहित चित्त वासनारहित अतएव शुद्ध हो जाता है। चित्त के वासना शून्य एवं शुद्ध होनेके अनन्तर मन कल्पनाहीन होकर आत्मता को प्राप्त हो जाता है ॥२॥

यदि कोई शंका करे कि केवलमात्र चित्त के निरोध से बाह्य और आभ्यन्तर सकल द्वैतरूप बन्ध की निवृत्ति कैसे होगी ? इस पर कहते हैं।

हे रामजी, यह सारा चराचर जगत् चित्त के अधीन है, इसलिए हे रघुवर, यह स्पष्ट है कि बन्ध और मोक्ष भी चित्त के अधीन हैं ॥३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस विषयमें मेरे द्वारा कहे जा रहे अति उत्तम चित्ताख्यान को, जिसे पहले ब्रह्माजी ने मुझसे कहा था, आप प्रयत्नपूर्वक सुनिए ॥४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मृग, पक्षी आदिसे रहित, बड़े-बड़े विक्षेपों से परिपूर्ण, अतिभयंकर बड़ी विशाल एक अटवी ( ) है, वह इतनी विशाल है कि उसमें सैंकड़ों योजन भूमि परमाणु की भाँति अतिसूक्ष्म प्रतीत होती है ॥५॥ उस महाटवी में महाकाय अतिभयंकर तथा हजारों बाहुओं और हजारों नेत्रों से युक्त एक पुरुष रहता है। उसकी बुद्धि कभी ठिकाने नहीं रहती है। मैंने देखा-हजारों बाहुओंसे बहुत से मुद्‌गर को लेकर अपनी पीठपर स्वयं ही प्रहार कर रहा वह भाग रहा है। स्वयं ही अपने ऊपर दृढ़ प्रहारों से प्रहार कर रहा वह भयभीत होकर सैंकड़ों योजनों तक दौड़ रहा है। रोते-रोते भाग रहा वह इधर-उधर बहुत दूर जाकर परिश्रान्त, परवश हो गया, चलने से जर्जरित पैर और अन्यान्य अंगवाला और विवेकरूपी दृष्टिसे रहित वह विवश होकर शीघ्र महान् कूप में गिर पड़ा। वह कूप अन्धकार से कृष्णपक्षकी रात्रि की नाईं भीषण था, ऐसा भीषण कि ज्ञात होता था मानों वह आकाश का खूब गहरा कोट हो ॥६-१०॥ तदनन्तर चिरकाल के बाद उस अँधेरे कुएँ से बाहर आया और फिर अपने आप

अटवी आदि शब्दों का तात्पर्यार्थ अगले सर्ग में ग्रन्थकर्ता स्वयं ही कहेंगे।

पूर्ववत् मुद्‌गरों के प्रहारों से अपने को पीटता हुआ भागने लगा। तदुपरान्त बहुत दूर जाकर जैसे पतंगा आगमें प्रवेश करता है वैसे ही वह अनेक दूसरे काँटों से भी भरपूर करौंदों की लताओं से खूब आच्छन्न थोडी छायावाले दुःखपूर्ण करौंदे के वनकी झाड़ीमें प्रविष्ट हो गया। उस करौंदे के वन से थोड़ी ही देरमें बाहर निकल कर फिर मुद्‌गरों के प्रहारों से अपने ऊपर प्रहार करता हुआ भयका कोई दूसरा निमित्त न होने पर भी अपने से आप ही भागने लगा। फिर बहुत दूर जाकर चन्द्रमा की किरणों के समान शीतल बड़े मनोहर केले के वनमें बड़ा प्रसन्न हुआ–सा प्रविष्ट हुआ। क्षणभरमें उस केलेके वनसे बाहर निकल कर फिर अपने ऊपर अपने आप प्रहार करता हुआ दौड़ने लगा। फिर अति दूर जाकर विवेकदृष्टि से शून्य वह पुरुष, जिसके अंग–प्रत्यंग जर्जरित हो गये थे, जल्दी से उसी अँधेरे कुएँ में घुस गया। अँधेरे कुएँ से बाहर निकल कर केले के वन में प्रविष्ट हो गया। केले के वन से गड्ढे के समान गहरे करौंदे के वन की झाड़ी में प्रविष्ट हुआ। करौंदे के वन से अँधेरे कुएँ में गिरा, कुएँ से निकल कर दूसरे केले के वन में प्रवेश कर रहा और अपने ऊपर स्वयं प्रहार कर रहा वह स्थित था ॥११–१८॥ मैंने इस प्रकार के आचरण से युक्त उसको चिरकालतक विवेकदृष्टि से देखकर तथा अपने योगबल से पकड़ कर हठात् मुहूर्तभर के लिए मार्ग में रोका और उससे पूछा तुम कौन हो, यह अपने ऊपर प्रहार आदि किसलिए कर रहे हो, यहाँ पर तुम्हें किस वस्तु की अभिलाषा है तथा तुम क्यों व्यर्थ मोह में पड़े हो ? ॥१९,२०॥

हे श्रीरघुनन्दन, मेरे यों पूछने पर उसने कहा : हे मुनिजी, मैं कोई नहीं हूँ और मैं यह कुछ भी नहीं करता हूँ ॥२१॥ तुमने मुझे नष्ट–भ्रष्ट कर दिया है, इसलिए तुम मेरे शत्रु हो। तुमसे देखा गया मैं दुःख के लिए और सुख के लिए नष्ट हुआ हूँ, – ऐसा कहकर अपने विह्वल अंगों की ओर देखकर जैसे मेघ जंगलमें वृष्टि करता हुआ बड़े जोर से शब्द करता है वैसे ही भोगों से तृप्त न हुआ वह दीन–हीन पुरुष भी बड़े जोरसे रोने लगा ॥२२,२३॥ एक क्षण में वहाँ पर रोना समाप्त कर वह अपने अंगों को देखकर हँसने और गरजने लगा ॥२४॥ अट्टहास करने के बाद उस आदमीने मेरे सामने ही अपने उन अंगों का क्रमशः त्याग कर दिया। पहले उसका संकल्पात्मक सिर गिरा, जो कि सम्पूर्ण अनर्थों का मूल होने के कारण अतिभीषण था। तदनन्तर विकल्पाशयरूपी भुजाएँ गिरी। तत्पश्चात् विषयाभिनिवेशरूप वक्षःस्थल गिरा। उसके बाद तृष्णारूपी उदर नष्ट हुआ। इसके पश्चात् वह पुरुष उन अंगों का–एक क्षण में क्रमानुसार ज्ञान से अज्ञानका बाध होता है, इस नियतिशक्ति से–त्यागकर कहीं जाने को तत्पर हुआ। किसी गन्तव्य स्थानका निर्देश न होने के कारण वह निःस्वरूप हो गया, यह समझना चाहिए। फिर मैंने एकान्त में वैसे ही दूसरे पुरुषको देखा वह भी स्वयं अपने ऊपर अपनी बड़ी स्थूल बाहुओंसे स्वयं प्रहार करता हुआ भाग रहा था। पहले कुएँ में गिरा। कुएँसे निकलकर फिर दौड़ने लगा। फिर अन्ध कूपमें गिरा फिर पीड़ित होकर दौड़ा, फिर करौंदे के वनरूप गड्ढेमें प्रविष्ट हुआ। तदुपरान्त एक क्षण के लिए शीतल केले के वन में प्रविष्ट हुआ। कभी दुःख को प्राप्त होता और कभी सन्तोष को प्राप्त होता हुआ वह फिर अपने ऊपर स्वयं प्रहार करता,

इस प्रकार का आचरण करनेवाले पुरुष को आश्चर्यपूर्वक चिरकाल तक देखकर मैंने उसे योगबल से पकड़ा और वैसे ही पूछा। उसीसे वह पुरुष भी क्रमशः रो और हँसकर तथा अंगों से रहित होकर अदृश्य हो गया। तदनन्तर ज्ञान से अज्ञानका नाश होता है, इस नियति की शक्तिका विचार कर निःस्वरूपतापत्ति को प्राप्त होने के लिए तत्पर हुआ। फिर मैंने उसी प्रकार के दूसरे पुरुष को एकान्त में देखा, वह भी उन लोगों के समान स्वयं अपने ऊपर प्रहार करता हुआ दौड़ रहा था ॥२५-३४॥ दौड़ते-दौड़ते अन्धकाराच्छन्न बड़े भारी कुएँ मैं गिर पड़ा। उसकी प्रतीक्षा के लिए मैं वहाँ पर बहुत देर तक टिका रहा ॥३५॥ जब वह शठ बहुत समय बीतने पर भी कुएँसे नहीं निकला तब मैं चलने के लिए उठा। इतने में मुजे फिर वैसा ही दूसरा पुरुष दिखाई दिया। वह भी उसीके आकार का था और वैसे ही कुएँ आदि में गिर रहा था। उसे झटपट योगबल से पकड़कर मैंने उससे पूछा। हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, उन्हीं के समान उसने भी मेरे प्रश्न को कुछ नहीं समझा। वह मूढ़, 'हे पापी, हे दुष्ट ब्राह्मण, तुम कुछ नहीं जानते हो', ऐसा मुझसे कहकर अपने कार्य में तत्पर होकर चला गया। इसके बाद उस महाअरण्य में विचरण कर रहे मैंने बहुतसे वैसे दोषकारी पुरुषों को देखा। उनमें कुछ तो मेरे द्वारा प्रबोधित होकर स्वप्नभ्रम की नाईं पूर्वोक्त स्वरूपनाशरूप उपशम को प्राप्त हुए, कुछ लोगों ने मेरे उपदेश की शव के शरीर के समान उपेक्षा और घृणा की और कोई लोग अन्धकूपमें गिरकर फिर उनसे बाहर निकले। कोई शीतल केले के वनसे बहुत समय बीतने पर भी बाहर नहीं निकले यानी वहीं ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो गये। कोई विशाल करौंदे के वन के गुल्ममें दीर्घकाल तक छिपे रहे ॥३६-४२॥ काम्य धर्मों में तत्पर कोई पुरुष कहींपर भी स्थिरता को प्राप्त नहीं होते हैं। हे रघुकुलदीप, इस प्रकारकी वह विस्तृत महाटवी आज भी विद्यमान है, जिसमें इस प्रकार वे पुरुष स्थित हैं। आपसे सब व्यवहारवाली वह महाटवी आपने देखी है। हे श्रीरामजी, बुद्धिरूपी सार वस्तु के अप्रौढ़ होने के कारण आपको उसका स्मरण नहीं होता है। उक्त महाटवी यद्यपि बड़ी भयंकर विविध प्रकार के काँटों से परिपूर्ण, निबिड़ अन्धकार से व्याप्त और घोर है तथापि अधिकारी द्विजाति आदि जन्ममें साधनसम्पत्तिरूप सुख पाकर भी अभाग्यवश जिन्हें परमात्मबोध नहीं हुआ ऐसे लोग विषयासक्ति से उसका फूलों से परिपूर्ण उद्यानवाटिका के समान सेवन करते हैं ॥४३-४५॥

अट्ठानबेवाँ सर्ग समाप्त

निन्यानबेवाँ सर्ग

पूर्व सर्ग में कहे गये चित्ताख्यान का क्रम और और व्युत्क्रमसे तात्पर्य वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन् – वह महाटवी कौन है, मैंने उसे कब और कैसे देखा, वे पुरुष कौन हैं और अपने शरीरपर प्रहार करने तथा कुएँ और करौंदे के वन आदि में प्रवेश करने के लिए वे क्यों उद्यत हुए (✍) ? ॥१॥

✍ किसी पुस्तक में 'किंतत्कर्तृकृतोद्यमाः' ऐसा भी पाठ है। उक्त पाठ में श्रीरामचन्द्रजी का

वास्तव में ब्रह्म ही मिथ्याभूत स्वर्ग, नरक आदि वैचित्र्य की कल्पना से संसाराटवी है और उसकी कल्पना करनेवाले मन ही वे पुरुष हैं, इसलिए वे लोग कोई दूर के मैंने कहे हैं, सो बात नहीं है, ऐसा कहते हैं।

श्री वसिष्ठजी ने कहा : हे रघुनाथजी, हे महाबाहो, आप सुनिये, मैं आपसे सब कहूँगा। हे श्रीरामचन्द्रजी, न तो वह महाटवी कहीं दूर है और न वे मनुष्य ही दूरवर्ती हैं। हे रामचन्द्रजी, अतिगंभीर और अपार (अनन्त) लोकों से पूर्ण जो यह संसारपदवी है, उसे आप परमार्थदृष्टि से उसकी सत्ता न होने के कारण शून्य और भ्रान्तिदृष्टि से तो उसकी सत्ता होने से विविध विकारों से पूर्ण महाटवी जानिये ॥२,३॥

यदि कोई शंका करे कि कब वह शून्य होती है अथवा ऐसी वह किस उपाय से प्राप्त होती है, तो इस पर कहते हैं।

यह जब अद्वितीय वस्तु से (ब्रह्म से) ही पूर्ण होती है, अन्य वस्तु से इसका कोई संपर्क नहीं रहता है तभी यह शून्य सी होती है। इस प्रकार की (शून्य–सी) यह 'तत्–त्वम्' पदार्थशोधनात्मक केवल विचाररूपी प्रकाश से प्राप्त होती है ॥४॥ उसमें जो ये विशाल कलेवरवाले पुरुष घूमते है, उन्हें आप बड़े भारी क्लेश में डूबे हुए मन जानिये। जो यह 'मैं' उनका द्रष्टा हूँ, वह विचार (तत्–त्वम्–पदार्थशोधनरूप विचाररूप) है, हे पुण्यमय, उक्त विचाररूप मैंने उनको देखा है और किसीने उन्हें नहीं देखा है ॥५,६॥ जैसे सूर्य निरन्तर प्रकाश से कमलों को प्रफुल्लित करता है वैसे ही उन्हीं मनों को विवेकरूप मैं प्रबुद्ध करता हूँ ॥७॥ हे महामते, उनमें से कई एक मन विवेक के प्रसाद से तत्त्वज्ञानको प्राप्त कर मनोभाव का नाश होनेसे मुक्ति को प्राप्त हुए हैं ॥८॥ उनमें से कई मन अज्ञानवश विवेकरूप मेरा अभिनन्दन नहीं करते हैं। विवेकरूप मेरा तिरस्कार करने से यानी विचारकी उपेक्षा करने से वे कुओं में ही नीचे गिरते हैं ॥९॥ हे रघुकुलमणे, जो ये मैंने अन्धकूप कहे हैं, वे घोर नरक हैं। जो मन केले के वन में प्रविष्ट हुए हैं, उन्हें आप एकमात्र स्वर्ग में प्रीति रखनेवाले मन जानिये, यानी जो मैंने कदली के वन कहे हैं, वे स्वर्ग हैं। हे रामचन्द्रजी, जो अन्धे कुओं के अन्दर प्रविष्ट हुए फिर उनसे निकले नहीं, उन्हें आप महापातकी चित्त जानिये। हे रघुवर, केले के वनों में स्थित जो मन वहाँ से चिरकाल बीतनेपर भी नहीं निकले, वे प्रचुरपुण्यराशि से सम्पन्न चित्त हैं। हे रघुनन्दन, जो करौंदे के वनमें जाकर उससे बाहर नहीं निकले, वे मनुष्यभावमें परिणत चित्त हैं। मनुष्यजन्म में कोई तत्त्वज्ञान प्राप्त कर (卐) बन्धन से मुक्ति

आशय यह है कि स्वतः अपने लिए अनिष्ट स्वशरीरप्रहार आदि में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए कहना होगा कि वह प्रवृत्ति किसी दूसरे से हुई 'किस उनके कर्तासे (जबरदस्ती वैसे अनिष्टमें नियुक्त करनेवाले किस हेतुभूत से) वे स्वतः अपने ऊपर प्रहार आदिमें उद्यत हुए– यह अर्थ है। 'कश्चाऽसौ तत्कर्ता कितत्कर्ता तेन कृतोद्यमाः' ऐसा समास करना चाहिए।

卐 मनुष्य देह में वैराग्य आदिका विशेषरूप से संभव है, इसलिए मनुष्यदेह में ज्ञान का अधिकार मुख्य है, यह सूचित करने के लिए 'संप्रबुद्धनि' (तत्त्वज्ञान को प्राप्त हुए) कहा है।

पा गये हैं। उनमें से कई एक मन से बहुत रूप धारण कर एक योनिसे दूसरी योनि में प्रवेश करते हैं, वे मन भूमि में मनुष्य आदि रूपसे स्थित होते हैं, नरकों में गिरते हैं और स्वर्ग में जाते हैं ॥१०-१५॥ जो वह करौंदे का वन है, उसे कुटुम्बस्नेह से युक्त, दुःखरूपी कण्टकों से व्याप्त तथा पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से पूर्ण मनुष्यजन्म कहते हैं ॥१६॥ जो मन करौंदे के वन में प्रविष्ट कहे गये हैं, उन मनों को आप मनुष्ययोनि में उत्पन्न हुए और वहीं पर रमे हुए यानी विषयों के स्वादमें तत्पर हुए जानिये ॥१७॥ हे रघुकुलदीपक, चन्द्रमा की किरणों की नाईं शीतल जो कदलीवन पीछे कहा गया है, उसे चित्त को प्रसन्न करनेवाला स्वर्ग जानिये ॥१८॥ उनमें से कई एक मन शास्त्र द्वारा विहित, ध्येय तत्त्व में मन लगानारूप धारणाप्रधान उपासनात्मक तपसे ग्रह, सप्तर्षि, ध्रुव आदिका शरीर धारण करते हैं, वे औरों की अपेक्षा तेज और भोग की अधिकता से और तत्त्वज्ञानसे अभ्युदययुक्त होकर चिरकाल से स्थित हैं ॥१९॥ जिन अज्ञानी पुरुषोंने बुद्धि अथवा चित्त से विचाररूप मेरी उपेक्षा की यानी विचारोद्योग नहीं किया, ऐसा मैंने जो कहा, वह उन अज्ञानी मनोंने अपने विवेकका तिरस्कार किया। तुमसे देखा गया मैं विनष्ट हो गया हूँ तुम मेरे शत्रु हो, जो यह कहा, वह तत्त्वज्ञान से जर्जरित हो रहे (गल रहे) चित्त ने विलाप किया ॥२०,२१॥ हे रामचन्द्रजी, जो मैंने कहा कि पुरुषने बड़े तार स्वर से बहुत रोदन किया, वह भोगसमूह का त्याग कर रहे मनने रोदन किया। जिसे आधा विवेक प्राप्त हो गया है, परमपद प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे चित्त को भोगों का त्याग करने में अत्यन्त परिताप होता है ॥२२,२३॥ बड़े खेद की बात है, इन अंगोंका परित्याग कर कहाँ जाऊँ, यों रो रहे थोड़े बहुत विवेक को प्राप्त हुए मनने बड़ी करुणा से अपने अंग देखे ॥२४॥ जिसे आधा विवेक प्राप्त हो गया है, निर्मल पद प्राप्त नहीं हुआ, ऐसे चित्त को अपने स्नेह, लोभ आदि अंगों का त्याग करते बड़ा परिताप होता है ॥२५॥ मेरे परिज्ञान (तत्त्वज्ञान) से पुरुष ने आनन्दमय हास किया, ऐसा जो मैंने कहा, वह चित्त को, जिसे पूर्ण विवेक हो गया था, आनन्द प्राप्त हुआ ॥२६॥ जिसे पूर्णरूप से विवेक की प्राप्ति हो गई है तथा जिसने संसारस्थितिका परित्याग कर दिया है, ऐसे चित्त को अपने रूपका परित्याग करते महान् आनन्द होता है ॥२७॥ हँस रहे पुरुष ने उपहासपूर्वक अपने अंग-प्रत्यंग देखे, ऐसा जो मैंने कहा था, उसका यह अर्थ है कि मनने अपनी वंचना के निमित्त लोभ, स्नेह आदि देखे ॥२८॥ मिथ्या विकल्पों से कल्पित विषयों से मैं चिरकालतक ठगा गया, यों उपहास से चित्त ने अपने अंगों की ओर देखा। मन जब विवेक प्राप्त कर विस्तृत पदमें (परम पद में) विश्रान्त होता है तब प्राक्तन अपनी दीनता के आधार विषयों को हँसता हुआ दूरसे देखता है। मैंने उस पुरुष को योगबल से पकड़कर बड़े जतन से पूछा, इसका मतलब विवेक जबरदस्ती चित्त को व्याप्त करता है, यह दर्शाने में है ॥२९-३१॥ छिन्न-भिन्न हुए अंग मेरे सामने अन्तर्हित हो गये, ऐसा जो मैंने कहा उससे चित्त के बिना अर्थसहित आशा शान्त हो जाती है, यह दर्शाया है। भाव यह कि मन का बाध होने पर विषयों के साथ विषयों की आशा भी निवृत्त हो जाती है, यह दर्शाया है ॥३२॥ जो मैंने पुरुष के हजारों नेत्रों

और भुजाओं का वर्णन किया है, उससे चित्त की असंख्य आकृतियाँ हैं, यह दर्शाया है ॥३३॥ जो यह वर्णन किया है कि पुरुष अपने–आप अपने ऊपर प्रहार करता है, वह विविध कुकल्पनारूपी आघातों (प्रहारों) से मन अपने ऊपर प्रहार करता है, यह दर्शाया है। अपने ऊपर प्रहार करता हुआ पुरुष अपने से भागता है यह जो वर्णन किया है, उससे अपने वासनारूपी प्रहारों से मन भागता है, यह दर्शाया है। मन अपने–आप अपनी इच्छा से अपने ऊपर प्रहार करता है और स्वयं भागता है, अज्ञान की महिमा को तो देखिये। यद्यपि मनों में ब्रह्मपद का ज्ञान प्राप्त करने की स्वरूपयोग्यता है, तथापि सभी मन अपनी–अपनी वासना से सन्तप्त हैं यानी विक्षोभित हैं; अतएव स्वयं ही भागते हैं ॥३४–३७॥ जो यह दुःख विस्तार को प्राप्त हुआ है, उसको मन ही स्वयं बढ़ाता है। फिर स्वयं ही बन्धन में पड़ता है वैसे ही मन अपने संकल्पवासनाजालों से स्वयं ही बन्धन में पड़ता है ॥३८,३९॥ जैसे बालक अपने ऊपर पड़नेवाले अनर्थ (दण्ड) की कोई परवाह न कर नानाविध दुर्लीलाओं से खेलता है और अनर्थको प्राप्त होता है वैसे ही चंचल मन भी अपने भावी दुःखकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर जैसे–जैसे अनर्थको प्राप्त होता है वैसे–वैसे दुष्ट लीलाओं द्वारा खेल करता है ॥४०॥

इस विषय में लौकिक गाथा का उदाहरण देते हैं।

जैसे आधे चीरे हुए खम्भे में डाली हुई कील को उखाड़नेवाला वानर, यह ध्यानमें न रखकर कि कील निकालने से काठ के छिद्र के बीचमें स्थित मेरे वृषण दब जायेंगे, दुःख पाता है, वही दशा मन की भी है (*) ॥४१॥

यदि कोई कहे कि योग आदि से निरूद्ध चित्त भी विक्षेपों द्वारा यदि भागता है, तो परमपद प्राप्तिरूप इष्टसिद्धि कैसे होगी ? इस पर कहते हैं।

एक बार के निरोध से इष्टसिद्धि नहीं होती है, किन्तु चिरकालतक निरोधकी रक्षा करने से और चिरकालतक असंग अद्वितीय आत्मा की भावनासे अभ्यासवश तुच्छता को प्राप्त (ज्ञान से बाध्य) होकर फिर मन शोक नहीं करता है ॥४२॥

मन ही प्रमाद और विवेक से बन्ध और मोक्ष को धारण करता है, यह फलित अर्थ कहते हैं। मन के प्रमाद से विविध दुःख पर्वतके शिखर के समान बढ़ते हैं और विवेक से जैसे सूर्य के सामने बर्फ गल जाता है वैसे ही सब दुःख जल जाते हैं ॥४३॥ यदि मन शास्त्रों के अर्थज्ञानसे उत्पन्न हुई श्लाघनीय वासना से सराबोर होकर राग आदि विषयों में निरोधसे जीवनपर्यन्त

---

* जंगल में बढ़ई आदि बड़े–बड़े बल्लों को आरे से चीरते हैं। चीरने के समय आरा सरलतासे आर–पार आ–जा सके इसलिए चीरे हुए काठ के मध्य में कील दे दी जाती है। किसी समय की घटना है कि चीरनेवाले लोग एक बड़े बल्लेको आधा चीरकर उसके बीचमें एक कील देकर भोजन करने के लिए अन्यत्र चले गये थे। एक चंचलबुद्धि वानर उस चीरे हुए बल्ले पर बैठकर उस कील को हाथ से हिलाने लगा। उसके अण्डकोष चीरे हुए बल्ले के बीच में थे। बार–बार कील को हिलाने से कील निकल गई, उससे मध्य में स्थित उसके वृषण दब जाने से वह मर गया। इस मरणरूपी दुःख का उसने जैसे स्वयं आवाहन किया, वैसे ही मन भी नाना प्रकार के दुःखों का स्वयं आवाहन करता है।

मुनि की नाईं रमता है, तो बाद में तत्त्वज्ञान से परम पवित्र, जन्म आदि विकारों से शून्य अतएव तीनों प्रकारके तापों के स्पर्श से रहित परिपूर्ण ब्रह्मपद को प्राप्त कर उसमें स्थित यानी जीवन्मुक्त पुरुष को प्रलय आदि बड़ी–बड़ी आपत्तियोंमें भी शोक नहीं होता, क्योंकि 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मज्ञानी पुरुष शोक को पार कर जाता है) ऐसी श्रुति है ॥४४॥

निन्यानबेवाँ सर्ग समाप्त

सौवाँ सर्ग

मन की शक्ति से ब्रह्म की सर्वशक्तिता का तथा
एकमात्र अज्ञानसे अद्वितीय ब्रह्म में बन्ध, मोक्ष आदिकी कल्पना का वर्णन।

बन्ध और मोक्ष की कल्पना मनके अधीन ही है, ऐसा जो पीछे कहा था, उसमें उपपत्ति दिखलाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सागर से जलकी विकाररूप और जलसत्ता की विवर्तरूप तरंगें उठती हैं वैसे ही परमपदरूप ब्रह्म से यह चित्त आया है, जो कि अब्रह्मभूत अज्ञानका विकार और शुद्ध ब्रह्म का विवर्त है ॥१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे तरंगसत्ता जलकी सत्ता से अतिरिक्त नहीं है ऐसा समझनेवाले पुरुषों की दृष्टि में तरंग समुद्र से भिन्न नहीं है, वैसे ही इस लोकमें ज्ञानी (चित्त की सत्ता ब्रह्मकी सत्ता से भिन्न नहीं है, यह जाननेवाले) पुरुषों का चित्त ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं है ॥२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे जल और तरंगमें, जलसत्ता को न देख रहे पुरुष को, भेद प्रतीत होता है वैसे ही अज्ञानी पुरुषों का मन संसारभ्रम का कारण है ॥३॥

उपदेश्य, उपदेशक, शब्द, अर्थ आदि शास्त्रीय व्यवहारकी कल्पना भी अज्ञानियों का अवलम्बन करके ही है, तत्त्वदृष्टि से नहीं है, ऐसा कहते हैं।

अज्ञानियों के पक्ष में केवल उनके उपदेश के लिए वाच्य–वाचक सम्बन्ध से उत्पन्न भेद की कल्पना की जाती है ॥४॥

अज्ञात ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् का कारण है, ज्ञात नहीं, इस आशय से अज्ञात ब्रह्मकी ही सर्वशक्तिशालिता का उपपादन करते हैं।

नित्य परिपूर्ण अविनाशी परमब्रह्म सर्वशक्तिशाली है। उस सर्वव्यापक ब्रह्म में जो नहीं है, ऐसी कोई वस्तु नहीं है ॥५॥ भगवान् सर्वशक्तिशाली हैं, उनको जब जो शक्ति रूचती है, सर्वव्यापी वे उसी शक्तिको कार्यरूप में प्रकट करते हैं ॥६॥ हे रामचन्द्रजी, जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज–इन चार प्रकार के प्राणियों में ब्रह्म की चित्–शक्ति दिखाई देती है। वायुओंमें ब्रह्म की स्पन्दनशक्ति, पत्थरमें जड़शक्ति, जलमें द्रवशक्ति, अग्निमें तेजःशक्ति, आवरणरहित होनेके कारण आकाशमें शून्यशक्ति यानी सर्वावरणशक्ति और जगत्स्थितमें भावशक्ति ('है' इस प्रकार की व्यवहारयोग्यता) है ॥७,८॥ ब्रह्म की सर्वशक्ति दसों दिशाओं में ओत–प्रोत दिखाई देती है। विनाशों में उनकी विनाशशक्ति दिखाई देती है, शोकयुक्त

पुरुषोंमें शोकशक्ति, प्रसन्न जीवमें आनन्दशक्ति, योद्धामें वीर्यशक्ति, विविध सृष्टियों में सर्गशक्ति, प्राकृत प्रलयमें प्रकृतिमें उनकी सर्वशक्तिता है, क्योंकि वही सब कार्योंकी बीजभूत है ॥९,१०॥ जैसे वृक्ष के बीजमें फल, फूल, लता, पत्ते, शाखा, प्रशाखाएँ और तने से युक्त वृक्ष रहता है, वैसे ही यह जगत् ब्रह्म में स्थित है ॥११॥

ब्रह्म के प्रथम कार्य चित्त में चित्त्व और जड़ता दिखाई देने से भी अज्ञात ब्रह्म ही जगत् का कारण है, इस आशय से कहते हैं।

चित्ता और जड़ता के मध्य में स्थित मन, जिसका दूसरा नाम जीव है, अज्ञान साक्षी के कारण ही ब्रह्म के मध्य में दिखाई देता है ॥१२॥

चूँकि वृक्ष, झाड़ी आदि दृश्य प्रपंच अज्ञातचिद्विवर्त है, अतः एकमात्र चित् ही तत्त्व है, ऐसा कहते हैं।

विविध वृक्ष, लता, झाड़ियाँ, पल्लव और पेड़, पौधे आदि अज्ञात तत्त्वमें यह नाना कल्पना है, अतः निर्विकल्प चिन्मात्र ही है ॥१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, अब इस जगत् को और 'अहम्' रूप से भासित हो रहे जीवतत्त्व को आप ब्रह्मरूप ही देखिये, वह ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है। वह आत्मा सर्वव्यापक है और उसका अनन्तस्वरूप नित्य प्रकाशमान है ॥१४॥

ब्रह्म ही तत्–तत् शक्तियों से भ्रान्तिवश मन आदि शब्दों से पुकारा जाता है, वह ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं।

वह जब तनिक मननशक्तिको धारण करता है, तब मन कहलाता है। जैसे आकाशमें भ्रमवश मोर के पंखों की प्रतीति होती है और जलमें आवर्तबुद्धि होती है, वैसे ही ब्रह्म में मनकी प्रतीति होती है। आत्मा में जीव और मन यह केवल प्रतीतिमात्र ही है, वास्तविक नहीं है। जो यह मनका मननात्मक रूप उदित हुआ है, वह ब्राह्मी शक्ति ही है। इसलिए हे रिपुसूदन, वह ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है। शक्ति और शक्तिके कार्य में अभेद है, अतः 'इदम्' (यह) यों सामने स्थितरूप से, 'तत्' (वह) यों परोक्षरूपसे और 'अहम्' (मैं) यों प्रत्यगात्मा के अभेद से प्रतीत हो रहा तीन प्रकार का जो दृश्यविभाग है, वह प्रातिभासिक ही है, वास्तविक नहीं है ॥१५–१७॥

यदि कोई शंका करे कि काम, कर्मवासना आदि भी द्वैतप्रपंच के हेतु सुने जाते हैं, ऐसी अवस्थामें ब्रह्मशक्ति ही प्रपंचकी हेतु है, यह कैसे कहा ? इस पर कहते हैं।

मन के यानी जीव के और ब्रह्म के भेद आदि भ्रममें अन्यान्य काम आदि जो कुछ भी परम कारण लोक में कहे गये है, मन में ही आविर्भाव और तिरोभाव होने के कारण सदसदात्मक उन सबको विज्ञ पुरुष सर्वशक्तिशाली ब्रह्म की पूर्वोक्त ब्रह्मता (बृहणशक्ति) ही जानते हैं, वे उससे अतिरिक्त नहीं है ॥१८॥

यदि कोई शंका करे कि काम आदि मनके धर्म हैं, वे ब्रह्ममें स्थित कैसे हो सकते हैं, जिससे कि वे ब्रह्मशक्ति कहे जाय ? इस पर कहते हैं।

जैसे मन का सत्तात्मक ब्रह्मरूप नाम संसर्गाध्याससे मनमें स्थित है अथवा जैसे वसन्त

आदि ऋतुओं की शक्तियाँ वृक्ष आदि में स्थित हैं वैसे ही मनके धर्म भी ब्रह्म में स्थित हैं ॥१९॥

यदि सभी मनोधर्म ब्रह्मशक्तियाँ हैं, तो सबका सब जीवों में संमिश्रण क्यों नहीं होता ? इस पर कहते हैं।

यद्यपि पृथिवी में सब ऋतुओं के फूलों की शक्ति व्याप्त है तथापि वह जैसे तत्–तत् प्रदेशों के बीजों के संस्कार आदिके नियमभेद से तत्–तत् कालमें व्यवस्था के साथ ही फूल आदि को धारण करती है, सबको एक साथ धारण नहीं करती, वैसे ही लोकों की सृष्टि करनेवाले ब्रह्म भी चित्त की शक्तियों को व्यवस्थासे ही धारण करते हैं; सबको सांकर्य (संकरता) से धारण नहीं करते हैं ॥२०॥ जैसे देश, काल आदि की विलक्षणतासे पृथ्वीतल से धान आदि के पौधे उगते हैं वैसे ही ब्रह्म से भी कहीं–कहीं पर कभी ही उक्त चित्तशक्तियाँ व्यवस्थासे आविर्भूत होती हैं ॥२१॥

यह प्रतियोगी, भेद, संख्या, रूप आदिस्वरूप जगत् की विचित्रता कल्पना द्वारा मानकर दर्शाई गई है, परमार्थदृष्टि से यह मनशब्द से कल्पित ब्रह्मका प्रतिभासमात्र ही है। जो केवल प्रतिभासमात्र है, उसमें वास्तविकताका संभव नहीं है। अतः प्रतिभासिक यह जगज्जाल न तो उत्पन्न हुआ है, न कुछ है और न कोई किसीसे इसे देखता है। पूर्वोक्त जगद्वैचित्र्य मनशब्द से कल्पित ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, अतः केवल ब्रह्मरूप ही है, ऐसा आप जानिये; यों श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीसे कहते हैं।

प्रतिभास से जो उत्पन्न हुआ है वह उत्पन्न नहीं हुआ है, क्योंकि प्रतिभासिक (मृगतृष्णा आदि) में वास्तविकता नहीं हो सकती है; अथवा न किसीको किसी दूसरे करण आदि से कोई देखता है। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्' (जिस अवस्थामें इसका सब आत्मा ही हो गया वहाँ पर किसको किससे देखे) ऐसी श्रुति है। प्रतियोगी, भेद, संख्या, रूप आदि जो कुछ पदार्थजात है, उनकी कल्पना मनःशब्दकल्पित ब्रह्म से होती है, अतः उनको आप ब्रह्म ही जानिये ॥२२,२३॥ इस मनका जैसा–जैसा प्रतिभास होता है वैसा–वैसा ही यह हो जाता है, इसमें ऐन्दव (*) ब्राह्मण दृष्टान्त हैं ॥२४॥ जैसे निश्चल और निर्मल जलराशिमें अपने–आप स्पन्द (कम्पन) होता है वैसे ही परमात्मा में यह जीव भी उत्पन्न हुआ है, यही संसार का कारण है, भाव यह है कि जगत्की कल्पना करनेवाला जीव ही जब ब्रह्म से भिन्न नहीं है तब उससे कल्पित जगत् ब्रह्म से भिन्न कैसे होगा ? ॥२५॥ जैसे सागर का जल कल्लोल, लहर और तरंगके रूप में चारों ओर स्थित रहता है वैसे ही ज्ञानीकी दृष्टि में यह सारा प्रपंच परिपूर्ण ब्रह्म ही चारों ओरसे विद्यमान है, प्रपंच परिपूर्ण ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है। जैसे विविध तरंगों से व्याप्त विशाल सागर में जलसे अतिरिक्त कोई कल्पना नहीं है यानी जल से अतिरिक्त कुछ नहीं है, एकमात्र जल ही है; वैसे ही परम ब्रह्ममें नामरूपात्मक दूसरी सत्ता नहीं है, किन्तु एक ही सत्ता है। जो यह जगज्जाल उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, गमन करता है, स्थित होता है वह ब्रह्ममें ब्रह्म ही ब्रह्म से

* ऐन्दवों का आख्यान पीछे कहा गया है।

अवास्तविकरूप से भासित होता है ॥२६–२८॥ जैसे प्रचंड सूर्य के प्रकाश अपनेमें ही मृगतृष्णारूप से स्फुरित होता है वैसे ही नामरूप रहित ब्रह्म भी अपने आप जगद्वैचित्र्यरूप से स्फुरित होता है ॥२९॥ करण, कर्म, कर्ता, जन्म, मरण, स्थिति, सब ब्रह्म ही है, उसके सिवा कोई दूसरी कल्पना है ही नहीं ॥३०॥ न लोभ है, न मोह है, न तृष्णा है और न अत्यन्त आसक्ति है। आत्मा में आत्मा का लोभ कैसा अथवा आत्मा में आत्मा की तृष्णा या मोह कैसे हो सकता है ? दूसरे के अभावमें लोभ, मोह आदिकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती है, यह भाव है ॥३१॥ यह सारा जगत् आत्मा ही है। जो कुछ यह कल्पनाक्रम है, वह सब आत्मा ही है, बहुत क्या कहें, जैसे सुवर्ण अंगद (बाजूबन्द) रूपसे उदित होता है, वैसे ही आत्मा मनरूपसे उदित हुआ है ॥३२॥ जैसे बन्धु ही क्यों न हो, यदि यह मेरा बन्धु है, ऐसा ज्ञान न हो तो शीघ्र ही अबन्धु हो जाता है, वैसे ही अज्ञानसे आवृत्त जो परम धाम (परब्रह्म) है, वही चित्त और जीव नामसे कहा जाता है, यानी अज्ञानवश ब्रह्म में ही जीवभाव, चित्तभाव आदि उदित हुए हैं ॥३३॥ अशून्य भी आकाश जैसे अपनी शून्यता प्रकट करता है, वैसे ही अज्ञानावृत्त चिन्मय आत्माने अपनी कल्पनासे स्वयं जीवत्व प्रकट किया है ॥३४॥ आत्मा ही इस जगत् में अनात्मभूत अहंकार के अभेद से अनात्मा की नाईं जीवरूपसे विराजमान है। जैसे दृष्टि के दोष से एक ही चन्द्रमा दो रूपों से प्रकट होता है, वैसे ही अज्ञानवश वह आत्मा ही दो रूपों से प्रकट होता है। द्वितीय रूप से (विषयरूप से) वह असत् है और परमार्थरूप से सत् है ॥३५॥ व्यामोहजनित बन्ध–मोक्षशब्दार्थदृष्टियों का आत्मा में अत्यन्त असम्भव है, तथा आत्मा सत्य है, इस कारण कहाँ आत्मा बद्ध होता है और कहाँ मुक्त होता है यानी आत्मा के बन्ध और मोक्ष की कल्पना अज्ञान स्फुरित है ॥३६॥ जिसका बन्धन होना कभी सम्भव नहीं है, उसकी 'मैं बद्ध हूँ' यह कुकल्पना नहीं है तो और क्या है ? जिसका बन्ध काल्पनिक है, उसका मोक्ष भी मिथ्या ही है, वास्तविक नहीं है, तब मोक्ष कैसा ? भाव यह कि परमार्थदृष्टिसे कल्पनाप्रसूत बन्ध और मोक्ष दोनों तुच्छ हैं ॥३७॥

क्योंकि – न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ऐसी श्रुति है।

चूँकि पहले यौक्तिक दृष्टि से काल्पनिक अनिर्वचनीय बन्ध का विस्तार से उपपादन किया गया है, अतएव काल्पनिक होते हुए भी बन्ध की तुच्छत्वउक्ति को सहन न कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

हे प्रभो, आप पहले विस्तार से कह आये हैं कि मन जिस निश्चय को प्राप्त होता है, वही हो जाता है। उसमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता है। इससे यहाँ काल्पनिक बन्ध नहीं है, यह आपने कैसे कहा ? ॥३८॥

यौक्तिकदृष्टि की लौकिकदृष्टि की दृढ़ता का विघटन करने के लिए परमार्थदृष्टि के द्वाररूप से कल्पना की गई है, इसलिए वहींपर उसकी विश्रान्ति नहीं है, किन्तु श्रुति द्वारा प्रतिपादित बन्ध की तुच्छतादृष्टि में विश्रान्ति है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्वप्नकी कल्पना जाग्रतदृष्टि से तुच्छ हो जाती है, वैसे ही अज्ञानियों की यह बन्ध की कल्पना मिथ्या है, इसलिए उनकी दूसरी मोक्षकल्पना भी मिथ्या ही उदित हुई है ॥३९॥ पूर्वोक्त रीति से तुच्छ अज्ञानसे ही बन्ध और मोक्षकी दृष्टियाँ उत्पन्न हुई है। 'नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः' (असत् की सत्ता नहीं होती और सत् का अभाव नहीं होता, इन दोनों का ही निर्णय तत्त्वदर्शियोंने देखा है) इस स्मृतिके विरोधसे सत्–असत् के मध्यवर्ती अनिर्वचनीयता में यौक्तिक दृष्टिकी विश्रान्ति नहीं हो सकती है, अतएव हे महामते, वस्तुतः न तो बन्ध है और न मोक्ष है ॥४०॥ हे महामते, जिसकी बुद्धि प्रबुद्ध है, यानी जो ज्ञानी है, उसके प्रति रज्जुमें सर्पकी कल्पना के तुल्य बन्ध–मोक्षकी कल्पना अवास्तविक (तुच्छ) है, पूर्वोक्त अनिर्वचनीयता तो अबुद्धमति यानी अज्ञानी के प्रति ही है, ज्ञानी के प्रति नहीं है ॥४१॥ हे रघुवर, बुद्धिमान् को (ज्ञानीको) बन्ध, मोक्ष आदिका संमोह कुछ भी नहीं होता है, मोहजनित बन्ध, मोक्ष आदि अज्ञानी को ही होते हैं ॥४२॥

पूर्वोक्त अर्थ में बालकाख्यायिका की अवतारणा करते हुए श्रीवसिष्ठजी उपसंहार करते हैं।

हे सुन्दरतम श्रीरामचन्द्रजी, पहले मन हुआ, तत्पश्चात् बन्ध और मोक्षकी दृष्टि हुई, तदनन्तर प्रपंचकी रचना हुई, जिसका कि भुवन नाम पड़ा इत्यादि यह बन्ध की स्थिति बालक के लिए धाय से कही गई आख्यायिका के समान बद्धमूल हुई है ॥४३॥

सौवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ एकवाँ सर्ग

वस्तुतः अर्थशून्य होती हुई भी संकल्प से सैकड़ों विकल्पवाली सृष्टि का बालकाख्यायिकारूप दृष्टान्त वर्णन।

संकल्प–विकल्प रूप मन का संकल्प ही मूल है। संकल्प का निरोध करने पर मूल का उच्छेद हो जाने के कारण विकल्पों के न उठने पर निर्विकल्प पद में स्थिति प्राप्त होती है, यह सूचन करने के लिए पूर्व सर्ग में अवतारित बालकाख्यायिका को सुनने की इच्छा करने वाले श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिश्रेष्ठ, बालकाख्यायिका का दृष्टान्त लोक में किस प्रकार का कहा जाता है। मनके वर्णन में कारण रूप उसे आप कृपा कर क्रमशः मुझसे कहिये ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, किसी युक्तायुक्तविचारशून्य बालक ने अपनी धाय से कहा : धाय, मन बहलानेवाली कोई कथा सुनाओ ॥२॥ महामते, उस बालक के मनोविनोद के लिए धाय ने सरल और कोमल पदों से युक्त आख्यायिका कही ॥३॥ कहीं अत्यन्त असत् नगर में तीन बड़े सुन्दर राजकुमार थे। वे बड़े मनस्वी, धार्मिक और शौर्य सम्पन्न थे। जैसे आकाश में जलमय तारे होते हैं वैसे ही उस विस्तीर्ण शून्य नगर में वे रहते

थे। उनमें से दो उत्पन्न ही नहीं हुए और एकमाँ के गर्भमें भी स्थित नहीं हुआ। किसी समय, जब कि दुर्भाग्यवश उनके बन्धु-बान्धव मर गये थे, दुर्भिक्ष आदि से मलिनवदन हुए अपने नागरिकों के समाज से किसी उत्तम दूसरे नगर की प्राप्ति के लिए निकले। जैसे आकाश से परस्पर मिले हुए बुध, शुक्र और शनैश्चर निकलते हैं वैसे ही विशाल वदनवाले वे तीनों राजकुमार उस शून्य नगर से निकले। शिरीष के फूल के समान उनके अंग सुकुमार थे, अतएव पीछे से सूर्य के संताप से सन्तप्त हुए वे ग्रीष्म के सन्ताप से सन्तप्त हुए पल्लवों की नाईं मार्ग में मुरझा गये ॥४-८॥ खूब तपी हुई मार्ग की बालू से उनके चरणकमल जल गये, अतएव यूथसे अलग हुए मृगों की नाईं हा तात ! आदि कहकर वे शोक कर रहे थे। कुशके अग्र भाग से उनके चरण विध्ध गये थे। सूर्य के प्रचण्ड ताप से अंगो के सब जोड़ शिथिल हो गये थे। उनका सर्वांग धूलि से धूसर हो गया था। लम्बे मार्ग को तय कर उन्होंने मार्गमें फूलों की मंजरियों से व्याप्त, फल और पल्लवोंसे अलंकृत तथा मृग और पक्षियों के निवासभूत तीन पेड़ पाये। जिन तीन वृक्षोंमें से दो वृक्ष तो बिलकुल भी उत्पन्न नहीं हुए थे, सुखसे चढ़ने योग्य तीसरे वृक्ष का बीज भी न था ॥९-१२॥ वे बहुत थके थे, अतएव एक वृक्ष के नीचे उन्होंने ऐसे विश्राम लिया जैसे कि स्वर्ग में पारिजात वृक्ष के नीचे इन्द्र, वायु और यम विश्राम लेते हैं ॥१३॥ अमृत के तुल्य सुस्वादु फल खाकर, उनका रस पीकर और गुलुच्छ नाम की लताके बौरों से माला पिरोकर तथा बहुत देर तक वहाँ आराम कर वे वहाँ से चले गये। फिर बहुत दूर जाकर मध्याह्न होने पर उन्हें तीन नदियाँ मिली, जो लहरों से चंचल और मुखरित थी। उनमें एक नदी बिल्कुल सूखी ही थी और दोमें जैसे अन्धे के नेत्रगोलकों में दर्शनेन्द्रिय नहीं होती है वैसे ही तनिक भी जल न था ॥१४-१६॥ जो नदी अत्यन्त सूखी थी, उसमें उन्होंने सूर्य की धूप से पीड़ित लोगों की तरह बड़े प्रेम से ऐसे स्नान किया जैसे कि गंगाजी में ब्रह्मा, विष्णु और महेश स्नान करते हैं। इच्छित नगर की प्राप्ति के लिए उत्सुक वे राजपुत्र चिरकाल तक जलक्रीड़ा कर, दूध के तुल्य स्वच्छ जल पीकर वहाँसे चले। तदुपरान्त सायंकाल के समय जब कि सूर्य भगवान् अस्ताचल पर लटक रहे थे तब उन्हें पर्वत के तुल्य ऊँचा नगर मिला जिसकी अभिनव रचना आगे होनेवाली थी ॥१७-१९॥ उस नगर में ऊपर तो पताकाएँ व्याप्त थी और नीचे कमलके तालाब भरे हुए थे। नीले आकाश के सदृश सुन्दर जलाशय थे। उस नगर के नागरिकों के दलके-दल गाना गा रहे थे, उनके स्वरों के आरोहावरोहक्रम दूर से ही सुनाई दे रहे थे ॥२०॥ उस नगर में उन्होंने तीन रमणीय उत्तम भवन देखे, वे मणि और सुवर्ण के घर हिमालय पर्वत के शिखरों के समान विशाल थे ॥२१॥ उनमें दो भवन तो बने ही न थे, एक बिना दीवार का था। दीवाररहित सुन्दर भवन में वे तीनों पुरुष प्रविष्ट हुए ॥२२॥ उक्त भवन में शीघ्र प्रवेशकर और बैठ कर विहार कर रहे सुन्दर मुख-कमलवाले उन राजकुमारों को तपे हुए सोने से बनी तीन बटलोहियाँ मिली। उनमें से दो के तो दो टुकड़े हो गये थे और एक चूर-चूर हो गई थी। उन महाबुद्धियों ने चूर-चूर हुई बटलोही को ग्रहण किया ॥२३,२४॥ बहुत-सा भोजन करनेवाले उन राजकुमारों ने उस बटलोही में निनानबे और एक कम सौ द्रोण (एक द्रोण = १५

कि.ग्रा.) चावल पकाये। उक्त राजकुमारों ने तीन ब्राह्मणों को भोजन करने के लिए निमन्त्रण दिया। उनमें से दो तो देहरहित थे और एक का मुँह ही न था। वत्स, जिसका मुँह न था, उसने सौ द्रोण अन्न खा डाला। ब्राह्मण के भोजन करने से जो अन्न बच गया था, वह उन तीनों राजकुमारोंने खाया। उसे खाकर उन राजकुमारों को बड़ी तृप्ति हुई। हे पुत्र, उस भावी नगर में वे तीन राजकुमार सुख शान्ति से स्थित हैं और मृगया से क्रीड़ा करते हैं यानी शिकार खेलते हैं ॥२५-२८॥ हे अनघ वत्स, यह बड़ी सुन्दर आख्यायिका मैंने तुमसे कही है। इसे तुम हृदयंगम करो। इससे तुम अवश्य पण्डित हो जाओगे ॥२९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, धाय ने यह सुन्दर बालकाख्यायिका कही है, इस सुन्दर आख्यायिका से बालक को भी बड़ा आनन्द हुआ ॥३०॥ हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, मैंने आपके लिए यह बालकाख्यायिका चित्ताख्यान के अनन्तर प्रवृत हुई जो जगत्प्रतीति ही विकल्पमात्रत्व कथा है, उसके उदाहरण रूप से कही है। विकल्पमात्ररूप यह संसार रचना बालकाख्यायिका के समान दृढ़तापूर्वक कल्पित उग्र संकल्पों से दृढ़ता को प्राप्त हुई है, वस्तुतः यह कुछ नहीं है ॥३१,३२॥ हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, विकल्परूपी जालों से परिपूर्ण यह प्रातिभासिक संसार रचना बंध, मोक्ष आदि की सैंकड़ों कल्पनाओं के रूप से वृद्धि को प्राप्त होती है ॥३३॥

विकल्प संकल्पों के कार्य हैं, यानी संकल्पजनित हैं, अतः संकल्प से पृथक् उनकी सत्ता नहीं हैं, इस आशय से कहते हैं।

वस्तुतः एकमात्र संकल्प के सिवा यहाँ और कुछ नहीं है। जो विकल्परूप प्रतीत होता है, वह सब संकल्प के कारण ही प्रतीत होता है। जो विकल्प समूह का भान होता है, वह कुछ भी नहीं है, अथवा कुछ है, कुछ नहीं है अर्थात् रज्जु सर्प के तुल्य मिथ्या है, कुछ है यानी भ्रान्ति का आधार चैतन्य है ॥३४॥ किंच, यह द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ, दिशाएँ आदि सभी आत्मा के स्वप्न के समान संकल्पमय चित्त के संकल्प से विकसित (स्फुरित) हैं ॥३५॥ जैसे तीन राजपुत्र, तीन नदियाँ और भविष्यत् नगरमें और और संकल्प रचना हुई वैसे ही यह संसार स्थिति भी संकल्पमय ही है ॥३६॥ एकमात्र जलस्वरूप चंचल समुद्र अपने स्वरूपभूत जल में अपने आप स्फुरित होता है वैसे ही एकमात्र संकल्प ही चारों ओर स्फुरित हो रहा है ॥३७॥ पहले परमात्मा से एकमात्र संकल्प उदित हुआ। वही संकल्प जैसे दिन सूर्य के व्यापारों से और लोगों के विविध व्यापारों से विस्तारको प्राप्त होता है वैसे ही विस्तार को प्राप्त हुआ है ॥३८॥

केवल संकल्प के त्यागमात्र से निर्विकल्प स्वरूप में स्थिति होती है, ऐसा दर्शाते हुए उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, संकल्प रूपीजालों की रचना ही सम्पूर्ण जगत है। संकल्प को ही आप राग आदि चित्तवृत्तियाँ और समस्त विषय जानिये। आप एकमात्र संकल्पका पूर्णरूप से परित्याग कर निर्विकल्प आत्मज्ञान का जो कि संकल्प के परित्यागका एकमात्र हेतु है, अवलम्बन कर शान्ति को प्राप्त होइए ॥३९॥

एक सौ एकवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ दोवाँ सर्ग

अहंकार और संकल्प के विनाश के उपाय का, अनात्मवर्ग के विवेक का तथा
परमात्मा की नित्यता का निरूपण।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, जैसे बालक अपने संकल्प से ठूँठ आदि में वेताल आदि की कल्पना कर भयभीत होता है वैसे ही अज्ञानी पुरुष अपने संकल्प से परमात्मा में नश्वरात्मा के संकल्प से मोह को प्राप्त होता है, ज्ञानी पुरुष मोह को प्राप्त नहीं होता ॥१॥

क्षयसंकल्पात् (क्षीयते इति क्षयो नश्वरात्मा तत्संकल्पात् यानी नश्वरात्माके संकल्प से) इस हेतु वचनमें संकल्प का कौन कर्ता है और कौन कर्म है यह विशेषरूप से जानने की इच्छा कर कहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

ब्रह्मवेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठ, संकल्पित नश्वरात्मा कौन है और किसने उसका संकल्प किया ? जिससे इस आत्मा ने बिना किसी कारण के संसारभ्रान्ति का ग्रहण किया है ॥२॥

भाव यह है कि क्या नित्य आत्मा नश्वर आत्मा का संकल्प करता है या नश्वर आत्मा ही नश्वर आत्मा का संकल्प करता है ? पहला पक्ष बन नहीं सकता, क्योंकि नित्य आत्मा अपने स्वभाव से विपरीत का संकल्प नहीं कर सकता है यानी वह नश्वर आत्मा का संकल्पयिता नहीं हो सकता। दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि उसमें आत्माश्रय दोष विद्यमान है। जब नश्वरात्मा उत्पन्न हो जाय तब नश्वरात्मा का संकल्प करेगा ? और सुनिए, संकल्पित नश्वर आत्मा भी क्या जड़ है अथवा चेतन है ? पहला पक्ष हृदय अंग नहीं होता, क्योंकि यदि वह जड़ होगा, तो आत्मा के साथ उसका अभेद नहीं हो सकेगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं जँचता, क्योंकि यदि वह चिद्रूप है, तो संकल्प का विषय नहीं हो सकेगा। यद् यद् भवन्ति तदा भवन्ति (पहले इस लोक में जो जो हुए थे वही फिर यहाँ आकर होते हैं) इस श्रुति (♨) के अनुसार पूर्वजन्मों के सिंह, बाघ आदि प्राणि समुदायमें आत्मभाव की वासना से वासित 'असत्' शब्दवाच्य अविद्या से उपहित परमात्मा ने चित–अचित्–सम्मिश्रणात्मक सिंह व्याघ्र आदि में अहंकारात्मक नश्वर आत्मा का संकल्प किया है, इसलिए जिन दोषों की आपने सम्भावना की है, वे कोई भी नहीं हैं, इस आशय से श्री वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, जैसे अज्ञ बालक मिथ्या वेताल की कल्पना

♨ पूरी श्रुति इस प्रकार है–'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतंगो वा दंशो वा मशको वा यद् यद् भवन्ति तदा भवन्ति' जो अपनी सद्रूपता का ज्ञान प्राप्त किये बिना ही सत् में प्रविष्ट होते हैं वे इस लोक में जिन कर्मों से प्राप्त हुई व्याघ्र आदि जिस, जिस जाति को प्राप्त हुए थे – 'मैं व्याघ्र हूँ, मैं सिंह हूँ' इत्यादि रूप से स्थित थे– वे पूर्व कर्म, ज्ञान की वासना से युक्त होकर सत् में प्रविष्ट होने पर भी उस भाव से ही फिर आकर होते हैं। पुनः सत् से आकर बाघ या शेर या भेड़िया या सुअर या कीड़ा या पतंगा अथवा डाँस या मच्छर जो लोक में पहले हुए थे वही फिर आकर होते हैं। हजारों करोड़ों युग बीतने पर भी संसारी जीव की जो वासना पहले भावित थी, वह नष्ट नहीं होती।

करता है, वैसे ही सिंह, बाघ आदि प्राणियों में अहंभाव की वासना से वासित यानी पूर्वकल्प में जीवभाव को प्राप्त हुए अहंकार के संस्कार से संस्कृत अविद्या से उपहित परमात्मा ने तत्–तत् कल्प में मिथ्या अभिमान और मिथ्या नाम धारण करनेवाले नश्वर आत्मा की कल्पना की है ॥३॥

यदि कोई शंका करे कि अहंकार की आत्मस्वभावता ही क्यों न हो, उसका मिथ्यात्व कैसे ? इस पर कहते हैं।

जब एकमात्र परिपूर्ण परमवस्तु ही स्थित है, तब यह अहंकार नाम का कौन है और कहाँ से कैसे उदित हुआ है ? अद्वितीय पूर्ण परमवस्तु से अतिरिक्त अहंकारनामक कोई वस्तु नहीं है, यह भाव है ॥४॥ भेदरहित परमात्मामें वास्तव में अहंकार है ही नहीं। जैसे भ्रान्तिवश तीव्र सूर्य के प्रकाश में मृगतृष्णा की प्रतीति होती है वैसे ही भ्रान्तिवश परमात्मा में अहंकार का भान होता है ॥५॥ मनरूपी चिन्तामणि की बड़ी भारी कार्यसमूहसृष्टि संसाररूप से देखी जाती है।

शंका : तो क्या मन ही संसार की रचना करने में स्वतन्त्र है ?

समाधान : नहीं, आत्मा का आश्रय ले करके वह स्वयं संसाररूप में स्फुरित होता है जैसे कि जलका अवलम्बन करके जल ही तरंग रूप से स्फुरित होता है ॥६॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप असद्विषयिणी भ्रान्ति का त्याग कीजिये और सत्यार्थविषयक तथा सत्य सम्यक् दर्शन का अवलम्बन कीजिये जो कि आनन्ददायक है ॥७॥

असद्विषयक भ्रम के त्याग और सद्विषयक सम्यक् दर्शन के आश्रय के लिए कौन उत्तम उपाय है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं।

श्रीरामजी, आप विचाररूपी अपने धर्म से सम्पन्न और मोह के वेग से हीन बुद्धि से सत्य तत्त्व का विचार कीजिये और असत्य का त्याग कीजिये ॥८॥ आप वास्तव में बँधे नहीं हैं, फिर भी 'मैं बँधा हूँ'ऐसा मानकर आप व्यर्थ ही क्यों शोक कर रहे हैं ? आत्मतत्त्व का जो कि असीम है, क्या, किससे और कैसे बाँधा जा सकता है अर्थात् जब एक अद्वितीय असीम आत्मतत्व ही है तब फिर कौन किसके द्वारा कैसे बद्ध होगा ? ॥९॥ अद्वितीय परमात्मा में भेद और अभेद की भ्रान्ति हो रही है। इस सकल प्रपंच के बाध द्वारा ब्रह्ममात्र शेष होने पर कौन बद्ध और कौन मुक्त होता है ? सम्पूर्ण प्रपंच के ब्रह्ममात्र शेष होने पर बद्ध–मुक्त की कोई कथा ही नहीं है ॥१०॥

छेदन और भेदन के अयोग्य ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर देह के छेदन, भेदन आदि से होनेवाले दुःख का भी अवसर नहीं आता है फिर अन्य क्लेशों की तो बात ही क्या है, ऐसा कहते हैं।

जब तक ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता, तभी तक देह आदि के पीड़ित होने पर पीड़ा से रहित भी जीव पीड़ा से युक्त सा प्रतीत होता है। अंग के कट जाने पर कोप करता है, पर जब आत्मा का दर्शन हो जाता है तब ये नहीं होते। परमात्मा में भेद, अभेद, छेदन, भेदन आदि विकार एवं उनसे होनेवाली पीड़ा कुछ भी नहीं है ॥११॥ जैसे धौंकनी के जल जाने पर वायु

नष्ट नहीं होती वैसे ही देह के नष्ट होने पर, कटने पर या क्षीण होने पर आत्मा की कोई क्षति नहीं होती है ॥१२॥ देह चाहे नष्ट हो चाहे अभ्युदय को प्राप्त हो इससे हमारी कौन हानि हुई ? फूल के छिन्न–भिन्न हो जाने पर आकाश में रहनेवाली फूल की कौन महक नष्ट हुई ? ॥१३॥ शरीर रूपी कमलमें सुख–दुःखरूपी तुषारपात भले ही होता रहे, उससे आकाश में उड़नेवाले भ्रमररूपी हम लोगों की कौन हानि प्राप्त हुई ? ॥१४॥ देह चाहे गिर पड़े, चाहे उठ खड़ा हो अथवा दूसरे आकाश में चला जाय। मेरा स्वरूप तो उससे बिलकुल भिन्न है, अतः यह मेरी कौन– सी क्षति है ॥१५॥ हे श्रीरामजी, जैसे मेघ और वायु का सम्बन्ध है जैसे भँवर और कमल का सम्बन्ध है वैसे ही आपके शरीर और आपकी आत्मा का सम्बन्घ है, आत्मा और शरीर का सम्बन्ध मानने पर भी लेपरहित आत्मा में देहप्रयुक्त दुःख आदि की प्राप्ति नहीं होती है, यह भाव है ॥१६॥

दूसरी बात यह है कि यदि शरीर आदि समस्त जगत् को एकमात्र मन ही मानो, तो भी मन के रहते शरीर आदि के नाश से होने वाला शोक उचित नहीं है। यदि उन्हें एकमात्र आत्मा माना जाय, तो ऐसी स्थिति में तो शरीर आदि के नाश से होनेवाले शोक आदि की कथा ही नहीं उठती है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मन सम्पूर्ण जगत् का स्वरूप है। मनकी हेतु आद्या शक्ति यानी आदिकारण चिदात्मा है वह मन से भी बढ़कर है, वह कभी भी नष्ट नहीं होता है, उसके नाश की भ्रान्ति सर्वथा अनुचित है ॥१७॥

आत्मा के नाश की भ्रान्ति ही सब शोकों की जड़ है, अतः उसका पुनः वारण करते हुए कहते हैं।

हे महामते, यह जो आत्मा है यह न तो नष्ट होता है और न जाता है। इसका कदापि विनाश नहीं होता, आप इसके विनाश के भय से क्यों वृथा सन्ताप करते हैं ? ॥१८॥ जैसे मेघ के छिन्न–भिन्न होने पर वायु तथा कमल के सूखने पर भँवर विस्तीर्ण आकाश में चला जाता है वैसे ही देह का क्षय होने पर आत्मा असीम आकाश में चला जाता है ॥१९॥ इस संसार मे विचरण कर रहे (आवागमनरत) प्राणी का ज्ञानरूपी अग्नि के बिना मन तक नष्ट नहीं होता, आत्मा के विनाश की तो कथा ही क्या है ?॥२०॥ बटलोई और बेर का जो न्याय है और घड़े और आकाश का जो न्याय है, वही न्याय विनाशी और अविनाशी देह और आत्मा का है। जैसे बटलोई के फूटने पर बेर हाथ में आ जाता है वैसे ही देह के नष्ट होने पर जीव वासनाकाश को प्राप्त हो जाता है। जैसे घड़े के फूटने (चूर–चूर होने) पर घटाकाश महाकाश में स्थित हो जाता है वैसे ही देह के विनष्ट होने पर यह निर्दोष देही (जीव) परमात्मा में स्थित होता है ॥२१–२३॥ जीवों का मनोमय शरीर देश और काल से तिरोहित है तथा मरण रूपी वस्त्र से बार–बार आच्छन्न रहता है। ठगनेवाले इस मनोमय देह के नष्ट होने पर क्या क्लेश ? यानी क्लेश करना उचित नहीं है ॥२४॥

मरण क्या है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

हे महाबाहो, मरण देश और काल का तिरोधानमात्र ही है। देश-काल का तिरोधानमात्र मरण होने पर मूढ़ पुरुष क्यों भयभीत होता है ? यह निश्चित समझिये कि अपना नाश तो कोई देख ही नहीं सकता है। घर आदि में अपने अन्तिम समय दूसरों की दृष्टि से अपना छिप जाना ही मरण है, आत्मनाश मरण नहीं है, यह भाव है ॥२५॥ इसलिए हे रामचन्द्रजी, जैसे आकाश में उड़ने के लिए उत्कण्ठित पक्षीका बच्चा, जिसके पंख जम गये हों, अपने आवरणरूप अण्डे के छिलके का त्याग करता है वैसे ही आप 'अहम्' रूप से मिथ्या ही स्थित वासना का त्याग कीजिये ॥२६॥ यह वासना इष्ट और अनिष्ट में अनुराग और द्वेष से अभिनिवेशरूप बन्धन करनेवाली मानसी शक्ति है। इसी ने व्यर्थ भ्रान्ति से स्वप्न के समान यह कल्पना की है। यह वासना अविद्याविलास होने से अविद्या है। इसका अन्त होना बड़ा कठिन है, यह केवल दुःख के लिए ही बढ़ती है। इसके स्वरूप का परिज्ञान न होने से ही यह असद्रूप इस प्रपंच का विस्तार करती है ॥२७,२८॥ जैसे कुहरा होने पर भ्रान्त पुरुष आकाश को कुहरे से मलिन यानी अनिर्मल देखते हैं वैसे ही भ्रान्त यह मानसी वृत्तिरूप वासना स्वच्छ आत्मा को तुच्छ के समान देखती है, क्योंकि ऐसे देखना मन का स्वभाव ही है ॥१९॥ इस मानसी शक्ति ने ही इस विशाल जगत् को दीर्घकालीन स्वप्न के तुल्य असत् होते हुए भी विविध व्यापारों से पूर्ण सत् के समान उदित बनाया है ॥३०॥ जैसे तिमिर आदि दोष से दूषितनेत्र आकाश में मोर के पंख, केशों के वर्तुलाकार गोले के आकार के चन्द्रमा, सूर्य आदि के बिम्ब के विभावनामात्र में कर्ता होता है वैसे ही इसका स्वरूप जगत् के आकार की भावनामात्रमें ही कर्तृता को प्राप्त हुआ है, उससे अतिरिक्त के निर्माण प्रसिद्ध नहीं है, अतः वही जगत् के नाम से सिद्ध हुआ है ॥३१॥

अतएव अविचारजनित द्वैत की भावनामात्र से सिद्ध जगत् का विचारजन्य ज्ञानमात्रसे लय होता है, इसलिए विचार अवश्य करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामन्द्रजी, जैसे सूर्य अपने ताप से बर्फ की चट्टान के स्वरूप को नष्ट कर देता है वैसे ही आप विचार से इस मानसी शक्ति के स्वरूप को नष्ट कर दीजिए ॥३२॥ जैसे शीत के अभाव को चाहनेवाले सूर्य के अपने उदयमात्रसे शीत का नाश हो जाता है वैसे ही मन के नाश की इच्छा करनेवाले पुरुष का केवल विचार से मनोनाश रूप अभिलाषा सिद्ध हो जाती है ॥३३॥

एक मन के नष्ट होने पर भी फिर अविद्या से मन आदिरूप बन्ध की उत्पत्ति हो जायेगी, ऐसी आशंका कर कहते हैं।

बड़े-बड़े अनर्थों से पूर्ण अविद्यारूपी मेघमाला जब आत्मतत्त्व के परिज्ञान से शून्य होती है, तभी जैसे शम्बर नामका असुर विविध माया करता है, वैसे ही इन्द्रजालकल्पनारूप असत् सुवर्ण की वृष्टि करती है, किन्तु जब उसे आत्मस्वरूप का परिज्ञान हो जाता है, तब निःस्वरूप हा जानेके कारण वह असत् की वृष्टि नहीं करती है ॥३४॥

इस प्रकार मन ही चिरकाल तक जगत्-रूप से नाचकर अन्तमें विद्यारूप परिणाम से अविद्या के साथ अपना विनाश कर देता है, यह फलित अर्थ कहतें हैं।

इस अपनी विनाश क्रिया को मन ही स्वयं भली-भाँति करता है, मन आत्मवध रूप

(स्वसंहाररूप) नाटक को (स्वरचित नाटक को) देखकर मारे आनन्द के खूब नाचता है। केवल अपने विनाशके लिए चित्त आत्मा का दर्शन करता है, पर दुर्बुद्धि यह मन उपस्थित हुए अपने विनाश को नहीं जानता है ॥३५,३६॥ मन के विनाश का उपाय खोज रहे विवेकी पुरुषों के मनोनाश को मन स्वयं अपने संकल्प से शीघ्र सिद्ध कर देता है, मनोनाश के लिए तपस्या आदि क्लेश उपयोगी नहीं हैं ॥३७॥ विवेक से संस्कृत (शुद्ध) हुआ मन अपने पूर्वकालीन संकल्पविकल्प–अंश का परित्याग कर ब्रह्माकार विस्तारवाला आत्म–साक्षात्कार वृत्ति रूप अपना परिणाम करता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, मन का विनाश होना परमपुरुषार्थ की प्राप्ति है और सब दुःखों के समूल नाश का उदय है। इसलिए आप मन के नाश के लिए प्रयत्न कीजिये, मन के बाह्य व्यापार में प्रयत्न मत कीजिये ॥३८,३९॥

उक्त अर्थ की उपेक्षा करने पर अनर्थ की प्राप्ति होती है, यह दर्शाते हुए उपसंहार करते हैं।

अति सघन दुःख–सुख रूप वृक्षों के झुण्डों से भरपूर, क्रूर कालरूपी विषैले साँप से युक्त, दुरुच्छेद्य इस संसाररूपी असिपत्रवन में यह विवेकहीन मन ही एकमात्र प्रभु – दुखों का, जिनका आर–पार नहीं है, हेतु –तथा संसारी जीवों की विपदाओं का एकमात्र कारण है ॥४०॥ श्री मुनिजी के ऐसा कहने पर दिन बीत गया भगवान् सूर्य अस्ताचल में डूब गये, सब मुनियों की सभा महामुनि को नमस्कार कर सायंकाल की सन्ध्यावन्दन अग्निहोत्र आदि विधि के लिए उठ गई और रात बीतने पर दूसरे दिन सूर्य की किरणों के साथ फिर सभा आ गई ॥४१॥

एक सौ द्वोवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तीनवाँ सर्ग

विवेकहीन मन जिन–जिन अनर्थों की सृष्टि करता है, मुमुक्षु के विवेक के लिए उन सबका वर्णन।

अनर्थों की सृष्टि करने के लिए ही परमात्मा से मन की सृष्टि हुई है, यह दर्शाते हैं।

जैसे सागर से उसकी बड़ी–बड़ी लहरें उठती है वैसे ही परमात्मा से चित्त उत्पन्न हुआ है, जैसे तरंग स्वस्वभाव से विशालताको प्राप्त होती है वैसे ही मन स्वस्वभाव से विशालताको प्राप्त होकर चारों ओर भुवन का विस्तार करता है ॥१॥

मन में वस्तु के स्वभाव से विरुद्ध कल्पना करने की सामर्थ्य है, ऐसा दर्शाते हैं।

मन ह्रस्व को (नेत्र के समीप में स्थित अंगुली आदि को) अतिविस्तृत सूर्य मण्डल आदि के आच्छादकरूप से कल्पना कर शीघ्र दीर्घ बना देता है, अतिदीर्घ सूर्यमण्डल आदि को ह्रस्व (छोटा) बना देता है। इसी प्रकार आत्मा और अनात्मा के स्वरूप की विनिमयकल्पना भी मन ही करता है। वह अनात्म देह आदि को अपनी कल्पना द्वारा आत्मा बना डालता है और उसी प्रकार आत्मा को अन्य (अनात्मा) बना डालता है। जो वस्तु केवल एक बिलस्त भर की होती है, उसको मन शीघ्र स्वयं उत्पन्न हुई कल्पना द्वारा पर्वतराज हिमालय के समान प्रकाशमान (विशालकाय) बना डालता है ॥२–३॥

मन को ऐसी सामर्थ्य कहाँ से प्राप्त हो गई, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

उल्लसित मन परमपदरूप ब्रह्म की सत्ता से सत्ता को प्राप्त हुआ है, यह पलक भर में विविध संसारों की रचना कर देता है और पलक भर में उन्हें मटियामेट कर डालता है ॥४॥ जो कुछ भी स्थावर जंगम (चराचर) जगत् दिखाई देता है, सम्पूर्ण पदार्थों से भरा हुआ यह सारा जगत् चित्त से ही उदित हुआ है ॥५॥ जैसे नट एक पात्र के आकार से दूसरे पात्र के आकार को धारण करता है वैसे ही देश, काल, क्रिया और द्रव्य की शक्ति से व्याकुल हुआ मन चंचल होने के कारण एक वस्तु के आकार से दूसरी वस्तु के आकार को प्राप्त होता है ॥६॥ वह सत् पदार्थ को असत् बना देता है और असत् को सर्वथा सत् बना डालता है। तदनुरूप ही सुख–दुःखों का ग्रहण करता है ॥७॥ चंचल मन कर्म द्वारा उपस्थापित भोग्य पदार्थ को जब जैसे जिस किसी कल्पना के ढंग से, चाहे वह अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल हो, ग्रहण करता है तब हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियसंघ उसके अनुसार ही ग्रहण या त्याग में प्रवृत्त होता है यों सभी व्यवहारो में मन की स्वतन्त्रता है, यह तात्पर्य है ॥८॥ तदनन्तर भोग्य पदार्थों को उपस्थित करनेवाली वह क्रिया ही चित्त द्वारा कल्पित फलाफल यानी सुख–दुःख को एक क्षण में वैसे ही देती है जैसे समय पर सींची गई लता फल प्रकट करती है ॥९॥ हे रामचन्द्रजी, जैसे बच्चा घर में मिट्टी से नाना प्रकार के खिलौनों को बनाता है, वैसे ही मन जगद्रूप विकल्पों की सृष्टि करता है ॥१०॥

यह जगत् एकमात्र मन की कल्पना है इसमें कोई पदार्थ वास्तविक नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं।

इस कारण मन की सम्पूर्ण जनरूप से जो क्रीड़ा है उस क्रीड़ा में मनुष्य देहरूप कीचड़ में जो रूप सत्य सा कल्पित है, वह क्या कुछ सत्य हो सकता है ? अर्थात् कुछ भी सत्य नहीं है ॥११॥ जैसे ऋतुओं का निर्माण करनेवाला काल वृक्ष की अन्यरूपता कर देता है वृक्ष को विलक्षण बना देता है, वैसे ही चित्त ही इन सब पदार्थों को विलक्षण बनाता है ॥१२॥ जैसे मनोरथ में, स्वप्न में और संकल्पकल्पनाओं में अनेक योजन भूमि गोपद के समान अति अल्प प्रतीत होती है, वैसे ही अपनी लीलाओं में चित्त कल्प को क्षण बना देता है और क्षण को कल्प बना देता है, इसलिए सम्पूर्ण देश–कालक्रम को सभी लोग चित्त के अधीन मानते हैं ॥१३,१४॥

यदि कोई शंका करे कि यदि मन ही सबकी सृष्टि में समर्थ है, तो हमारी इस समय सम्पूर्ण पदार्थों की सृष्टि करने में असामर्थ्य कैसे ? इस पर कहतें है।

रजोगुण का आधिक्य होने पर तीव्रता और तमोगुण की अधिकता होने पर मंदता, इस प्रकार वेग के भेद से आहार की वृद्धि से पुष्टि होने पर बहुत्व और आहार के न्यून होनेसे क्षीणता होने पर अल्पता इनके भेद से तत्–तत् वस्तुओं की सृष्टि के अनुकूल उपासना आदि में विलम्ब होने से मन में प्राप्त हुई जो सर्ग की (सृष्टि की) अशक्ति है, उससे हम मन की वास्तविक सर्वसृष्टिशक्ति का अपलाप नहीं कर सकते ॥१५॥ जैसे वृक्ष से पल्लव (नये–नये पत्ते) उत्पन्न होते हैं वैसे ही मोह, भ्रम, अनर्थ, देश, काल, गमन और आगमन ये सब मन से ही उत्पन्न होते हैं ॥१६॥ जैसे जल ही सागर है और जैसे अग्नि ही उष्णता है वैसे ही विविध

व्यापारों से पूर्ण संसार चित्त ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है। भाव यह है कि कार्य कारण से अभिन्न होता है, अतः चित्त का कार्य यह संसार भी चित्त रूप ही है ॥१७॥ कर्ता, कर्म और करण से युक्त द्रष्टा, दर्शन और दृश्य से सम्पन्न तथा भोक्ता, भोग्य और भोगरूप जो यह नौ प्रकार का संसाररूपी अनर्थ प्राप्त हुआ है यह सब चित्त ही है ॥१८॥

सब चित्त ही है, यह जिस उपाय से दिखलाई देता है, उसे दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं।

जैसे सुवर्ण परीक्षा करनेवाला पुरुष बाजूबन्द, मुकुट, कड़ा, हार आदि आभरणों से कल्पित नाना स्वरूप का त्याग कर एकमात्र काँचन में बुद्धि का प्रणिधान करने से सुवर्ण की परीक्षा करने पर वास्तव सुवर्ण को देख सकता है, बाजूबन्द आदि के रचनावैचित्र्यमें जिनकी बुद्धि फँसी है, वे वास्तविक सुवर्णतत्त्व को नहीं देख सकते, वैसे ही विवेकी पुरुष भी जगतों को तदन्तर्गत भुवनों को और उनके अन्तर्गत वन आदि सब वस्तुओं को आत्मभेदों से (स्ववैचित्र्यों से) चित्त स्वयं प्राप्त हुआ है, अतः ये चित्तमात्र ही हैं, चित्त से अतिरिक्त वस्तु नहीं है, ऐसा देखते हैं, अविवेकी ऐसा नहीं देख पाते ॥१९॥

एक सौ तीनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौथा सर्ग

लवणाख्यान में पहले देश, राजा और सभा का वर्णन तथा
सभा में ऐन्द्रजालिक के घोड़े का दर्शन और राजा के विस्मय का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरघुवंशमणे, यह जगद्रूप इन्द्रजाल जिस प्रकार चित्त के अधीन है यानी चित्त की कल्पना के अधीन है, उसे समझाने के लिए यहाँ पर मैं आपसे एक उत्तम उपाख्यान कहूँगा, आप सावधान होकर सुनिये ॥१॥ इस भूमण्डल में अनेक वनों से व्याप्त, धन–जन से सुसमृद्ध 'उत्तरापाण्डव' नाम का एक विशाल देश है। उसके अत्यन्त घने और गहन वनों में तपस्वी शान्त चित्त से निवास करते थे अर्थात् बाघ, चोर आदि का कहीं कोई उपद्रव न था। उसके नगरों के उपवनों में विद्याधारियाँ लताओं के हिंडोले बनाकर झूलती थी। उस देश के सब पर्वत वायु से उड़ाई गई कमल के केसर राशि से पीले पड़ गये थे। शोभायमान फूलों की राशि से पूर्ण वनश्रेणी ही उसका अवतंस (शिरोभूषण यानी सिर पर तिरछी माला) था ॥२–४॥ उसके गाँवों के चारों ओर करौंदे के फूल, झाड़ियाँ और फूलों के गुच्छों से भरे हुए जंगल थे। ऊँचे–ऊँचे खजूर के पेड़ों से उसके बहुत से गाँव आच्छन्न थे। लोंगों के घुँ, घुँ शब्द से आकाश गूँजता था। उत्तम पीले रंग की मणियों की श्रेणी के सदृश पके हुए धानोंके खेतों से सारा देश पीला दिखता था। नीलकण्ठ के शब्द से खूब गूँजे हुए वन और जंगलों से वह देश सुशोभित था, सारसों के शब्द के वेग से उसके फूलों के केसर से कनकमयसे कानन मुखरित थे। तमाल और पाटल के वृक्षों से विचित्र प्रकार के नीले पर्वतों के छोटे–छोटे गाँव उसके कुण्डल थे। रंग–बिरंग के पक्षियों के कलरव से उसमें बड़ी मधुर और अव्यक्त

ध्वनि हो रही थी। नदी के किनारे पर खूब खिले हुए मीठी नीव के वृक्षों से वह सारा देश लाल था धान के खेतों में गा रही युवतियों से उसमें मन्मथ का आवाहन हो रहा था। फूल और फलों में, उनके शिथिल वृन्त (डंठी) को गिराने के लिए, बह रहे वायु से उसमें फूलरूपी मेघ कँपाये जा रहे थे। मेरु पर्वत की गुफाओं से जिसके सिद्ध, चारण और बन्दी निकल गये थे, ऐसे लावण्य को स्वर्ग से लाकर मानों वह देश बनाया गया था ॥५–१०॥ उसके केलों के मण्डपों में किन्नर और गन्धर्व गाते थे। मन्द–मन्द वायु के शब्दों से वह बड़ा रमणीय था। फूलों से भरे हुए उपवनों से वह सफेद था ॥११॥ उक्त उत्तरापाण्डवनामक देश में हरिश्चन्द्र कुल में उत्पन्न हुआ परमधार्मिक लवण नामक राजा था। वह भूमि में सूर्य के सदृश तेजस्वी था। जिसके यशरूपी फूलों की शिरोमालाओं से शुभ्र मध्यभागवाले शैल विभूति से विभूषित भगवान् शंकरजी के वृषभ आदि के समान सुशोभित हो रहे थे ॥१२,१३॥ उसके प्रधान–प्रधान शत्रुजन तलवारों से टुकड़े–टुकड़े करके काटे गये अतएव निःशेष हो गये थे। उसके शत्रुओं के सेवकों को उसके स्मरण से ही ज्वर हो आता था ॥१४॥ धार्मिक पुरुषों के रक्षक उदार कर्मों से भरे हुए जिसके चरित का श्री हरि के चरित की नाईं चिरकाल तक लोग स्मरण करेंगे। जिस राजा के गुणों के गीतों को अप्सराएँ पर्वतराज हिमालय के शिखरों पर स्थित देवमन्दिरों में प्रचुर रोमांचों से युक्त होकर आज भी गाती है जिसके गुणों के गीतों का जिन्हें स्वर्गीय सुन्दरियों ने गाया था और लोकपालों ने चिरकाल तक सुना था, ब्रह्मा के हंस सुन्दर अभ्यास से अपनी ध्वनियों द्वारा अनुकरण करते हैं ॥१५–१७॥ हे रामचन्द्रजी, जिसका उदार चमत्कार अन्य राजाओं के तुल्य नहीं था यानी उनसे कहीं अधिक बढ़ा–चढ़ा था, जिसकी दीनतारूपी दोष से युक्त क्रिया न तो स्वप्न में भी देखी गई थी और न सुनी गई थी ॥१८॥ कुटिलता तो वह जानता ही न था, अविनीतता तो उसने देखी भी न थी। जैसे ब्रह्मा रुद्राक्षमाला को सदा धारण करते हैं, वैसे ही उसने निरन्तर उदारता धारण की थी। किसी समय, जब सूर्य आकाश में उस स्थान पर पहुँच गये थे जहाँ पहुँचने पर चार दण्ड दिन चढ़ता है, वह सभागृह में सिंहासन पर विराजमान हुआ ॥१९,२०॥ जैसे चन्द्रमा आकाश में उदित होते हैं, वैसे ही जब उक्त राजा सभागृह में सिंहासन पर विराजमान हो गया तब सामन्त राजाओं की सेनाएँ वेग के साथ प्रविष्ट होने लगी, स्त्रियाँ गाने लगी, अन्यान्य राजा यथास्थान बैठ गये, आनन्ददायक वीणा और बाँसुरी की मधुर ध्वनि मन को हरने लगी, सुन्दर चँवर हाथ में ली हुई स्त्रियाँ विलासपूर्वक राजा के ऊपर चँवर डुलाने लगी और शुक्र के समान प्रखरमति मन्त्रिमण्डल यथास्थान बैठ गया, जब प्रविष्ट राजकार्य मन्त्रियों द्वारा प्रस्तुत हो रहे थे, चतुर वार्तावाहक दूत देश की खबर सुना चुके थे, पवित्र महाभारत आदि इतिहासमय पुस्तक पढ़ी जा रही थी और विनम्र बन्दीगण सामने पवित्र स्तुतियाँ पढ़ रहे थे, जैसे मेघ, जिसने होनेवाली वृष्टि से बिजली की चमक–दमक आदि आटोप को धारण किया है, पृथ्वी में प्रवेश करता है वैसे ही किसी ऐन्द्रजालिक ने उस सभा में प्रवेश किया ॥२१–२६॥ जैसे पर्वत के समीप के छोटे पर्वत में स्थित फलों से लदा हुआ वृक्ष जिसकी ऊपर की भूमि भली मालूम होती है ऐसे सुन्दर पर्वत

को प्रणाम करता है वैसे ही मुकुट से जिसकी गर्दन सुशोभित हो रही थी ऐसे सुन्दर राजा को उसने प्रणाम किया ॥२७॥ जैसे छायादार, ऊँचे तनेवाले, फूलों से सुशोभित और फलों से लदे हुए वृक्ष के आगे बन्दर प्रवेश करता है वैसे ही वह सुन्दर कान्तिवाले, उन्नत कन्धेवाले, फूलों से सुशोभित हो रहे तथा फलशाली राजा के सामने प्रविष्ट हुआ ॥२८॥ जैसे भँवरा सुगन्धयुक्त कमल से मधुर स्वर से बोलता है वैसे ही अत्यन्त चपल और धनलोलुप उसने ऊपर को गर्दन किये हुए तथा सुगन्ध अतएव सुखकारी श्वासवायु वाले राजा से कहा : राजन्, यहाँ पर आप एक आश्चर्ययुक्त मिथ्या कौतुक क्रीड़ा को सिंहासन में बैठे हुए ही इस प्रकार देखिये, जिस प्रकार कि आकाश में स्थित चन्द्रमा आश्चर्यपूर्ण पृथिवी को देखता है ॥२९,३०॥ यह कहकर उसने भ्रम उत्पन्न करनेवाले मोरपंख के मोरछल को घुमाया जो कि नानाविध रचनाओं के कारण परमात्मा की माया के तुल्य था। जैसे देवविमान में स्थित इन्द्र अपनी धनुषलता को (इन्द्रधनुष को) देखता है वैसे ही राजा ने तेज के कणों से विराजित उस मोरछल को देखा ॥३१,३२॥ इसी समय एक अश्वपालक जैसे मेघ सितारों से पूर्ण आकाश में प्रविष्ट होता है वैसे ही सभा में प्रविष्ट हुआ ॥३३॥ अत्यन्त वेगवान् सौम्य घोड़ा उसके पीछे ऐसे चला जैसे स्वर्ग की ओर जा रहे अतिप्रसन्न वदन इन्द्र के पीछे उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा जाता है। जैसे क्षीरसागर ने उच्चैःश्रवा से युक्त होकर इन्द्र से कहा था वैसे ही उसने उस घोड़े को लाकर राजा से कहा ॥३४,३५॥ हे राजन्, उच्चैःश्रवा के तुल्य इस उत्तम अश्व को आप देखिये। वेग से उड़ने में यह मूर्तिमान् वायु की तरह है। हे प्रभो, हमारे स्वामी ने इसे आपके समीप भेजा है, क्योंकि उत्तम पदार्थ महान् पुरुषों के समर्पण से अधिक सुशोभित होता है ॥३६,३७॥ जैसे मेघनिर्घोष के शान्त होने पर चातक मेघ से कहते हैं वैसे ही उसके ऐसा कहने पर ऐन्द्रजालिक ने कहा ॥३८॥ हे प्रभो, जैसे सूर्य अपने प्रताप से अधिक शोभायुक्त पृथिवी पर विचरण करते हैं वैसे ही इस सुन्दर घोड़े पर सवार होकर आप सम्पूर्ण भुवन में विचरण कीजिए। उसके ऐसा कहने पर जैसे मयूर गर्दन उठाकर घोर शब्दवाले मेघ को देखता है वैसे ही राजा ने गर्दन ऊँची करके उस घोड़े को देखा ॥३९,४०॥ देखने के अनन्तर चित्र में लिखित आकार के तुल्य आकारवाला राजा निर्निमेष दृष्टि से घोड़े को देखता हुआ भीत में लिखे हुए चित्र के तुल्य निश्चल हो गया। जैसे समुद्र पीने के लिए उद्यत हुए अगस्त्य की दृष्टि से क्षुब्ध होकर, अपने भीतर स्थित पर्वत रूपी मीनों के साथ भय से स्तम्भित होकर स्थित हुआ था वैसे ही राजा क्षण भर देखकर सिंहासन में ही आँख बन्द करके स्थित हो गया ॥४१,४२॥ दो मुहूर्त तक राजा आत्मा में ध्यानासक्त के समान ऐसे स्थित हुआ जैसे कि वीतराग और बाह्यदृष्टि शून्य मुनि परमानन्द में स्थित होता है ॥४३॥ अपने पराक्रम से बलवानों पर जिसने विजय पायी थी, ऐसे उस राजा को किसी ने नहीं जगाया क्योंकि वे सोचते थे ये किसी बड़ी भारी चिन्ता का अपनी बुद्धि से चिन्तन कर रहे हैं ॥४४॥ जिनमें चन्द्रमा की किरणें स्तम्भित हों, ऐसी रात्रियों की नाईं केवल वहाँ पर चँवर डुलानेवाली महिलाएँ निश्चल सफेद चँवरवाली हो गईं यानी उन्होंने चँवर डुलाना बंद कर दिया ॥४५॥ जैसे मिट्टी से

बने हुए निश्चल केसर और दलवाले कमल शोभित होते है वैसे ही विस्मयपूर्ण निश्चल वे सब सभासद शोभित हुए ॥४६॥ जैसे वर्षा ॠतु की समाप्ति में आकाश में मेघ का गर्जन शान्त हो जाता है वैसे ही सभामण्डप में धीरे-धीरे कोलाहल शान्त हो गया। जैसे कि भगवान् विष्णु के असुरयुद्ध में पीड़ित होने पर देवताओं को चिन्ता होती है वैसे ही सन्देहसमुद्र में डूबे हुए बुद्धिमान् मन्त्री परम चिन्ता को प्राप्त हुए ॥४७,४८॥ राजा के आँख बन्द करके बैठने पर अति आश्चर्य से निरुत्साह हुई भय और मोह से दुःखी सभामण्डप की जनता ने जिसमें कमल मुकुलित हैं ऐसे कमल वन की शोभाधारण की ॥४९॥

एक सौ चौथा सर्ग समाप्त

एक सौ पाँचवाँ सर्ग

मोहरहित प्रकृतिस्थ राजा के प्रति सभासदों का मोह हेतु के विषय में
प्रश्न के अनन्तर राजा की उक्ति के आरम्भ का वर्णन।

वसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, जैसे वर्षाकाल के जल से मुक्त हुआ उत्तम कमल विकसित हो जाता है वैसे ही दो मुहुर्त में राजा बोध को प्राप्त हो गया ॥१॥ जैसे भूकम्प के समय विशाल वन और शिखरों के अग्रभागों से युक्त पर्वत अपने शरीर को कँपाता है वैसे ही जाग कर बाजूबन्द और शिरोमालासे विभूषित राजा ने आसन से अपने शरीर को कँपाया। पाताल हस्ती के (पृथिवी को धारण करनेवाले दिग्गज के) क्षुब्ध होने पर जैसे हिमालय कम्पित होता है वैसे ही प्रबुद्ध होकर आसन के ऊपर वह कम्पित हुआ ॥२,३॥ जैसे प्रलयकाल में क्षुब्ध हुए मेरु को कुलपर्वत अपने तटों से सम्हालते हैं वैसे ही गिर रहे उस राजा को सामने स्थित मन्त्री आदि ने अपनी भुजाओं से सम्हाला ॥४॥ मन्त्री आदि सन्मुखवर्ती पुरुषों द्वारा सम्हाले जा रहे व्याकुलबुद्धि उस राजा ने चन्द्रमा का उदय होने पर उछल रहे समुद्र के जल की शोभा धारण की ॥५॥ जैसे डूब रहे कमल के कोश के अन्दर स्थित भ्रमर मन्द-मन्द ध्वनि करता है वैसे ही उस राजा ने यह कौन प्रदेश है और यह किसकी सभा है ? यों धीरे-धीरे कहा ॥६॥ तदनन्तर जैसे राहू से ग्रस्त सूर्य से नलिनी, जिससे भ्रमरियाँ शब्द कर रही हों, आदर के साथ आश्वासन वचन कहती है वैसे ही सभा ने 'हे देव, यह आप क्या कह रहे हैं'; यों बड़े आदर के साथ राजा से कहा ॥७॥ तदनन्तर जैसे प्रलयकाल में भयभीत श्री मार्कण्डेय मुनिजी से देवता पूछते है हैं वैसे ही सन्मुखवर्ती मन्त्रियों ने राजा से पूछा ॥८॥ महाराज, आपकी ऐसी हालत होने पर हम अत्यन्त व्याकुल हैं। यद्यपि मन अभेद्य है तथापि भ्रम उसका भेदन किसी कारण के बिना कर डालते हैं ॥९॥ आपातरमणीय और परिणाम में विरस भोगों में जैसे पामर जनोंका मन ललचाता है वैसे ही किन विकल्पों में आपका मन मोह को प्राप्त हुआ ॥१०॥ उदार वृत्तान्तवाली विद्वत्चर्चाओं के विषय में परिशीलन करने से शीतल अतएव निर्मल आपका मन भयों में क्यों निमग्न हो रहा है ?॥११॥

किस प्रकार का मन मोह योग्य है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं।

तुच्छ विषयों में आसक्त अतएव विषय के छिन्न–भिन्न होने पर छिन्न–भिन्न सा और विषय से जर्जरित सा मन लोकव्यवहारों में मोह को प्राप्त होता है, पर विवेक से परिष्कृत मन कदापि मोह को प्राप्त नहीं होता ॥१२॥ देहाभिमान से विवेकरहित अवस्थाओं में इस मन की स्त्री, पुत्र आदि के विषय में एक धारा से जो वृत्ति उदित हुई, उसी वृत्ति की ओर यह दौड़ता है ॥१३॥ आपका मन तो अतुच्छ (अविनाशी) वस्तु का अवलम्बन करता है। धीर, प्रबुद्ध और गुणों से मनोहर है फिर भी वह छिन्न–भिन्न सा दिखाई देता है, यह बड़े आश्चर्य की बात है। जिस मन ने विवेक का अभ्यास नहीं किया और जो देश–काल का वशवर्ती है, वह मन्त्र और औषधि का वशीभूत होता है। उदार वृत्तिवाला मन मणि, मन्त्र और औषधि के वश में नहीं होता ॥१४,१५॥ जिसको नित्यविवेक प्राप्त है, विवेक से परिष्कृत उसके चित्त को क्या छिन्न भिन्नता और जर्जरता कम्पित कर सकती है ? क्या आँधी कभी भी मेरु को कँपा सकती है ? अर्थात् जैसे आँधी का मेरुपर्वत को कँपाना सम्भव नहीं है, वैसे ही विवेकी पुरुष के विवेक से विशुद्ध हृदय को विशीर्णता कम्पित नहीं कर सकती ॥१६॥ इस प्रकार अपने आत्मीयलोगों से अनुकूल वाणियों द्वारा आश्वासित राजा के मुख को कान्ति ने ऐसे विभूषित किया जैसे पौर्णमासी के दिन पूर्णता चन्द्रमा को विभूषित करती है ॥१७॥ वह राजा, जिसके लोचन प्रफुल्लित थे, मनोहर मुख से युक्त होकर ऐसे सुशोभित हुआ जैसे कि हेमन्त ऋतु के बीत जाने पर फूलों के समुह से युक्त वसन्त उल्लसित होकर सुशोभित होता है ॥१८॥ जैसे डूबने के लिए तैयार चन्द्रमा आकाश में राहू को देखकर भय से और आश्चर्य से खिन्नमुखवाला होता है वैसे ही राजा ऐन्द्रजालिक को देखकर अतिभय और आश्चर्य से खिन्न और पूर्वापर सब वृत्तान्तों के अनुसन्धान से युक्त मुखवाला होकर सुशोभित हुआ। तदनन्तर ऐन्द्रजालिक को देखकर हँसते हुए राजा उससे जैसे सर्प को मार डालनेवाले नेवले को देखकर छोटे साँप के वेष में छिपा हुआ नागराज उससे कहता है वैसे ही कहा ॥१९,२०॥ अरे बिना विचारे काम करनेवाले ऐन्द्रजालिक, मायारूपी जाल से जटावाले तुमने यह क्या किया ? जिससे निश्चल और प्रसन्न सागर के सदृश मेरा मन एक क्षण में अप्रसन्नता को प्राप्त होता है। भगवान् के सैंकड़ों पदार्थों की शक्तियाँ विचित्र हैं, जिन्होंने अत्यन्त शक्तिशाली मेरे चित्त को मोह में डाल दिया है, यह कम आश्चर्य नहीं है। लोकप्रसिद्ध सम्पूर्ण व्यवहारों के सिद्धान्तरहस्य के ज्ञाता हम कहाँ और मन को मोह में डालनेवाली इस समय अनुभूत ये विस्तृत आपत्तियाँ कहाँ ? ॥२१–२३॥ बुद्धिमानों का भी मन चाहे उसने महा ज्ञान का अभ्यास कितना ही क्यों न कर लिया हो, देह के रहते कभी क्षण भर के लिए स्वप्नरूपी इन्द्रजालों का मोह धारण करता है। हे सभासदों, इस आश्चर्यकारी आख्यान को आप लोग सुनिये, जो ऐन्द्रजालिक ने यहाँ पर एक मुहूर्त में मुझे दर्शाया है। मैंने इसमें एक मुहूर्त में बहुत सी चंचल कार्य दशाओं को देखा, जैसे कि बलि द्वारा प्रसादित ब्रह्मा ने, जिन्होंने इन्द्र की सृष्टि को विनष्ट नहीं किया था, एक मुहूर्त इन्द्र की सृष्टि का माया कौतुक देखा था (📖) ॥२४–२६॥ ऐसा कहकर जब सब

📖 पहले किसी समय बलि ने इन्द्र को असहाय अवस्था में पा लिया। वह अपने बल से इन्द्र

सभासद राजा की ओर टकटकी लगाकर देख रहे थे तब मुस्कुराते हुए राजा ने विचित्र वृत्तान्त कहना आरम्भ किया ॥२७॥

आगे कही जानेवाली कथा के उपोद्घातरूप से पहले सर्वजनप्रसिद्ध भूमि के अन्तर्गत अपने स्वदेश की सत्ता का अनुवाद करते हैं।

राजा ने कहा : हे सभासदों, विविध विचित्र वस्तुओं से ठसाठस भरी हुई, तालाब, नदी, नद, नगर और पर्वतों से व्याप्त तथा कुलपर्वत और समुद्रों से युक्त इस पृथ्वी में विविध विभवों से परिवेष्टित यह प्रदेश है ॥२८॥

एक सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छठा सर्ग

उक्त घोड़े द्वारा वन में पहुँचाये गये राजा का चाण्डाल कन्या के साथ विवाह वर्णन।

राजा ने कहा : हे सभासदों, इस पृथिवीमण्डलका सगा भाई सा यह देश, जो विविध वन और नदियों से युक्त है, आप सब लोगों के सन्मुख विद्यमान है। इस प्रदेश में यह मैं राजा, जो कि नगरवासियो का प्रिय हूँ, जैसे इन्द्र स्वर्ग में सभा के बीच में रहता है वैसे ही इस सभा के बीच में बैठा था ॥१,२॥ जैसे पाताल से मायावी मय दानव अपने-आप निकल आवे वैसे ही यह कोई ऐन्द्रजालिक दूर से आ पहूँचा, यह भी सबको विदित है ॥३॥ जैसे प्रलयकाल के वायु से युक्त मेघ इन्द्रधनुषरूपी लता को घुमाता है वैसै ही इसने आज यहाँ पर तेज से व्यूह यह मोर-पंखे का मोरछल घुमाया ॥४॥ सामने बैठा हुआ मैं उस चंचल मोरछल को देखकर अकेले इस घोड़े की पीठ पर अपने आप सवार हो गया। उस समय मेरा मन कुछ भ्रान्त-सा हो गया था ॥५॥ तदनन्तर जैसे प्रलयकाल में उत्पातवश हिल रहे पर्वत पर सवार होकर पुष्करावर्तनामक मेघराज चलता है वैसे ही चल रहे उस सुन्दर घोड़े पर सवार हुआ मैं चला ॥६॥ जैसे अत्यन्त बढ़े हुए प्रलयकालके समुद्र की बड़ी लहर फले-फूले खेतों की ओर जाने लगती है वैसे ही मैं अकेला बड़े वेग से शिकार खेलने के लिए जाने को तैयार हुआ। जैसे आपातरमणीय विषयों के भोगाभ्यास से जड़ चंचल मन अज्ञानी पुरुष को दूर ले जाता है वैसे ही वायु के समान तेज दौड़नेवाला वह घोड़ा मुझे बहुत दूर ले गया। तदुपरान्त यति के मनके समान शून्य (विषयरहित) और स्त्रियों के चित्त के समान तुच्छ अथवा विषम तथा प्रलयकाल में जले हुऐ ब्रह्माण्ड के समान भीषण वन में मैं पहुँचा। वहाँ पक्षी नाममात्र को भी न थे, वहाँ का शीत अत्यन्त दुःसह था, वृक्षों का कहीं नामनिशान न था, तथा जल का भी पूरा अभाव था।

को पीड़ित कर ले जाना चाहता था, पर इन्द्र ने अपनी माया से स्वसेना की सृष्टि कर मायाबन्धन द्वारा बलि को मोहित कर दिया। तब बलि ने अपने बन्धनमोचन के लिए स्तुति से ब्रह्मा को प्रसन्न किया। ब्रह्मा ने वहाँ उपस्थित होकर इन्द्र की सृष्टि का विनाश करना चाहा, किंतु इन्द्र के प्रार्थना करने पर ब्रह्माजी ने इन्द्र की सृष्टि का ध्वंस नहीं किया और एक मुहूर्त तक इन्द्र की सृष्टि की माया क्रीड़ा देखी थी, ऐसी पौराणिक कथा है।

उस विशाल अरण्य का कहीं ओर–छोर न था। मेरा घोड़ा थक गया था। दूसरे आकाश के समान और आठवें अर्णव के (स्वादुदक समुद्र के बाद आठवें समुद्र यानी पूर्व वर्णित भूमि के परिखारूप गर्त के) समान सूखे हुए पाँचवें सागर के समान (जम्बूद्वीप में चारों दिशाओं में चार सागरों की प्रसिद्धि है मानों वह पाँचवा सागर था) वह शून्यगर्तवाला था, तत्त्ववेत्ता के ब्रह्माकार चित्त के समान अपरिच्छिन्न था, मूर्ख के क्रोध के समान दुर्गम था, उसमें कभी कोई प्राणी पहुँचा न था और न कभी तृण पल्लव ही उगे थे। ऐसे भयंकर जंगल को पाकर मुझे बड़ा दुख हुआ। जैसे अन्न–फल–बन्धु–बान्धवों से रहित दरिद्रता को प्राप्त होकर दुःख पा रही ललना स्थित होती है, वैसे ही फैल रहे मरुमृगतृष्णा के जल से जहाँ पर दिशाओं के मुख आप्लावित हो रहे थे, ऐसे स्थान में स्थित अति दुःखी हो रहे मैंने सूर्यास्त होने तक सारा दिन वहाँ पर बिताया ॥७–१४॥ जैसे विवेकी पुरुष संसार का अतिक्रमण करता है, वैसे ही दुःखी हुए मैंने मध्य–रहित और विस्तीर्ण उस अरण्य को किसी प्रकार बड़े क्लेश से लाँघा, जैसे सूर्य जिनके घोड़े श्रान्त हो गये हों, आकाशगमन से अस्ताचल के शिर को प्राप्त होते है वैसे ही इस वेगशाली घोड़े से उस जंगल को क्रमशः लाँघकर वहाँ पर प्राप्त हुआ, जामुन और कदम्ब ही जिनमें प्रचुरमात्रा में थे ऐसे जिन खण्डों में बटोहियों के बान्धवों की नाईं मधुर कलरव करनेवाले पक्षी उड़ रहे थे ऐसे खेतों में कहीं–कहीं धानों की बात ऐसे ही दृष्टिगोचर हो रही थी जैसे कि कुटिल पुरुष के हृदय में अधर्म से उपार्जित धन से आनन्द वृत्तियाँ उदित होती हैं ॥१५–१८॥ पूर्व नीरस अरण्य से यह कुछ सुखकर था। अत्यन्त दुःखों से परिपूर्ण मरण से प्राणियों को व्याधि कुछ सुखकर प्रतीत होती ही है ॥१९॥ जैसे एकमात्र समुद्र में विहार करने के बाद मार्कण्डेयजी श्री विष्णु भगवान् से अधिष्ठित श्रेष्ठ वटवृक्ष को प्राप्त हुए थे, वैसे ही मैं भी वहाँ पर जंभीर के पेड़ के नीचे पहुँचा। जैसे सूर्य के सन्ताप से सन्तप्त पर्वत नीली मेघघटा का अवलम्बन करता है वैसे ही वहाँ पर उस वृक्ष के तने से सटी हुई लता का घोड़े के त्याग के लिए मैंने अवलम्बन किया। जैसे मनुष्य के गंगाजी की शरण लेने से पाप राशि भाग जाती है वैसे ही मेरे उस लता के सहारे लटकने पर वह घोड़ा भाग गया। मैं दीर्घकाल का पथिक था, अतः थक कर चूर हो गया था। वहाँ पर मैंने चिरकाल तक ऐसे विश्राम लिया जैसे सूर्य अस्ताचल पर्वत की गोद में कल्पवृक्ष के नीचे विश्राम करते हैं ॥२०–२३॥ सम्पूर्ण संसार के व्यवहारों के साथ सूर्य भगवान मानों विश्राम करने के लिए अस्ताचल रूपी आँगन में प्रविष्ट हो गये। रात्रि द्वारा धीरे–धीरे सारे भुवन के मध्यभाग के ग्रसे जाने पर और जंगल में रात्रि के व्यवहारों का राज होने पर जैसे पक्षी अपनी चोंच को डैनों के बीच में छिपाकर घोंसले में छिप जाता है, वैसे मैं एक वृक्ष के पत्ते और तिनकों से युक्त कोमल खण्डित खोखले में छिप गया ॥२४–२६॥ विषधर सर्प से जिसका विवेक डँसा गया है अतएव गल रही स्मृतिवाले मृत्यु के वशीभूत पुरुष की नाईं, बेचे गये दीन–हीन के सदृश और अन्धेरे कुएँ में डूबे हुए व्यक्ति के तुल्य मोह में डूबे हुए मेरी कल्प के समान वह रात्रि ऐसे बीती जैसे एकमात्र प्रलयकालीन सागर में बह रहे श्री मार्कण्डेय मुनि जी की प्रलयरात्रि बीती थी। उस काल में न मैंने स्नान किया, न

देवताओं की पूजा की और न भोजन ही किया। आपत्तियुक्त लोगों की प्रथम श्रेणी में स्थित हो रहे मेरी किसी प्रकार केवल वह रात्रि बीती ॥२७-२९॥ उस भीषण रात्रि में नींद का तो मुझसे स्पर्श भी नहीं हुआ, धैर्य भी मेरा न मालुम कहाँ चला गया था, मैं पल्लवों के साथ काँप रहा था ऐसी शोचनीय अवस्थावाले मेरी वह रात्रि दुस्तर अति लम्बाई के साथ किसी प्रकार तो बीती ॥३०॥ तदनन्तर जैसे मैं अपने मुँह, नेत्र और तारिका के साथ मलिनता को प्राप्त किया गया था वैसे ही अन्धकार घटा के सितारों, चन्द्रमा और कुँई के फूलों के साथ खूब मलिनता को प्राप्त किये जाने पर और दीर्घ जंगल में वेतालों के सिंहनाद के शान्त होने पर दुःसह शीत की व्यथा से युक्त प्राणियों के दाँतों की पंक्तियों की खटखटाहट और चीत्कारों से क्लेश में पड़े हुए मेरा ही उपहास कर रही पूर्व दिशा को मैंने देखा जिसने मद्यपान से अरुणता प्राप्त की थी ॥३१-३३॥ एक क्षण के बाद जैसे अज्ञानी को ज्ञान प्राप्त होता हो और जैसे दरिद्र को सुवर्ण मिले वैसे ही मैंने पूर्व दिशा के ऐरावत नामक दिग्गज पर सवार होने के लिए (उससे ऊपर उगने के लिए) तत्पर सूर्य को आकाश में देखा ॥३४॥ उस समय उठ कर मैंने जैसे सन्ध्या के समय नृत्य में अनुराग रखने वाले शंकर भगवान् गज चर्म को झाड़ते हैं – इधर उधर फटकारते हैं वैसे अपना बिछौना झाड़ा। जैसे काल जगत्रूपी कुटिया में, जिसमें प्रलयकालमें भूतसंघ जल गये, विहार करता है वैसे ही मैं उस अतिविस्तीर्ण वनस्थली में विहार करने के लिए उद्यत हुआ। जैसे मूर्ख के शरीर में कोई मनोहर गुण नहीं दिखाई देता वैसे ही उस जीर्ण जंगल में मुझे एक भी प्राणी नहीं दिखाई दिया ॥३५-३७॥ वहाँ पर केवल 'चीं चीं चूं चूं 'यों चहचहा रहे पक्षी निशंक होकर निष्फल वनप्रदेश में परिभ्रमण से अपनी जाति चपलता प्रकट करते हुए फुदक रहे थे। तदुपरान्त जब सूर्य आकाश के आठवें हिस्से में चढ़ चुके थे यानी लगभग चार दण्ड दिन चढ़ गया था और लताएँ, जिनके ओसबिन्दु सूख गये थे, अतएव मालूम होता था मानों स्नान कर चुकी हों, उस समय घूम रहे मैंने सिर पर भात का थाल रक्खी हुई एक कन्या को देखा जैसे कि दानव ने अमृत के सुन्दर घड़े को धारण की हुई माधवी (मोहिनी रूप धारण किये हुए भगवान) को देखा था। उसके नेत्रों की तारिका बड़ी चंचल थी, स्वरूप काला और काले ही वस्त्र पहिने थी। जैसे चंचल सितारे रूपी नेत्रों से युक्त तथा अन्धकार रूपी वस्त्रों को धारण करनेवाली काली रात्रि के पास चन्द्रमा जाता है वैसे ही वहाँ पर मैं उसके समीप गया ॥३८-४१॥ मैंने उससे कहा : हे बाले, इस भारी संकट में पड़े हुए (卐) मुझे शीघ्र यह भात दो, दीन पुरुषों का दुःख हरने से सम्पत्तियाँ वृद्धि को प्राप्त होती है ॥४२॥ हे बाले, जैसे पुराने पेड़ में खोखले में रहनेवाली व्याई (📖) हुई काली साँपिन वृद्धि को प्राप्त होती है

卐 'जिस पुरुष के प्राणों पर संकट उपस्थित हुआ हो वह यदि जिस किसी से अन्न लेकर खाता है, तो जैसे कमल के पत्ते को जल का स्पर्श नहीं होता वैसे ही उसको भी पाप का स्पर्श नहीं होता' इत्यर्थक स्मृति है।

📖 वह अपने अण्डों तक को खा जाती है। ' प्रसूता' विशेषण भूख की अनुचित कारिता का द्योतन करने के लिए है। जैसे व्याई हुई साँपिन अपने अण्डे तक को खा डालती है, भला इससे बढ़कर अनौचित्य और क्या होगा ? वैसे ही भूख भी क्या-क्या अनौचित्य नहीं करा डालती है ?

वैसे ही मेरे पेट में यह प्राणान्तकारिणी भूख की ज्वाला वृद्धि को प्राप्त हुई है ॥४३॥ जैसे लक्ष्मी प्रयत्नपूर्वक की गई प्रार्थना से पापी को धन नहीं देती है वैसे ही मेरी इस प्रकार की प्रार्थना से भी उसने मुझे कुछ नहीं दिया ॥४४॥ तथापि मैं अन्न प्राप्ति की आशा से चिरकाल तक उसका अनुगामी बना रहा। मेरे छाया के समान एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में उसके पीछे–पीछे चलने पर उस रमणी ने मुझसे कहा : हे हारकेयुरधारिन् भद्र पुरुष, आप मुझे पुरुष, अश्व और गज का भक्षण करनेवाली राक्षसी के तुल्य अत्यन्त क्रूर चाण्डालिन जानिये ॥४५,४६॥ हे राजन्, जैसे ग्रामीण जन से, जिसकी इच्छा पूरी न हुई हो, सुन्दर सौजन्य कोई पा नहीं सकता वैसे ही केवल याचनामात्र से आप मुझसे भोजन नहीं पा सकते हैं। यह कह चुकने के अनन्तर पद–पद पर हाव–भाव के साथ चल रही, वृक्षों कें निकुंजों में छिप रही तथा अपनी अभिलाषा के सूचक कटाक्ष आदि चेष्टाओं से विनम्र हुई उसने मुझसे यह कहा : यदि तुम मेरे पति बनते हो, तो मैं यह भोजन तुम्हें देती हूँ; क्योंकि पामर लोग प्रेम के बिना किसी वस्तु से उपकार नहीं कर सकते। जैसे श्मशान भूमि में वेताल भूखा और धूलि से धूसर रहता है वैसे ही यहाँ खेत में भूखा और धूलि से सना हुआ मेरा पिता, जो चाण्डाल है, बैलों को चला रहा है यानी खेत जोत रहा है। उसके लिए यह अन्न है, आपमें मेरा भर्तृत्व यदि स्थिर हो जाय, तो इस अन्न को आपको दे सकती हूँ, क्योंकि प्रिय पुरुषों की प्राणों से पूजा करनी चाहिये। तदुपरान्त मैंने उससे कहा : हे सुव्रते, मैं तुम्हारा पति होता हूँ, आपत्ति में वर्ण, धर्म और कुलाचारों का कौन विचार करता है ?॥४७–५२॥ मेरे प्रतिज्ञा करने के उपरान्त जैसे प्राचीन काल में मोहिनीरूप धारण किये हुए भगवान् ने आधा अमृत इन्द्र को दिया वैसे ही उसने आधा भात मुझे दे दिया। उसीको मैंने क्षुधा की पीड़ा से बहुत समझा ॥५३॥ मोह से मेरा चित्त हरा जा चुका था, अतएव मैंने वह भीलों के ग्राम का भात खाया और जामुन का रस पीया और वहाँ पर विश्राम भी किया ॥५४॥ जैसे मेघों से काली वर्षाऋतु सूर्य को छिपा देती है वैसे ही वह श्यामल कामिनी मुझे वहाँ पर छिपाकर बाहर स्थित प्राण के समान हाथ से लेकर कुत्सित काली आकृतिवाले दुष्कर्मकारी अतिस्थूल तथा भयानक पिता के पास जैसे नारकीय व्यथा अवीचिनामक नरक में पहुँचती है वैसे ही पहुँची ॥५५,५६॥ वह मुझ पर अनुरक्त थी, अतः जैसे अन्य भ्रमर पर अनुरक्त भँवरी हाथी के कान में मधुर ध्वनि से अपनी अभिलाषा कहती है वैसे ही उसने अपनी अभिलाषा उस चण्डाल के (अपने पिता से) कान में मधुर ध्वनि से कही : पिताजी, यह मेरा पति हो, इसकी आप अनुमति दीजिये। उसने उससे अच्छा कहकर दिन बीतने पर जैसे काल अपने दो किंकरों को बाँधता है वैसे ही उसने बैलों को बाँध दिया। कुहरे और मेघ से कपिल दिशाओं के धूलि–धूसर होने पर वेतालों के निवासस्थान भूत उस वन से हम तीनों चले। जैसे वेताल श्मशान से दूसरे बड़े श्मशान में पहुँचते हैं वैसे ही सन्ध्या के समय हम लोग उस विशाल वन से एक क्षण में भीलों की बस्ती में पहुँचे। वहाँ पर कटे हुए बन्दर, मुर्गे और कौए टुकड़े–टुकड़े करके रक्खे थे, खून से सींची हुई भूमि में मक्खियाँ भनभना रही थी ॥५७–६१॥ सूखने के लिए फैलाए हुए गीले आँतरूपी रस्सी के जाल पर मांसाहारी पक्षी

टूट रहे थे, घर के बगीचों में खड़े जंभीर के पेड़ों पर बैठे पक्षीगण कलरव कर रहे थे, सूख रहे बड़े भारी वसा (चर्बी) के पिण्डों से पूर्ण बाहर के दरवाजे की कोठरी में पक्षियों की चहल-पहल हो रही थी, नेत्रों के गोलक से निकले हुए रुधिर से लथपथ चमड़ों से रुधिरबिन्दु टपक रहे थे, बालकों के हाथ में स्थित मांसपिण्ड में मक्खियों के दल भनभना रहे थे, बूढ़े और बलिष्ठ चाण्डालों द्वारा शोरगुल मचानेवाले बालक डाँटे-डपटे जा रहे थे। जैसे प्रलयकाल में मृत प्राणियों से पूर्ण जगत् में यम के अनुचर प्रवेश करते हैं वैसे ही हम तीनों उस भयंकर भीलों की बस्ती में गये। उसमें चारों ओर नसें और आँतें बिखरी थी। मैं उस नये श्वसुर के घर में बैठा, जहाँ बड़े आदर के साथ बहुत से केले के पत्तेरूपी आसन बिछाये गये थे। खून के समान लाल आँखवाले श्वसुर ने यह जमाई है, ऐसा मेरी सास से कहा, टेढ़ा देखनेवाली मेरी सास ने उसके कथन का अभिनन्दन किया। तदनन्तर कुछ विश्राम कर, चर्म के आसन पर बैठकर इकट्ठा किया हुआ विविध प्रकार का चण्डालोचित भोजन मैंने इस प्रकार खाया जैसे पापी पुरुष अनेक प्रकार के संचित पापों का भोग करता है। मैंने बहुत से प्रेमालाप खूब सुने, जो अनन्त दुःखों के बीज थे, कुछ मनोहर भी न थे एवं जिनमें किसी प्रकार का आकर्षण भी न था ॥६२-६९॥ तदुपरान्त किसी दिन, जब कि मेघहीन आकाश में नक्षत्र दमक रहे थे, जैसे पाप नारकीय पीड़ा देता है वैसे ही काले वर्णवाले उस चण्डाल ने वह काली कलूटी भयानक कुमारी कन्या चण्डालोचित मद्य, मांस आदि के संचय के साज-सरअंजाम, वस्त्र और धन के समर्पण के साथ मुझे दी ॥७०,७१॥ इस विवाहोत्सव में जिन्हें मदिरा और आसव का मद चढ़ा था, खूब जोर से नगाड़े बजा रहे थे, ऐसे चण्डाल लोग नाच विलास करते हुए मूर्तिधारी ब्रह्महत्या आदि पापराशियों के तुल्य बड़े वेग से मेरे चारों ओर भाँति-भाँति के शब्द करते थे ॥७२॥

एक सौ छठा सर्ग समाप्त

एक सौ सातवाँ सर्ग

वहाँ पर पूरे साठ वर्ष तक निवास करते हुए राजा का चण्डालोचित कार्य से जीवनयापन वर्णन।

राजा ने कहा : हे सभासदों, इस विषय में मैं बहुत क्या कहूँ विविध उत्सवों से युक्त विवाह से मेरा चित्त वशीभूत था। तब से लेकर मैं वहाँ पर पूरा चण्डाल बन गया ॥१॥ सात रात के उत्सव के बाद क्रमशः आठ मास बीतने पर मेरी वह पत्नी रजःस्वला हो गई। तदुपरान्त उसने गर्भधारण किया। उसने जैसे विपत्ति दुःखदायिनी क्रिया को उत्पन्न करती है वैसे ही एक दुःखदायिनी कन्या को जन्म दिया। वह विपुल मूर्खचिन्ताके समान बहुत जल्दी बढ़ने लगी। तदनन्तर जैसे दुर्बुद्धि आशारूपी पाशों की रचना करनेवाले अनर्थ को उत्पन्न करती है वैसे ही तीन वर्षों के बाद उसने आशारूपी पाशके निर्माण करनेवाले अशोभन नामक पुत्र को उत्पन्न किया। फिर उसने कन्या को जन्म दिया, तदनन्तर फिर पुत्र को। इस प्रकार परिवारवाला मैं उस वन में बूढ़ा भील बन गया। जैसे ब्रह्महत्या करनेवाले पुरुष नरक में चिन्ता के साथ

विविध यातनाओं को बिताता है वैसे ही उसके साथ वहाँ पर मैंने बहुत वर्ष बिताये। जैसे बूढ़ा कछुआ छोटी तलैया में चिरकाल तक चक्कर काटता रहता है वैसे ही शीत, वायु, ताप आदि के कष्ट से पीड़ित मैं वन में फिरता रहा ॥२–७॥ कुटुम्ब के पालन की चिन्ता से नष्ट हुई अतएव जल रही बुद्धि से मैंने जलती हुई दिशाओं के समान अनेक क्लेशकारी कार्यों को देखा ॥८॥ तीसी की छाल से बने हुए अनेक वर्षों से काम में लाने के कारण जीर्ण–शीर्ण वस्त्र के ऊपर पिण्डी को (करड़े, तिनके आदि से बनाई गई पिण्डी, जिसे सिर पर रखकर बोझ उठाया जाता है) धारण करनेवाले मैंने वन में लकड़ियाँ ढोई, जो मूर्तिमान् दुष्कर्म के समान था ॥९॥ जुँओं से भरे हुए, जीर्णशीर्ण, पसीने से तर अतएव दुर्गन्ध से युक्त कौपीनमात्र ही मेरा एकमात्र वस्त्र था। इस प्रकार एकमात्र कौपीन धारण करनेवाले मैंने धवलीक नामक वृक्षों के तले विश्राम लेकर अनेक वर्ष बिता दिये ॥१०॥ जैसे हेमन्त ऋतु में मेढक वन के मध्य में छिप जाता है वैसे ही जाड़ा और शीतवायु से जर्जरित और कुटुम्ब के भरण–पोषण में उत्कण्ठित मैं वन के अन्दर छिपा रहा। नाना प्रकार के कलह कल्लोलों के सन्ताप से पिघले हुए खून की बूँदें, आँसुओं के बहाने, मैंने अपनी आँखों से छोड़ी ॥११,१२॥ भीगे हुए जंगल में पाषाणों की गुफारूपी कुटियों में मेघ से भीषण वे रात्रियाँ बीती जिनमें एकमात्र वराह का मांस ही भोजन को मिलता था ॥१३॥ काले मेघों से निबिड़ता को प्राप्त हुए सब बीजों को अंकुरित करनेवाले वर्षाकाल के बन्धुओं के दुर्भव से और सदा होनेवाले कलहों से बीतने पर सब जगह शंका करनेवाले अतएव दुःखी चित्तवाले मैंने तोतली वाणी बोलनेवाले बालकों के साथ अनेकों वर्ष दूसरे चाण्डाल के घर में बिताये ॥१४,१५॥ चण्डाली के कलह से दुःखी हुए अतएव क्रुद्ध चण्डालों के अत्यन्त तर्जन–भर्त्सन से मेरा मुख ऐसा जीर्ण–शीर्ण हो गया, जैसे कि राहु के दाँतों से चन्द्रमा जीर्ण–शीर्ण हो जाता है ॥१६॥ नारकी पुरुषों से लाई गई और नारकी पुरुषों के हाथ भेजी गई नरक की अँतड़ियों की नाईं बाघ की मांसपेशियाँ, छोटे किये हुए ओठ से, मैंने चबाई ॥१७॥ हिमालय की कन्दराओं से निकली हुई बड़ी भयंकर हेमन्त की लहरों, शिशिर में जलकणों की तेज वृष्टियों और बरफ की राशियों को मैंने वस्त्ररहित शरीर से सहन किया। ये सब इतनी भीषण थी कि मालूम पड़ता था मानों यमराज ने बाण छोड़े हों। बुढ़ापे से जीर्ण और मूढ़ हुए अकेले मैंने पुण्यों की नाईं अनेक वृक्षों की जड़ खोद डाली। चण्डाल होने के कारण मुझे कोई छूता न था और मेरी स्त्री भी परले सिरे की डाकिन थी, अतः जंगल में हँड़िया आदि मिट्टी के बर्तनों में बड़ी लगन से पकाया हुआ मांस मैंने खाया। अपने तेज के नाश के लिए भाँति–भाँति के मुख के विकार करनेवाले मैंने अपने मांस की नाईं मृग और भेड़ का मांस अन्य लोगों से खरीदा। उनमें से कोमल–कोमल मांस को निकालकर और लोहे के पात्र में पकाकर विन्धायाचल के निवासी भीलों की बस्तियों में अधिक लाभ के लिए बेचा। वह मांस क्या था, मानों हजारों जन्मान्तरों में उदित हुआ मेरा पाप ही था ॥१८–२३॥ बेचने से बचे हुए मांस को चण्डालों के घरों के आस–पास के बागों में सूखने के लिए मैंने फैला दिया। वह अपवित्र मल, मूत्र आदि से व्याप्त था। रौरव नरक में पड़े हुए की तरह अत्यन्त दुर्दशा को

प्राप्त हुए अतएव विन्ध्याचल की झाड़ियों के बन्धु से बन रहे मैंने सन्ध्या के ऊपर स्नेह से रहित यानी कन्द, मूल, मांस आदि के अर्जन में विघ्न डालनेवाले सन्ध्याकाल की विद्वेषिणी बुद्धि से कुदाली को ही देखा अन्य किसी को नहीं देखा, जो पोषक होने के कारण उस समय मित्रता को प्राप्त हुई थी ॥२४,२५॥ जिस दुर्दशा में लाठियों के आघात से कुत्ते आदि के उपद्रव को दूर करनेवाले और भीलों के तुल्य शरीरवाले मैंने कुग्राम के अन्धे लोगों के खाने योग्य कोदो आदि मोटे-मोटे अन्न से परम्परा सम्बन्ध से दैव द्वारा प्राप्त पुत्र, स्त्री आदि का भरण-पोषण किया। जिनके पत्ते मुसलाधार वृष्टि से शब्द करते थे ऐसे सूखे हुए ताड़ के पेड़ों के तले वन-वानरों के साथ जाड़े के मारे दाँतों को खटखटाते हुए मैंने रात्रियाँ बिताई। उस समय शीत से आक्रान्त मेरे शरीर में रोमों ने सूची के अग्रभाग का आकार धारण कर रक्खा था। और वर्षा ऋतु में वे मेघ के बिन्दुओं को मोतियों के तुल्य धारण करते थे ॥२६-२८॥ क्षुधा से पीड़ित और क्षीण उदरवाले मैंने मेघ के खण्ड के समान तुच्छ बकरे के मांस के टुकड़े के लिए जंगल में अपने परिवार के साथ बड़ा भारी कलह किया ॥२९॥ वन में शीत से मेरे दाँत बजते थे और मारे जाड़े के मेरी आँखें तिरछी हो गई थी। मेरा शरीर स्याही से भी अधिक काला हो गया था। यह सब होने से मैं पिशाचों का सगा-सम्बन्धी बन गया था ॥३०॥ जैसे प्रलयकाल में जगत् का भलीभाँति विनाश करने के लिए फाँस (फंदा) हाथ में लिए हुए काल घूमता है वैसे ही मैं मछलियों को मारने के लिए नदी के किनारे-किनारे बंसी लेकर घूमा ॥३१॥ बहुत उपवास होने के कारण तुरन्त काटे हुए मृग के वक्षस्थल से तत्काल गरमा-गरम खून माता के स्तन के दूध के समान मैंने पिया ॥३२॥ श्मशान में बैठे हुए खून से लथपथ तथा श्मशानभूमि में स्थित अपवित्र मांस, बलि आदि खानेवाले मुझसे वन के वेताल ऐसे भागे मानों वे चण्डिकाओं से भगाये गये हों। मैंने वन में मृग और पक्षियों के बन्धन के लिए जाल ऐसे फैलाये जैसे कि लोग अपनी वृद्धि के लिए पुत्र, स्त्री, कुटुम्ब आदि की आशा का जाल फैलाते हैं ॥३३,३४॥ मैंने अपने मायारूपी जालों से लोगों को और डोरे के जालों से पक्षियों को क्लेश पहुँचाया और अपने पापमय जीवन से दिशाओं को दूषित किया ॥३५॥ ऐसे पापकर्म के रहते भी मैंने पापाचरण में ही मन लगाया और पापकर्म में ही आशा ऐसे बढ़ाई जैसे वर्षा ऋतु में नदियाँ बढ़ती हैं। जैसे भालु (卐) के श्वास से साँप दूर भाग जाता है वैसे ही सद्बुद्धि मुझसे दूर चली गई थी। जैसे साँप केंचुल का परित्याग कर देता है वैसे ही मैंने दया का परित्याग कर दिया था ॥३६,३७॥ जैसे ग्रीष्म ऋतु के अन्त में आकाश वेग से वृष्टि करनेवाले एवं गर्जन-तर्जन करनेवाले काले मेघ का अंगीकार करता है वैसे ही वेग से बाणों की वृष्टि करनेवाली एवं गर्जन करनेवाली क्रूरता का मैंने अंगीकार किया ॥३८॥ जैसे लोगों से काटकर दूर फैंकी गई खूब फूली हुई खराब मंजरी को, जिसकी गन्ध अत्यन्त उत्कट हो, गड्ढा स्वीकार लेता है वैसे ही उत्पन्न दुःसह अनेक आपत्तियाँ मैंने चिरकाल तक धारण की जो बहुत विस्तार से युक्त और अन्यान्य जनों से त्यक्त थी। 'इतने समय तक इसका भोग करना चाहिये, इस प्रकार का नियत काल

卐 भालु (रिच्छ) अपने श्वास से साँप को बिल से बाहर खींचकर खा डालता है, ऐसी प्रसिद्धि है।

ही' जिनके क्षेत्रभेद का विभाग करनेवाला है ऐसी नारकी उत्कट भूमियों में मैंने पापरूपी बीजों की मुट्ठियाँ बोई, जिन्हें मोह ही वर्षा के तुल्य बढ़ाता है ॥३९,४०॥ विन्ध्याचल की गुफाओं में रहनेवाले मैंने जाल आदि मृगों को फँसाने के साधनों से मृगों पर अपना निर्दयतापूर्वक ऐसा पराक्रम दिखाया जैसा कि काल प्राणियों पर दर्शाता है। जैसे श्रीविष्णु भगवान् शेषनाग के शरीर पर शयन करते हैं वैसे ही मैं, जिसका विवेक नष्ट हो गया था, चामरी के कण्ठरूपी भीत पर सिर रख कर सोया ॥४१,४२॥ चंचल चरण और वस्त्रवाले, तथा शब्दपूर्वक धूम जिसमें उल्लसित हो रहा है ऐसे मेरे शरीर ने, पक्षियों से जिसके समीपस्थ पर्वत और आकाश चंचल हो, गरजते हुए व्याघ्र आदि से जिसका रूप उल्लसित हो, ऐसे कुहरे से आच्छन्न विन्ध्याचल के जलमय प्रदेश की शोभा धारण की। जैसे भगवान् वराह ने पृथिवी को, जिसमें असंख्य जीव चल रहे थे, सहा था यानी अपने ऊपर धारण किया था वैसे ही काले शरीरवाले मैंने ग्रीष्म ऋतु में जुँओं के झुँड से पूर्ण कन्था को बहुत दिनों तक अपने कन्धे पर सहा यानी धारण किया। बहुत बार मैंने वन में धधकती हुई अग्नि से बहुत से प्राणियों को भस्म कर डाला था, अतएव मैंने जिसने प्रलय की अग्नि से जगत् को खा डाला, उस काल का अनुकरण किया। जैसे स्त्रीप्रसंग का व्यसनी पुरुष रोगों को उत्पन्न करता है अथवा जैसे दुष्ट ग्रह या दुराग्रह वैर, कलह आदि अनर्थों की सृष्टि करता है वैसे ही मेरी पत्नी ने दुःख और सुख रूप बच्चों को उत्पन्न किया ॥४३-४६॥ राजा के लड़के उसमें भी इकलौते लड़के अतएव दोषों से अत्यन्त निबिड़ मैंने तब कल्प के सदृश साठ वर्ष बिताये ॥४७॥ हे सभासदों, दुर्वासनारूपी बेड़ी से बँधे हुए अभागे मैंने वहाँ पर आप लोगों को जितना समय मालूम हुआ, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक समय तक क्रोधावेश से भद्दी-भद्दी गालियाँ दी, आपत्तियो में खूब जोर से रोया, रूखा-सूखा मोटा अन्न खाया,भीलों की टूटी-फूटी गन्दी टोली में निवास किया ॥४८॥

एक सौ सातवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ आठवाँ सर्ग

राजा के चण्डालों की उस बस्ती में बहुत वर्षों तक निवास करते समय
अनावृष्टि से उत्पन्न दुर्भिक्ष से देश की दुर्दशा का वर्णन।

राजा ने कहा : हे सभासद्वृन्द, तदनन्तर क्रमशः समय बीतने पर मेरी आयु वृद्धावस्थासे जर्जरित हो गई, मेरा मुँह तुषार से लदे हुए घास के तिनकों के तुल्य सफेद दाढ़ी-मूँछ से आच्छन्न हो गया ॥१॥ जैसे वायु से प्रेरित जीर्ण-शीर्ण पत्ते उड़ते हैं वैसे ही कर्मरूपी वायु से प्रेरित सुखयुक्त और दुःखयुक्त मेरे दिन बीतने लगे ॥२॥ जैसे युद्ध में बाणों के समूह लगातार आते और जाते हैं वैसे ही सुख-दुःख, लड़ाई- झगड़ा, अकरणीय चोरी, सीनाजोरी आदि कार्य आने-जाने लगे ॥३॥ मेरा चित्त कल्लोलों से भरे हुए समुद्र के समान भ्रान्त हो गया था, मैं सदा विकल्पों की कल्पनारूपी भँवर में पड़ा रहता था, जैसे पक्षी आकाश में किसी अवलम्बन के बिना उड़ता है वैसे ही में किसी अवलम्बन के बिना आकाश में चलता था और बिलकुल

जड़ हो गया था ॥४॥ चिन्ताओं से व्याप्त चल रहे चक्र में आरूढ़ होने से मेरे भ्रान्त हो जाने पर और कालरूपी सागर में भौंरियों के साथ बहाये जा रहे तृण के तुल्य किसी अवलम्बन के बिना स्थित होने पर विन्ध्याचल की भूमि के वन के कीड़े और एकमात्र उदर भरना ही जिसका मुख्य काम है, ऐसे दो बाहुवाले गर्दभरूप मेरे इस प्रकार वहाँ पर अनेक वर्ष बीते। मैं शव की नाईं अपनी भूपताको भूल चुका था। जिसके पंख कट गये हो ऐसे पर्वत के समान बड़ी वेगवाली चाण्डालता पूर्णरूप से मुझमें स्थिर हो चुकी थी। जैसे प्रलयकाल संसारको तहस-नहस कर डालता है, जैसे वनाग्नि जंगल को राख कर देती है, जैसे सागर की लहर तट को मटियामेट कर डालती है, जैसे वज्र सूखे वृक्ष को जला डालता है, वैसे ही अनवसर में ही जिसमें लोगों का परलोकगमन होता है ऐसा दुर्भिक्ष क्रोधी चण्डालों की मण्डली से परिपूर्ण अन्न, तृण, पत्ते और जल के अभाव से युक्त विन्धाचल के जलप्राय प्रदेश में आया ॥५-९॥ मेघ समुह बरसते न थे, देखते ही नष्ट हो जाते थे। यह भी मालूम नहीं, वे कहाँ रहते थे, कपड़े से छने हुए से अत्यन्त सूक्ष्म अंगार-कणों से मिश्रित वायु बहती थी। वनस्थलियाँ शून्य थी, सूखे हुए मर्मरशब्द करनेवाले पत्तों से वे युक्त थी और चारों ओर वनाग्नि से परिवेष्टित थी, अतएव मालूम पड़ता था मानों बहुत दिनों से उन्होंने संन्यास ले रक्खा हो ॥१०,११॥ अनवसर में उत्पन्न हुआ दुर्भिक्ष बड़ा भीषण हुआ। उसमें वनाग्नि उद्दाम गति से फैली थी। सम्पूर्ण वन सुखाये गये थे। तृण और लताओं की भस्म ही शेष रह गये थे। सबके अंग धूलि से धूसरित हो गये थे। सब मानव मारे भूख के व्याकुल थे। उस दुर्भिक्ष में अन्न, तृण और पानी का कहीं नाम न था। सब नगर और ग्राम उसमें उत्कृष्ट अरण्य बन गये थे ॥१२,१३॥ उस दुर्भिक्षकाल में प्रतीत हो रहे मृगतृष्णा के जल में भैंसों का यूथ नहा रहा था। जंगल का आकाश वायु से उड़ाये गये जलकणों को भी धारण नहीं करता था। 'पानी' शब्दमात्र के श्रवण से लोगों के झुण्ड के झुण्ड उत्कण्ठित होते थे। सूर्य के ताप के विस्तार से उत्पन्न हुए शोषसे सब मनुष्य दुःखी हो रहे थे। घास-पत्ती खाने के उद्योग से अत्यन्त क्षुभित हुए लोगों का उस दुर्भिक्ष में जीवन चला गया था। अपने शरीर को चबाने की अभिलाषा से दाँत परस्पर एक-दूसरे को काटते थे। यह मांस है, ऐसी शंका से खैर के उग्र अग्नि-कणों के समूह को लोग निगल गये थे। मण्डक की (एक प्रकार के पकवान की) भ्रान्ति से निःसार वन के पत्थरों के टुकड़ों को भी लोग निगल गये थे। माता, पुत्र, पिता आदि परस्पर के स्नेह से दुःखी होकर प्राणों के भय से लिपटे थे। मांसाहारी पक्षियों के पेट में पूरी निगली गयी सुन्दर सारिकाएँ शब्द करती थी। परस्पर अंगों के काटने से सम्पूर्ण धरातल रुधिर से सिक्त था मदोन्मत्त और क्षुभित हाथी शेरों को निगलने के लिए सन्नद्ध थे ॥१४-१९॥ गुफाओं में हमें कोई निगल न जाय इस आशंका से एक-एक करके घूम रहे सिंहों से उसकी भीषणता कहीं अधिक बढ़ गई थी। परस्पर एक दूसरे को मारने लिये उद्यत हुए लोगों के मल्ल चरित्र को वह धारण करता था ॥२०॥ उस भीषण दुर्भिक्ष में पत्तों से रहित पेड़ों को अंगारों से भरी हुई तेज आँधी उड़ा रही थी। प्राणियों के रुधिर को पीने के लिए उत्कण्ठित बिलार गेरू आदि धातुओं की तट भूमि को चाटते थे। अग्नि की ज्वालाओं

के घन घटाटोप से वह दुर्भिक्ष काल आवर्त से और वनवायु से युक्त था। सभी जगहों में चटचट शब्द कर रही अग्नि की ज्वालाओं से सबके–सब जंगल उसमें पीले पड़ गये थे ॥२१,२२॥ जिन झाड़ियों में वनाग्नि से अजगर जल गये थे, उनसे उठे हुए धुएँ से, जो उनके अधिक फलने–फूलने के लिए दी गई धूप के तुल्य प्रतीत होता था, सब पेड़ और झाड़ियाँ हृष्टपुष्ट हो गई थी। वायु के झोंके से परिवेष्टित वनाग्नि की ज्वालाओं से सन्ध्याकालीन मेघ के तुल्य सारा आकाश आच्छन्न था ॥२३॥ उस दुर्भिक्ष में चारों ओर उद्दाम हाहाकार मचा था, वनाग्नि से उड़ी हुए भस्म से बिना दण्ड के छाते तने हुए थे, मारे भूख के रो रहे नर–नारियों के आगे दीन–हीन बालक रो –चिल्ला रहे थे, संभ्रान्त पुरुष दाँतों से बड़े–बड़े शवों के मांस को काट रहे थे, मांस के छोटे–छोटे टुकड़ों को बड़े वेग से निगलने के कारण लोग खून से तर अपनी अँगुलियों को निगल रहे थे ॥२४,२५॥ उस दुर्भिक्ष में लोग नीले पत्ते और लताओं की आशंका से धुएँ की निविड़ छबि को पीते थे। आकाश में घूम रहे गीध आकाश में उड़ रहे अंगार रूपी मांस खण्ड को निगल रहे थे यानी आकाश में अंगारे इधर–उधर उड़ रहे थे, उन्हें यह मांस पिण्ड है, यह समझकर गीध निगलते थे। परस्पर एक दूसरे के अंग को काटनेवाले लोगों के पलायन से वहाँ बड़ी व्याकुलता हो रही थी, जोर से धधकती हुई अग्नि की भड़भड़ाहट से लोगों के हृदय और पेट फट रहे थे, गहरे गड्ढों में प्रवेश कर रहे वायु के झनकार के समान भीषण वनाग्नि की लपटें धधक रही थी, भयभीत अजगरों की फुफकार से वहाँ वृक्षों पर अंगार उड़ रहे थे ॥२६–२८॥ जो विन्ध्याचल का प्रदेश पहले बड़ा मनोहर था, वह इस प्रकार के प्राणि–विनाशकारी दुर्भिक्ष को पाकर, अनवसर में जिसमें देश नष्ट हो रहे हैं, शुष्क कोटरवाला होकर प्रलयकाल में उगे हुए बारह सूर्यों की अग्नि से जले हुए जगत् की तुल्यता को प्राप्त हुआ। वह देश, जहाँ पर धधक रही अग्नि से जटायुक्त हुए वृक्षों में बह रही हवा के संचार से लोग बहुत पीड़ित थे, अग्नि, सूर्य और सूर्य–पुत्र शनैश्चर की क्रीड़ाभूमिरूपी घर की तुलना को प्राप्त हुआ ॥२९,३०॥

एक सौ आठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ नौवाँ सर्ग

दुर्भिक्ष पीड़ित विन्ध्यप्रदेश से स्त्रीसहित निकले हुए पुत्र की आपत्ति देखकर
अग्नि में प्रवेश करने के लिए इच्छुक राजा का जागकर सदस्यों से संवाद।

राजा ने कहा : हे सभासदों, उस समय उक्त कष्टदायिनी दैव की प्रतिकूलता के, जो अत्यन्त सन्ताप देनेवाली थी, अतएव यदि उसे अकाल में प्राप्त घोर प्रलय कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी, सिर पर पड़ने पर जैसे शरद् ऋतुमें आकाश से मेघ कहीं दूसरे प्रदेश में चले जाते हैं वैसे ही कोई लोग अपने परिवार बन्धु–बान्धवों के साथ निकल कर दूसरे देश में चले गये ॥१,२॥ जैसे वन में काटे गये वृक्ष वहीं पर जीर्णशीर्ण हो जाते हैं वैसे ही कितने लोग, जो अपने पुत्र, स्त्री, श्रेष्ठ बन्धुओं को अपने शरीर के अवयवों की नाईं छोड़ नहीं सकते थे, वहीं

पर तहस–नहस हो गये ॥३॥ जैसे अपने घोंसले से निकले हुए पक्षियों को, जिनके पंख नहीं निकले हों, बाज खा जाते हैं, वैसे ही अपने घर से निकले हुए कितनों को बाघ, भालू आदि जंगली जानवर चट कर गये ॥४॥ पतंगों की नाईं कोई लोग जली हुई आग में प्रविष्ट हो गये, कोई पहाड़ से लुढ़की हुई शिलाओं की भाँति गड्ढों में गिर गये ॥५॥ मैं तो उन श्वसुर आदि मित्रों को छोड़कर मेरे पीछे चल सकने में समर्थ केवल अपने कुटुम्ब को लेकर बड़ी कठिनाई से उस दुर्भिक्ष पीड़ित देश से निकल आया ॥६॥ अग्नि, वायु, बाघ आदि हिंसक जीवों और सर्प आदि की आँखों में धूल झोंककर यानी उनसे बचकर मैं मृत्यु के भय से सपत्नीक निकल आया ॥७॥ उस देश की सीमा में पहुँचकर वहाँ एक ताड़ के पेड़ के तले अपने कन्धे से बच्चों को, जो विविध अनर्थों के समान भीषण थे, उतारकर मैंने चिरकाल तक विश्राम किया। मेरी दशा बड़ी शोचनीय थी, रौरव नरक से निकले हुए पुरुष के सदृश मैं थका था और ग्रीष्म ऋतु के प्रचुर वनाग्नि के सन्ताप से पीड़ित मैं जल रहित कमल के सदृश मुरझाया था। तदुपरान्त चण्डाल की पुत्री के (मेरी पत्नी के) उस पेड़ के तले विश्राम लेने, दो लड़कों को छाती से लगाकर सो जाने पर पृच्छक नाम का एक लड़का मेरे आगे बैठा था, जो सबसे छोटा और बड़ा भोलाभाला होने के कारण हम दोनों का बड़ा दुलारा था। उसने दीन होकर और आँखों में आँसू भरकर मुझसे कहा : पिताजी मुझे जल्दी खाने के लिए मांस और पीने के लिए रुधिर दीजिये। बार–बार ऐसा कहता हुआ वह नन्हा–सा बच्चा प्राणान्तिक अवस्था को प्राप्त हुआ और मारे भूख के बार–बार रोने लगा ॥८–१३॥

मैंने उससे बार–बार कहा : बेटा, मांस नहीं है। फिर भी वह मन्दमति मुझे मांस दीजिये कहता ही रहा ॥१४॥ तदुपरान्त पुत्र के प्रति गहरे स्नेह से मूढ़ बने हुए अतएव अत्यन्त दुःखी मैंने उससे कहा : बेटा, पका हुआ मेरा मांस खाओ। फिर 'दो' कहकर अत्यन्त भूखे और मेरे शरीर से चिपक रहे उसने मेरा मांस खाना भी स्वीकार कर लिया ॥१५,१६॥ स्नेह और करुणा से मोह में पड़े हुए तथा अत्यन्त दुःखित हुए मैंने, जो कि उस तीव्र आपत्ति को सहने में समर्थ न था, बच्चे की उस पीड़ा को देखकर सब दुःखों से छुटकारा पाने के लिए और उस काल के योग्य सहृत् मरण के लिए मन में निश्चय किया ॥१७,१८॥ वहाँ पर लकड़ियों को इकट्ठी कर मैंने चिता बनाई। वह चिता चटचट शब्दों से मेरी अभिलाषा करनेवाली–सी स्थित हुई। उस चिता में जैसे ही मैं अपने को फेंकने लगा वैसे ही इस सिंहासन से राजा रूप मैं बड़े वेग से चलित हुआ। तदनन्तर तुरी के शब्द से और जय घोष से मैं जगाया गया। इस प्रकार ऐन्द्रजालिक ने जैसे अज्ञान जीव की सैंकड़ों दशाओं से युक्त मोह उत्पन्न करता है वैसे ही यह मोह मुझमें उत्पन्न किया। अत्यन्त तेजस्वी राजाधिराज लवण के यह कह चुकने पर ऐन्द्रजालिक एक क्षण में वहीं पर अन्तर्हित हो गया। आश्चर्य से आँखें तरेरते हुए सदस्यों ने राजा से कहा : राजन्, जिसको धन की इच्छा नहीं हैं, वह ऐन्द्रजालिक नहीं हो सकता। यह संसार की स्थिति समझानेवाली कोई दैवी माया है ॥१९–२४॥ संसार मनोविलासमात्र है। यह इस माया में प्रतीत होता है। सर्वशक्ति, भगवान विष्णु का

विलासरूपी मन ही जगत् है ॥२५॥ सर्वशक्तिशाली विधाता की सैंकड़ों विचित्र शक्तियाँ हैं, जिनसे विवेकशील मन को भी वे मन से मोहित करते हैं ॥२६॥ जिन्हें लोक का वृत्तान्त भलीभाँति ज्ञात है, ऐसे ये महीपति कहाँ और पामर लोगों की मनोवृत्ति जानने योग्य यह बड़ा भारी संभ्रम कहाँ ? विधाता की माया से ही यह अघटित घटना घटी है ॥२७॥ ऐन्द्रजालिक की इच्छा नहीं है। यह मनमें मोह डालनेवाली माया है। ऐन्द्रजालिक तो नित्य धन की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं। उनका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं होता। वे तो बड़े प्रयत्न से धन माँगते हैं, वे अदृश्य नहीं हो जाते। इन दो हेतुओं से सन्देहाकुल हम लोग सन्देहसागर के तटरूप निर्णय को प्राप्त हुए हैं ॥२८,२९॥

यह आख्यायिका न तो बालकाख्यायिका के समान कल्पित कथा है और न दूसरे के मुँह से सुनी है, बल्कि प्रत्यक्ष देखी हुई सच्ची घटना है, ऐसा कहते हैं।

वत्स श्रीरामचन्द्रजी, उस समय उस सभा में मैं उपस्थित था, इसलिए यह सब मैंने अपनी आँखों से देखा है, दूसरे के मुँह से नहीं सुना है ॥३०॥ हे महात्मन् इस प्रकार बहुत-सी कल्पनाओं से बद्धमूल (जिसने अपने कलेवर की वृद्धि की है) अतएव फल, पल्लव और शाखाओं से विस्तार को प्राप्त वृक्ष के समान मन आत्मा के स्वरूप को छिपाकर स्वयं सर्वोत्कर्ष में स्थित है। विचारजनित ज्ञान से मन को निर्वासनिकतारूप शम को प्राप्त करा देने से मन के आत्मस्वभाव होने पर भेदक उपाधि का बाध हो जाने से आप परम पवित्र पद को प्राप्त हो जायेंगे ॥३१॥

एक सौ नौवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ दसवाँ सर्ग

मन के वैभव के वर्णन द्वारा मन के शमन के उपाय का वर्णन।

मन वासनामय है, अतएव वासनाओं का आत्यन्तिक उच्छेद ही मन के शमन का उपाय है। वासना के आत्यन्तिक उच्छेद का उपाय शास्त्राभ्यास, आचार्योपदेश और अपने अनुभव से सकल दृश्य और अपने अनुभव से सकल दृश्यपदार्थ एकमात्र मन की भ्रान्ति रूप हैं, यह निश्चयपूर्वक सप्तम भूमिकारोहपर्यन्त ज्ञान को परिपक्व करनेवाला मनोनिरोध ही है, यह कहने के लिए जड़ से मन के स्वरूप का शोधन करते हुए श्री वसिष्ठजी कहते हैं।

वत्स, परम कारण यानी चैतन्यसंवलित अज्ञान से ही सर्वप्रथम शुद्ध चेतन चेत्यपदवी को प्राप्त हुआ, वस्तुतः वह चेत्य पदवी को प्राप्त नहीं है, क्योंकि वह निर्विकार है ॥१॥

श्लोकस्थ 'आदौ' से यह सूचित होता है कि जब चित् के प्राथमिक चेत्यपदपात अज्ञाननिमित्तक है तब तन्मूलक द्वैतदर्शन भी अज्ञान निमित्तक है, यह इसलिए सिद्ध हुआ। चिति के चेत्य पद में पड़ने से ही 'पदार्थप्रथा' नाम को प्राप्त होकर नाम-रूप की विचित्रता से चिति कलुषता को प्राप्त हुई है। वह कलुषी भाव ही वासना का पहला अंकुर है, यह भाव है।

इस प्रकार की वस्तु स्थिति वाले पदार्थों के नाम-रूपवैचित्र्याभास भ्रमों के, जो कि है ही

नहीं, क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होने पर वह चिति अपनी स्वाभाविक पूर्णता को भूलकर, असत् मनोरूपता को प्राप्त होकर अनादिकाल से लेकर जन्म, मरण आदि भ्रमों से मोह में पड़ती है। भाव यह कि चेतन का चेत्योन्मुख होना ही अनर्थों की जड़ है, इसलिए उसीका निरोध करना चाहिए ॥२॥ इस प्रकार अति तुच्छ वासनारूपी सहस्त्रों दोषों से म्लान हुई मनोवृत्तिरूप से स्थित वह चिति जैसे बालिका वेतालों का विस्तार करती है वैसे ही असत् ही दुःखों का खूब विस्तार करती है ॥३॥ जैसे सकलंक असत् मनोवृत्ति चेतन के दुःख की वृद्धि करती है वैसे ही वासनाओं का क्षय हो जाने पर वासनारूपी कलंक से निर्मुक्त स्वाभाविक सद्रूप मनोवृत्ति ही इस तरह महादुःख को शून्य करती है जिस तरह सूर्य की प्रभा अन्धकार को दूर कर देती है यानी बोध से महादुःख का बाध कर देती है ॥४॥

उक्त अर्थ की संभावना से मनकी अघटित घटना शक्ति को कहते हैं।

मन दूर को समीप बना देता है और समीप को दूर कर देता है। जैसे छोटा बच्चा चिड़ियों के बच्चों में अपना पराक्रम दिखाता है वैसे ही मन प्राणियों में अपना प्रभाव दिखाता है ॥५॥ जैसे भ्रान्त पथिक को दूर से स्थाणु भी पिशाच प्रतीत होता है वैसे ही वासनाओं वाले अज्ञानी चित्त को अभय में (जहाँ भय नहीं है वहाँ भी) भय होता है ॥६॥ कलंक से (वासनाओं से) मलिन हुआ मन मित्र में शत्रुत्व की शंका करता है। देखिये न ! नशे में चूर हुआ प्राणी पृथिवी को घूमती हुई देखता है ॥७॥ मन के व्याकुल होने पर चन्द्रमा से वज्र की उत्पत्ति होती है। अमृत ही क्यों न हो यदि यह विष है, ऐसी बुद्धिसे उसका पान किया जाय तो अवश्य विष का कार्य मूर्च्छा, मरण आदि होता है ॥८॥ वासनाओं से परिपूर्ण मन गन्धर्वनगर को, जो असत् है, सत् के समान देखता है और जाग्रत को स्वप्न के सदृश देखता है ॥९॥ मन की उत्कट वासना प्राणी के मोह की एकमात्र कारण है। उसी को प्रयत्न के साथ मूलोच्छेदपूर्वक जड़ से उखाड़ फेंकना चाहिए ॥१०॥ वासनारूपी जाल से खींचा गया मनुष्यों का मन रूपी हिरन संसाररूपी वन की झाड़ी में अत्यन्त विवशता को प्राप्त होता है ॥११॥ जिस विचार ने जीव की ज्ञेय पदार्थों की वासना का उच्छेद किया, मेघों के आवरण से रहित सूर्य के प्रकाश के तुल्य उसका प्रकाश विराजमान है ॥१२॥

पहले मन ही मेरी देह है अन्य देह नहीं है, ऐसा सदा अभ्यास करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

इसलिए तुम नर को मन ही समझो, देह न समझो। देह जड़ है। मन को न लोग जड़ कहते हैं और न अजड़ कहते हैं ॥१३॥ हे रघुवर, जो मन ने किया, उसी को आप किया हुआ समझिये। हे पुण्यमय जिसका मन ने त्याग किया उसीको त्याग किया हुआ जानिये। एकमात्र मन ही यह सारा जगत् है और मन ही भूमि का प्रान्त है। मन ही आकाश है, मन ही भूमि है, मन ही वायु है, मन ही महत्तत्त्व है। मन यदि सूर्य आदि पदार्थों में प्रकाशादिरूप से युक्त न हो, तो सूर्योदय होने पर भी ये प्रकाश आदि कदापि न हों ॥१४–१६॥ जिसका मन मोह को प्राप्त होता है, वह मूढ़ कहा जाता है। शरीर के मोह को प्राप्त होने पर शव को कोई मूढ़ नहीं कहता है ॥१७॥ मन जब देखता है चक्षु हो जाता है, जब सुनता है तब श्रोत्रता को प्राप्त होता है,

स्पर्श करने से वह त्वग्भाव को प्राप्त होता है, सूँघने से वह घ्राणता को प्राप्त होता है, रस का स्वाद लेने से जिह्वा बन जाता है। नाटक में जैसे एक ही नट वेशभूषा के परिवर्तन से नाना आकारों को प्राप्त होता है वैसे ही देह में इन पूर्वोक्तविचित्र वृत्तियों में मन की ही अनुवृत्ति होती है ॥१८,१९॥ मन छोटे पदार्थ को बड़ा बना देता है, सत्य पदार्थ में असत्ता स्थापित कर देता है। स्वादिष्ट वस्तु को कटु बना देता है और शत्रु को मित्र बना डालता है ॥२०॥ जो वृत्तिवर्ती चित्त का प्रतिभास है यानी चैतन्य द्वारा उज्ज्वलित मन की घट, पट आदि विषयाकार वृत्ति है, वही प्रत्यक्षनामक प्रमाण है, क्योंकि लोक में तथा शास्त्र में ऐसा ही अनुभव है ॥२१॥ प्रतिभास के कारण ही स्वप्न से व्याकुल चित्तवाले हरिश्चन्द्र की एक रात बारह वर्ष की हो गई। चित्त के प्रभाव से ही ब्रह्मलोक में गये हुए राजा इन्द्रद्युम्न का एक मुहुर्त एक युग में बीत गया। यदि हरिस्मरण आदि रूप मनोहर चित्तवृत्ति का उदय हो, तो घोर रौरव नरक दुःख भी सुखरूप में परिवर्तित हो जाता है जैसे कि प्रातः मुझे अवश्य राज्य प्राप्त होनेवाला है, इस बात का जिसे प्रमाणों में निश्चय है और जिसके हाथ–पैर हथकड़ी और बेड़ी से भलीभाँति बँधे हैं, उसका बन्धन दुःख के बदले सुख रूप में परिवर्तित हो जाता है ॥२२–२४॥ जैसे डोरे के जल जाने पर मोती की माला टूट जाती है वैसे ही मन के जीत लेने पर सब इन्द्रियाँ वश में आ जाती है ॥२५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मन की इससे बढ़कर पदार्थों की विपरीत कल्पना की सामर्थ्य और क्या कही जाय ? देखिये न, मन सब जगह स्थित, समत्व, स्वच्छत्व, निर्विकारत्व, सूक्ष्मत्व आदि स्वभाववाली, साक्षिस्वरूप, सब पदार्थों में अनुगत, चेत्य पदार्थों से अभिन्न, चिन्मात्ररूप, आत्मसत्तामात्र से स्थित, वाग् आदि सब क्रियाओं से रहित भी ब्रह्म को देहतादात्म्य की कल्पना से देह के तुल्य और जड़ बनाकर अन्तःकरण में काम, संकल्परूप भ्रान्ति से और बाहर पर्वत, नदी, समुद्र, आकाश, नगर आदि की लीला से कल्पना कर व्यर्थ ही घूमता है ॥२६–२८॥

यदि किसी को यह शंका हो कि मूढ़ मन भले ही अन्यथा कल्पना करे परन्तु विचार से जागरुक हुआ मन अन्यथा कल्पना नहीं करेगा, ऐसी परिस्थितिमें विचार जागरुक मनके विनाश की चिन्ता से क्या प्रयोजन है, इस पर कहते हैं।

विवेक से जागरुक हुआ मन भी यद्यपि स्त्री–अधर आदि वस्तु अस्वादु और उच्छिष्ट है तथापि उसे राग आदि से अभीष्ट अमृत के तुल्य स्वादु बना डालता है। यदि अभिलाषा न हो तो अमृत को भी विष के तुल्य हेय बना डालता है क्योंकि विरक्त पुरुषों की अमृत में भी हेयताबुद्धि देखी ही जाती है ॥२९॥

तत्त्वज्ञान होने पर मन क्यों नहीं घुमाता है ? इस पर कहते हैं।

जिन्होंने पूर्णता का साक्षात्कार नहीं किया, उन्हींका मन पदार्थों में अभिमत आकारवाले आत्मचमत्कारभूत रूप की सृष्टि करता है, तत्त्ववेत्ताओं का मन नहीं करता, क्योंकि मिथ्याबुद्धि से बाधित मनोविलासों में उनकी चमत्कार दृष्टि नहीं होती है, यह अभिप्राय है ॥३०॥ चित्–शक्ति से प्रस्फुरित मन स्पन्दों में वायुता को प्राप्त होता है, प्रकाशों में प्रकाशता को प्राप्त

होता है, द्रवों में द्रवता को प्राप्त होता है, पृथिवी में कठिनता को तथा 'नहीं है' इस प्रकार जिनका ग्रहण होता है, उन शून्य वस्तुओं में शून्यता को प्राप्त होता है यों चित् शक्ति से स्फुरित हुआ मन सर्वत्र अप्रतिहर स्वच्छन्दता को प्राप्त होता है। देश और काल के बिना ही मन सफेद को काला कर देता है और काले को सफेद कर डालता है। इस चित्तकी इस प्रकारकी अद्भुत शक्ति देखिये ॥३१-३३॥ मन यदि अन्य स्थान में संलग्न हो, तो खूब चबाये गये स्वादिष्ट भोजन तक का जिह्वा को स्वाद प्रतीत नहीं होता है, इससे अधिक आश्चर्य और क्या होगा ? ॥३४॥

जो वस्तु चित्त द्वारा देखी गई वही दृष्ट है। यदि चित्त ने नहीं देखी, तो सामने स्थित होने पर भी वस्तु दृष्ट नहीं होती।

चक्षु आदि इन्द्रियों की मन ने ही अपने में कल्पना कर रक्खी है, ऐसा कहते हैं।

जैसे अँधेरे में छायावैचित्र्यरूप नीलता की कल्पना होती है वैसे ही उसने अपने में इन्द्रियों का निर्माण कर रक्खा है ॥३५॥ यद्यपि इन्द्रियों द्वारा आलोचित आकार को धारण करने से मन इन्द्रियों के कारण साकार है और इन्द्रियाँ मनके अधीन पदार्थ की आलोचक होने से मन से साकार हैं, इस प्रकार दोनों में समता है तथापि मन उत्कृष्ट है, क्योंकि मन से इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं, इन्द्रियों से मन उत्पन्न नहीं हुआ है ॥३६॥

उस मन की मूढ़ आत्मकोटि में गणना कर 'अहम्' यों उसका आत्मरूप से ग्रहण करते हैं, किन्तु तत्त्वज्ञानी देहकोटि में उसकी गणना कर जड़ देहरूप से उसका ग्रहण करते हैं। अतएव निर्विकार आत्मा के ज्ञाता वे महात्मा वन्दनीय हैं, ऐसा कहते हैं।

मूढ़ो की दृष्टि से चित्त और शरीर का अन्धकार और प्रकाश के समान अत्यन्त भेद है। जिन महात्माओं की दृष्टि से मूढ़दृष्टि से अत्यन्त भिन्न चित्त और शरीर का ऐक्य है, उन महापण्डितों को ज्ञातव्य तत्त्व का ज्ञान हो गया है, अतएव वे सबके वन्दनीय है ॥३७॥

अतएव उनमें काम आदिका विकार नहीं देखा जाता है, ऐसा कहते हैं।

जिसका बालों का जूड़ा सुगन्धित फूलोंसे सुशोभित है और जिसने हाव-भाव से कटाक्ष मारे हैं ऐसी नायिका मनरहित पुरुष के शरीर से चिपट भी जाय, तो उसकी दृष्टि में काठ और भीत के तुल्य है यानी तनिक भी विकार पैदा करने में सक्षम नहीं है ॥३८॥

इसी प्रकार दुःख-निमित्तों से दुःखरूप विकार भी उनको नहीं होता है ऐसा कहते हैं।

वीतराग नाम के मुनि ने मन के अन्यत्र संलग्न होनेके कारण वन में मांसाहारियों द्वारा चबाये गये हाथ को नहीं देखा, जो कि ध्यान के समय गोद में पसारा था ॥३९॥ मुनि के मन की भावनाएँ, जो अभ्यास की अधिकता से उत्पन्न की जाती हैं, बड़े-से-बड़े दुःखों को सुख बनाने के लिए तथा सुखों को दुःखरूप में परिणत करने लिए अनायास ही समर्थ होती हैं ॥४०॥ मन कहीं और जगह में उलझा हो, तो बड़े जतन से कही जा रही कथा भी ऐसे छिन्न-भिन्न हो जाती है जैसे कि कुल्हाड़ी से काटी गई लता छिन्न-भिन्न हो जाती है। यदि मन पर्वतके शिखर पर आरूढ़ हो, तो घर में बैठा हुआ जीव भी स्वप्न में सफेद मेघों से युक्त कन्दराओं की

भ्रान्ति के दुःख का अनुभव करता है ॥४१,४२॥ स्वप्न में मनके उल्लास को प्राप्त होने पर हृदय में ही निर्मित नगर, पर्वत आदि विस्तीर्ण आकाश में निर्मित नगर, पर्वत आदि के सदृश अपने–अपने कार्य को करने में समर्थ दिखाई देते हैं ॥४३॥ चंचल समुद्र जैसे अपने में लहरों की कतार को फैला देता है वैसे ही मन स्वप्न में अपने से विक्षिप्त हृदय में ही पर्वत और नगरों की परम्परा का विस्तार करता है। जैसे समुद्रान्तर्वर्ती जल तरंग, आवर्त और छोटी–छोटी लहरों के रूप में परिणत होता है वैसे ही देह के मध्यवर्ती मन भी स्वप्न के आवेश से पर्वत और नगरों की श्रेणि के रूप में परिणत होता है ॥४४,४५॥ जैसे पत्र, लता, पुष्प, फलों की शोभा अंकुर से अतिरिक्त नहीं है यानी अंकुर से ही उत्पन्न है वैसे ही जाग्रत्, स्वप्न आदि विभ्रम मनसे अतिरिक्त नहीं हैं यानी मन के ही कार्य हैं ॥४६॥ जैसे सुवर्ण की प्रतिमा सुवर्ण से भिन्न नहीं है वैसे ही क्या जागत् और क्या स्वप्न की विविध क्रियाएँ चित्त से पृथक् नहीं हैं ? जैसे जलकी धारा, सीकर, तरंग, बुद्बुद् आदि शोभा दिखाई देती है यानी एक ही जल, धारा आदि अनेक रूपों में प्रतीत होता है वैसे ही मनकी यह विचित्र विभववाली नाना विचित्रता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। जैसे शृंगार आदि के आवेश से नट विलक्षण–विलक्षण वेषों के आविर्भाव को स्वीकार करता है वैसे ही यहाँ पर अपनी चित्तवृत्ति ही राग के आवेश से जाग्रत और स्वप्न दृष्टि से आविर्भाव को प्राप्त होती है ॥४७–४९॥ जैसे राजा लवण में भ्रमवश चण्डालता स्फुरित हुई थी वैसे ही यह विशाल जगत् मन का स्फुरणरूप ही है ॥५०॥ मन जिस किसी का संकल्प करता है शीघ्र वही हो जाता है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, स्फुरणरूप मन को आप जैसा चाहते हैं वैसा कीजिये ॥५१॥ यह मन विविध नगर, नदी, पर्वत रूपता को प्राप्त होकर देहियों के अन्दरस्थित होकर ही जाग्रत–स्वप्नमयजगत् का विस्तार करता है ॥५२॥ जैसे भ्रान्ति वश लवण राजा चण्डालता को प्राप्त हुआ था वैसे ही चित्त भ्रमवश देवत्व से दैत्यता को प्राप्त होकर नागता से (गजता या सर्पता से) वृक्षता या पर्वतता को प्राप्त होता है। जैसे पितृत्व से पुत्रता को प्राप्त हुआ मनुष्य अपने संकल्प से नरता से नारीत्व को प्राप्त होता है वैसे ही अपने संकल्प से मन शीघ्र प्रत्येक वस्तु के रूप को प्राप्त होता है ॥५३,५४॥ मन चिरकाल से अभ्यस्त संकल्प से ही मरता है और संकल्प से ही फिर उत्पन्न होता है और स्वतः आकृतिरहित होने पर भी जीवाकार को प्राप्त होता है ॥५५॥ विस्तृत मनमें, जिसमें मनन द्वारा मूढ़वासना अत्यन्त मोह को प्राप्त हुई है, संकल्प से जन्मस्थान, सुख–दुःख रहते हैं। वे देश और काल के कारण कभी प्रचुर हो जाते हैं अथवा कभी स्वल्प हो जाते हैं ॥५६,५७॥ जैसे कोल्हू आदि यन्त्र से तिलों के पेरने से तेल सदा के लिए स्पष्ट हो जाता है वैसे ही चित्त के अन्दर घनीभूत सुख–दुःख मन की वृत्ति से स्फुटता को प्राप्त होते हैं ॥५८॥

यदि कोई शंका करे कि देश, काल और कर्म की विचित्रता से ही सुख–दुःख आदि की विचित्रता प्रसिद्ध है, फिर मननरूप मन की वृत्ति से (संकल्प से) सुख की विचित्रता होती है, यह कैसे कहते हैं, तो इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, संकल्प ही देश और काल के नाम से कहा जाता है, क्योंकि संकल्प के

कारण ही देश और काल की स्थिति है। भाव यह कि देश और काल स्वल्प ही क्यों न हों यदि मन से उनके प्राचुर्य का संकल्प किया जाय, तो उनकी विपुलता का अनुभव होता है तथा विषय कितना भी तुच्छ क्यों न हो मन उसे उत्तम समझे, तो उसमें अधिक अनुराग देखा जाता है। इससे देश और काल की स्थिति संकल्प से ही है, यह जो कहा वह ठीक कहा है ॥५९॥

इसी प्रकार शरीर भी मन के संकल्प के अधीन ही है, ऐसा कहते हैं।

मनः शरीर के संकल्प के सफल होने पर ही स्थूल शरीर शान्ति को प्राप्त होता है, उल्लसित होता है, आता है, जाता है, प्रसन्न होता है, शब्द करता है, स्वयं स्वन्त्ररूप से कुछ नहीं करता है ॥६०॥ जैसे पतिव्रता नारी अपने संकल्प से उदित विविध विस्तृत उमंगों से अन्तःपुरके आँगन में विलास करती है वैसे ही मन इस देह में अपने संकल्प से कल्पित विविध विस्तृत उमंगों से विलास करता है ॥६१॥

मन के निग्रह के उपाय को, फल के साथ, दर्शाते हैं।

इसलिए जो पुरुष विषयों के अनुसन्धान में मन को स्वतन्त्रता नहीं देता, उसका मन गजबन्धनस्तम्भ में बँधे हुए हाथी के समान विलय को प्राप्त हो जाता है ॥६२॥ जैसे स्तम्भनास्त्र से स्तब्ध हुआ शत्रु किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करता है वैसे ही जिसका मन सद्वस्तु के सिवा अन्यत्र कुछ चेष्टा नहीं करता, वही परमार्थ रूप से उत्तम पुरुष है, उससे अतिरिक्त पुरुष कीचड़ के कीड़े हैं ॥६३॥ हे निष्पाप, एक स्थान में स्थित जिसका मन निश्चल हो गया है, वह ध्यान से सर्वोत्तम पद यानी ब्रह्म से संगत हो गया यानी ब्रह्मीभूत हो गया ॥६४॥ जैसे मन्दराचल के निश्चल होने पर क्षीरसागर शान्त हो जाता है वैसे ही मन के संयम से संसारभ्रान्ति शान्त हो जाती है ॥६५॥ भोगसंकल्प के विलासों से जो जो मानसिक वृत्तियाँ उदित होती हैं, वे ही संसाररूपी विष वृक्ष के अंकुर के बीज हैं ॥६६॥ मद और मोह से मन्दमति और मूढ़ ये पुरुषरूपी दुष्ट भँवर चित्तरूपी चंचल कमल को (संसाररूपी दुष्ट नदी से बहाये जा रहे कमल को) घेरकर घूमते हुए महाजड़ता के प्रवाहरूप जलवेग से युक्त, बवंडरके चक्करों से घूमनेवाले, प्रबल दूसरी चिन्ता से कटे हुए और चिरकाल तक निष्फलता प्राप्त होने से देह के साथ नष्ट हुए चिन्तारूपी चक्रभ्रमण में गिरते हैं ॥६७॥

एक सौ दसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग

यत्न से अभिमत वस्तु के तथा अहन्ता – ममता के त्याग का और
चित्त पर विजय पाने के उपाय का तथा चित्त की एकाग्रता का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, मैं इस चित्त रूपी महाव्याधि की चिकित्सा की महौषधि को आपसे कहूँगा, जो स्वाधीन है, अवश्य पुरुषार्थ को सिद्ध करती है, बड़ी मीठी और अव्यर्थ है, सुनिये ॥१॥ प्रिय बाह्य विषय का परित्याग कर एकमात्र आत्माकारवृत्तिधारारूपी अपने ही पौरुष प्रयत्न से चित्तरूपी वेताल पर शीघ्र विजय प्राप्त की जाती है ॥२॥

अभिमत वस्तु त्याग रूपी पहली भूमिका को दृढ़ बनाना चाहिये, इस अभिप्राय से कहते हैं।

अभिमत वस्तु का त्याग करता हुआ जो पुरुष राग आदि चित्त की व्याधि से रहित होकर रहता है, वह मन को इस प्रकार जीत ही चुका जिस प्रकार कि सुन्दर दाँतवाला हाथी खराब टूटे–फूटे दाँतवाले हाथी को जीत लेता है ॥३॥ आत्ममात्राकार–वृत्तिधारारूपी प्रयत्न से चित्तरूपी बालक की राग, चपलता आदि रोगों के प्रतिकार द्वारा रक्षा की जाती है, वह अवस्तु से हटाकर वस्तु में (तत्त्व में) लगाया जाता है और बोधित किया जाता है ॥४॥ हे मननशील श्रीरामचन्द्रजी, आप चिन्तारूपी अग्नि में तपाये गये मन रूपी लोहे को शास्त्राभ्यास और सत्संग से धीर तथा सन्तापरहित मन रूपी लोह शस्त्र से काट डालिये। जैसे बालक लाड़–प्यार और भय से किसी प्रयत्न के बिना इधर–उधर जहाँ चाहो वहाँ लगाया जा सकता है वैसे ही चित्त भी शम–दम आदि उपायों से जिधर चाहो उधर लगाया जा सकता है, इसलिए चित्त पर विजय प्राप्त करने में कौन सी कठिनाई है ? उत्तरकाल में अभ्युदयरूप फल देनेवाले समाधि के अभ्यासरूप कर्म में लगे हुए मन को पुरुष अपने पुरुषप्रयत्न से ही चिदात्मा के रूप से एकता को प्राप्त कराये ॥५–७॥

अविरक्त लोगों की निन्दा करते हैं।

जिसको अपने अभीष्ट वस्तु के विषय में वैराग्यवृत्ति मुश्किल हो गई हो, जो अपने आधीन और परम हितकर है, उस पुरुष रूपी कीड़े को धिक्कार है ॥८॥ अपनी वृद्धि से अरमणीय वस्तु की परम रमणीयब्रह्मरूप से भावना करके जैसे कोई बड़ा नामी पहलवान बच्चे को अनायास पछाड़ देता है, जीत लेता है वैसे ही मन पर अनायास विजय प्राप्त ही जा सकती है ॥९॥ अपने पौरुष प्रयत्न से शीघ्र ही मन पर विजय प्राप्त की जा सकती है, चित्तरहित पुरुष (जिसका चित्त स्वतन्त्र नहीं है, वह पुरुष) प्रयास के बिना शीघ्र ही ब्रह्म में पैर रखता है यानी ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥१०॥ जो लोग केवल अपने चित्त का निग्रह नहीं कर सकते, जो कि स्वाधीन और सहज साध्य है, वे पुरुषों में गीदड़ हैं, उनको बार–बार धिक्कार है ॥११॥ एकमात्र अपने पौरुष से प्राप्त होने वाले अपने अभीष्ट का परित्याग रूपी मन के निग्रह मात्र के बिना शुभ गति नहीं है ॥१२॥ एकमात्र मन के मारण से प्राप्त होने वाले आत्मतत्त्व–साक्षात्कार से स्वराज्य सुख के विरोधी मोह आदि शत्रुओं से रहित अतएव अचल अनादि अनन्त स्वराज्य की इसी जीवन्मुक्त देह में आप निःशंक होकर प्रतिज्ञा कीजिये ॥१३॥ अपने अभीष्ट मोक्षसुख का निवेदन करनेवाले प्रधान साधन रूप मन के निग्रह के बिना गुरुउपदेश, शास्त्राभ्यास, मन्त्र आदि साधन तृण के तुल्य असार हैं। यहाँ गुरुउपदेश, शास्त्राभ्यास आदि की निन्दा में तात्पर्य नहीं हैं, किन्तु मन के शमन की स्तुति में तात्पर्य है ॥१४॥ श्रीराम, जब संकल्प परित्यागरूप तीक्ष्ण शस्त्र से मूल के साथ चित्त का उच्छेद हो गया, तभी पुरुष सर्वस्वरूप सर्वव्यापी शान्त ब्रह्म हो जाता है ॥१५॥ अपने संवेदन द्वारा इस संकल्परूप अनर्थ का निग्रह होने पर तदनन्तर शान्ति आदि साधनों से सम्पन्न जीवन्मुक्ति होने पर अधिकारी पुरुष के शरीर में कौन क्लेश है ? अर्थात् कुछ नहीं है ॥१६॥

यदि कोई शंका करे कि दैव के प्रतिकूल होने पर कैसे कार्य सिद्धि होगी ? इस पर कहते हैं।

हे रामचन्द्रजी, मूढ़ पुरुषों से संकल्प से कल्पित दैव का अनादर कर पुरुषार्थ रूप आत्मसंवेदन से अपने चित्त को अचित्त बना दीजिये। यानी संकल्प–विकल्प रहित बना दीजिये ॥१७॥

अचित्तता की प्राप्ति में कौन उपाय है ? यह पूछने पर उसे कहते हैं।

चित्त को बहुत काल तक उस किसी एक महापदवी को (ब्रह्मरूपता को) प्राप्त हुआ बनाकर पीछे साक्षात्कार वृत्ति से आविर्भूत हुई चिति से मन के साथ अविद्या का बोध होने से चिद् से भक्षित करके चित्त से भी पर परिपूर्ण चिन्मात्ररूप होओ, यह अर्थ है। पहले आप चिन्मात्रभावना से युक्त होइए। चिन्मात्रभावना की स्थिरता के लिए अतिसावधान बुद्धि से युक्त होइए। तदनन्तर चित्त को चित् से ग्रस्त करके किसी प्रकार की व्याकुलता से रहित होकर चित्त से पर आत्मा का धारण कीजिये ॥१८,१९॥ परम पौरुष का अवलम्बन करके चित्त को अचित्त बनाकर उस महापदवी को (परब्रह्मरूपता को) प्राप्त होइए, जहाँ पर नाश नहीं होता है ॥२०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे दिग्भ्रम होने पर पश्चिम दिशा में यह पूर्व दिशा है, यह संवेदनविपर्यासरूपी बुद्धि, जो उस समय बिलकुल स्थिर रहती है, विवेक स्थिरता रूपी पुरुषप्रयत्न से जीती जा सकती है वैसे ही मन भी पुरुषप्रयत्न से ही शीघ्र जीता जा सकता है ॥२१॥

चिरकाल से मन के निग्रह में लगा हुआ पुरुष उद्वेग होने से उसका परित्याग न कर बैठे, इसलिए उसके उत्साह को बढ़ाते हुए कहते हैं।

उद्वेग न होना राज्य आदि संपत्ति का कारण है, अनुद्वेग से जीव के मनोजय की सिद्धि होती है जिस मनोजय से तीनों लोकों का विजय भी तृण के सदृश सहज हो जाता है ॥२२॥

राजलक्ष्मीरूप सुख देने वाले युद्ध में शस्त्रच्छेदनरूप क्लेश होता है, स्वर्गरूप सुख में भरकर ऊर्ध्वगमन और वहाँ से अधःपतनरूप क्लेश होता है। मनोजयरूप सुख में तो कोई भी क्लेश नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जिसमें शस्त्रास्त्र से, अंगच्छेदन, उर्ध्वगमन, अधःपतन आदि कुछ भी नहीं होते, उस स्वभावमात्र की व्यावृत्ति में कौन सा क्लेश है ? ॥२३॥ जो नराधम अपने मन के निग्रह में भी समर्थ नहीं हैं, वे व्यवहारावस्थाओं में कैसे व्यवहार करेंगे ? ॥२४॥

समाधि, सुषुप्ति आदि में जन्म, मरण आदि दुखों का अनुभव नहीं होता और व्यवहारकाल में मनोवृत्तिपूर्वक ही जन्म, मरण आदि दुखों का अनुभव होता है, अतः सिद्ध हुआ कि संसार मनोवृत्तिमात्र है, यह दर्शाते हैं।

मैं पुरुष हूँ, मैं मरा हूँ, मैं उत्पन्न हुआ हूँ और मैं जीता हूँ इत्यादि कुदृष्टियाँ चपल चित्त की असत् ही उदित हुई वृत्तियाँ प्रतीत होती हैं। यहाँ पर न कोई मरता है न उत्पन्न होता है। मन अपने मरण और अपने लोकगमन की स्वयं कल्पना करता है ॥२५,२६॥ इस लोक से मन परलोक में जाता है और वहाँ अन्यरूप से स्फुरित होता है। वे मरण और परलोकगमन जब तक मोक्ष नहीं होता तब तक मन को प्राप्त होते हैं, इसलिए पुरुष को मरण का भय कैसे ? ॥२७॥

इस लोक में इस लोक के रूप से मन विचरण करे और परलोक में परलोक रूप से विचरण करे, इसलिए जब तक मोक्ष न हो तब तक चित्त ही तत्–तत् रूप से विद्यमान कहते हैं। इस संसार का चित्त से अतिरिक्त रूप नहीं है ॥२८॥ लोग भाई, सेवक आदि के मरने पर व्यर्थ शोक करते हैं, वह निर्विकार अपने चैतन्य से पृथग्भूत अपना चित्त ही है, ऐसा मेरा निश्चय है ॥२९॥

अतः परमात्मा में समूल चित्त का विनाश कर देना ही मुक्ति का उपाय है, अन्य उपाय नहीं है, ऐसा कहते हुए उपसंहार करते हैं।

अन्यसत्तानिरपेक्षसत्तावाले (जिसकी सत्ता किसी अन्य सत्ता की अपेक्षा नहीं करती) सबके हितकारी, मायारूपी मलिनता से रहित सब प्रमाणों में सर्वश्रेष्ठ प्रमाणरूप श्रुति द्वारा बोधित परमात्मा में चिद्भावमात्र से परिशेषरूप चित्त के उपशमन के सिवा मुक्ति का दूसरा उपाय ही नहीं है। इस बात का ऊपर के स्वर्ग आदि लोकों में, नीचे के पाताल आदि लोको में और अन्यान्य द्वीपों में तत्त्वदर्शी विद्वानों ने एक बार नहीं अनेक बार विचार कर निश्चय किया है ॥३०॥

चित्तोपशमन के सिवा मोक्ष का दूसरा उपाय है ही नहीं, यह निश्चित है। मन के विलय का उपाय समाधि की परिपाकावस्था से शोधित मन में अपरोक्ष रूप से आविर्भूत ब्रह्मात्मक बोध ही है, इस आशय से कहते हैं।

सर्वश्रेष्ठ प्रमाणरूप श्रुति से बोधित सत्य सर्वव्यापक तथा मायाकलंकरहित बोध के हृदय में उदित होने पर मन के विलयमात्र से परमशान्ति प्राप्त होती है । अत्यन्त विस्तीर्ण दहराकाशरूपी ब्रह्मचित् में चरमवृत्ति से प्रदीप्त चित्रूपी तलवार की धारा से मन को बिना किसी संदेह से मारो। ऐसा करने से मानसिक चिन्ता आपको बन्धन में नहीं डालेगी ॥३१,३२॥

आपाततः रमणीय विषयों में दोषानुसंधान से अरमणीयतादृष्टि पहले करनी चाहिये, इस आशय से कहते हैं।

यदि आपाततः रम्य–से प्रतीत होनेवाले स्त्री–पुत्र आदि को आपने अरमणीय जान लिया तब तो चित्त के सब अंग–प्रत्यंग निश्चय ही कट गये, ऐसा मेरा विश्वास है ॥३३॥

काटने योग्य मन के अंग–प्रत्यंग बतलाकर अब मन के शरीर को बतलाते हैं।

यह दिखाई दे रहा पिता द्वारा उत्पादित देह और यह देह से सम्बन्ध रखनेवाला घर, खेत आदि, जिसका कि पहले पिता ने उपार्जन किया था, 'मेरा है' ऐसा जो भ्रम है, केवल यही मन का शरीर है। जैसे कोई वस्तु हँसिया से काटी जाती है वैसे ही यह मन शरीर भावना न करना रूप शस्त्र से काटा जाता है। जैसे शरद ऋतु में आकाश में बिखरे हुए बादल के टुकड़े वायु से उड़ाये जाते हैं वैसे ही पूर्वोक्त अहम्, मम इत्यादि कल्पना न करने से मन उड़ाया जाता है, नष्ट किया जाता है ॥३४,३५॥ अपने अधीन, अकठिन (अनायाससाध्य), अति स्वच्छ, असंकल्पन में (कल्पनाभाव में) कौन–सा भय है ? जहाँ पर शस्त्र, अग्नि, आँधी आदि होते हैं, वहीं पर भय होता है ॥३६॥ यह कल्याणकारी है, यह नहीं है, यह बात बालकों तक में प्रसिद्ध है, इसलिए जैसे कोई विज्ञ पुरुष बालक पुत्र को भले कार्य में लगाता है वैसे ही पण्डित को चाहिये मन को उत्तम कल्याण में लगाये ॥३७॥ अक्षय (जिसका नाश होना कठिन है),

अनवीन (अबाल यानी अभिमानी), मनरूप सिंह को जो कि संसार की वृद्धि करता है, जो लोग मारते हैं, वे इस संसार में सबसे बढ़कर उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं और अन्य लोगों को भी उपदेश द्वारा निर्वाण पद देनेवाले होते हैं ॥३८॥

मन ही महाभय है और मन पर विजय ही अभय पद है, ऐसा कहते हैं।

संकल्परूपी क्लेश से बड़ी भीषण, भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाली ये विपत्तियाँ मरुभूमि में मृगतृष्णिका के समान उत्पन्न होती हैं ॥३९॥ भले ही प्रलय काल की वायु बहे, भले ही चारों समुद्र एक हो जाय और भले ही बारह सूर्य एक साथ तपें, पर जिसके मन का शमन हो गया है, उस पुरुष की कोई भी हानि नहीं होती है ॥४०॥ मनरूपी बीज से सुख-दुःख और शुभ-अशुभरूपी ये संसारखण्ड (संसार रूपी वन) उत्पन्न होते हैं, इन वनखण्डों के सातों लोक पल्लव हैं ॥४१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप परमात्मपदरूप सिंहासन लगाकर एकमात्र संकल्प के अभाव से सिद्ध होनेवाले, समग्र सिद्धियाँ देनेवाले, असंकल्परूप साम्राज्य में स्थित होइये। जैसे अंगार के विनाश की इच्छा करनेवाले यानी जलते हुए अंगार के विनाश से तापशान्तिरूप सुख को चाहनेवाले पुरुष को काठ को क्रमशः भस्म करता हुआ, अतएव क्षीण होता हुआ अंगार ताप का उपशमन आनन्द देता है वैसे ही क्षीण हो रहा मन क्रमशः अति उत्तम आनन्द देता है ॥४२,४३॥

संकल्प की वृद्धि होने पर चिद्अणु के मध्य में लाखों ब्रह्माण्डों की कल्पना हो सकती है, ऐसा कहते हैं।

यदि मन संकल्पों द्वारा वासनायुक्त हो, तो अणु के अन्दर भी लाखों ब्रह्माण्ड साफ और अलग-अलग दिखाई दे सकते हैं ॥४४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप एकमात्र संकल्परूप अपने वैभव से, जिसने ब्रह्माण्ड आदि करोड़ों पदार्थों की भलीभाँति रचना की है, अतएव एकमात्र संकल्प से ही जन्म, मरण आदि अत्यन्त अनर्थों का जिसने निर्माण किया है, ऐसे मन को निरन्तरभावित, संकल्परहित, एकमात्र सन्तोषरूप वैभव से जीतकर विजय को (सर्वोत्कर्ष) प्राप्त होइये ॥४५॥ आत्मज्ञानियों की भी अभिमत, परम पवित्र, वैषम्यवृत्तिरहित विमनस्तता से और शान्त की गई बहुत विपुल अहन्ता से भी अन्दर में जो जन्म आदि विकारों के रहित यह (तत्त्व) अवशिष्ट है, वही आपको प्राप्य हो ॥४६॥

एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बारहवाँ सर्ग

चिन्मात्र वासना के अभ्यास से तथा एकमात्र उसी के दृढ़ निश्चय से
चित्तक्षय के उपायभूत वासनात्याग का वर्णन।

वासनाक्षय के लिए द्वैत में मन के तीव्र वेग का निरोध करना चाहिए और चिन्मात्राकार में तो मन के वेग को बढ़ाना चाहिए, यह कहने के लिए मन का अपने तीव्र वेग के अनुसार फलसम्पादनरूप स्वभाव है, ऐसा कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस पदार्थ में जिस-जिस अभिलाषा के लिए

जैसे–जैसे प्रकर्ष से मन तीव्र वेग से युक्त होता है उस पदार्थ में उसी वेग से तत्–तत् अभिलाषा को देखता है ॥१॥ हे सौम्य, जल के बुदबुदे के समान यह मन का तीव्र वेग उपेक्षा करने से स्वभावतः उत्पन्न होता है और रोकने के प्रयत्न से शान्त होता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति में कोई निमित्त नहीं है ॥२॥

'स्वभावतः' ऐसा जो कहा है, उसका उपपादन करते हैं।

जैसे बर्फ का शीतलता रूप है और काजल का कालिमा रूप है वैसे ही एकमात्र तीव्र रूपिणी तीव्र चंचलता मन का रूप है ॥३॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, अत्यन्त चंचल इस मन के तीव्र वेग का मुख्य कारण वेग का यानी चंचलता का बल से कैसे निवारण हो सकता है ? ॥४॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस संसार में कहीं पर भी चंचलता से हीन मन दिखाई नहीं देता। जैसे अग्नि का धर्म उष्णता है वैसे ही मन का धर्म चंचलता है ॥५॥ जो यह जगत् कारण मायासंवलित चैतन्य में स्थित चंचल क्रियाशक्ति है, उसीको आप मन रूप से परिणत हुई जगदाडम्बररूप शक्ति जानिये। जैसे स्पन्दन और अस्पन्द के बिना वायु के अस्तित्व का अनुमान नहीं होता वैसे ही चंचल स्पन्द के बिना चित्त का अस्तित्व नहीं है ॥६,७॥ जो मन चंचलता रहित है, वह मृतक मन कहा जाता है, वही तप और शास्त्र का सिद्धान्तरूप मोक्ष कहा जाता है ॥८॥ मन के केवल विनाशमात्र से दुःख की शान्ति प्राप्त होती है और मन के संकल्पनमात्र से परम दुःख प्राप्त होता है। उठा हुआ चित्त रूपी राक्षस विपुल दुःख को उत्पन्न करता है, इसलिए मोक्ष सुख के लिए उसको प्रयत्नपूर्वक गिराओ ॥९,१०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मन की जो चंचलता है, वह अविद्या नाम से कही जाती है। वासनापद नामक उस अविद्या का विचार से विनाश करो ॥११॥ अविद्या और वासनारूप उस चित्तसत्ता के बाह्य विषयों के अनुसन्धान त्याग के विलीन होने पर निरतिशय सुख प्राप्त होता है ॥१२॥

इस प्रकार वक्तव्य विषय के उपयोगीरूप से मन की चांचल्यधर्मता का समर्थन कर वास्तविक और अवास्तविकरूप द्विस्वरूपता को, अवास्तवांशकी हेयता दिखलाने के लिए और वास्तविकरूप की प्रतिष्ठा के विनाश के वारण के लिए, कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सत् और असत् का जो मध्य है और चित्त्व और जाड्य का जो मध्य है, वह दोनों में दोलायमान स्थितिवाला मन कहा जाता है ॥१३॥ जड़ता के अनुसन्धान से बिगड़ा हुआ चित्त बद्धमूल हुई जाड्यात्मकता से दृढ़ाभ्यासवश जड़ता को प्राप्त होता है ॥१४॥ विवेक के अनुसन्धान से बद्धमूल हुई चिदंशात्मता से मन दृढ़ाभ्यासवश चिन्मात्रता को प्राप्त होता है ॥१५॥ पौरुष प्रयत्न से, चाहे वह शास्त्रीय हो, चाहे स्वाभाविक, जिसी पद में मन लगाया जाता है, उस पद को प्राप्तकर अभ्यासवश तद्रूप हो जाता है ॥१६॥ फिर पुरुषप्रयत्न का अवलम्बन कर, चित्त को चित्त से आक्रान्त कर, शोक रहित पद को पाकर निःशंक होकर स्थिर होइये ॥१७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, संसार की भावना से डूबा हुआ मन यदि मन से ही जबरदस्ती नहीं उबारा जाता है, तो उसको उबारने का उससे अन्य उपाय नहीं है ॥१८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आपके मन का भली–भाँति निग्रह करने में आपका मन ही समर्थ है। भला,

जो स्वयं राजा नहीं है, वह राजा के निग्रह में कैसे समर्थ हो सकता है ? जो लोग संसाररूपी सागर के वेग में तृष्णारूपी ग्राह से ग्रस्त हैं और आवर्तों से दूर बहाये जा रहे हैं, उन लोगों के लिए अपना मन ही नौका है ॥१९,२०॥ परम बन्धन जालरूप मन को अपने मन से ही काट कर जिसने अपनी आत्मा को नहीं छुड़ाया, उसकी मुक्ति अन्य से नहीं हो सकती ॥२१॥ बाह्य पदार्थों का मनन ही जिसका नाम है, ऐसी हृदय को वासित करनेवाली जो जो वासना उदित होती है, विद्वान् पुरुष उस–उस वासना का मिथ्यात्व के अनुसन्धान से त्याग करे। तदनन्तर जैसे उष्णता के क्षीण होने पर अग्नि शान्त हो जाती है वैसे ही वासना का क्षय होने पर मन के साथ अविद्या का क्षय हो जाता है ॥२२॥

वासना के त्याग में क्रम दिखलाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, भोग्यपदार्थों की वासना का त्याग कर आप भेदवासना का त्याग कीजिये। तदनन्तर चित्त और चेत्य का त्यागकर विकल्प रहित होकर सुखी होइए। भावना की भावना न करना ही वासनाक्षय है। वही मनोनाश और अविद्यानाश कहा जाता है। अर्थात् जिस अविद्या के आवरण से पूर्णतया अनुभव नहीं होता, उसका तत्त्वसाक्षात्कार से त्याग कर सुखी होइये। साक्षात् अथवा चित्त द्वारा साक्षी से जिस किसी का ज्ञान होता है वहाँ पर संवेद्यता का असंवेदन ही उत्कृष्ट मनोनाशरूप निर्वाण है, यह संक्षिप्त अर्थ है, ऐसे कहते हैं : जो कुछ जाना जाता है उसमें जो परम असंवेदन है, वह असंवेदन ही निर्वाण सुख है और संवेदन से दुःख होता है ॥२३–२५॥

वह वेद्य का अवेदन पुरुष के प्रयत्न से होता है, ऐसा कहतें हैं।

वह वेद्य का अवेदन पुरुष के अपने प्रयत्न से ही क्षणमात्र में होता है। वेद्य का अवेदन कल्याण के लिए होता है, इसलिए अपने प्रयत्न का नित्य अभ्यास करे ॥२६॥ आपके मन में जो–जो विषय और उनके उपाय अभीष्ट हैं, उनको आप अवास्तविक जानकर, बीज के मुख से निकल रहे अंकुरों के तुल्य राग आदि जिसके मुख से निकल रहे हैं, ऐसे मन का भी अज्ञान और वासनाबीजों के साथ त्याग कर, परिपूर्ण आत्मा के अनुभव से तृप्त होकर हर्ष और शोक को प्राप्त न होइये ॥२७॥

क्योंकि 'मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (अध्यात्मयोगी चित्त के आत्मा में समाधि की प्राप्ति से परमात्मा का साक्षात्कार किया हुआ धीर पुरुष हर्ष व शोक का त्याग करता है) ऐसी श्रुति है।

एक सौ बारहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तेरहवाँ सर्ग

विविध विचारों से पुष्ट हुए, सम्पूर्ण दुर्वासनाओं का समूल नाश करनेवाले तथा द्वैतमिथ्यात्वबुद्धि से बद्धमूल हुए तत्त्वज्ञान का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि यह वासना नित्य असत्य होती हुई ही उदित हुई है, इसलिए दो चन्द्रमाओं की भ्रान्ति के समान उसका त्याग करना उचित है।

अविद्या विवेकविज्ञानहीन पुरुषों में परमार्थ सत्य के समान दृढ़तररूप से विद्यमान है, किन्तु जो लोग विवेकविज्ञान से सम्पन्न हैं, उनमें तो अपरमार्थ होने के कारण वन्ध्यापुत्र के तुल्य नाम मात्र ही उसका अंगीकार है, अतः वह कहाँ है ? ॥१,२॥ हे श्रीरामचन्द्र, आप अज्ञानी मत बनिये, आप ज्ञानवान् बनिये, भलीभाँति विचार कीजिये, आकाश में दूसरा चन्द्रमा है ही नहीं, पर भ्रान्ति से उसकी मिथ्या प्रतीति होती है ॥३॥ यहाँ पर तत्त्व के (अद्वितीय ब्रह्म के) सिवा न कोई भाव पदार्थ है और न अभाव है। जैसे विशाल समुद्र में जलराशि के सिवा अन्य कुछ नहीं है वैसे ही संसार में ब्रह्म के सिवा अन्य भाव या अभाव पदार्थ नहीं है ॥४॥ ये भाव और अभाव पदार्थ असन्मय हैं। अपने संकल्प के सिवा इनका दूसरा रूप नहीं हैं। इनका आप देहादिबन्धनों से रहित, सर्वव्यापक, नित्य, शुद्ध ब्रह्म में आरोप मत कीजिये ॥५॥

बन्धन की जड़ कर्तृत्वाभिमान है, इसलिए पहले उसी का त्याग कीजिये, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप कर्ता नहीं हैं, फिर आपकी इन क्रियाओं में ममता क्यों हैं ? जब एक अद्वितीय ब्रह्म के सिवा दूसरा कोई है ही नहीं, तो कौन किसको किससे और कैसे करे ? भाव यह कि केवल एकमात्र से साध्य कोई क्रिया प्रसिद्ध नहीं है ॥६॥ हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीरामजी, 'मैं अकर्ता हूँ' ऐसा अभिमान भी आप मत कीजिये। अकर्तृत्वरूप से अभिमान करने पर प्राप्त होने योग्य अपने यत्न से साध्य क्या फल है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है, अतएव अकर्तृत्वाभिमान भी व्यर्थ है, यह भाव है। इसलिए हे निष्पाप, आप अभिमान से रहित होकर स्वस्थ होइये ॥७॥ हे रघुवर, अभिमान का अभाव होने पर कर्ता होते हुए भी आप उसमें आसक्त न होने के कारण अकर्ता भी है, इसी प्रकार अकर्ता होते हुए भी उसमें भी अभिमान न होने पर अकर्तृत्व में भी आसक्तिरहित होने से कर्ता भी हैं।

शंका : तो, क्या मैं अज्ञानी के सदृश कर्ता हूँ ?

समाधान : नहीं, आप में अज्ञानी कर्ता के समान स्पन्दनरूप कर्तृत्व कैसे ? यानी अस्पन्द आत्मा का साक्षात्कार कर चुके आप में अज्ञानी कर्ता के समान देह के स्पन्दन से आत्मस्पन्दनभ्रमरूप कर्तृता की प्रसक्ति नहीं है ॥८॥

क्रिया के फल के मिथ्या होने से कर्म में आसक्ति ही युक्त नहीं है, यों तर्क से भी दृढ़ करते हुए कहते हैं।

यदि क्रिया का फल सत्य होता तो कर्तृता (क्रिया) उपादेय होती और यदि क्रिया का फल मिथ्या होता तो क्रिया हेय होती, क्योंकि एकमात्र उपादेय में ही लोगों की आसक्ति होती है। क्रियाफल के मिथ्या होने पर क्रिया में आसक्ति उचित नहीं है। इन्द्रजाल के समान सभी मायामय और अवास्तविक है, उनमें कौन आस्था है और कैसे हेय और उपादेय दृष्टियाँ हो सकती है ? ॥९,१०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जो यह संसार की बीजकणिका अविद्या है, वह यद्यपि विद्यमान नहीं है तथापि विद्यमान–सी विशालता को प्राप्त हुई है ॥११॥ जो यह कृत्रिम वेषवाली सारविहीन संसाररूप घट–शरावों को उत्पन्न करनेवाली चक्रिका (कुम्हार की छोटी चाक) है, उसे आप चित्त को मोह में डालनेवाली वासना

जानिये ॥१२॥ वह सुन्दर बाँस की लता के समान भीतर में पोली है यानी उसके अन्दर का हिस्सा असार है । नदी की लहरों की परम्परा के तुल्य यदि वह भली भाँति काटी भी जाय, तो भी नष्ट नहीं होती है । वह हाथ से ग्रहण करनेपर भी ग्रहण नहीं की जा सकती, अत्यन्त कोमल होती हुई भी झरने के प्रवाह के समान उसका अग्रभाग अत्यन्त तीखा है (झरने का प्रवाह तटवृक्ष का छेदन करने के कारण तीक्ष्णाग्र होता है) । यद्यपि वह कार्य करने में समर्थ कारणकलाप के तुल्य प्रतीत होती है तथापि सत्य पुरुषार्थ में उसका कोई उपयोग नहीं होता । सत्य तरंगों से शून्य स्वप्न की तरंगिणी के सदृश, मृगतृष्णा की नदी के तुल्य प्रतीति मात्र से शोभायमान वह आकार में ही परिनिष्ठित है, अर्थक्रिया में परिनिष्ठित नहीं है ॥१३–१५॥ जिस प्रस्तुत चक्रिका के प्रसाद से उत्पन्न हुए सब पदार्थ कहीं पर टेढ़े है, कहीं पर साफ हैं, कहीं पर लम्बे, कहीं पर बौने, कहीं पर स्थायी और कहीं पर चंचल हैं, इसलिए परस्पर भेद को प्राप्त हुए हैं ॥१६॥ यद्यपि यह भीतर से पोली (निस्सार) है तथापि सार से सुन्दर सी लगती है । यद्यपि वह कहीं पर भी स्थित नहीं है, तथापि यहाँ सभी स्थानों में दिखाई देती है ॥१७॥ वह यद्यपि जड़ ही है तथापि मन की चंचलता को धारण करती हुई चैतन्यमयी (चेतन) सी प्रतीत होती है । यद्यपि एक पलकभर भी वह कहीं स्थिर नहीं होती, तथापि अपने में स्थिरता की आशंका पैदा करती है ॥१८॥ सत्त्वगुण से अग्नि की ज्वाला के समान शुद्ध वर्णवाली होने पर भी वह तमोगुण से स्याही के समान भीतर में कृष्णवर्णवाली है । परमात्मा की सन्निधि से उसमें चलनक्रिया है और उन्हीं के साक्षात्कार से उसका विनाश हो जाता है ॥१९॥ निर्मल आत्मप्रकाश में प्रकाश की आवरक होने के कारण वह मलिन हो जाती है और अन्धकार में भी विराजमान रहती है । यद्यपि मृगतृष्णा के समान शुष्क कान्तिवाली है, तथापि विविध वर्णों से विलसित होती है । वह काली–साँपिन के समान टेढ़ी, विष से भरी हुई, दुबली–पतली, बड़ी कोमल, दुःख की हेतु होने से अत्यन्त कर्कश, नारी के समान चंचल, तृष्णा के समान लोलुप है । स्नेह का विनाश होने पर दीपक की लौ से समान अपने–आप शीघ्र नष्ट हो जाती है, स्नेह के बिना भी सिन्दूर की बुकनी की रेखा के समान रागवती होकर विराजमान होती है ॥२०–२२॥ जैसे जल की आशा से बिजली मेघ में रहती है वैसे ही बिजली के तुल्य चंचल उसने जड़ आशा से अपनी स्थिति कर रक्खी है । वह मूढ़ लोगों में त्रास पैदा करनेवाली टेढ़ी बिजली के समान उदित हुई है । बिजली के समान अत्यन्त भंगुर वह बड़े यत्न से पकड़कर जलाती है यानी सन्ताप दुःख में डालती है, हो होकर लीन हो जाती है और खोजने पर भी नहीं मिलती है ॥२३,२४॥ यह अकाल में उत्पन्न हुए फूलों की माला के समान बिना किसी प्रयत्न और प्रार्थना के ही प्राप्त हुई है, देखने में मनोहर होती हुई भी बड़े–बड़े अनर्थों को देती है और मोक्षरूप कल्याण के लिए अभिनन्दित नहीं है यानी कल्याण में बाधा पहुँचाती है । विविध भ्रम उत्पन्न करनेवाली यह जब अत्यन्त विस्मृत होती है, तभी अति सुख प्राप्त होता है । कल्पना द्वारा जब पुनः पुनः इसका अनुसन्धान किया जाता है तब दुःस्वप्नों की

कल्पना के समान यह अनर्थदायिनी ही होती है। यह प्रतिभास से बड़े–बड़े तीनों जगतों को एक मुहूर्त में उत्पन्न कर धारण करती है और संहार कर डालती है। इसने राजा लवण के एक मुहूर्त को अनेक वर्ष बना डाला और राजा हरिश्चन्द्र की एक रात को बारह वर्ष कर दिया ॥२५–२८॥ कान्तारूपी विभव से शोभित होने वाले विरही पुरुषों की एक रात इसी के प्रभाव से एक वर्ष सी लम्बी हो जाती है ॥२९॥ जिसके प्रसाद से, एकमात्र भ्रम ही जिनका स्वभाव है, ऐसे पुरुषों में सुखी पुरुष को समय अल्प मालूम होता है और दुःखी पुरुष को दीर्घ प्रतीत होता है ॥३०॥ जैसे प्रकाश के कार्यों में दीपक की अपने संनिधानमात्रसे कर्तृता है, वैसे ही उसकी अपनी केवल सत्ता से ही इन वृत्तियों में कर्तृता है, वस्तुतः कर्तृता नहीं है ॥३१॥

इसकी वास्तव में कर्तृता क्यों नहीं है यदि ऐसी कोई जिज्ञासा करे, तो उसमें कर्तृत्व की योग्यता न होने के कारण वह कर्ता नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे चित्र में लिखी गई नितम्ब, स्तन आदि अंगों से युक्त स्त्री गृहकार्य आदि करने में समर्थ नहीं होती वैसे ही पहले अनुभूत पदार्थों की वासनारूप यह अविद्या कुछ भी करने की योग्यता नहीं रखती। मनोराज्य के समान यह एकमात्र आकार से प्रकाशमान है। वास्तविकता का तो इसमें नामनिशान भी नहीं है। यद्यपि यह लाखों शाखा प्रशाखाओं से युक्त मालूम होती है, तथापि परमार्थरूप से यह कुछ भी नहीं है ॥३२,३३॥ जैसे अरण्य में मृगतृष्णा मिथ्या ही स्वरूपाडम्बर से युक्त है, वास्तव में कुछ नहीं है, वैसे ही यह मिथ्या स्वरूपाडम्बर से युक्त है और उन्हीं भोले–भाले मृगों को यह ठगती है, मनुष्यों को नहीं ठगती जैसे मृगतृष्णा मृगों को ही ठगती है, मनुष्यों को नहीं ठगती वैसे ही यह भी मृगों की नाईं अज्ञ जीवों को ही ठगती है, ज्ञानी पुरुषों को नहीं ठगती है। यह जल की फेनराशि के समान उत्पन्न होते ही नष्ट होनेवाली है और प्रवाहरूप से नित्य है। पाले के समान चंचल आकारवाली है। इसे पकड़ने जाओ, तो कुछ भी हाथ नहीं लगता ॥३४,३५॥ भयंकर आकृतिवाली, रजोगुण के आधिक्य से धूसरवर्णवाली तथा जिसने हठात् अपने से भुवनमध्य को आक्रान्त किया है, ऐसी यह प्रलयकाल के बवंडर के समान है। बवंडर की भी आकृति भीषण होती है, धूलि से वह धूसर होता है और जबरदस्ती भुवनमध्य को आक्रान्त कर लेता है ॥३६॥ इसने परमात्मा को गर्भ में कर रक्खा है यानी आवृत कर रक्खा है, अतएव शरीर में लगने से दाह और क्लेश देनेवाली, जिसने जल को गर्भ में धारण किया है, ऐसी घूपपंक्ति के समान यह शरीर में लगने से दाह और क्लेश देनेवाली लोकों को आक्रान्त कर (तिरस्कृत कर) घूमती है। यह खूब लम्बी और जल से बनी हुई मेघ की धारा के समान है और तृण समुह से दृढ़ रस्सी के समान असार(नाजुक) संसरणशील संसार से दृढ़ है। कवियों द्वारा कल्पनामात्र से वर्णित जलात्मक लहरों की श्रेणि के समान, कीचड़ में प्रौढ़ कमलों की श्रेणि के समान और बहुत से छेदों से युक्त कमलनाल के समान यह जड़ात्मक, पाप में प्रौढ़ और विविध छिद्रों से युक्त है ॥३७–३९॥ लोग इसे बढ़ाने में तत्पर दिखते हैं पर यह बढ़ती नहीं है, विषमिश्रित मोदक के स्वाद के समान यह आपाततः मधुर

मालूम होती है, पर अन्त में महाभीषण रूप धारण करती है ॥४०॥ बुझी हुई दीपक की लौ के समान बाधित हुई यह न मालुम कहाँ चली जाती है। भाव यह कि बाधित पदार्थ के स्वरूप का एक दो की तो बात ही क्या हजारों वादी भी यदि चाहें तो, निरूपण नहीं कर सकते हैं। तुषार से निकलती हुई धूपपंक्ति के समान आगे से दिखाई देती है, पर पकड़ने पर कुछ भी हाथ नहीं आती ॥४१॥ जैसे बिखेर कर देखी गई परमाणुओं की धूलिमुष्टि कुछ भी प्रतीत नहीं होती, वैसे ही यह भी कुछ भी प्रतीत नहीं होती। आकाश की नीलिमा जैसे बिना किसी कारण के दृष्टिगोचर होती है वैसे ही यह अकारण दिखाई देती है ॥४२॥ द्विचन्द्र के भ्रम के समान यह उत्पन्न हुई है, स्वप्न के समान विविध भ्रम उत्पन्न करती है, जैसे नौका से यात्रा करने वाले लोगों को स्थाणु (ठूँठ) में स्पन्द की (गति) प्रतीति होती है, वैसे ही यह उदित हुई है ॥४३॥ जब यह चित्त को दूषित कर डालती है तब व्याकुल हुए लोगों को दीर्घकाल तक मिथ्या लम्बे संसार स्वप्न का भ्रम होता है ॥४४॥ इसके द्वारा आत्मा के दूषित होने पर यानी आवरण द्वारा असत्प्राय किये जाने पर मन में भाँति-भाँति की भ्रान्तियाँ, समुद्र के तरंगों की नाईं, उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं ॥४५॥ मनोहर और सत्य ब्रह्म को वह असत्‌रूप से (जगत्‌रूप से) देखती है, अमनोहर और असत् जगत् को सत्‌रूसे (ब्रह्मरूप से) देखती है ॥४६॥ विषयरूप रथ पर बैठी हुई यानी विषयाकार बनी हुई उद्‌भूतवासनारूप महाबलवती यह अविद्या, जैसे जाल पक्षियों पर आक्रमण करता है, वैसे ही शीघ्र मन पर आक्रमण करती है यानी मनको मोह में डालकर बाँधती है ॥४७॥

यह अविद्या ही माता और पत्नी का रूप भी धारण करती है, ऐसा कहते हैं।

यह अविद्या कृपा से अश्रुपूर्ण नेत्रवाली तथा जिसके स्तनों से दूध की धारा बह रही हो, ऐसी माता तथा गृहिणी के समान बड़े आनन्द के साथ होती है ॥४८॥ चाँदनी के रूप में परिवर्तित अमृत बिन्दुओं से जिसने तीनों लोकों को तृप्त किया है, ऐसे अमृत से अत्यन्त आर्द्र, पूर्ण चन्द्रमा के बिम्ब को भी यह एक क्षण में विष बना देती है ॥४९॥ अन्ध बनानेवाली इस अविद्या से वाणी आदि सब कर्मेन्द्रियों से रहित स्थाणु (ठूँठ) भी उन्मत्त शब्दवाले वेतालों के नाचने, कूदने आदि का भ्रम उत्पन्न करते हैं ॥५०॥ इसीके प्रताप से सन्ध्या आदि कालों में ढेले, पत्थर और भीत साँप, अजगर आदि की भ्रान्ति से देखे जाते हैं ॥५१॥ इसीके प्रताप से जैसे दो चन्द्रमाओं का दर्शनरूप भ्रम होने पर एक चन्द्रमा दो रूप से दिखाई देता है, वैसे ही एक ही वस्तु दो रूपों को प्राप्त होती है, जैसे स्वप्न में अपना मरण दूर होता हुआ भी समीप में प्राप्त होता है, वैसे ही दूर की वस्तु नजदीक में आ जाती है, जैसे संहाररुद्रकी अभीष्ट प्रलयरात्रि दीर्घ होती हुई भी क्षणरूप में परिवर्तित हो जाती है वैसे ही दीर्घ काल क्षणता को प्राप्त होता है, जैसे प्रिया के विरह से दुःखी पुरुषों का एक क्षण वर्ष की तरह प्रतीत होता है वैसे ही एक क्षण वर्ष-सा मालूम होता है ॥५२,५३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका यह उद्धत अविद्या निर्माण न करती हो। यद्यपि यह अपनी सत्ता में भी दरिद्र है तथापि इसकी सामर्थ्य तो देखिये। यह क्या क्या नहीं कर डालती है ? जैसे विवेकबुद्धि से विषयबुद्धि का

निरोध किया जाता है वैसे ही विवेकबुद्धि से प्रयत्नपूर्वक वासनारूप अविद्या का शीघ्र निरोध करना चाहिये, जैसे स्रोतों को रोकने से नदी सूख जाती है वैसे ही इसके निरोध से यह मन रूपी नदी सूख जाती है ॥५४,५५॥

इस प्रकार आश्चर्यसागर में डाले गये श्रीरामचन्द्रजी अविद्या के स्वरूप का पर्यालोचन करने से विस्मित होकर उसका वर्णन करते हुए अपने विस्मय को प्रकट करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यह अविद्या अविद्यमान (असत्) है, अतिसुकुमार अंगवाली है, अत्यन्त तुच्छ है यानी वास्तविकता तो इसे छू तक नहीं गई और मिथ्या भावनारूप है। इस बला ने सारे जगत् को अन्धा बना रक्खा है, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है ॥५६॥ इसका न कोई लाल, पीला,हरा आदि रूप है और न कोई आकार है, सुन्दर चैतन्य से भी यह हीन है, यह असत् है तथापि मृगतृष्णा की नदी के समान यह नष्ट नहीं होती। इस निगोड़ी ने सारे जगत् को अन्धा कर रक्खा है, यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥५७॥ यह आलोक से (आत्मप्रकाश से) नष्ट हो जाती है और अन्धकार के मध्य में खूब चमकती है, अतएव यह उल्लू के नेत्रों के सदृश है। इसने जगत् को अन्धा बना रक्खा है, यह बड़े अचम्भे का विषय है ॥५८॥ एकमात्र क्रियाशक्ति की यह आश्रय है, अतएव केवल कुत्सित कर्म करती है, भगवत्तत्त्वसाक्षात्कार को तो यह फूटी आँख से भी नहीं देख सकती है और ज्ञानशक्तिशून्य होने के कारण अपनी देह को भी नहीं जानती है। इसने सम्पूर्ण जगत् को अन्धा बना डाला है, यह आश्चर्य है ॥५९॥ जैसे पामर की स्त्री अत्यन्त दीन–हीन आचार और धर्मवाली और नित्य अन्धकार से (अज्ञान से) ढकी रहती है वैसे ही इसका भी आचार और धर्म अत्यन्त दीन–हीन है, यह पामर लोगों की प्रिय है और सदा असती है, इसने समग्र जगत् को अन्धा बना डाला है, यह बड़े खेद की बात है ॥६०॥ सदा अनन्त दुःखों से आकुल मृत के तुल्य अतः संज्ञाहीन इसने इस जगत् को अन्धा बना रक्खा है ॥६१॥ इस अविद्या के काम और कोप ही सुदृढ़ अंग है, तमोगुण की अधिकता से यह बड़ी क्रूर है, ज्ञान का उदय होने पर यह शीघ्र ही शरीररहित हो जाती है, अतएव यह काम और कोप से सुघन अंगवाली, अंधेरे की अधिकता होने से अतिक्रूर, मरने पर तुरन्त शरीर रहित होने वाली किसी निशाचरी दीनहीन नारी के तुल्य है। बड़े अचम्भे की बात है कि इसने जगत् को अन्धा बना रक्खा है ॥६२॥ आत्मा के विषय में जो अन्धरूप मूढ़ है, वे ही इसके आश्रय हैं, यह जड़ है, अपनी जड़ता से जीर्णशीर्ण है, दुःखसे दीर्घ प्रलाप करनेवाली है, अतएव पूर्वोक्त निशाचरी दीन–हीन स्त्री के तुल्य है। इसने जगत् की आँखों में धूल झोंक रक्खी है, यह कम अचम्भे की बात नहीं है। यह अविद्या पुरुष के साथ ऐक्याध्यास से पुरुष की संगिनी है तथा विविध विचित्र विषयों की कल्पन क्रिया से पुरुष का भोग संपादन करने के कारण पुरुष की अनुरागिणी है। स्वतत्त्वविचारों में भाग रही इसने पुरुष को अन्धा बना डाला है, यह कम विचित्र नहीं है ॥६३,६४॥ जो पुरुष के साक्षात्कार को तनिक भी सहने के लिए समर्थ नहीं है, उस आवरण करनेवाली अविद्यारूप स्त्री से पुरुष अन्धा बनाया गया है, यह बड़े अचम्भे की बात है ॥६५॥ न जिसमें चेतना ही है और जो नष्ट

न होने पर भी नाश को प्राप्त होती है, उस कर्कश स्त्रीरूपी अविद्या से पुरुष अन्धा किया गया है, यह बड़े आश्चर्य का विषय है ॥६६॥

पूर्व वर्णित वासनामयी अविद्या का उपसंहार कर रहे श्रीरामचन्द्रजी अविद्या के उच्छेद का उपाय पूछते हैं।

भगवन्, असंख्य दुश्चेष्टारूप विलास करनेवाली, मरण, जन्म आदि सुख-दुःख प्राप्त करानेवाली, विषम, तथा मनरूप गुहागृह में जिसने वासना बाँध रक्खी है ऐसी यह अविद्या किस उपाय से नष्ट होती है ? ॥६७॥

एक सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौदहवाँ सर्ग

अविद्या के विनाश के उपायभूत आत्मदर्शन का,
विशुद्ध आत्मस्वरूप का तथा असंकल्प से वासनाक्षय का वर्णन।

वासना के क्षय के उपाय को पूछकर तन्मूलक अविद्या रूप आवरण के विनाश का उपाय पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, अविद्या के प्रतापसे उत्पन्न हुआ, अत्यन्त सघन आवरणरूप जो यह पुरुष का महान् अन्धत्व (अंधता) है, उसका विनाश कैसे होता है ?॥१॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के पूछने पर वसिष्ठजी पहले अविद्या के क्षय का उपाय कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सूर्य के दर्शन से पाला एक क्षण में नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से यह अविद्या नष्ट हो जाती है। यह अविद्या तभी तक संसाररूपी पर्वत के ढूहों में (टीलों में), जो कि सघनकाँटेरूपी दुःखों से भरे हैं, अपने साथ प्राणियों को अधःपात द्वारा लुढ़काती है, जब तक कि इसका विनाश करनेवाली और मोह को दूर करनेवाली आत्म-साक्षात्कार की इच्छा स्वयं उत्पन्न नहीं हुई ॥२-४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे धूप का आस्वाद लेने की इच्छा करनेवाली छाया का आत्मविनाश हो जाता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा के दर्शन कर रही इस अविद्या का आत्मविनाश हो जाता है ॥५॥ जैसे सभी दिशाओं में बारह सूर्यों के एक साथ उदित होने पर छाया अपने आप विनष्ट हो जाती है वैसे ही सर्वव्यापक ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होने पर यह अविद्या अपने-आप नष्ट हो जाती है ॥६॥

कारणरूप अविद्या के विनाश का उपाय कहकर अब कार्यरूप अविद्या की जय के उपाय को कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, बाह्य पदार्थों में इच्छामात्र का नाम अविद्या है। इच्छामात्र का विनाश मोक्ष कहा जाता है, क्योंकि भगवती श्रुति कहती है- 'यदा' सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥' अर्थात् जब मनुष्य के हृदय में स्थित सब अभिलाषाएँ छूट जाती हैं तब मरणधर्मा जीव अमृत हो जाता है और यहाँ पर ब्रह्म का आस्वाद

लेता है। उक्त मोक्ष एकमात्र संकल्प के अभाव से सिद्ध होता है ॥७॥ मनरूपी आकाश में शुद्ध चैतन्यरूपी सूर्य का उदय होनेसे कामवासना रूपी रात्रि के थोड़ा बहुत क्षीण होने पर अविद्यारूपी आवरण क्षीण हो जाता है ॥८॥ जैसे सूर्य भगवान् का उदय होने पर अँधेरी रात न मालूम कहाँ चली जाती है वैसे ही विवेक के उदित होने पर अविद्या न मालूम कहाँ छिप जाती है ? ॥९॥ जैसे वेताल की दृढ़तर वासना से वासित बालक का सन्ध्या के समय वेतालसंकल्प अपने–आप हठात् बढ़ने लगता है, वैसे ही अपनी दृढ़तर विषयवासना से चित्त का बन्धन मजबूत होता जाता है ॥१०॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, जो कुछ भी यह दृश्य वस्तुसंघात है, वह अविद्या है और वह अविद्या आत्मचिन्तन से नष्ट हो जाती है, कृपया बतलाइये वह आत्मा कैसा है ? ॥११॥ श्री वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, विषयों के संसर्ग से रहित, सामान्य (卐) से रहित अर्थात् विक्षेप और आवरण से रहित तथा जिसका वाणी द्वारा वर्णन नहीं हो सकता, ऐसा जो चित्–तत्त्व है, वह परमेश्वर आत्मा है ॥१२॥

उक्त आत्मा की असंभावना के निवारणके लिए कार्यसहित अविद्या के उसमें बाध दर्शाते हैं।

हे पुण्यचरित श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्मा से लेकर पेड़ पौधों तक जो यह तृण आदिरूप जगत् है, वह सब सदा आत्मा ही है, अविद्या तो है ही नहीं ॥१३॥ यह सब नित्य, चैतन्यघन, अविनाशी, अखण्ड ब्रह्म ही है, मन नामकी कोई दूसरी कल्पना है ही नहीं। इन तीनों जगतों में न कोई जन्म लेता है और न कोई मरता है और न जन्म, मरण आदि भावविकारों का कहीं पर अस्तित्व ही है। अद्वितीय, केवल प्रकाशस्वरूप, सबमें अनुगत, सत्रूप, अखण्ड और विषय संसर्गशून्य चिन्मात्र ही यहाँ पर है॥१४–१६॥ उस नित्य, सर्वव्यापक, शुद्ध, चैतन्यघन, किसी प्रकार के उपद्रवों से रहित, शान्त, सर्वत्र समदृष्टि, निर्विकार, प्रकाशमान आत्मा में जो यह आवरणसहित चिति चित्स्वभाव के विपरीत यानी जड़ता, परिच्छेद आदि स्वभाववाले चेत्य (विषय) की स्वयं कल्पना कर दौड़ती है, वह विक्षेप से मलिन हुई चिति ही मन नाम से कही गई है ॥१७,१८॥ जैसे समुद्र से तरंग उठती है, वैसे ही सर्वशक्तिशाली सर्वत्रगामी महात्मा इस मन रूपी देवता से पदार्थों की विभागकल्पनाशक्ति उत्पन्न हुई है॥१९॥ अद्वितीय सर्वव्यापक शान्त आत्मा में यह सृष्टि कुछ भी नहीं है। यह परमात्मा में केवल संकल्प से उत्पन्न हुई है॥२०॥ चूँकि यह संकल्प से उत्पन्न हुई है, अतः जैसे अग्नि की ज्वाला जिससे उत्पन्न हुई उसी वायु से शान्त होती है, वैसे ही संकल्प से ही इसका विनाश होता है॥२१॥ इस अविद्या ने पुरुष के उद्योग से होने वाले संकल्प से विषयभोग की आशा का रूप धारण किया है। निदिध्यासन की परिपुष्टतारूप पुरुषप्रयत्न से सिद्ध साक्षात्कार से बद्धमूल एकमात्र असंकल्पन से यह अविद्या विलीन हो जाती है ॥२२॥

बन्धन और मोक्ष भी मन के ही धर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं हैं, ऐसा कहते हैं।

'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' इस प्रकार के दृढ़ संकल्प से मन को बन्धन प्राप्त होता है। 'यह सब ब्रह्म

卐 सामान्य (अविद्या) क्योंकि वह सब पदार्थों की कारण है, अतः 'सामान्य' शब्द से कही गई है।

ही है' इस प्रकार के दृढ़ संकल्प से मन मुक्त होता है। संकल्प ही मजबूत बन्धन है और संकल्प का अभाव मुक्ति है। हे श्रीरामचन्द्रजी, 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' इस संकल्प को 'यह सब ब्रह्म ही है' इस संकल्प से जीतकर जैसा चाहते हो वैसा करो ॥२३,२४॥ यद्यपि इस आकाश में जो सुवर्ण के कमलों से भरी हुई, चंचल नीलमणिरूपी भँवरों से गुलजार, दिशाओंको सुगन्धित करनेवाली, खूब बड़े-बड़े, प्रकट स्वरूपवाले मृणालरूपी भुजाओं से प्रकाशमान चन्द्रमा की किरणों का उपहास कर रही ऐसी कमलिनी(कमलों से भरा हुआ तालाब) नहीं है, फिर भी उसकी जैसे बालक अपने मनोरथ से विलास के लिए खूब दृढ़ रूप से कल्पना कर लेता है, वैसे ही इस दो प्रकार की अविद्या की, जो कि इस प्रकार विकल्पसमूहों के तुल्य असत्य ही है तो भी सत्य के तुल्य प्रतीत होती है, मुढ़जनों ने अत्यन्त क्लेश के लिए ही दृढ़रूप से कल्पना कर रक्खी है। यह संसाररूपी बन्धन में डालनेवाली है और बड़ी चंचल है ॥२५-२८॥

बन्ध-कल्पना के भेदों को विस्तारपूर्वक दर्शाते हैं।

मैं कृश हूँ, अति दुःखित हूँ, बन्धन से जकड़ा हुआ हूँ, हाथ, पैर आदि अवयवों से युक्त हूँ, इस भावना के अनुरूप व्यवहार से जीव बन्धन में पड़ता है ॥२९॥

बन्धन से मोक्ष पाने की उपाय भूत कल्पना को दिखलाते है।

न मैं दुःखित हूँ, न मेरी देह है, बन्धन किस आत्मा को प्राप्त हो सकता है, इस भावना के अनुरूप व्यवहार से जीव को मुक्ति प्राप्त होती है ॥३०॥ न मैं मांस हूँ, न मैं हड्डियाँ हूँ, मैं तो देह से उत्कृष्ट कुछ और ही हूँ जिसके हृदय में ऐसा दृढ़ निश्चय है, वह क्षीण अविद्यावाला कहा जाता है ॥३१॥

अविद्या आदि कल्पनाओं के दूसरे दृष्टान्त कहते हैं।

हे रघुवर, जैसे पृथिवी तल पर खड़ा हुआ पुरुष बढ़ी-चढ़ी अपनी कल्पना से अत्यन्त ऊँचे सुमेरु पर्वत के अगले हिस्से के नीलमणि के शिखरोंकी कान्ति की अथवा सूर्यकिरणों से जिसका भेदन नहीं हो सकता ऐसी आकाश के ऊपर स्थित अन्धकार राशि की आकाश की स्वाभाविक कालिमा के रूप से कल्पना करता है, वैसे ही अज्ञानीजनों ने अनात्मामें आत्मभावनारूप इस अविद्या की कल्पना की है, प्रबुद्ध पुरुषों ने नहीं की है ॥३२-३४॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यह आकाशकी नीलता न तो सुमेरु पर्वत के नीलमणि के शिखरों की प्रभा है और न अन्धकार की कान्ति है, क्योंकि यदि उसे सुमेरु पर्वत के नीलमणिमय शिखर की छाया मानें, तो सुमेरु पर्वत के पद्मराग आदि मणियों के भी शिखर हैं, उनकी भी कान्ति दिखाई देनी चाहिये, पर वह नहीं दिखाई देती, इसलिए यह कल्पना ठीक नहीं है। यदि उसे सूर्यकी किरणों से दुर्भेद्य अन्धकार राशि मानें, तो ब्रह्माण्ड के ऊपर और नीचे के कपाल सुवर्णमय और रजतमय हैं।' *तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्'* इस प्रकार पुराणों में ब्रह्माण्ड की महाप्रकाशता सुनी जाती है। ऊपर-ऊपर सत्यलोक आदि अत्यन्त चमकदारलोकों से यह ब्रह्माण्ड खप्पर व्याप्त है। व्यवधान के न रहने पर आदित्य आदि की किरणों का सम्बन्ध नहीं रोका जा सकता, बीच में अन्धकार का संभव नहीं है, तब कहिये कि वह आकाश की

नीलता (📖) किसकी है ? ॥३५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : शून्य आकाश की नीलता गुण के समान स्थित नहीं है, पद्मराग आदि दूसरे रत्नों की प्रभा आकाश में नहीं दिखाई देती, इसलिए वह सुमेरु पर्वतके नीलमणिमय शिखरों की प्रभा भी नहीं है। ब्रह्माण्ड तेजोमय है और तेज प्रचुर है एवं ब्रह्माण्ड के मध्यवर्ती आकाश का ऊपरी भाग प्रकाश से व्याप्त है, इसलिए यहाँ पर अन्धकार का सम्भव नहीं है ॥३६,३७॥

इस प्रकार दोनों पक्षों का अनुवाद कर सिद्धान्त पक्ष को कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अविद्या की अनुरूप सखी के समान असन्मयी यह केवल विपूल शून्यता ही दिखाई देती है ॥३८॥ नेत्रों की ही अपनी दर्शनशक्ति का क्षय होने पर जो वस्तुस्वभाव से अन्धकार उदित हुआ है, वह आकाश की नीलता के रूप से दिखाई देता है ॥३९॥ यह जानकर जैसे आकाश में दिखाई देती हुई भी कालिमा 'यह कालिमा नहीं है' ऐसी बुद्धि होती है, वैसे ही अविद्या रूपी अन्धकार को भी जानिये ॥४०॥

प्रासंगिक प्रश्न का समाधान कर प्रस्तुत विषय को कहते हैं।

जैसे आकाशकमलिनी का निग्रह संकल्प का अभाव है, वैसे ही विद्वानों ने संकल्प के अभाव को अविद्या का निग्रह कहा है। संकल्प का अभाव सहज प्रतीत होता है, कठिन नहीं है ॥४१॥ जगत् के इस भ्रम का जो कि आकाश की नीलिमा की तरह उत्पन्न हुआ है, फिर जिसका स्मरण न हो, ऐसा विस्मरण ही मैं उत्तम समझता हूँ ॥४२॥ 'मैं नष्ट हो गया' इस संकल्प से जैसे स्वप्न में दुःख से नष्ट होता है और 'मैं जाग गया हूँ' इस संकल्प से स्वप्न दुःख के नाश को प्राप्त होता है, सुख को प्राप्त होता है, वैसे ही विषय के संकल्प से मन मूढ़ता को प्राप्त होता है। प्रबोधरूप उदार संकल्प से बोधमय ब्रह्मभाव की ओर अग्रसर होता है ॥४३,४४॥ 'मैं अज्ञानी हूँ' ऐसे संकल्प से यह अनादि अविद्या एक क्षण में उदित होती है और विस्मरण के यानी संकल्पवासनाओं के मूलोच्छेद से नित्य नष्ट हुई यह नष्ट हो जाती है।

📖 दृष्टि फैलाने पर ऊपर आकाश में प्रगाढ़ कालिमा-सी प्रतीत होती है, पर आकाश में कोई रंग नहीं है, कारण कि आकाश नीरूप है। इसलिए पण्डित लोग अनुमान करते हैं कि आकाश की जो नीलता है वह औपाधिक है यानी वह आकाश से भिन्न किसी दूसरी वस्तु की प्रभा या प्रतिच्छाया है। इस विषय में योगियों की कल्पना यों है– सुमेरु से ऊपर के शिखर इन्द्रनील मणिमय हैं, उन्हींकी कान्ति छिटक कर ऊपर आकाश में जाकर नीलता दिखलाती है। ज्योतिषी लोग कहते हैं– अतिदूरता के कारण सूर्य की किरणें ब्रह्माण्ड खप्पर के समीप में स्थित अन्धकार का विनाश नहीं कर सकती, इस कारण उस अन्धकार की प्रतिच्छाया को ही भूमि में स्थित लोग देखते हैं। अन्य विद्वान् कहतें हैं– यह नीलिमा ऊपर को छिटकी हुई पृथिवी की छाया द्वारा होती है। इन तीनों कल्पनाओं में कोई भी कल्पना श्रीरामचन्द्रजी को संगतरूप से प्रतीत नहीं हुई। अतएव इस नीलता का वास्तविकरूप जानने की इच्छा करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी से वसिष्ठजी ने उसके उत्तर में कहा : जीवों की दृष्टिशक्ति के कुण्ठित होने पर अर्थात् सामर्थ्यशून्य होने पर वस्तुदर्शन का अभावरूप अन्धकार स्फुरित होता है। वही वस्तुदर्शन के अभावरुप तम आकाश की कालिमारूप से अज्ञानियों को प्रतीत होता है।

आत्मा के अदर्शन से अत्यन्त भारयुक्त यानी बढ़नेवाली सब पदार्थों को उत्पन्न करनेवाली और सम्पूर्ण प्राणियों को मोह में डालनेवाली यह अविद्या अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप की प्राप्ति होने पर नष्ट हो जाती है ॥४५,४६॥

मन का निरोध करने पर भी इन्द्रियों से वासना का उद्‌भव क्यों नहीं होता, ऐसी यदि कोई शंका करे, तो इस पर कहते हैं।

जैसे मन्त्री लोग राजा की आज्ञा को एक क्षण में पूरी कर देते हैं, वैसे ही मन जिस विषय का अनुसन्धान करता है सम्पूर्ण इन्द्रिय वृत्तियाँ उसको क्षणभर में कर डालती हैं। इसलिए जो पुरुष बाह्य पदार्थों में मन का अनुसन्धान नहीं करता, वह ब्रह्माहंभावनारूप यत्न से शान्ति को प्राप्त होता है ॥४७,४८॥

उक्त अहंभावनारूप प्रयत्न कैसे करना चाहिये, उसीको दर्शाते हैं।

जो यह पहले भी नहीं था, वह आज भी नहीं है। जो यह भासित होता है, वह शान्त, अद्वितीय, निर्विकार, निर्दोष ब्रह्म है ॥४९॥ ब्रह्म से अतिरिक्त कहीं पर कोई किसी प्रकार का किसी कारण के लिए मननीय दुसरा नहीं है, अतः निर्विकार आदि–अन्तरहित पूर्णरूप से स्थित होइए ॥५०॥ परम पौरुष का अवलम्बन कर प्रयत्न के साथ उत्तम बुद्धि से विषयभोग की आशा की भावना को समूल चित्त से उखाड़ कर फेंक दीजिये ॥५१॥ आत्मतत्त्व का अज्ञान ही जरा, मरण आदि का कारण है। जो जो वस्तु कार्य–रूप से उदित होती है, वह सब सैंकड़ों आशारूपी जालों से वासना ही विस्तार को प्राप्त होती है, वह वास्तविक नहीं है ॥५२॥ ये मेरे पुत्र हैं, मेरा धन है, यह मैं हूँ, यह मेरा घर है, इस प्रकार के इन्द्रजाल से यह वासना ही वृद्धि को प्राप्त होती है ॥५३॥ जैसे जल में वायु द्वारा तरंग रूपी सर्प की कल्पना की जाती है, वैसे ही इस अनन्य वासना द्वारा इस शून्य शरीर में ही अहंभावरूप सर्प की कल्पना की गई है ॥५४॥ हे तत्त्वज्ञ श्रीरामचन्द्रजी, परमार्थदर्शन से 'मेरा', 'मैं' ये दोनों ही नहीं हैं। आत्मतत्त्व के सिवा कोई भी वस्तु कभी भी सत्य नहीं है ॥५५॥ आकाश, पर्वत, द्युलोक, पृथिवी, नदियों की श्रेणियाँ, ये सब दृष्टिसमकालिक सृष्टि से पुनः पुनः उत्पन्न होते हैं। वही यह अविद्या अन्य के समान विचित्र परिवर्तित होती है ॥५६॥ यह अज्ञानमात्र से उत्पन्न होती है और ज्ञान से नष्ट हो जाती है। त्रिविध परिच्छेदवाली यह अविद्या रज्जु में सर्प की भ्रान्ति की नाईं सन्मात्र से भ्रान्ति से प्रतीत होती है ॥५७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानी की दृष्टि में यह अविद्या नहीं है। आकाश, पर्वत, समुद्र, पृथिवी, नदीरूप जो यह अविद्या है, वह अज्ञ के लिए है। ज्ञानी की दृष्टि में तो आकाश आदि रूपसे ब्रह्म ही अपनी महिमा से स्थित है ॥५८॥ रज्जु में सर्प की प्रतीतिरूपी प्रातिभासिक और व्यावहारिक ये दो विकल्प अज्ञ द्वारा ही कल्पित हैं। ज्ञानी ने तो एकमात्र स्वतःसिद्ध ब्रह्मदृष्टि का ही निर्णय किया है। हे रामचन्द्रजी, आप अज्ञानी मत होइये, ज्ञानी बनिये, संसारवासना का नाश कीजिये, अनात्म देह आदि में आत्मभावना से अज्ञ की नाईं आप क्यों रोते है ? ॥५९,६०॥

अनात्मा देह आदि में आत्मतत्त्व की भ्रान्ति ही सब दुःखों का निदान है, इसलिए पहले देह

में आत्म भ्रान्ति का ही वारण करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जड़, मूक शरीर आपका क्या है ? जिसके लिए अवश होकर सुख और दुःख द्वारा आप अभिभूत हो रहे हैं ॥६१॥ जैसे काष्ठ और लोह परस्पर मिले रहने पर भी एक नहीं हैं और जैसे बेर और बर्तन परस्पर अत्यन्त संयुक्त होने पर भी अभिन्न नहीं हैं वैसे ही देह और आत्मा भी परस्पर संयुक्त होने पर भी अभिन्न नहीं हैं ॥६२॥

आत्मा देहरहित है, इसलिए उसके जन्म, मरण आदि की संभावना भी नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे धौंकनी के जल जाने पर धौंकनीके अन्दर स्थित वायु का दाह नहीं होता, वैसे ही देह का नाश होने से आत्मा नष्ट नहीं होता ॥६३॥ हे राघव, मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ, इस भ्रान्ति को मृगतृष्णा के तुल्य समझ कर छोड़ो और सत्यतत्त्व का अवलम्बन करो ॥६४॥ यह क्या अचम्भे की बात नहीं है ? जो सत्य ब्रह्म है, उसे तो लोग भूल गये हैं और जो असत्य अविद्यानामक वस्तु है उसका सबको अत्यन्त स्मरण हो गया है ॥६५॥ हे रामचन्द्रजी, आप अविद्या को यानी आत्मविस्मरण को खूब बढ़ने का मौका न दीजिये। इस अविद्या द्वारा चित्त के दूषित होने पर यहाँ पर अनन्त अपार दुःख होते हैं ॥६६॥

अविद्या असम्भावित हजारों अनर्थों को उत्पन्न करती है, ऐसा कहते हैं।

मिथ्या होती हुई भी अनर्थ करनेवाली, मन के संकल्प से पुष्ट हुई, अन्त में महामोहरूप फल देने वाली, दुःखदायिनी इस अविद्या से अमृतरस से सराबोर चन्द्रबिम्ब में भी रौरव नरक की कल्पना करके पुरुष नारकीय दाह, शोष आदि दुःखों का अनुभव करता है ॥६७,६८॥ इससे जल की तरंग, कमल, जलबिन्दु, छोटी-छोटी लहरों से युक्त तालाबों में मृगतृष्णा से भरी हुई मरुभूमि का दृश्य दिखाई देता है ॥६९॥ इसीसे आकाश में नगर की रचना, आकाश से गिरना, आकाश में उड़ना आदि भ्रम, जो विचित्र और सुख-दुःख देनेवाले हैं, स्वप्न में पुरुषों से अनुभूत होते हैं ॥७०॥ यदि यह अविद्या चित्तको संसारवासनाओं से पूर्ण न करे, तो यहाँ जाग्रत्, स्वप्न आदि के भ्रम आत्मा को आपत्ति को प्राप्त कैसे करायें ॥७१॥ मिथ्या ज्ञान के बढ़ने पर स्वप्न और उपवन की भूमियों मैं रौरव, अवीचि आदि नरकों की अनर्थकारी यातनाएँ देखी जाती हैं ॥७२॥ इस अविद्या से वेधित चित्त कमलनाल के अत्यन्त सूक्ष्म तन्तु में भी एक क्षण में समस्त संसार-सागररूपी अनर्थकारी भ्रम देखता है ॥७३॥ इससे चित्त के अभिभूत होने पर राज्य में ही स्थित पुरुष उन-उन यातनाओं को प्राप्त होते हैं, जो चाण्डालों के भी योग्य नहीं हैं ॥७४॥ इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, संसाररूप बन्धन में डालनेवाली और सम्पूर्ण द्वैताकाररूपी रंग से युक्त वासना को त्यागकर स्फटिक के समान रागरहित होकर स्थित होइये ॥७५॥ व्यवहार के कार्य कर रहे आपकी अनुराग के विषयों में आसक्ति न हो, जैसे कि विचित्र प्रतिबिम्बों का ग्रहण कर रहे स्फटिक की रंग के विषय में आसक्ति नहीं होती। हे रामचन्द्रजी, निरतिशयानन्दरूप होने से परम कौतुकमय ब्रह्म का जो साक्षात्कार कर चुके हैं यानी जो तत्त्वज्ञ हैं, उनकी संगति में पुनः-पुनः विचार करने से

दीप्त हुई, अतएव सर्वत्र समदर्शन आदि सुशीलवाली असंग बुद्धि से यदि आप सदा व्यवहार करते हैं, तो आप अविद्याप्रयुक्त जन्म, मरण आदि भ्रमों से रहित हैं यानी नित्यमुक्त स्वरूप हैं। तब आपकी किसी जीवन्मुक्त महाभाग्य ब्रह्मा, विष्णु अथवा शंकरजी के साथ तुलना नहीं हो सकती है ॥७६,७७॥

एक सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी का बोध से आश्चर्य वर्णन, माया और
उसके नाश की स्थिति, राजा लवण की आपत्ति के कारण का निरुपण।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : भगवन्, महात्मा श्रीवसिष्ठजी के ऐसा कहने पर कमल की पंखुड़ी के समान विशाल नेत्रवाले श्रीरामचन्द्रजी विकसित पद्म के समान सुशोभित हुए। जैसे अन्धकार के नष्ट होने पर सूर्य भगवान् के दर्शन से कमल प्रसन्न होकर शोभा को प्राप्त होता है, वैसे ही समाधान से सन्तुष्ट हुए श्रीरामचन्द्रजी अज्ञान के नष्ट होने पर प्रफुल्लित अन्तःकरणवाले होकर शोभा को प्राप्त हुए। बोध से उत्पन्न हुए आश्चर्य से मन्द-मन्द मुस्कुराहट से जिनका मुखकमल प्रकाशमान है, ऐसे श्रीरामचन्द्रजी ने दाँतों की किरणरूपी सुधा से धोई हुई यह वाणी कही ॥१-३॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, जो अविद्या है ही नहीं, उसने सब लोगों को वश में कर लिया, यह बड़े आश्चर्य की बात है। यह कथन तो कमल के नाल से उत्पन्न हुए तन्तुओं से पर्वतों को बाँधने के तुल्य है ॥४॥ जो अविद्या से तीनों जगतों में असद् ही सत्य की तरह स्थित है, यह तो तृणमात्र तीनों जगतों में वज्रता को प्राप्त हो गया ॥५॥ त्रिभुवन रूप आँगन में स्थित इस संसारमायारूप नदी का स्वरूप मेरे ज्ञान के लिए फिर कहिए ॥६॥ हे महात्मन्, और दूसरा यह सन्देह, जो मेरे हृदय में बैठा है, वह यह है कि वह महाभाग राजा लवण किस प्रकार आपत्ति को प्राप्त हुए ? ॥७॥ हे ब्रह्मन्, और तीसरा प्रश्न यह है कि काठ और लोह के समान परस्पर संयुक्त, मल्ल और मेष के समान परस्पर के आघातों से आक्रान्त देह और देही हैं, इन दो में से कौन-सा शुभ और अशुभ फल का एकमात्र भाजन संसारी है ? ॥८॥ चौथा सन्देह यह है कि राजा लवण को उस प्रकार की बड़ी भारी आपत्ति देकर चंचल कार्य करनेवाला वह ऐन्द्रजालिक क्यों चला गया और वह कौन था ?॥९॥

इस प्रकार पूछे गये श्रीवसिष्ठजी विवेक की दृढ़ता में प्रकृष्ट हेतु होने का कारण पहले तृतीय प्रश्न का समाधान करते हुए अर्थतः प्रथम प्रश्न का भी समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप रामचन्द्रजी, इस संसार में काष्ठ और भीतके समान जड़ देह कुछ भी नहीं है यानी वास्तविक नहीं है। स्वप्न के प्रकाश की नाईं इस चित्त ने कल्पना कर रक्खी है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि अचेतन होने से और असत् होने से शरीर कर्मफल का भोक्ता नहीं हो सकता ॥१०॥

तो भोक्ता कौन है ? इस पर कहतें है : जीवता को प्राप्त हुआ चित्त भोक्ता है।

शंका : चित्त भी तो जड़ है, अतः वह भोक्ता कैसे ?

समाधान : चिदाभास के तादात्म्य को प्राप्त हुए चित्त में जाड्यरूप दोष नहीं रहता। उक्त चित्त का भोक्तृत्व में आग्रह है और वह बन्दर के बच्चे के समान चंचल है ॥११॥

वही जीव है, ऐसा कहते हैं।

नाना प्रकार के शरीरों को धारण करनेवाला कर्मफल का भागी जो यह देही है, वह अहंकार, मन, जीव आदि पर्यायों से कहा जाता है ॥१२॥ हे राघव, अप्रबुद्ध जीव के ये अनन्त सुख–दुःख होते हैं और प्रबुद्ध के नहीं होते। शरीर के भी ये सुख–दुःख आदि नहीं होते ॥१३॥ अज्ञानी मन, जिसने नाना प्रकार की संज्ञाओं से अनेक कल्पनाएँ कर रक्खी हैं, अनेक प्रकार की वृत्तियों में प्रवेश करता हुआ विचित्र–विचित्र आकार को प्राप्त हुआ है। जब तक मन अज्ञ रहता है तभी तक निद्रित रहता है और स्वप्न में नाना प्रकार के भ्रमों को देखता है, लेकिन ज्ञानी मन कदापि इन विविध विभ्रमों को नहीं देखता। अज्ञाननिद्रा से पीड़ित हुआ जीव जब तक अज्ञानरूप निद्रा से जगाया नहीं जाता तब तक अभेद्य संसाररूप स्वप्न भ्रम को देखता है ॥१४–१६॥ जैसे दिन के प्रकाश से विकसित होने वाले कमल के मध्यका अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही प्रबुद्ध हुए मन का सम्पूर्ण अन्धकार विलीन हो जाता है। चित्त अविद्या, मन, जीव, वासना, कर्मात्मा–इन नामों से विद्वानों द्वारा जो कहा जाता है वह देही दुःख का भोक्ता है। देह जड़ है, अतएव देह दुःखभोग के योग्य नहीं है। जीव ही अविचारवश दुःखी होता है। अविचार सघन अज्ञान से होता है, इसलिए सम्पूर्ण दुःखों का कारण अज्ञान है ॥१७–१९॥ जैसे रेशम का कीड़ा रेशम के कोश से बन्धन को प्राप्त होता है, वैसे ही जीव भी अविवेक रूपी दोष से शुभ और अशुभ धर्मों का भाजन बना है। अविवेकरूप रोग से बँधा हुआ, विविध वृत्तियों से युक्त मन अनेक आकारों में विहार द्वारा चक्र के समान घूमता है। इस शरीर में मन ही उदय को प्राप्त होता है, रोता है, मारता है, खाता है, जाता है, बोलता है और निन्दा करता है, शरीर कभी भी कुछ नहीं करता है ॥२०–२२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे घर में घर का मालिक अनेक प्रकार की क्रियाएँ करता है, किन्तु घर कुछ भी नहीं करता, वैसे ही देह में जीव विविध चेष्टाएँ करता है, जड़ देह कुछ नहीं करता ॥२३॥ सब सुख–दुःखों में और सब कल्पनाओं में मन ही कर्ता है और मन ही भोक्ता है। मन को आप जीव जानिये ॥२४॥ यह राजा लवण मन के भ्रम से जिस प्रकार चाण्डलता को प्राप्त हुआ, इस उत्तम वृत्तान्त को मैं आपसे कहूँगा, आप सावधान होकर सुनिये। हे श्रीरामचन्द्रजी, मन ही शुभ अथवा अशुभ फलका भोग करता है, इस बात को आप जिस प्रकार समझ जायेंगे वैसे मैं आपसे कहता हूँ, आप सुनिये ॥२५,२६॥ हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, प्राचीन काल में हरिश्चन्द्र के कुल में उत्पन्न राजा लवण ने एकान्त में बैठकर बहुत दिनों तक मन से विचार किया : मेरे पितामह बड़े महानुभाव थे। उन्होंने राजसूययज्ञ किया था। मैं उनके कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। मैं मन से उस यज्ञ को करता हूँ, ऐसा मन से विचारकर आदरपूर्वक सब सामग्रियाँ इकट्ठी कर राजा

ने राजसूययज्ञ की दीक्षा ली। उसने ऋत्विजों को बुलाया, श्रेष्ठ मुनियों की पूजा की, यज्ञ में आने के लिए देवताओं से प्रार्थना की और अग्नि प्रज्वलित की ॥२७-३०॥ अपने उपवन के भीतर मन से अपनी इच्छा के अनुसार यज्ञ कर रहे राजा का देवता, ऋषि और ब्राह्मणों की पूजा से पूरा एक वर्ष बीत गया ॥३१॥ ब्राह्मण आदि प्राणियों को सर्वस्व दक्षिणा देकर राजा अपने ही उपवन में दिन के अन्त में जाग उठा ॥३२॥ इस प्रकार राजा लवण ने सन्तुष्ट मन से ही राजसूययज्ञ किया, इसलिए उसी को यज्ञ का फल होना उचित है ॥३३॥ इससे सिद्ध हुआ कि चित्त को ही सुख-दुःख का भोक्ता पुरुष जानिये, इसलिए मन के शोधनरूप सत्य उपाय में मन को लगाइए। मन ही क्रियाशक्ति की प्रधानता से कर्ता, करण और क्रिया है। वह क्रिया ही सुखदुःखरूप फल के रूप में परिणत होती है। चिदाभास की व्याप्ति से उस फल का भोक्ता मन ही है इसलिए भोक्तृत्व कर्तृत्व का प्रवाह ही मायारूपी महानदी का स्वरूप है। इस तरह प्रथम प्रश्न का विषय भी इस सन्दर्भ से दिखलाया गया है, चतुर्थ प्रश्न के उत्तर का समाधान आगे के सर्ग में होगा ॥३४॥

इस प्रकार रामचन्द्रजी के प्रश्न का समाधान कर देवता आदि सदस्यों के प्रति विस्तार से वर्णित अर्थ का निचोड़ कहते हैं।

हे देवताओं, यह मनरूपी पुरुष काल आदि के परिच्छेद से रहित पूर्ण आलम्बन में स्थित होकर पूर्ण होता है और नित्य नष्ट होने वाले काल आदि से परिच्छिन्न देह आदि देश में स्थित होकर देहभाव की प्राप्ति से नष्ट हो जाता है। इसलिए 'मैं देह हूँ' ऐसी जिनकी नश्वर देह में अहंभावना है, उनसे कोई प्रयोजन नहीं है। शास्त्राभ्यास और आचार्योपदेश से उत्पन्न सम्यक् विचार के परिपाक से सारासार विवेकवाले चित्त को 'मैं देहादिस्वभाव कभी नहीं हूँ' मैं पूर्णानन्दप्रकाश, एकरस ब्रह्म ही हूँ' ऐसा ज्ञान होने पर ब्रह्मीभूत अधिकारी के सब दुःख समूल नष्ट हो जाते हैं, कभी भी उत्पन्न नहीं होते। सूर्य की किरणों से प्रफुल्लित होने पर कमल के संकोच, जड़ता और अन्दर स्थित अन्धकार आदि चिर काल के लिए नष्ट हो ही जाते हैं ॥३५,३६॥

एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सोलहवाँ सर्ग

चौथे प्रश्न के समाधान के लिए पूर्वोक्त अर्थ के दृष्टान्तरूप से
उपोद्घातसहित योग भूमिका का वर्णन।

चौथे प्रश्न का उत्तर जानने की इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी चौथे प्रश्न के उत्तर में सहायक दूसरे प्रश्न के उत्तर में प्रमाण पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे प्रभो, राजा लवण ने अपने चाण्डालत्वकी कल्पना रूप ऐन्द्रजालिक द्वारा दिखलाये गये मायाजाल में राजसूयप्रयुक्त अनिष्ट फल पाया, यह जो आपने इतिहास कहा, इसमें क्या प्रमाण है? प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो नहीं सकता, क्योंकि यह मेरे

मानसिक राजसूययज्ञ का फल है, इसे लवण राजा जान नहीं सकता ॥१॥

यद्यपि अन्य लोगों के लिए उसमें प्रमाण का अवसर नहीं है तथापि योगबल से मुझे वह प्रत्यक्ष है । इसलिए मेरे प्रत्यक्ष से ही और लोगों में भी उसकी प्रसिद्धि है ऐसा वसिष्ठजी समाधान करते हैं ।

श्री वसिष्ठजी ने कहा : जब ऐन्द्रजालिक राजा लवण की सभा में आया, उस समय मैं वहाँ पर विद्यमान था । यह सब कुछ मैंने प्रत्यक्ष देखा ॥२॥ उस ऐन्द्रजालिक के चले जाने पर सभासदों ने और राजा लवण ने बड़े प्रयत्न से मुझसे पूछा कि यह क्या हुआ ? लवण और सभासदों के पूछने पर योगबल से देखकर और विचारकर मैंने वहाँ पर उनसे जो ऐन्द्रजालिक का अभिप्राय कहा था, वह आपसे कहूँगा, आप सुनिये ॥३,४॥ राजसूययज्ञ करनेवाले लोग बारह वर्षतक आपत्ति रूप दुःख को प्राप्त होते हैं, जिसमें विविध प्रकार की व्यथाएँ होती हैं ॥५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इसलिए इन्द्र ने राजा लवण के दुःख के लिए ऐन्द्रजालिक का वेष धारण किये हुए देवदूत को आकाश से भेजा । राजसूययज्ञ करनेवाले उस राजा लवण को महाक्लेश देकर वह देवता और सिद्धों से सेवित आकाश मार्ग में चला गया ॥६,७॥ इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, राजा लवण ने राजसूययज्ञ का फल रूप वह क्लेश पाया, यह प्रत्यक्ष ही है । इसमें सन्देह नहीं है । मन विलक्षण–विलक्षण क्रियाओं को करता है और भोग करता है । हठयोग से मन रूप रत्न को घिसकर राजयोग से शुद्ध कर निर्विकल्प समाधि से उसको सूर्य के ताप से बर्फ के टुकड़े की नाई विलीन कर आप तत्त्व साक्षात्कार से परम श्रेय को प्राप्त होंगे । चित्त को ही सब प्राणियों के आडम्बर को करनेवाली अविद्या जानिये । विविध प्रकारकी विचित्र रचनाओं की प्रकृतिभूत इन्द्रजाल के तुल्य जो वासना है उससे अविद्या इसको उत्पन्न करती है । अविद्या, चित्त, जीव, बुद्धि शब्दों में वृक्ष और तरु शब्दों की भाँति भेद नहीं है, ऐसा जानकर चित्त को ही कल्पनाशून्य कीजिये । चित्तविमलतारूप सूर्यबिम्ब के उदित होने पर कलंकयुक्त विकल्पों से उत्पन्न हुए दोषरूपी अन्धकार का नाश हो जायेगा । यदि कोई शंका करे कि अपने चित्त का लय होने पर या अपनी अविद्या का क्षय होने पर अपने अदृष्ट उपार्जित अपनी अविद्या के कार्य की ही निवृत्ति होगी, सबके अदृष्ट से उपार्जित अविद्या के कार्य की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि अपना चित्त उनके कार्य का कारण नहीं है, इस पर सब के अदृष्ट से उपार्जित कार्य और सबके उपभोग्य सब अविद्या कार्य ही है, सर्वात्मक आत्मदर्शन से उनका दर्शन हो जाता है, सब आत्मभूत किया जाता है, सबका त्याग किया जाता है और सबका विनाश किया जाता है, इसमें तनिक भी असम्भावना नहीं करना चाहिये, इस आशय से कहते हैं : चित्त विमलतारूप सूर्य के उदित होने पर वह वस्तु नहीं है, जो न देखी जाती हो, वह वस्तु नहीं है, जो आत्मस्वरूप न की जाती हो, वह वस्तु नहीं है, जिसका परित्याग न किया जाता हो, क्योंकि वह वस्तु नहीं है जो आत्मीय न हो, वह वस्तु नहीं है जो परकीय न हो, सब आत्मीय होता है, सब परकीय होता है, सब सदा सब होता है, यह परमार्थ स्थिति है ॥८॥

इसमें मधुब्राह्मण श्रुति प्रमाण है :

'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु'(यह पृथिवी सम्पूर्ण भूतों के लिए मधु है और इस पृथिवी के लिए सब भूत मधु हैं) इत्यादि।

इसलिए समाधि के परिपाक से उत्पन्न होने वाले बोध से मन और मन के कार्यभूत प्रपंच का और अविद्या का एकरस ब्रह्मात्मभाव शेष रहता है, ऐसा पद्य द्वारा उपसंहार करते हैं।

जैसै जल में रक्खे हुए कच्चे, रंग–बिरंग के मिट्टी के बर्तन एक पिण्ड बन जाते हैं वैसे ही दृश्य पदार्थ समूह, उनको विषय करनेवाला विचित्र वृत्तिरूप बोध और उससे उपहित सब जीव एक यानी ब्रह्मैकरस हो जाते हैं ॥९॥

गुरू की उक्ति का निचोड़ अर्थ अनुवादपूर्वक दिखलाते हुए श्रीरामचन्द्रजी अपनी बुद्धि के द्वारा तर्कित उपायोंसे मन का विनाश होना सम्भव नहीं है, ऐसा समझते हुए मन के उच्छेद का दूसरा उपाय जानने के लिए गद्य से पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे महात्मन्, इस प्रकार मन का विनाश होने पर सम्पूर्ण दुःखों का विनाश हो जायेगा, आपने कहा, पर यह चित्त तो अत्यन्त चपलवृत्ति है, इसका विनाश कैसे हो सकता है ? ॥१०॥

मन के उच्छेद का उपाय कहने के लिए श्रीवसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुकुलभूषण, मन के शमन के लिए आप युक्ति सुनिये, जिसको जानकर आप अपनी इन्द्रियों के संचार के अगोचर ब्रह्ममें मनोवृत्ति धारा को प्राप्त होंगे ॥११॥

यदि श्रीरामचन्द्रजी शंका करें, जिस मन का अनादि संसार में कभी नाश हुआ ही नहीं, उसके विनाश की संभावना कैसे हो सकती है ? इस पर उसके विनाश की संभावना के लिए बीच–बीच में उसके नाश की प्रसिद्धि को और परिणामी स्वभाव होने से अन्य प्राणियों की तुल्यता को दिखलाने के लिए पूर्वोक्त सात्त्विक आदि भेद से त्रिविध जीवसृष्टि का स्मरण कराते हैं।

यहाँ पर ब्रह्म से सब भूतों की (卐) त्रिविध (सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार की) उत्पत्ति जो पहले कही है, उसका यहाँ पर स्मरण करना चाहिये ॥१२॥

अपने संकल्प की विचित्रता से ब्रह्माण्डाकार में परिणित हिरण्यगर्भ के मन का विनाश प्रलयमें प्रसिद्ध है, क्योंकि उसके कार्य भौतिक पदार्थों का विलय देखा जाता है। इसलिए वह भी नश्वर है ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार मूलकारण मन में विनाशस्वभावता का निश्चय होने पर उसके तुल्य स्वभाव होने के कारण हमारे मन में भी उक्त विनाशस्वभावता की संभावना की जा सकती है, इस आशय से कहते हैं।

卐 यद्यपि बारह प्रकार की जीवजातियाँ पहले कही गई हैं तथापि बारहों जातियों का सात्त्विक, राजस और तामस भेदों में अन्तर्भाव होने से यहाँ तीन प्रकार की कही गई हैं अथवा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक भेद से यहाँ तीन प्रकार की जीवजातियाँ कही गई हैं। उन तीनों प्रकारों की सृष्टियों का मूल कारण हिरण्यगर्भ का मन ही है। हिरण्यगर्भ के मन के संकल्पानुसार और मन भी उनके कारण हैं, ऐसा पहले कहा जा चुका है।

आद्य मन की कल्पना से चतुर्मुखाकार देहवाला मैं हूँ, इस प्रकार की जो ब्रह्मारूपिणी संकल्पमयी कल्पना है तद्रूप होकर वह जिसका संकल्प करती है, उसीको देखती है, क्योंकि वह सत्यसंकल्प है। उसीसे भुवनरूपी आडम्बर की कल्पना होती है ॥१३॥

हम लोगों का जन्म, मरण आदि संसार भी उसी की कल्पना है, ऐसा कहते हैं।

जगत् में जन्म-मरण, सुख-दुःख, मोह आदि संसार की कल्पना करती हुई, चार हजार युगवाले अपने दिनों में तत्-तत् अनुकूल रचनाओं द्वारा निर्मित देवता, असुर आदि के अनन्त नामों से भारपूर्वक स्थित होकर जैसे धूप में रक्खा हुआ बर्फ का टुकड़ा अपने कारण तेज में लीन हो जाता है, वैसे ही वह भी शेषशय्याशायी भगवान् विष्णु में स्वयं विलीन हो जाती है ॥१४॥ फिर सृष्टिकाल में भगवान के नाभिकमल से आविर्भूत होकर दूसरे कल्प की सृष्टि के रूप से पूर्व की कल्पना उत्पन्न होती है और फिर कल्पान्त में लीन हो जाती है और फिर उदित होती है। इस प्रकार जब तक अधिकारप्रापक प्रारब्ध का क्षय नहीं होता, तब तक संसार के प्रवाह में बहते हुए प्रारब्ध का क्षय होने पर स्वतः स्फुरित हुए आत्मबोध से अपने आप शांत हो जाती है ॥१५॥

इस प्रकार अन्य हिरण्यगर्भों के मन में भी नश्वरता प्रमाणसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

इस ब्रह्माण्ड में भी प्रत्येक परमाणु में करोड़ों ब्रह्माण्डों की कल्पना है, इसलिए अनन्त ब्रह्माण्डकोटियाँ और अन्य ब्रह्मण्डों में भी व्यतीत हो गई होगी और हैं, जिनकी संख्या नहीं है ॥१६॥

जैसे समष्टि मन पुरुष के प्रयत्न से होने वाले उपासना और ज्ञान से वृद्धि को प्राप्त होते हैं और शान्त होते हैं, वैसे ही व्यष्टि जीवों के मन भी जन्म-मरण के हेतु काम, कर्म, वासना और संकल्पों से बढ़ते हैं। निरोध और ज्ञानाभ्यास के प्रकर्ष से शान्त हो जाते हैं, इसलिए मनोनाश असम्भावनीय नहीं है, इस आशय से सृष्टिकाल से लेकर मोक्ष पर्यन्त जीवसृष्टि का संक्षेप और विस्तार से वर्णन करते हैं।

पूर्वोक्त समष्टि कल्पना के परमात्मा में स्थित होने पर व्यष्टि जीव जैसे परमात्मा में स्थित होने पर व्यष्टि जीव जैसे परमात्मा से आकर जीता है और मुक्त होता है, उसे सुनिये ॥१७॥

संक्षेप से सूचित अर्थ का व्याख्यान करने की इच्छावाले श्रीवसिष्ठजी पहले 'ईश्वरादागत्य'(ईश्वर से आकर) इस अंश का विवरण करते हैं।

प्रलयकाल में उपाधि का विलय होने से अव्याकृत में लीन हुए जीवों की संस्कारमात्र से अवशिष्ट मनःशक्ति-पहले अव्याकृत से शब्दतन्मात्ररूप आकाशशक्ति का आविर्भाव होने पर पहले से उत्पन्न उसी आकाशशक्ति का अवलम्बन करके स्वयं भी उदित होकर पवनशक्तिरूप स्पर्शतन्मात्र की उत्पत्ति होने पर पवन में स्थित पवनता के अनुसरण करने वाली हो- ईषत् चलनरूप घनसंकल्पता को प्राप्त होती है ॥१८॥ तदनन्तर पहले प्राप्त रूप, रस और गन्धरूप तन्मात्रा के क्रम से अपंचीभूत पंचतन्मात्रता को प्राप्त होकर मन, बुद्धि,

अहंकार, चित्तरूप व्यवहार हेतु जीवोपाधिता को प्राप्त हो पूर्वोक्त मनःशक्ति वृद्धि को प्राप्त होकर प्रकृति होती है। पंचीकृत स्थूल प्रकृति होकर पंचीकृत आकाश, वायु, तेजोरूपता के संकल्प से हिम, वृष्टि आदि जड़रूपता को प्राप्त होकर धान, गेहूँ आदि औषधियों में प्रवेश करती हुई अन्न होती है। पुरुषों द्वारा उपभुक्त होकर वीर्यरूपता को प्राप्त होकर कलल, बुद्‍बुदादि के क्रमसे प्राणियों को गर्भदशा की प्राप्ति होती है ॥१९॥ तदनन्तर उससे जीव उत्पन्न होता है। जन्म के अनन्तर कदाचित् पुण्य की अधिकता से वह कर्म और ज्ञान का अधिकारी पुरुष होता है ॥२०॥ उस पुरुष को पैदा होते ही बचपन से लेकर विद्याध्ययन करना चाहिये और तत्त्वज्ञानी गुरु का अनुगमन करना चाहिये ॥२१॥ तब क्रमशः पुरुष को तुम्हारे तुल्य विवेक, वैराग्य आदि साधन सम्पत्ति होती है। चित्तवृत्तिकी स्वच्छदृष्टि से पुरुष को संसाररूपी अनर्थ हेय है और मोक्षोपाय उपादेय है, ऐसा विचार उत्पन्न होता है ॥२२,२३॥

गद्यों द्वारा उक्त अर्थ के सारांश को पद्य से कहकर उपसंहार करते हुए उक्त प्रकार के पुरुषमें आत्यन्तिक मनोनाश की उपायभूत योगभूमिका का अवतरण करते हैं।

अन्यान्य साधनों से वृद्धि को प्राप्त हुए पूर्व विवेक से युक्त, निर्मल सत्त्वगुणमयी ब्राह्मणादि उत्तम जातिवाला मैं हूँ यों अभिमान रखनेवाले अधिकारी पुरुष के अटल होने पर परमपुरुषार्थ के लिए आगे कही जानेवाली सात प्रकार की योगभूमिका, जो कि चित्त को ज्ञान द्वारा प्रकाशमान करनेवाली है, क्रमसे (चित्त की उपरमताके तारतम्य के क्रम से) आविर्भूत होती है ॥२४॥

एक सौ सोलहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग

ज्ञानभूमि के भेदों के उपोद्‍घातरूप से सात प्रकार की अज्ञानभूमिका का प्रसंगतः वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, सिद्धि देनेवाली सात योगभूमिकाएँ कैसी हैं, हे सर्वतत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ मुनिजी, यह सब मुझसे संक्षेप में कहिए ॥१॥

श्रीरामचन्द्रजी द्वारा पूछे गये ज्ञानभूमिका के बोध के लिए उपयोगी अज्ञानभूमिका के भेद को पहले कहने की इच्छा करनेवाले श्रीवसिष्ठजी ज्ञान और अज्ञान की भूमिकाओं को अलग-अलग करके दिखाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, अज्ञानभूमिका और ज्ञानभूमिका दोनों सात प्रकार की हैं, किन्तु इन दोंनों के ही असंख्य अन्यान्यभेद होते हैं यानी गुणों की विचित्रता से ये दोनों असंख्य भेदों में विभक्त होती हैं। स्वाभाविक प्रवृत्तिरूप पुरुषप्रयत्न और भोग में राग की दृढ़तारूप रसावेश ये दोनों अज्ञानभूमिका की स्थिरता के मुख्य कारण हैं और शास्त्रों में उक्त नियम से श्रवण मननरूप पुरुषप्रयत्न तथा मुमुक्षादृढ़तारूप रसावेश (मोक्ष ही परमसुख है इस प्रकार की विवेचना से मोक्षरस का रसिक होना) ये दो ज्ञानभूमिका की स्थिरता के हेतु हैं और सबका अधिष्ठान (आधार) ब्रह्म उन दोनोंका आधार है एवं उसकी ही सत्ता से उन दोनों का अस्तित्व है। तथा उसके प्रकाश के उत्कर्ष और अपकर्ष से उक्त दोनों भूमिकाओं में

ह्रास और वृद्धि देखी जाती है एवं उन–उन कारणों से ये सब भूमिकाएँ अपने–अपने विषय से बद्धमूल होकर अपने–अपने अनुरूप संसार स्थित दुःखरूप तथा संसार से मुक्ति निरतिशयानन्द–प्राप्तिरूप उत्तम फल को उत्पन्न करती हैं। जैसे नीचे की भूमिका के सात पद उत्तरोत्तर रजोगुण, तमोगुण और दुःख से पूर्ण नरक पर्यन्त हैं तथा ऊपर की भूमिका के उत्तरोत्तर सत्त्वगुण, सुख और ज्ञान से पूर्ण सत्यलोक पर्यन्त सात पद हैं तथा क्रममुक्ति उनका फल है वैसे ही ये अज्ञानभूमिका और ज्ञानभूमिका भी हैं यह अर्थ है ॥२,३॥ उनमें से पहले आप सात प्रकार की अज्ञानभूमिका को सुनिये। तदनन्तर आप सात प्रकार की ज्ञानभूमिका को सुनेगें ॥४॥

पहले दोनों भूमिकाओं में से प्रत्येक का फलतः साधारण लक्षण कहते हैं।

स्वरूप में स्थिति मुक्ति है एवं अहन्ता की प्रतीति उसकी च्युति है ('अहं' यह बोध होने पर ही स्वरूपावस्थितिरूप मुक्ति च्युत हो जाती है इस कारण बद्ध अवस्था प्राप्त होती है) क्योंकि 'अहम्' का उदय होने पर स्वरूपस्थितिरूप मुक्ति की विस्मृति होती है। संक्षेपतः यही तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ का लक्षण है ॥५॥

उसमें पहले का लक्षण स्पष्ट करते हैं।

जो राग–द्वेष का उदय न होने से शुद्ध सन्मात्र ज्ञानरूप से विचलित नहीं होते हैं, उनमें अज्ञता की संभावना नहीं हैं ॥६॥ जो स्वरुप से भ्रष्ट होने के कारण चेत्य अर्थ में (विषय में) चिति का मग्न होना है, इससे बढ़कर मोह न तो कोई हुआ और न होगा ॥७॥ चित्त के एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में जाने पर यानी पूर्व विषय से हटकर अन्य विषय में जाने के पहले बीच में जो मननरहित स्थिति है वह स्वरूपस्थिति कही जाती है। सब प्रकार की कल्पनाओं से शून्य, जड़ता और निद्रा– इन दो अवस्थाओं से निर्मुक्त तथा शिला के मध्य के तुल्य (जैसे पत्थर का मध्य निश्चल होता है उसके सदृश) जो स्थिति है, वह स्वरूप की स्थिति कही गई है ॥८,९॥ अन्दर अहन्तांश के और बाहर भेद के विनष्ट और शान्त होने पर तथा दोनों जगह निस्पन्द होने पर स्वप्रकाश चित् का जो विकास है, वही स्वरूप है यह सिद्धान्त है। उस प्रत्यक् चैतन्य में अज्ञान का अनादि रूप से अध्यास किया गया है। इस समय उस अज्ञान की इन भूमिकाओं को आप सुनिये– बीजजाग्रत, जाग्रत, महाजाग्रत, जाग्रत्स्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजाग्रत और सुषुप्ति इस प्रकार सात तरह का मोह है। यह सात प्रकार का मोह परस्पर संश्लिष्ट होकर बहुत से नामों को धारण करता है। सात प्रकार के मोहों में से प्रत्येक का लक्षण आप सुनिये। सृष्टि के आदि में अथवा जागरण के आदि में मायाशबल चैतन्यसे प्राणधारण आदि क्रियारूप उपाधि से भविष्य में होनेवाले चित्त, जीव आदि नामशब्दों और उनके अर्थों का भाजनरूप तथा वक्ष्यमाण जाग्रत का बीजभूत जो प्रथम चेतन (चिदाभाससंवलित स्वरूप) है, वह बीजजाग्रत कहलाता है ॥१०–१४॥ यह ज्ञान की नूतन अवस्था है। अब आप जाग्रत संसार को सुनिये। नवप्रसूत बीजजाग्रत के बाद 'अयं स्थूलदेहोऽहम्' (यह स्थूल देह मैं हूँ) 'इदं देहभोग्यजातं मम' (यह देह–भोग्यसमूह मेरा है) ऐसी जो अपने में प्रतीति है, उसे ही

जाग्रत कहते हैं। यह अवस्था महाजाग्रत से विलक्षण हैं, क्योंकि इसमें पूर्व के अनुभव का अभाव है। 'यह देह मैं हूँ', 'यह भोग्य वस्तुजात मेरा है' इस जाग्रत प्रतीति के जन्म के अनन्तर उदय को प्राप्त हुआ अथवा पूर्वजन्म के सजातीय संस्कार के उद्बोधसे अच्छी तरह उदित हुआ, अतएव अभ्यास से दृढ़, अर्थात् जैसे ब्राह्मणादिजन्म में तुल्यता रहने पर भी जन्मान्तर के अभ्यास से किसी में ब्राह्मणोचित क्रियाओं में विशेष आग्रह तथा निपुणता देखी जाती है, सबमें ऐसी बात नहीं देखी जाती, अतः ऐहिक या जन्मान्तरीय दृढ़ाभ्यास से दृढ़ता को प्राप्त हुआ जो पूर्वोक्त जाग्रत्प्रत्यय है, उसीको महाजाग्रत कहते हैं।

जाग्रत्स्वप्न का लक्षण कहते हैं।

जाग्रत पुरुष का अनभ्यास से अदृढ़ अथवा दृढ़ाभ्यास से दृढ़ जो तन्मयात्मक मनोराज्य है, उसी को जाग्रत्स्वप्न कहते हैं। जैसे राजा लवण को हुआ था।

चन्द्रदर्शन, शुक्तिरूप्य आदि की भ्रान्तियाँ भी जाग्रत स्वप्न के ही भेद हैं, ऐसा कहते हैं।

दो चन्द्रमाओं का दर्शन, सीप में चाँदी की प्रतीति, मृगतृष्णा आदि भेद से अभ्यासवश आग्रहभाव को प्राप्तकर स्वप्न अनेक प्रकार का होता है।

स्वप्न का लक्षण कहते हैं।

जिसे मैंने अल्पकाल तक देखा, जो सत्य भी नहीं हैं, इस तरह की निद्रा के मध्य में अथवा निद्रा के अन्त में निद्राकाल में अनुभूत पदार्थों की जो प्रतीति है, उसे स्वप्न कहते हैं, वह स्वप्न अज्ञ पुरुष के महाजाग्रत में स्थित स्थूल शरीर के कण्ठ से लेकर हृदयपर्यन्त नाड़ी प्रदेश में होता है ॥१५–२०॥

स्वप्न के उक्त लक्षण के उपपादन के लिए पुनः स्वप्न का ही विशेषणों द्वारा वर्णन करते हैं।

चिरकाल तक दर्शन के अभाव से अविकसित महाशरीरवाला दृढ़ अभिमान या चिरकाल तक स्थायित्व की कल्पना द्वारा जाग्रद्भाव से प्ररूढ़ हुआ वह स्वप्न महाजाग्रत की तुलना को प्राप्त हुआ है, जैसे महाराज हरिश्चन्द्र का बारह वर्ष महाजाग्रत् के तुल्य हो गया था। यह देह का नाश होने पर या नाश न होने पर भी होता है। दैववश देह के नाश होने पर भी उसी तरह आगे अनुवृत्त होता है, इसलिए श्लोक में 'क्षते देहे' ऐसा कहा है।

सुषुप्ति का लक्षण कहते हैं।

पूर्व छहों अवस्थाओं का परित्याग करने पर जो जीव की जड़ अवस्था है, वह सुषुप्ति है यानी पूर्व छहों अवस्थाएँ कर्मफल की भोगभूमिरूप होने से कर्मज हैं, सुषुप्ति तो उद्भूत कर्मो का भोग से क्षय होने पर दूसरे कर्मों का अनुदय होने पर और मध्यकाल में शेष रहनेसे अज्ञानउपहित चैतन्यशेषरूपा ही है, जो जीव की जड़ावस्था है। वही जड़ावस्था होने वाले दुःखोंका अनुभव करानेवाली वासना तथा कर्मों से पूर्ण सुषुप्ति कही जाती है।

सुषुप्तिकाल में कारण में विलीन जगत् की वासनारूप से सत्ता रहती है, अन्यथा फिर इसकी उत्पत्ति कैसे होती ? इस आशय से कहते हैं :

ये तृण, ढेले, शिला आदि सब पदार्थ उस अवस्था में भी परमाणु के प्रमाण से रहते हैं।

उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने आपसे अज्ञान की ये सात अवस्थाएँ कहीं हैं ॥२१–२४॥

उनमें एक एक के अन्दर दूसरी–दूसरी का आविर्भाव होने से परस्परसंमिश्रण से अनन्त भेद होते हैं, ऐसा कहतें हैं।

इनमें नाना विभववाली एक एक की सैंकड़ों शाखाएँ हैं। चिरकाल तक बद्धमूल हुई जाग्रत्स्वप्नावस्था जाग्रदवस्था में ही मिलती है। उक्त अवस्था नाना पदार्थों के भेद से खूब विकास के साथ वृद्धि को प्राप्त होती है। इस जाग्रदवस्था को प्राप्त हुई जाग्रत्स्वप्न अवस्था के भी अन्दर महाजाग्रत्दशारूप प्रतीतियाँ पृथक्–पृथक् हैं। उनके भी अन्दर जैसे नदी के भीतर गिरनेवाले जलभँवर में नौका भ्रमण को प्राप्त होती है यानी चक्कर काटती है, वैसे ही जीव एक मोह से दूसरे मोह को प्राप्त होते हैं ॥२५–२७॥ कोई सृष्टियाँ दीर्घकाल तक स्वप्न–जाग्रत् रूपसे स्थित हैं, कोईं सृष्टियाँ स्वप्न जाग्रत् हैं और अन्य जाग्रत स्वप्न हैं ॥२८॥

यों वर्णित अज्ञानभूमिका का उपसंहार कर रहे श्रीवसिष्ठजी उससे उतरने का उपाय कहते हैं।

इस प्रकार सात प्रकार की अज्ञानभूमिका का मैंने वर्णन किया। यह अज्ञानभूमिका विविध विकारों से तथा अन्यान्य जगतों के भेदों से अवश्य त्याज्य है। पूर्व में कही गई एवं आगे कही जानेवाली सुन्दर विचारणाओं से प्रत्यंगमात्र एकरस आत्मा का दर्शन होने पर इस अविद्याभूमिका से आप अवश्य बाहर निकल जायेंगे ॥२९॥

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अट्ठारहवाँ सर्ग

मोक्षपर्यन्त सात प्रकार की ज्ञानभूमिका का अपने–अपने लक्षणों के साथ भलीभाँति वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, सात प्रकार की इस ज्ञानभूमिका को आप सुनिये। अभ्यास क्रमसे अनुभव में आई हुई इस ज्ञानभूमिका से फिर आप अज्ञानरूपी कीचड़ में नहीं फँसेंगे ॥१॥

यदि कोई शंका करे कि योगशास्त्र में यम, नियम आदि आठ अंगों के भेदों से भिन्न जो योगभूमिकाएँ प्रसिद्ध है क्या वे ही तो ये नहीं है ? इस पर कहते हैं, वे ये नहीं हैं।

योग–सांख्यवादी बहुत भेदों से युक्त योगभूमिकाओं को कहते हैं, उन योग भूमिकाओं का फल तुच्छ सिद्धि है। वे औरों को अभीष्ट हैं। मुझे तो ये ज्ञानभूमिकाएँ ही अभीष्ट हैं, क्योंकि ये परम पुरुषार्थरूप कल्याण देनेवाली हैं ॥२॥

ज्ञेय क्या है अथवा ज्ञान क्या है ? जिसकी भूमिकाओं का आप वर्णन करते हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर उसका लक्षण कहते हैं।

अखण्डाकार चित्तवृत्ति में आरूढ़ ब्रह्म अज्ञान का निवर्तक होने से ज्ञान कहा जाता है,

उक्त ज्ञान सात भूमिकावाला है। अज्ञान की निवृत्ति होने पर उसी ब्रह्म का औपचारिक नाम ज्ञेय या मुक्ति है, इस प्रकार उपचार से एक ही ब्रह्म दो प्रकार का कहलाता है। ज्ञेय या मुक्ति नाम की स्वस्थ अवस्था तो सात भूमिकाओं के अनन्तर प्रतिष्ठित है ॥३॥

पूर्वापर अवस्थाओं से कल्पित अवान्तर प्रवृत्ति निमित्तभूत भेद के, जो कि मिथ्याभूत है, नष्ट होने पर अवबोध और मोक्ष पदों की ब्रह्मरूप एकार्थमात्र में निष्ठा होने से पर्यायरूपता सिद्ध हुई, क्योंकि उक्त प्रकार का जीव फिर उत्पन्न नहीं होता, जिससे कि उन दोनों में भेद होने से पर्यायता न हो, इस आशय से कहते हैं।

सत्यावबोध और मोक्ष ये दोनों ही पर्यायवाचक शब्द हैं, क्योंकि जिस जीव को सत्य अवबोध हो जाता है, उसे फिर इस संसार में जन्म लेना नहीं पड़ता इससे सिद्ध हुआ कि जो सत्यावबोध है, वही मोक्ष है ॥४॥ पहली ज्ञानभूमिका शुभेच्छा कही गई है, दूसरी का नाम विचारणा है, तीसरी तनुमानसा कही जाती है, चौथी सत्त्वापत्ति है, उसके बाद पाँचवी असंसक्ति नाम की योगभूमिका है, छठी पदार्थाभावनी है एवं सातवीं तुर्यगा कहलाती है। मुक्त मन के अन्त में स्थित है। उसमें फिर शोक नहीं होता। हे श्रीरामचन्द्रजी, इन सात भूमिकाओं के पृथक्–पृथक् लक्षणों को आप सुनिये ॥५–७॥ मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित हूँ, विचारित वेदान्तवाक्यों से और गुरुजनों से परमतत्त्व को देखूँगा, इस प्रकार की साधन चतुष्टय सम्पत्तिपूर्वक जो इच्छा है, उसे विद्वान् लोग शुभेच्छा कहते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि निषिद्ध कृत्यों के त्याग, निष्काम दान आदि के अनुष्ठान से उत्पन्न, संन्यास–साधनचतुष्टयसम्पत्ति से युक्त मुक्तिपर्यन्त रहनेवाली, श्रवण आदि में प्रवृत्ति के फलरूप आत्म–साक्षात्कारकी उत्कट इच्छा ही पहली भूमिका है ॥८॥ शास्त्राभ्यास, गुरुओं के साथ संसर्ग, वैराग्य और अभ्यासपूर्वक जो प्रवृत्ति (卐) है, वह विचारणा नाम की ज्ञानभूमिका है ॥९॥ विचारणा और शुभेच्छा से साधन चतुष्टय सम्पत्तिपूर्वक किये गये श्रवण और मननसे युक्त निदिध्यासन से मन की शब्द आदि विषयों में असक्ततारूप जो तनुता (सविकल्प समाधिरूप सूक्ष्मता) है, वह तनुमानसा नामक भूमिका कही गई है। उक्त भूमिका में मन अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है, इसलिए वह तनुमानसा कही गई है ॥१०॥

योगशास्त्र में भी कहा गया है :

श्रोत्रादिकरणैर्यावच्छब्दादिविषयग्रहः। तावद्ध्यानमितिप्रोक्तं समाधिः स्यात्ततः परः ॥

अर्थात् जब तक श्रोत्र आदि इन्द्रियों द्वारा शब्द आदि विषयों का ग्रहण होता है तब तक ध्यान कहलाता है, तदनन्तर यानी श्रोत्र आदि इन्द्रियों से शब्द आदि विषयों का ग्रहण न होने पर समाधि होती है।

शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानसा – इन तीन भूमिकाओं के अभ्यास से बाह्य विषयोंमें संस्कार न रहने के कारण चित्त में अत्यन्त विरक्ति होने से माया, माया के कार्य और तीन

卐 गुरुसेवा, भिक्षान्नभोजन, शौच आदि यतिधर्मपालनसहित श्रवण मनन ही यहाँ पर सदाचार है, अन्य सदाचार चित्तशुद्धिमात्र का हेतु है अतः वह पहले ही सिद्ध है।

अवस्थाओं से शोधित, सबके आधार, सन्मात्ररूप आत्मा में क्षीर में जलके तुल्य ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेयभाव के विनाश से साक्षात्कारपर्यन्त जो स्थिति यानी निर्विकल्प समाधिरूपा स्थिति है, वह सत्त्वापत्ति है, क्योंकि उसमें मन परमात्मसत्त्व रूप से स्थित हो जाता है। इस भूमिका में जीव ब्रह्मवित् कहा जाता है ॥११॥ शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति इन चार ज्ञानभूमिकाओं के अभ्यास से बाह्य और आभ्यन्तर विषयाकारों से और उनके संस्कारों से असम्बन्धरूप समाधिपरिपाक से चित्त में वृद्धि को प्राप्त हुआ निरतिशयानन्द, नित्य अपरोक्ष, ब्रह्मात्मभावसाक्षात्कार रूप चमत्कार जिसमें उत्पन्न हुआ है, ऐसी पाँचवीं ज्ञानभूमिका असंसक्ति नाम की कही गई है। यद्यपि उत्तम अधिकारियों को द्वितीय भूमिका में भी शब्दजन्य अपरोक्षज्ञान से साक्षात्कार होना प्रसिद्ध है तथापि पाँचवीं भूमिका में द्वैत संस्कार के अत्यन्त उच्छेद से उत्पन्न अत्यन्त उत्कर्ष का और चतुर्थ भूमिका के अन्तमें उत्पन्न साक्षात्कार की पाँचवीं भूमिका में दृढ़तरता की उपपत्ति का सूचन करने के लिए 'रूढ़' चमत्कार का विशेषण है। अतएव चौथी भूमिका के अन्त में कहीं पर पाँचवीं भूमिका को प्राप्त हुआ पुरूष ब्रह्मविचार कहलाता है। इस ज्ञानभूमिका में अविद्या और अविद्या के कार्यों का संसर्ग बिलकुल नहीं रहता, अतएव यह असंसक्ति नाम की भूमिका कही जाती है ॥१२॥

इसी भूमिका के अत्यन्त परिपाक से आगे की दो भूमिकाएँ होती है, इस आशय से कहते हैं।

पाँच भूमिकाओं के अभ्यास से आत्मारामरूप से दृढ़ स्थिति होती है। बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों की भावना न होने से यह भूमिका पदार्थाभावनी कहलाती है ॥१३॥

यदि इस भूमिका में पदार्थों की भावना नहीं होती है, तो देहयात्रा कैसे सम्पन्न होगी ? इस पर कहते हैं।

चिरकाल तक दूसरे के द्वारा किये गये प्रयत्न से इसमें अर्थों की प्रतीति होती है, इसलिए पदार्थाभावनानामक यह छठी भूमिका कही जाती है। इस भूमिका में स्थित पुरुष ब्रह्मविद्वरीयान् कहलाता है। पूर्वोक्त छः भूमिकाओं का बहुत दिनों तक अभ्यास होने से दूसरे के प्रयत्न से भी भेद की प्रतीति न होने से जो एकमात्र स्वरूप में स्थिति है उसे तुर्यगा नामकी गति यानी ज्ञानभूमिका जानिये। 'तुर्यं जाग्रदाद्यवस्थात्रयनिर्मुक्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' (जाग्रद् आदि तीन अवस्थाओं से रहित शिव, अद्वैत, चौथा तुर्य माना गया है) इस श्रुति से उस प्रकार के विद्वान् के अनुभव से सिद्ध ब्रह्म को प्राप्त होता है यानी जिस अवस्था में आत्मरूप से अखण्ड ब्रह्म का अनुभव करता है, वह तुर्यगा अवस्था है उसको जो प्राप्त हो चुका, वह ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहा जाता है। उक्त ब्रह्मविद्वरिष्ठ ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर और ब्रह्मविद्वरीयान् में चौथा है। उसे यह अवस्था प्राप्त होती है, इसलिए यह तुर्यगा कहलाती है। यह तुर्यावस्था जीवनमुक्त पुरुषों में इसी देह में विद्यमान रहती है। इस अवस्था के बाद विदेहमुक्ति का विषय तुर्यातीत ब्रह्म ही है, अतः भूमिकाओं में उसकी गणना नहीं की जाती ॥१४-१६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जो महापुरुष सातवीं भूमिका को

प्राप्त हो गये हैं, वे आत्माराम और महात्मा परम महत् पद को प्राप्त हो चुके हैं ॥१७॥ जीवन्मुक्त पुरुष सुख–दुःख में निमग्न नहीं होते। केवल देहयात्राके लिए छठी और सातवीं भूमिकाओं में कुछ कार्य करते भी हैं अथवा नहीं भी करते ॥१८॥

करते हैं या नहीं भी करते, इस कथन से किसी को उनके यथेष्टाचार की शंका न हो जाय, इसलिए यथेष्टाचार की शंका का खण्डन करते हुए अपना अभिप्राय प्रकट करते हैं।

पूर्वोक्त महात्मा पास में स्थित पुरुषसे बोधित होकर तत्–तत् आश्रमों में स्थित पुरुषों के आचारक्रम से प्राप्त हुए सदाचार का ही आचरण करते है, जो कि फल की आसक्ति से दूषित नहीं रहता है। तात्पर्य यह निकला कि उक्तपुरुषों की यथेष्टाचार में आसक्ति नहीं हो सकी। कहा भी है : 'विदितब्रह्मतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि। शुनां तत्त्वविदां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे॥ (यदि तत्त्वज्ञानियों की यथेष्टाचार में प्रवृत्ति हो, तो कुत्तों और तत्त्वज्ञानियों के अपवित्र पदार्थ के भक्षण में कौन भेद होगा ?) ॥१९॥

आसक्तिरहित व्यवहार से पुरुष को सुख–दुःख की प्राप्ति नहीं होती, इसको दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

अपने आत्मा में रमण करने के कारण जगत् के व्यवहार जीवन्मुक्तों को ऐसे ही सुख नहीं देते, जैसे कि गाढ़ निद्रा में सोये हुए पुरुषों को अत्यन्त सुन्दर रूपवाली स्त्रियाँ सुख नहीं देती हैं ॥२०॥ ये सात ज्ञानभूमिकाएँ विद्वानों को ही प्राप्त होती हैं। पशु, स्थावरादि अथवा म्लेच्छादिचित्तवाले (देहमें आत्मबुद्धि करनेवाले) मनुष्यों को नहीं प्राप्त होती ॥२१॥ जो पशु (हनुमान् आदि), म्लेच्छ (धर्मव्याध आदि) (प्रह्लाद, कर्कटी आदि असुर) भी इस ज्ञानदशा को प्राप्त हुए हैं, वे भी सदेह अथवा विदेह मुक्त ही हैं, इसमें संदेह नहीं है। चित् और अचित् की ग्रन्थि का विच्छेद ही ज्ञान है। उसके प्राप्त होने पर मुक्ति हो जाती है, क्योंकि मृगतृष्णा में जलबुद्धि, शुक्ति में रजतबुद्धि का जो बाध है, तद्रूप ही वह है ॥२२–२३॥ जो लोग यद्यपि दूसरी–तीसरी भूमिकाओं में या चौथी भूमिका में ज्ञान का उदय होने से आवरण का नाश होने पर मोह से भलीभाँति पार हो गये, तथापि प्रबल प्रारब्धप्रयुक्त विक्षेप के कारण परमपावन पद को प्राप्त नहीं हुए यानी आत्यन्तिक मोहनाश से उपलक्षित, निरतिशयानन्द, पूर्णरूप, विदेह कैवल्य को प्राप्त नहीं हुए, आत्मप्राप्ति में संलग्न वे लोग इन भूमिकाओं में स्थित हैं ॥२४॥ एक ही जन्म में कुछ लोग क्रमशः सब भूमिकाओं को प्राप्त होते हैं, कोई दो या एक भूमिका को प्राप्त होते हैं, कोई (सनकादि) एकमात्र सातवीं भूमिका में स्थित रहते हैं, कोई तीन भूमिकाओं में स्थित रहते हैं, कोई अन्तिम भूमिका में चले जाते हैं कोई चार भूमिकाओं को प्राप्त होते हैं, कोई दो भूमिकाओं में स्थित रहते हैं, कोई लोग ज्ञानभूमिका के किसी एक हिस्से (आधा, तिहाई या चौथाई) तक रह जाते हैं, कोई साढ़े तीन भूमिकाओं तक पहुँचते हैं, कोई साढ़े चार, दूसरे साढ़े छः भूमिकाओं को प्राप्त होते हैं। पूर्वोक्त ज्ञानभूमिकाओं में विचर रहे विवेकी पुरुष भूमात्मा के दर्शन से बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियाँ, उनके विषय और उनके आधारभूत शरीर के होनेवाले आध्यात्मिक आदि भेदों से भिन्न ताप के बाधरूप आत्मा के अन्तःप्रवेश में

उद्योगशील हैं ॥२५–२८॥

इन्द्रियों के साथ मन पर विजय पाना ही सब शत्रुओं की जयों से उत्कृष्ट जय है, स्वात्मसाम्राज्य ही सब राज्योंसे बढ़कर राज्य है, अन्य राज्यश्रेष्ठ नहीं है, ऐसा कहते हैं।

वे लोग बड़े धीर उत्तम राजा हैं, जो इन दशाओं में सर्वोत्कर्षरूप से स्थित हैं। इन दशाओं में स्थिति के आगे दिग्गजों की घटाओं के सहित सब शत्रुयोद्धाओं की पराजय तृण के तुल्य नगण्य है ॥२९॥ इन भूमिकाओं में जिनकी जीत होती है यानी उत्कृष्ट स्थान होता है वे निश्चय ही महात्मा हैं, वे ही वन्दनीय है उन्होंने इन्द्रियरूपी शत्रुओं पर विजय पाई है। जिसने राजसूय यज्ञ किया, जो अकेला ही सारी पृथिवी का अधिपति है, राजाओं पर शासन करता है, वह सम्राट यानी 'युवा स्यात् साधु युवाद्यापकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।' (अवस्था में युवा, केबल युवा ही नहीं रोगादिविहीन युवा, शास्त्रवेत्ता, उत्तम शास्त्रोपदेशक, दृढ़देहवाला और बलवान् हो एवं धन से पूर्ण समस्त पृथिवी यदि उसके आधीन हो उसका जो आनन्द है वही मनुष्य के पक्ष में एक पूर्ण आनन्द है।) इस श्रुति द्वारा कहे मानुष आनन्द से पूर्ण और विराट भी यानी देवानन्द की परम अवधि भी जिस सप्तम भूमिका में तृणतुल्य तुच्छ हो जाती हैं उससे बढ़कर विदेह कैवल्य सुख को यहीं पर वे प्राप्त होते हैं ॥३०॥

एक सौ अट्ठारहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग

मायिक रूप का निराकरण कर एकमात्र सन्मात्रत्व का प्रदर्शन और
भूमिकाओं में स्थिर करने के लिए युक्ति के विस्तार से वर्णन।

उसके लिए परमात्मा को सहज स्वकीय पूर्णानन्द स्वप्रकाशरूपता का विस्मरण होने पर मायिक जीवभाव और जगत्भाव के आरोप से विविध दुःख, शोक आदि की प्राप्ति होने में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे सुवर्ण सब जगह सब कालों मे एकमात्र सुवर्णस्वभाव है लेशमात्र भी उसमें सुवर्णशून्यता नहीं है, फिर भी वह अपने में कल्पित अँगूठी की भ्रान्ति से अपनी सुवर्णरसता को (एकमात्रसुवर्णरूप को) न देखकर बाहरी मन के संसर्ग से होनेवाली कांस्यता की कल्पना से 'मैं सोना नहीं हूँ' यों रोता है (यद्यपि जड़ सुवर्ण का रोदन सम्भव नहीं है तथापि 'अँगूठी' शब्द के व्यवहार से अथवा स्वामी के रोदन से सुवर्णरोदन का व्यवहार होता है) वैसे ही आत्मा भी अहन्ता से रोता है ॥१॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिजी, सुवर्ण में अँगूठी की भ्रान्ति का उदय कैसे होता है और आत्मा में अहन्ता कैसे होती है ? दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक इन दोनों को आप युक्ति द्वारा स्पष्टरूप से कहने की कृपा कीजिये ॥२॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सत् के उत्पत्ति और विनाश स्वतःसिद्ध द्रष्टा द्वारा देखे जा सकतें है असत् के उत्पत्ति और विनाश कदापि नहीं, इसलिए सत् के ही

उत्पत्ति और विनाश को आपको पूछने चाहिये ॥३॥

अहन्ता और अँगूठीपना कभी भी सत् नहीं है, इसलिए उनके उत्पत्ति और नाश भी नहीं हो सकते। जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति– इन छः भावविकारों में बीच के चार सत् के ही होते हैं असत् के नहीं। वैसे ही उत्पत्ति और विनाश भी सत् के ही होते है, असत् में शक्ति ही कहाँ है कि वह उत्पत्ति क्रिया का और नाश क्रिया का आधार बने। यदि असत् के उत्पति और नाश हों, तो असत् के धर्म उत्पत्ति और विनाश भी असत् हो जायेंगे। ऐसी अवस्था में वे देखे नहीं जा सकते, क्योंकि सत् का असत् से सम्बध नहीं हो सकता, इसलिए सत् ही सुवर्ण अथवा ब्रह्म अँगूठी या अहन्तादि के वेष से उत्पन्न होता है, यह भाव है।

त्याग और ग्रहण आदि क्रिया का सम्बन्ध भी सत् का ही देखा जाता है, असत् का नहीं देखा जाता, ऐसा कहते हैं।

यदि तुम्हें सुवर्ण लेना हो, तो तुम मूल्य देकर सुवर्ण के लिए अँगूठी लो। इस प्रकार मध्यस्थ पुरुष द्वारा कहे गये खरीदने वाले पुरुष के मूल्य देने पर बेचनेवाला पुरुष बहुत मूल्य से जो सुवर्ण देता है वह सत्य ही है, इसमें कोई संशय नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म ही सम्पूर्ण व्यवहारों का विषय है। उससे अन्य का तनिक भी व्यवहार में निरूपण नहीं किया जा सकता, यह भाव है ॥४॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, यदि सुवर्ण ही खरीदना, बेचना आदि सम्पूर्ण व्यवहारों का विषय है, तो उसमें प्रतीत हो रहे अँगूठी आदि के आकार का सुवर्ण से अतिरिक्त क्या स्वरूप होगा और वह किस प्रकार होगा, जो कि अँगूठी आदि शब्दों से कहा जाता है। इसके निश्चय से मैं ब्रह्म के स्वरूप को जान जाऊँगा ॥५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, असत् के रूपरहित रूप का यदि निरूपण किया जाता है, तो उसे आप बाँझ के लड़के के आकार और गुणों का निरूपण कहिये। भाव यह है कि सुवर्ण में जो अँगूठीयकत्व है वह अविचार से ही है, विचार करने पर तो वह कुछ भी नहीं है ॥६॥

अँगूठीपना जो है वह केवल भ्रान्ति है वह असत्स्वरूपिणी माया है।

यदि असत् का रूप कहा जाय तो वह अविचार समय तक रहनेवाली माया का रूप ही है, ऐसा कहते हैं।

यदि उसको विचारकर देखा जाय, तो वह नहीं दिखाई देती यानी तुच्छ हो जाती है। इसलिए वह इस माया का ही रूप है ॥७॥

ऐसी ही प्रसिद्धि दूसरे माया कार्य में दिखलाते हैं।

मृगतृष्णा के जल में और दो चन्द्रमाओं के भ्रम में और अहन्ता आदि में यही रूप है, जो कि विचार करने पर दृष्टिगोचर नहीं होता ॥८॥ जो पुरुष सीप में चाँदी से आकार को देखता है, वह चाँदी के अणुमात्र कण को एक क्षण के लिए भी कहीं पर नहीं प्राप्त करता है। जैसे सीप में चाँदीपना और जैसे मरुभूमि में जल अविचार से ही प्रतीत होता है, वैसे ही असद्वस्तु ही अविचार से सत्–सी प्रतीत होती है ॥९,१०॥ जो वस्तु नहीं है, उसकी असत्ता विचार करने पर प्रकाशित होती है। यदि विचार न किया जाय, तो मृगतृष्णा में जलबुद्धि की तरह वह

स्फुरित होती है जैसे कि सीप में रजतभाव का दर्शन होता है। यदि सीप का दर्शन न हो, तो वह रजतरूप में प्रतीत होती है। असत् ही सत्कार्य करनेवाला और स्थिर होता है ॥११॥

यदि कोई शंका करे, असद् वस्तु की सत्कार्यकारिता और स्थिरता कहाँ देखी गई है ? तो इस पर कहते हैं।

वेताल की भ्रान्ति से उत्पन्न हुआ भय, रोदन आदि बालकों के मरण के लिए होता है ॥१२॥ जैसे बालू में तेल आदि नहीं है वैसे ही सुवर्ण में केवल सुवर्णता को छोड़कर अन्य अंगूठीयकत्व, कटकत्व आदि नहीं है। यहाँ पर न तो कुछ सत्य है और न मिथ्या है यानी सत्य ही अर्थक्रियाकारी है अथवा मिथ्या ही अर्थक्रियाकारी है, यह कोई नियम नहीं है। जो वस्तु अधिष्ठानसत्ता में जैसे प्रतिभासित होती है वैसे ही वह अर्थक्रियाकारी होती है। जैसे कि बालक को असत् यक्ष के दर्शन आदि से विकार आदि होते हैं ॥१३,१४॥ सद्वस्तु हो चाहे असद्वस्तु हो, जो हृदय में सुदृढ़रूप से जम गई, वही अर्थक्रियाकारी होती है। जैसे कि यह अमृत है, इस प्रकार विश्वास होने पर विषसे भी अमृतकार्य होते हैं ॥१५॥ यह परम अविद्या है, यही माया है और यही संसार है, जो कि प्रतिष्ठारहित असत् अहन्त्व की भावना होती है। जैसे सुवर्ण में अंगूठीयकत्व आदि नहीं हैं वैसे आत्मा में अहन्त्व आदि नहीं है। इस प्रकार स्वच्छ, शान्त, बन्धन आदिसे रहित परमात्मा में अहन्ता असत् ही है, परमार्थ वस्तु नहीं है ॥१६,१७॥

ब्रह्म से अतिरिक्त सब अवस्तु है यह बात 'अथातो नेति नेति', 'स एष नेति नेत्यात्मा', 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनन्तरमबाह्मम्', 'नेह नानास्ति किंचन', 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' इत्यादि द्वैत का निषेध कहनेवाली हजारों श्रुतियों से सिद्ध है, इस आशय से कहते हैं।

कालातीत परमात्मा में सर्वकाल सम्बन्ध रूप न सनातनता है, न कोई विरंचिता है, न कोई ब्रह्मण्डता है, न कोई प्रजापतिता है, न कोई अन्यलोकता है, न कहीं पर स्वर्गादिता है, न मेरुता है, न असुरता है, न मनस्त्व है, न देहता है, न कोई महाभूतता है, न कहीं कारणता है, न भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालों की कल्पना है, न भाव वस्तु है, न अभाव वस्तु है, त्वत्ता, अहन्ता, आत्मता, तत्ता, सत्ता, असत्ता कोई भी नहीं है, न कहीं पर भेद की कल्पना है, न राग है और न राग का कार्य रंजन ही है ॥१८–२१॥ सब जगत् का पारमार्थिक रूप शान्त यानी अधिष्ठानसन्मात्र, निराधार, अविनाशी, कल्याणमय, दोष आदि से रहित, इन्द्रियों से अग्राह्य, नामरहित, कारण रहित ब्रह्म ही है। वह न तो उत्पत्ति रूप भावविकार से युक्त है, न नाशनामक भावविकारवाला है, न मध्य के भावविकारों से युक्त है और न सब है, सर्वरूप भी वही है। मन वचन से उसका ग्रहण नहीं होता। वह शून्य से भी शून्य और सुखसे भी बढ़कर सुख है ॥२२,२३॥

इस प्रकार निष्प्रपंच पारमार्थिक एकरस ब्रह्म का बोध कराने पर भी उसमें चित्त्वृत्तिको स्थिर करने की शक्ति न होने से उससे लौटकर फिर विपरीत भावना से कातर हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यद्यपि मैंने इस समय सर्वत्र शम, सर्वरूप ब्रह्म को जान लिया है तथापि फिर मुझे यह सृष्टि क्यों दिखाई दे रही है, इसे आप कृपा कर बतलाइये। भाव यह है कि ज्ञान से अज्ञान का नाश होने पर अज्ञानमूलक जगत् का भी बाध हो गया, इसलिए फिर जगत् की प्रतीति युक्त नहीं है ॥२४॥

यदि आपको तत्त्व ज्ञात हो गया, तो फिर जो यह जगत् की प्रतीति है वह ब्रह्ममान ही है। निमित्त भूत अज्ञान का नाश होने से ही जगत्भेद और सृष्टि नाम का नाश हो गया, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी परिहार करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, परम तत्त्व सर्वोत्कृष्ट शान्त स्वस्वभाव में ही स्थित है उससे च्युत नहीं है। इस प्रकार पूर्णात्मभाव होने से सृष्टि और सृष्टि का नाम इदन्ता से इस ब्रह्म में कभी नहीं हैं, किन्तु स्वस्वभाव से ही हैं ॥२५॥ महार्णव के जल में जल के तुल्य परमेश्वर में यह सृष्टि स्थित है। भेद इतना ही है कि जल द्रव होने से चलनशील-सा है और ब्रह्म निष्क्रिय है ॥२६॥ सूर्य आदि की ज्योति के तुल्य वह स्वप्रकाश है भेद इतना ही है कि सूर्य आदि की ज्योति अपने में दीप्त होती है, किन्तु परमपद दीप्ति क्रिया को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि दीप्ति क्रिया सूर्य आदि का स्वभाव है, परमपद को तो लोग निष्क्रिय कहते हैं ॥२७॥ जैसे नीचे-ऊपर छोड़कर समुद्र के मध्य में जल ही जल रहता है वैसे ही चित् होने से परम पद वह परम ही नाना रूप से स्फुरित होता है ॥२८॥ आपका बोध परिपक्व नहीं है, इसलिए आपकी दृष्टि में चिद्रूप परमतत्त्व मानों चेत्यता को प्राप्त होता है और सृष्टिरूप से उसकी प्रतीति होती है। वह सृष्टि ही ज्ञान का परिपाक होने पर अविनाशी ब्रह्म स्वरूप हो जाती है। कारण कि उस समय अज्ञानियों द्वारा देखा गया यह भेद ऐसे ही बिलकुल नहीं रहता जैसे कि आकाश का दूसरा आकाश नहीं है, यदि आकाश का दूसरा आकाश माना जाय, तो अनवस्था हो जायेगी एवं परमार्थ का दूसरा परमार्थ नहीं है, इसलिए सर्गशब्द ब्रह्म का ही नाम है, ऐसा विद्वानों का निश्चय है ॥२९,३०॥

चित्त के आत्यन्तिक विनाश का अभाव ही आपके पुनः सृष्टिदर्शन में हेतु है, इस आशय से कहते हैं।

अत्यन्त शान्त परमपद में चित्त से ही सर्ग की प्राप्ति होती है और चित्त के अभाव से ही सर्ग का नाश होता है। जैसे कि सुवर्ण में कटक, कुण्डल आदि का भ्रम होता है। चित्त की शान्ति का उदय होने पर विद्यमान सृष्टि भी असत् हो जाती है और चित्त का उदय होने पर असत् सृष्टि भी अपने-आप सत्ता को प्राप्त हो जाती है। अभिमानयुक्त चित्त ही सृष्टिभ्रमण रूप भ्रान्ति है और चित्त अभाव को ही सर्वतः शान्त परमपद जानिये, वह परमपद जड़ नहीं है ॥३१-३३॥

ज्ञानियों को भी व्युत्थानदशा में चित्तभास का उदय होने पर सर्गभान कैसे होता है ? इस पर कहते हैं।

तत्त्वदृष्टि से भेदरहित सृष्टि भी प्रातिभासिक भेद से भिन्न सी ऐसे प्रतीत होती है

जैसे शिल्पियों की मिट्टी की बनी हुई पुरुषाकार सेना युद्धादि पुरुषार्थ करनेवाली सी प्रतीत होती है ॥३४॥

परमार्थिक दृष्टि होने पर तो यह जगत् पूर्ण ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है, इस पर 'पूर्णमिदं पूर्णमदः पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाऽवशिष्यते' इस श्रुति को अर्थतः दिखलाते हैं।

यह पूर्ण उत्पत्तिरहित, नाशशून्य अतएव अन्य विकाररूपी दोषोंसे रहित है, क्योंकि पूर्ण परमात्मा ही चारों ओर की व्याप्तियों से पूर्ण है। इसलिए पूर्ण होकर पूर्ण ही सदा बना रहता है, अणुमात्र भी अपूर्णता को प्राप्त नहीं होता। जो यह सृष्टि दिखाई देती है, वह ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है । जैसे आकाश आकाश में विश्रान्त है वैसे ही शान्त शिव में शान्त शिव स्थित है ॥३५,३६॥ दर्पण में प्रतिबिम्बरूप से स्थित नौ योजनवाले दीर्घ नगर में जैसे दूरता और समीपता दोनों हैं, वैसे ही ईश्वर में दूरता और समीपता का क्रम है ॥३७॥ इस प्रकार सत् का ही असत् विश्व के आकार से भान होनेसे तत्त्वदृष्टि से सत् ही उदित हुआ है और अतत्त्व दृष्टि से असत् ही उदित हुआ है, क्योंकि अभेद का भान होने से वह सत् की तरह प्रतीत होता है और भेद का दर्शन होने पर वह अवस्तु होने से असन्मय हो जाता है ॥३८॥ यह सृष्टि दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर के तुल्य है और मृगतृष्णा के जल के समान प्रकाशमान है तथा दो चन्द्रमाओं के भ्रम के सदृश प्रतीत होती है, इसलिए इस सृष्टि में कौन–सी सत्यता है ॥३९॥ जैसे ऐन्द्रजालिक पुरुषों द्वारा दूसरे को मोह में डालने के लिए अभिमन्त्रित औषधि के चूर्ण के उड़ाने से आकाश में नगर भ्रान्ति हो जाती है वैसे ही ज्ञानरूप ब्रह्म में संसार सत्य और मिथ्या भासित होता है यानी अधिष्ठान–सत्ता से सत्य और स्वतन्त्ररूप से असत् भासता है ॥४०॥

जब तक वासना के सहित अविद्या का विनाश सप्तम भूमिकारोहण पर्यन्त नहीं हुआ, तब तक विक्षेपदुःख तत्त्वज्ञ लोगों को भी प्रतीत होता है। इसलिए जीवन्मुक्ति सुख को चाहनेवाले लोगों को भूमिका का अभ्यास करना चाहिए, इस आशयसे उपसंहार करते हैं।

जब तक विचाररूपी अग्नि से अविद्यारूपी पुरानी लता समूल नहीं जली, तब तक वह बहुत सी शाखाओं और लताओं के प्रतानों से व्याप्त सुख–दुःख रूपी विविध वनों को उत्पन्न करती है ॥४१॥

एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बीसवाँ सर्ग

राजा लवण का विन्ध्यस्थित पूर्वदृष्टि शबरों के गाँव में फिर जाकर चण्डाली सास के साथ संवाद।

सुवर्ण की अँगूठी के दृष्टि से वर्णित जगत् की ब्रह्मविवर्तता उसकी परीक्षा कर चुके लवण के अनुभव से सिद्ध है। आपको भी विचार करके जगत् की ब्रह्मविवर्तता का प्रत्यक्ष करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, सुवर्ण में कल्पित अँगूठी के तुल्य मिथ्या कही

गई अविद्या की विचारमात्र से क्षयोन्मुख आश्चर्यभूतता कैसी है, इसे आप सुनिये। राजा लवण, जिसका पहले वर्णन कर चुके हैं, वैसे भ्रम को उस समय देख कर दूसरे दिन उस महाअरण्य में जाने के लिए तत्पर हुए ॥१,२॥ जिस महावन में मैंने दुःख देखा, चित्त रूपी दर्पण में स्थित उस महावन का मैं स्मरण करता हूँ। विन्ध्य में शायद वह कहीं मुझे मिल जाय ॥३॥ यों विचार कर राजा मन्त्रियों के साथ दक्षिण दिशा को गये। पुनःदिग्विजय के लिए मानों विन्ध्यपर्वत को प्राप्त कर राजा लवण ने जैसे सूर्य सम्पूर्ण आकाश मार्ग में भ्रमण करते हैं वैसे ही पूर्व, दक्षिण और पश्चिम महासमुद्रों की तटभूमियों में कौतूहल से भ्रमण किया ॥४,५॥ इसके अनन्तर एक प्रदेश में आगे आई हुई चिन्ता के समान उस उत्कट महावन को परलोकभूमि के समान राजा ने देखा ॥६॥ वहाँ पर विचर रहे राजा ने पहले अनुभूत वे सब वृत्तान्त देखे, पूछे और पहचाने एवं राजा के आश्चर्य की सीमा न रही ॥७॥ कौतूहल से भरे हुए राजा लवण ने उन व्याधों को और चण्डालों को पहचाना तथा आश्चर्यमग्न होकर फिर-फिर इधर-उधर भ्रमण किया ॥८॥ तदनन्तर महावन में पहुँचकर उस वन के धुएँ से भरे हुए एक छोर पर उसी गाँव में पहुँचा, जिसमें वह विशालकाय चण्डाल हुआ था ॥९॥ वहाँ पर उसने पहले से परिचित उन उन पुरुषों के, पूर्वदृष्ट उन स्त्रियों को पहले अनुभूत उन छोटी-छोटी झोंपड़ियों को और उन उन भूमितटों को देखा, जिनका आकार-प्रकार भाँति-भाँति का था और जिनमें अनेक लोग निवास करते थे ॥१०॥ दुर्भिक्ष में (अकाल में) दुर्दशायुक्त हुए उन उन पूर्वानुभूत वृक्षों को, उन अपने अनुगामियों को, उन उन प्रदेशों को, उन व्याधों को और बन्धुशून्य अपने पुत्रों को देखा। आँसू बहा रही, क्लेश सहती हुई अन्यान्य बूढ़ी सहेलियों के बीच में दुर्भिक्ष के समय विकट वन में नष्ट-भ्रष्ट हुए अपने बन्धु-बान्धवों के असंख्य दुःखों का वर्णन कर रही एक बुढ़िया, अन्य वृद्धों की अपेक्षा जिसके नेत्रों से अधिक आँसुओं की धाराएँ बह रही थी, फटी पुरानी कथरी जिसने ओढ़ रक्खी थी, जिसके स्तन सूख गये थे, शरीर सूखकर तिनका हो गया था, उस दुर्भिक्षरूपी प्रचण्ड वज्र से लाये गये देशमें बड़े करुण क्रन्दन के साथ यों रो रही थी ॥११-१३॥ हे पुत्रि, तुम्हारा सारा वदन पुत्रों से ढका होगा, तीन दिन तक भोजन न मिलने के कारण तुम्हारा शरीर जर्जर हो गया होगा, जैसे तलवार अपने कोश में प्रवेश करके स्थित हो जाती है, वैसे ही अपने कोश में स्थित हुए राजा ने प्राण के समान प्रिय तुम लोगों को, जिनके कि शरीर दुर्भिक्ष से जर्जर हो गये थे, कैसे और कहाँ छोड़ा ? ॥१४॥

इस समय राजा लवण के कुटुम्ब के पोषण के लिए किये गये साहस कर्मका स्मरण करती हुई कहती है।

हे पुत्र, मेघ की नाईं ऊँचे पहाड़ पर ताड़ के पेड़ पर चढ़कर और उसके फल को लेकर उतरते समय दोनों हाथों के अन्य कार्यमें लगने यानी खाली न रहने के कारण फल को लेने में असमर्थ होने से, जिसने दाँतों के बीच में लाल पके हुए फल को रक्खा था, अतएव उस समय प्राप्त हुए वेष से श्रीहनुमान्‌जी का अनुकरण करनेवाले तथा गुंजा के फलों की माला को धारण करनेवाले तुम्हारे अभाग्यवश फिसलने पर निकटवर्ती दूसरे ताल की शाखा का

अवलम्बनरूप साहस का मुझे स्मरण होता है ॥१५॥ कदम्ब और जम्बीर के पेड़ों तथा लौंग और गुंजा की लताओं के निकुंजों के (झाड़ियों के) भीतर छिरकर चल रहे बाघ को भी भय में डालनेवाले अपने पुत्र के (जमाई के) बाघ को मारने के लिए छलाँग मारकर चलने को फिर मैं कब देखूँगी ॥१६॥

इस समय अपनी लड़की के ऊपर मोहित हुए उसकी मुखशोभा का स्मरण कर वर्णन करती है।

आसवपान आदि के समय अपनी परम प्रिया के मुख से बड़ी प्रीति के साथ जिसे मांस का टुकड़ा प्राप्त हुआ था, ऐसे मेरे दुलारे बेटेरूप (जमाता)तुम्हारे उस मांस के टुकड़े को चबाते समय तमाल के सदृश काली दाढ़ी से नीले चिबूक के (ठोड़ी के) एक भाग में जो शोभा से सने हुए विलास हुए, वे इस सारे जगत् में विलास करनेवाले कामदेव के सारे मुँह में नहीं हो सकते हैं ॥१७॥

इस समय पति के साथ अपनी लड़की के मरण की संभावना करती हुई कहती है।

जैसे वन में तमाल की लता को फूलों के गुच्छों के साथ बलवान् पवन उड़ा ले जाता है, वैसे ही हो न हो मेरी पुत्री को, जो कि वर्ण में यमुना के तुल्य है, उस शूर–वीर पतिके साथ यम भगा ले गया है ॥१८॥ गुंजा के फलों की मालारूपी हार धारण करनेवाली, उन्नत और विशाल स्तन मण्डल से युक्त अंगवाली, वायु से उड़ रहे काजल के तुल्य चंचल वर्णवाली लता, बेर और जामुन के दानों के तुल्य दाँतवाली हे पुत्री, तुम्हारा मुझे बड़ा दुःख है ॥१९॥ हे चन्द्रमा के समान सुन्दर राजकुमार, तुम्हारे लिए मुझे बड़ा शोक है, तुमने एक से एक बढ़कर सुन्दरी उन अन्तःपुर की विलासिनी रानियों को छोड़कर मेरी (एक साधारण भीलनी की) लड़की से प्रेम किया, किन्तु दुर्भाग्यवश वह भी तुम्हारे लिए चिरस्थायिनी नहीं हुई ॥२०॥ संसाररूपी नदी के सुन्दर तरंगरूप कर्मपरिपाकोंने, जिनके लिए उपहास उचित है, क्या गर्हित फल पैदा नहीं किया, जो कि महाराज का चण्डाल की तुच्छ कन्या से संयोग करा दिया ॥२१॥ जैसे दुर्भाग्य के दिन आने पर बहुत मनोरथों से युक्त आशा धन के साथ नष्ट हो जाती है, वैसे ही भयभीत हिरनी के सदृश विशाल नेत्रवाली वह मेरी लड़की तथा मदोन्मत्त शेर के समान बलशाली वह मेरा जमाई दोनों एक साथ विनष्ट हो गये ॥२२॥

अब अपने भाग्य को कोसती है।

हे सखियों, बड़े क्लेश की बात है कि मेरे पतिदेव मर चुके हैं, अभी जल्दी मेरी लड़की मर गई है, इस दुर्देश में मैं पड़ी हुई हूँ, बड़ी दरिद्र हूँ, चण्डाल जाति में पैदा हुई हूँ, बड़े संकट में फँसी हूँ, मुझे आप साक्षात् भय जानिए, मैं महती विपत्ति में हूँ। अनाथ मैं नीच के अपमान करने से उत्पन्न हुए क्रोध की, क्षुधा से पीडित हुए पुत्र, कलत्र आदि पोषणीय लोगों के आहार के विषय में अवश्यभावी शोक की और भी इसी प्रकार के अन्यान्य दुःखों की एकमात्र घर रूप नारी बनाई गई हूँ ॥२३,२४॥

इस समय अपने सदृश अन्य जनकी भी निन्दा करती हुई कहती है।

भाग्य से सताये गये, बन्धु-बान्धव हीन, मुर्ख और बड़ी भारी मानसिक व्याधिभूमि में उत्पन्न हुए (सदा मानसिक चिन्ता से युक्त) इस प्रकार के प्राणी का जो जीवन है, जो मरण है और जो महाआपत्ति है, उसकी अपेक्षा स्वतः जीवरहित पाषाण आदि उत्तम हैं ॥२५॥ जैसे वर्षा ऋतु में जनों से रहित तथा पृथिवी के एक देश में स्थित पर्वत के सैंकड़ों शाखाओं और रस से व्याप्त तृण उल्लास को प्राप्त होते हैं वैसे ही स्वजनों से रहित, अत्यन्त गर्हित देश में रहनेवाले पुरुष के सैंकड़ों शाखा प्रशाखाओं से पूर्ण अनन्त दुःख उल्लास को प्राप्त होते हैं ॥२६॥ इस प्रकार विलाप कर रही तथा चण्डालता को प्राप्त हुए अपने पोषणीय लोगों में सबसे बड़ी-बूढ़ी उस स्त्री को दासियों द्वारा समझा बुझाकर राजा ने उससे पूछा : यहाँ पर क्या घटना घटी है, तुम कौन हो, तुम्हारी लड़की कौन है और कौन तुम्हारा लड़का है ?॥२७॥ तदुपरान्त आँसुओं से भरे हुए नेत्रवाली उसने कहा : पुष्पसघोष नामका यह गाँव है, यहाँ पर पुष्पक नाम का मेरा पति हुआ। उसकी चन्द्रमा के तुल्य एक लड़की हुई। जैसे बेचारी करभी (गदही या ऊँट) वन में फूटे हुये शहद के घड़े को प्राप्त हो, वैसे ही उसने भाग्यवश यहाँ पर आये हुए इन्द्र के तुल्य राजा को दुर्भाग्यसे पति पाया। उसके साथ चिरकालतक सुख का उपभोग कर उसने लड़कियाँ और लड़के पैदा किये, इस वन की गुफा में वह पेड़ के सहारे स्थित हुई लौकी की लता के सदृश वृद्धि को प्राप्त हुई ॥२८-३०॥

एक सौ बीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इक्कीसवाँ सर्ग

चण्डाली द्वारा उक्त वृतान्त को सुनकर विस्मित हुए राजा लवण के घर आ जाने पर वसिष्ठजी के कथन से उस वृत्तान्त का श्रीरामचन्द्रजी को विनिश्चय।

चण्डाली ने कहा : हे राजन्, कुछ काल बीतने पर इस ग्राम में वृष्टि के न होने से अत्यन्त भयंकर तथा मनुष्यों को नष्ट करनेवाला दुर्भिक्ष का दुःख उपस्थित हुआ ॥१॥ इस महान् दुःख से ग्राम के सभी लोग निकलकर दूर चले गये तथा शेष सब लोग मर गये ॥२॥ हे प्रभो, हे सुन्दर, उस दुर्भिक्ष तथा बन्धुओं के मरण से इस वन में हम अभागिनियाँ शून्य होकर नेत्रों से अश्रुधारा बहाती हुई शोक कर रही हैं ॥३॥ उस वृद्धा के मुख से यह सुनकर राजा अत्यन्त विस्मित हुए और मन्त्रियों के मुख को देखकर चित्रलिखित के समान स्तब्ध हो गये ॥४॥ उस अपूर्व आश्चर्य का राजा ने पुनः विचार किया, तदनन्तर बार-बार पूछा और इससे राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥५॥ लोक में ऊँच, नीच आदि विविध भावों को देख चुके राजा लवण दया से पूर्ण हो गये, उन्होंने समुचित दानसम्मान से उन भीलों के दुःख का निवारण किया। वहाँ चिरकाल तक निवास कर तथा दैव की गति का विचार कर घर लौटे और पुरवासियों से वन्दित होते हुए उन्होंने घर में प्रवेश किया ॥६,७॥ प्रातःकाल उस राजा ने विस्मित होकर सभाभवन में मुझसे पूछा : हे मुने, यह स्वप्न मैंने प्रत्यक्ष कैसे देखा ? ॥८॥ मैंने राजा के प्रश्न का यथार्थरूप से समाधान किया और उनके हृदय से

संशय को इस तरह मिटा दिया जिस तरह वायु मेघ को आकाश से दूर करता है ॥९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार यह अविद्या बड़ी भ्रम देनेवाली है, यह अतिशीघ्र पूर्ण रीति से सत् को असत् तथा असत् को निरा सत् बना देती है ॥१०॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, कृपा कर यह बतलाइये कि यह स्वप्न कैसे सत्य अर्थात् जाग्रतकाल के अनुभव का विषय हो गया ? बड़े भ्रम के समान यह बात मेरे मन में बैठती नहीं है ॥११॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इन सभी बातों का अविद्या में सम्भव है, देखिये न, स्वप्न तथा संभ्रम आदि में घट में पटता दीख पड़ती है ॥१२॥ जैसे दर्पण के भीतर स्थित पर्वत दूर होता हुआ भी निकट प्रतीत होता है वैसे ही अत्यन्त दूर की वस्तु भी निकट की तरह प्रतीत होती है। सुख की नींद से बीती हुई रात्रि के तुल्य दीर्घकाल भी शीघ्रता को प्राप्त हो जाता है ॥१३॥ जैसे स्वप्न में अपना मरण प्रतीत होता है, वैसे ही अत्यन्त असम्भव भी संभव हो जाता है। स्वप्न में आकाशगमन के तुल्य अत्यन्त असत् भी सत् सा प्रतीत होता है। चक्राकार घूमने पर पृथिवी के भ्रमण के तुल्य अत्यन्त स्थिर वस्तु भी चलने लगती है और मदसे विक्षुब्ध चित्तवाले से देखी गई वस्तु के समान अचल वस्तु भी चंचलता को प्राप्त होती है ॥१४,१५॥ वासनायुक्त चित्त पूर्णरूपसे जिस वस्तु की जैसी भावना करता है, उस वस्तु का वैसा ही शीघ्र अनुभव करता है, वह वस्तु न सत् है अथवा न असत् है ॥१६॥ अहन्त्व आदि रूप मिथ्या ज्ञान जिस समय उदय को प्राप्त हुआ, उसी समय आदि, मध्य तथा अन्त से हीन असंख्य भ्रम उदय को प्राप्त हो गये ॥१७॥ सब पदार्थों का विपरिणाम मन के प्रतिभास से ही होता है, इसीलिए क्षण कल्पता को प्राप्त होता है तथा कल्प क्षणता को प्राप्त होता है ॥१८॥ जिसकी मति विपरीत हो गई है, वह प्राणी अपने को भेंड़ा समझता है और वासना से भेंड़ा भी अपने में सिंहता को धारण करता है ॥१९॥ विषम भ्रम को देने वाले अविद्या, मोह, अहन्त्व आदि समान हैं, क्योंकि ये सब चित्त के विपर्यासरूप फल की सम्पत्ति के हेतु हैं ॥२०॥

यद्यपि सब पदार्थ अविद्या से कल्पित ही हैं तथापि उत्तर व्यवहार से पूर्व व्यवहार का संवाद होने से सत्यत्व और असंवाद होने से मिथ्यात्व व्यवहार होता है, न कि परमार्थ विचार से। इस पर कहते हैं।

कोई कौआ एक ताड़ के वृक्ष में जा रहा था। ताड़ के वृक्ष से कौए का संयोग होते ही दैववश उसका फल नीचे गिरा, इसे ही काकतालीय न्याय, अर्थात् आकस्मिक घटना कहते हैं। चित्त के संस्कारवश काकतालीय न्याय से बिना किसी कारण के महान् आरम्भवाले व्यवहारों का परस्पर एक दूसरे से संवाद होता है ॥२१॥

राजा लवण के व्यवहार में किस रीति से संवाद हुआ; उसे कहते हैं।

उस भीलों की टोली में पहले किसीका जो चण्डाली विवाहादि सम्पन्न हुआ था, वही राजा लवण के मन में प्रतिभासित हुआ। वह सत् हो या असत् हो। अतएव संवाद का भ्रम हुआ, यह अर्थ है ॥२२॥

जिस तरह अनुभूत वस्तु की विस्मृति होती है उसी तरह अननुभूत वस्तु का स्मरण भी दोषावह नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

जैसै विस्तारपूर्वक की हुई क्रिया को चित्त भूल जाता है वैसे ही की हुई क्रिया का भी 'मैंने इसे नहीं किया' यों स्मरण करता है। यद्यपि भ्रान्ति में राजा लवण को अनुभव ही हुआ था, स्मृति नहीं हुई थी तथापि अनुभव, स्मृति आदि में जो अवान्तर भेद है, वह भी कल्पनामात्र है; इसलिए वह विचारसह नहीं है, यह सूचित करने के लिए ऐसा कहा है ॥२३॥ इसी प्रकार स्वप्न में देशान्तरगमन में प्राकृत पुरुष भी भोजन करने पर मैंने भोजन नहीं किया, ऐसा समझता है ॥२४॥

प्रतिभास और संवाद का पूर्वापरभाव भी कल्पनामात्र है, अतः व्यवस्थित नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

विन्ध्य पर्वत के चण्डालों के ग्राम में ऐसा व्यवहार (चण्डालीविवाहादि) होता है, यह बात राजा लवण की प्रतिभा में आ गई थी। जैसे स्वप्नमें पूर्व की कथा प्रतिभा में आ जाती है ॥२५॥ अथवा राजा लवण ने जो स्वप्नभ्रम देखा था, वही भ्रम विन्ध्यपर्वत के चण्डालों के चित्त में संविद् को प्राप्त हुआ था ॥२६॥

प्रतिभा के भेद की कल्पना भी विचारसह नहीं है, क्योंकि एक में उत्पन्न हुई प्रतिभा का दो में भान हो सकता है, इस आशय से कहते हैं।

राजा लवण की प्रतिभा विन्ध्यपर्वत के चण्डालों के हृदय में आरूढ़ हुई थी, अथवा विन्ध्यपर्वत के चण्डालों की प्रतिभा राजा लवण के चित्त में आरूढ़ हुई थी ॥२७॥

प्रतिभा और प्रतिभा के विषय के संवाद में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे बहुत कवियों के मनों की उत्प्रेक्षा से रचित काव्य शब्द तथा अर्थ से समान होते हैं, वैसे ही लवण और चाण्डालों के भ्रान्तिरूप स्वप्न में भी देश, काल और क्रिया भी समान हैं ॥२८॥

क्या इस तरह का व्यवहार अत्यन्त असत् है ? इस शंका पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं।

उस व्यवहारदशा की सत्ता भी प्रतिभास से ही है।

अधिष्ठान चेतन की सत्ता से ही सब वस्तुओं की सत्ता है, स्वतन्त्र किसी की सत्ता नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

सब पदार्थों की सत्ता अधिष्ठानभूत चेतनसत्ता से अतिरिक्त नहीं है। अधिष्ठान चेतन की सत्ता ही भूत, वर्तमान तथा भविष्य के प्रपंचो में व्याप्त हुई इस तरह अधिष्ठानसत्ता से भिन्न भासित होती है, जिस तरह जल में तरंग तथा बीज में वृक्ष उससे भिन्न भासते हैं ॥३०॥ अधिष्ठानसत्ता से भिन्न जो पदार्थों की सत्ता है उसकी सत्यता और असत्यता न सत् है, और न असत् है, यह निश्चित है, क्योंकि श्रुति ने 'न तत् सदासीत् नोऽसदासीत्' कहा है। सत्त्व के संवेदन से वह सत् है तथा सत्त्व के असंवेदन से वह असत् है। उसकी सत्ता और असत्ता भ्रान्ति और संवेदन के अधीन हैं, यह अर्थ है ॥३१॥

भ्रम का विषय अविद्यामात्र है, इसलिए फलतः असत्य ही है, इस आशय से कहते हैं।

वस्तुतः अविद्या कोई वस्तु नहीं है जैसे कि बालू में तेल आदि वस्तु नहीं है। क्या सुवर्ण का कटक (कंकण) सुवर्ण से अतिरिक्त कोई वस्तु है ? अर्थात् कुछ नहीं है ॥३२॥

सत् वस्तु के सम्बन्ध से वह वस्तु क्यों नहीं हैं ? इस पर कहते हैं।

अत्यन्त असत् अविद्या का सम्बन्ध सत् आत्मा से उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि परस्पर सदृशों का ही सम्बन्ध होता है, यह अपने अनुभव से स्पष्ट है ॥३३॥ पार्थिवत्व तथा द्रवत्व से अत्यन्त विषम लाख और काठ आदि का जो परस्पर सम्बन्ध है, वह अत्यन्त असदृशों के परस्पर सम्बन्ध में उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि वे एक अविद्या के ही स्फुरणरूप हैं, अतः सदृश हैं, यह अर्थ है ॥३४॥

यदि सब पदार्थ चिन्मय ही मान लिये जायें तो चिद्रूप से तुल्य सब पदार्थों के साथ चित् का सम्बन्ध उत्पन्न है, यह कहते हैं।

चूँकि सब पदार्थमय हैं, इसलिए पाषाण आदि पदार्थ चित् के समान हैं चित् के साथ सम्बन्धवश वे चित् से प्रकाशित होते हैं ॥३५॥

चित् के सम्बन्ध से पदार्थों का भान होता है, इस पक्षमें भी दोष कहते हैं।

यदि जगत् के सभी पदार्थ चिन्मात्रमय–सन्मात्रमय हैं, तो वे स्वप्रकाशता के बल से ही परस्पर प्रकाशित होते हैं। न कि किसी अन्य चेतन से जैसे दीपक को अपना प्रकाश करने के लिए अन्य दीपक की अपेक्षा नहीं होती है वैसे ही उनको भी अपने प्रकाश के लिए दूसरे चेतन की अपेक्षा नहीं हैं ॥३६॥

पूर्वोक्त दोनों प्रकारों को दो श्लोकोंसे फिर स्पष्ट कहते हैं।

अत्यन्त विषम पदार्थों का निरन्तर (साक्षात्) सम्बन्ध नहीं हो सकता है तथा परस्पर सम्बन्ध के बिना परस्पर अनुभव भी नहीं हो सकता है ॥३७॥ चिद्रूप से सदृश परमात्मरूप वस्तु में चिन्मयरूप से सदृश जगत्‌रूप वस्तु अणुमात्र भी भेदक अचिद् वस्तु के अभाव से अखण्ड स्वप्रकाशमात्र एकता को प्राप्त कर उसकी ही सामर्थ्य से अर्थात् एकत्व से ही अपनी एकरूपता प्रकट करती है, अन्यथा नहीं ॥३८॥ ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञानरूप दृश्य त्रिपुटी के रूप से चेतन ही उदित हुआ है, ऐसा जो मूढ़ों का अनुभव है, वह चित् और जड़ के अभेदसम्बन्ध से नहीं बन सकता है, क्योंकि चित् और जड़ की एकता विलक्षणतावश कहीं हो ही नहीं सकती ॥३९॥

चित् और जड़ के भेदसम्बन्ध से भी उक्त अनुभव उत्पन्न नहीं हो सकता, इस आशय से कहते हैं।

एक त्रिपुटीरूप चित्र में चित् और जड़ दोनों भेदसम्बन्ध से भी कभी नहीं मिल सकते।

चिन्मय पदार्थों का चित् के साथ सम्बन्ध हो सकता है इस पक्ष को लेकर भी उक्त अनुभव उत्पन्न नहीं हो सकता, यह कहते हैं।

चिन्मयत्वरूप सादृश्य से यद्यपि चित् की उपलब्धि होती है, तथापि चित् की उपलब्धि होने पर भी चिद्रूप वेदनांशकी ही उपलब्धि हुई न कि वेद्यांश की, क्योंकि भेदक अचिद् वस्तु

के अभाव से वेद्यत्वरूप की सिद्धि असम्भव है। अतएव वेद्य और वेदन दोनों अंशों की उपपत्ति नहीं होती है, यह अर्थ है ॥४०॥

यदि कोई कहे कि जैसे जाड्यरूप धर्म के कारण साम्य होने पर भी काठ, पत्थर, मिट्टी आदि का एक घर के अवयवरूप से सम्बन्ध होता है और जैसे जलमय होनेसे सजातीय जिह्वा तथा रस का सम्बन्ध होता है, वैसे ही चिद्रूप होने से सदृश होने पर भी ज्ञान तथा ज्ञेय का सम्बन्ध हो सकता है, इस पर कहते हैं।

काठ, पत्थर आदि जो भिन्न–भिन्न पदार्थ हैं, वे चिद्रूप नहीं हैं, क्योंकि काठ आदि जड़ पदार्थ गृह आदि पदार्थों के रूप से परिणत होते हुए अनुभूत होते हैं। चेतन कभी परिणामी नहीं होता है, यह अर्थ है ॥४१॥

जलमय होने से सजातीय जिह्वा और रस से स्पष्ट उदित हुआ रसास्वाद भी जो कि परिणामी है, जिह्वा से ही अनुभूत होता है।

किंचित् अभिन्न का ही ऐक्य सम्बन्ध होता है, उसका दोनों पक्षों में सम्भव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

किंचित् अभिन्न का जो ऐक्य है, उसे ही आप सम्बन्ध जानिये। वह अत्यन्त असमान जड़ और चेतन का नहीं हो सकता, इसलिए पत्थर आदि पदार्थ जड़ नहीं हैं किन्तु चेतन ही पत्थर, दीवार आदि रूपवाला है, इसलिए परमार्थदृष्टि से एकीभाव को प्राप्त हुआ चैतन्य ही सत्य है, द्रष्टा, दृश्य आदि भाव भ्रम हैं, क्योंकि काठ, पत्थर आदि सब पदार्थ चिन्मय ही हैं ॥४२–४४॥

यदि काठ, पत्थर आदि अशेष पदार्थ परमार्थ चिन्मय ही है, तो चिद्रूप काठ, पत्थर आदि का गृहरूप से साथ सम्बन्ध कैसे देखा जाता है ? इस पर कहते हैं।

परमार्थरूप में कल्पित काठ, पत्थर आदि रूप से ही गृहादि पदार्थों के साथ उनका सम्बन्ध देखा जाता है, न कि वास्तविक चिद्रूप से चूँकि अनन्त ब्रह्म ही सब प्रकारों से युक्त होकर सब के तुल्य भासित होता है, इसलिए यह विश्व परमार्थमय ही है, इस तरह उत्तर श्लोक से इसका अन्वय जानना चाहिए ॥४५॥ हे तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, इस विश्व को आप सन्मात्र ही समझिये। यह विश्व मिथ्यात्वग्रहणरूप चित् के चमत्कार द्वारा सैंकड़ों, लाखों भ्रमों से पूर्ण हैं। वह चित् का चमत्कार परमार्थतः किसीसे पूर्ण नहीं है। जैसे मनुष्यों के संकल्प से नगर में निवास करनेवाले जन देश और काल के अवरोध के लिए परस्पर चेष्टा नहीं करते वैसे ही सृष्टि को भी अवस्थित जानिये। भेद का बोध होने पर ही सृष्टि तथा अहन्त्व आदि भ्रम का उदय होता है। जैसे सुवर्णज्ञान का परित्याग करने पर कटक आदि का भ्रम होता है। सुवर्ण में कटक आदि का भ्रम मिथ्या ही है, क्योंकि वे सुवर्ण के ही देश से देश तथा सुवर्ण की सत्ता से ही सत्ता प्राप्त करते हैं ॥४६–४९॥ जैसे कटक आदि बड़े भेदवाला सुवर्ण भेददृष्टि और भेददर्शन का त्याग करने पर एकमात्र निर्मल सुवर्ण ही है यानी उसकी पृथक् सत्ता नहीं है, वैसे ही द्रष्टा और दर्शन का परित्याग होने पर अविद्या पृथक् नहीं हैं ॥५०॥ बोध की एकता से ही

यह सृष्टि सद्रूप विश्व को असत् बनाती है अथवा असद् विश्व को सत् के साथ एकरसता को प्राप्त कराती है। जैसे मिट्टी की बनी हुई सेना मिट्टीबुद्धि से विचित्र होने पर भी विचार दृष्टि से मिट्टीमात्र की तरह मृन्मयी ही है ॥५१॥ जिस प्रकार तरंग आदि सब वस्तु एकमात्र जल ही हैं, काठकी बनी हुई पुतलियाँ एकमात्र काठ ही हैं और घट आदि सब वस्तु मिट्टीमात्र है उसी प्रकार तीनों जगत् का भ्रम एकमात्र ब्रह्म ही है ॥५२॥

घट आदि पदार्थों में अनुस्यूत सारभूत मिट्टीस्वरूप के तुल्य द्रष्टा आदि त्रिपुटी में अनुस्यूत साक्षी चिन्मात्र को त्रिपुटी के निराससे दिखाते हैं।

द्रष्टा का दृश्य और दर्शन के साथ सम्बन्ध होने पर फूलों में सूत्र की तरह सबके मध्य में अनुगत द्रष्टा, दर्शन और दृश्य से वर्जित जो द्रष्टा का शुद्ध रूप है, वही इस त्रिपुटी में व्याप्त परब्रह्म है। इस वाक्य से अखण्य वाक्यार्थ दिखलाया गया है, ऐसा समझना चाहिए ॥५३॥

उस ब्रह्म की त्रिपुटीशून्यता कब सिद्ध होती है ? इस पर कहते हैं।

चित्त के एक विषय से दूसरे विषय में जाने पर मध्य में जाड्यस्फुरण से शून्य चेतन का जो शुद्ध रूप है, उसमें आप तन्मय होइये ॥५४॥ जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति– इन तीन अवस्थाओं से रहित चित्तवृत्ति से शून्य जो आपका सनातन शुद्ध चेतन रूप है, उसमें आप तन्मय होइये ॥५५॥ एक जड़ता का परित्याग कर जो कूटस्थ चिद्घनमात्र है, आप समाधिस्थ होकर अथवा व्यवहार करते हुए सर्वदा उसमें तन्मय होइये ॥५६॥

यदि कोई कहे कि व्यवहार में रहने वाले की तन्मयता कैसे हो सकेगी ? इस पर कहते हैं।

इस संसार में किसी का न तो कुछ उदित होता है और न लीन होता है अर्थात् व्यावहारिक वस्तु की सत्ता ही नहीं है। इसलिए समाधिस्थ होकर या व्यवहार करते हुए स्वस्थ होकर सुखपूर्वक स्थित होइये। व्यवहारदशा में भी परमार्थ दृष्टि का ही अनुवर्तन कीजिये, यह भाव है ॥५७॥ आत्मा किसी देह में न तो किसी की इच्छा करता है और न किसी से द्वेष करता है; इसलिए आप स्वस्थ होकर आशंकाहीन हो स्थित होइये। देह की वृत्तियों में मत गिरिये ॥५८॥

जिस तरह अप्राप्त वस्तु में चित्त की अनासक्ति स्वतः सिद्ध है, उसी तरह वर्तमान वस्तु में भी मिथ्यात्वदृष्टि से अनासक्तिका सम्पादन करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

जैसे आप अप्राप्त ग्राम के ग्राम्यव्यवहार में आसक्तिरहित हैं वैसे ही सत्य आत्मा में स्थित होकर चित्त की वृत्तियों में मिथ्यात्वदृष्टि से आसक्ति रहित होइये ॥५९॥ जैसे दूर देश में स्थित मनुष्य रहता हुआ भी असत् के तुल्य है और जैसे काठ और पत्थर समीप में होने पर भी चेतन हीन होने से ही आसक्ति, अभिमान आदि के अयोग्य हैं, वैसे ही आप चित्त को जानिये, क्योंकि आत्मरूप से विचार करने पर अचित्तता ही विद्वानों के अनुभव से सिद्ध है ॥६०॥ जैसे शिला में जल नहीं है, जैसे जल में अग्नि नहीं है, वैसे ही अपनी आत्मा में (जीवात्मा में) चित्त नहीं है, फिर वह परमात्मा में कैसे रह सकता है ?॥६१॥

जब चित्त असत् है, तो उसके कार्य सुतरां असत्य हैं, ऐसा कहते हैं।

विचार करके देखने पर जो कुछ नहीं है, उसके द्वारा जो कुछ करते हैं वह भी कृत नहीं है,

ऐसा मानकर चित्त से परे होइये ॥६२॥

शुद्ध आत्मा का अशुद्धचित्त का अनुवर्तन भी अनुचित है, इस आशय से कहते हैं।

अत्यन्त अनात्मभूत चित्तवृति का जो अनुवर्तन करते हैं, वे प्रत्यन्त देशवासी म्लेच्छों का अनुवर्तन क्यों नहीं करते ? 'तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्वयानि' (प्रत्यन्तवासी जनों में पाप निहित है, इसलिए उनका स्पर्श नहीं करना चाहिये, उनके स्थान में नहीं जाना चाहिये, अन्यथा पापरूप मृत्यु को हम लोग प्राप्त होंगे) इस श्रुति के अनुसार म्लेच्क्षादि का अनुसरण करना निषिद्ध है, यह भाव है ॥६३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप इस चित्त रूपी चण्डाल का निरन्तर दूर से ही निरादर करके मिट्टी की बनी हुई जड़ मूर्ति के तुल्य स्वस्थ होकर आशंकाहीन स्थित होइये। यथार्थ में चित्त है ही नहीं, यही मुख्य पक्ष है अथवा उत्पन्न हुआ भी हो, तो वह मर गया है, आज मृतक होकर ही पदार्थों को देखता है यानी मिथ्या देखता है, ऐसा निश्चय करके आप पत्थर के बने हुए पुरुष की तरह निश्चल होइये ॥६४,६५॥ आत्मविचार करने से अथवा चित्त का विचार करने पर यह चित्त नहीं है। आप वस्तुतः चित्तहीन हैं, इसलिए आप ऐसे अनर्थभूत व्यर्थ चित्त के साथ क्यों दुःखी होते हैं ? अत्यन्त असत्य चित्त रूपी यक्ष ने जिन लोगों को अपने वश में कर लिया है, उन सुकुमार मतिवालों के लिए चन्द्रमा से वज्र उत्पन्न हुआ है ॥६६,६७॥ इसलिए चित्त का दूर से ही परित्याग करके आप जो हैं, वही होकर स्थिर होइये और मननरूपी उत्तम युक्ति तथा ध्यान से युक्त होइये ॥६८॥

अधिकारियों के प्रोत्साहन के लिए मूढों की निन्दा करते हैं।

जो मूर्खज्ञ असत्य चित्त का अनुवर्तन करते हैं, आकाशताड़न में समय बितानेवाले उन मूर्खों को धिक्कार हैं ॥६९॥ तत्त्वज्ञान में कुशल होकर पहले व्यपगतमन यानी चित्तहीन होइये, तदनन्तर तत्त्वज्ञान से निर्मलात्मा होकर संसार से परे हो जाइये।

इसी बात को दृढ़ करने के लिए श्रीवसिष्ठजी विचारविशुद्ध अपना अनुभव कहते हैं।

मैंने तत्त्वज्ञान के लिए बहुत काल तक मन का विचार किया तथापि निर्मल आत्मा में मानसरूपी मल कुछ नहीं पाया। इसलिए मानसमल कोई वस्तु नहीं हैं। मेरे वाक्य से भी आप स्वस्थचित्त होइये, यह अर्थ है ॥७०॥

एक सौ इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बाईसवाँ सर्ग

पहले पुरुष का ज्ञानभूमिका के उदयक्रम का वर्णन तदनन्तर
शोक, मोह आदि के निराकरण द्वारा श्रीरामचन्द्रजी का बोधन।

पहले उत्पन्न हुए कुछ विकसित बुद्धिवाले यानी इस जन्म में या जन्मान्तर में किये गये कर्मों से शुद्धचित्त हुए पुरुष को इस प्रकार सत्संग में तत्पर होना चाहिए ॥१॥

सत्संग से साधनचतुष्टयसम्पत्ति के साथ अध्यात्मशास्त्र से सम्बन्ध होता है, वही पहली भूमिका है, ऐसा कहते हैं।

अनवरत प्रवाह में पड़ा हुआ यह अविद्यारूपी नदियों का समूह शास्त्र और सज्जन (संतजन) के संसर्ग के बिना नहीं तरा जा सकता है ॥२॥ उससे विवेकपूर्वक पुरुष को यह हेय है और यह उपादेय है, यह विचार उत्पन्न होता है ॥३॥ तब वह पूर्वोक्त शुभेच्छा नाम की ज्ञानभूमिका में अवतीर्ण होता है ॥४॥

शुभेच्छा नाम की ज्ञानभूमिका में विजय प्राप्त करने से दूसरी भूमिका की प्राप्ति दर्शाते हैं।

तदुपरान्त विवेकवश विचारणा नाम की ज्ञानभूमिका में आता है ॥५॥

दूसरी भूमिका के विजय से तीसरी भूमिका में अवतरण होता है, ऐसा कहते हैं।

सम्यग् ज्ञान से असम्यग्वासना का त्याग कर रहे पुरुष का मन संसार की वासनाओं से तनुता को प्राप्त होता है ॥६॥

उसके द्वारा तनुमानसा नाम की तीसरी ज्ञानभूमिका में अवतीर्ण होता है ॥७॥

चौथी भूमिका के अवतरण का प्रकार कहते हैं।

जभी योगी के सम्यग् ज्ञान का उदय होता है, तभी शुद्ध, सत्य आत्मा में स्थितिरूप चौथी ज्ञानभूमिका सत्त्वापत्ति प्राप्त होती है ॥८॥ उसके कारण जब वासना सूक्ष्मता को प्राप्त हो जाती है, तभी योगी असंसक्त कहा जाता है, कर्मफल से बन्धन में नहीं पड़ता है ॥९॥ तदनन्तर वासनाओं के तनु होने के कारण पुरुष सदा ही अन्तर्मुखरूप रहने से ब्रह्माहंभाव की वासना के बढ़ने के कारण बाह्य पदार्थों के क्रम से विस्मरण रूप भावना की तनुता का अभ्यास करता है ॥१०॥

कितने काल तक भावना की तनुताका अभ्यास करना चाहिए, इस प्रश्न पर कहते हैं।

जब तक समाधिस्थ हो, चाहे समाधि से व्युत्थित हुआ हो, चाहे असत् संसार वस्तुओं में स्थित हो, अपनी आत्मा में ही क्षीणमन होने के कारण अभ्यासवश बाह्यवस्तुओं को करता हुआ भी नहीं देखता है, अतएव रूचि से उनका सेवन नहीं करता है, न कभी उसका स्मरण करता है, सूक्ष्म वासनावाला होने के कारण केवल बालक या उन्मत्त अथवा आधा सुप्त और आधा प्रबुद्ध के समान स्नान, भोजन आदि कर्तव्य को दूसरे की इच्छा से करता है, तब तक उसका अभ्यास करे ॥११॥ अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्म में जिसने अपने चित्त को एकरस कर दिया है, ऐसा योगी उसके द्वारा पदार्थाभावनी नाम की योगभूमिका में आरूढ़ होता है ॥१२॥ पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्म में जिसका चित्त लीन हो गया है, ऐसा योगी कुछ वर्षों तक अभ्यास करके दूसरों की इच्छा से कार्यानुसार कभी स्नान, भोजन आदि बाह्य क्रियाओं को करता हुआ भी उसकी भावना को सर्वथा छोड़ देता है। स्वयं ही तुर्य आत्मा हो जाता है। छठी भूमिका तक चित्त की ब्रह्माकारता के स्थिर होने पर कुछ न कुछ प्रयत्न की अनुवृत्ति रहती है, सातवीं भूमिका में तो प्रयत्न की सर्वथा निवृत्ति होने से स्वाभाविक प्रतिष्ठा यानी ब्रह्मनिष्ठा हो जाती है, यह विशेष है। वही पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥१३॥

यद्यपि पूर्व की भूमिकाओं में भी जिन्होंने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, वे जीवन्मुक्त ही हैं तथापि उनमें कभी प्रबल प्रारब्ध से प्राप्त कराये गये प्रिय, अप्रिय का सम्बन्ध होता है,

अतः उनमें मुख्य जीवन्मुक्ति सुख नहीं है। सातवीं भूमिका में योग के परिपाक से उत्पन्न पुण्य के प्राचुर्य से, जो अति प्रबल है, तिरस्कृत हुआ प्रारब्ध कर्म केवल जीवन व्यवहार के आभास में पर्यवसित होता है, हर्ष, शोक आदि को उत्पन्न करने के लिए नहीं होता है, इस आशयसे उसका लक्षण पद्य से कहते हैं।

जीवन्मुक्त पुरुष प्राप्त हुई वस्तु का अभिनंदन नहीं करता यानी किसी वस्तु के प्राप्त होने पर प्रसन्न नहीं होता और खोई हुई वस्तु के लिए शोक नहीं करता। जो कुछ प्राप्त हो गया, केवल उसीका भय, आशंका से रहित होकर अनुवर्तन करता है ॥१४॥

आप तो अत्यन्त शुद्ध चित्तवाले हैं, इसलिए आपने दूसरी भूमिका में ही अपने ही विचार से प्रत्यगात्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आपने सबका अन्तर्यामी ज्ञातव्य तत्त्व जान लिया है, क्योंकि आपकी वासना सम्पूर्ण कार्यों से तनुता को प्राप्त हो गई है ॥१५॥ चाहे आप सदा ही समाधिस्थ रहें, चाहे लोकव्यवहार करते रहें, आप शोक अथवा हर्ष को प्राप्त न हों, क्योंकि आप शोक, मोह आदि दोषों से रहित आत्मा ही हैं ॥१६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, स्वयंप्रकाश, निर्मल, सर्वव्यापक, अविनाशी आत्मरूप आपमें सुख और दुःख का अवसर कहाँ तथा जन्म-मरण का अवसर कहाँ ? ॥१७॥

यदि कोई शंका करे, आत्मबोध से जन्म-मरण आदि से होनेवाले शोक पर भले ही विजय प्राप्त हो जाय, किन्तु बन्धु-बान्धवों के संग से होनेवाले शोक पर कैसे विजय प्राप्त की जा सकती है, इस पर कहते हैं।

आपके कोई बन्धु नहीं हैं, फिर क्यों आप बन्धु से उत्पन्न दुःख के लिऐ शोक करते हैं ? यह आत्मा अद्वितीय है, इसमें बन्धु-बान्धवों का अवसर ही कहाँ ? ॥१८॥ आप बन्धुओं की देह को शोक के योग्य कहते हैं अथवा आत्मा को ? पहला पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि देह के भस्मीभूत होने पर केवल परमाणु का समूह दिखाई देता है, वह तो अचेतन होने के करण शोक के योग्य नहीं है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि आत्मा नष्ट होता है और उदित होता है, यह मान लिया जाय, तो उसकी सर्वव्यापकता न रहेगी तथा अन्य देश और अन्य काल में उसके भिन्न होने की आपत्ति प्राप्त होगी, अतः आत्मा न तो मरता है और न उदित होता है ॥१९॥ आप अविनाशी हैं फिर भी मैं विनष्ट होऊँगा, इस प्रकार शोक क्यों करते हैं ? आत्मा मृत्यु का निवासभूत नहीं है और निर्मल है, अतएव उसमें विनाश का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ? ॥२०॥ जैसे घट के फूटकर टुकड़े होने पर घटाकाश का विनाश नहीं होता, वैसे ही इस शरीर के नष्ट होने पर आत्मा का विनाश नहीं होता ॥२१॥ जैसे सूर्य की किरणों पर प्रतीत हो रही मृगतृष्णा रूपी नदी के नष्ट होने पर धूप नष्ट नहीं होती, वैसे ही देह के नष्ट होने पर आत्मा नष्ट नहीं होता ॥२२॥ व्यर्थ भ्रान्तिरूप पदार्थों की इच्छा ही आपके हृदय में क्यों उदित होती है ? आत्मा अद्वितीय है, ऐसी अवस्था में वह दूसरी किस किस वस्तु की अभिलाषा करेगा ? ॥२३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस जगत् में सर्वशक्ति परमात्मा में ही ये सब शक्तियाँ

स्थित है। ऐसी कोई सुनने योग्य, छूने योग्य, देखने योग्य, श्वास लेने योग्य, सूँघने योग्य दूसरी वस्तु नहीं है, जो आत्मा से भिन्न हो ॥२४॥

यदि कोई शंका करे, जैसे धूप में मृगतृष्णा भ्रम की शक्तियाँ हैं, वैसे ही यदि ब्रह्म में जगत् की शक्तियाँ है तो वे भिन्न होगी, इस पर कहते हैं।

जैसे आकाश में शून्यता है यानी शून्यता आकाश से पृथक् नहीं है, वैसे ही सर्वशक्तिमान्, व्यापक, व्यक्त आत्मा में ये सब शक्तियाँ हैं यानी उससे पृथक नहीं हैं ॥२५॥

अत्यन्त असत् जगत् के उदय में क्या बीज है ? ऐसी यदि कोई शंका करे, तो जगत् की उत्पत्ति में एकमात्र चित्त ही बीज है, उसीको कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह पूर्वोक्त त्रिलोकीरूपी ललना चित्त से ही उदित हुई है। इसने सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के जन्मों से संसार में भ्रम उत्पन्न कर रक्खा है ॥२६॥

चूँकि यह चित्त से उत्पन्न हुई है, इसलिए चित्त के क्षय से ही इसका क्षय होता है, ऐसा कहते हैं।

वासनाक्षयनामक मनःप्रशमन के सिद्ध होने पर कर्मों की (क्रियाशक्तियों की) निवासभूत यह माया नष्ट हो जाती है ॥२७॥ संसाररूपी विशाल चाक के बीच में स्थित कील पर आरूढ़ तिरछे काट में लगी हुई, ऊपर और नीचे के चाक को वहन करनेवाली रज्जुरूपी यह वासना है, हे श्रीरामचन्द्रजी आप प्रयत्नपूर्वक इस वासना का नाश कीजिये। इस संसाररूपी चक्की में पृथिवी नीचे का चाक है, मेरू पर्वत उसकी कील है और ज्योतिर्मण्डल ऊपर का चाक है और यह जगत् वासना से बँधा हुआ है ॥२८॥ जब तक इस माया का ज्ञान नहीं होता, तब तक यह बड़े–बड़े मोहों को देती है। जब इसका ज्ञान हो जाता है, तो इसका नाम भी अनन्त यानी ब्रह्म हो जाता है, यह सुखदायिनी और ब्रह्मदायिनी हो जाती है ॥२९॥ यहाँ पर संसार का भोग करके अपनी लीलाभूत ब्रह्मविद्या से ब्रह्म का स्मरण कर ब्रह्म से आई हुई यह फिर ब्रह्म में ही लीन हो जाती है ॥३०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे तेज से प्रकाश उत्पन्न होता है, वैसे ही कल्याणमय, रूपरहित, अप्रमेय, निर्दोष ब्रह्म से सब भूत उत्पन्न हुए हैं। जैसे पत्ते में विविध रेखाएँ होती हैं, जैसे जल में अनेक लहरें उठती हैं, जैसे सुवर्ण में कटक आदि का आविर्भाव होता है और जैसे अग्नि में उष्णता आदि धर्म होते हैं, वैसे ही वासनाअवच्छिन्न ब्रह्म में यह सारा त्रिलोक स्थित है, उसी से उत्पन्न हुआ है और तद्रूप ही है ॥३१–३३॥ वही सब भूतों का आत्मा ब्रह्म कहा जाता है, उसका ज्ञान होने पर सारे जगत् का ज्ञान हो जाता है। तीनोंलोकों में वही ज्ञाता है, क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा (उससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है) ऐसी श्रुति है। शास्त्रोपदेश आदि व्यवहार के लिए विद्वान् लोगों ने उसी सर्वव्यापक तत्त्व के चित्, ब्रह्मा और आत्मा इत्यादि नामों की कल्पना की है। प्रिय और अप्रिय विषयोंका इन्द्रियों के साथ कभी संयोग होने पर भी उनमें मिथ्यात्व बुद्धि होने के कारण हर्ष और शोक से रहित यह शुद्ध जीन्मुक्तानुभूति ही वह प्रसिद्ध अविनाशी चिदात्मा है। मूढ़ जिसका अनुभव करते हैं, ऐसा संसार स्वभाववाला आत्मा नहीं है ॥३४–३६॥

हर्ष और शोक से रहित ऐसा जो पहले कहा, उसका उपपादन करने के लिए कहते हैं।

आकाश के समान अत्यन्त स्वच्छ उस चिदात्मा में यह जगत् भिन्न के तुल्य प्रतिबिम्बित होता है। शुद्ध साक्षी के द्वारा उसका प्रिय और अप्रिय विभाग से विवेक नहीं हो सकता इसलिए प्रिय और अप्रिय के विभाग के विवेक के वास्ते उन दोनों से भिन्नरूप से मध्य में अन्तःकरण प्रतिबिम्बित होता है, वही प्रिय और अप्रिय के विकल्पों द्वारा मोह आदि जो भाव हैं, उन्हें प्राप्त होता है। आत्मा लोभ, मोह आदि भावों को प्राप्त नहीं होता है। वे यानी जगत्, जगद्बुद्धि और जगद्बुद्धिप्रयुक्त लोभ, मोह आदि भेद के बिना ही उस चिदात्मा में प्रतिबिम्बित हैं, इसलिए वे परमार्थतः परमात्मरूप ही हैं। जैसै दर्पण से अपृथक् दर्पण के अन्दर दिखाई दे रहे पर्वत, वन, नदी आदि हैं, वैसे ही परमात्मा में ये भी प्रतिबिम्बित हैं ॥३७,३८॥

ऐसी अवस्था में जिन मूढ़ों को देह में आत्मबुद्धि है, उन्हींको भय, दुःख आदि होते हैं, आपको तो नहीं होने चाहिए, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप तो देहरहित निर्विकल्प चिदाकाश हैं, इसलिए आपको लज्जा, भय, विषाद, आदि से मोह कैसे उत्पन्न हुआ ?॥३९॥ जैसे दुर्बुद्धि मूर्ख पुरुष विकल्पों से अभिभूत होता है, वैसे ही देहरहित आप देह से उत्पन्न होनेवाले असत्स्वरूप इन लज्जा आदि से कैसे अभिभूत होते हैं ? ॥४०॥ देह के नष्ट होने पर अखण्ड चैतन्यरूप अज्ञानी का भी विनाश नहीं होता। आप तो ज्ञानी हैं, आपका कहना ही क्या है ?॥४१॥

अज्ञानी का भी नाश नहीं होता, ऐसा जो पूर्व में कहा है उसके उपपादन के लिए देह से अतिरिक्त चिदात्मा को सिद्ध करते हैं।

जो चित्त गमनागमन की स्वतन्त्रता होने से सर्वत्र जाता है, आलम्बनरहित सूर्य के मार्ग में भी जिसके संचार का निरोध नहीं होता वह चित्त ही पुरुष (पुरि शेते इति पुरुषः) संसारी आत्मा है, शरीर पुरुष नहीं हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, शरीर चाहे रहे या न रहे, तीनों लोको में पुरुष ही– चाहे वह ज्ञानी हो या अज्ञानी स्थित रहता है। शरीर के नष्ट होने पर उसका नाश नहीं होता ॥४२,४३॥

अब असंसारी आत्मा को दर्शाने के लिए चित्त को भी देहकोटि में रखकर देह को ही प्रिय और अप्रिय का स्पर्श होता है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो आप इन विविध दुःखों को देखते है, वे सब देह के ही हैं, इन्द्रियों द्वारा गृहीत न होनेवाले चिदात्मा के नहीं हैं ॥४४॥ मन के अगोचर होने के कारण जो यह चिदात्मा शून्य की तरह स्थित है, वह सुख और दुःखों से व्याप्त कैसे हो सकता है ? ॥४५॥

यदि कोई शंका करे कि देह के नष्ट होने पर जीव कहाँ जाता है ? तो इस पर कहते हैं।

जैसे भ्रमर कमल से उड़कर आकाश में जाता है वैसे ही यह जीव नष्ट हुए देह के अभिमान का त्याग कर पहले अपने आधारभूत परमात्मा में ही जाता है।

मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्। (मन प्राण में लीन होता है, प्राण तेज में लीन होता है और तेज परमात्मा में लीन होता है।) इस श्रुतिप्रमाण से मन, प्राण आदि उपाधियों

से विहीन होने से जीव बिम्बभूत ईश्वरैक्य को प्राप्त होता है।

शंका : ईश्वैक्य को प्राप्त होकर वह मुक्त क्यों नहीं होता ?

समाधान : वह चिरकाल से अभ्यस्त भेदवासना को प्राप्त हुआ है यानी भेदवासना का मूलोच्छेद करनेवाले ज्ञान का उदय न होने से उसकी मुक्ति नहीं होती ॥४६॥

यदि आप शंका करे कि यदि जीव प्रतिबिम्ब है, तो उसकी उपाधि से अतिरिक्त सत्ता न होने से वह असत् ठहरा और उपाधि का नाश होने से उसका नाश हो जायेगा। भले ही ऐसा हो, तथापि आप जीव नहीं हैं। जीव के न रहने पर अथवा नाश होने पर आपको शोक नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

वह प्रसिद्ध आत्मतत्त्व यानी जीव यदि असत् हो, तो इस आपके देहपिंजर के नष्ट होने पर आपका क्या नष्ट हुआ और आप किसलिए शोक करते हैं ?॥४७॥ वस्तुतः प्रतिबिम्ब बिम्ब ही है, क्योंकि उपाधि में प्रवेश रूप भेद की कल्पना से बिम्ब की ही प्रतिबिम्बरूप से प्रतीति होती है अन्यथा जड़ उपाधि का कार्य होने पर चिदाभास भी जड़ हो जायेगा, अतः संसार का भान नहीं होगा, इसलिए आप जीव को उसकी उपाधियों के परित्याग द्वारा सत्य ब्रह्म ही समझिये। भ्रान्ति से प्राप्त हुए नश्वर देह आदि भाव का अनुभव न कीजिये। पूर्ण ब्रह्मभाव से तृप्त होने के कारण इच्छारहित और निर्दोष आत्मा में कोई इच्छा नहीं है ॥४८॥

यदि कोई शंका हो कि यदि उसमें इच्छा नहीं है, तो इच्छा के बिना उसकी सृष्टि की सिद्धि कैसे होगी ? तो इस पर कहते हैं।

सबके साक्षी सर्वत्र शम, निर्मल, निर्विकल्प, चिदात्मा में ये सब जगत् बिना किसी प्रकार की इच्छा के ऐसे प्रतिबिम्बित होते हैं जैसे कि दर्पण में पर्वत, वन, नगर आदि। जैसे सुन्दर मणि में किरण स्वयं दिखाई देती हैं वैसे ही सबके साक्षीभूत, सर्वत्र शम, निर्मल, निर्विकल्प चिदात्मा में जगत् स्वयं दिखाई देते हैं ॥४९,५०॥ जैसे दर्पण और बिम्ब का सम्बन्ध इच्छा न होने पर भी होता है वैसे ही आत्मा और जगत् का भेदाभेद रूप सम्बन्ध इच्छा के बिना ही होता है यानी भानमात्र से भेदसम्बन्ध और यथार्थरूप से अभेद है। जैसे सूर्यके केवल उदय होनेसे जगत् के कार्य होते हैं वैसे ही केवल चित् की सत्ता से ही इस जगत् की उत्पत्ति होती है ॥५१,५२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार के हमारे उपदेश से इस जगत् की स्थिति का मूर्ताकार निवृत्त हो गया। आप लोगों के भी चित्त में आकाश के समान यह शून्य हो गई ॥५३॥ जैसे दीपक की केवल सत्ता से प्रकाश स्वभावतः होता है वैसे ही चित्तत्त्व की केवल सत्ता से स्वभावतः जगत् की स्थिति होती है ॥५४॥

इस प्रकरण में जो अर्थ विस्तार से कहा है, उसको संक्षेप से दर्शाते हुए श्रीवसिष्ठजी प्रकरण का उपसंहार करते हैं।

पहले परमात्मतत्त्व से मन उदित हुआ। उसने जैसे शून्य आकाश असत् नीलताका, जिसका कि सब लोगों के अनुभव से अधोमुख किया हुआ मनोहर इन्द्रनीलमणि के कड़ाहे की तरह यह नील आकाश दीख रहा है, इस तरह उपमा और उत्प्रेक्षा द्वारा– सुन्दर वाग्व्यवहार

होता है, विस्तार करता है, वैसे ही अपने विविध विल्कपों से इस जगत् का विस्तार किया ॥५५॥

इसलिए निमित्त का नाश होने पर नैमित्तिक का भी नाश होने से निर्मल एकमात्र आत्मा ही शेष रहता है, ऐसा कहते हैं।

संकल्पों का क्षय होने से चित्त के नष्ट होने पर संसार मोह रूपी पाला नष्ट हो जाता है। जैसे शरद् ऋतु आने पर आकाश स्वच्छ होता है वैसे ही चित्त के गलित होने पर अन्तःकरण अद्वितीय जन्मरहित अनन्त प्रत्यगात्मस्वभाव हो जाता है ॥५६॥

व्यष्टिभ्रमकल्पना की तरह समष्टिसृष्टिकल्पना में भी आविर्भाव और तिरोभाव मन के ही अधीन हैं, ऐसा दर्शाते हैं।

सब प्राणियों के कर्मों की समष्टिरूप और समष्टिकर्मशक्तिप्रधान मन पहले उत्पन्न होता है। उसके बाद मन में चित् का प्रतिबिम्ब पड़ने से ब्रह्मा, मनु आदि रूप सृष्टिकर्ताओं के शरीरों को स्वीकार करके वह संकल्पवश विविध प्रकार के इस जगत् की व्यर्थ ही सृष्टि करता है, जैसे कि अज्ञानी बालक व्यर्थ वेताल के शरीर की कल्पना करता है ॥५७॥

इसलिए सम्पूर्ण दृश्य व्यष्टि-समष्टि भेद से कल्पित मनोमात्र ही है। मन अज्ञान कार्य होने से असत् है। असत् का ही अधिष्ठानभूत साक्षी की सत्ता और स्फूर्ति के बल से जो स्फुरण है, वह उत्पत्ति है, इस रीति से जगत् के जन्म आदि विवर्तों की उपादानता ब्रह्म का तटस्थ लक्षण हुआ। उससे निष्प्रपंच, सच्चिदानन्द, एकरस, पूर्णब्रह्म ही लक्षित होता है, जो परमार्थभूत है। ऐसा सब सृष्टि श्रुतियों का तात्पर्यार्थ, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं।

अज्ञानकार्यभूत मन स्वयं ही अपने अधिष्ठानभूत चैतन्य में वृद्धि को प्राप्त होने से स्फुरित जगद्रूप से सामने विद्यमान सा साक्षी द्वारा दिखाई देता है। जैसे पूर्ण महासागर में उसकी सत्ता से ही सिद्ध हुई अपरिच्छिन्न जलपंक्तियाँ सामने दिखाई देती हैं, उत्पन्न होती हैं और लीन हो जाती है वैसे ही मन साक्षीभूत चेतन में स्वयं पुनःपुनः उत्पन्न होता है और लीन हो जाता है ॥५८॥

एक सौ बाईसवाँ सर्ग समाप्त

योगवासिष्ठभाषानुवाद में

उत्पत्ति प्रकरण समाप्त

आदिकवि श्रीमद्वाल्मीकिमहामुनिप्रणीत

श्री योगवासिष्ठ महारामायण

भाग-१

(वैराग्य प्रकरण, मुमुक्षु-व्यवहार प्रकरण और उत्पत्ति प्रकरण)

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

श्री योग वेदान्त सेवा समिति

संत श्री आसारामजी आश्रम

संत श्री आसारामजी बापू आश्रम मार्ग, अमदावाद-380005. फोन : (079) 27505010-11.

आश्रम रोड, जहाँगीरपुरा, सूरत-395005. फोन : (0261) 2772201-2.

वन्दे मातरम् रोड, रवीन्द्र रंगशाला के सामने, नई दिल्ली-60. फोन : (011) 25729338, 25764161.

पेरूबाग, गोरेगाँव (पूर्व), मुंबई- 400063. फोन : (022) 26864143-44.

e-mail : ashramindia@ashram.org web-site : www.ashram.org

रु. 115.00

आमुख

कलियुग के बेचारे मानव में शारीरिक क्षमताएँ नहीं हैं, मानसिक सच्चाइयाँ नहीं हैं, बौद्धिक ऊँचाइयाँ नहीं हैं फिर भी 'श्री योगवासिष्ठ महारामायण' जैसा ऊँचा ग्रंथ उसे पढ़ने-सुनने को मिल रहा है, यह उसका कितना सौभाग्य है ! आज त्रेतायुग (जिस युग में वसिष्ठजी द्वारा भगवान श्रीरामजी को यह उपदेश दिया गया था) जैसा शरीर नहीं है, त्रेतायुग जैसी सामाजिक व्यवस्था नहीं है तथा वैसी मानसिक पवित्रता और सच्चाई भी नहीं है । लेकिन त्रेतायुग और सतयुग में सत्संग के विचार द्वारा श्रीरामजी जैसों को, श्रीरामजी के गुरुओं को, तत्कालीन लोगों को जो सत्यस्वरूप परमात्मा का ज्ञान, परमात्म-शांति और परमात्म-पद की प्राप्ति होती थी, वही परमात्म-ज्ञान, परमात्म-शांति और परमात्म-पद इस युग में भी हम पा सकते हैं । अपितु उन युगों की अपेक्षा इस युग में और सरलता से पा सकते हैं । कलियुग में मनुष्य शरीर से, मन से तथा बुद्धि से भी गरीब हो गया है । वह ज्यादा समय मन को एकाग्र और मौन नहीं रख सकता । परमात्मा ने कलियुग में ऐसी व्यवस्था की है कि मनुष्य थोड़ा-सा साधन करे तो भी उसे बहुत सारी उपलब्धियों की प्राप्ति हो जाय । परमात्मा से मुलाकात करने हेतु मेरे गुरुदेव के गुरुदेव ने जितना परिश्रम किया, जितनी तपस्या की, उससे कम परिश्रम में मेरे गुरुदेव को परमात्मा की मुलाकात हुई । लेकिन मेरे गुरुदेव को जो तप-तितिक्षा सहनी पड़ी, उसका हजारवाँ हिस्सा भी मुझे गुरु-प्रसाद पाने हेतु सहन नहीं करना पड़ा । फिर भी मुझे जो सहन करना पड़ा, उतना मेरे साधकों को नहीं करना पड़ रहा है और सहज में ही उन्हें साधना का मार्ग मिल रहा है ।

भगवान श्रीरामजी का विवेक मात्र १६ वर्ष की उम्र में जग गया और वे विवेक-विचार में खोये रहने लगे । उन्हीं दिनों यज्ञों का ध्वंस करनेवाले मारीच आदि राक्षस महर्षि विश्वामित्रजी के भी यज्ञ में विघ्न डालकर उन्हें तंग कर रहे थे । विश्वामित्रजी ने सोचा कि 'राजा दशरथ धर्मात्मा हैं । मैं उनसे मदद लूँ ।' वे अयोध्या गये । राजा दशरथ को जैसे ही खबर मिली कि विश्वामित्रजी आये हैं, वे सिंहासन से तुरंत उठ खड़े हुए और स्वयं उनके पास जाकर उनके चरणों में दंडवत् प्रणाम किया । राजा दशरथ इतना आदर करते थे आत्मज्ञानी महापुरुषों का !

दशरथजी ने विश्वामित्रजी को तिलक किया, उनकी आरती उतारी, फिर पूछा : ''मुनिशार्दूल ! मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?''

विश्वामित्रजी बोले : ''जो मैं माँगूँगा वह दोगे ?''

''महाराज ! मैं और मेरा राज्य आपके चरणों में अर्पित है ।''

''यह नहीं चाहिए । आपके सुपुत्र श्रीराम और लक्ष्मण मुझे दे दो ।''

यह सुनकर राजा दशरथ मूर्च्छित हो गये, फिर होश में आने पर बोले : ''महाराज ! यह मत माँगो, कुछ और माँग लो ।''

विश्वामित्रजी क्रोधित होकर बोले : ''अच्छा, खाली घर से साधु खाली ही जाता है । अभागा आदमी क्या जाने साधु की सेवा ? कौन अभागा मनुष्य साधु के दैवी कार्य में सहभागी हो सकता है ? हम यह चले ।''

दशरथजी घबराये कि संत रूठकर, नाराज होकर चले जायें, यह ठीक नहीं है । वसिष्ठजी ने भी दशरथजी को समझाया कि ''विश्वामित्रजी के पास वज्र जैसा तपोबल है । ये स्वयं समर्थ हैं राक्षसों को शाप देने में, लेकिन संत लोहे से लोहा काटना चाहते हैं, सोने से नहीं । विश्वामित्रजी आपके राजकुमारों द्वारा ताड़का आदि का वध करायेंगे और उन्हें प्रसिद्ध करेंगे । इसलिए राम-लक्ष्मण को विश्वामित्रजी को अर्पण करने में ही आपकी शोभा है ।''

राजा दशरथ ने कहा : ''श्रीराम तो विवेक करके संसार से उपराम हो गये हैं ।''

वसिष्ठजी ने कहा : ''साधो-साधो ! जब श्रीरामजी का विवेक जगा है तो हम उन्हें ज्ञानी बनाकर भेज देंगे, कर्मबंधन से पार करके भेज देंगे । वे ब्रह्मज्ञानी होकर राज्य करें ।''

भगवान श्रीरामजी को आदर के साथ राजसभा में लाया गया और वहाँ उन्होंने अपने हृदय के विचार प्रकट किये। इन्हीं विचारों का वर्णन 'श्री योगवासिष्ठ महारामायण' के पहले प्रकरण **'वैराग्य प्रकरण'** में किया गया है। फिर वसिष्ठजी और विश्वामित्रजी ने श्रीरामजी के वैराग्य की सराहना की और जैसे बीज बोकर सिंचाई की जाती है, वैसे उनको उपदेश देकर उनमें संस्कार सींचे। इन उपदेशों का वर्णन दूसरे प्रकरण **'मुमुक्षु व्यवहार प्रकरण'** में किया गया है। फिर 'सृष्टि का मूल क्या है और जगत की उत्पत्ति कैसे हुई ?'- इसका उपदेश दिया गया, जिसका वर्णन तीसरे प्रकरण **'उत्पत्ति प्रकरण'** में किया गया है। फिर अनात्मा से उपराम होकर आत्मा में स्थिति करने का उपदेश दिया गया, जिसका वर्णन चौथे प्रकरण **'स्थिति प्रकरण'** में किया गया है। फिर उपदेश का सिलसिला बढ़ता गया और सुख-दुःख में समता का अभ्यास करने और परमात्मा में विश्रांति पाने का उपदेश दिया गया, जिसका वर्णन पाँचवें प्रकरण **'उपशम प्रकरण'** में किया गया है। जैसे तेल खत्म हो जाने पर दीया बुझ जाता है, निर्वाण हो जाता है, वैसे ही मन को हमारी सत्ता न मिलने से उसकी दौड़, भटकान खत्म हो जाती है अर्थात् मन का निर्वाण हो जाता है। इसीका उपदेश आखिरी छठे प्रकरण **'निर्वाण प्रकरण'** में दिया गया है।

जो दुःखमय संसार की चोटों से बचकर परम सुख, परम शीतलता का अनुभव करना और अपना कर्तव्य निर्लेप भाव से निभाना चाहते हैं, उन सभीके लिए 'श्री योगवासिष्ठ महारामायण' बहुत अच्छा है।

स्वामी रामतीर्थ ने इसका बार-बार अध्ययन किया और वे इसके ज्ञान में, आत्मानुभव में इतने मस्त हुए कि अपने देश में तो आत्मशांति का प्रसाद बाँटा ही लेकिन अमेरिका भी गये और वहाँ के प्रेसीडेंट रुजवेल्ट ने उनसे बड़ी शांति पायी। यह सद्ग्रंथ पढ़कर मनन करने से व्यक्ति स्वयं भी शांति पाता है, परमात्मा में सराबोर हो जाता है तथा दूसरों को भी शांति देने की क्षमता उसमें आ जाती है। स्वामी रामतीर्थ बोलते थे : ''राम (स्वामी रामतीर्थ) के विचार से अत्यंत आश्चर्यजनक और सर्वोपरि श्रेष्ठ ग्रंथ, जो इस संसार में सूर्य के तले कभी लिखे गये, उनमें से 'श्री योगवासिष्ठ' एक ऐसा ग्रंथ है जिसे पढ़कर कोई भी व्यक्ति इस मनुष्यलोक में आत्मज्ञान पाये बिना नहीं रह सकता।''*

'श्री योगवासिष्ठ महारामायण' बार-बार विचारने योग्य है।

वेदांत ग्रंथ दो प्रकार के होते हैं : एक होते हैं प्रक्रिया ग्रंथ और दूसरे होते हैं सिद्धांत ग्रंथ।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश - इन पाँच स्थूल भूतों तथा सूक्ष्म भूतों की जानकारी, स्थूल भूतों से स्थूल शरीर कैसे बना ? सूक्ष्म भूतों से सूक्ष्म शरीर कैसे बना ? चैतन्यस्वरूप आत्मा इनसे पृथक् कैसे है ?- इस प्रकार जो ग्रंथ विभिन्न चरणों में, प्रक्रियात्मक ढंग से परब्रह्म-परमात्मा की समझ देते हैं, उन ग्रंथों को कहा जाता है 'प्रक्रिया ग्रंथ'। जैसे - पंचीकरण, विचारसागर, विचार-चंद्रोदय, पंचदशी आदि।

'श्री योगवासिष्ठ महारामायण' सिद्धांत ग्रंथ है। इसमें कहानियाँ, संवाद, इतिहास - सब कहे गये हैं और घुमा-फिराकर वही सिद्धांत की सारभूत बात कही गयी है। पुराणों में राजा हरिश्चंद्र आदि पूर्वकालीन श्रेष्ठजनों के प्रेरक चरित्रों और उनकी रसमय धर्मचर्चाओं के द्वारा सत्य को समझाया गया है। इस प्रकार पुराणों में कथा-प्रसंग अधिक आते हैं और सार बात (आत्मा-परमात्मा की बात) का कहीं-कहीं संकेत है, परंतु 'श्री योगवासिष्ठ' में कदम-कदम पर सार बात है।

वसिष्ठजी कहते हैं : ''जिसका अंतःकरण मुक्ति के लिए खूब लालायित हो, सत्कर्म करके खूब शुद्ध हो गया हो तथा ध्यान करके खूब एकाग्र हो गया हो उसे यह उपदेश सुननेमात्र से आत्मसाक्षात्कार हो जायेगा। जिन लोगों को इस ग्रंथ में, इस ज्ञान में प्रीति नहीं है, वे अपरिपक्व हैं। उनको चाहिए कि व्रत, उपवास, तीर्थाटन, दान, यज्ञ, होम, हवन आदि करें। इन्हें करके जब उनका अंतःकरण परिपक्व होगा, तब उनको इसमें रुचि होगी।''

– परम पूज्य संत श्री आसारामजी बापू

*(स्वामी रामतीर्थ, अरण्य संवाद (लेख व उपदेश), आठवाँ भाग, पृष्ठ क्र. : १२३)

श्री योगवासिष्ठ महारामायण विषय-सूची

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

भाग-१

वैराग्य प्रकरण

मुमुक्षु-व्यवहार प्रकरण

उत्पत्ति प्रकरण

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

आध्यात्मिकता का आखिरी सोपान है - **श्री वसिष्ठजी का उपदेश**। यह एकदम ऊँचा है, विहंग मार्ग है। यह अगर जम जाय न, तो सुनते-सुनते बात बन जाय और जिनको नहीं जमती वे बार-बार सुनें तो उन्हें बहुत फायदा होगा। धनवान या निर्धन होना, विद्वान या अविद्वान होना, सुंदर या कुरूप होना - ये शाश्वत नहीं हैं। सुरूपता या कुरूपता यह २५-५० साल के खिलवाड़ में दिखती है। शाश्वत तो आत्मा है और उस पर न कुरूपता का प्रभाव है न सुरूपता का, न विद्वत्ता का प्रभाव है न अविद्वत्ता का। तरंग चाहे कितनी भी बड़ी हो लेकिन है तो अंत में सागर में ही लीन होनेवाली और चाहे कितनी भी छोटी हो लेकिन है तो पानी ही। ऐसे ही बाहर से आदमी चाहे कितना भी बड़ा या छोटा दिखता हो किंतु उसका वास्तविक मूल तो चेतन परमात्मा ही है। उस चेतन परमात्मा के ज्ञान को प्रकट करने का काम यह ग्रंथ करता है।

यह वह ग्रंथ है जिससे स्वामी रामतीर्थ को, घाटवाले बाबा को, मेरे गुरुजी (स्वामी श्री लीलाशाहजी महाराज) को और दूसरे अच्छे-अच्छे उच्चकोटि के महापुरुषों को अपने आत्मा की मुलाकात हुई। इसे पढ़ने-सुनने एवं विचारने से श्रीरामजी का अनुभव, मेरे गुरुजी का अनुभव तुम्हारा अनुभव हो जायेगा और '**सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म।** ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनंत है तथा मेरा ही स्वरूप है'- ऐसा साक्षात्कार हो जायेगा।

स्वामी रामतीर्थ बोलते थे : ''राम (स्वामी रामतीर्थ) के विचार से अत्यंत आश्चर्यजनक और सर्वोपरि श्रेष्ठ ग्रंथ, जो इस संसार में सूर्य के तले कभी लिखे गये, उनमें से 'श्री योगवासिष्ठ' एक ऐसा ग्रंथ है जिसे पढ़कर कोई भी व्यक्ति इस मनुष्यलोक में आत्मज्ञान पाये बिना नहीं रह सकता।''

– परम पूज्य संत श्री आसारामजी बापू